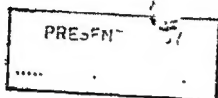


हिन्दी
नाट्यदर्पण

मुद्रकस्य कराघातः विघ्ना चेन्मम भारती ।
कराम्बुजामृतस्पर्शे सन्तः ! सञ्जीवयन्तु ताम् ॥



हिन्दी नाट्यदर्पण

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र-विरचित
नाट्यदर्पण का हिन्दी व्याख्या

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक

डॉ० दशरथ श्रोभा

डॉ० सत्यदेव चौधरी

~~~~~

भूमिका-लेखक तथा व्याख्याकार

वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक

दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के

सम्मान्य सदस्य

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

\*\*\*

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# विषयानुक्रम

## विषय

|                                                   |                     |     |
|---------------------------------------------------|---------------------|-----|
| भूमिका                                            | [आचार्य विश्वेश्वर] | ... |
| सम्पादकीय—                                        |                     |     |
| (क) नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग  | [डॉ० सत्यदेव चौधरी] | ... |
| (ख) नाट्यशास्त्रीय धर्मों में नाट्यदर्पण का स्थान | [डॉ० वत्तरथ शोभा]   | ... |

## प्रथम विवेक

|                                         |     |
|-----------------------------------------|-----|
| • वृत्तिभाग का मङ्गलाचरण                | ... |
| वृत्तिभाग की अवतरणिका                   | ... |
| नाट्य-रचना की दुष्करता                  | ... |
| रस-कवियों की प्रशंसा                    | ... |
| शब्द-कवियों की निन्दा                   | ... |
| नीरसबाणी की निन्दा                      | ... |
| कवियों के लिए व्यवहार-ज्ञान की उपयोगिता | ... |
| विद्वत्ता के साथ कविता आवश्यक           | ... |
| काव्योपहरण की निन्दा                    | ... |
| त्रिविध काव्य-सवाद                      | ... |
| मूलग्रन्थ का मङ्गलाचरण                  | ... |
| मङ्गल-श्लोक की दूसरी व्याख्या           | ... |
| प्रतिपाद्य विषय                         | ... |
| रूपकों के भेद                           | ... |
| (१) नाटक का लक्षण                       | ... |
| वर्तमान चरित्रों के अभिनय का निषेध      | ... |
| नाटको में देवताओं के नायकत्व का खण्डन   | ... |
| नायिका दिव्य भी हो सकती है              | ... |
| नायक के चार भेद                         | ... |
| स्वभाव-व्यवस्था                         | ... |
| चरित्र के दो भेद                        | ... |
| भाव-अभिव्यक्ति के नाटकीय प्रकार         | ... |
| नाट्यरचना-विषयक विशेष बातें             | ... |



## द्वितीय विवेक

|                                                      |       |     |
|------------------------------------------------------|-------|-----|
| विवेक सङ्गति                                         | ..... | २०२ |
| • २. प्रकरण का लक्षण                                 | ..... | २०२ |
| प्रकरण भेद                                           | ...   | २०६ |
| अवलम्ब्य स्वरूप                                      | ...   | २११ |
| उत्तम्य का प्रतिदेश                                  | ...   | २११ |
| • ३. नाटिका का लक्षण                                 | ..... | २१२ |
| नाटिका में कर्त्तव्य का उपदेश                        | ..... | २१५ |
| नाटिका में करने योग्य अन्य बात                       | ...   | २१६ |
| ४. प्रकरणी का लक्षण                                  | ...   | २१७ |
| ५. व्यायोग का निरूपण                                 | ..... | २१८ |
| सन्धि तथा अवस्थाधो की मूलता का उपपादन                | ..... | २१६ |
| • ६. समवकार का निरूपण                                | ..... | २२१ |
| समवकार में किये जाने वाले अन्य कार्यों का उपदेश      | ...   | २२३ |
| शृङ्गारदि की व्याख्या                                | ..... | २२५ |
| ७. भाण का लक्षण                                      | ..... | २२६ |
| कर्त्तव्य के प्रदर्शन द्वारा नायक का वर्णन           | ..... | २३० |
| ८. प्रहसन का लक्षण                                   | ..... | २३० |
| शुद्ध प्रहसन                                         | ..... | २३१ |
| सङ्कीर्ण                                             | ..... | २३२ |
| • ९. हिम का लक्षण                                    | ..... | २३३ |
| रसों की सुख-दुःख-आत्मकता                             | ...   | २३४ |
| हिम में करने योग्य अन्य बातों का तथा नायक का निर्देश | ...   | २३५ |
| १०. उत्पुष्टिकाङ्क का निरूपण                         | ..... | २३६ |
| उत्पुष्टिकाङ्क में करने योग्य अन्य बातों का निर्देश  | ..... | २३८ |
| • ११. ईहामुग का लक्षण                                | ...   | २३८ |
| ईहामुग में करने योग्य अन्य बातें                     | ..... | २४० |
| १२. वीथी का लक्षण                                    | ..... | २४० |
| वीथी के तेरह भङ्ग                                    | ..... | २४२ |
| (१) व्यवहार                                          | ..... | २४२ |
| (२) अपिबन                                            | ..... | २४६ |
| (३) गण्ड                                             | ...   | २४९ |
| (४) प्रपञ्च                                          | ..... | २५२ |
| (५) त्रिपण                                           | ..... | २५४ |
| (६) छन                                               | ...   | २५७ |
| (७) भगवत्ताप                                         | ..... | २५८ |

| विषय                                 | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|
| रसादिकों में पारस्परिक कार्य-कारणभाव | ३४७   |
| अनुभाव                               | ३४८   |
| (१) वेपथु                            | ३४९   |
| (२) स्तम्भ                           | ३४९   |
| (३) रोमाञ्च                          | ३४९   |
| (४) स्वरभेद                          | ३५०   |
| (५) अक्षु                            | ३५०   |
| (६) भ्रूक्ष्ण                        | ३५०   |
| (७) स्वेद                            | ३५१   |
| (८) विवर्णता                         | ३५१   |
| अभिनय                                | ३५१   |
| (१) वाचिक                            | ३५१   |
| (२) आङ्गिक                           | ३५४   |
| (३) सात्त्विक                        | ३५८   |
| (४) आहार्य                           | ३५९   |
| चतुर्थ विवेक                         |       |
| नान्दी                               | ३६४   |
| ध्रुवा का लक्षण                      | ३६५   |
| (१) प्रावेशिकी ध्रुवा                | ३६५   |
| (२) नैष्कामिकी ध्रुवा                | ३६६   |
| (३) भालेपिकी ध्रुवा                  | ३६७   |
| (४) प्रासादिकी ध्रुवा                | ३६७   |
| (५) आन्तरी ध्रुवा                    | ३६७   |
| माट्य के पात्रों की प्रकृति के भेद   | ३६९   |
| (१) उत्तम प्रकृति-पुरुष              | ३७०   |
| (२) मध्यम प्रकृति-पुरुष              | ३७०   |
| (३) नीच प्रकृति-पुरुष                | ३७०   |
| (४) उत्तमा-स्त्री                    | ३७१   |
| (५) मध्यमा-स्त्री                    | ३७१   |
| (६) नीच-स्त्री                       | ३७१   |
| नीच प्रकृति वाले नायक                | ३७२   |
| मुख्य नायक का लक्षण                  | ३७२   |
| मुख्य नायक के गुण                    | ३७२   |
| (१) तेज                              | ३७३   |
| (२) विलास                            | ३७३   |
| (३) आधुप्य                           | ३७३   |

| विषय                                                  | पृष्ठ |
|-------------------------------------------------------|-------|
| (४) गोमा                                              | ३७३   |
| (५) स्वेयं                                            | ३७४   |
| (६) गाम्भीर्यं                                        | ३७४   |
| (७) श्रीदार्यं                                        | ३७४   |
| (८) सलित                                              | ३७५   |
| गौण नायक                                              | ३७५   |
| प्रतिनायक                                             | ३७५   |
| विदूषक आदि की प्रकृति                                 | ३७६   |
| धीरोदत्त आदि नायकों में से प्रत्येक के भलग भलग विदूषक | ३७६   |
| धीरोदत्त आदि के सहायक                                 | ३७७   |
| अन्तःपुर के उपयोगी परिचारक-वर्ग का वर्णन              | ३७८   |
| नायिका का लक्षण                                       | ३७८   |
| नायिकाओं के विशेष भेद                                 | ३७९   |
| नायिकाओं के तीन भेद                                   | ३८०   |
| (१) भुग्धा                                            | ३८०   |
| (२) मध्या                                             | ३८०   |
| (३) प्रगल्भा                                          | ३८१   |
| नायिकाओं के प्रसिद्ध भेद                              | ३८१   |
| (१) प्रोषितपत्निका                                    | ३८१   |
| { (२) विप्रलब्धा                                      | ३८१   |
| { (३) क्षण्डिता                                       | ३८२   |
| (४) कलहान्तरिता                                       | ३८२   |
| (५) विरहोत्कण्डिता                                    | ३८२   |
| (६) दासकसज्जा                                         | ३८३   |
| (७) स्वाधीनमर्तुका                                    | ३८३   |
| (८) अभिसारिका                                         | ३८४   |
| स्त्रियों के जीवन में होने वाले धर्म                  | ३८४   |
| तीन आंगिक भलकार                                       | ३८४   |
| (१) भाव                                               | ३८५   |
| (२) हाव                                               | ३८६   |
| (३) हेला                                              | ३८६   |
| दस स्वाभाविक धर्म                                     | ३८७   |
| (१) विभ्रम                                            | ३८७   |
| (२) विलास                                             | ३८७   |
| (३) विचिच्छति                                         | ३८७   |
| (४) लोसा                                              | ३८८   |

## विषय

पृष्ठ

|                                               |      |     |
|-----------------------------------------------|------|-----|
| (८) घावकेली                                   | ...  | २६१ |
| (९) नालिका                                    | .... | २६२ |
| (१०) मृदव                                     | ...  | २६३ |
| (११) उदघात्यक                                 | ...  | २६६ |
| (१२) प्रबलगित                                 | .... | २६७ |
| (१३) अस्पन्दित                                | .... | २६८ |
| व्यायोग आदि अन्य रूपको के सामान्य, नाटक-लक्षण | .... | २७० |

## तृतीय विवेक

|                                               |      |     |
|-----------------------------------------------|------|-----|
| वृत्ति-निरूपण                                 | .... | २७३ |
| भारती वृत्ति का निरूपण                        | .... | २७५ |
| घामुल का लक्षण                                | ...  | २७७ |
| घामुल के भङ्गभूत पात्रप्रवेश के नियम          | ...  | २८१ |
| प्ररोचना-निरूपण                               | ...  | २८३ |
| सात्वती वृत्ति का निरूपण                      | ...  | २८५ |
| कैशिकी वृत्ति का निरूपण                       | ...  | २८७ |
| भारुमटी वृत्ति का निरूपण                      | .... | २८८ |
| रस-निरूपण                                     | ...  | २९० |
| रस का मोक्षय                                  | .... | २९३ |
| अनुमितिवाद                                    | .... | २९५ |
| मट में अनुभावो की स्थिति                      | .... | २९५ |
| अनुभाव आदि सजासो का विषय                      | ...  | ३०१ |
| रसभेदो का वर्णन                               | .... | ३०५ |
| (१) भेदो सहित शृङ्गार रस का निरूपण            | ...  | ३०६ |
| (२) शृङ्गार के विभाव तथा अनुभावो का वर्णन     | ...  | ३०८ |
| (३) हास्य-रस                                  | ...  | ३११ |
| (४) हास्य के भेद                              | .... | ३१२ |
| (५) करुण रस                                   | ...  | ३१३ |
| (६) रौद्ररस                                   | .... | ३१५ |
| (७) वीर रस                                    | .... | ३१४ |
| (८) भयानक रस                                  | ..   | ३१५ |
| (९) बीभत्स रस                                 | ...  | ३१६ |
| (१०) भङ्गुत रस                                | .... | ३१६ |
| (११) घान्त रस                                 | ...  | ३१७ |
| काव्य में रस का समावेश करने में विशेष सावधानी | .... | ३१८ |
| विरुद्ध रसो का विरोध और रसका परिहार           | ...  | ३२० |

|                   |       |     |
|-------------------|-------|-----|
| रस-दोष            | ...   | ३२४ |
| रसो के स्थायी भाव | ...   | ३२७ |
| व्यभिचारिभाव      | ...   | ३३० |
| (१) निर्वेद       | ..... | ३३१ |
| (२) श्लानि        | ..... | ३३२ |
| (३) अपस्मार       | ..... | ३३३ |
| (४) शङ्का         | ..... | ३३३ |
| (५) असूया         | ..... | ३३३ |
| (६) मद            | ..... | ३३४ |
| (७) श्रम          | ..... | ३३५ |
| (८) चिन्ता        | ..... | ३३५ |
| (९) चपलता         | ..... | ३३५ |
| (१०) प्रावेग      | ..... | ३३५ |
| (११) मति          | ..... | ३३५ |
| (१२) व्याधि       | ..... | ३३७ |
| (१३) स्मृति       | ..... | ३३७ |
| (१४) धृति         | ..... | ३३७ |
| (१५) समर्प        | ..... | ३३७ |
| (१६) मरण          | ..... | ३३७ |
| (१७) मोह          | ..... | ३३७ |
| (१८) निद्रा       | ..... | ३४० |
| (१९) सुप्त        | ..... | ३४० |
| (२०) उग्रता       | ..... | ३४१ |
| (२१) हर्ष         | ..... | ३४१ |
| (२२) विपाद        | ..... | ३४१ |
| (२३) उन्माद       | ..... | ३४२ |
| (२४) दीव्य        | ..... | ३४२ |
| (२५) वीहा         | ..... | ३४३ |
| (२६) त्रास        | ..... | ३४३ |
| (२७) तर्क         | ..... | ३४४ |
| (२८) गर्व         | ..... | ३४४ |
| (२९) भीत्सुवय     | ..... | ३४४ |
| (३०) भवहिंसा      | ..... | ३४४ |
| (३१) जाड्य        | ..... | ३४५ |
| (३२) मालस्य       | ..... | ३४६ |
| (३३) विबोध        | ..... | ३४७ |

| विषय                                                 | पृष्ठ |
|------------------------------------------------------|-------|
| • (५) विद्योक्                                       | ३८८   |
| (६) विद्वत्                                          | ३८८   |
| (७) ललित                                             | ३८९   |
| (८) मुट्टुमित                                        | ३८९   |
| (९) मोट्टायित                                        | ३८९   |
| • (१०) विलम्बित                                      | ३९०   |
| प्रयत्नज भलकार                                       | ३९०   |
| (१) शोभा                                             | ३९०   |
| (२) कान्ति                                           | ३९०   |
| (३) दीप्ति                                           | ३९०   |
| (४) माधुर्य                                          | ३९१   |
| (५) मोदार्य                                          | ३९१   |
| (६) धैर्य                                            | ३९१   |
| (७) प्रगल्भता                                        | ३९१   |
| नायिकाओं का नायको के साथ सम्बन्ध                     | ३९१   |
| नायिकाओं की सहायिकाएँ                                | ३९२   |
| भाषा-विधान                                           | ३९२   |
| प्राकृत-पाठ्य                                        | ३९३   |
| ओलने के विषय में ग्रन्थ प्रकार                       | ३९४   |
| भाषा-विषय के ग्रन्थ प्रकार                           | ३९४   |
| रूपकों में नाम आदि का व्यवहार                        | ३९५   |
| इसी विषय में कुछ ग्रन्थ ज्ञातव्य                     | ३९७   |
| कल्पित किये जाने वाले नामों की कल्पना करने के प्रकार | ४०२   |
| ग्रन्थ रूपक                                          | ४०३   |
| (१) सट्टक                                            | ४०४   |
| (२) श्रीगदित                                         | ४०४   |
| (३) दुर्मिलिता                                       | ४०५   |
| (४) प्रहयान                                          | ४०५   |
| (५) गोष्ठी                                           | ४०६   |
| (६) हल्लीसक                                          | ४०६   |
| (७) शम्भ्या                                          | ४०६   |
| (८) प्रेक्षणक                                        | ४०६   |
| (९) रासक                                             | ४०७   |
| (१०) नाट्य रासक                                      | ४०७   |
| (११) कान्य                                           | ४०८   |
| (१२) भाण                                             | ४०८   |
| (१३) भाणिका                                          | ४०८   |

## भूमिका

### ग्रन्थकार का देश—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र पश्चिम भारत में स्थित गुजरात देश के निवासी थे। संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार को इतना गौरवमय एवं समृद्ध बनाने में [गारदा देश] काश्मीर के बाद गुजरात का विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजरात में अणहिल-पट्टन का प्रसिद्ध राज्य विद्वानों का प्रमुख आश्रय स्थान और भारतीय वाङ्मय की सेवा एवं समृद्धि में सबसे अग्रगण्य राज्य था। इस राज्य की स्थापना विक्रम सं० ८०२ [ई० सन् ७४६] में हुई थी। 'अणहिल-गोपाल' नामक कुशभ शिस्ती ने इस स्थान की परीक्षा करके 'मानवक' वंश के तत्कालीन राजा 'मोती सम वणराय' को इस स्थान पर उत्तम पत्तन बसाने का परामर्श दिया था। तदनुसार 'मोती सम वणराय' ने इस स्थान पर अपनी राजधानी का निर्माण कराया और 'अणहिल गोपाल' के नाम पर उसका नाम अणहिल पट्टण रखा। यह 'अणहिल-पट्टण' धीरे-धीरे चलकर भारत का एक प्रमुख राज्य बना और उसने संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

काश्मीर के समान 'अणहिल-पट्टन' का राज्य भी शैव-राज्य था। उसके राजा प्रायः शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु साहित्य समृद्धि के क्षेत्र में वहाँ जैनो का विशेष महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। ११वीं शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक प्रायः दो सौ वर्ष पर्यन्त 'अणहिल पट्टन' का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर रहा। इस बीच में (१) भीमदेव [१०२१-६४ ई०] (२) वणदेव [१०६४ से १४ ई०], राजा के समय 'अणहिल पट्टन' शैव विद्वानों का अत्यन्त प्रिय केन्द्र बन गया था। शैवाचार्य ज्ञानदेव, सोमेश्वर पुरोहित, सुराचार्य, और मध्यदेश के श्रीधर तथा श्रीपति आदि शैव-धर्म के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् 'अणहिल पट्टन' की राजसभा के दर्शनों के रूप में उसे सुशोभित कर रहे थे। राजा भीमदेव के सन्धि विग्रहिक दामोदर पण्डित उस समय अपनी विद्वता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। उनके प्रभाव से ही उस समय 'अणहिल-पट्टन' विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। यीही 'अणहिल-पट्टन' का राज्य शैव राज्य था। उसके राजा और 'सांघि विग्रहिक' दामोदर पण्डित दोनों शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु उनके यहाँ सभी धार्मिक विद्वानों का समान रूप से स्वागत होता था। एक ओर जहाँ शैवाचार्य ज्ञानदेव सरोखे शैव विद्वान् उनकी सभा को सुशोभित करते थे वहीं के साथ-साथ जहाँ [श्रुतकण्ठ] के 'बोलबाल' 'धर्म तत्त्वोपप्लव' की श्रुतियों के बल पर सभा में वाद-विवाद करते थे। उसी सभा में जैनाचार्य दान्त-मूरि इसकी सभा के पण्डित थे जो 'बौद्ध तर्क से उत्पन्न दुर्लभ प्रमेयों' की सिद्धांत एवं तर्क बुद्धि के लिए अत्यन्त प्रख्यात थे। पट्टन का राजद्वार जैसे सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्वानों के लिए समान रूप से आकर्षण का केन्द्र था इसी प्रकार सभी देशों एवं राज्यों के विद्वानों के लिए भी यह आकर्षण का केन्द्र था। 'वर्णमुन्दरी नाटिका' के कर्ता काश्मीरी पण्डित बिस्हण और नवाज़ी टोकानार अजयदेव सूरि ने वणदेव के दासन काल में 'अणहिल-पट्टन' की राजसभा को सुशोभित किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र भी इसी विद्वज्जन सेवित एवं प्रगतिशील राज्य की विभूति थे।

इस प्रथम राजपरिचय के समय आचार्य हेमचन्द्र की आयु ४६ वर्ष के लगभग थी । किसी अन्य अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज 'अणुहिम-पट्टन' के राजमार्ग पर हाथी पर चढ़े हुए जा रहे थे । दूसरी ओर से आचार्य हेमचन्द्र सूरि पैदल आ रहे थे । मार्ग संकरा था । राजा जयसिंह सिद्धराज ने हाथी रुकवा दिया । इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने उनको एक ओर से निःशक्त हाथी निकाल ले जाने का सुझाव देते हुए तत्काल बना कर निम्न श्लोक पढ़ा—

“कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमशङ्कितम् ।

प्रस्यन्तु दिग्मजाः किन्तैर्भूयस्त्वयैवोद्धृता यतः ॥”

हेमचन्द्राचार्य की साहित्यसेवा—

उपपुस्तक विवरण के अनुसार सन् ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर आचार्य हेमचन्द्र का 'अणुहिम-पट्टन' के अधीश्वर जयसिंह सिद्धराज के साथ प्रथम परिचय हुआ । उसके बाद सन् ११४६ में जयसिंह की समाप्ति हो गई । इस प्रकार सात वर्ष तक इन दोनों का साथ रहा । इन सात वर्षों के पीछे से काल में राजा जयसिंह के प्रेरणा और प्रेरणा से, इन्होंने बहुत बड़े और बहुत महत्वपूर्ण साहित्य की रचना की है । व्याकरण, न्याय, साहित्य, छन्द शास्त्र आदि सभी विषयों पर उनके प्रौढ़ एवं अत्यन्त उच्च कोटि के ग्रन्थ पाए जाते हैं : १ सिद्ध-हेमचन्द्रानुशासन, २ काव्यानुशासन, ३ छन्दोऽनुशासन, ४ वादानुशासन, ५ धातुपारामण, ६ द्वायाश्रय महाकाव्य, ७ देशीनाममालाभिधान चिन्तामणि, ८ अनेकार्थ संग्रह निघण्टु, ९ सप्त सन्धान महाकाव्य, १० त्रिपट्टिस्तोत्राका पुरुष चरित, ११ परिशिष्ट पर्व, १२ योगशास्त्र, १३ वीतराग स्तोत्र, १४ द्वात्रिंशिका द्वयस्त्रीति, १५ प्रमाणमीमांसा आदि उनके लिखे हुए ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है । और इनमें प्रतिपाद्य विषयों का दौन बड़ा व्यापक है । इन्होंने व्यापक और विविध विषयों पर इतनी उच्चकोटि के ग्रन्थ लिख कर इन्होंने सचमुच अपने आचार्यत्व को चरितार्थ किया और संस्कृत साहित्य की महती सेवा की है ।

आचार्य हेमचन्द्र के ये सभी ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । किन्तु इनमें 'सिद्ध-हेमचन्द्रानुशासनम्' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यह व्याकरण-शास्त्र का ग्रन्थ है यह बात उसके 'छन्दानुशासन' नाम से ही प्रतीत होती है, किन्तु उसके नामकरण में सिद्धहेम पद जोड़ कर आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी और राजा जयसिंह सिद्धराज की मित्रता को प्रमत्त कर दिया है । इस नामकरण में 'सिद्ध' पद राजा 'जयसिंह सिद्धराज' का बोधक है और 'हेम' पद आचार्य हेमचन्द्र के नाम का सूचक है । सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से आचार्य हेमचन्द्र ने इस शब्दानुशासन की रचना की है इस बात को आचार्य हेमचन्द्र ने इस नामकरण द्वारा सूचित किया है । उनका 'त्रिपट्टिस्तोत्राकापुरुषचरित' एक विशाल पुराण ग्रन्थ है । और उनका 'परिशिष्ट पर्व' भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान-कार्य में उपयोगी हो सकता है । संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखा गया 'द्वायाश्रय महाकाव्य' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है । 'प्रमाण मीमांसा' उनका दर्शन ग्रन्थ है । इसमें जैन दर्शन के अनुसार प्रमाणों का विवेचन किया गया है । यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है । यह ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा गया है । सूत्रों के ऊपर उनकी अपनी ही बनाई हुई श्लोक वृत्ति भी पाई जाती है । 'योगशास्त्र' में जैन दर्शन के साथ योग-प्रक्रिया का समन्वय करने का यत्न किया गया है । आचार्य हेमचन्द्र ने सभी विषयों पर ग्रन्थ लिख कर अपने अनुयायियों के संस्कृत अध्ययन के लिए एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ-माला की रचना कर दी है । उनके अनुयायी विद्यापियों को पढ़ने पढ़ाने के लिए सभी प्रमुख विषयों पर अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ मिल



सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने संस्कृत विद्या के अध्ययन के निमित्त जैन धर्म एवं गुजरात प्रदेश दोनों को स्वावलम्बी बना दिया है।

अन्तिम भागी—

प्राचार्य हेमचन्द्र एक महान् साधुपुरुष और संस्कृत के प्रौढ विद्वान् थे। उनका अधिकांश समय अध्ययन, अध्यापन एवं साहित्यिक कार्य में व्यतीत होता था। राजा जयसिंह के साथ और उनके बाद जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के साथ यद्यपि उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, किन्तु वे श्रमणों की नाईं अलग अपने विहार में रहते थे। आवश्यकता होने पर सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल उनके स्थान पर जाकर ही उनसे आवश्यक परामर्श प्राप्त करते थे। फिर भी राज सम्पर्क बड़ी दुरी बना है। प्राचार्य हेमचन्द्र की इस राज-सम्पर्क का बड़ा बुरा फल भोगना पड़ा।

राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ प्राचार्य हेमचन्द्र का प्रथम परिचय ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर हुआ था। उस समय उनकी अवस्था ४६ वर्ष की थी। उसके बाद ७ वर्ष तक राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ उनका सम्बन्ध रहा। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी 'अणहिल पट्टन' के राजा कुमारपाल के साथ ३० वर्ष तक उनका सम्बन्ध रहा। इस प्रकार ४६ वर्ष की आयु में राज सम्पर्क में आकर ३७ वर्ष तक वे निरन्तर राज-सम्पर्क में रहे, और ८३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। उनके देहावसान की घटना बड़ी वरुण है।

'अणहिल पट्टन' के राजा और प्राचार्य हेमचन्द्र के शिष्य कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था। एक पुत्री थी और उसका सङ्ग प्रतापमल्ल था। ३० वर्ष राज्य करने के बाद राजा कुमारपाल बुढ़ हो गए थे, और उन्हें राज्य के उत्तराधिकारी का निर्णय करने की चिन्ता हुई। उनके निकट सम्बन्धियों में एक तो यही उनका दोहित्र प्रतापमल्ल था और दूसरा उनका भाई अजयपाल था। इन्हीं दो में से किसी को 'अणहिल पट्टन' की राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता था। इन दोनों में जिसकी राज सिंहासन देना उचित होगा इस विषय में परामर्श करने के लिए बुढ़ राजा कुमारपाल प्राचार्य हेमचन्द्र से परामर्श करने के लिए उनके स्थान पर गए। राजा के साथ उनका प्रिय एक जैन ध्यापारी 'वणाह-भामठ' भी था। राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ प्राचार्य हेमचन्द्र का सम्पर्क केवल सात वर्ष ही रहा था। इसलिए जयसिंह तब धर्म के ही अनुयायी बने रहे, किन्तु कुमारपाल प्राचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों की सुन कर जैन बन गए थे। उनका दोहित्र प्रतापमल्ल भी जैन था। इसलिए प्राचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को यह परामर्श दिया कि धर्म के स्वर्ण के लिए प्रतापमल्ल को गद्दी देना अच्छा रहेगा। किन्तु राजा के जैन मित्र 'वणाह भामठ' को यह सम्मति थी कि—'बुद्ध भी हो, पर अपना नाम का' इस कहावत के अनुसार अजयपाल को गद्दी देना ठीक होगा। अतः में परिस्थितियों से विवश होकर अजयपाल को ही राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया।

प्राचार्य हेमचन्द्र के यहाँ जिस समय राजा कुमारपाल राज्य के उत्तराधिकारी के विषय में परामर्श कर रहे थे उस समय प्राचार्य का एक विचारणीय वाचन भी वहाँ उपस्थित था। उस वाचन वाचन के द्वारा अजयपाल को किसी तरह यह बात मामूम हो गई कि प्राचार्य हेमचन्द्र ने उनकी गद्दी दिए जाने का विरोध किया है। इस बात की सुन कर उसे बड़ा शोक हुआ और वह प्राचार्य हेमचन्द्र तथा उनके शिष्याण एव शिष्यों का शत्रु बन गया। प्राचार्य

हेमचन्द्र की अवस्था उस समय ८३ वर्ष की हो चुकी थी और उसके बाद बहुत शीघ्र ही उनका देहावसान हो गया । पता नहीं यह उसके किसी पङ्क्यन्त्र का परिणाम था या यह स्वाभाविक मृत्यु थी । यद्यपि ग्रन्थों में तो इसका उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी भजयपाल की प्रकृति को देखते हुए यह धारण्यं नही है कि उसने किसी पङ्क्यन्त्र द्वारा आचार्य हेमचन्द्र को समाप्त करा दिया हो । क्योंकि आचार्य के निधन के बाद ३२वें दिन ही भजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को समाप्त कर दिया और स्वयं राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया । इस घटना का उल्लेख अनेक जैन ग्रन्थों में पाया जाता है । सन् १३४८ में लिखे गए राजशेखर सूरि के 'प्रवन्धकोष' में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"एवं व्रजति काले राजा कुमारपालदेवः श्री हेमच च वृद्धी जाती । श्री हेमसूरिगच्छे-  
विरोधः । रामचन्द्र-गुणचन्द्रादिबुन्दमेकतः । एकतो मासचन्द्रः । तस्य च बालचन्द्रस्य राजभ्रातृव्येन  
भजयपालेन सह मैत्री । एकदा प्रस्तावे राज्ञो गुरुणां आमहस्य च राज्ञो भग्नारम्भः । राजा  
पृच्छति—भगवन् ! अहमपुनः, कमहं स्वपदे रोपयामि ? गुरवो ब्रुवन्ति प्रतापमत्नं दीहिमं  
राजानं कुत्र धर्मस्यैयमि, भजयपालात्तु त्वत्स्थापितधर्मस्यो भावी । अनन्तरे आमहः प्राह—  
भगवन् ! यादृशस्तादृशः, आत्मीयो भव्यः । पुनः श्रीहेमः—भजयपालं रात्रं मा कृयाः सर्वयैव । एवं  
मन्त्रं कृत्वा उत्थितात्मनः । च मैत्री बालचन्द्रेण भुवः, भजयपालाय च कथितः । अतो हेमचन्द्रोप-  
रामचन्द्रादिषु द्वेषः, आमहे तु प्रीतिः । हेमसूरेः स्वयंमनं जातम् । ततो दिनद्वान्विशता राजा  
कुमारपालोऽभजयपालदासविषेण परलोकमभवत् । भजयपालो राज्ये नियण्णः । श्री हेम-द्वेपाद्  
रामचन्द्रादिशिष्याणां तप्तलोहविष्टरासनपातनया मारणं कृतम् । राजविहाराणां बहूनां पातनम् ।  
लघुशुल्कानां ह्याय प्रातः प्रातर्मुग्धां कर्तुं मम्यासयति । पूर्वमेते चैत्यपरिपाटीमकार्पुंरित्युपाहसता  
बालचन्द्रोऽपि स्वगोत्रहत्याकारक इति ब्रुवन्निर्वाणैर्मनस उत्तारितः । श्रीमालवान् गत्वा  
मृतः । पापं पच्यते हि सध्वः ।"

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य—

प्रस्तुत ग्रन्थ नाट्यदर्पण के निर्माता रामचन्द्र उक्त गुजरात की महाविभूति आचार्य  
हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे । राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही आचार्य हेमचन्द्र ने उन्हें अपना  
पट्ट शिष्य घोषित कर दिया था । सन् १२७७ (सं० १३३४) में लिखे गए प्रभाचन्द्रसूरि के 'प्रभावक  
चरित' में रामचन्द्र के पट्टधर शिष्य होने का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है ।

"राज्ञा श्रीसिद्धराजेन, अग्यदानुयुयुजे प्रभुः ।  
भवतां कोऽस्ति पट्टस्य शोभ्यः शिष्यो गुण्याधिकः ॥  
तमस्मार्कं दशंयत चित्तोत्कर्षाय, मासिव ।  
अपुन्रमनुकम्पाहं पूर्वं त्वां मा स्म शोचयन् ॥  
आह श्रीहेमचन्द्रश्च न कोऽप्येवं हि चिन्तकः ।  
आद्योऽप्यशूदिलापालः सत्यानाम्भोविचन्द्रमाः ॥  
सज्जानमहिमस्यैयं भुविनां किं न जायते ।  
कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥  
अस्त्यमुष्यायाणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ।  
प्राप्तरेशः प्राप्तारूपः सङ्घे विश्वकलानिधिः ॥  
अग्यदाऽदशंयंतेऽमुं, क्षितिपस्य स्तुतिं च यः ।  
अनुक्ताभाचविद्विद्भिर्हृत्लेखाषागिनी व्यधात् ॥

इन श्लोको में राजा जयसिंह सिद्धराज और आचार्य हेमचन्द्र का संवाद वर्णित है। एक बार राजा सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि—हे भगवन् ! आपका उत्तराधिकारी योग्य शिष्य कौन है हमें भी उसका दर्शन कराने की कृपा करें। राजा जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए उसने कहा कि हे आचार्य कहीं ऐसा न हो कि मेरी तरह आपको विषय में भी शोक का अवसर आए कि आपको कोई योग्य शिष्य नहीं था। इसलिए अपने पट्टपर उत्तराधिकारी का निश्चय कर लीजिए। और इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी पट्टशिष्य बतलाया और कहा इसे किसी समय आपको दिखला भी चुका हूँ। उस समय उसने अर्थात् रामचन्द्र ने आपको भूपूर्व ढग से स्तुति भी की थी। इस स्तुति का वर्णन उसी 'प्रभावक चरित' में निम्न प्रकार किया गया है—

तथाहि—

॥ मानवाप्यधिक कश्चिन् सहृते जिगीषवः ।  
इतीव एव धरानाय ! धाराधिपमप्राकृत्यः ॥

अर्थात् हे राजन् । विजयेन्नु सोग (मानवाप्यधिक) अपने से तनिक भी बड़े की सहन नहीं करते हैं, इसलिए धरानाय ! आप उस धरानाय अर्थात् मालवाराज का नाश कर डालें। इस श्लोक में धरानाय तथा धारानाय शब्दों के प्रयोग में कमत्कार है। इस शब्दों की मात्राओं की गणना की जाय तो 'धरानाय' की अपेक्षा 'धारानाय' में 'ए' मात्रा अधिक है। यदि ने धरानाय सम्बोधन गुर्जराधीश जयसिंह सिद्धराज के लिए किया है और 'धारानाय' पद से मालवाराज की ओर संकेत किया है। वह मानवाप्यधिक है। इसलिए इसकी मट्ट करने की बात यदि ने बही है। इस उक्ति में कुछ विचित्रोक्ति भूपूर्व कमत्कार है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने उसे 'मनुक्तान्माद्यविद्विद्भि' एकदम भूपूर्व कहा है। और इसीलिए उसको सुन कर राजा का हिर झूमने लगा। जैसा कि अगले श्लोक में कहा है—

शिरोधूननपूर्वं च भूपालोज्ज हसं श्वो ।  
रामे, वामेतराचारो विदुषा महिमस्फुल्लाम् ॥

इस प्रकार के वर्णनों से विदित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने राजा जयसिंह सिद्धराज के सामने ही अर्थात् अपनी मृत्यु से लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व ही रामचन्द्र की अपना पट्टपर उत्तराधिकारी एवं प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया था। रामचन्द्र के अतिरिक्त १ महेंद्रसूरि, २ गुणचन्द्र सूरि, ३ वर्धमानगण, ४ देवचन्द्र मुनि, ५ यद्यचन्द्र ६ उदयचन्द्र तथा ७ बालचन्द्र ये ७ उनके सहपाठी तथा आचार्य हेमचन्द्र के विशेष कृपापात्र शिष्य थे।

१. महेंद्रसूरि—इन में से महेंद्रसूरि ने आचार्य हेमचन्द्र के 'धनेश्वर्य सग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर 'हेमानेश्वर्य सग्रह टीका' लिखी थी। जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रतीत होता है—

धी हेमसूरिनिधयेण धीमग्महेन्द्रसूरिणा ।  
भक्तिनिष्ठेन टीनेय तपाम्नेव प्रतिष्ठिता ॥

२. ग्रन्थकार के सहपाठ्याधी गुणचन्द्रगण तथा वर्धमानगण—वि० सं० १२८१ (मनु १२८४ ई०) में सोमप्रसाचार्य ने 'कृमाराम प्रतिबोध' नाम्य-ग्रन्थ की रचना की थी। सोमप्रस

ने अपना यह काव्य हेमचन्द्र के शिष्य गुणचन्द्रगणि तथा वर्धमानगणि को सुनाया था, इस प्रकार का उल्लेख उन्होने स्वयं इस प्रकार किया है—

राशिञ्जलधिसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम् ।

जिनपदप्रतिबोधः कल्पतोऽयं गुर्जरेन्द्रपुरे ॥

हेमसूरिपदपंकजहंसैः महेन्द्रभुनिर्पैः यत्तमेतत् ।

वर्धमान-गुणचन्द्रगणिभ्यां साकमाकलितशास्त्ररहस्यैः ॥

इन श्लोकों में वर्धमान तथा गुणचन्द्र दोनों के नामों का उल्लेख साथ-साथ किया है और उन्हें आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है। इससे ये दोनों भी नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी सिद्ध होते हैं। इनमें से गुणचन्द्र तो वे हैं जिन्होंने रामचन्द्र के साथ मिलकर इस प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' और उसकी खोपजवृत्ति की रचना की है। वर्धमानगणि ने भी 'कुमार विहार-प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ की व्याख्या की है। उसका परिचय निम्न सेल से मिलता है—

यथैहमचन्द्रमूरिशिष्येण वर्धमानगणिना कुमारविहारप्रशस्ती, काव्येऽमुष्मिन् पश्ये  
कृतेऽपि कौतुकात् पोद्दशीत्तरं शतं व्याख्यानं चक्रे ।

४-५. देवचन्द्रमुनि तथा यशस्वन्दगणि—ये दोनों भी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य और नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी थे। इनमें से देवचन्द्रमुनि ने 'चन्द्रलेख विजय' नामक 'प्रकरण' (रूपक भेद) की रचना की है, और यशस्वन्दगणि का नाम मेरुतुङ्ग सूरि द्वारा विरचित 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रूप में पाया जाता है।

६. उदयचन्द्र—इनके नाम का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र-विरचित शब्दानुशासन की न्यास टीका के लेखक कनकप्रभ ने निम्न प्रकार किया है—

भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।

दर्शनपट्कनिस्तद्गोहेमचन्द्रो मुनीश्वरः ॥

तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति शिष्यः संस्थावर्त शरः ।

यावज्जीवमभूद् यस्य, व्याख्या ज्ञानामृतप्रपा ॥

तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरि शिष्यसर्वो व्यधात् ।

न्याससारसमुद्धारं मनीषी कनकप्रभः ॥

७. बालचन्द्र—रामचन्द्र के सहपाठियों में बालचन्द्र जी का भी विशेष स्थान है। इसके नाम की खर्चा हम अभी आचार्य हेमचन्द्र की अन्तिम भांकी के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। राजा कुमारपाल की मृत्यु का कारण यही था, और भावचर्य नहीं कि आचार्य हेमचन्द्र की मृत्यु भी इसी कारण हुई हो।

कवि कटारमल की उपाधि—

कवि रामचन्द्र का जन्म कब और कहाँ हुआ इसका ठीक निर्णय करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सन् ११३६ में आचार्य हेमचन्द्र को, जयसिंह सिद्धराज के साथ परिचय होने के समय वे आचार्य हेमचन्द्र के विचारधियों में थे। यह बात पूर्वोक्त श्लोकों के आधार पर कही जा सकती है, और उससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि उनका जन्म गुजरात में 'भरणहिल-पट्टन' के आस-पास ही कही हुआ होगा। तभी उन्हें आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यत्व की सीमाव्य का प्रवसर सरलता से मिल गया।

‘आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा रामचन्द्र का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ भी हो गया था। एक बार श्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता की चर्चा के प्रसङ्ग में राजा जयसिंह सिद्धराज ने अपने पारिषदों से पूछा कि गर्मी में दिन लम्बे क्यों हो जाते हैं? कथं श्रीधने दिवसा ग्रहतराः?’ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तर दिए। उस समय रामचन्द्र भी सभा में उपस्थित थे। राजा ने उनका भी अभिप्राय जानना चाहा। रामचन्द्र ने उनके प्रश्न का उत्तर दिया। वह उत्तर उस समय की सामन्ती परम्परा के अनुसार और कवि रामचन्द्र की कवित्व-प्रतिभा के अनुरूप था। रामचन्द्र ने राजा के प्रश्न का उत्तर निम्न श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया।

देव ! श्रीगिरिदुर्गमत्न ! भवतो दिग्भ्रंजयात्रोत्सवे,  
धावद्बीरतुरङ्गनिष्ठुरक्षुरक्षुण्णदमामण्डलात् ।  
वातोद्धूतैरजोमिलसुरसरिस्सजातपद्मस्थली—  
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरारविहयास्तेनातिबुद्धं दिनम् ॥

श्लोक में राजा के प्रश्न का वर्णन है। राजा जयसिंह सिद्धराज जब दिग्विजय करने निकलते हैं तब उनके सैनिकों के घोड़ों के छुरों से उड़ाई गई धूलि आकाश-गंगा पर जाती है और उस पर दूध उग आती है। सूर्य का रथ जब आकाश-गंगा पर पहुँचता है तो सूर्य के पीछे उस हरी-हरी दूध को देख कर उसे खाने के लिए रुक जाते हैं। इसलिए उनकी अपने सद्य स्थान पर पहुँचने में विलम्ब हो जाता है। इसी कारण दिन बढ़ा हो जाता है। उत्तर को सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुए। विशेषकर इसलिए कि यह श्लोक कवि का सुरम्य बनाया हुआ श्लोक था और उससे कवि की कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता था।

इसी प्रकार किसी अन्य अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र से कहा कि—  
‘सम्योनगरं वर्णय पट्टनाभिपानम्’ ‘अणुहिल-पट्टन’ नगर का वर्णन अभी करो। रामचन्द्र ने तनिक सी देर में ही ‘अणुहिल-पट्टन’ नगर के वर्णन में निम्न श्लोक बना कर राजा के सामने प्रस्तुत कर दिया—

एतस्यास्य पुरस्य पीरवनिताचातुर्यतानिजिता  
मग्ये नाय ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।  
कीर्तिस्तम्भमियोन्वदण्डरश्मिरामुत्सृज्य बाहावसी—  
तंत्रीवा गुरसिद्धभूपतिमरस्तुम्भीं निजां बन्धयिम् ॥

इस श्लोक का भाव यह है कि इस ‘अणुहिल-पट्टन’ की निवासिनी स्त्रियों की चतुराई से पराजित होकर सरस्वती बिन्दुम मुखी बन कर उनके सामने ‘पानी भरने लगी।’ इसीलिए अपनी बीणा की कण्ठनी [नीचे वाले भाग] को सिद्धराज भूपाल ने तासाव की बन्धनी के रूप में नीचे छोड़ दिया और बीणादण्ड को राजा के कीर्ति-स्तम्भ के रूप में पारण किए और मेघावसी की तंत्री बनाए हुए घूम रही है।

यों तो दोनों श्लोकों में कुछ गड़बड़ है किन्तु मध्यनिर्मित श्लोक होने के कारण वे काफी अच्छे श्लोक हैं। रामचन्द्र की इस प्रकार की प्रतिभा का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज को अनेक बार प्राप्त हो चुका था। इसलिए राजा ने प्रसन्न होकर ‘वक्त्रिकटारमत्न’ की उपाधि रामचन्द्र को प्रदान की।

एक बार काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पण्डित अणहिल-भट्टन आए। यह राजा कुमारपाल के समय की बात है। वे कविवर आचार्य हेमचन्द्र की सभा में पहुँचे। उस समय राजा कुमारपाल भी आचार्य हेमचन्द्र के पास बैठे हुए थे। विश्वेश्वर पण्डित ने सभा में पहुँचते ही आचार्य हेमचन्द्र को आशीर्वाद देते हुए निम्न श्लोकादों को पढ़ा—

‘पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्रहन् ।

श्लोकादों का अर्थ था कि हे हेमचन्द्र ! दण्ड और कम्बल धारण किए हुए गोपाल कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। कवि विश्वेश्वर ने अपनी धार्मिक भावना के अनुसार कृष्ण के द्वारा उनकी रक्षा की बात कही थी। पर आचार्य हेमचन्द्र और उनके पास-पास की सारी मण्डली ही जन मतावलम्बिनी थी। उसे तो ‘कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें, यह बात कुछ सचिकर नहीं मालूम पड़ी। उसके स्थान पर यदि ‘जिन तुम्हारी रक्षा करें’ यह बात कही जाती तो उन्हें अच्छा लगता। उस समय कवि रामचन्द्र भी वही बैठे थे। उन्हें कृष्ण का यह ‘रक्षा करने का गौरव’ पसन्द नहीं आया। इसलिए उन्होंने तुरन्त ही सेप भाषे श्लोक की पूर्ति निम्न प्रकार करके सुना दी—

‘पह्ददर्शनं पशुपामं चारयन् जैनगोचरे ॥

पहिले श्लोकादों में दण्ड और कम्बलधारी गोपाल के रूप में कृष्ण को उपरिष्ठित किया था। रामचन्द्र के श्लोकादों में यह कहा गया है कि हाथ में सांखी लिए हुए और कंधे पर कमरिया बाँधे हुए वह गोपाल ‘जैन गोचरे’ जैनो के यहाँ पह्ददर्शन रूप पशुपामो को चरा रहा है। विश्वेश्वर कवि के हृदय में आशीर्वाद देते समय कृष्ण के प्रति जितना अभिमान व्यक्त हो रहा था, रामचन्द्र के श्लोकादों ने उसनी बुरी तरह कृष्ण की हीनता को प्रकाशित किया है। इस प्रकार यह श्लोक धार्मिक सत्पथ का सुन्दर उदाहरण बन गया है। सहृदय लोगों ने उस समय भी इस का रसास्वादन किया होगा। और आजके सहृदयों को भी उसमें एक सीखा ही सही पर विशेष रसास्वादन मिलेगा—

“पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्रहन् ।

पह्ददर्शनपशुपामं चारयन् जैनगोचरे ॥”

इस पदना का यह विवरण मेस्तुङ्ग रचित प्रबन्ध चिन्तामणि [पृ० २२६-२७] के आधार पर दिया गया है। अरिप्रसुन्दरगणि ने ‘कुमारपालचरित महाकाव्य’ में इसी प्रकार की पदना का उत्तेल निम्न प्रकार किया है।

पञ्चसंशानि द्रव्याणां दत्तं चोर्ध्वस्तुरङ्गमान् ।

विश्वेश्वराय नमये सुष्टः श्री कुमारो ददौ ॥

सार्धं नृपतिना सोऽयं विश्वेश्वरविर्वयो ।

श्री हेमभूरिपालायां विद्रुगोष्ठीरतेरितः ॥

भालोषय संसद गूरेभूरिगूरिजनावृताम् ।

स ब्रह्मपरिषत्स्यामेनां येने नवीश्वर ॥

गुरि-रिष्यपरीधाय द्वे समस्ये समारपयत् ।

‘व्यापिदेति’ प्रविष्टाऽऽद्या ‘भृङ्गायेछेति’ आपय ॥

तामाद्यां निरवधपचरचनाहूय, नृपदीं महा—

उमारयः पूर्वमपूरयद् गुरुरनप्रनामनार्थोद्भूतः ।

कुर्वन्स्तन्मनसीति विस्मयभरं श्रीसूरिचिप्य क्षणाद् ।

अन्या मान्यतमोऽनिश मतिमता श्रीरामचन्द्रोऽभ्यधात् ॥

यह वर्णन, पूर्वं वर्णन से भिन्न प्रकार का है । इसके अनुसार विश्वेश्वर कवि का पहिले राजा कुमारपाल ने अपनी सभा में सत्कार किया । उसके बाद कवि राजा कुमारपाल के साथ आचार्य हेमचन्द्र की शाला में गए हैं । वहाँ उन्होंने आचार्य के शिष्यों की परीक्षा के लिए दो समस्याएँ पूर्ति करने के लिए रखीं । इनमें से एक समस्या 'व्यापिद्धा' की प्रती दूसरी 'शृङ्गाश्रेण' की । इनमें पहिली समस्या की पूर्ति पहिले राजा के महामात्य 'कपर्दी' ने की । उसके बाद दूसरी समस्या की पूर्ति हेमचन्द्र सूरि के शिष्य रामचन्द्र ने की । इन दोनों के समस्या-पूर्ति श्लोकों को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नैतस्या प्रसूतिद्वयेन सरसे ! राक्ष्ये विधातु दृष्टौ  
सर्वत्रापि च लक्ष्यते मुखशशिज्योत्स्नाविठानैरियम् ।  
इत्य मध्यगता सखीभिरभितो दृग्मीलनात् केलिपु,  
व्यापिद्धा, नयने मुख च हृदयी स्वे गह्वरे वन्यका ॥

यह महामात्य द्वारा की गई 'व्यापिद्धा' समस्या की पूर्ति है । रामचन्द्र द्वारा की गई दूसरी समस्या की पूर्ति निम्न प्रकार है—

एव नो गोमृगस्तवेन्दुरधिपस्तस्यामृत तत्सरे  
तेन व्याघशरातुरा मम प्रियाभेना समुज्जीवय ।  
इत्युक्ते मृगलाञ्छनस्य हरिणे काश्यपाजल्पत.  
शृङ्गाश्रेण मृगस्य पक्ष्य पतित नेत्राभ्यु भ्रूमण्डले ॥

इनमें से प्रथम श्लोक में कन्याओं की आलमिचीनी की क्रीडा का वर्णन है । आलमिचीनी खेलने वाली लड़कियों में एक लड़की की आलम बहुत बड़ी बड़ी है । इतनी बड़ी कि 'प्रसूतिद्वयेन' दोनों हाथों से 'विधातु न राक्ष्ये' टकने में नहीं आती है । उससे आलमिचीनी कैसे खेली जाय । उस लड़की में दूसरा दोष यह भी था कि वह कहीं भी जाकर छिपे, पर उसने सोन्दर्य की जाति पारों और फैल जाने से वह छिपी नहीं रह सकती है । इन दोनों कारणों से उस कन्या को 'दृग्मीलन केलि' से निवाल दिया गया—'व्यापिद्धा' । प्रीतवह बैचारी अपने मुख तथा नेत्रों को कोस-कोस कर रोने लगी ।

दूसरे श्लोक में कोई मृग शृङ्गाश्रेण से चन्द्रमा में बैठे हुए मृग को स्पर्श करते हुए उससे प्रार्थना कर रहा है कि तुम हमारे वन के बड़े-बूढ़े गुरु हो, चन्द्रमा तुम्हारा स्वामी है । उससे अमृत भरे हाथ के द्वारा व्याप के बाण मृतकल्प मेरी प्रिया हरनी को पुनर्जीवित करा दो । इस प्रकार बहते हुए कल्याणायी प्रार्थना करने वाले मृग की आलमों से धीमे टपकने लगे । इस प्रकार अपनी दी हुई दोनों समस्याओं की तुरन्त प्रस्तुत की गई इन दोनों सुन्दर पूर्तियों को सुन कर विश्वेश्वर पण्डित अत्यन्त प्रमत्न हुए ।

स जह्यं नित्राघन से निषीयानु पुरिते ।

अहो ! जानाति विश्वेऽस्मिन् कचिरेव कचे धमम् ॥

## कवि रामचन्द्र का आत्मपरिचय—

नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र का यह परिचय हमने अन्य लोगों के ग्रन्थों में वर्णित सामग्री के आधार पर दिया था। अब आते उनकी स्वयं दी हुई सामग्री के आधार पर उनका कुछ परिचय प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यरचना के नियमों के अनुसार नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से प्रत्येक नाटककार अपने सम्बन्ध में कुछ परिचय देता है :

रङ्गं प्रसाद्य मधुरं श्लोकं काव्यार्थसूचकः ।

रूपकस्य कवेराख्या गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ साहित्यदर्पण ६-२८ ।

इस नियम के अनुसार प्रत्येक नाटक के आरम्भ में कवि रामचन्द्र ने अपना परिचय दिया है, परन्तु परिचय में उन्होंने अपने गोत्रस्थान आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। अपने सभी नाटकों में उन्होंने केवल आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य-रूप में ही अपना परिचय कराया है। इस लिए उनके ठीक जन्म स्थान, पितृनाम और कुल गोत्रादि का कोई परिचय हमको नहीं मिलता है। फिर भी उनके अपने व्यक्तित्व के परिचय कराने के लिए उनकी स्वलिखित पर्माण्व सामग्री मिलती है। अपने विषय में सबसे लम्बा परिचय उन्होंने कदाचिद् 'रघुविलास' की प्रस्तावना में दिया है। वह परिचय निम्न प्रकार है—

“मारिप ! सिद्धहेमचन्द्राभिधानशतदानुशासनविधानवेधसः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्यं  
रामचन्द्रमभिजानासि ?

चन्द्र०—[साक्षेपम्]—

पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन  
बिद्वग्मन तदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।  
विद्यात्रयीचण्डमधुम्बितकाव्यतन्त्रं  
कस्त न वेद सुकृती किम रामचन्द्रम् ?

किन्तु द्रव्यालङ्कारनामा प्रबन्धोऽभिनेयस्त्वेन तावदास्ताम् । अपरेया रायवाभ्युदय यादवाभ्युदय मनविलास रघुविलासानां चतुर्णां रमणीयतम-सन्द्ध्यङ्गनिवेशानां विशदप्रकृतीनां पुनर्मध्ये कुत्र प्रजानामनुरागः ?

[रघुविलास-प्रस्तावनायाम्]

यह उद्धरण 'रघुविलास' की प्रस्तावना से लिया गया है। इसमें कवि रामचन्द्र ने अपने पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम 'द्रव्यालङ्कार' ग्रन्थ भ्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है और दोष धारो उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। पाँच ग्रन्थों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि 'रघुविलास' की रचनाकाल तक वे इसको मिला कर पाँच ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। और उनके कारण उनकी पर्याप्त ख्याति हो गई थी। इस परिचय में उन्होंने अपने को 'विद्यात्रयी चण्डम्' कहा है। साधारण 'त्रयीविद्या' पद से वेदविद्या का ग्रहण होता है। किन्तु रामचन्द्र जैन विद्वान् थे इसलिए वेद विद्या से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने जो 'विद्यात्रयी' का प्रयोग किया है उससे न्याय, व्याकरण तथा साहित्य विद्या का ग्रहण होता है। रामचन्द्र का इन तीनों शास्त्रों के ऊपर पूर्ण अधिकार था, इसी लिए उन्होंने यहाँ अपने को 'विद्यात्रयीचण्डम्' तीनों विद्याओं में निपुण कह कर अपना परिचय दिया है। 'नाट्यदर्पण विवृति' के अन्त में—

“सङ्कलक्ष्य प्रमालक्ष्य-वाच्यमक्षय-वृत्तधमः ।

वाग्बिलासस्त्रिप्रागो नो, प्रवाह इव जाह्नवः ॥”



लिख कर उन्होंने फिर अपने को इन तीनों विद्याओं का पण्डित सूचित किया है। अपना ही नहीं अपने आचार्य हेमचन्द्र का भी इन तीन शास्त्रों का ही पाण्डित्य 'नाट्यदर्पण-विवृति' के अन्त में उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

‘साम्ब-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म विधायिनाम् ।

श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ॥”

‘नाट्यदर्पण विवृति’ के प्रारम्भ में श्री—

“प्राणा कविश्च विद्यानां सावर्ण्यमिव योषिताम् ।

त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै, तस्यो नित्यं कृतस्त्वहा. ॥”

[ना० ६० १-६]

इस श्लोक से उन्होंने अपने को ‘त्रैविद्यवेदिन’ कह कर अपना परिचय दिया है। ‘सिद्धहेम-शाब्दानुशासन’ के ऊपर ‘भ्यास’ टीका लिख कर उन्होंने अपने व्याकरणशास्त्र के पाण्डित्य को चरितार्थ कर दिया है। अपने द्रव्यालंकार विवृति ग्रन्थ द्वारा भ्यासशास्त्र के पारङ्गतत्व को, और नाट्यदर्पण एवं अनेक नाटकों की रचना द्वारा अपने साहित्यशास्त्र निष्णातत्व को चरितार्थ कर दिखाया। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वे इन सब शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् थे। इसलिए उनका ‘त्रैविद्य-वेदित्व’ का अभियान यथार्थ ही था।

२ नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने अपने नाटकों में अपनी स्वातन्त्र्य-प्रियता पर बड़ा बल दिया है। उनकी काव्यरचना बिल्कुल स्वतन्त्र है। किसी अन्य कवि की कविता आदि का उन्होंने सैनिक भी आश्रय नहीं लिया है। इस बात की प्रदर्शित करते हुए नलबिलास की प्रस्तावना में लिखा है कि—

“नटः [विमुक्त्य] भाव । अयं कवि स्वयमुत्पादक उताहो परोपजीवकः ?

सूत्रधार —मन्त्रार्थं तेनैव कविना दत्तमुत्तरम्—

जनः प्रज्ञाप्राप्त पदमथ पदार्थं घटयत।

पराध्याध्ययान् न कथयतु गिरौ वत्तंतिरियम् ।

अमादास्यायामप्यविवर्तविकासीनि कुमुदा—

ग्यम लोकावन्द्यव्यतिवर्तविकासीनि वदति ॥

[नलबिलास १-७]

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी आलोचक ने रामचन्द्र को यथानुगतिक अर्थात् पुरानी बातों का ही वर्णन एवं अनुसमन करने वाला कह दिया था। उसका विरोध करते हुए इस श्लोक में उन्होंने यह दिखलाया है कि ‘हम तो सदा अपनी बुद्धि में प्रसूटित नवीन पदार्थों की रचना करते हैं, फिर भी यदि हमें शेष दूसरों का अनुसमन करने वाला करते हैं तो बहने दो। ऐसा तो ससार में कहा ही जाता है। देखो न ! समार कुमदों को अन्द्रमा ने सम्पर्क से ही खिलने वाला कहा है। पर वे कुमुद तो अमावस्या के दिन अन्द्रमा के न होने पर भी खिलते हैं। इसलिए लोगों की बात विदवास के योग्य नहीं है।

“अपि च शतप्रत्येयपदपदार्थसम्बन्धेषु प्रीतिमादधानं जनमवलोक्य यातसेदेन तेनेद चाभिहितम्—

एषां लोकाः बाध्ये वहति जगत् कुञ्चिनतयैः

वचोभिर्वाच्येन प्रवृत्तिवृत्तिन स्पष्टिते ।

ययं वीथी बाहुं कयमपि न शक्ताः पुनरिमा—  
मियं चिन्ता चेतस्तरलयति नित्यं किमपि नः ।

पुरानी शैली के जिन यमकादि प्रधान और चित्रकाव्यों का अर्थ भी समझना कठिन होता है, इस प्रकार के काव्यों में लोगों की विशेष अभिरुचि से खिन्न होकर रामचन्द्र ने यह श्लोक लिखा है । उसका भाव यह है कि हम इस प्रकार के स्वभावतः दुर्ज्ञेय और निकृष्ट रचनाशैली का अवलम्बन करने में असमर्थ हैं । तो लोग हमारे काव्य को पसन्द करेंगे या कि नहीं यही चिन्ता हमें सता रही है । अर्थात् रामचन्द्र ने पुरानी शैली का अवलम्बन करके ही अपने नाटको की रचना नहीं की है । इसलिए गद्यानुगतिक केवल पुरानी लकीर के फकीर नहीं हैं—

लोक लोक गाड़ी चरै लोकहि पलै कपूत ।

तीन लोक पर ना चरै शायर शेर सपूत ॥

कवि रामचन्द्र तो शायर भी हैं और सपूत भी, इसलिए पुरानी लोक पर चलने वाले कैसे हो सकते हैं । उनकी रचनाशैली चित्रकाव्य की कठिन शैली से सर्वथा भिन्न सरल और सुबोध शैली है । इसलिए उनकी रचना विशेष रूप से रसवती बन पड़ी है । इसी बात को उन्होंने निम्न श्लोक में दिखलाया है—

प्रबन्धानाघातुं नवमणितिवेदग्यमधुरानु

कवीन्द्रा निस्तन्द्राः कति नहि मुरारिप्रभृतयः ।

श्रुते रामानान्धः किमुत परकोटी घटयितुं

रसानु नाट्यप्राप्तान् पटुरिति वितर्को मनसि नः ।

अर्थात् नवीन कल्पना और उक्तियों से मधुर काव्यों की रचना करने वाले मुरारि आदि सब जाने कितने कवि हुए हैं । किन्तु नाट्य के प्राणभूत रसों का चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने में समर्थ, रचना को प्रस्तुत करने वाला तो रामचन्द्र के अतिरिक्त कोई दूसरा कवि दिखाई नहीं देता है ।

यह तो रामचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र रचनाशैली का प्रतिपादन किया है । किन्तु दूसरे कवियों के पद-पदार्थ का अपहरण करने वाले कवियों को उन्होंने बड़ी कटु आलोचना की है । उनकी अनेक कृतियों में इस अपहरण-प्रवृत्ति की किन्हा पामी जाती है । इनमें से कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम् ।

अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ॥

[नाट्यदर्पण-विवृति १-११]

यह श्लोक नाट्यदर्पण विवृति के आदि में लिखा है । इसी प्रकार इस विवृति के अन्त में भी उन्होंने लिखा है—

परोपनीतशब्दार्थाः, स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।

निबटारोऽपुना तेन, को नो बलेशमवेप्यति ?

आजकल तो लोग दूसरों के शब्द अर्थों को लेकर अपने नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । तब हम दोनों अर्थात् नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र के उस कट्ट को, जो उन्होंने इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों की रचना में उठाया है कौन समझ सकेगा ?

‘कौमुदी मित्राणन्द’ की प्रस्तावना में भी उन्होंने इसी भाव को निम्न प्रकार लिखा है—

परोपनीतशब्दार्था स्वनाम्ना कृतकीर्तय ।  
निबद्धारोप्युना तेन विश्वम्भस्तेषु व सताम् ॥

कवि रामचन्द्र न केवल काव्य-रचना के क्षेत्र में अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता के उपासक हैं। अपनी इस स्वातन्त्र्यप्रियता का परिचय अनेक स्थानों पर दिया है। कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

काव्य चेत् सरस किमर्थममृत, वक्त्र कुरगोदृशा  
चेत् कन्दर्पविपाण्डुमण्डफलक राकाशशाङ्केन किम् ?  
स्वातन्त्र्य यदि जीवितावधि मुषा स्वभूँभुँबो वैभव  
वेदभी यदि बह्मयोगनभरा प्रीत्या सरस्याऽपि किम् ? ॥

[नलबिलास २-२]

इसके तीसरे चरण में उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता के सामने स्वर्ग और तीनों लोकों के वैभव को तुच्छ बतलाया है। नलबिलास के छठे अङ्क में उन्होंने फिर इस स्वातन्त्र्य की चर्चा की है—

अनुमृत न यद् येन रूपं नावेति तस्य सः ।  
न स्वतन्त्रो व्यथा वेति परतन्त्रस्य देहिनः ॥

[नलबिलास ६-७]

‘जिनस्तोत्र’ के अन्त में उन्होंने स्वातन्त्र्य-महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

‘स्वतन्त्रो देव ! भूयास सारमेयोऽपि वरमेति ।  
मा स्म भूय परामत्तस्त्रिलोकस्यापि नायकः ॥

हे देव ! मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र रहूँ। जैसे ही गनी का कुत्ता बन कर रहूँ। पराधीन हो कर मैं तीनों लोकों का राजा भी बनना नहीं चाहता हूँ। यह स्वातन्त्र्य-प्रियता का चरम रूप है। सरयहरिचन्द्र की प्रस्तावना में भी उन्होंने लिखा है—

१ सूक्तयो रामचन्द्रस्य, वसन्त, कलगीतयः ।  
स्वातन्त्र्य, इष्टयोगश्च पचते हृष्यन्त्य ॥

१ रामचन्द्र की सूक्तियाँ, २ वसन्त, ३ सुन्दर गान, ४ स्वतन्त्रता और ५ इष्ट का योग ये पाँचों वस्तुएँ आनन्द एवं सुख की सृष्टि करने वाली हैं।

“प्राप्य स्वातन्त्र्यसदृशी मुदमव बहतां सादवर्ती यादवेन्द्रः”

[यादवाम्मुदय]

“प्राप्य स्वातन्त्र्यसदृशी मनुमवतु मुद सादवर्ती भीमतेन ।”

[निर्भय भीमशायोग]

“अजातमण्डना समा. परमता स्वतन्त्रो भव ।”

[नलबिलास, तथा सरयहरिचन्द्र]

“भासाद्य यनोत्तमो परो स्वतन्त्रदिबर मुषा.”

[कौमुदीमित्राणन्द]

‘स्वातन्त्र्यप्रसवां यदीच्छन्ति विर सर्वाणि सिद्धिं हृदि’

[द्रव्यासङ्कारान्ते]

कवि रामचन्द्र के ग्रन्थ—

प्रस्तुत नाट्यदर्पण ग्रन्थ के लेखक रामचन्द्र की 'प्रबन्धसतकर्ता' के रूप में विशेष से प्रसिद्धि है। उन्होंने स्वयं अनेक ग्रन्थों में अपने को सौ ग्रन्थों का निर्माता 'प्रबन्धसतकर्ता' बतलाया है। 'कौमुदीमित्राणन्द' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धसतविद्यानिष्णातबुद्धिना' इत्यादि द्वारा स्पष्ट रूप से अपने को १०० ग्रन्थों का निर्माता बतलाया है। इसी प्रकार 'निर्भयभीम-व्यायोग' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धसतकर्तृमहाकवे रामचन्द्रस्य' इन शब्दों में अपने को प्रबन्ध-सतकर्ता घोषित किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। छोटे-छोटे 'स्तव' आदि तक को मिलाकर इस समय तक उनकी केवल ३९ कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। उनमें से हमारे ज्ञान में केवल छः ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. नाट्यदर्पण [बड़ोदा से प्रकाशित]
२. नलविलास नाटक [बड़ोदा से प्रकाशित]
३. कौमुदीमित्राणन्द [घात्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित]
४. निर्भयभीमव्यायोग [यसो जैन ग्रन्थभारता से प्रकाशित]
५. सत्यश्रीहरिश्चन्द्रनाटक [निरांय सागर बम्बई से प्रकाशित]
६. कुमारविहारसतक [भा० भा० सभा से प्रकाशित]

हमारे ज्ञान में इन छः प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त रामचन्द्र के नाम से निम्न सात अप्रकाशित ग्रन्थ और मिलते हैं जिनका उल्लेख नाट्यदर्पण में पाया जाता है—

७. मल्लिकामकरन्दप्रकरणम् [ना० ६० में उद्धृत]
८. दादवाभ्युदय नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
९. रघुविलास-नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
१०. राववाभ्युदय-नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
११. रोहिणीमृगाङ्क-प्रकरणम् [ना० ६ में उद्धृत]
१२. वनमालानाटिका [ना० ६० में उद्धृत]
१३. सुषाकलशः [ना० ६० में उद्धृत]
१४. द्रव्यालङ्कार [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]
१५. यदुविलास [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]

इनके अतिरिक्त कवि रामचन्द्र के निम्न ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। वे सब छोटे-छोटे स्तव रूप हैं—

१६. युगादिदेवदान्विशिका
१७. अतिरेकदान्विशिका
१८. प्रसाददान्विशिका
१९. आदिदेवस्तवः
२०. मुनिमुन्नतदेवस्तवः
२१. नेमिस्तवः
२२. त्रिनस्तोत्राणि
२३. हैमवृहद्वृत्तिन्यासः
- २४-३६ तक सोलह साधारण जिन स्तव

## रत्ना का अभिषाष—

रामचन्द्र के जीवन का अन्तिम भाग दुःखमय ही रहा । इसका कारण उनका अन्धा हो जाना था । 'प्रभावक-चरित' के अनुसार तो अणुहित-मृदुन के राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही उनकी दाहिनी आँख नष्ट हो गई थी । इस बात का वर्णन प्रभावक-चरित में निम्न प्रकार किया गया है—

“उपाध्ययश्रितस्यास्य महापीडापुरःसरम् ।  
 ध्वनसद् दक्षिणं चक्षुः ॥ ..... ॥  
 कर्मप्राप्यमालोच्य ते शीतीमूत्रचेवसः ।  
 त्र्यितास्तथ चतुर्मासीमासीनास्तपसि स्थिरे ॥”

मर्याद कभी चतुर्मास के अवसर पर कवि रामचन्द्र की भाँस दुखने आई और प्रायः षोडश दिने के बाद उनकी दाहिनी आँख जाती रहो । रामचन्द्र ने उसे अपने कमरों का रोप कह कर संगीत किया । और पूर्ववत् तपोजुष्टान करते हुए चतुर्मास्य को वही पूर्ण किया । ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना उनके मुख्य १५-१६ ग्रन्थों के रचना-काल के बाद हुई है । और उसने उनकी कार्य-पद्धति एवं प्रवृत्ति को ही बदल दिया है । इस दुर्घटना के बाद वे अन्य ग्रन्थों को छोड़ कर केवल स्तवों की रचना में लग गए । हमारे इस अनुमान का कारण यह है कि उनके स्तवों में अनेक जगह दृष्टि-दान की प्रार्थना पाई जाती है । 'निमित्तव' के अन्त में उन्होंने लिखा है—

मेमे ! निर्वेहि निधितासितताभिराम !  
 अन्दावदातमहर्षं मयि देव ! दृष्टिम् ।  
 सद्यस्तमासि विरताम्यपि भानु नाथ—  
 भुज्जुम्भता सपदि शास्वतिकः प्रकाशः ॥

इसमें स्पष्टतः दृष्टिदान की प्रार्थना की गई है । 'योदस योदसिका' के अन्त में भी कुछ इसी प्रकार की प्रार्थना निम्न श्लोक में की गई है ।

स्वामिभ्रनन्तकलकलतरोरिताराम !  
 अन्दावदात चरिताञ्चितविरचक !  
 सक्रानुतामिसरसीणह ! दु स्वसायें,  
 देव ! प्रसीद कदर्यां मूरु देहि दृष्टिम् ॥

अगर हमने 'प्रभावक-चरित' के जो श्लोक उद्धृत किए थे उसमें 'ध्वनसद् दक्षिणं चक्षुः' केवल दक्षिण चक्षु के नाश की बात कही गई थी किन्तु महाभुतः उदकी एक ही चक्षु नष्ट नहीं हुई थी मर्याद के दोनों नेत्रों से बिहीन ग्रन्थ हो गए थे । इसीलिए इन सब चर्चों में उन्होंने दृष्टिदान की प्रार्थना की है । 'अपतिरेकद्वान्निजिका' के अन्त में तो उन्होंने अपने 'विधिवत्ताम्य' पर्याप्त ईश्वर प्राप्त हुई अन्धता का उल्लेख किया है । और इसके साथ ही 'मत्तस्तनुता' पर्याप्त वाचस्प का भी संकेत करते हुए लिखा है—

जगति पूर्वविषेविनिमोगं  
 विधिवत्ताम्य-मत्तस्तनुताऽऽदिषथ ।  
 सचनमेव विमुप्यति यः सखाय  
 अभिनवः विवदृष्टिकरः सताम् ॥

हर्यन्तारमकारणैकमुद्दं विश्वस्य पार्श्वं जिनं  
तं स्तोतुस्त्रिजगद्भिलसल्लुण्णुप्रामाभिरामाकृतिम् ।  
यः कश्चिद् विकचीभवन् नत मे भाग्यातिरेकस्तवः  
तल्लोकव्यतिरिक्तमुक्तिपुवतिप्रेमप्रमोदोत्सवः ॥

इन दोनों श्लोकों में से प्रथम श्लोक में भग्यकार ने पार्श्वदेव की स्तुति की है और उनके अनुग्रह से 'विधिनितान्ध' और 'गलतनुता' के नाश की प्राप्ति प्रकट की है। दूसरे श्लोक में भी उन्हीं पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए इसीप्रकार अपने 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' की चर्चा की है। यों भग्यता जीवन का अभिशाप है। किन्तु उसमें बाह्य वृत्तियों का निरोध होकर मनुष्य की वृत्तियाँ स्वयं पतनमुखी बन जाती हैं और उसके भीतर भगवान् के प्रति प्रेम का उदय हो जाता है यह अच्छी बात है। इस दूसरे श्लोक में रामचन्द्र ने अपने उसी 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' को 'प्रमोदोत्सव' कह कर अपना सन्तोष व्यक्त किया है।

भग्यकार के जीवन की अन्तिम भांकी—

प्राचार्य हेमचन्द्र के जीवन की अन्तिम भांकी हम देख चुके हैं। जिस समय 'अराहिल-पट्टन' के राजा कुमारपाल अपने उत्तराधिकारी के निर्णय के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए प्राचार्य हेमचन्द्र के आवास-स्थान पर परामर्श कर रहे थे, उस समय प्राचार्य के भग्यान्व शिष्यों के साथ रामचन्द्र भी उपस्थित थे। उस समय अजयपाल को राज्य का उत्तराधिकारी न बनाने का जो परामर्श प्राचार्य हेमचन्द्र की ओर से दिया गया था उसमें रामचन्द्र का विशेष हाथ था। प्राचार्य हेमचन्द्र के शिष्यों में रामचन्द्र का प्रतिद्वन्दी और मन ही मन उनसे द्वेष रखने वाला उसका सहपाठी बालचन्द्र भी था। उसने ही अजयपाल के पास जाकर रामचन्द्र की चुगली करके अजयपाल को रामचन्द्र का शत्रु बना दिया था। इसलिए जैसा कि हम पहिले पढ़ चुके हैं अब अजयपाल राजा बना तो उसने रामचन्द्र को बुला कर गर्म लोहे की चादर के ऊपर बिठा कर उसको मरवा डाला। रामचन्द्र की इस नृशंस हत्या के पूर्व अजयपाल ने कहा था कि—

महिषीठह सचराचरह जिण सिरि दिव्वा पाव ।  
तसु मत्तमणु दिण्णेरह होउत होइ चिराय ॥'  
[महीपीठस्य सचराचरस्य येन सिरसि दत्ताः पादाः ।  
तस्यास्तमनं दिनेश्वरस्य भवितव्यं भवति चिराय ॥]

अर्थात् जो सारे चराचर जगत् के सिर पर पैर रखकर चलता है उस दिनेश्वर सूर्य का अग्त में विरकास के लिए अस्त हो जाता है। इसी प्रकार आज हमारे सिर पर पैर रखने का प्रयत्न करने वाले इस रामचन्द्र का अग्त हो रहा है।

रामचन्द्र के सहकारी गुणचन्द्र—

प्रस्तुत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना में रामचन्द्र के साथ गुणचन्द्र का भी नाम आता है। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों ने मिल कर की है। इनमें से रामचन्द्र के जीवन का घुत्तान्त ऊपर दिया गया है। किन्तु गुणचन्द्र के विषय में कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। केवल इतना विदित होता है कि ये रामचन्द्र के सहपाठी घनिष्ट मित्र और प्राचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने तीसरे साथी वर्धमानगणि के साथ सोमप्रभाचार्य रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' का श्रवण किया था। इस बात का उल्लेख करने वाले दो श्लोक हम पृष्ठ ८

पर उद्धृत कर चुके हैं। उनमें 'वर्धमान-गुणचन्द्रमणि' पद में गुणचन्द्रमणि पद से इन्हीं नाट्यदर्पण विवृतिकार गुणचन्द्र का ही संकेत किया गया है। इन गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के साथ मिलकर दो ग्रन्थों की रचना की है। एक तो यही प्रस्तुत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ और दूसरा इसी प्रकार का 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृतियाँ हैं। इन सम्मिलित दो कृतियों के प्रतिरिक्त रामचन्द्र की तो ३७ स्वतन्त्र कृतियाँ और पाई जाती हैं किन्तु गुणचन्द्र की और कोई कृति नहीं पाई जाती है। गुणचन्द्र के विषय में इतना ही वर्णन उपलब्ध होता है।

### दो नाट्यदर्पण—

प्रस्तुत नाट्यदर्पण ग्रन्थ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का बनाया हुआ है। यह चार 'विधेयों' में विभक्त है। मूल ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है। उसके ऊपर ग्रन्थकारों ने स्वयं ही विवृति लिखी है। ग्रन्थ में कुल २०७ कारिकाएँ हैं। 'रघुनाथ' ने 'विक्रमोर्वशीय' की टीका में और 'भर्तृ-मलिक' ने 'मट्टिकाव्य' की टीका में 'नाट्यदर्पण' का उल्लेख किया है। किन्तु वह नाट्यदर्पण प्रकृत ग्रन्थ से बिल्कुल भिन्न ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस अनुमान का कारण यह है कि भर्तृमलिक ने 'मट्टिकाव्य' [१४-२] की टीका में नाट्यदर्पण से 'गुह्यताग्रमयी मध्यगुह्यता काहुता मतेति नाट्यदर्पण' लिखकर नाट्यदर्पण का श्लोक उद्धृत किया है किन्तु यह श्लोक प्रस्तुत नाट्यदर्पण में नहीं पाया जाता है। यही नहीं अपितु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में ऐसा कोई प्रकरण नहीं है जिसमें इस श्लोक की खपत हो सकती हो। इस श्लोक में 'काहुता' नामक वाद्य का संज्ञा किया गया है किन्तु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में वाद्य की चर्चा करने वाला कोई भी प्रकरण नहीं आया है। तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मट्टिकाव्य [सर्ग १४-२] में उद्धृत श्लोक रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण से भिन्न किसी ग्रन्थ ही नाट्यदर्पण से उद्धृत किया गया है।

इसी प्रकार रघुनाथ ने विक्रमोर्वशीय टीका में नाट्यदर्पण का एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

अत्र च समासोक्तया पूर्वोक्तप्रकारेण काव्यार्थप्रकाशनात् पत्रावली समाख्येयं भाण्डी ।  
तथाचोक्तं नाट्यदर्पणकृता—

तस्मा बीजस्य विन्यासी ह्यभिनेयस्य वस्तुनः ।

इनेपेण वा समासोक्तया नाम्ना पत्रावली तु सा ॥

[विक्रमोर्वशीय पृ० ७ नि० सागर]

इस श्लोक में भाण्डी के 'पत्रावली' नामक विशेष शब्द का संज्ञा दिया गया है किन्तु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में यह नहीं पाया जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत प्रस्तुत नाट्य दर्पण के प्रतिरिक्त कोई और भी नाट्य दर्पण रहा होगा जिससे कि उक्त श्लोक उद्धृत किए गए होंगे।

### नाट्यशास्त्र और नाट्य दर्पण—

प्रस्तुत नाट्य दर्पण ग्रन्थ का मूल आधार भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र है। पर नाट्य-शास्त्र एक बड़ा विस्तीर्ण ग्रन्थ है। उसे समस्त मन्त्रिजनों का विवरण कहा जा सकता है। नाट्य दर्पण का क्षेत्र उसकी अपेक्षा बहुत छोटा है। नाट्यशास्त्र के १८वें प्रमाण में दशरूपकों का वर्णन किया गया है। मुख्यतः उसी के आधार पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ की

रचना की है। रामचन्द्र-मुण्डचन्द्र के पहिले इसी प्रकार के 'दशरूपक' नामक एक ग्रन्थ की रचना 'धनञ्जय' कर चुके थे। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की प्रतिद्वन्द्विता में लिखा गया प्रतीत होता है। इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है। दशरूपककार धनञ्जय मालव नरेश मुञ्ज के समान पण्डित थे। रामचन्द्र-मुण्डचन्द्र गुर्जरेश्वर के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संपर्क रहता था। उनमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए शौरव-प्राप्ति के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीन के आश्रय में निमित्त 'दशरूपक' की प्रतिस्पर्धा में इस नाट्य-दर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा सम्भावित है। हम आगे यह देखेंगे कि नाट्यदर्पणकार ने प्रायः १२ स्थलों पर दशरूपककार के मत का उत्तेज दिया है किन्तु एक भी स्थान पर उनका नामतः निर्देश नहीं किया है। 'अन्ये', 'केचित्' आदि सर्वनाम-सङ्घो से पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। पर उस दशरूपक वाले प्रकरण को प्रारम्भ करने के पहिले हम भरत के नाट्य-शास्त्र और नाट्यदर्पण के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। नाट्यदर्पण की रचना यद्यपि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर की गई है किन्तु रामचन्द्र-मुण्डचन्द्र ने अनेक स्थलों पर भरतमुनि से अपना मत भेद प्रकट दिया है। इस प्रकार के दो उदाहरण हम नीचे देते हैं—

१. तृतीय विवेक में 'प्ररोचना' का वर्णन करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि—

“प्रत्ये च पूर्वैरङ्गस्य प्रत्याहारादीन्यासारितान्तानि नवान्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकमङ्गानि प्रयोग्यानि 'पूर्वाचार्यैः' लक्षितानि। अस्मान्भिस्तु स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, सम्पासक्रमस्य निष्कलत्वात्, विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च अद्यालुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि। प्ररोचना तु पूर्वैरङ्गाङ्गपूर्वापि नादौ प्रवृत्तौ प्रधान-मङ्गमिति लक्ष्यते।”

इसमें 'पूर्वाचार्यैः' शब्द से भरत मुनि का संकेत किया गया है। भरत मुनि ने पूर्वैरङ्ग के १६ अङ्गों का विधान किया है। जिनमें से ६ जवनिका के भीतर और दश जवनिका के बाहर किए जाते हैं। नाट्यदर्पणकार ने इनमें से केवल एक अङ्ग 'प्ररोचना' को लिया है, शेष १५ अङ्गों को छोड़ दिया है। उनके छोड़ देने के तीन कारण यहाँ दिखवाए हैं :

१. स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, २. सम्पासक्रमस्य निष्कलत्वात् और ३. विविधदेवता परितोषरूपस्य तत्फलस्य च अद्यालुप्रतारणमात्रत्वात्।

२. इस स्थल पर नाट्यदर्पणकार ने भरत मुनि से अपना मतभेद प्रकट किया है। इसी प्रकार का एक और स्थल भारती वृत्ति के विवेचन में आया है। वृत्तियों के निरूपण के प्रसङ्ग में नाट्यशास्त्र के २० वें अध्याय में निम्न श्लोक आया है—

रोद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः।

बीजस्ते कश्चो चैव भारती सम्प्रकीर्तिता ॥

[नाट्यशास्त्र २०-६४]

इसके अनुसार केच बीजस्ते तथा कश्चो रसों में 'भारती-वृत्ति' का प्रयोग भरतमुनि को प्रणिश्रेत प्रतीत होता है। किन्तु उसी २०वें अध्याय में इसके पूर्व ४७वाँ श्लोक निम्न प्रकार आया है—



भेदास्तस्यास्तु विशेषाश्चत्वारोऽङ्गत्वमात्रतः ।

प्ररोचनामुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥

[नाट्यशास्त्र ४-४७ ।]

इस श्लोक में प्ररोचना, आमुख आदि को उस भारती वृत्ति का भेद बतलाया गया है । प्ररोचना, आमुख आदि का तो बीमत्स तथा कदण्ड अतिरिक्त अन्य रसों से भी सम्बन्ध है । इसलिए भरतमुनि के इन वचनों में विरोध प्रतीत होता है । इसकी आलोचना करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि—

‘ये तु भारत्या बीमत्स-कदण्डौ प्रपन्नाः, तैः सर्वैरसवीथी-प्रधानशृङ्गारवीरभाण-प्रधानहास्यप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि ।’

‘ये तु’ से यहां भरतमुनि का ग्रहण है । जिन भरतमुनि ने भारती वृत्ति में बीमत्स तथा कदण्ड रस का समावेश माना है, उन्होंने स्वयं ही सर्वरसावीथी, और शृङ्गार या वीर रस जिसमें मुख्य है इस प्रकार के भाण तथा हास्यरस जिसमें प्रधान रहता है उन ग्रहणों की भारती वृत्ति में रचना का जो निश्चय पहिले किया है, उसकी उपेक्षा कर दी है । अतः उनके इस कथन में ‘वदतो-व्यापात’ दोष आता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ भावदयकता पड़ी है वहाँ नाट्यदर्पणकार ने भरतमुनि की आलोचना भी की है ।

नाट्यदर्पण और दशरूपक—

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में प्रायः १३ बार ‘अन्ये’ ‘केचित्’ आदि शब्दों से अपने पूर्ववर्ती नाट्यलक्षणकार धनञ्जय के दशरूपक का उल्लेख किया है । इनमें से दो स्थानों पर तो उनके मत की आलोचना करते हुए उन्हें ‘न मुनिसमयाप्यवसायिनः’ और ‘बुद्धसम्प्रदायवर्धयः’ अर्थात् भरतमुनि के अग्रिप्राय को न समझ सकने वाला कहा है । शेष ११ स्थानों पर मुखसन्धि आदि के अङ्गों के विविध लक्षणों में अपने लक्षणों से दशरूपक में दिखाए गए लक्षणों में जो भेद पाया जाता है उसका प्रदर्शन कराया है । जिन दो स्थानों पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने धनञ्जय को ‘न मुनिसमयाप्यवसायिनः’ भरत मुनि के मत को न समझने वाला बतलाया है उनमें से एक स्थल नाटक-लक्षण के अवसर पर और दूसरा प्रकरण-लक्षण के अवसर पर आया है ।

१. नाटक के लक्षण में नाट्यदर्पणकार ने ‘स्वातात्तराजचरितं’ [कारिका ५] यह एक विशेषण दिया है । इसके अनुसार किसी इतिहास-प्रसिद्ध पूर्ववर्ती राजा के चरित का अवलम्बन करके ही नाटक की रचना करनी चाहिए । अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध पूर्ववासीन राजा ही नाटक का नायक हो सकता है । इसके बाद अगली छठी कारिका में धीरोदात्त, धीरोदत, धीरलक्षित तथा धीरप्रदान्त ये चार प्रकार के नायक-स्वभाव बतला कर प्रत्येक में उत्तम, मध्यम दो भेद किए हैं । इस प्रकार स्वभावभेद के आधार पर नायक के ६ भेद हो जाते हैं । इससे अगली सातवीं कारिका में यह दिसलाया है कि ‘देवा धीरोदताः’ देवता लोग धीरोदत स्वभाव के होते हैं । ‘धीरोदात्ताः सैन्येयमन्त्रिणः’ सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त स्वभाव के होते हैं । ‘धीरदान्ता यणिक्रिप्राः’ यणिक्र और विप्र धीरप्रदान्त स्वभाव के होते हैं । और अन्त में ‘राजानस्तु चतुर्विधाः’ राजा चारों प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं, यह कहा है । इसके अनुसार नाटक का नायक चारों प्रकार के स्वभाव वाला हो सकता है ।

दशरूपककार ने जो नाटक का लक्षण किया है उसमें 'धीरोदात्तः प्रतापवान्' [३-२२] नायक का धीरोदात्त होना आवश्यक बतलाया है। अर्थात् दशरूपककार के अनुसार नाटक का नायक केवल धीरोदात्त ही हो सकता है अन्य नहीं। इस विषय पर नाट्यदर्पणकार का दशरूपककार से मत भेद है। नाट्यदर्पणकार धीरललित आदि को भी नाटक का नायक मानते हैं। दशरूपककार केवल धीरोदात्त को ही मानते हैं। धीरललित आदि को नहीं मानते। इसी कारण रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दशरूपक का खण्डन करते हुए लिखा है—

‘[‘राजान’ इति] बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुःस्वभावो नाटकस्य नेता । न पुनरेकस्या व्यक्ती, एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्कस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति । प्रधाननायकस्य चार्थ नियमः । गौणैतूणां तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्वभावव्याप्तेन निवर्ध्यते ।

ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः । नाटकेषु धीरललितलोनामपि नायकानां दर्शनात्, कविसमयबाह्याश्च ।”

[नाट्यदर्पण १-७]

इस उद्धरण में नाट्यदर्पणकार ने केवल धीरोदात्त को नाटक का नायक मानने से भरतमुनि के मत को न समझने वाला कहा है। भरत मुनि ने जो नाटक का लक्षण किया है वह निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।

राजपिनिश्चयचरितं सर्वत्र दिव्याधयोपेतम् ॥

नानाविभूति संयुतमुद्रितविज्ञासाविभूतैर्गुणैश्चैव ।

अङ्गप्रवेशकादयं भवति हि तन्नाटकं नाम ।

[नाट्यशास्त्र अ० १८, १०-११]

भरतमुनि के इस नाटक लक्षण में स्पष्ट रूपसे ‘प्रख्यातोदात्तनायकं’ पद से नाटक में उदात्त नायक का प्रतिपादन किया है। इसी के आधार पर धनञ्जय ने ‘दशरूपक’ में ‘धीरोदात्ता, प्रतापवान्’ आदि लिखा है। किन्तु रामचन्द्र उसे भरतमुनि के मत को न समझने वाली बात कहते हैं। यह बात कुछ अटगटी सी प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करणों में सप्तसप्त पाठ के अनुसार तो दशरूपक का मत भरत का अनुगामी ही है विरोधी नहीं। सम्भव है रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पास नाट्यशास्त्र का जौ संस्करण रहा हो उसमें कुछ अन्य प्रकार का पाठ पाया जाता हो। यदि उस पाठ को जिसके आधार पर वे दशरूपककार को भरतमुनि के मतको न समझने वाला कह रहे हैं, वहाँ दे दिया होता तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती, उसके बिना नाट्यदर्पणकार की बात प्रस्पष्ट रह जाती है। परन्तु इस विषय में नाट्यदर्पणकार ने दूसरी बात यह भी लिखी है कि—‘नाटकेषु धीरललितलोनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्याश्च’। अर्थात् नाटकों में धीर ललित आदि नायक भी पाए जाते हैं, अतः दशरूपककार का मत कवि सम्प्रदाय के विपरीत भी है। यह बात कुछ अधिक स्पष्ट है।

(२) नाट्यदर्पणकार द्वारा की गई दशरूपक की आलोचना का दूसरा प्रसङ्ग ‘प्रकरण’ के लक्षण में आया है। ‘प्रकरण’ का लक्षण ‘दशरूपक’ में निम्न प्रकार किया गया है—

‘अथ प्रकरणे नृपमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।

भ्रमात्य-विप्र-वणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥

धीरप्रशान्तं साधायं धर्मकामायं तत्परम् ।

शेषं नाटकवत्, सन्धि-प्रवेशकरसादिकम् ॥

[दशरूपक ३-२६, ४०]

इस लक्षण के अनुसार 'प्रकरण' में धीरप्रशान्त स्वभाव वाले धर्मात्मा, विप्र या बलिक् में से किसी एक को नायक बनाना चाहिए यह अर्थ निकलता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं है। उनके मत में धर्मात्मा के साथ धीरप्रशान्त विशेषण संगत नहीं होता है। प्रथम विवेक की सातवीं कारिका में वे पहिले ही लिख चुके हैं कि 'धीरोदात्तः सन्धेय-मन्त्रिणः' सेनापति धीर धर्मात्मा धीरोदात्त ही होते हैं। अर्थात् धर्मात्मा सदा धीरोदात्त होना चाहिए। 'धीरशान्तः बलिक्विप्राः' बलिक् धीर विप्र तो धीरशान्त होते हैं, किन्तु धर्मात्मा धीरप्रशान्त नहीं धीरोदात्त होता है। इसलिए दशरूपककार ने जो धर्मात्मा को 'प्रकरण' का नायक मान कर 'धीरशान्त' उसका विशेषण दिया है वह उचित नहीं है। इसी बात को नाट्यदर्पणकार ने निम्न प्रकार लिखा है—

"सचिवो राज्यचिन्तकः । अयं बलिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवतः इति प्रतिपादनार्थं पृथगुक्तः । यस्त्वमात्यं नेतारमभ्युपगम्य धीरप्रशान्त-नायकमिति प्रकरणं विशेषयति, स पृथक्सम्प्रदायवर्ध्यः ।"

[नाट्यदर्पण २-१]

सचिव अर्थात् धर्मात्मा राज्य का चिन्तक अर्थात् प्रबन्ध करने वाला होता है। यद्यपि विप्र तथा बलिक् के भीतर ही इस धर्मात्मा का भी अन्तर्भाव हो सकता है अर्थात् विप्र या बलिक् में से ही कोई धर्मात्मा होता है। इसलिए यदि उसका असंग्रहण न किया जाता तो भी काम चल सकता था। फिर भी उसका असंग्रहण इसलिए किया गया है कि धर्मात्मा धीरोदात्त होता है धीर बलिक् विप्र दोनों धीरप्रशान्त होते हैं। इसलिए धर्मात्मा के पृथग् ग्रहण से यह अभिप्राय निकला कि प्रकरण में धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त दोनों प्रकार के नायक हो सकते हैं। इस दशा में दशरूपककार ने 'प्रकरण' में धर्मात्मा को नायक मानते हुए भी जो 'धीरप्रशान्त' विशेषण द्वारा 'प्रकरण' में 'धीरप्रशान्त' के ही नायक होने का प्रतिपादन किया है, वह उचित नहीं है।

इन दो स्थलों पर तो नाट्यदर्पणकार ने दशरूपककार के मत की आलोचना की है। किन्तु इनके प्रतिरिक्त प्रायः ११ स्थल ऐसे हैं जिनमें मुक्त सन्धि आदि के अङ्गों के सङ्गणों में नाट्यदर्पण तथा दशरूपक में भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पणकार ने ऐसे स्थलों पर अपना सङ्गण देने के बाद 'अग्रे' आदि पदों से दशरूपक के सङ्गण भी दिला दिए हैं। इन ११ स्थलों को हम नीचे दे रहे हैं।

१. मुक्त सन्धि के पञ्चम अङ्ग 'उद्भेद' का सङ्गण नाट्यदर्पण में 'स्वल्पप्ररोह-उद्भेदः' किया गया है [का० १-४३]। दशरूपक में उसके स्थान पर 'उद्भेदो मूढभेदम्' [दा० १-२९] किया गया है। नाट्यदर्पण की विवृति में इसी का उल्लेख 'अग्रे तु मूढभेद-मुद्भेदमामनन्ति' इस प्रकार किया गया है।

२. नाट्यदर्पण में मुक्त सन्धि का आठवां अङ्ग भेदन माना गया है। उसका सङ्गण 'भेदनं पात्रनिर्गमः' [का० १-४४] किया गया है। दशरूपक में उसका सङ्गण 'भेदः प्रोत्साहना मता' [का० १-२६] इस प्रकार दिया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अग्रे तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः'

लिख कर इसी भेद को दर्शाया है। इसी प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु संहताना प्रतिपद्याणा बीजफलोत्पत्तिनिरोधकाना विश्लेषक भेदरूपमुपाय भेदनं मन्यन्ते' इस रूप में भेद के तृतीय लक्षण का भी उल्लेख किया है।

मुख सन्धि के इन दो भङ्गों के लक्षणों के विषय में रामचन्द्र तथा घनऊजय का मत-भेद है। आगे 'प्रतिमुख सन्धि' के भङ्गों के विषय में दोनों का मतभेद दिखलाते हैं।

३. 'प्रतिमुख सन्धि' का पाँचवा भङ्ग 'वर्णसंहति' है। उसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'पात्रोचो वर्णसंहति,' [का० १४८] किया गया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'वातु-वर्णोपगमन वर्णसंहार इष्यते' [१-३३] यह लक्षण किया है। नाट्यदर्पणकार ने इसी भेद को 'अन्ये तु वर्णाना बाह्यस्यावीना द्वयोस्त्रयाणा चतुर्णा वा एकत्र मीलन वर्णसंहारमाचक्षते' इस प्रकार दिखलाया है।

४. 'प्रतिमुख सन्धि' का साठवाँ भङ्ग 'नर्मद्युति' है। इसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'दोषावृत्ती तु तद्द्युति,' [का० ४९] किया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'परिहासवचो नर्म, घृतिस्तज्जा घृतिर्मता' [का० १-३३] यह लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने अन्ये तु नर्मजा घृति घृतिमाहु,' इन शब्दों में इस भेद को दिखलाया है।

५. 'गर्भ सन्धि' का तीसरा भङ्ग 'रूप' है। उसका लक्षण 'नाट्यदर्पणकार ने 'रूप नानार्थसंशय,' किया है। दशरूपक में 'रूप वितर्कवद् वाक्यम्' यह 'रूप' का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये त्वधीयते रूप वितर्कवद् वाक्यम् इति' [पृष्ठ १४७] इस रूप में इस भेद को प्रवर्णित किया है। इसी प्रसङ्ग में 'अन्ये तु चित्रार्थ रूपक वच' [पृष्ठ १४८] इन शब्दों में किसी तीसरे लक्षण का भी उल्लेख किया है।

६. 'गर्भ सन्धि' का छठा भङ्ग 'क्रम' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'क्रमो भावस्य निर्णय' [का० १-३४] किया गया है। दशरूपक में 'क्रम. सचिन्त्यमानान्ति' [१-१६] यह क्रम का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'क्रमः सचिन्त्यमानान्तिः इत्याहु' लिखकर इस भेद को दिखलाया है। 'अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धि क्रममिच्छन्ति' इन शब्दों में 'क्रम' का तीसरा लक्षण भी नाट्यदर्पणकार ने दिखलाया है।

७. 'अवमर्श सन्धि' का पाँचवाँ भङ्ग 'छादन' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'छादन मयुमार्जनम्' [का० १-३८] किया गया है। दशरूपक में 'छादन' के स्थान 'छलन' भङ्ग पाया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इसका उल्लेख 'अन्ये त्वस्य स्थाने छलन अवमाननरूपमाहु,' इन शब्दों में किया है। इसके धर्तिरिक्त (१) 'अन्ये तु कार्यर्थमसहस्रस्याप्यर्थस्य सहन छादनमिच्छन्ति।' (२) 'अपरे तु छलन सम्मोहमिच्छन्ति' इस रूप में छादन भङ्ग ॥ विषय में दो मतों का उल्लेख [पृ० १६६] और किया है।

८. 'अवमर्श सन्धि' का छठा भङ्ग 'द्युति' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'तिरस्कारो द्युति,' [का० ५१] किया गया है। दशरूपक में 'तर्ज्जोद्वेजने द्युति,' [१-४६] इस प्रकार 'द्युति' का लक्षण किया है। इस अन्तर का उल्लेख करते हुए नाट्यदर्पण में लिखा है—'तर्ज्जोद्वेजनेन द्युति केचिदिच्छन्ति' इसके साथ ही 'अपरे तु तर्ज्जनाधरणे द्युति मन्यन्ते' इस रूप में 'द्युति' के तीसरे लक्षण का भी उल्लेख नाट्यदर्पणकार ने किया है।

९. 'भवमर्थं सन्धि' का दशम अङ्ग 'शक्ति' है। उसका सहाण नाट्य दर्पण में 'क्रु-  
मसादनं शक्ति' [का० ६०] और दशरूपक में 'विरोधशमन शक्ति' [१-४६] किया गया है।  
नाट्यदर्पणकार ने 'एके तु विरोध शमन शक्तिमिच्छन्ति' लिख कर इस भेद का उल्लेख किया है।

१०. भवमर्थं सन्धि का १३वाँ अङ्ग 'व्यवसाय' है। नाट्यदर्पण में उसका सहाण  
'व्यवसायोऽप्यहेतुयुक्' [का० ६०] और दशरूपक में 'व्यवसाय. स्वशक्त्युक्ति' [का० १-५७]  
किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः इति पठन्ति' लिख कर इस भेद  
का प्रदर्शन किया है।

११. 'निर्वहण सन्धि' का पाँचवाँ अङ्ग 'परिभाषण' है। नाट्यदर्पण में उसका  
सहाण 'परिभाषास्वनिन्दनम्' [का० १-६३] और दशरूपक में 'परिभाषा मियोजत्प' [१-५२]  
किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इस भेद को 'एके तु परिभाषा मियोजत्पः इति पठन्ति' लिख  
कर इस भेद का उल्लेख किया है।

### रामचन्द्र और सागरराश्री—

रामचन्द्र गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती नाट्यसहाणकारों में दशरूपककार धनञ्जय [सन् ९७४-  
९८५] के बाद दूसरा नाम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' के निर्माता 'सागरराश्री' का आता है। ये  
दोनों मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य हैं। सागरराश्री ने धनञ्जय से लगभग १०० वर्ष बाद अपने  
'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इनका असली नाम तो केवल  
'सागर' या किन्तु नन्दवत्स में उत्पन्न होने के कारण वे 'सागरराश्री' नाम से ही प्रसिद्ध हैं।  
इनका 'नाटकलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थ, जैसा कि उसने नाम से ही स्पष्ट है नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ  
है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को सम्भवतः इस ग्रन्थ का भी पूर्ण परिचय प्राप्त था। धनञ्जय के समान  
सागरराश्री से भी रामचन्द्र गुणचन्द्र का अनेक स्थलों पर मत भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पण  
में जिस प्रकार नाटक की पाँचों सन्धियों के विविध अङ्गों के सहाण करते समय जहाँ जहाँ दशरूपक  
के सहाण से भेद आया है वहाँ 'अन्ये' आदि शब्दों से दशरूपक के सहाण को भी उद्धृत कर दिया  
है। इसी प्रकार १२वें रूपक भेद 'बीबी' के अङ्गों का विवेचन करते हुए जहाँ उनके सहाण से  
भिन्न ग्रन्थ सहाण भी पाए जाते हैं, वहाँ 'अन्ये' आदि शब्दों में उन सहाणों का उल्लेख कर दिया  
है। यह उल्लेख दशरूपक से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि दशरूपक में 'बीबी' के अङ्गों  
का विवेचन ही नहीं किया गया है। दशरूपककार ने श्रुतीय प्रकाश के अंश में केवल १८, १९  
दो बारिकाओं में 'बीबी' का सहाण प्राप्त कर दिया है। उसने अङ्गों का विवेचन नहीं किया  
किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'बीबी' के सहाण के अतिरिक्त उसके ११ अङ्गों का उदाहरणों  
सहित विस्तृत विवेचन किया है। और उसमें अपने से भिन्न ग्रन्थ सहाणों का भी उल्लेख किया है।  
ये सहाण दशरूपक के नहीं हैं इसलिए ऐसा अनुमान है कि सम्भवतः ये 'नाटकलक्षणरत्नकोश'  
से लिए गए हैं।

### रामचन्द्र और मम्मट—

१. वाक्यप्रकाशकार मम्मट रामचन्द्र गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। पर उन्होंने  
न तो नाटकलक्षण सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है और न वाक्यप्रकाश में ही नाटक-सम्बन्धी किसी  
विषय की विवेचना की है इसलिए नाट्यदर्पण का मम्मट के साथ कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत  
नहीं होता है। किन्तु रसदोषों का विवेचन दोनों ने किया है। इसलिए इस ग्रन्थ में दोनों का

सम्बन्ध है। इस प्रसङ्ग में एक स्थल पर नाट्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के मत का सङ्केत किया है। रस-दोषों में अङ्ग अर्थात् प्रप्रधान रस का अधिक विस्तार करना दोष माना गया है। काव्यप्रकाश में इसे 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' [सप्तम उल्लास सूत्र ८२, का० ६१ से] नाम से और नाट्यदर्पण में इसे 'अङ्गीगम्' [का० ३-२३] नाम से कहा गया है। काव्यप्रकाशकार ने 'अङ्गस्य प्रप्रधानस्य, अति विस्तरेण वर्णने यथा ह्यग्रीववधे ह्यग्रीवस्य'। [पृ० ३६२ ज्ञानमण्डल से प्रकाशित संस्करण] लिख कर प्रतिनायक रूप ह्यग्रीव के अति विस्तृत वर्णन को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। उन्होंने इसका सङ्केत करते हुए इसे 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा-भाग का दोष मान कहा है, रसदोष नहीं। रस की दृष्टि से तो उनके मत में यह दोष न होकर गुण है। प्रतिपक्षी का अत्यन्त उत्कर्ष दिखाना कर नायक द्वारा उसका वध करने में तो नायक का उत्कर्ष बढ़ता ही है, इसलिए उस दृष्टि से यह दोष नहीं प्रसिद्ध गुण ही है, यह नाट्यदर्पणकार का अभिप्राय है। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया है—

“केचिदत्र ह्यग्रीववधे ह्यग्रीववर्णनमुदाहरन्ति । स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्प-  
वर्णनात् । तत्र हि वीरो रसः, स वितोषतो वध्यस्य वीर्य-विभूयतिशयवर्णनेन नृप्यत इति ।”

[ना० ६० ३-२३]

इसके स्थान पर उन्होंने कृत्यारावण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

“अपाङ्गीगम् । अङ्गस्य मुख्यरसपोषकतया अवयवभूतस्वीगम्’ विस्तरेणोक्तत्वं  
दोषः । यथा कृत्यारावणे जटामुवध-सङ्गमण्यकिमेद-सीताविपत्तिवर्णनेषु रामस्य मुहुर्मुहुः  
कथनाधिक्यम् ।”

[ना० ६० ३-२३]

२. ‘प्रतिकूल-विभावविग्रह’ नाम का दूसरा रस-दोष है। काव्यप्रकाश में इसका उदाहरण निम्न प्रकार दिया गया है—

“प्रसादे वर्तस्व, प्रकटयमुदं, संस्पृह रूपं  
प्रिये शुभान्त्यङ्गान्वधृतिमिव ते सिचतु वधः ।  
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं  
न मुक्ते प्रत्येकुं प्रभवति यतः, कातहरिणः ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तरप्रकाशितो निर्वेदरूप  
व्यभिचारी उपात्तः ॥”

[का० पृ० ३६०]

अर्थात् इस श्लोक में शृङ्गार रस के प्रतिकूल शान्त रस का तथा उसके अनित्यता-  
स्थापनात्मक निर्वेदरूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण होने से यहाँ ‘प्रतिकूलविभाववि परिग्रह रूप’  
रस दोष होता है। नाट्यदर्पणकारने इस उदाहरण की किसी प्रकार की आलोचना न करते हुए  
भी इसका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

रयजत मानमल बत विग्रहैनं पुनरेति गर्तं चतुर वधः ।

परश्रुताभिरितीव निवेदिते, स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता प्रकाशनरूपो विभावो निबद्धः ।

[ना० ६० ३-२३]

इन दोनों में केवल श्लोक का अन्तर है, भाव दोनों उदाहरणों का बिल्कुल एक ही है। इसके अतिरिक्त 'अक्राण्डे प्रथनं, अक्राण्डे द्वेदः दीप्तिः पुनः पुनः तथा अङ्गिनोऽननुगन्धानम्, इन चारों रस-दोषों में उदाहरण काव्यप्रकाश तथा, नाट्यदर्पण में बिल्कुल एक ही दिए हैं।

३. रस-दोषों के निरूपण के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश में 'व्यभिचारि-रस-स्थापिभावानां शब्दवाच्यता' को सबसे पहिला रस-दोष कहा गया है। अर्थात् मम्मट के अनुसार व्यभिचारि-भाव अथवा रस अथवा स्थापिभावों को अपने वाचक शब्द द्वारा कथन नहीं करना चाहिये। उनका स्वशब्द से कथन करने पर रसानुभूति का अपकर्षक होने से दोषाघायक होता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं हैं। इसलिए इस विषय में मम्मट का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“केचित् व्यभिचारि-रस-स्थापिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः। तदुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टेः—

दूरादुत्सुकमागते विवसितं सम्भाषिणि स्फारितं,  
संस्तिग्मस्तरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चित्तप्तम् ।  
मान्म्यादवरणानतिव्यातिकरे वाष्पाम्बुपूर्णैर्लणं,  
चक्षुर्जातमहो ! प्रपंचचतुरं आसामसि प्रेयसि ॥

इसमें उत्सुक, विवसित आदि व्यभिचारिभावों का स्वशब्द से कथन होने पर भी रस की परिपुष्टि हो रही है, इस लिए विभावादि का स्वशब्द से ग्रहण दोष नहीं है। यह नाट्यदर्पण-कार का अभिप्राय है।

४. इसी प्रकार 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः' [का० प्र० कारिका ६०, पृ० ३५७] को दूसरा रसदोष माना गया है। पर नाट्यदर्पणकार का मत इस विषय में भी मम्मट से भिन्न है। अपने मत की व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

“एवमुपरस साधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावविधापित्वाधिगमोऽपि सम्मिश्रस्वस्वक्षणो वाच्यदोष एव। यथा—

परिहरति मतिं रतिं क्षुणीते, स्तनतिष्ठतीं परिवर्तते च भूयः ।  
इति वत विषमा दद्या स्वदेहं, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥

अत्र रतिपरिहारादीनां विभावानां कष्टादावपि सम्भवात् शृङ्गारं प्रति भावस्व-सन्देह इति ॥ [ना० द० ३-२३]

इस प्रकार मम्मट ने काव्य प्रकाश में जिन आठ प्रकार के रसदोषों का वर्णन किया था, नाट्यदर्पणकार ने उनमें से तीन का बिल्कुल खण्डन कर दिया, और चार को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, और एक को उदाहरण में परिवर्तन करते हुए स्वीकार कर लिया है।

रामचन्द्र और अभिनवगुप्त—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक विद्वति के निर्माता अभिनवगुप्त भी नाट्य-दर्पणकार के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। रस-निरूपण के प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने उनके मत के आधार पर अपने मत की स्थापना की है। किन्तु उसमें भी उन्होंने अभिनवगुप्त की प्रेरणा कुछ नूतनता उत्पन्न कर दी है।

१. उत्तरवर्ती सभी भाषाओं ने रस को प्रायः ब्रह्मानन्दसहोदर और परमानन्द-स्वरूप माना है । कण्व और भयानक तथा बीमत्स जैसे रसों को भी सुखात्मक रस माना गया है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने सभी रसों की ऐकान्तिक सुखरामकता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।

सचेतसामनुमयः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि-स्यात् तदुन्मुखः ।

तथा रामायणादीनां भविता दुःख हेतुता ॥

[साहित्यदर्पण परि० ३, ४-५]

विश्वनाथ आदि के इस सुखरामकतावाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को सुखदुःखोभयारमक रस माना है । अर्थात् उनके मत में प्रत्येक रस में सुख की प्रधानता होती है और भी दुःख का स्पर्श रहता है । उन्होंने लिखा है—

इत्यनन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति धीरस्येव । स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव ।” [हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४७८]

इनमें भी शृङ्गार, हास्य, वीर तथा भद्रभुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेध रहता है । इसके विपरीत रौद्र, भयानक, कण्व तथा बीमत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का अनुवेध माना है । केवल शान्त रस को ही उन्होंने नितान्त सुख रूप माना है । अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

“स च सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुयतो न तु तदेकात्मा । तथाहि—रति-हास-वस्ताह-विस्मयानां सुखत्वभावात् । तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयोन्मुख्य-प्राणतया तद्विषयाशसाभावात्त्येन र्भावायभीत्वाद् दुःखातनुवेधो रतेः । हासस्य सानुसन्धानस्य विद्वत्स-हृद्भास्वत्कालिकोऽल्पदुःखानुवेधः सुखानुगतः । वस्ताहस्य तात्कालिक-दुःखाभास-निमज्जनरूपानु-सन्धिना भाविबहुकनोपकारिचिरतरकासभाविसुखसमाधिकीर्पात्मना सुखरूपता । विस्मयस्य निरनुसन्धानतद्विषयसुखरूपता ।

क्रोध-भय-शोक-भुगुप्तानां तु दुःखस्वरूपता । तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो विषयगता-ऽऽपत्तिकनाशभावना तदाकाशाप्राणतया सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः । निरनुसन्धितात्कालिकदुःख-प्राणतया तदपगमाकाशोत्प्रेक्षितसुखानुसन्धिर्न भवति । ईर्ष्यालोकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तन-सुखस्मरणानुविद्धः सर्वयव दुःखरूपः शोकः । उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धानजीवितविषयात् पलायनपराधरण्य निषिध्यमानशक्तिसुखानुविद्धा भुगुप्ता ।

समस्तपूर्वदुःख-सञ्चय स्मरणप्राणितः सम्भाविततदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः ।

[हिन्दी अभिनवभारती पृ० २१६-२२४]

इन तीनों अनुच्छेदों में अभिनवगुप्त ने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा भद्रभुत रसों में सुख की प्रधानता के साथ-साथ दुःखानुवेध को, तथा रौद्र, भयानक, कण्व तथा बीमत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुखानुवेध की चर्चा करते हुए अन्त में निर्वेद की नितान्त सुखमय ठहराया है ।



रसों के विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत पूर्वोक्त दोनों मतों से भिन्न प्रकार का है। उसे हम विभज्यवादी मत कह सकते हैं। विद्वन्नाथ आदि ने सभी रसों को सुखात्मक रस माना है। अभिनवगुप्त ने सभी रसों को उभयात्मक रस माना है। किन्तु नाट्य-दर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने न सभी रसों को सुखात्मक रस माना है, और न सभी रसों में सुख-दुःख दोनों का समावेश माना है। उन्होंने रसों को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर दिया है। जिनमें से शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त इन पाँच को सर्वथा सुखात्मक और कदण, रोद्र, भयानक तथा बीभत्स इन चार को सर्वथा दुःखात्मक रस बतलाया। अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्यदर्पण में उन्होंने निम्न प्रकार किया है—

“तनेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्यवीर-अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः।

अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रोद्र-बीभत्स-भयानकाः चत्वारो दुःखात्मानः।

यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत्प्रतीतिवाचिष्ठम्। आस्तां नाम मुख्य-विभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीत-विभावोपचितीऽपि भयानको बीभत्सः, करुणो रोद्रो वा रमा-स्वादवतामनाक्येषां कामादि वल्लभाद्युपनयति। अतएव भयानकादिभिर्दृष्टिजे समजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते। [नाट्यदर्पण १-७]

१. इस उद्धरण में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट रूप से पाँच रसों को सुखात्मक तथा चार रसों को दुःखात्मक कह कर रसों को दो भागों में विभक्त कर दिया है। अतः उनका मत विभज्यवादी मत कहा जा सकता है।

१. दूसरा प्रसङ्ग जहाँ रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनवगुप्त के साथ है, शान्तरस का प्रकरण है।

शृङ्गार-हास्य-कदण-रोद्र-वीर-भयानकाः।

बीभत्साद्भुतशंती चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ [नाट्यशास्त्र - १५]

इस भरतवचन के आधार पर अनेक विद्वान् नाटक में केवल आठ रसों की स्थिति मानते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त आदि अनेक विद्वान् शान्तरस को भी नवम रस मानते हैं। उनके अनुसार इस भरत-वचन के उत्तरार्थ का वाक्य ‘बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः’ इस प्रकार का है। अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र ने छठे अध्याय पर ‘अभिनवभारती’ व्याख्या लिखते हुए उसके अन्त में बहुत विस्तार के साथ शान्तरस का विवेचन किया है। उनके पूर्व नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याता उद्भट ने भी शान्तरस को नाट्यरस माना है और उक्त भरत वचन के पाठांतर के अनुसार नवरसों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रोद्र-वीर-भयानकाः।

बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥

[उद्भट काव्यामं० ४-४]

उद्भट ने भी शान्त रस को माना है। बल्कि उन्होंने एक प्रेयान् रस को और जोड़ कर रसों की संख्या दस कर दी है। उनका ह्योक्त निम्न प्रकार है—

शृङ्गार-वीर-कण्ठ-भीमस्तः। मयानकादभुता हास्यः ।

रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्याः रसाः सर्वे ॥

[छन्द काव्यालङ्कार १२-९]

घाठ रसों को मान कर शान्तरस का खण्डन करने वालों में दशरूपककार धनञ्जय वीर उनके टीकाकार धनिक का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है । धनञ्जय ने लिखा है—

धममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।

निर्वेदादिरताद्रव्यादस्थायी स्वदते कथम् ।

वैरस्यायैव तत्परोपपत्तेराष्टौ स्थायिनो मताः ॥" [दशरूपक ४, १-३६]

इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है—

"इह शान्तरस प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः । तस्यावार्थेण विभाषाद्यप्रतिपादनात्मकज्ञापकत्वात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभाव वर्ययन्ति । प्रनादिकालप्रवाहादातरागद्वेषयोरुल्लेख्यमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरभीमस्तादात्मताभावं वर्ययन्ति । एवं वदन्तः धममपि नैच्छन्ति । यथा तथा भवतु । सर्वथा नाटकादौ अभिनयारम्भेन स्थायित्वमस्माभिः धमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविशयरूपस्य अभिनयायोगात् ।

[दशरूपक ४, ३५-३६]

दशरूपककार के शान्तरस के विरोधी होने पर भी नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याता जङ्गल, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है और उसे नाट्यरस माना है इसलिए उसका निषेध करना उचित नहीं है । नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इस विषय में अभिनवगुप्त के साथ हैं । रस के जेद करते हुए उन्होंने लिखा है—

शृङ्गार-हास्य-कण्ठाः, रौद्र-वीर-मयानकाः ।

भीमस्ताद्रूप-शान्ताश्च, रसाः सद्भिन्नैव स्मृताः ॥

[नाट्यदर्पण ३, ६]

(३) शान्तरस की स्थिति के बाद तीसरा प्रश्न शान्तरस के स्थायिभाव का है । शान्तरस का स्थायिभाव क्या है ? इस विषय में अनेक मत पाए जाते हैं । मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव बतलाते हुए 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः [का० प्र० सूत्र ४०, का० ३५] । भरतमुनि ने व्यभिचारीभावों की गणना करते समय 'निर्वेद' को सबसे पहिला व्यभिचारी भाव गिनाया है । तब उसे शान्तरस का स्थायिभाव कैसे कहा जा सकता है ? यह शंका हो सकती है इस बात को मन में रख कर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसका समाधान करने का यत्न किया है । उनका कहना है कि 'निर्वेद' स्वरूपतः अमञ्जस रूप है । उसको व्यभिचारि-भावों की गणना में सबसे पहिले नहीं गिनना चाहिए था । किन्तु भरत मुनि ने उस प्रमाञ्जलिक 'निर्वेद' का जो सबसे पहिले ग्रहण किया है, वह इसलिए किया है कि 'निर्वेद' एक ऐसा भाव है जो व्यभिचारिभावों में परिमणित होने पर शान्तरस का स्थायिभाव है । उसकी स्थायित्व की सूचना के लिए ही भरत मुनि ने 'निर्वेद' का ग्रहण सबसे पहिले किया है । मम्मट ने अपने इस अभिप्राय को निम्न प्रकार से प्रकट किया—

"निर्वेदस्याभङ्गसप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽपि उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-  
ऽभिधानार्थम् ।"

[काव्य प्रकाश ज्ञानमण्डल पृ० १३८]

सङ्गीतरत्नाकर में भी इसी युक्तिक्रम से निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव सिद्ध करते हुए लिखा है—

उद्दिष्य स्थायिनः, प्राप्ते समये व्यभिचारिणाम् ।  
अभङ्गलमपि श्रूते पूर्वं निर्वेदमेव मत् ॥  
मुनिर्मेनेऽस्य लम्बूनं स्थायिता-व्यभिचारिते ।  
पूर्वापराम्बयो ह्यस्य मध्यस्यस्यानुपप्लवः ॥

[सङ्गीतरत्नाकर १३१५-१३१६]

नाट्यदर्पणकार इस बात को नहीं मानते हैं। उनके मत में 'निर्वेद' केवल व्यभिचारि-  
भाव है, स्थायिभाव नहीं है। इसलिए उसे शान्तरस का स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता है।  
उन्होंने लिखा है—

"अथ य [निर्वेदः] रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी, न स्थायी ।"

[नाट्यदर्पण ३-२८]

अभिनवगुप्त ने भी निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं माना है। उन्होंने  
विस्तार पूर्वक इसका खण्डन करते हुए अभिनवभारती में पृ० ६१३-६१७ तक इसका विवेचन  
किया है। उसके अन्त में लिखा है कि—

"तत्रय तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमात्मया परिपोष्यमाणं मिति न निर्वेदः स्थायी, किन्तु  
तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत् ।"

[अभिनवभारती पृ० ६१७]

इससे यह स्पष्ट है कि युक्तिक्रम के सिद्ध होने पर भी निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव  
नहीं है इस विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनव गुप्त के साथ हैं।

नाट्य दर्पण का विषय—

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना यद्यपि भरत मुनि के नाट्य-  
शास्त्र के आधार पर की है किन्तु इन दोनों में बहुत भन्तर है। नाट्य शास्त्र ३६ अध्यायों का  
एक दिगाल विरचकोप है जिसमें प्रायः सभी अस्ति कलाओं का चर्चलेख पाया जाता है। उसके  
सामने 'नाट्यदर्पण' बहुत छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें नाट्यशास्त्र के केवल १८वें अध्याय में  
वर्णित विषय का ही प्रतिपादन किया गया है। नाट्य शास्त्र के १८वें अध्याय का 'दशरूपक-  
निरूपणाध्याय' है। इसमें १ नाटक, २ प्रकरण, ३ व्यायोग, ४ समवकार, ५ भाण, ६ प्रहसन,  
७ टिम, ८ भङ्ग, ९ ईहामुग धीर १० बीबी इन दस प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है।  
इसीलिए इस अध्याय को 'दशरूपक-निरूपणाध्याय' कहते हैं। इसी अध्याय का आधार पर धनञ्जय  
ने 'दशरूपक' की रचना की थी और उसी के आधार पर रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण'  
की रचना की है।

नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय का नाम 'दशरूपकाध्याय' है, किन्तु उसमें पूर्वोक्त दस  
गुण रूपकों के निरूपण के साथ उनके संस्कार से अन्य दो रूपकों का भी वर्णन किया है। ये

भेद नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के मिश्रण से बनते हैं। भरत मुनि ने इनका विधान भिन्न श्लोक में किया है—

अनयोश्च वन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तुभिर्ज्ञेयः ।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाधिते काव्ये ॥

[नाट्यशास्त्र १८, ५७]

श्लोक का अर्थ कुछ अस्पष्ट सा है किन्तु इसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के योग से एक नाटिका या नाटी नाम से प्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। अथवा दूसरा प्रकरणो नामक अप्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। ये दोनों 'नाटी' नाम से कहे जाते हैं।

इस श्लोक की अस्पष्टता के कारण कुछ लोग 'नाटिका' तथा 'प्रकरणो' दो सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और कुछ लोग दोनों के सङ्कर से बना हुआ केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और उसे नाटी या नाटिका नाम से कहते हैं। दशरूपकार धनञ्जय 'नाटिका' रूप केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और 'नाट्यदर्पणकार' 'नाटिका' तथा 'प्रकरणो' रूप दो सङ्कीर्ण भेद मानते हैं। दशरूपक की व्याख्या करने वाले धनिक ने दो भेद मानने का लण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—

“अत्र कैचित्—

अनयोश्च वन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तुभिर्ज्ञेयः ।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाधिते काव्ये ॥

“इत्यमुं भारतीयं श्लोकं, 'एकौ भेदः प्रख्यातो नाटिकाश्च, इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिका-संज्ञो, नाटीसंज्ञया ह्ये काव्ये आधिते' इति व्याख्यायाम्। प्रकरणिकामपि गम्यन्ते। तदसत्। उद्देश-लक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तु-रस-नायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः। अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तन्नायकमभिप्रायः—गुणलक्षण-सङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव वर्तयेत्येति नियमार्थं विज्ञायते।”

[दशरूपक १-४३वीं टीका]

इसका अभिप्राय यह है कि 'अनयोश्च वन्धयोगात्' इत्यादि भरतमुनि के श्लोक के आधार पर कुछ लोग नाटिका और प्रकरणो दो सङ्करकृत भेद मानते हैं। किन्तु उनकी यह भाव्यता अनुचित है। इसके चार कारण हैं। १. नाटिका तथा प्रकरणो नाम से दो भलग-भलग भेदों का न उद्देश्य अर्थात् नामनाम से कथन किया गया है और न लक्षण। २. यदि नाटिका तथा प्रकरणो दोनों का लक्षण एक सा ही माना जाय तो उनमें भेद नहीं रहता है। ३. प्रकरणो का भलग भेद मानने वाले उसका जो लक्षण करते हैं उसके अनुसार 'प्रकरणो' की वस्तु, रस और नायक सब 'प्रकरण' के समान होते हैं इसलिए उसे 'प्रकरण' से भलग मानना असङ्गत हो जाता है। इसलिए प्रारम्भ में कथित 'उद्दिष्ट' ॥ होने पर भी भरतमुनि ने 'नाटिका' का जो लक्षण किया है उसका यह अभिप्राय है कि सङ्करभेदों में से केवल एक 'नाटिका' की रचना करनी चाहिए।

धनिक द्वारा किए इस उत्कट विरोध के बाद भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'प्रकरणो' को 'नाटिका' भिन्न रूपक भेद मान कर उसका लक्षण किया है—

‘एव प्रकरणो किन्तु नेवा प्रकरणोदितः।’

अर्थात् नाटिका के समान चतुरद्वय आदि धर्मों से युक्त 'प्रकरणो' होती है। किन्तु इस में भेद यह है कि नाटकोक्त राजादि नायक के स्थान पर प्रकोक्त वशिष् आदि नायक होना

है। इस नायक-भेद के कारण ही इसके नाम का भेद हो जाता है। 'नायकानुसारित्वात् मवं-व्यवहागणाम्' क्योंकि सारे व्यवहार नायक के धनुमार ही होते हैं इसलिए प्रकरणोक्त नायक होने के कारण चतुरङ्गत्व आदि धर्मों से युक्त रूपक भेद को 'प्रकरणी' कहते हैं यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। इस प्रकार नाट्यदर्पण में १० मुख्य रूपक तथा नाटिका एवं प्रकरणी रूप दो सङ्कीर्ण भेदों को मिलाकर कुल १२ प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है।

दशरूपककार धनञ्जय ने दस प्रकार के मुख्य रूपकों के साथ 'नाटिका' रूप एक सङ्कीर्ण भेद को मिला कर ११ रूपकों का निरूपण किया है। फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' ही रखा है। इसका कारण कुछ तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १८वें अध्याय के लिए प्रयुक्त होने वाला 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' नाम है। उसमें भी नाटिका सहित ११ भेदों का निरूपण होने पर भी उसका नाम 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' रखा गया है। उसीके अनुकरण पर धनञ्जय ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा है। इसके साथ धार्मिक भावना के अनुसार विष्णु के दस अवतारों के साथ भरतमुनि के दशरूपकों का सम्बन्ध जोड़ना भी इसका एक कारण है। अपने मङ्गलाचरण में इस सम्बन्ध को दिलाते हुए निम्न श्लोक लिखा है—

“दशरूपानुवारेण यस्य भासन्ति भावनाः।

ममः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥”

[दशरूपक १, २]

जिस प्रकार यहाँ धनञ्जय ने रूपकों की दश संख्या का अपने दृष्ट देव विष्णु (धनञ्जय के पिता का नाम भी विष्णु ही था) के दस अवतारों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर अपने धार्मिक भावुकता का परिचय दिया है, इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपकों की द्वादश संख्या का अपने धर्म में प्रतिपादित आचार से लेकर दृष्टिवाद-पर्यन्त द्वादश मङ्गों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर ही अपना मङ्गलाचरण श्लोक लिखा है—

“चतुर्वर्गफलं नित्यं, जैनीं वाचमुपास्महे।

रूपैर्द्वादशभिर्विधैः यथा ग्याम्ये धृतं पथि ॥”

[नाट्यदर्पण १-१]

इस प्रकार दस के स्थान पर १२ रूपक भेदों का निरूपण नाट्यदर्पण का प्रतिपाद्य विषय है। इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया है। उन्हें 'विवेक' नाम से निर्दिष्ट किया है। प्रथम विवेक में उन्होंने केवल नाटक का निरूपण किया है। द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' आदि चोप ११ रूपक भेदों का निरूपण किया है। इस प्रकार अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय अर्थात् द्वादश रूपकों के सत्यों का प्रतिपादन उन्होंने दो विवेकों में ही कर दिया है। उसके बाद तृतीय विवेक में नाट्य से सम्बद्ध कृति, रस, भाव और ध्वनि आदि का विवेचन किया है, और चतुर्थ विवेक में कुछ ऐसी बातों को चर्चा की है जो सारे रूपकों में समान रूप से उपयोग में आने वाली हैं। इसलिए इस विवेक का नाम 'सर्वरूपकसाधारणसत्य-नित्यं' रखा गया है। दशरूपककार धनञ्जय ने नाटक के अतिरिक्त अन्य रूपक भेदों के निरूपण में बहुत सधेन से काम लिया है। अधिकांश रूपकों का निरूपण उन्होंने दो चार श्लोकों में ही समाप्त कर दिया है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटक के समान अन्य रूपक भेदों का निरूपण भी प्रशस्त विस्तार के साथ किया है। इसलिए उनका निरूपण धनञ्जय की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और उपयोगी बन पड़ा है।

## नाट्यदर्पण के उदाहरण—

नाट्यदर्पण का विषय-प्रतिपादन जैसे दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विस्तृत है, इसी प्रकार उसके उदाहरणों का क्षेत्र भी दशरूपक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने प्रतिपाद्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस ग्रन्थ में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे प्रायः ६३ नाटकों से लिए गए हैं। इन ६३ नाटकों की सूची बहुत लम्बी है। दशरूपक में यह बात कही है ? इन ६३ नाटकों में ११ नाटक तो स्वयं रामचन्द्र के अपने बनाए हुए नाटक हैं। भवभूति के (१२) उत्तर रामचरित (१३) महावीर चरित और (१४) मानती माधव तीनों नाटक इस सूची में उपस्थित हैं। इसी प्रकार कालिदास के (१५) अभिज्ञान शाकुन्तल, (१६) विक्रमोर्वशीय तथा (१७) मालविकाग्निमित्र इन तीनों नाटकों के उदाहरण इसमें प्रस्तुत किए गए हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेख योग्य है कि इसमें 'मालविकाग्निमित्र' का नाम सर्वत्र 'मासतिकाग्निमित्र' दिया गया है। विशाखदेव कुन (१८) मुद्राराक्षस नाटक के साथ उनके (१९) देवीचन्द्र गुप्त नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए गए हैं। मुरारिकवि के (२०) अनघराघव, श्रीहर्ष के (२१) नागानन्द, और (२२) रत्नावली, (२३) पृथ्वी के मुञ्जकटिक, (२४) मट्ट नारायण के वेलीसहार के उदाहरण भी दिए गए हैं। (२५) भास के स्वप्नवासवदत्तम् तथा (२६) दरिद्रवाङ्मत्तम् नाटकों का उल्लेख इसमें प्राया है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भास के स्वप्नवासवदत्तम् से 'पादाक्रान्ताग्नि पुष्पाग्नि' इत्यादि एक ही श्लोक [वा० ५३ में अनुमान के उदाहरण रूप में] दिया गया है किन्तु यह श्लोक 'स्वप्नवासवदत्तम्' के वर्तमान मुद्रित संस्करणों में नहीं पाया जाता है। और भास के 'वदत्त' वा यही 'दरिद्रवाङ्मत्त' नाम से उल्लेख किया गया है। (२७) कुन्दिमाला नाटक के उदाहरण भी आए हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उसे 'वीरमूष' की रचना बतलाया है जब कि वर्तमान उपन्यास 'कुन्दिमाला' नाटक दिङ्नाग की कृति है। सम्भव है दिङ्नाग वा ही दूसरा नाम 'वीरनाग' ही। सम्राट् शाकुन के (२८) 'चित्रोत्पलावलम्बितम्' नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए हैं। पता नहीं यह शाकुन भरत के व्याख्याकार शाकुन हैं वा कोई दूसरे। आश्वमेध की (२९) कादम्बरी, (३०) कालिदास के कुमारसम्भव, बुलाह्य की (३१) बृहत्कथा, व्यास के (३२) महाभारत और भट्टनेष्ठ के (३३) हृषीकेशचरित के उदाहरण भी दिए गए हैं। ये ३३ ग्रन्थ तो प्रायः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त प्रायः ३० ऐसे ग्रन्थों के उदाहरण भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस नाट्यदर्पण में प्रस्तुत किए हैं जो अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं और अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। उनका कुछ थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक है। अतः हम इनका सामान्य परिचय नीचे दे रहे हैं।

नाट्यदर्पण में उद्धृत ३५ अलम्ब्य ग्रन्थ—

१. अनङ्गवती नाटिका—नाट्यदर्पण के तृतीय अनुच्छेद के प्रारम्भ में सीसरी कारिका की व्याख्या में पूर्वर्ज के श्रुत में 'स्थापक' द्वारा 'आमुष' के अनुष्ठान के उदाहरण के लिए "तथा च 'अनङ्गवत्या' नाटिकाया दृश्यते 'पूर्वर्जान्ते स्थापक' इति" इस रूप में अनङ्गवती 'नाटिका' का उल्लेख केवल एक बार किया गया है। और कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इसका निर्माण किसने और कब किया इसका परिचय प्राप्त होना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ के अलम्ब्य होने से उसकी कथावस्तु का भी पता नहीं चल सकता है।

भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [११-१४७] हेमचन्द्र [कान्यानुशासन] [८, ३३९] तथा चारदातनय के 'मावप्रकाशन' [पृ० २६७ अधि ९] में 'अनङ्गवती' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

“सुद्रक्या मन्थुली येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।  
गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वा कविभिः ॥”

[शृंगारप्रकाश ११-१४७]

“प्रेतमहाराष्ट्रभाषया सुद्रक्या गोरोचनानङ्गवत्यादिवत् मन्यस्तिका ।

सुद्रक्या मन्यन्ती प्रेत महाराष्ट्रभाषया भवति ।

गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव बाकंचेटी [कवि] भिः ॥”

[काव्यानुशासन सविवेक नि० छा० पृष्ठ ३३६]

‘सुद्रक्या मत्तस्तिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।

गोरोचनेव कार्याऽनङ्गवती मावरसविद्या ॥”

[भावप्रकाशन पृ० २६७, अग्रि ६]

इन तीनों ग्रन्थों में जिस ‘अनगवती’ का उल्लेख मिलता है वह नाट्यदर्पण में उद्धृत ‘अनगवती’ नाटिका से भिन्न कोई और ही चीज है । क्योंकि ‘नाट्यदर्पण’ की ‘अनगवती नाटिका’ जैसा कि उसके ‘पूवरगान्ते स्थापक’ इस उद्धरण से प्रतीत होता है । सम्यक्त भाषा में लिखी गई नाटिका है, और शृंगारप्रकाश आदि तीनों ग्रन्थों में उल्लिखित ‘गोरोचना अनगवती’ महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में लिखी हुई कोई सुद्र कथा है जिसे महाराष्ट्र भाषा में ‘मन्थुली’ कहते हैं । इस लिए नाट्यदर्पण की अनगवती नाटिका उससे बिल्कुल भिन्न है ।

क्षेमेन्द्र की ‘बृहत्कथामञ्जरी’ [११८-१९] में एक अनगवती के चरित का उल्लेख मिलता है । सम्भव है कि ‘नाट्यदर्पण’ वाली ‘अनगवती नाटिका’ की रचना इसी कथा के आधार पर की गई हो, और जैसे उदयन-वासवदत्ता की कथा के आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है इसी प्रकार अनगवती की यह कथा भी महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में सुद्र कथा के रूप में प्रसिद्ध हुई हो । इस सबके होने पर भी ‘नाट्यदर्पण’ की ‘अनगवती नाटिका’ के कर्ता आदि का विषय बिल्कुल अन्धकार में रहता है ।

२ अनङ्गसेनाहरिनिदिप्रकरणम्—‘नाट्यदर्पण’ के प्रथम विवेक में ‘अमर्शं सन्धि’ के पाँचवें अंग धादन के निरूपण में ग्रन्थकार ने—

“यथा श्री मुक्तिवांसकुमारविरचिते अनङ्गसेना-हरिनिदिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के राजपुत्र पद्मकेतुना दत्त कर्णानिष्काम्युक्त नाविकया माधव्या नाविकस्य प्रेषितम् ।”

इत्यादि रूप में ‘अनङ्गसेना-हरिनिदिप्रकरणम्’ का उल्लेख किया है, और उसे ‘मुक्तिवांस कुमार’ की कृति बतलाया है । किन्तु ये ‘मुक्तिवांसकुमार’ कौन है ? इसका कुछ पता नहीं चलता है । इसलिये उनके बाल आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता है ।

३. अभिनवराधवम्—नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में ‘अरोचना’ के लक्षण के प्रसंग में ग्रन्थकार ने निम्न प्रकार से केवल एक बार इस नाटक का उल्लेख किया है—

‘यथा श्रीस्वामिविरचितेऽभिनवराधवे—

स्थापकः—(सहर्षम्) आर्ये ! विरस्य स्मृतम् ।

यस्येव राधवमहीनकथा पवित्र,

बाम्यप्रकाशघटना प्रविष्टप्रविभनः ।

मट्टेन्दुराज चरणाब्जमधुप्रसव,

क्षीरस्य नाटकमन्यमानसारम् ।”

यह नाटक तो नहीं मिलता है, किन्तु इस श्लोक में उसके कर्ता आदि का पयांश परिचय दे दिया गया है। इसके अनुसार 'अभिनवराघव' के निर्माता क्षीरस्वामी, भट्टेन्दुराज के शिष्य हैं। ये भट्टेन्दुराज अभिनवगुप्त के भी गुरु हैं। ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

भट्टेन्दुराजवरणाञ्जिताभिवात्,  
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिषोऽहम् ।  
यत् किंचिदप्यनुरागं स्फुटयामि वाग्या—  
लोचं सुलोचन-नियोजयामास्य ॥

यथाऽम्बुनाम्बायामट्टेन्दुराजस्य ।"

[ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४३, ११६]

इससे प्रतीत होता है कि अभिनवराघव के निर्माता क्षीरस्वामी कदाचित् अभिनवगुप्त के सहपाठी हैं। 'नाट्यदर्पण' के प्रतिरिक्त (१) बहूण कृत राजतरंगिणी, [तरंग ४, श्लोक ४८९], (२) अमरकोश के व्याख्याता क्षीरस्वामी, (३) हेमचन्द्राचार्यकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन [अ० १, पृ० ४४] तथा हेमचन्द्र की ही 'अभिधानचिन्तामणि' की श्लोपज्ञानाममालाविवृति [पृ० ३६०, ४६१] में भी क्षीरस्वामी के नाम का उल्लेख पाया जाता है। ये सब क्षीरस्वामी कदाचित् एक ही व्यक्ति रहे होंगे। उस दशा में क्षीरस्वामी ने अभिनवगुप्त के काल में ही रामचन्द्र के चरित को लेकर अपने इस अभिनवराघवम् नाटक की रचना की होगी। पर यह इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(४) अञ्जुनचरितम्—नाट्यदर्पण के तृतीय विधेय में विरद्ध रसों के विरोध या अविरोध की व्यवस्था के प्रवरण [का० १-२३] में 'अञ्जुनचरित' का एक श्लोक केवल एक बार निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

यथा अञ्जुनचरिते—

समुत्थिते धनुर्वर्गो भयावहे किरीटिन ।  
महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम् ॥

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानक ।"

'अञ्जुनचरित' के लेखक का यहा नाट्यदर्पणकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसके निर्माता ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन हैं। यह आनन्दवर्धन का लिखा एक महाकाव्य है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में दो बार इसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'द्विप्रविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य भयपरत्कनादिसम्पत् सुनरामुचोत्तिता भवति । यथा मदीये अञ्जुनचरिते अञ्जुनस्य पातालान्वतरणप्रसङ्गे बेश्चयेन प्रदर्शितम् ।"

आनन्दवर्धन का यह अञ्जुनचरित नाटक नहीं अपितु महाकाव्य है इस बात का उल्लेख भी उन्होंने स्वयं ही किया है—

"यथा च मदीय एव अञ्जुनचरिते महाकाव्ये × × ×"

छन्द के काव्यालङ्कार की टीका में 'नमि साधु' ने 'अञ्जुनचरित आनन्दवर्धनाचार्यकृत प्राकृतकाव्यम्' लिख कर अञ्जुनचरित को प्राकृत का काव्य बतलाया है। किन्तु उनका



यह कथन ठीक नहीं है। जो श्लोक यहाँ नाट्यदर्पणकार ने उद्धृत किया है वह संस्कृत का पद्य है, इसलिए यह स्पष्ट है कि अर्जुनचरित आनन्दवर्धनाचार्य का संस्कृत महाकाव्य है। नमिसाधु ने बिना देखे ही अनुमान से उसे प्राकृत काव्य कह दिया है। यह काव्य इस समय उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसका नाम अग्रमिद्ध ग्रन्थों की सूची में दिया है।

(५) इन्दुलेखानाटिका—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में निर्वहण सन्धि के काव्य-संहार नामक अङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में [कारिका ६१] ग्रन्थकार ने इन्दुलेखा नाटिका का एक प्राकृत भाग उद्धृत किया है [ना० ८० १६५]। किन्तु इस नाटिका का कर्ता कौन है? इसका कोई परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

(६) इन्दुलेखाश्री—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'श्री' के पाँचवें अङ्ग त्रिगत [का० ३३] के निरूपण के प्रसङ्ग में—

“यद्यो इन्दुलेखाया श्रीव्या—  
राजा—वयस्य !

किं नु कतहमनादो, मधुरो मधुराग्निना नु ऋकारः ?

हृदयगृहदेवतायास्तस्या मु समुत्तरवरणः ॥ इति”

यह एक श्लोक उद्धृत किया है। महाराज भोज ने 'शृङ्गार प्रकाश' [१२-१८८] तथा शारदासनय के 'भावप्रकाशन' [पृष्ठ ८, पृ० २३१] में भी यही पद्य इसी नाम से उद्धृत किया गया है। किन्तु 'भावप्रकाशन' में 'हृदयगतदेवताया.' के स्थान पर 'हृदयगतवेदनाया.' पाठ दिया गया है। नाट्यदर्पण तथा शृङ्गारप्रकाश का पाठ एक ही है, और अधिक अच्छा पाठ है। जैसा कि नाम से ही प्रष्ट है 'इन्दुलेखा नाटिका' तथा 'इन्दुलेखा श्री' एक ही कथानक पर ऊपर लिखे हुए दो अलग ग्रन्थ हैं किन्तु दोनों में से किसी के भी कर्ता का पता नहीं मिलता है।

(७) उदयनचरितम्—नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में आरभटी वृत्ति के निरूपण में 'छप्' के उदाहरण रूप में उदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोग.' (पृ० १४०) इस रूप में 'उदयनचरित' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक' की 'अवलोक' टीका में [२। ५७], और साहित्यदर्पण [६-१३५] में भी इसी रूप में उदयनचरित का उल्लेख किया गया है। वैसे उदयन की कथा संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध और बड़ी व्यापक कथा है। मूलतः उदयन का चरित बृहत्कथा से लिया गया है, और उसके आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है। सम्भव है उसके आधार पर 'उदयन चरित' नामक किसी नाटक की रचना हुई हो। पर वह न उपलब्ध है और न उसके कर्ता का कोई पता चलता है। यहाँ जिस रूप में उसका उल्लेख हुआ है उससे किसी विशेष नाटक के रूप में नहीं, अपितु सामान्य रूप से उदयन-कथात्मक उदयनचरित का ग्रहण करने से भी काम चल सकता है। वैसे भावह के काव्यानुसार में विजयीपुष्पपुन्यस्य वत्सेय वृद्धदर्शनम्' [४-३६], बालिदास के मेघदूत में 'प्राप्यावन्तीमृदयनकथाजीविदग्रामवृद्धान्,' आचार्य हरिमद्रमूरि के 'भावश्मय सूत्रवृत्ति' में [पृ० ६६-६७, ६७३, ६७५], आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिपट्टिशाखा-पुरुषचरिते' [पर्व १० स ११ १८४-२६५], सीमप्रम के 'कुमारपालप्रतिशोध' [पृ० ८०-८२] आदि जैन-ग्रन्थों में भी सामान्य रूप से उदयन की कथा का उल्लेख मिलता है। यह बात इस कथा की अत्यन्त लोकप्रियता की सूचक है।

(८) उवातराजम्—नाट्यदर्पण में 'उवातराजम्' नाटक का उल्लेख सीन बार किया गया है। पहिली बार प्रथम विवेक की ४५ वीं कारिका की व्याख्या में, दूसरी बार

प्रथम विवेक की विलकुल समाप्ति पर और तीसरी बार चतुर्थ विवेक की द्वितीय कारिका की व्याख्या में। 'दशरूप' के आलोचनिकाकार ने तृतीय प्रकाश की २५वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा छद्मना बाजिवघो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्तः', इस रूप में उदात्तराघव का उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बनवाया है। 'वक्रोक्तिजीवित-कार' कुन्तक ने भी 'यथा उदात्तराघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृग-मारणाय प्रयातस्य संक्षमणस्य परित्राणाय' सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्' इस रूप में 'उदात्तराघव' का उल्लेख किया है। इन दोनों उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस 'उदात्तराघव' के कवि ने रामचरित को 'उदात्त' बनाने के लिए उसको कचावस्तु में नये संशोधन किए हैं। इसीलिए कुन्तक ने लिखा भी है कि—

"यथा (एकस्वामेव दाशरथिकथायां) रामाय्युद्ध-उदात्तराघव-वीरचरित-वात्सरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पकप्रभुनयः। ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निर्गलसंसारमर्ग-सम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानाभिनवमञ्जी -X X X  
हर्षातिरेकमनेकशोभ्यास्वाद्यमानः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम्।"

[वक्रोक्तिजीवित पृ० ५३६]

'दशरूपकावलोक' में [१-३६, १-३१, ४-२३, २८] उदात्तराघव के तीन श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। विद्वनाथ ने साहित्य दर्पण [परि० ६, श्लोक २७, २८, २५४] में इसके श्लोक उद्धृत किए हैं। भोजदेव के 'शृङ्गारप्रकाश' [पृ० १२], सरस्वती कण्ठाभरण [पृ० ६४५], हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' की स्वोपन मलङ्कारचूडामणिवृत्ति [पृ० १८०] में भी इसके उदाहरण दिए गए हैं। इससे यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है। राजशेखर ने 'मायुराज' को कलचुरि बघ का कवि कहा है। ऐसा जल्दह-संशुद्धीत 'सूक्तिमुक्तावली' के निम्न लेख से प्रतीत होता है—

"राजशेखर—

मायुराजसमो जातो नाम्यः कलचुरिः कविः।

उदयवतः समुत्तम्युः कवि वा तुहिनोत्तवः॥

[जल्दह-संशुद्धीत सूक्तिमुक्तावली ४५]

इस प्रकार बहुप्रशंसित, बहुचर्चित यह उदात्तराघव नाटक निश्चय ही प्रसंगत उच्चकोटि का नाटक रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से इस समय यह उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(१) कृत्यारावणम्—नाट्यदर्पणकार ने कृत्यारावण के १३ उदाहरण इस ग्रन्थ में दिए हैं। इसके 'आमुख' में से 'अवलम्बित' का उदाहरण [२-३६], प्रथम अङ्क से 'अधिवल' का उदाहरण [२-११] द्वितीय अङ्क से 'वध' का उदाहरण [१-५०], चतुर्थ अङ्क से 'प्रायता' का उदाहरण [१-५३], पष्ठ अङ्क से 'विद्रव' का उदाहरण [१-५४], और सप्तम अङ्क से 'विरोध' और 'पक्ति' के उदाहरण में [१-५६, ६०] ७ उदाहरण तो अङ्क-निर्देश पूर्वक उद्धृत किए हैं। इनके अतिरिक्त रूप, छुति, छेद, भाष्य, धारभटी-वृत्ति, मञ्जीम् इन् ६ के उदाहरण अष्टोत्तरेय के बिना दिए हैं। इस प्रकार वेबल नाट्यदर्पण में १३ बार 'कृत्यारावण' नाटक का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त भी अभिनवमारती [प्र० १८ पृ० ४१०, प्र० ५० पृ० १०४-१०५, प्र० २२ पृ० १०६ स० २, पृ ४४४, ५२३, ५२४ स० ३ पृ० १३, ४०] में ८ जगह भोजदेव के 'शृङ्गारप्रकाश' में प्र० १२, १८७, १६७, २०० तीन जगह, हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन-प्रवेक में एक जगह [प्र० ६, पृ० २७९] धारदातय के 'भाव-

प्रकाशन' में [१० २३८, २४१] दो अथवा और साहित्यदर्पण [परि० ६, सूचीक १३७] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। कुन्तक ने भी वक्रोक्तिजीवित में इसका उल्लेख किया है। किन्तु 'दशरूपाकावलोक' में इसका एक बार भी उल्लेख नहीं मिला यह आश्चर्य की बात है। इतना प्रसिद्ध यह नाटक भी आज उपलब्ध नहीं हो रहा है, यह भी आश्चर्य की बात है।

(१०) कौशलिकानाटिका—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक की दसवीं कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में केवल एक बार 'कौशलिकानाटिका' का उल्लेख आया है। इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि यह नाटिका वत्सराज उदयन के चरित्र को लेकर लिखी गई थी। नाट्यदर्पण में लिखा है—'यथा भद्रश्रीमन्ननु (१) चूडाविरचितायां कौशलिकायां नाटिकायां कौशलिकाप्राप्ति-मधिकृत्य प्रयुक्तस्य वत्सराजस्य न प्राप्तञ्जितम्।' इस नाटिका का अन्वय कोई उल्लेख नहीं मिलता है, और न यह नाटिका ही उपलब्ध होती है।

(११) चित्रोत्पलावतम्बितकं प्रकरणम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में गर्भस्थिति के सातवें पङ्क्त 'उद्वेग' के उदाहरण के प्रसङ्ग में अन्वकारने—

"यथा अमात्यशकुविरचिते चित्रोत्पलावतम्बितके प्रकरणे पञ्चमेऽङ्के नैपथ्ये सचीकारम्—"

इत्यादि रूप में 'चित्रोत्पलावतम्बितक' प्रकरण को अमात्य शकु की कृति घोषित किया है। शकु का नाम तो साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। काव्यप्रकाशकार ने रस-निरूपण के प्रसङ्ग में चतुर्थ उल्लास में, अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में अनेक बार शकु का नाम उल्लेख किया है। किन्तु सब जगह उनके मत का खण्डन ही किया गया है। उदाहरणार्थ—

तेन शकुकादिभिः × × × युषेव बहुतरमुपन्यस्तम् । [प्र० २ पृ० १७]

शकुकरत्नाह × × × एतदप्यसत् । [प्र० ६, २७४]

महत्तम शकुकेनोक्तं × × × तदसत् [प्र० ६, २८२]

इति श्रीशकुकाः । एतच्च पूर्वपरविस्मरणविजृम्भितमस्य [अध्याय ६, २६३]

इसी प्रकार यहाँ नाट्यदर्पण में द्वितीय विवेक के 'बीधी' निरूपण के प्रसङ्ग में उनके मत की अनुसारादयता का प्रतिपादन करते हुए अन्वकार ने लिखा है—

'शकुकस्तु अथमप्रकृतेनमिदमवनिन्दन् प्रहसन-माणादौ हास्यरसप्रधाने विटाडे-नायकस्य प्रतिपादयन् कथमुदादेय स्यादिति ।"

[नाट्यदर्पण २-२८]

राजतरंगिणी [त० ४, ७०५] में—

कविबुधमनः सिन्धु घातां शकुनामिषः ।

यमुद्दिषाकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयामिषम् ॥

इत्यादि पद्य द्वारा शकु की 'भुवनाभ्युदयम्' नामक काव्य का निर्माता बतलाया है। वत्सभट्टेय मधुहीन 'शृङ्गापितामह' में [४२६, ४३८, ४४२ ७५०, ८७३, ८७४, ९०८, १०३३, १२३४, १२३७, १३०८ मध्या के] ग्यारह पद्य शकु के नाम से उद्धृत किए गए हैं। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में उनकी विशेष प्रतिष्ठा है। हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुनामन [पृ० २ पृ० ५७ वि०] और चारदाजन के 'माकप्रकाशन' [पृ० ८ पृ० २५२], में भी शकु का उल्लेख दिया

गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शकुन ही इस 'चित्रोत्पलावनम्बितक' प्रकरण के निर्माता होंगे। किन्तु वे किसके अग्रमात्य थे इसका पता नहीं चल रहा है। यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है।

(१२) छत्रितराम—नाट्यदर्पणकार ने चार स्थानों पर 'छत्रितराम' नाटक के नाम का उल्लेख करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में भी 'छत्रितराम' का उल्लेख पाया जाता है। धनिक के 'दशरूपकावलोक' में [१-४१, ३-१३, १७] तीन स्थानों पर, भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [प्र० ११, पृ० १२३] तथा सरस्वतीकण्ठाभरण [पृ० ३७७, ६४५] तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ० २६१] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। किन्तु न तो इसके कर्ता का पता चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

(१३) जामदग्न्यजय—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में 'व्यायोग' के लक्षण के प्रसङ्ग में 'मस्त्रीनिमित्त सग्राम' जिसमें स्त्री की प्राप्ति के लिए सग्राम न हो वह व्यायोग होता है। इसका उदाहरण दिलवाने के लिए—'मस्त्रीति अस्थिर्यसग्रामस्युक्तश्च। यथा—जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्राकुलस्य वैद्य कृत। इस रूप में इस 'जामदग्न्यजय व्यायोग' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक' के भूल में और अक्सर 'टीका' में भी व्यायोग के लक्षण के प्रसङ्ग में 'मस्त्रीनिमित्त सग्रामो जामदग्न्यजये यथा' [३-६१], लिख कर इसका निर्देश इसी रूप में किया गया है। किन्तु इसकी रचना किसने कब की इसका कोई पता नहीं चला है। यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(१४) तरङ्गदत्तम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' के निरूपण प्रसङ्ग में का० ३ तथा ४ की व्याख्या में दो जगह 'तरङ्गदत्त' प्रकरण का उल्लेख किया गया है। धनिक के 'दशरूपकावलोक' [३-३८], शारदाचरण के 'भाषप्रकाशन' [अधि० ८, पृ० २४३] और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ० २२६] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है किन्तु इसका कर्ता कौन है इस विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(१५) वैबीक्षन्मुक्तम्—'नाट्यदर्पण' में सात बार वैबीक्षन्मुक्त नाटक का उल्लेख पाया है और उसे 'मुद्राराक्षसकाद' विद्यालक्ष्य या विद्यालक्ष्य की कृति बताया गया है। इन उदाहरणों से इस नाटक की कथावस्तु प्रायः स्पष्ट हो जाती है। राजा राममुक्त ने प्रबल शक्यता के साथ ही यह भवती रानी ध्रुवदेवी की शक्यता को धर्मरहित कर देना स्वीकार कर लिया। बाद की राममुक्त के भाई चन्द्रमुक्त ध्रुवदेवी के वैध में शक्यता के शिविर में गया और वहाँ पहुँच कर चन्द्रमुक्त ने शक्यता का वैध कर डाला, यह इस नाटक की कथा है। इस कथा का उल्लेख 'हर्षचरित' में पाया जाता है—

'शकानामाचार्य शकापिपति चन्द्रमुक्तध्यातुजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः, चन्द्रमुक्तेन ध्रुवदेवीवैधधारिणा स्त्रीवैधजनपरिवृत्तेन रहसि व्यापादित इति।'

[हर्षचरित उ० ५ पृ० २७०]

'वाम्यमीमांसा' में भी इस कथा का उल्लेख पाता है—

दत्त्वा द्दपति सतापिपत्ये देवी ध्रुवस्थामिमौ

यस्याद् दण्डितगहसो निवर्तते श्रीराममुक्तो नृपः।

[वाम्यमीमांसा प्र० १ पृ० ४०]

इस कथा को लेकर देवीचन्द्रगुप्त नाटक की रचना हुई है। उसका उल्लेख भी अनेक जगह पाया जाता है। किन्तु यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्र गुप्त के अतिरिक्त 'अभिसारिकवञ्चितक' नामक एक और नाटक भी विशालदेव ने बनाया था। इस बात का उल्लेख अभिनवभारती [प्र० २२ पृ० १६७, खण्ड ३ पृ० २८] तथा 'शृंगारप्रकाश' में मिलता है। यह नाटक वत्सराज उदयन के चरित को लेकर लिखा गया था, यह बात भी निम्न उद्धरणों से विदित होती है—

“यथा विशालदेवनिबद्धे अभिसारिकवञ्चितके वत्सेशस्य पद्मावती शबरीदेपाद्याचरण-  
रूपात् लीलाचेष्टितात् कामः प्रत्यानीतः।” [प्र० भा० प्र० २२ पृ० १६७]

“यथा श्रीविशालदेवकृते अभिसारिकावञ्चितके वत्सराजः सम्भावितपुत्रवधायै  
पद्मावत्यै क्रुद्धस्तथा चाभ्यधात्।” — [शृंगारप्रकाश प्र० २२ पृ० १६७]

१६. पयोधिमघनम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'समवकार' के निरूपण प्रसंग में 'अत्र द्वादश नेतारः कर्ता तेषां पुषक् पुषक्' [कां० २-१३] के उदाहरण में 'यथा पयोधिम-  
मघने हरि-बलि-प्रभृतीनां लक्ष्म्यादिलक्षाः' इस रूप में 'पयोधिमघन' का उल्लेख होने से यह 'समवकार' प्रतीत होता है। 'दशरूपक' के समवकार निरूपण में भी 'बहुवीररक्षाः सर्वे यहदम्भो-  
धिमघने' [३-६४] इस रूप में 'यममोधिमघन' का उल्लेख किया गया है। यह 'पयोधिमघन' का ही दूसरा नामांतर है। भोमदेव के 'शृंगारप्रकाश' में [प्र० ११ पृ० १४८] तथा हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में अपभ्रंश भाषा में लिखे गए एक 'अधिमघन' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

“योऽत्र भ्रंशनिबद्धो मात्राद्यन्वोभिरभिमतोऽप्यधियाम्।

वाक्यः स सन्धिवन्धः क्तुमुत्सोक्ताधिमघनादि।।”

[शृंगारप्रकाश पृ० ११, पृ० १४८]

अपभ्रंशभाषानिबद्धसन्धिवन्धमघनादि । [वाक्यानुशासन प्र० ८ पृ० ३३७]

पता नहीं इसी 'अधिमघन' को नाट्यदर्पण कार ने यही 'पयोधिमघन' के नाम से निर्दिष्ट किया है, या यह कोई अलग ग्रन्थ है। न यह ग्रन्थ मिलता है और न उसके कर्ता आदि का पता चलता है।

१६. पाण्डवानन्दम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'बीधी' के 'उद्घात्यक' नामक ११वें अंग के उदाहरण में पाण्डवानन्द का सूत्रधार तथा पारिपत्यिक की उक्ति-प्रत्युक्ति रूप 'बा भूपा बलिनां दामा' इत्यादि एक पंक्ति उद्धृत किया गया है। उसकी ध्वतरलिखा में—'यथा पाण्डवानन्दे सूत्रधार-परिपादिवकयोक्तिप्रत्युक्ति—' इस रूप में 'पाण्डवानन्द' का उल्लेख किया गया है। 'बीधी' के प्रसंग में निर्दिष्ट होने के कारण यह 'बीधी' है ऐसा अनुमान होता है। 'दशरूपकावलोक' में 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप में तनिक से पाठ भेद के साथ यही पद्य उद्धृत किया गया है। 'अभिनवभारती' [प्र० १८ पृ० १४४] में भी 'पाण्डवानन्द' का यह पद्य उद्धृत हुआ है और शारदासन के 'भावप्रकाशन' [पृ० २३०] में भी यह पद्य 'पाण्डवानन्द' से उद्धृत पाया जाता है। किन्तु इसका कर्ता कौन या इसका कुछ भी पता नहीं चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

१७. पार्यविजयम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में प्रतिमुख सन्धि के घाठवें अंग 'ताप' तथा 'अनुमर्षण' के निरूपण के प्रसंग में 'यथा पार्यविजये' लिख कर तीन बार 'पार्यविजय' के उद्धरण दिए गए हैं। भोजराज के 'शृंगार प्रकाश' में भी [पृ० १२, प्रा० वि० पृ० १६४, १६७ १९९] साम, दून रूप सन्ध्यों के उदाहरण रूप में 'पार्यविजय' के कुछ अंश उद्धृत किए गये हैं।

"तत्र पुंनोऽपि ह्रीः यथा 'पार्यविजये' मन्धर्वैः पराजितस्य बद्धस्य मर्दुनेन विक्रम्य गोचितम् दुषोधनस्य ।"

"नत्र साम यथा पार्यविजये' भगवान् बासुदेवो दौत्येन गतो दुर्गोधनमाह"

[शृंगारप्रकाश प्र० १२, प्रा० वि० पृ० १९७, १९८]

'सूक्तमुक्तावली' में राजशेखर के नाम से निम्न पद्य उद्धृत हुआ है—

कतुं त्रिलोचनादन्यः कः पार्यविजयं क्षमः ।

तदर्थः तत्रपते द्रष्टुं लोचनद्वयिभिः कथम् ॥"

[सूक्तमुक्तावली वि० रि० २, ६३]

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि इस 'पार्यविजय' के निर्माता त्रिलोचन कवि हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायवातिक-तात्पर्यटीका' में 'त्रिलोचनगुरुक्रीतमार्गानुगमनोमुखैः' लिख कर त्रिलोचन अपना शुद्ध घोषित किया है। इन्हीं त्रिलोचन कवि का बनाया हुआ यह 'पार्यविजय' नाटक था। किन्तु इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।

१८. पुष्पद्रुतिकम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम तथा द्वितीय विवेक में कुल मिला कर आठ स्थानों पर 'पुष्पद्रुतिकम्' के नाम तथा उसके उद्धरण दिए गए हैं। 'वक्रोक्तिजीवित' का भी उद्धरण हम 'कुरयारावण' के विवेचन के प्रसंग में पृष्ठ ३८ पर दे आए हैं उसमें भी 'पुष्पद्रुतिक' का नाम आया है। अभिनवभारती [प्र० १८ पृ० ४३२] तथा 'दशरूपकावली' [प्र० ३, श्लोक ४५] में 'पुष्पद्रुतिक' का उल्लेख पाया जाता है। इसमें समुद्रदत्त नामक वणिक् नायक और कुलस्त्री रूप मन्द्यन्ती नायिका की कथा दी गई है। विविध ग्रन्थों में इसके उद्धरण मिलने पर यह ग्रन्थ आज उपलब्ध या प्रकाशित नहीं है।

१९. प्रतिमानिरुद्धम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक के अन्त में—'श्री भीमदेव-सूतोर्वगुनामस्य वृत्तौ प्रतिमानिरुद्धे' इन शब्दों में 'प्रतिमानिरुद्ध' नाटक का निर्देश किया गया है। अभिनवभारती [प्र० १६, पृ० ३] में भी भीमदेव-सूनु वसुनाग की कृति के रूप में 'प्रतिमानिरुद्ध' का निर्देश किया गया है। 'वक्रोक्तिजीवित' में केवल नाटक के नाम का उल्लेख पाया जाता है। मदनमोहन-संशुद्धित 'सुभाषितावली' में [श्लोक १२७४, १२८३, १३६३] तीन श्लोक वसुनाग वृत्त उद्धृत किए गए हैं। वे 'प्रतिमानिरुद्ध' के निर्माता वसुनाग के ही बनाए हुए प्रतीत होते हैं। यह नाटक भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२०. प्रयोगाम्बुदयम्—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में 'बीबी' के चतुर्थ अंग 'प्रपंच' के निरूपण के प्रसंग में विदूषक और चेटी का संवाद 'प्रयोगाम्बुदय' से उद्धृत किया गया है। इसके प्रतीत होता है कि यह 'बीबी' खेती का रूपक है। भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश'

में भी [प्र० १८, पृ० १६१] 'प्रयोगाम्बुदय' का ठीक यही अंश उद्धृत हुआ है। परन्तु यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२१. बालिकावञ्चितकम्—नलबिलास में 'बालिकावञ्चितक' के उदाहरण दो बार दिए गए हैं। एक उदाहरण उसके आमुख से लिखा गया है। उसमें 'बीची' के नवम भग 'नाली' का प्रयोग निम्न प्रकार दिखलाया है—

"यदा बालिकावञ्चितके पारिषादिवकः—

सपनीयोज्ज्वलकरकं कुवलयारवि भासमानमावासे ।

तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमावद्व मे भूतम् ॥

अत्र निरूढो नारदलक्षणोऽर्थः .... इसीके 'द्वितीयमेतं 'भुनि पदम्' इति अनुसंधानाद्यथा-  
करणेन व्याख्यात इति ।" [नाट्यदर्पण २-३५]

इसमें आकार्य-मार्ग से कृष्ण के पाँच भातें हुए मारद का वर्णन है। दूसरें स्थान पर—

"यदा वा बालिकावञ्चितके—

रिष्टस्तावदुदग्रभृङ्गविकटः शैलेन्द्रकल्पो वृषः,

सप्तद्वीपसमुद्रजस्य पयसः शोषक्षमा पूतना ।

केसी बाजितनुः क्षुरंबिषट्पेदापप्रगामेदिनी,

सार्धं बभ्रुभिरेवभूजितबल का कंसमाहकन्दति ॥"

[नाट्यदर्पण २-३२]

आदि एवोक्त इन 'बालिकावञ्चितक' में उद्धृत किए गए हैं। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि यह रूपक कृष्ण की कथा को लेकर लिखा गया है, और उसमें 'बालिका' पद बदाचिद् राधा के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। कुमार्य से यह रूपक भी उपलब्ध नहीं होता है।

२२. मनोरमावतसराजम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'बीची' के 'असप्रलाप' नामक प्रज्ञ के निरूपण के प्रसङ्ग में केवल एक बार इसका उल्लेख किया गया है। उसमें "यदा भीमट-विरचिते मनोरमावतसराजे" इस रूप में इस रूपक का निर्देश किया गया है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है यह रूपक वतसराज उदयन की कथा को लेकर लिखा गया है। उदयन की विरति को लेकर सरस्वती साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। (१) वासवदत्ता, (२) वीणा-वासवदत्ता, (३) स्वप्नवासवदत्ता, (४) प्रतिज्ञायोग्यधरायण, (५) रत्नावली, (६) प्रियदर्शिका, (७) कीर्तिका, (८) धर्मसारिङ्गवञ्चनक, (९) तापमवतसराज, (१०) उदयनविरत आदि सभी ग्रन्थ एक ही कथा को लेकर लिखे गए हैं। भीमट बलि वा यह 'मनोरमावतसराज' रूपक उसी धेनु में आता है। इसके निर्माता भीमट के विषय में अहल्ल-सकलित 'भूतमुक्तावली' में एक पद्य आया है—

बलिञ्जरपतिवक्त्रे भीमटः पञ्चनाटकीम् ।

प्रापप्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम् ॥

[भूतमुक्तावली २-६३]

पर्याप्त भीमट बलि कनिञ्जर के राजा थे। उन्होंने पाँच नाटक बनाए थे जिनमें 'स्वप्न-दशानन' नामक सर्वश्रेष्ठ था। पितृमन आदि के अनुसार 'रावलीयातुं' नाट्य के निर्माता भीम और कनिञ्जरराज भीमट एक ही व्यक्ति हैं। खेद की बात है कि उनकी यह इति भी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

✓ २३. मल्लिकामकरन्दम्—यह रामचन्द्र का अपना बनाया 'प्रकरण' रूपक है। 'नाट्यदर्पण' के तृतीय विवेक की २१वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा वा भस्मदुपजं मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे—

भास्य हास्यकर क्षत्राङ्गुवक्षसा विम्बाघर सोदर  
पीयूषस्य, वचासि मग्मयमहाराजस्य तेजासि च।  
दृष्टिविष्टपचन्द्रिका, स्तनतटी लदमोनटीनाटयम्:  
प्रोचित्याचरण विलासकरण तस्या प्रशस्यायधे ॥

इस रूप में 'मल्लिकामकरन्द' का उदाहरण केवल एक बार दिया गया है। आज से ३०० वर्ष पड़िते १७वीं शताब्दी में कान्तिविजयगणि द्वारा तैयार किए गए सूचीपत्र में 'तस्यैव [प० रामचन्द्रस्य] मल्लिकामकरन्दनाटकम्' १५००। [पुरातत्त्व पु० दे० अ० ४, ४२४-५२८] इस रूप में मल्लिकामकरन्द—को रामचन्द्र का नाटक बताया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं उसे 'नाटक' के स्थान पर 'प्रकरण' कहा है। १५०० श्लोक भर्पात प्रमुष्टुप इसका परिमाण था, किन्तु यह ग्रन्थ अब तक अप्राप्य और अप्रकाशित है।

२४. मायापुष्पकम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक में 'बीज' का निरूपण करने वाली २६वीं कारिका की व्याख्या में—

'यथा मायापुष्पके ताप. प्रविश्य वचनरूपेणाह—

कैकेयी वव पतिव्रता भववती सर्ववविष वाग्विष,  
धर्मात्मा वव रघूदहः वव यमितोऽरण्य सजायानुज।  
वव स्वच्छो मरुत वव वा पितृवधान्मायाऽधिक दह्यते  
किं कृतेति कृतो मया दशरथेऽग्र्ये कुतस्य क्षय ॥"

इस रूप में मायापुष्पक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार आगे पताका के लक्षण के प्रसंग में [का० ३३] फिर 'यथा मायापुष्पके' लिख कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि यह नाटक है और रामचन्द्र की कथा को लेकर लिखा गया है। अभिनवभारती [अ० १३ पु० २१६, अ० १६ पु० १०, अ० २२ पु० १६६] में भी तीन बार इसका उल्लेख हुआ है, और कुतक के 'वक्रोक्तिजीवित' का जो उद्धरण हुआ अभी 'कृत्यावल्या' की विवेचना (पृ० ३८) में दे आए हैं उसमें भी 'मायापुष्पक' के नाम का उल्लेख है। किन्तु इस नाटक का कर्ता कौन है इसके विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह नाटक अब तक प्रकाशित हो हुआ है।

✓ २५. यादवाम्बुदक्ष—यह नाटक स्वयं नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र कवि का बनाया हुआ है। 'यथा वा भस्मदुपज एव यादवाम्बुदक्षे' लिख कर ग्रन्थकार ने अपने इस नाटक से सात स्थानों पर उदाहरण उद्धृत किए हैं। ग्रन्थकार के परिचय में प्रसङ्ग में हमने उनके 'रघुविलास' नाटक से आशुत से जो उद्धरण लिया था उसमें उनकी सर्वश्रेष्ठ पाँच नाटकों में इस 'यादवाम्बुदक्ष नाटक' का भी नाम है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत होता है इसमें यदुवती वृष्ण के चरित्र का वर्णन है। कस और जरासन्ध आदि की मार कर भावे भारत पर वृष्ण ने साम्राज्य का प्रदर्शन उसके काव्योपसहार के निम्न श्लोक में दिखसाया है—



प्रातो घोषमुवा विधृत्य मधुजित् कस दाय सम्मित,  
सम्प्रत्येव विनिमित्त मगधभूभर्तुः, कव घ वपु ।  
पादाक्रान्तमजायताद्धंभरत तद् ब्रूहि न कि पर ?  
ध्वयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुनरप्याशास्महे यद् वयम् ॥

[नाट्यदर्पण १-६५]

यह नाटक यों तो स्वयं नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र का बनाया हुआ है, किंतु अब तक अनुपलब्ध और प्रकाशित है। अतः यहाँ उसका समावेश किया गया है।

✓ २६ रघुविलासम्—ग्रन्थकार के परिचय के प्रसङ्ग में 'रघुविलास' का जो उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'रघुविलास' नाटक नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र की अपनी कृति है, और वह उनके सव्यष्ट पाँच नाटकों में से एक है। नाट्यदर्पण में उन्होंने अपने इस नाटक के १४ उदाहरण दिए हैं। किंतु दुर्भाग्य की बात है कि स्वयं नाट्यदर्पणकार का यह नाटक भी आज तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हो सका है।

✓ २७ राघवाभ्युदयम्—यादवाभ्युदय' के समान यह 'राघवाभ्युदय' नाटक भी नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र का अपना बनाया हुआ नाटक है और उनके सर्वोत्तम पाँच नाटकों में गिनाया गया है। जैनसाहित्य संग्रह ख० १ अ० २ की 'राघवाभ्युदय नाटक' प० रामचन्द्र द्वारा १० अङ्कम् इस टिप्पणी से प्रतीत होता है कि यह नाटक दस अङ्कों का बड़ा नाटक है। किंतु अन्य कृतियों के समान अब तक अनुपलब्ध और प्रकाशित है।

२८ राधाविप्रलम्भम्—नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक में अतः में यथा भोजन-विरचिते राधाविप्रलम्भे रासबाहुँ परिकर परियासयोदयक्षयेर्लव गतावाप्त तन्निबन्ध । एव परस्परान्तर्भावे चतुरङ्गोऽपि क्वापि सधिभवति ।' इस रूप में ग्रन्थकार ने 'राधाविप्रलम्भ' को भोजन कवि विरचित रासबाहुँ बतलाया है। इसका उत्प्रेष अभिनवभारती में भी आया है और वही इसका एक श्लोक निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

'मेघादाद्विजितशब्द-ताण्डवविधावाचायक कल्पयन्  
निर्हारी सुरजस्य मूर्च्छिततरां वेणुस्वनापूरित ।  
धीणाया बलवन् सदेन गमकानुपाहिणी मूर्च्छितां  
वर्षत्येव च कालदुष्टितसया रम्यधृति पादवे ॥'

[अभिनवभारती दिल्ली संस्करण पृ० २१५]

इसी पद्य की अभिनवभारती के पञ्चमाध्याय में फिर भोजननाम्ना निम्नरूपके उल्लेख [पृ० ५ पृ० २१४ अ० ६] इस अवतरणिका के साथ उद्धृत किया है। शृङ्गारप्रकाश' में 'यथा रासबाहुँ' [पृ० ११, पृ० १८२] इन पद्यों में कदाचित् इसी 'रासबाहुँ' का उत्प्रेष दिया गया है।

२९ रामाभ्युदयम्—नाट्यदर्पण में ग्रन्थकार ने नाम का उत्प्रेष किए बिना ६ स्थानों पर 'रामाभ्युदय नाटक' के उद्धरण दिए गए हैं। इस नाटक के द्वितीयान्क से सीता के प्रति मुण्डिब की सदेवोक्ति, मारीच, रावण और ग्रहणका सवाद दिए गए हैं। अतुल्य पद्य से सीता के अग्नि प्रवेग आदि 'अग्निहृत्' के उदाहरण में, सीता-परित्याग का अवसानव 'अन' के उदाहरण कम में, माया चिरोत्थन 'भारमटी'

के लक्षण के अवसर पर दिखाए हैं। ध्वन्यालोक [उद्योत ३, १३३] ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, १४८] शृङ्गार प्रकाश [प्र० १२ १८६, २०१], 'भावप्रकाशन' [प्र० ७, २०० २१२] आदि में भी इस नाटक का उल्लेख पाया जाता है। ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, पृ० १४८] के उल्लेख से ही यह विदित होता है कि इस नाटक के कर्त्ता यशोवर्मा हैं। शोमेन्द्र के 'सुवृत्तलिलक' [२, ३९; ३, २१] तथा वल्लभदेव-संग्रहीत 'सुमाप्तिरावली' [पृ० ६०४] में यशोवर्मा की कृतिरूप ये कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। वे सम्भवत इसी नाटक से लिए गए हैं। यशोवर्मा नाम के एक राजा कन्नौज में हुए हैं। उनका काश्मीरराज ललितादित्य से युद्ध हुआ था, और उस युद्ध में यशोवर्मा को पराजय का दुःख देखना पड़ा। उनके इस युद्ध का वर्णन 'राजतरंगिणी' में किया गया है—

कविवाक्पतिराजभवभूत्यादिसेवितः।

जितो यथो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

[राजतरंगिणी त० ४, १४४]

'अभिनवभारती' आदि के निर्माता अभिनव गुप्त ने लगभग १०० वर्ष पूर्व उनके पूर्वज अग्निगुप्त इन्हीं काव्यकुञ्जेश्वर यशोवर्मा के यहां रहते थे। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद काश्मीर-नरेश बड़े सम्मान-पूर्वक उनको अपने यहां लिवाने से गए थे। अभिनवगुप्त ने स्वयं अपने 'तत्रालोक' ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन निम्न श्लोकों में किया है—

नि क्षेपक्षेत्रसदनं किल मध्यदेशः,

तस्मिन्मजायत गुणाम्बुधिरिति जगन्मा।

कोऽप्यग्निगुप्त इति नामनिश्चयोत्तः,

क्षेत्राभिषेचर्षणकलोद्योगस्त्यगोत्तः ॥

ततश्च ललितादित्यो राजा स्वर्कं पुरयानयत्।

प्रणयरमसात् काश्मीराख्यं हिमासयमूर्धनम् ॥

[नग्न्यालोक, प्र० २७]

इन यशोवर्मा के यहां विद्वानों का संग्रह था। कवि वाक्पतिराज, भवभूति आदि इन्हीं की राजभा में रहते थे। सम्भव है इन्हीं यशोवर्मा ने इस 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की हो। यह नाटक भी इस तक उपलब्ध था प्रकाशित नहीं हुआ है।

✓ ३०. रोहिणीमृगाङ्क—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में 'मुक्तसन्धि' के 'परिभाषा' नामक तृतीय अङ्क के निरूपण-प्रसङ्ग में—

'यथा वा अस्मदुपज्ञे रोहिणीमृगाङ्कमिषाने प्रकृत्ये मृगाङ्क' प्रति यस्ततः।'

इस रूप में 'रोहिणीमृगाङ्क' की नाट्यदर्पणकार ने स्वयं अपनी कृति घोषित किया है। याने फिर 'मुक्तसन्धि' के परिभाषना नामक १२ वें अङ्क के उदाहरण रूप में भी 'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण से एक श्लोक उद्धृत किया है। पर यह 'प्रकरण' भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

✓ ३१. वनमासानाटिका—'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण के समान 'वनमासानाटिका' भी स्वयं नाट्यदर्पणकार की कृति है। जैसा कि उन्होंने तृतीय विवेक में २१ वीं कारिका की व्याख्या में—'यथा वा अस्मदुपज्ञाया वनमासाया नाटिकाया' इन शब्दों से व्यक्त किया है।

‘वृहट्टिप्पणी’ और उसके आधार पर ‘जैनग्रन्थावली’ आदि में [पृ० ३३८] इस वनमाला नाटिका की भ्रमरचन्द्र की कृति बतलाया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र के स्थान पर भूल से भ्रमरचन्द्र लिख दिया गया है। गणिका-कान्तिविजय के लिखे हुए ‘प्राचीनग्रन्थ-सूचिका’ में तो ‘प० रामचन्द्रकृता वनमालानाटिका श्लोक ८००’ [पुरातत्त्व पृ० २ पृ० ४, ४२४-४२८] इन शब्दों में ‘वनमाला नाटिका’ की रामचन्द्र की कृति ही बतलाया है। इस नाटिका का केवल एक ही उदाहरण नाट्यदर्पण में दिया गया है, और वह राजा नल की दमयन्ती के प्रति उक्ति के रूप में है। इससे प्रतीत होता है कि उस नाटिका की रचना भी नल-दमयन्ती के चरित्र को लेकर की गई है। किन्तु यह नाटिका भी इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुई है।

(३२) विधिविलसितम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में विमर्श-सन्धि के लक्षण के प्रसङ्ग [का० ३९] में विधिविलसितम् का केवल एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

देवतो यथा ‘विधिविलसिते पञ्चमेऽङ्के—

“नञ्चुनी—हा भिक् कष्टम्, नैवोत्सर्ग्यः प्राक्तनः कर्मविपाकः—

वार्ताऽपि नैव यदिहासि स राजचन्द्रः

तेनोज्जिता विधिविमोहितचेतनेन।

देवा बने त्रिदशनायविलासिनीभिः,

कतुं वता जमति सख्यमिति प्रवादः॥”

इस उदाहरण की लक्षण के साथ योजना करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है—

“अत्र सूत्राचारविलम्बिनि भजे देवत्यक्त-दमयन्ती-राज्यप्राप्तिविधौ विमर्शः।”

इस पंक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नल-दमयन्ती के चरित्र को लेकर इस नाटक का रचना की गई थी। किन्तु इसका निर्माता कौन या इसका कुछ पता नहीं चलता। नाटक भी अब तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हुआ है।

३३. विलसद्दुर्घोषनम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में ‘प्रतिमुख-सन्धि के नवम अङ्ग ‘पुष्प’ के उदाहरण [का० ४६] के रूप में—

यथा विलसद्दुर्घोषने-भीष्मः—

एनत्तं हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,

सम्प्रत्येव तु गोमूत्रं यदभवत् तत् तावदाकर्ण्यताम्।

एकः पूर्वमुदायुषः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं

यावन्तो वषमाह्वयप्रणयिनः तावन्त एषाणुनाः॥

इस एक उदाहरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ‘विलसद्दुर्घोषन’ का नाम नहीं मिलता है। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका कर्ता कौन है। यह नाटक अब तक प्रकाशित भी नहीं हुआ है।

३४. सुधाकलशः—‘नाट्यदर्पण’ के द्वितीय विवेक में वीथी के ‘मृदवम्’ नामक अङ्ग के निरूपण में ‘यथा अस्मदुपज्ञे सुधाबलसौ’ और ‘यथा सुधाकलसौ’ इन अवतरणिकाओं के साथ दो श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं। ये दोनों ही श्लोक प्राकृत भाषा के हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ‘सुधाकलशः’ नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र की सुन्दर भाषामयी मयवा प्राकृत-भाषा प्रधान कृति है। यह कोई नाटक या रूपक नहीं, अपितु सुभावित-संग्रह का ग्रन्थ है, यह बात जैन

साहित्य संशोधक [खं० १७० २] के 'सुधाकलदास्यसुभाषिताकोशः पं० रामचन्द्रकृतः' इस लेख से प्रतीत होती है। पुरातत्त्व [पु० = अ० ४, ४२४, ४२८] में 'प० रामचन्द्रकृतः सुधाकलदा. १३००' इस लेख से यह भी प्रतीत होता है कि इसमें १३०० श्लोक थे। इसमें प्राकृत श्लोको की प्रधानता थी। यह ग्रन्थ भी अब तक अनुपलब्ध तथा अप्रकाशित है।

३५. हृषीवधम्—'हृषीवधम्' संस्कृत साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता भर्तृमेष्ठ हैं। इनकी भी संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रशंसा पाई जाती है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है—भारम्भ में जो प्रादि कवि वाल्मीकि ये वे ही अगले जन्म में भर्तृमेष्ठ बने थे। उसके बाद भर्तृमेष्ठ ने भवभूति के रूप में जन्म लिया और प्रादि वे ही भर्तृमेष्ठ राजशेखर के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार राजशेखर ने भर्तृमेष्ठ के साथ-साथ अपनी भी प्रशंसा कर ली है। राजशेखर का श्लोक निम्न प्रकार है—

बभूव वाल्मीकिभवः पुरा कवि,  
ततः प्रपेदे मुनिं भर्तृमेष्ठताम्।  
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया  
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

[वात्सरामायण १-१६, बालभारत प्र० १२]

राजशेखर ने ही दूसरी जगह काव्यमीमांसा में यह लिखा है कि विशाला सम्राट् उज्जयिनी नगरी में आकर बड़े बड़े महाकवियों की परीक्षा होती है कि कौन कितने पानी में है। उसमें आकर ही कालिदास और भर्तृमेष्ठ की परीक्षा हुई। यही आकर अमर, रूप, सूर और भारवि का यश फैला, और हरिश्चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त की परीक्षा भी यही आकर हुई। इन सब कविओं में कालिदास, भर्तृमेष्ठ तथा भारवि तीन तो प्रसिद्ध कवि हैं और अत्यन्त अप्रसिद्ध कवि हैं। फिर भी अपने समय में उज्जयिनी में उसका अपना कुछ विशेष गौरव रहा होगा। राजशेखर का यह श्लोक निम्न प्रकार है—

इह कालिदास-भर्तृमेष्ठी अत्रामर-रूप-सूर-भारवयः।  
हरिश्चन्द्र-चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

[काव्य मीमांसायाम् अ० १० पृ० ५५]

राजशेखर भर्तृमेष्ठ के बड़े भक्त और प्रशंसक थे। यह बात इन ऊपर उद्धृत किए हुए दोनों श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होती है। जल्दहा की सङ्गृहीत 'सूक्तमुक्तावली' में भी राजशेखर का नाम से एक पद्य मिलता है, जिसमें राजशेखर ने भर्तृमेष्ठ की सूक्तियों की तुलना 'सुणि' अर्थात् हाथी की हारने वाले प्रकुल से और कवियों की तुलना कुंजर से अर्थात् हाथी से की है। राजशेखर का कहना है कि जैसे 'सुनि' के समान पर हाथी वा। सिर धूमने लगता है इसी प्रकार भर्तृमेष्ठ की सूक्तियों को पढ़ कर कविकुंजर अर्थात् महाकवियों के सिर धूमने लगते हैं। अपनी इस सुन्दर रचना को उन्होंने श्लोक में निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"वक्त्रोक्त्या मेष्ठराजस्य बहुत्या सुणिरुपताम्।

साविद्धा इव धुनन्ति मूर्धनि कविकुजराः॥" [सूक्तमुक्तावली २-६४]

चार्यपर-पद्धति में भी भर्तृमेष्ठ ने नाम का उल्लेख निम्न श्लोक में पाया जाता है—

भासो रामिल-सोमिलो वररविः श्री साहसाङ्कः कविः

मेष्ठो भारवि-कालिदास-तरसाः इत्याः सुहृदगुणयः॥

दण्डी बाण-दिवाकरी गणपति\* शान्तश्च रत्नावरः  
सिद्धा यस्य सरस्वती रमवती के तस्य सर्वेऽपि ते ॥

[शार्ङ्गधरपद्धति १८८]

कवि पद्मगुप्तने भी—जिनका दूसरा नाम परिमल भी था—‘नवसाहसकचरित’ नामक अपने ग्रन्थ में भर्तृमेष्ठ का स्मरण बड़े आदर के साथ करते हुए उनकी प्रशंसा सूचक निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

सत्त्वस्पर्शस्ते कवय पुराणा

श्री भर्तृमेष्ठ प्रमुखा जयन्ति ।

निस्त्रिंशधारासदृशेन येषा

वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥

[नवसाहसकचरित ५]

भर्तृमेष्ठ सहस्र कवि ससार में सर्वोत्कर्षशाली हैं जिनकी बाणी तलवार की धार के समान वैदर्भी रीति का अवलम्बन करके प्रवाहित होती रहती है। इस पद्य में भर्तृमेष्ठ के काव्य में वैदर्भी रीति की प्रधानता सूचित करते हुए उसकी अत्यन्त प्रशंसा और उसके प्रति आदर भाव को प्रकट किया गया है।

उन्हीं पद्मगुप्त ने भर्तृमेष्ठ की प्रशंसा में दूसरा श्लोक निम्न प्रकार लिखा है—

पूर्णमुद्रिभ्वादिपि सुन्दराणि,

तेषामगूरे पुरतो यथासि ।

ये भर्तृमेष्ठादिकवीन्द्रसूक्ति—

ध्वत्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ॥”

[नवसाहसकचरित ६]

अर्थात् जो नवीन कविगण भर्तृमेष्ठ जैसे नवीन की सूक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हैं अर्थात् भर्तृमेष्ठ के समान वैदर्भी रीति का अवलम्बन करते हैं उनको शीघ्र ही पूर्णमा के चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर यश प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल राजशेखर ही भर्तृमेष्ठ के प्रशंसक हैं, अपितु पद्मगुप्त भी उनके वैसे ही भक्त और प्रशंसक प्रतीत होते हैं। ‘सूक्तश्रुत्तावली’ तथा ‘शार्ङ्गधरपद्धति’ भी भर्तृमेष्ठ का गुण-गान कर रही है। इन्हीं प्रसिद्ध कविराज भर्तृमेष्ठ ने ‘हयग्रीववध’ नामक महाकाव्य की रचना की थी।

काश्मीर के इतिहास ‘राजतरंगिणी’ में ऐसी कथा दी हुई है कि भर्तृमेष्ठ अपने ‘हयग्रीव वध’ नामक नवनिर्मित महाकाव्य को लेकर काश्मीराधिपति मातृगुप्त ■■■■■ यहाँ गए। वहाँ उन्होंने अपनी सारा महाकाव्य राजा की सुनाया, पर वहाँ उन्हें एक बार साधुवाद प्राप्त नहीं हुआ। तब उनको राजा की अरक्षितता और अपने अकविवश दोनों पर बड़ी श्लानि हुई। वे अपनी पुस्तक-पत्रे बाँधने लगे तो राजा ने उठकर एक सोने का पात्र उसके नीचे लगा दिया कि कहीं इस काव्य का साधुर्य नीचे न बिखर जाय। भर्तृमेष्ठ राजा के हृदय का भाव समझ कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और उन्होंने अनुभव किया कि मुझे मेरी रचना के अनुरूप आदर प्राप्त हो गया। इससे अपने को कृतकृत्य समझ कर बाद में राजा ने उनको जो धनादि दिया वह सब उनको पन्नावश्यक सा प्रतीत हुआ। राजतरंगिणीकार ने इस सुन्दर घटना का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

हयग्रीववध मेष्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम् ।

आसमाप्तिं ततो नापत् साधु सार्धिवति वा वच ॥

अथ अयमितु तस्मिन् पुस्तकं प्रस्तुते न्यषात् ।

सावध्यनिर्याणयिषा तदधः स्वर्णभाजनम् ॥

अन्तरजतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः ।

भर्तृमेष्ठः कविर्माने पुनरुक्तं त्रियोर्जणम् ॥

[राजतरंगिणी त० ३, २६०-२६२]

काव्यप्रकाश की 'वातबोधिनी' टीका में वामनाचार्य ने [पृ० ४४१] हयग्रीववध को नाटक बतलाया है। मसूर से 'राजकोष ग्रन्थमाला' में प्रकाशित काव्यप्रकाश में भी 'हयग्रीववध' का नाटक रूप में ही उल्लेख किया गया है। इसी कारण हमने भी अपनी काव्य प्रकाश की टीका में नाटक रूप में ही उसका निर्देश कर दिया है। किन्तु 'शृंगारप्रकाश', 'काव्यानुशासन' आदि प्राचीन ग्रन्थों से विदित होता है कि यह नाटक नहीं, अपितु 'सर्गबन्ध' महाकाव्य है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में [अ० ८ पृ० ३३७] 'संस्कृतभाषानिवद्धसर्गबन्धं हयग्रीववधादि' लिख कर ग्रन्थकार ने इसे स्पष्ट रूप से श्रेष्ठ काव्य ही सूचित किया है। भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश' में भी 'हयग्रीववध' का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। वहाँ भी इसे महाकाव्य ही माना है। 'शृंगारप्रकाश' के कुछ स्थल, जिनमें 'हयग्रीववध' की चर्चा की गई है निम्न प्रकार हैं—

"हयग्रीववधादयो महादेशादीनार्मतिहासिकं चरितमावेदयन्ति ।"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० १२, पृ० १६८]

"भासीद् दैत्यो हयग्रीवः—"

[शृं० प्र० ११, पृ० १४८]

राजिवर्णनं किरातकुंभीय-कुमारसम्भन-विशुपासबध-हयग्रीववधादी ।"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० ११, पृ० १५२]

यस्मिन् इतिहासार्थनपेशलान् पेशलान् कविः कुप्यते ।

स हयग्रीववधादिप्रबन्ध इव सर्गबन्धः स्यात् ॥"

[शृङ्गारप्रकाश प्र० पृ० १५६]

कवि क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त तिलक' [३, १६] में सर्गबन्ध महाकाव्य के आरम्भ में अनुष्टुप के प्रयोग का उदाहरण देते हुए हयग्रीववध का 'भासीद् दैत्यो हयग्रीवः' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि 'हयग्रीववध' नाटक नहीं, काव्य है।

श्री महक कवि ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' में अत्यन्त श्रद्धा के साथ भर्तृमेष्ठ कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है—

मेष्ठे स्वाद्विरसाधिरोहिणि, बंशं याते सुबन्धो विपेः

छाग्रे हन्त च भारवी, विपटिते आग्रे विवादसुखाः ।

वाग्देव्या विरमन्तु यत्र विधुरा द्राग् दृष्टयस्वेष्टे

शिष्टः कश्चन् स प्रसादयति तां यद्वाणि सदाणिनी ॥

ऐसे महाकवि ये भर्तृमेष्ठ, जिनका यद्योगान संस्कृत साहित्य के अनेकानेक कवियों ने मुक्तकण्ठ से किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार भस्मट की दृष्टि में मेष्ठकवि जंघे नहीं। उन्होंने दो तीन जगह मेष्ठकवि का उल्लेख किया है पर वह प्रशंसा-व्यंजक नहीं है। सबसे पहिले काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में उन्होंने सबसे निष्ठुर चित्र काव्य का जो उदाहरण दिया है वह हयग्रीववध में से शोज कर निकाला है—

विनिर्गतं मानदभारमन्दिराद्

मयस्युपयुत्य यदृच्छयापि यम् ।

स-सम्प्रभेन्द्रद्रुतपातितार्गवा

निमोलितादीव मियामरावती ॥

यह दलोक टीकाकारों के अनुसार भूतमेष्ट के 'हृयग्रीववध' से लिया गया है। दलोक में कवि ने यह भाव प्रस्तुत किया है कि जिस समय हृयग्रीव अपने प्रासाद से केवल धूमने के लिए हो निकलता था और उसका समाचार यदि इन्द्र को बता चल जाता था तो इन्द्र इतना भयभीत हो उठता था कि सैकड़ा नौकर-चाकरो के होते हुए भी भाग कर अपनी नगरी अमरावती का फाटन बंद कर देता था, और उस फाटन के बन्द होने पर कवि यह उत्प्रेक्षा करता है कि मानो हृयग्रीव के डर के कारण अमरावती नायिका ने अपनी भाँखें भीच ली हैं।

हृयग्रीव के प्रमावातिशय का वर्णन कवि ने बितने सुन्दर ढंग से किया है। नगरी का द्वार बंद करने के लिए इन्द्र की उतावली, और अमरावती के भय से घास भीचने की उत्प्रेक्षा, इस पद्य में कुछ खमत्कार दिखता नहीं है। पर काव्यप्रकाशकार ने उसे अथम काव्य की कोटि में रखा है।

जैसा कि ऊपर पृष्ठ ५० पर उद्धृत गृह्यप्रकाश के उद्धरण से विदित होता है कि 'हृयग्रीववध' में महादेव के ऐतिहासिक चरित का वर्णन किया गया है, हृयग्रीव इसमें प्रतिनायक है। 'क्षिप्रपालवध' आदि के समान इस काव्य का नामकरण भी नायक नहीं अपितु प्रतिनायक के नाम पर हुआ है। इससे नायक महादेव हैं। उनके द्वारा हृयग्रीव का वध इसमें दिखलाया गया है। किंतु उसके वध के पूर्व हृयग्रीव के प्रवातिशय का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने रसदोषों के प्रसङ्ग में 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति' दोष के उदाहरण रूप में फिर 'हृयग्रीववध' का ही उल्लेख किया है।

"अङ्गस्याऽऽपानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हृयग्रीववधे हृयग्रीवस्य ।"

[काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल स० पृ० ३६२]

इन सब उल्लेखों से प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश मम्मट की दृष्टि में हृयग्रीववध एक नितात निम्न श्रेणी की कृति है। हमारे प्रस्तुत नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं। मम्मट ने हृयग्रीव के जिस अतिशय वर्णन को रस दोष माना है, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने उसे दोष न मान कर रस का उत्कर्षायायक गुण माना है। उनके मत में हृयग्रीव के प्रतिशय वर्णन को यदि दोष ही कहा जाय तो वह 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा का दोष हो सकता है, रस का दोष नहीं। रस की दृष्टि में तो वह वर्णन शीरसरस का उत्कर्षायायक ही है अपरंपरकारक नहीं। इसी प्रसङ्ग में 'नाट्यदर्पण' में केवल एक बार हृयग्रीववध का उल्लेख नाट्य-दर्पणकार ने किया है। मम्मट ने जिसे 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति' दोष कहा है उसे नाट्यदर्पणकार ने 'अङ्गीम्बू' नाम से निर्दिष्ट किया है। इससे उदाहरण रूप में उन्होंने 'व्यासराज' से जटायुवध, सदन-शक्तिभेद, सीताविपत्ति श्रवण आदि से उत्पन्न बार-बार कथित वदण रस का प्रतिशय को प्रस्तुत किया है, और उससे बाद काव्यप्रकाशकार के मत का सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा है—

'केचिदत्र हृयग्रीववधे हृयग्रीववर्णनमुदाहरति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायक-स्यात्परवर्णनात्। तत्र हि वीरो रसः, स विशेषतो बन्धस्य धीर्देविभूयतिशयपाननेन नूयते ।"

[नाट्यदर्पण ३-१३]

अर्थात् [काव्यप्रकाश कारकादि] कुछ लोग 'हृयग्रीववध' में हृयग्रीव के वर्णन को रस 'अङ्गीम्बू' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं किन्तु वह वृत्त अर्थात् कथा भाग का दोष है, क्योंकि कथा के नायक का वर्णन उसमें कम किया गया है। वह रस का दोष नहीं है। क्योंकि वृत्त 'हृयग्रीववध' का मुख्य रस शीर रस है, शीर वष्य के शीघ्र, शीघ्र, विभूति आदि का प्रतिशय वर्णन से उस मुख्य शीर रस का उत्कर्षायायक हो होता है अपरंपर नहीं। इसलिए हृयग्रीव का प्रतिशय वर्णन रस दोष नहीं कहा जा सकता है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मति है।

भर्तृमेष्ठ अपनी रसवती रचना के लिए ही तो इतने प्रसिद्ध है। यदि वे मम्मट के अनुसार केवल प्रथम चित्रकाव्य के निर्माता होते तो क्या उन्हें इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हो सकती है ? और क्या राजशेखर जैसे मनस्वी कवि का सिर जो कि अपने की वात्मीक का अवतार मानता है भर्तृमेष्ठ के सामने प्रेक्षा से झुक सकता था। और क्या उस नीरस प्रथम काव्य को सुनकर ही 'प्राविद्धा इव ध्रुवन्ति मूर्धनि' कविकुञ्जराः की उक्ति चरितार्थ हो सकती थी ? ये सब उक्तियाँ भर्तृमेष्ठ की इस महती रचना की अपूर्व रसवत्ता की परिचायिका हैं। मम्मट ऐसे आलोचक हैं, जो अपनी 'दोषदृष्टि' के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध या बदनाम हैं। अपनी इसी 'दोष दृष्टि' के कारण 'हयग्रीव वध' में उन्हें सर्वत्र दोष ही दोष दिखालाई दिए हैं। पर राजशेखर, पद्मगुप्त, बिल्हण आदि अन्य कवियों एवं आलोचकों की दृष्टि में भर्तृमेष्ठ एक 'रससिद्ध कवीश्वर' है। ऊपर 'राजतरंगिणी' से मातृगुप्त तथा भर्तृमेष्ठ की जिस कथा का उल्लेख किया गया है वह भी इसी बात की पुष्टि करती है। 'लावण्यनिर्माणधिया तदयः स्वर्णमाञ्जनम्' की बात भी तो हयग्रीववध की प्रतिशय रसवत्ता को ही सूचित कर रही है। बडोदा से प्रकाशित 'उदय मुन्दरी कथा' में उसके निर्माता काव्यस्य कवि सोद्वल ने भी तो भर्तृमेष्ठ की इस 'रससिद्धता की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

‘स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे  
प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेष्ठः ।  
रसप्लवेषि स्फुरति प्रकाम,  
वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥’

इस प्रकार के बहुप्रशंसित, बहुचर्चित और बड़े बड़े कवियों के ध्यामाञ्जन भर्तृमेष्ठ की एकमात्र कृति को प्रथम काव्य की श्रेणी में रखना और उससे रसदोषों का अनुमन्थान करना मम्मट की केवल दोषदृष्टि की विशेषता को ही प्रख्यापित करता है। भर्तृमेष्ठ तो अब भी 'कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे'—कविता के अपूर्व चित्रकार है। जिनके चित्र में 'रसप्लवेषि' रस का प्रवाह भरा होने पर भी, और दूसरे पक्ष में पानी पड़ जाने पर भी 'स्फुरति प्रकाम वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव' वर्णों की, और दूसरे पक्ष में चित्र के रथों की चमक बँसी ही बनी रहती है तनिक भी मलिन नहीं हो पाती है।

#### उपसंहार

यह ३५ नाटकों और काव्यों का परिचय हमने यहाँ उपस्थित किया है। इन ग्रन्थों का उल्लेख संस्कृत साहित्य के अनेकानेक ग्रन्थों में पाया जाता है। भाज से ८०० वर्ष पूर्व १२वीं शताब्दी में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र के समय में ये ग्रन्थ उपलब्ध थे। ग्रन्थकार ने उनमें से अनेक उद्धरण स्वयं दिए हैं। परन्तु भाज तक ये ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। सम्भवतः उपलब्ध भी नहीं हुए हैं। अन्यथा उनका प्रकाशन अवश्य होता। इतने सुप्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों का इस ८०० वर्ष की बीच में सर्वथा लोप हो जाना आश्चर्य की बात है, या फिर उनकी प्रतः उपलब्ध न होना हमारे प्रमाद की सूचक है। नाट्यदर्पणकार ने इन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का नाम और परिचय हमको दिया, इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। अब हमकी खोज करना और उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना हमारा काम है। आशा है विद्वज्जन इस दिशा में विशेष रूप से प्रयत्न करेंगे ताकि उनकी उपलब्धि सर्वसाधारण को हो सके।



## सम्पादकीय

### (क) नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग

नाट्यदर्पण अपने नाम के अनुरूप नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारों ने चार विवेकों में विभक्त किया है। इन्होंने रूपक के दस भेदों में नाटिका और प्रकरणी को जोड़कर इसके कुल बारह भेद स्वीकार किये हैं। इन जैन लेखकों ने इतनी सख्या शायद इसलिए गिनायी है कि 'जैनी' वाणी के भी १२ रूप माने गये हैं। ग्रन्थ के प्रथम विवेक में 'नाटक' नामक प्रथम रूपक भेद का स्वरूप एवं विवेचन प्रस्तुत किया है और द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' आदि छेप ग्यारह भेदों का। तृतीय विवेक में रसवृत्ति, रस, रस शेष तथा अभिनय का विवेचन है तथा चतुर्थ विवेक में रूपकोपयोगी ग्रन्थ सामग्री का, जिसके अन्तर्गत नायक नायिका भेद को भी स्थान मिला है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक सम्बन्धी प्रचलित सामग्री को एकत्र निरूपित, व्यवस्थित एवं विवेचित किया गया है। कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्थान ग्रन्थ के प्रमुख विषय रूपक को ही मिला है। इस दृष्टि से दूसरा स्थान रस का है और तीसरा स्थान नायक-नायिका भेद का। उक्त विषयों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य विषयों पर भी आनुपमिक रूप से प्रकाश पड़ गया है, जैसे—काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, कवित्व-महिमा, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य, अनौचित्य, शेष आदि। इस लेख में रूपक के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रसंगों पर ग्रन्थकारों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

#### १. काव्यप्रयोजन

इस ग्रन्थ में काव्यप्रयोजन-प्रसंग को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला। ग्रन्थ के निम्नोक्त मंगलाचरण—

चतुर्वर्गकला नित्या जैनी वाचस्पतास्महे ।

रूपैर्द्वादशभिर्विद्व यया भ्याम्ये धृत पाव ॥

—में ग्रन्थकारों ने 'जैनी वाणी की उपासना करते हुए इसे चतुर्वर्ग कला-प्रदायिनी कहा है और अपनी वृत्ति में इस कला को अभिनेय वाक्य अर्थात् दृश्यकाव्य के साथ भी सम्बद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मतभ्य इस प्रकार है।

१. दृश्य काव्य द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों फल तो प्राप्त होते ही हैं, इससे मोक्ष-प्राप्ति भी होती है।

२. मोक्ष-प्राप्ति का एक कारण तो यह है कि इससे सहृदय की शिक्षा मिलती है कि रामादि के समान आचरण का ग्रहण करना चाहिए और रावणादि के समान आचरण का त्याग। दूसरा कारण यह है कि धर्म नामक पुरुषार्थ की स्वीकृति कर लेने पर इसके द्वारा परम्परा-रूप से मोक्ष-प्राप्ति भी सम्भव है।<sup>१</sup> हाँ मोक्षप्राप्ति रूप फल धर्म की अपेक्षा गोण फल होता है।<sup>१</sup>

१. अयामभिनेयवाचपरतया इलोकोऽय व्याख्यायते । यद्यपि साक्षाद् धर्माधिकारमकलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् वतितम्य न रावणवद्' इति हेयोपादेयहानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽयि पारम्पर्येण फलम् । —हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ११

२. मोक्षस्तु धर्मकार्यस्यात् गोण फलम् । —यही, पृष्ठ २१

३. 'जैनी' वाणी के अनुरूप काव्य के द्वारा भी इन पुरुषार्थों में से रचयिता अथवा पाठक को वही फल प्रदानता से प्राप्त होता है जो उसे अभीष्ट होता है और शेष फल उसे गौण रूप से मिलते हैं ।<sup>१</sup>

४. 'जैनी' वाणी से तात्पर्य काव्य नाटक भी लिया जा सकता है, क्योंकि यह वाणी (रचना) भी 'जिनो' अर्थात् राग आदि के विजेताओं—काव्यनाटककारों—की होती है ।<sup>२</sup>

काव्यप्रयोजनो में पुरुषार्थचतुष्टय को सर्वप्रथम भाग्य ने स्थान दिया था और इनके उपरान्त रुद्र और कुन्तक ने । अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़ कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्य-प्रयोजन माना था । रामचन्द्र-मुण्डक के उपरान्त विश्वनाथ ने भी पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया । इन चारों में से अर्थप्राप्ति ऐसा प्रयोजन है, जिस पर कोई विवाद नहीं किया जा सकता । 'धर्म' से तात्पर्य यदि 'धर्मते इति धर्मः' अर्थात् शुभ कर्तव्य का पालन है, तो यह काव्य का साक्षात् प्रयोजन न होकर भ्रमाक्षात् प्रयोजन है । कर्तव्य वस्तुतः उस कर्म का नाम है जिसे हम दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश द्वारा करते हैं तथा दूसरों के उपकार के लिए करते हैं, किन्तु काव्य-सर्जन अन्तःप्रेरणा से प्रसूत होने के कारण न तो दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश की अपेक्षा रखता है और न इसके द्वारा दूसरों का उपकार करना कवि का प्रमुख उद्देश्य होता है । और यदि 'धर्म' से तात्पर्य 'पुण्यफल-प्राप्ति' लिया जाए तो इसे भाज के बुद्धिवादी पुनः का मानव स्वीकार नहीं करेगा । ठीक यही स्थिति 'मोक्ष' नाम काव्यप्रयोजन की भी माननी चाहिए, क्योंकि स्वयं प्रण्यकार ने धर्म और मोक्ष में कारण-कार्य सम्बन्ध स्वीकार किया है । शेष रहता है एक पुरुषार्थ—'काम' अर्थात् अभीष्ट फल की प्राप्ति । 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति यह अभिप्राय लिया जाए तो इसे प्रकारान्तर से अलौकिक आनन्द-प्राप्ति का पर्याय मान सकते हैं जिसे भट्ट ने 'सद्यःपरनिवृत्ति' नाम दिया है । वस्तुतः यही फल काव्य का प्रमुख एवं अभीष्ट प्रयोजन है । किन्तु नाट्यदर्पण में इसे स्पष्ट शब्दों में स्थान नहीं मिला ।

इस शून्य के इस प्रसंग में उपर्युक्त एक विशेषता उल्लेखनीय है कि जो सहृदय जिस फल प्राप्ति के लिए काव्य-निर्माण अथवा काव्य-पठन करता है उसे वही फल तो प्रमुख रूप से मिलता है और शेष फल गौण रूप से । निस्सन्देह उनकी यह धारणा अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में देखने को नहीं मिलती । किन्तु 'यादवी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इस कथन पर भी भाज का बुद्धिवादी मानव पूर्ण आस्था एवं विश्वास नहीं रखता । दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने काव्य-नाटक की रचना को भी 'जैनी' वाणी इसलिए कहा है कि यह राम आदि के विजेताओं की वाणी होती है । प्रण्यकारों ने यद्यपि श्लेष के बल पर ही यह खँचतान करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी यह धारणा निस्सन्देह भ्रान्त है । काव्य-नाटक प्रणेतृ इनके प्रणयन के समय साप्ताहिक राग-द्वेष, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि दुन्दुभे से ऊपर उठ चुका होता है । चित्त की एकाग्रता के बिना वह कवि-भ्रम भी नहीं कर सकता । समाधि की अवस्था अथवा वेद्यान्तरस्पर्शपूर्णता इस कर्म के लिए नितान्त अनिवार्य है । तदवस्था इस कर्म की आधारशिला है । यही कारण है कि किसी उद्देश्य को सदैव में रख कर रचित ग्रन्थ अथवा काव्य-नाटक वास्तविक 'काव्य' कहाने के अधिकारी नहीं होते । ऐसे वाद्यों से सामग्रदायिजता अथवा 'प्रापेयण्डा' ने दुर्गन्ध की लपटें उठा करती हैं ।

१. इष्टसत्सलत्वाच्च कस्यचि यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रदानम् । —यही, पृष्ठ ६

२. जिनानां रागादिर्विजृम्भां सत्सलप्रणयनापेक्षया 'जैनी' । —यही, पृष्ठ ११

## २. काव्यहेतु

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्यहेतुओं का निरूपण किया है उनमें से दण्डी वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट का नाम उल्लेख्य है। मम्मट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का सारग्रहण करते हुए केवल तीन काव्यहेतु निर्दिष्ट किये थे—शक्ति, निपुणता और धम्म्यास। नाट्यदर्पण के रचयिताओं ने इस और स्पष्ट संकेत नहीं किया। ग्रन्थारम्भ में काव्यनाट्य-निर्माण पर चलना-सा प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि 'जो कवि निर्घन से लेकर राजा तक की 'श्रीचिती' धर्मात् उनके सामान्य व्यवहार से अवगत न होते हुए भी काव्य-निर्माण की वागमना करते हैं, वे विद्वज्जनो के उपहास के पात्र बनते हैं—

धारक्याद् भूपतिं यावदौचित्यं न विदन्ति ये ।

स्पृहयन्ति कवित्वाय, खेलनं ते मुनेषसाम् ॥ १।८

तथा जो नाटककार न तो पीत, वाद्य, नृत्य आदि जानते हैं, न लोकस्थिति से परिचित हैं, और न प्रबन्धों धर्मात् नाटकों का अभिनय ही कर सकते हैं वे भी नाटक-रचना करने के अधिकारी नहीं हैं—

न गीतवाद्यनृसत्ताः, लोकस्थितिविदो न ये ।

अभिनेतुं च कतुं च प्रबन्धास्ते बहिर्मुखाः ॥ १।५

उपयुक्त दोनों पद्यों में दो काव्यहेतुओं की प्रकारान्तर से चर्चा हुई है : गीत, वाद्य, नृत्य (नृत्त) अभिनय आदि का क्रियात्मक ज्ञान तथा एक से राजा-पर्यन्त लोक-व्यवहार से परिचित। इन दोनों हेतुओं को रुद्रट और कुन्तक के शब्दों में अधिकांश सीमा तक 'व्युत्पत्ति' कह सकते हैं और मम्मट के शब्दों में 'निपुणता'। पूर्ण सीमा तक इसलिये नहीं कि इन आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' और 'निपुणता' के अन्तर्गत लोक-व्यवहारज्ञान के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पठन-पाठन भी सम्मिलित किया है। अस्तु 'रामचन्द्रगुणचन्द्र के उपयुक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि उन्हें केवल 'व्यवहार ज्ञान' को ही काव्यहेतु मानना समीष्ट होगा और शेष दो को, प्रतिभा और धम्म्यास को, नहीं। जैसे कि ऊपर कह आये हैं उनका उद्देश्य काव्यहेतुओं का निरूपण करना नहीं था, केवल कवित्व-महिमा प्रकरण में उन्होंने इस प्रसंग की चर्चामात्र कर दी है। निस्तन्देह शक्ति अथवा प्रतिभा काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु है, और लोकज्ञान तथा इसके साथ साथ 'धम्म्यास' गीण हेतु हैं, किन्तु इन दोनों से शक्ति का परिष्कार एवं सत्कार होता है—यह भी असन्दिग्ध रूप से सत्य है।

प्रतिभाऽस्य हेतुः । व्युत्पत्त्यध्यासाभ्यां सत्कारार्थः ।

—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृष्ठ ६

## ३. कवित्व-महिमा

विद्वज्जनो को शास्त्रज्ञान के साथ कविकर्म में भी निपुण होना चाहिए, इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में इन शब्दों में चर्चा की गयी है—जिस प्रकार सावर्ण्य जारी का प्राण है उसी प्रकार कवित्व सकल विद्याओं का प्राण है। यही कारण है कि तीनों विद्याओं धर्मात् तीनों वेदों के ज्ञाता भी सर्वदा कवित्व निर्माण की अभिलाषा रखते हैं। सत्य तो यह है कि कवित्व निर्माण का अभाव विद्वानों के लिए एवम ऐसा बलक है जैसा कि नासिका के ऊपर कोढ़ का होता है, अथवा यह प्रभाव ऐसा है जैसे किसी मुकनपनी के शरीर पर कुर्चों का प्रभाव हो। [और शायद इसी कलक

इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाना है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है, तो भावसाम्य के आधार पर किसी की भ सना क्यों की जाए ? भावसाम्य का एक कारण तो मानव मन का ऐश्व है । विभिन्न देश और काल में वर्तमान व्यक्तियों ने जो कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से अप्रभावित हैं एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये हैं । निस्सन्देह इस प्रकार का भावसाम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नहीं है । कभी कोई बात, कोई घटना प्रत्येक कोई विचार पढ़ा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने पर जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थितिवश जाग्रत होकर प्रत्यास वाणी प्रत्येक लेखनी द्वारा निमृत् हो जाता है और भाव साम्य का कारण बन जाता है । किन्तु इस प्रकार की साम्यता पर मानव का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि न तो वह दूसरे के विचारों को अपने मन में संस्कार रूप में प्रयुक्त होने से रोक सकता है और न ही उन्हें अभिव्यक्त होने से । कभी हम दूसरे के विचारों को पढ़ और सुनकर उन्हें नवीन एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन करने के लिए साक्षात्पित हो उठते हैं और उन्हें निबन्ध, कविता, नाटक, कहानी उपन्यास आदि के रूप ढाल देते हैं । निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व भावों को नवीन दिशा मिलती है, हमारी कल्पना का संयोग पा कर ये भाव वहीं अधिक स्पष्ट, विघट, शास्त्र एवं प्रभावशाली बन जाते हैं । इस पुनराख्यान प्रक्रिया को धाँहें तो मौलिकता का नाम भी दे सकते हैं । पूर्वज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप में प्रतिपादित हो जाए तो इसे 'मौलिकता' मान लेने में अहित प्राप्ति भी नहीं होनी चाहिए । अब केवल दोष एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भत्सनीय है, वह है—दूसरे के भावों का साहस क्लेश बदल देना, दूसरे के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरों की वाक्यवली के स्थान पर अपनी वाक्यवली को रखते चले जाना और हम दम्भ की भाँव में कवि और विचारक कहलाना । यह प्रवृत्ति पूर्णतः त्याज्य है ।

#### ४ अलंकार

अर्थ के मूल भाग में निम्नोक्त स्थलों पर अलंकार की चर्चा हुई है

१. कथा आदि का मार्ग अलंकारों द्वारा कोमल होने के कारण सुवपूर्वक सचरणीय है किन्तु नाटक का मार्ग रस की कल्पना से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त कठिन है ।<sup>१</sup>

२. वह वाणी जो श्लेष अलंकार से युक्त होने पर भी रसप्रवाह से रहित होने के कारण बँडोर हाती है वह [भोक्ता के] मन को उस प्रकार प्रफुल्लित नहीं करती जिस प्रकार दुर्भंग [अर्थात् यौन रस न निजसने के कारण बँडोर भग वाली] स्त्रियाँ [पुरुषों को आह्लादित नहीं करती] ।<sup>२</sup>

३. नाटक नामक रूप में अलंकारों द्वारा रस का गहन अर्थात् स्तलन प्रत्येक भग नहीं होना चाहिए ।<sup>३</sup> अलंकारकयाङ्गैर्यत्नदूरतम् । १।१५।

१ अलंकारमृदु पण्या कथादीनां सुष्ठुञ्चर ।

दुष्ठञ्चरस्तु नाट्यस्य रसवत्सलोत्तमकुल ॥ १।३

२ श्लेषालंकारमात्रोऽपि रसानिस्पन्दकंक्षा ।

दुर्भंगा इष कामिय प्रीणति न मनो मिर ॥ १।७

उक्त स्थलों के प्रतिरिक्त निम्नोक्त दो ग्रन्थ स्थलों में भ्रमंकार की चर्चा साक्षात् न हो कर प्रसाक्षात् रूप से हुई है :

१. जो कवि (नाटककार) नानाविध शब्द तथा अर्थ के लौल्य (चमत्कार) के कारण रस रूप प्रभृत से पराङ्मुख हो जाते हैं वे विद्वान् होते हुए भी उत्तम कवियों की गणना में नहीं आते ।<sup>१</sup>

२. काव्य (नाटक) में अर्थ और शब्द की उत्प्रेक्षा (कल्पना) इतनी दलाध्य नहीं है जितना कि रस दलाध्य है । पका हुआ और सुन्दर भी भ्राम यदि रस-शून्य हो तो [भोक्ता के मन में] उसके प्रति उद्बुधना (धृणा, अरुचि) उत्पन्न हो जाती है ।<sup>२</sup>

इन दोनों स्थलों में शब्द और अर्थ के लौल्य (चमत्कार) और इनकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से ग्रन्थकारों का तात्पर्य शब्दालंकार और अर्थालंकार से ही है ।

ग्रन्थ के मूलभाग में ग्रन्थ भी 'भ्रमंकार' शब्द का प्रयोग हुआ है, पर वहाँ इस शब्द से तात्पर्य है—नायिका के यौवनस्थ भाव, हाव आदि २० धर्म जो तीन रूपों में विभक्त किये गये हैं ।<sup>३</sup> किन्तु प्रस्तुत प्रकरण से इन भ्रमंकारों का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के पोषाकारक धर्म न होकर नायिका के व्यक्तित्व के पोषाकारक धर्म हैं ।

उपयुक्त उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में कथा की अपेक्षा नाटक को इस आधार पर उत्कृष्ट माना गया है कि रस के बिना भी केवल भ्रमंकार-प्रयोग के बल पर कथा का निर्माण हो सकता है किन्तु नाटक के लिए रस एक अनिवार्य तत्त्व है । वस्तुतः यह धारणा संस्कृत के दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि कथा-प्राक्यायिका साहित्य को सक्ष्म में रखकर प्रस्तुत की गयी प्रतीत होती है, जिनमें भ्रमंकारों का प्रतिशब्द प्रयोग हुआ है । इसका एक कारण पाठक की दृष्टि से या और दूसरा कारण कवि की दृष्टि से । यह साहित्य सामान्य स्तर से उच्च वर्ग के लिए निमित्त होना था । इनसे एक ओर ये पाठक अनुप्रास, यमक, वनेप, परिसंख्या, विरोधाभास आदि से चमत्कृत होते नहीं प्रयाते थे, और उधर दूसरी ओर 'गर्ल कवीना निकयः वदन्ति' इस उक्ति के आधार पर भ्रमंकार की सिद्धि एवं प्रशंसा का आधार भ्रमंकार-प्रयोग द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन समझा जाने लगा था । किन्तु उक्त धारणा वर्तमान कथा-साहित्य के लिए नितान्त उपयुक्त नहीं है । नाटक के समाग इसके लिए भी रस-तत्त्व का समावेश नितान्त अनिवार्य है, और भ्रमंकार की इसे भी विशेष अपेक्षा नहीं रहती । इसी प्रकार प्रबन्धकार और मुक्तककार कवियों में भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसी प्रकार का ही प्रत्यक्ष निर्देश<sup>४</sup> किया है जो कि युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता ।

१. भानार्थशब्दलौल्येन पराङ्मुखो ये रसामृतात् ।

विद्वान्स्ते कवीद्राणामर्हन्ति न पुन कथाम् ॥ ना० द० १।६

२. न तपार्थशब्दोत्प्रेक्षाः इताप्याः काव्ये यथा रसः ।

विपाककन्धमप्यात्र उद्बुधयति नीरसम् ॥ ना० द० ३।२२

३. ना० द० ४।२७, २८

४. × × × × × । योग्यतां च रसनिवेशकव्यवसायिन प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुन शब्दार्थप्रपन्न वैचित्र्यमाशोभ्यविष्णवो मुक्तकवयः ।

उक्त द्वितीय उद्धरण में रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए प्रचारान्तर से अलंकार को रस की अपेक्षा दो स्थितियों में अनुकूल माना गया है :

- (क) रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं,  
(ख) अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है ।

ये दोनों धारणाएँ रस-सिद्धान्त के ही अनुकूल प्रस्तुत की गयी हैं ।

अलंकारवादियों ने सभी काव्य-शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' की संज्ञा देते हुए किसी विशेष वाक्यांग को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया था । उनकी दृष्टि में न केवल अनुप्रास एवं उपमा आदि ही अलंकार थे, अपितु शृंगार, रीति, रस, ध्वनि, नाट्यशक्ति आदि ये सभी वाक्यशोभाकर होने के कारण 'अलंकार' नाम से अभिहित किये गये थे । अतः उनके अनुसार यदि किसी वाक्यांग को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत करना चाहें तो उसका नाम 'अलंकार' ही होगा । चाहे वह अनुप्रास-उपमा आदि का वाचक हो, अथवा शृंगार, रीति, रस और ध्वनि का । किन्तु इधर रसवादियों ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा अर्थात् अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत किया, तथा अलंकार को सज्जनों का आभूषण धर्म मानते हुए प्रचारान्तर से इसे रस का भी उत्कर्षक मान लिया और वह भी नित्य रूप से नहीं । नित्यरूप से अलंकार को रस का उत्कर्षक धर्म न मानने का कारण यह है कि यह सज्जनों का शोभावर्द्धक होते हुए भी कभी तो रस का उत्कर्ष करता है, कभी नहीं करता और कभी इसका अपकर्ष भी कर देता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बटुक-मुण्डल आदि कामिनी के शरीर के शोभावर्द्धक होते हुए उसकी मन स्थिति के अनुसार कभी उसकी आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, कभी नहीं करते और कभी अपकर्ष भी करते हैं ।

रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध निर्देश प्रसंग में अलंकारवादियों का यह मतव्य भी उल्लेखनीय है कि वे रस, भाव आदि को अंगभूत और अंगभूत दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए इन्हें निम्न रूप से 'अलंकार' में अन्तर्भूत करते थे—अंगभूत रस को रसवद् अलंकार में, अङ्गीभूत भाव को प्रेक्षवद् में, अङ्गीभूत रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वी में, अङ्गीभूत भावशान्ति को समाहित में । इनके अतिरिक्त अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावसमता को इन्होंने नामों के ही अलंकारों में अन्तर्भूत किया गया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अङ्गीभूत रस, भाव आदि सब को द्वितीय उदात्त अलंकार ही में अन्तर्भूत किया । किन्तु वस्तुतः रस, भाव आदि से जग्य चमत्कार निरान बाह्य न होकर निरान्त आन्तरिक है । अलंकार की रचना अनिवार्यतः कवि के साक्षात् सन्दर्भ-योजन पर प्राप्य है और उसका चमत्कार नाद तथा धर्म पर । किन्तु इधर रसपूर्ण काव्य की रचना के लिए सन्दर्भयोजन अनिवार्य तत्त्व नहीं है, और इसका आस्वाद नाद एवं धर्म पर प्राप्य न होकर व्यङ्ग्यार्थ पर प्राप्य है । सन्दर्भयोजन यदि अलंकार न भी हो, तो भी सरस रचना व्यङ्ग्यार्थ के बल पर सहृदय के लिए आस्वाद प्रदान की क्षमता रखती है । 'प्राप्यायेन व्यपदेशा भवन्ति' इस सिद्धांत के अनुसार यह निष्कर्ष निर्विरोध निकाला जा सकता है कि एक ओर अलंकार' अविविष्ट है तो दूसरी ओर 'रस' सहृदय विष्ट । मूलतः इन्होंने प्राप्यों पर रसवादी रस को अलंकार में अन्तर्भूत करने के विरुद्ध है । उन्होंने रस की काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अलंकार की अनिवार्य रूप में इसका उत्कर्षक धर्म मान लिया । अतः उन्होंने

मङ्गीभूत रस, भाव आदि को इन्हीं नामों से ही अभिहित किया। हाँ, मङ्गीभूत रस, और भाव को इन्होंने क्रमशः रसवद् और प्रेयस्वद् भलंकार नाम दिया, रसभास तथा भावभास को ऊर्जस्वी भलंकार और भावशान्ति को समहित भलंकार। इसके प्रतिरिक्त भावोदय आदि तीनों को मङ्गीरूप में वर्णित होने पर इन्हीं नामों के ही भलंकारों से अभिहित किया गया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रसवद् भलंकारों को अनुप्रास तथा उपमा आदि के समान चिन्तकष्य का ग्रंथ न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य के 'अपरस्थाङ्ग' नामक भेद का ग्रंथ स्वीकार करके मङ्गीभूत प्रकाशान्तर से यह भी संकेत किया कि ये भलंकार अनुप्रास, उपमा आदि भलंकारों की अपेक्षा उच्च भाव-भूमि पर अवस्थित हैं—क्योंकि इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ असे ही गौण हो, किन्तु अनुप्रास, उपमा आदि के समान इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्टता नहीं होती। अस्तु।

रसवादी आचार्यों का भलंकार के प्रति यही दृष्टिकोण है, और इसी के ही आधार पर रामचन्द्रगुणचन्द्र की उक्त कथन में प्रकारान्तर से स्वीकृति है कि रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, भलंकार नहीं।

( २ )

अब रामचन्द्रगुणचन्द्र की दूसरी धारणा को लें कि भलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वादा में बाधक बनता है। दूसरे शब्दों में, भलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही रस का उत्कर्ष कर सकता है, अनौचित्यपूर्ण प्रयोग नहीं। इस सम्बन्ध में वामन, भोजराज और क्षेमेन्द्र के निम्नोक्त कथन अवलोकनीय हैं :

आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुवास हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन सब भलंकारों का अधिकारी है, न किसी वृत्ति का शरीर और न किसी नारी का यौवनवन्ध्य वपुः।<sup>१</sup> इसर सखीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रहता है—अंजन की कालिमा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है मय्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीन पयोधरो पर सुशोभित होते हैं अन्यत्र नहीं—

दीर्घाचार्य नयनसुगलं-भूषणरयञ्चनयोः

सुक्लामोगी प्रभवति कुचावचितं हारयष्टिः। स० क० भ० १:१६०

किन्तु इसके विपरीत कण्ठ में मेलला का, नितम्बफलक पर सुन्दर हार का, हाथों में मृगुरों का, चरणों में केमुरों का अवधारण कितना कुसूप, महा और हास्यप्रद बनेगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है।<sup>२</sup>

१. (क) तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलावपेतमपि न भाति, भलंकार्यस्याभावात्।

वृत्तिशरीरं कटकादिषुक्तं हास्यावहं भवति, भलंकारस्य अनौचित्यात्।

(ख) वपुर्विव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः। का० सू० दृ० ३:१:२ (वृत्ति)

२. कण्ठे मेललाया नितम्बफलके सारेण हारेण वा।

पाणी मृगुरवन्धनेन चरणे केमुरपद्मेन वा॥

दीर्घेण प्रणते रिशे कुरुष्या, नायान्ति के हास्यतां,

श्रीचित्रेण विना रश्चि प्रतनुते, नासंकृतिर्नोमुखाः॥

उन तीन कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव एवं सुन्दर शरीर की अपेक्षा रखता है, वही औचित्य भी उसके लिए अनिवार्य उत्पन्न है। वाक्यगत भलकारी के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—(१) भलकारी का सरस वाक्य में प्रयोग (२) सरस वाक्य में भी भलकारी का औचित्यपूर्ण प्रयोग। एक और यदि शक, यति शरीर धन्यवा यौवनवन्ध्यवपु पर आभूषणों का अवधारण एक कौतुहल मात्र है, तो दूसरी ओर नीरस वाक्य में भी भलकार-प्रयोग का अन्य नाम 'उक्तिर्वैचित्र्य-मात्र' है—'यत्र तु नास्ति रसः तत्र (भलकारा) उक्तिर्वैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः'। जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में भी यमक आदि का बन्धन समुचित नहीं है। तात्पर्य यह कि लौकिक और वाक्यगत दोनों प्रकार के भलकारी का जीवन और उनकी भलकारिता उचित स्थानविभास पर ही आश्रित है।<sup>१</sup> फिर भी शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा वाक्य-सौन्दर्य अधिक सर्वेदनशील है। उदाहरणार्थ रकार का अनुप्रास विप्रलम्भ शृङ्गार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है तो टकार का अनुप्रास उसी ही रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता।<sup>२</sup> तभी मम्मट को भलकारों के विषय में लिखना पड़ा—'यश्चित्तु सस्तमपि नोपकुर्वन्ति। स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वरुण 'रकार' और कठोर वरुण 'टकार' की सहायता धन्यवा असहायता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सम्भाव धन्यवा अभाव पर निर्भर है।

जहाँ सब लब्धासकारों और अर्थासकारों के पारस्परिक सारस्य का प्रदन है, संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक माशक्त रहा है। यही कारण है कि वण्डी जैसे भलकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है,<sup>३</sup> और रुद्रट जैसे भलकारप्रिय आचार्यों ने अनुप्रास भलकार की स्वसम्मल मधुरा, मोठा आदि पाँच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है।<sup>४</sup> आनन्दवर्द्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है कि 'शृङ्गार के सभी प्रवेशों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा अभिव्यजक नहीं हुआ करता। अतः कवि को इस भलकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। शृङ्गार विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक का (शब्दलेश, ध्वनि भावि का भी) प्रयोग कवि के प्रमाद का सूचक है।'<sup>५</sup> कुतक अनुप्रासमयी रचना की प्रतिनिवृत्ता

१. का० प्र०, ८ उत्सास, पृष्ठ ३०

२. (क) काव्यप्रयासमलकारः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।

यस्य जीवितौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ श्री० वि० पृ० ४

(ख) उचितस्थानविभ्यासादलङ्कितरलङ्कितः। वही पृ० ६।

३. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—

(क) अपसारय धनसारम्...

(ख) चित्ते विट्टरिख टट्टावि (का० प्र० ८ म उत्सास)

४. का० पृ० १। ४३, ४४, ६१.

५. का० प्र० २। ३२.

६. (क) शृङ्गारस्यागिनो यत्नादेकरूपावुबन्धवान्।

सर्वेदेवप्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ पृ० २। १४ ॥

(ख) प्वन्यात्मभूतशृङ्गारे यमकाविनिबन्धनम्।

शतावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ व० श्री० २। ४.



(संकुलता-पूर्ण वद्धता) के पक्ष में नहीं है, और यदि ऐसी रचना हो भी जाए; तो उसे अनुकुमार नहीं बनाना चाहिए<sup>१</sup>। अट्टोल्लेस्ट (?) के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के प्रतिविरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेदचाल के समान है।<sup>२</sup>

इन सब आचार्यों के अनुरूप रामचन्द्र-मुल्लचन्द्र ने भी शलंकार विशेषतः श्लेष शलंकार को अपने उक्त कथन में रस के भलन अर्थात् भंग का कारण माना है<sup>३</sup>।

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझते-समझते संस्कृत का आचार्य कहीं कहीं उनका विरोध और निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। वह इन्हें स्वस्थ रूप में देखना चाहता है। शलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का भंग बन कर रहना।<sup>४</sup> उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी चाहिए। इसके प्रतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना कवि की स्वेच्छा पर भी निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक सभी समझे जाएंगे, जब ये रस में दत्तचित्त, प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आएँ,<sup>५</sup> अर्थात् किसी प्रयत्न के बिना रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्यचकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपुण्यमय-रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

रतालिप्ततया यस्य अण्यशक्यकियो भवेत् ।

अपुण्यमयनिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्या २। १६।

और यदि शब्दालंकारों का भी, रसोपयोगी बन कर अपुण्यमय-रूप से, रचना में स्वतः समावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्द्धन ने निम्न साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है<sup>६</sup>—

(१) भंगीभूत रस के प्रति रूपक आदि शलंकारों का सदा भंगरूप से विवक्षा करना।

(२) भंगीरूप में शलंकारों की विवक्षा कभी न करना।

(३-४) अवसर पर इसका ग्रहण अथवा त्याग करना।

१. नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभुविता । व० जी० २। ४।

२. यमकानुलोमतदितरककादिभिदो तिरसविरोधिन्व- । अभिमानमात्रमेतच्च गङ्गुरिकादि प्रवाहो वा ॥ का० अनु० (हेम) पृष्ठ

३.

४. रसभावादित्वात्सर्पमाधित्य विनिवेशनम् ।

शलंकृतीनां सर्वांशालंकारवसाधनम् ॥ ध्व० पु० १२२।

५. शलंकारान्तराणि—रससमाहितचेतसः प्रतिभावतेः कवेरहम्भूधिकया परापतन्ति । (ध्वन्या० २। १६। सुति)

६. ध्वन्या० २। १८, १९।

(५) आरम्भ करने उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना ।

(६) यदि अनायास आघन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अग्ररूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना ।

उपयुक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं । पाँचवें साधन का तीसरे और चौथे में तथा छठे का पहले में अन्तर्भाव हो सकता है । इन सब का कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अग्र रूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान रूप में कभी नहीं, और ऐसा करने के लिए कवि समीक्षा-बुद्धिसे काम ले, सभी अर्थालंकार अपनी अर्थार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

अध्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशतः ।

रूपकाविरलकारवर्ण एति अर्थार्थताम् ॥ पृ० २ । १७ ॥

## ५ गुण

रस और गुण के परस्पर-सम्बन्ध का निर्देश करते हुए एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'व्यायोग' नामक रूपक में वीर, रोद्र आदि दीप्त रसों की स्थिति होती है । अतः इस में गद्य तथा पद्य दोनों भोजगुण-युक्त होने चाहिए : दीप्तानां वीररीत्रादीनां रसानामाश्रय । अतएवात्र गद्य पद्यं योजोगुणयुक्तम् ।' (हि० भा० ब० पृष्ठ० २२१)

आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायियों के अनुसार गुण का रस के साथ दोहरा सम्बन्ध होता है—एक सम्बन्ध प्रधान है और दूसरा गौण । प्रधान सम्बन्ध का आधार सहृदय की चित्तवृत्ति है, और गौण सम्बन्ध का आधार वर्ण, पद और अर्थ हैं । अतः गुण प्रधानतः रस का धर्म है और गौणतः वर्णादि का<sup>१</sup> ।

(१) रस के साथ गुण का प्रधान सम्बन्ध होता है । इसका यह तात्पर्य है कि शृंगार, कण्ठ आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, और वीर, रोद्र आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण ध्वज गुण की । कोमल अथवा कठोर रसों में से किसी भी रस में यदि अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो वहाँ चित्त की व्याप्ति होने का कारण माधुर्य अथवा ध्वज के अतिरिक्त प्रसाद गुण की भी स्वीकृति की जाएगी । दूसरे शब्दों में, किसी सरस रचना में यदि त्वरित अर्थबोध न होगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य अथवा ध्वज में किसी एक गुण की स्थिति मानी जाएगी, और यदि त्वरित अर्थबोध हो जाएगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य और प्रसाद गुण, अथवा ध्वज और प्रसाद गुण दो दो गुणों की स्थिति स्वीकृत होगी । इस प्रकार ये गुण सहृदय के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर आधारित हैं । चित्त की द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति नामक अवस्थाएँ पहले होती हैं और रसामिव्यक्ति इनके बाद होती है । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सहृदय का मन इन अवस्थाओं में से न गुजरे और रस का अभिव्यक्ति हो जाए । निष्कर्षतः चित्तवृत्ति रूप गुण और रस में पूर्वपरि सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध नित्य अर्थात् अनिवार्य है ।

(२) गुण का रस के साथ गौण सम्बन्ध भी है । इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, कण्ठ

१. (क) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा. × × अचलस्थितयो गुणा ।

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।

का० प्र० पा० ६६, ७१

आदि कोमल रसों में कोमल वरुणों का प्रयोग होना चाहिए तथा समस्त पदों का प्रयोग या तो न हो, यदि हो तो अल्प हो जिसमें समस्त पद सधु हो। इसी प्रकार वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में कठोर वरुणों का प्रयोग करना चाहिए, तथा सघन और अधिक समासों का प्रयोग होना चाहिए। उक्त वरुणों एवं पदों का प्रयोग कोमल रसों में माधुर्य गुण का अभिव्यञ्जक कहा जाता है और कठोर रसों में भोज गुण का। इनके अतिरिक्त यदि किसी भी सरस रचना में अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो उसमें चाहे कैसे भी वरुणों और पदों का प्रयोग हो वहाँ माधुर्य अथवा भोज में से किसी एक गुण के साथ प्रसाद गुण की स्वीकृति भी की जाएगी। इस प्रकार ये गुण वरुण और पद पर आधारित हैं, रचना अर्थात् काव्य के बाह्य पक्ष पर आधारित है, पूर्वोक्त गुणों के समान सहृदय की नित्यवृत्ति अर्थात् काव्य के आन्तरिक पक्ष पर आधारित नहीं है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त गुणों के समान इन गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध भी नहीं है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के किसी पद्य में यदि कोई प्रसिद्ध कवि दीर्घ-समस्तवृत्ति और टवर्गादि से युक्त बठोर वरुण-योजना का प्रयोग कर लेगा, तो उस स्थिति में भी उस पद्य में रसगत माधुर्य गुण की ही स्वीकृति होगी और वरुणदिग्मत भोजगुण की। क्योंकि गुण की स्थिति रस पर आधारित है न कि वरुणयोजना पर। हाँ, इस पद्य में 'वरुण-प्रतिकूलता' नामक दोष भी अवश्य माना जाएगा। किन्तु आदर्श स्थिति यही है कि शृंगार आदि रसों में माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वरुण प्रयुक्त किये जाने चाहिए और रौद्र आदि रसों में भोज गुण के।

रामचन्द्र गुणचन्द्र की अपनै उपर्युक्त कथन में यही आदर्श स्थिति अभीष्ट है कि वीर-रौद्र आदि दीप्त रसों में रसगत भोज गुण तो स्वतः सिद्ध है ही, वहाँ वरुणदिग्मत भी भोज गुण ही होना चाहिए।

## ६. वक्रोक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जिन प्रसंगों में हुआ है, उनमें निम्नोक्त चार प्रसंग उल्लेखनीय हैं—वीथी, शृंगार रस, आमुक्ष, और रसदोष। इन्हीं प्रसंगों में वक्रोक्ति को न तो कृतव सन्मत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, तथा न दम्भालंकार रूप प्रचलित अर्थ में। इन प्रसंगों में इसका प्रयोग एक समान अर्थ में न होकर तीन भिन्न अर्थों में हुआ है :

(१) 'वीथी'-प्रसंग में वक्रोक्ति से तात्पर्य है—विविधता विविधता, अथवा शक्यता। ग्रन्थकारों ने वीथी के लक्षण में इसे नाटकादि द्वादश रूपकों की उपवर्णिका कहा है और इसका कारण यह बताया है कि वीथी के व्याहार, अधिबल आदि १२ भेद नाटक आदि सभी रूपकों में उपयोगी हैं, और इन भेदों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है, कि ये अनेक वक्रोक्तियों अर्थात् विविधताओं, विविधताओं अथवा शक्यताओं से युक्त हैं—

सर्वेषां रूपकारणां नाटकादीनां वक्रोक्त्याविरुद्धता ।

प्रयोगशास्त्रप्रवेष्टेन उभयोमिनी वंक्षिभ्यकारिका ॥ हि० ना० ६० पृष्ठ २४१

इसी प्रसंग में ही शृंगार और हास्य की अनेक प्रकार की वक्रोक्तियों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी 'वक्रोक्ति' का अर्थ विविधता ही है—

वक्रोक्तिराह्यपांडुसत्वेन शृंगारहास्ययोः सूचनायाश्चत्वात् कंदिकी वृत्तिहीनत्वम् । —यही

(२) इसी प्रकार श्रुति रस ने निम्नोक्त प्रसंग में भी वक्रोक्ति से अभिप्राय है सुन्दर वार्तालाप, न कि कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति—

प्रथम सम्भोगाख्यो बहु । परस्परवलोकेन-चुम्बन-विचित्रवक्रोक्त्याविभेदतोऽनन्त-  
प्रकार ।  
—हि० ना० ८० पृष्ठ १०७

(३) ग्रामुख-प्रसंग में 'वक्रोक्त' (वक्रोक्ति) शब्द का प्रयोग 'स्पष्ट वचन से विपरीत' अर्थ में हुआ है : "ग्रामुख में सूत्रधार दो प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है—स्पष्ट और वक्रोक्त ।" वक्रोक्त से तात्पर्य है साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक कथन—“वक्रोक्तः साक्षाद् विवक्षिता-  
र्थस्याप्रतिपादकः,” अर्थात् वह वचन जो स्पष्टतया न कहा जा कर गुमा किरा कर कहा जाए, जैसा कि संस्कृत-नाटकों के 'ग्रामुख' में प्रायः व्यवहृत होता है ।

(४) रसदोष प्रसंग में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, 'अवक्रोक्ति' का हुआ है । यहाँ 'वक्रोक्ति' से अभिप्राय है—युक्त, उचित, मान्य, सगत आदि । रस, स्थायिभाव, व्यभि-  
चारिभाव, आदि की स्वशब्दवाच्यता का सर्वप्रथम संकेत उद्धृत ने किया था, तथा कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों ने इसे एक दोष माना था, किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस दोष कल्पना को अयुक्त कहा है, तथा इसे अम्युत्पन्न अर्थों की उक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे 'अवक्रोक्ति' अर्थात् अयुक्त, अनुचित, अमान्य, असंगत धारणा माना है 'तस्माद् अम्युत्पन्नोक्तिर्याववक्रोक्तिरेवेयम्' (हि० ना० ८०) । उक्त धारणा अयुक्त है अथवा नहीं, यहाँ यह विचारणीय नहीं है । विचारणीय यह है कि क्या 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ 'युक्त' आदि भी हो सकता है ? शब्द के वाच्यार्थ से तो इस अर्थ का बोध नहीं होता, हाँ यदि खँबतान की जाए तो वक्रोक्ति = वाच्य का बाह्य साधन = काव्य का उपयुक्त अथवा युक्त, मान्य, उचित तत्त्व । अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ युक्त और अवक्रोक्ति का अयुक्त । किन्तु इस धारणा से मनस्तुष्टि नहीं होती । सम्भवतः यह पाठ ही अशुद्ध हो । अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ काव्यत्व भी लिया जा सकता है, जिसके अनुवचन 'अवक्रोक्ति' का अर्थ होगा—'काव्यत्व से बहिष्कृत' । अस्तु ! यह शब्द यहाँ 'अप्रयुक्त' बोध से दूषित है ।

## (२)

इसके प्रतिरिक्त इस ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर यद्यपि 'वक्रता' अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया, तथापि जिस धारणा का वहाँ प्रस्तुत किया गया है उसका मूल आधार वचन की वक्रता ही है । 'वीथी' नामक रूपक भेद के १३ अंगों में से १० वा अंग है 'मृदवम्—जिसका लक्षण है जिसमें गुण और दोष का पारस्परिक व्यवय हो—'अथर्वयो गुणदोषयो. मृदवम् ।' (हि० ना० ८० पृष्ठ २६३) । इस प्रकार 'मृदव' नामक बोध्यज्ञ के दो रूप हैं गुणों का दोष बन जाना और दोषों का गुण बन जाना । प्रथम रूप के उदाहरण स्वरूप नाट्यदर्पण में तीन उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें गुण को दोष बताया गया है । इनमें से प्रथम दो उदाहरण लीजिए :

१. विदूषकनटी मार्गं प्रस्तुतालोपि भाषणम् ।

सूत्रधारस्य वक्रोक्त स्पष्टोक्तं यत् तदाग्रमुखम् ॥

२. केचित्तु व्यभिचारिरसस्यायिना स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम् ।

हि० ना० ८० पृष्ठ ३२८

(क) सूत-सभा में बेचारी द्रौपदी 'गो: गो:' [अर्थात् मैं तुम्हारी 'गो' हूँ, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ] चिल्लाती रही किन्तु उस समय क्या धनुर्धारी अर्जुन वहाँ नहीं था जो उसे बचा सकता ? बैराग्यसंहार' में दुर्योधन जयद्रथ की भाटा की चेतावनी को भवहेलना करते हुए बोले ।

(ख) [भरे आने पर] तुम्हारे मुखचन्द्र ने मुस्करा कर मेरा स्वागत किया, नेत्रों ने प्रफुल्लित होकर, बाहुओं ने रोमाञ्चित होकर और वाणी ने गद्गद स्वर को धारण करके, किन्तु तुम्हारे कुचद्वन्द्वों में कोई परिवर्तन नहीं आया, वे जैसे के जैसे कठोर अर्थात् जड़ बने रहे," 'नलबिलास' में नल आशतपतिका दमयन्ती से बोले ।'

पहले पद्य में अर्जुन का 'धनुर्धरत्व' और दूसरे पद्य में कुचद्वन्द्वों की 'कठोरता'—यद्यपि ये दोनों गुण हैं तथापि इन्हे दोष रूप में स्वीकृत किया गया है । इन उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट हैं । एक यह कि यहाँ 'गुण' शब्द काव्यगुणों का सूचक न होकर बौद्धिक गुणों का सूचक है, और दूसरी यह कि इस प्रकार की दोषता का आधार वचन की वक्रता है जिससे गुण दोष न बन कर और भी अधिक निखर आता है तथा काव्य-सौन्दर्य का कारण बनता है ।

इसी प्रकार दोष के गुण बन जाने के सम्बन्ध में भी जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें सभी दोष काव्य-दोष के सूचक न होकर बौद्धिक दोषों के सूचक हैं तथा वे गुण रूप में वर्णित किए जाने पर भी ग्राह्य न बन कर त्याज्य बन गये हैं । इस वर्णन प्रकार का मूल आधार भी वचन की वक्रता ही है । दो उदाहरण लीजिए :—

(क) द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि सात महारथियों द्वारा अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर दुर्योधन कह उठा कि क्षत्रु पर किया गया अपकार भी निःसन्देह अत्यन्त आनन्ददायक होता है ।

(ख) सब की परिनिर्वा सुन्दर नहीं होती, परनारीप्रायी पुरुष राज्यदण्ड का भागी बनता है, × × × × × ×, यदि दूसरों के हित में संलग्न वैश्यायें न हो तो बेचारे कामाक्षी जन कहाँ जायें ?

प्रथम पद्य में 'क्षत्रधर्म का परित्याग' रूप दोष गुण माना गया है, और द्वितीय पद्य में 'वैश्याप्राप्त' रूप दोष भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है । किन्तु इन दोनों पद्यों के वक्ताओं के प्रति न तो कवि की सहानुभूति है और न ही उसके अनुरूप सहृदय की । अतः वचन-वक्रता के आधार पर ये दोनों लौकिक दोष और भी अधिक त्याज्य रूप में वर्णित हो गये हैं ।

## ७. औचित्य और अनौचित्य

### (क) औचित्य—

इस ग्रन्थ में 'औचित्य' का प्रयोग निम्नोक्त चार स्थलों पर हुआ है—

(१) कवि [पीरोदात्त आदि मुख्य पात्र के लिए] अपभ्रंश इच्छा से किसी फल-विषय या उत्तरपं वर्णित नहीं करने लग जाता, अपितु 'औचित्य' अर्थात् उचितता को देखकर ही वह ऐसा करता है : "अधिरागि न स्वेच्छया फलस्य उत्तरपं निबद्धमहंति किन्तु औचित्येन ।" (पृष्ठ १०)

(२) जो वृत्त नायक अथवा प्रकृत रस के अयुक्त अथवा विरुद्ध हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए, अथवा उसकी अन्यथा कल्पना कर लेनी चाहिए । (१।१८) यहाँ 'अन्यथा' शब्द से स्वयं ग्रन्थकारों का अभिप्राय है औचित्य अथवा अविरोध—अन्यथेति औचित्येनाविरोधेन वा । उदाहरणार्थ, नलविलास में नल जैसे धीरललित नायक द्वारा निरपराध पत्नी का त्याग यद्यपि अनुचित है किन्तु कापालिक के प्रयोग से वह [उचितता-(औचित्य-) पूर्वक] निबद्ध हो गया है, अतः यह प्रसंग अनिबन्धनीय नहीं है । (पृष्ठ ३६)

(३) जिस प्रकार नाटक में अभिनेय प्रबन्ध के लिए उपयुक्त फल, भ्रम, उपाय, × × × रस आदि का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार प्रकरण में भी इन सब का प्रयोग औचित्य (उचितता) का उल्लंघन किये बिना करना चाहिए—“अभिनेयप्रबन्धोचितं कलाङ्गोपायः” रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथाऽत्रापि सर्वोचित्यऽनतिक्रमेणऽऽयोग्यम् ।” (पृ० २१२)

(४) निषेध आदि तैत्तिरीय संचारिभाव वृत्तारादि रसों में यथायोग्य प्रयुक्त करने चाहिए ; “अयत्तिप्रसद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः ।” यहाँ ‘यथायोग’ का तात्पर्य है—रसों के औचित्य (उचितता) का अनुल्लंघन अर्थात् इसका सम्यक् पालन—‘यथायोगम्’ इति रसोचित्याऽनतिक्रमेण । (हि० ना० ६० पृष्ठ ३३१)

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ‘औचित्य’ शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत औचित्य-सिद्धान्त के पारिभाषिक अर्थ में न किया जाकर ‘उचितता’ अर्थ में किया गया है, यद्यपि यह झलक बात है कि मूलतः जो कुछ क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है लगभग वही कुछ रामचन्द्र-गुणवन्ध को भी अभीष्ट है । क्षेमेन्द्र के शब्दों में ‘उचितरूपेण वा यो भावस्तथौचित्यं प्रचक्षते’, किन्तु उन्होंने क्षेमेन्द्र के समान साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में इसे ‘काव्य को जीवित’ स्वीकार नहीं किया ।

### (ख) अनौचित्य—

इस ग्रन्थ में कतिपय स्थलों पर ‘अनौचित्य’ शब्द का भी प्रयोग हुआ है । एक स्थल पर यह पांच रसदोषों में से एक रसदोष है । पांच रसदोष हैं—अनौचित्य, अंग की उग्रता, अपुष्टि, अत्युक्ति और अङ्गिभित् । इनमें से ‘अनौचित्य’ नामक रसदोष का स्वरूप है—वह कर्म जो सहृदयों के मन में विचिकित्सा अर्थात् शका अथवा सन्देह का कारण बने—सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्मानौचित्यम् । (पृष्ठ ३२४)

आगे चलकर इसी प्रसंग में अनौचित्य को ‘रसदोष’ का पर्याय स्वीकार करते हुए ग्रन्थकारों ने कहा है कि यद्यपि शयो की उग्रता आदि शेष चार रसदोष भी मूलतः ‘अनौचित्य’ नामक दोष में ही अन्तर्भूत हो सकते हैं, [अतः इनका पुनर्क निरूपण नहीं करना चाहिए], तथापि सहृदयों को अनौचित्य अर्थात् रसदोष का सम्यक् ज्ञान हो जाए, इसलिए ऐसा किया गया है—“अंगोपायवच्च बोधाः परमार्थतोऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यश्रुत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः । पृष्ठ (३२८)

उक्त दोनों स्थलों से भी यही ज्ञात होता है कि ‘अनौचित्य’ शब्द क्षेमेन्द्र-सम्मत पारिभाषिक ‘औचित्य’ के अभावात्मक अर्थ में प्रयुक्त न होकर रसदोष अर्थ में ही स्वीकृत हुआ है ।

इसका कारण सम्भवतः आनन्दवर्द्धन का यह कथन प्रतीत होता है कि अनौचित्य के बिना रसमङ्ग का कोई अन्य कारण नहीं होता—“अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसमङ्गस्य कारणम् ।” (ध्वन्या० २/१४ वृत्ति) आनन्दवर्द्धन ने रसभङ्ग और अनौचित्य में परस्पर सम्बन्ध जोड़ा तो रामचन्द्र-गुणयन्त्र ने इसे ‘रसदोष’ का ही समानार्थक मान लिया । इसी प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनौचित्य शब्द का दोष के अर्थ में सम्भवतः सर्वप्रथम प्रयोग महिममट्ट ने किया था तथा इसके अनेक भेदों की भी वर्णा की थी, किन्तु वहाँ न-तो इसे रसदोष के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और न ही इसके भेद रसदोष ही हैं। वही तो इसे काव्य-दोष के सामान्य अर्थ का ही वाचक माना गया है । (देखिए व्यक्तिविवेक २५ विमर्श)

हाँ, प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर ‘अनौचित्य’ शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत ‘औचित्य’ के अभावात्मक रूप में भी उपस्थित किया गया है—“ब्रह्मण नामक रूपक केवल हास्य रस का ही विषय है । यह शृंगार रस का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि [इस रूपक के मुख्य पात्रों] मिन्दनीय पाखण्डी आदि का शृंगार रस के रूप में निरूपण करना अनौचित्य (औचित्य के अभाव) का सूचक है—निन्द्यपाखण्डिप्रभृतीनां शृंगारस्याऔचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव । (पृष्ठ १२१) उधर क्षेमेन्द्र भी रस के औचित्य के विषय में अत्यन्त आग्रहशील हैं—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिर्औचित्यरुचिरो रस ।

मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ॥ औचित्यविचारचर्चा-१६

तथा वे रसों के पारस्परिक संयोजन में अनौचित्य को इष्टकर नहीं मानते—

तेषां परस्पराल्लेखात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।

अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥ —वही, १८

## ८. दोष

पीछे निर्देश कर आये हैं कि इस ग्रन्थ में पाँच रस-दोषों का निरूपण किया गया है । इस प्रसंग के प्रतिरिक्त दोष पर अन्यत्र विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया ।<sup>१</sup> इस प्रसंग में ग्रन्थकारों ने उक्त पाँच रसदोषों के भेदोपभेदों का निरूपण किया है जिन्हें इनसे पूर्व मम्मट ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उल्लिखित किया था । इस प्रसंग की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—(१) रसादि की स्वशब्दोक्ति को दोष न मानना, तथा (२) ‘विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति’ को मम्मट के समान रसदोष न मानकर ‘सन्दिग्ध’ नामक वाक्यदोष मानना । ये दोनों स्थल विचारणीय हैं ।

## (१)

रसादि की स्वशब्दोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने अपने ‘काव्यालंकारसारसंग्रह’ में रसवद् भलकार का सहाय प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों में किया था—

रसवद्भूतिरस्यष्टभूद्भारादिरसावयम् ।

स्वशब्दस्यायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ १।० सा० सं० ४।३

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदिकी स्वशब्दवाच्यता' को रसदोषों में परिगणित किया। उन्हें इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसंगों से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने भी इस दोष की स्वीकृति की और निम्नीक उदाहरण प्रस्तुत किये—

- (क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगासी रसो नः कोऽप्यजायत ।
- (ख) चन्द्रमण्डलमानोवप भृङ्गारे मन्मन्तरम् ।
- (ग) प्रजायत रतिस्तस्या त्वयि लोचनगोचरे ।
- (घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिबुध्ने ।

इधर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए उक्त रूप में इस दोष की भस्वीकृति की है। इस सम्बन्ध में हमारी विमर्श सम्मति यह है कि—

(क) जहाँ विभावादि-सामग्री समूहों एवं अपरिपक्व रूप में प्रस्तुत की जाती है, भयवा इसका प्रभाव ही रहता है, वहाँ यदि रस, भृङ्गार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहाएंगे और न काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होंगे। वे केवल साधारण वार्तामान ही होंगे जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहाँ विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहाँ रस आदि में से किसी एक का नाम-निर्देश भी अवायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगों में यह दोष प्रथम तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया भी जाए तो उसे क्षम्य समझना चाहिए, क्योंकि इससे रस-प्राप्ति में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रस्तुत पद्यों में मानिनी के नेत्रों का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याल्लावकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्सुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की भस्वीकृति भयवा हीन-काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नहीं है। इसी प्रकार एक धीरे उद्भट तथा दूसरी धीरे स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरणों भी केवल वार्तामान न होकर काव्यचमत्कार के उत्पादन में समर्थ हैं, क्योंकि उस सहृदय को जो इस पारिभाषिक काव्य-दोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दों के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद में तनिक भी व्याघात नहीं पहुँचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इस प्रसंग में यह संकेत भी किया है कि स्थायि-भाव, संचारिभाव आदिके प्रचलित नामों के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहाँ दोष नहीं रहता। उदाहरणार्थ 'ऊणत्कारः द्युतिगतेक्ष्णाहस्तस्य कोऽप्यभूत' में 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, पर यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—'प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत'। किन्तु यह धारणा भी समुचित नहीं है। इस दोष का एक

१. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३२८

२. (क) सतीदा दयितातने.....

(ख) तामनङ्गजयमंगल..... । का० प्र० ७/३२१, ३२२



मात्र आधार है काव्यचमत्कार की अपुष्टि । मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य<sup>१</sup> इस आधार पर भले ही सदीप हो, पर इस कारण कदापि सदीप नहीं मानना चाहिए कि इसमें 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, यद्यपि 'प्रमोद' शब्द रख देने से यह अपुष्टि दूर हो जाएगी और यह सदीप न रहेगा ।

(घ) वस्तुतः इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना है । अतः यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, विभावनादि की परिपक्वता में इनका प्रयोग सदीप नहीं है तथा इनकी अपरिपक्वता में दोष है ।

अतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणा भाविक रूप से ग्राह्य है—पूर्णतः नहीं ।

∴ (२)

अब दूसरे दोष को सँ—'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति)।' इस दोष का मम्मट तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निम्नीक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

परिहरति रतिं मतिं तुनीते स्तसतितरां परिवर्तते च भूयः ।

इति घट विषमा दशा इन्द्रेहं परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्मः ॥<sup>१</sup>

अर्थात् यह नायिका किसी प्रकार की रुचि नहीं रखती, इसकी बुद्धि क्षीण हो गयी है, यह निरन्तर गिरती पड़ती है तथा बार बार करवटें बदलती है । इस प्रकार इसके देह की अवस्था अत्यन्त विषम है, इसका क्या उपाय किया जाए ?—इस कथन से यह सन्देह बना रहता है कि इस नायिका की यह दशा वियोग (रति) के कारण है अथवा शोक के कारण । अतः यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि यह उदाहरण विप्रलम्भ शृंगार रस का है अथवा कल्याण रस का । मम्मट ने इसे 'विभावस्य कष्टकल्पनाय व्यक्ति' नामक रसदोष माना है और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोष । वाक्यवर्णन में रसदोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों का निरूपण नहीं किया गया । काव्यप्रकाश में वाक्यगत सन्दिग्ध का उदाहरण है—

कस्मिन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य भोत्पतेतराम् ।

अयं साधुचरस्तस्माद् अज्जलिर्ह्येतानिह ॥ का० प्र० ७/२०५

अर्थात्, इस पुरुष की शक्ति किस कार्य में प्रकट नहीं होती ? यह व्यक्ति तो 'साधुचर' है । अतः इसे ममस्कार कीजिए । 'साधुचर' से यह स्पष्टता प्रकट नहीं होता कि वह 'साधुओं में प्रमत्ता-किरता' है अथवा 'पहले साधु रहा है ।' अतः यहाँ मम्मट के मत में वाक्यगत सन्देह है । निस्सन्देह उक्त 'परिहरति रतिं.....' पद्य में इस प्रकार का सन्देह नहीं है । यहाँ रस-विषयक सन्देह है वाक्य-विषयक नहीं ।

इसी प्रसंग में अर्थागत सन्देह का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

मातस्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्गं समर्पादमुदाहरन्तु ।

सेव्याः नितम्बाः किमु भूषराणामुत स्मरस्मेरवित्तातिनीनाम् ॥ का० प्र० ७/२६२

१. संप्रहारे प्रहरणं प्रहाराणाम्परस्परम् ।

ठण्णकारः श्रुतिपतेस्तसाहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥ का० प्र० ७/३२४

२. का० प्र० ७/३२६, ना० ३० ३/२३ वृत्ति ।

अर्थात्, क्या पर्वतों के नितम्ब (प्रान्तर भाग) सेवनीय हैं अथवा विलासिनियों के नितम्ब— इस कथन में प्रकरणाभाव के कारण यह सन्देह बना रहता है कि यह उदाहरण शान्त रस का है अथवा शृंगार रस का । “परिहरति रतिं ...” पद्य तथा इस पद्य में समत्वा एक ही है कि दो रसों में से इसे किस रस का उदाहरण माना जाए । किन्तु साथ ही दोनों पद्यों में अन्तर है वह यह कि एक में श्लेष के कारण सन्देह है और दूसरे में इसके बिना । वस्तुतः सम्बन्धव्यतिरेक-सम्बन्ध के आधार पर ‘सेव्याः नितम्बाः ...’ कथन में अर्थदोषता की अपेक्षा पददोषता अधिक है, जैसे कि स्वयं नम्मट ने पदगत सन्देह का ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया है—“प्राचीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुत्र ।” हमें ‘वन्द्याम्’ का अर्थ सन्दिग्ध है । क्या इसका अर्थ ‘वन्दनीया अर्थात् नमस्करणीया’ को है, अथवा वन्द्याम् (वन्द्याम्) का अर्थ ‘वन्द्यकृत महिला’ में है ? किन्तु ‘सेव्याः नितम्बाः ...’ में रस-विषयक सन्देह है जो कि ‘श्लेष’ पर आधारित है, और ‘प्राचीःपरम्परां वन्द्याम् ...’ में श्लेष तो है किन्तु यहाँ रस-विषयक सन्देह नहीं है । अतः ‘प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति’ के अनुसार प्रथम पद्य में रसदोष है और द्वितीय पद्य में पददोष । ‘श्लेष’ के सम्बन्ध में आचार्यों की स्पष्ट प्रारणा है कि इसकी स्थिति तब माननी चाहिए जब यह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हो । इसकी परतन्त्र अथवा गौण स्थिति में प्रधानता उस काव्य-तत्त्व की माननी चाहिए जिसका यह पोषक हो ।

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ‘सेव्याः नितम्बाः ...’ और ‘परिहरति रतिं ...’ इन दोनों पद्यों में सन्दिग्ध नामक रसदोष ही है, किन्तु एक अन्तर के साथ—प्रथम में श्लेष सन्दिग्ध दोष है और दूसरे में अस्तिष्ठ, पर दोनों ही रसगत ही । क्योंकि दोष की दृष्टि से रस-निर्णय में सन्दिग्धता का बना रहना ही दोनों का प्रतिपाद्य है । ‘परिहरति रतिं ...’ में ‘विभाव की कटुत्ववता द्वारा अभिव्यक्ति’ नामक दोष की स्वीकृति इसलिये नहीं माननी चाहिए कि विभावादि तो रस-सिद्धि के लिए साधन हैं । इस पद्य में रस का निर्णय सन्दिग्ध रह जाने के कारण सन्दिग्ध दोष मानना चाहिए और वह भी रसगत । निष्कर्षतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यह प्रारणा कि यहाँ वाक्यगत सन्दिग्ध दोष है अंशतः मान्य है, क्योंकि यहाँ सन्दिग्ध दोष रसगत ही है वाक्यगत नहीं ।

## ८. रस

नाट्यदर्पण में अन्य काव्योपकरणी के समान रस पर भी केवल इस दृष्टि से प्रकाश डाला गया है कि इसका रूपक के साथ क्या सम्बन्ध है, कौन कौन से रस इसके विभिन्न भेदों अथवा भगों के साथ सम्बद्ध हैं आदि । उदाहरणार्थ—“आण” रूपक में शृंगार और वीर रस की प्रधानता होती है, ‘टिब’ में रोद रस की तथा ‘अष्टाष्टाङ्क’ में कण्ठ रस की, और ‘वीथी’ का सम्बन्ध सब रसों के साथ होता है, इत्यादि । ‘भारती’ नामक नाट्यवृत्ति सब रसों के साथ सम्बद्ध होती है, ‘सात्वती’ रोद, वीर, शान्त और अद्भुत रसों के साथ, ‘कंसिकी’ हास्य और शृंगार रस के साथ, तथा ‘भारवती’ रोद आदि दीप्त रसों के साथ । इसी प्रकार रूपकों में कौन कौन से रस परस्पर मिलते हैं तथा कौन से विरोधी और विरोधी, रसों का परिहार किस प्रकार किया जाए, आदि—इन बहुवचन विषयों पर भी इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है ।

१. द्रव्यस्य चोपमादसंकारविविक्तोपस्थिति विधयः इति । (का० प्र० ६ ॥ ७०, श्लेषप्रकरण)

२. हिन्वो नाट्यदर्पण २/१६, २१, २३, २८ ।

३. पदो १/२, ५, ६ ।

४. यही पृष्ठ ३२० ।

रूपक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देशक उपर्युक्त स्थलों के प्रतिरिक्त इस ग्रन्थ में रस-विषयक कतिपय अन्य समस्याओं एवं प्रसंगों की भी चर्चा की गयी है, जैसे—

- (१) रस की महत्ता ।
- (२) प्रचलित से इतर संचारिभावो तथा रसो का नाम-निर्देश ।
- (३) नौ रसों का रूप-निर्देश ।
- (४) शृङ्गार रस के दोनो भेदों का निर्णायक आधार ।
- (५) भद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति ।
- (६) शान्त रस का स्थायिभाव ।
- (७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक ।
- (८) रस की सुखदुःखारम्भकता ।

अब इन प्रसंगों का दिग्दर्शन एवं सामान्य विवेचन प्रस्तुत है ।

### (१) रस की महत्ता

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि रस नाटक में अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है । इनमें से कुछ स्थलों पर रस को काव्य के अन्य उपकरणों—विशेषतः अलंकार—की प्रपेक्षा सर्वोत्तम उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनका उल्लेख पीछे पद्याख्यान किया चुका है । इस सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय स्थल इस प्रकार हैं—

- (१) नाट्य का पन्थ रस की कल्पोलो से परिपूर्ण होता है ।<sup>१</sup>
- (२) नाट्य का एक मात्र आधार रस ही है ।<sup>२</sup>
- (३) (नाटक के) कथाभाग में विच्छेद न आने देना रस की परिपुष्टि के लिए किया जाता है ।<sup>३</sup>

(४) 'प्रकरण' नामक रूपक में पुरानी बातों में भी कवि को रस की परिपुष्टि के लिए नयी बात और बड़ा देनी चाहिए ।<sup>४</sup>

(५) कवि (नाटककार, प्रबन्धकार) की समग्र चेतना एकमात्र रस-विधान में ही सलग्न रहती है, वह रस-निवेश में सिद्धहस्त होता है ।<sup>५</sup>

उक्त स्थलों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकारों को यह मानना अभीष्ट है कि रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है तथा नाटककार का एक-मात्र सद्यः इभी की ही पुष्टि एवं सिद्धि करना है । वस्तुतः,

१. पन्था. × × × नाट्यस्य रसकल्पोलसङ्कुलः । हि० भा० व० पृष्ठ ३

२. दार्ढ्यायमात्रशरणा सुष्कलवयो यमकश्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्य । — वही, पृष्ठ ३२०

३. इतिवृत्तस्याऽविच्छेद रसपुष्टयर्थः । — वही पृष्ठ १६६

४. यदपि अत्र प्राक्तनं निबद्धयते तथापि कविना रसपुष्टिहेतुरलंकाराणां विधेयः ।

— वही पृष्ठ २११

५. रसविधानं कचेततः कवेः × × × रसनिवेदकम्यवसायिनः प्रबन्धकवयः × × × ।

— वही, पृष्ठ १६६-१६७

नाटक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा भरत मुनि के समय से ही की जाती रही है। उन्होंने नाट्य (नाटक) के लक्षण में अन्य तत्त्वों के साथ रसतत्त्व का भी समावेश किया है; नाट्य के प्रधान अंगों में पाठ्य, गीत, अभिनय के अतिरिक्त रस की भी गणना की है<sup>१</sup>, तथा नाट्य में रस की अनिवार्य स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।<sup>२</sup> इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यदर्पण में कथा और मुक्तक-काव्य की सिद्धि भ्रलकार-चमत्कार पर आधारित की गयी है और नाटक तथा प्रबन्ध-काव्य की रस पर। किन्तु प्रथम धारणा अशतः सत्य है<sup>३</sup>, और दूसरी धारणा के सम्बन्ध में इतना और ज्ञातव्य है कि प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा नाटक में रस की पुष्टि अधिक सकुलता के साथ की जा सकती है, क्योंकि इस में विभावादि सामग्री अपने यथावत् रूप में सन्निविष्ट रहती है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानते हुए कहा है कि इस शरीर में प्राण-सञ्चार करने वाला रस ही है। यही कारण है कि कविजनो की प्रीति रस की प्रति ही होती है—

अर्पणन्दबभ्रुः काम्यं रसः प्रार्थयितुमर्पति ।

अञ्जना तेन सीताहं रसेषु कविमानिनाम् ॥ ना० द० ३/२१

#### (१) प्रचलित से इतर रसों तथा सञ्चारिभावों का नामनिर्देश—

इस ग्रन्थ में प्रचलित से इतर सञ्चारिभावों तथा रसों का नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया गया। इनकी सूची इस प्रकार है—

सञ्चारिभाव—क्षुत्, तृष्णा, भैरो, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, प्रार्जव, दाक्षिण्य आदि।<sup>४</sup>

रस—लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख, सुख आदि। इन पाँचों के स्यामिभाव क्रमशः ये हैं—गद (तृष्णा), मार्दवा, सासति, परति और सन्तोष। किन्तु कई आचार्य इनका अस्तमवि प्रचलित रसों में मानते हैं।<sup>५</sup>

#### (२) नव रसों का क्रम

इस ग्रन्थ में शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-क्रम स्थिति के सम्बन्ध में निम्नोक्त सगत्या प्रस्तुत की गयी हैं जो कि प्रायः मनस्तोत्रक हैं। (१) सर्वप्रथम शृंगार रस की गणना करनी चाहिए क्योंकि 'राम' सब प्राणियों में सुलभ तत्त्व है, तथा उन्हें अत्यन्त परिचित रहता है, अतः सब की मनोहर प्रतीत होता है। (२) शृंगार के उपरान्त हास्यरस की गणना की जाती है, क्योंकि यह रस शृंगार का अनुगामी (उससे उद्भूत एवं उसका पोषक) होता है। (३) इसने उपरान्त

१. बहुकृतरसमार्गम् X X X ना० ना० १६/११८

२. जग्राह पाठ्यमृग्वेवात् सामम्यो गीतमेव च ।

यशुर्वेदादभिनवान् रसानाथर्वेण्यगदपि ॥ वही १/१७

३. ये रसा इति षष्ठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविधिसर्गः । वही ६/२

४. वेति ए पृष्ठ ६

५. ६. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३३१, ३०६

करण रस—क्योंकि यह हास्य रस का विरोधी अर्थात् उसके विपरीत होता है । (४) इसके उपरान्त रोद्र रस—क्योंकि यह रस अर्थप्रधान है और अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है । (५) इस के उपरान्त वीर रस—क्योंकि यह रस धर्मप्रधान है और धर्म की उत्पत्ति काम और धर्म दोनों से होती है । (६) इस के उपरान्त भयानक रस—क्योंकि वीररस का मुख्य उद्देश्य है भीत जनों को अभय-प्रदान । (७) इसके उपरान्त बीभत्स रस—क्योंकि सात्त्विक जन भय के प्रति जुगुप्सा प्रकट करते हैं । (८) इसके उपरान्त भद्रभुत रस—क्योंकि बीभत्स को विस्मय द्वारा दूर किया जा सकता है । (९) सब से अन्त में शान्त रस की गणना की जाती है, क्योंकि शम सब धर्मों का मूल कारण है ।<sup>१</sup>

निष्कर्षतः उक्त प्रसंग में 'काम' को प्रधान माना गया है, क्योंकि इसी पर ही धर्म और धर्म दोनों आधारित हैं, तथा इन तीनों के बल पर शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-स्थिति निर्धारित की गयी है, तथा साथ ही प्रचारान्तर से शृंगार रस की प्रधानता भी सिद्ध की गयी है, क्योंकि अकेला शृंगार रस ही ऐसा है जो 'काम' से सम्बद्ध है । शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस या तो धर्म और धर्म में से किसी एक अथवा दोनों पर अवलम्बित हैं अथवा एक दूसरे रस पर । इस प्रकार से रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अग्निपुराणकार एवं भोजराज की एतद्विषयक प्रख्यात धारणा का अन्य रूप से समर्थन किया है कि शृंगार रस सर्वोपरि रस है ।

#### (४) शृङ्गार रस के दोनों भेदों का निर्णायक आधार

शृंगार रस के दो प्रचलित भेदों के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों का कहना है कि ये भेद गाय के चितकवरे और काले वण के समान नितान्त विभिन्न न होकर परस्पर सङ्कुलित (मिश्रित) रहते हैं क्योंकि एक और सम्भोग में विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है और दूसरी और विप्रलम्भ में मनोगत सम्भोग का भाव अनुस्यूत रहता है । किन्तु इस स्थिति में निर्णय उरकटता के आधार पर किया जाता है ।<sup>१</sup> हाँ, यदि किसी पक्ष में दोनों अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह भीलित (एक समान आह्लादक) चित्रण का स्थल प्रतिपाद्य चमत्कार का द्योतक होता है—

अवस्थाद्वयभीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः । (हि० ना० ३० पृष्ठ ३०६)

इनमें से प्रथम धारणा का आधार व्याकरणशास्त्र का यह प्रसिद्ध सिद्धांत है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति ।' निस्सन्देह शृङ्गार के दोनों भेदों में इतर भेद का अंश सम्मिलित रहता है और उसका व्यपदेशक आधार है किसी एक तत्त्व का प्राधान्य । किन्तु दूसरी धारणा विचारणीय है । प्रथम तो ऐसे पक्षों का मिलना असम्भव है जिन में सम्भोग अथवा विप्रलम्भ में से किसी एक रूप की प्रधानता लक्षित न होती हो, और दूसरे, पठितराज जगन्नाथ के शब्दों में संयोग और विप्रलम्भ का एवमात्र आधार अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष है, बाह्य वातावरण नहीं है ।<sup>२</sup> रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है,<sup>३</sup> उसी से मिलता जुलता उदाहरण जगन्नाथ ने भी इसी प्रसंग में दिया है—

१, २. हि० ना० ३० पृष्ठ ३०३, ३०६

३. इसी समीपविमोहाख्यान्त करणवृत्तिविरोधी । —रसगणायर पृष्ठ ४१

४ "एकस्मिन् शयने पराङ्मुखता योतोत्तर साम्यते" इत्यादि

—हि० ना० ३० पृष्ठ ३०७

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुज वरभीलप्लवना निरोसते ॥

[रसगंगाधर पृष्ठ ४१, १२]

इन दोनों उदाहरणों में अन्तर्वृत्ति के आधार पर अन्ततः सम्भोग शृंगार की ही स्वीकृति होगी, विद्योग की भावना तो यहाँ उदीपक मात्र है ।

### (५) अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति

नाट्यदर्पण में अद्भुत रस की चर्चा दो स्थानों पर की गयी है—एक 'परिगूहन' नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग के प्रसंग में और दूसरे 'नाटक' नामक रूपक के प्रसंग में ।

पहले प्रसंग में अद्भुत रस का सामान्य सा स्वरूप-निर्देश है—'अद्भुत रस की प्राप्ति 'उपगूहन' (परिगूहन) कहाती है । इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है । उदाहरणार्थ, रामाभ्युदय नाटक में सीता ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता के लिए अग्निदेव का प्रवेश आदि ।' [पृष्ठ १८८]

दूसरे प्रसंग में अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डाला गया है—'नाटक नामक रूपक में एक रस अंगीरूप में होना चाहिए, तथा अन्य रस अक्षरूप में । इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए 'एकाङ्गिरसमयाङ्गम् अद्भुतात्मम्' । 'अद्भुता-त्म' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र', अर्थात् नाटक के अन्त में—निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए । इसकी व्याख्या में प्राये कहा गया है कि 'नाटक में एक और शृंगार, वीर, रौद्र आदि रसों द्वारा स्वीरसन, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर कष्ट, भयानक तथा बीभत्स रसों द्वारा इन सब की अप्राप्ति । किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फलरूप प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य होता ही है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु रूप फल की वक्ष्यता न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?'

(पृष्ठ ३७)

इस कथन का अग्रिमप्राय यह है कि अंगी रस चाहे कोई भी हो किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए । 'अद्भुत' से यहाँ तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियों में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाधार से किञ्चिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा ओर विपत्तियों का सामना करना पड़े, और दूसरी ओर यह लोकोत्तर हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन्म के लिए प्रायः असम्भव सी होती हुई भी सबकी लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे । उदाहरणार्थ, सामान्य लोभव्यवहार के समान केवल विवाह सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत तत्त्व का समावेश न होने के कारण यह नाटक का विषय नहीं है । हाँ, दुष्यन्त शत्रुन्तला का प्रेम-प्रसंग नाटक का विषय बन सकता है, क्योंकि इसमें एक ओर लोकाधार से विलक्षण आचरण किया गया है और दूसरी ओर अनित्य सुन्दरी शत्रुन्तला रूप फलप्राप्ति प्रत्येक सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन गयी है । इसी प्रकार पुष्पोत्तम सयोगिता स्वयंवर' भी असामान्य वरमाला प्रसंग के समावेश के कारण नाटक का विषय बन सकता है । इसी प्रकार और रस के नाटकों में भी नेपोलियन का यह कथन भी कि 'मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया' उसी स्थिति में नाटक

का विषय बन सकता है जब कि या तो शत्रुपक्ष का कायरतापूर्ण पलायन भी साय ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि शत्रुओं के रक्त की प्यासी तलवार ज्यों की त्यों खिंची रह गयी और वह 'बेचारा' जनशून्य शत्रु-नगरी में हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढ़कर आदर्श स्थिति राम-रावण युद्ध प्रसंग की माननी चाहिए जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना एवं सहयोगी और सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लवा-विजय के उपरान्त सीता का उद्धार किया।

इन सब प्रकारों में अंगी रस शृंगार अथवा वीर रस स्वीकार किये जायेंगे। यदि इनमें अन्य रसों की झलक मिलेगी भी तो वे अंगी के पोषक होने के कारण अंगरूप में स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण ये अंग (पोषक) रस नहीं हैं, अपितु 'अद्भुत' का समावेश ही है—यह रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मूल अभिप्राय है, और सायब इसी अथवा इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर अमरदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस की सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में) स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारस्ये सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥<sup>१</sup>

और इसी आधार पर ही नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह) ने केवल अद्भुत रस को ही एकमात्र रस घोषित किया था—तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रमन् ॥<sup>२</sup>

मिस्तान्बेह रस में चमत्कार ही सारभूत तत्त्व है। चमत्कार को विश्वनाथ के शब्दों में विस्मय का प्रपर पर्याय भी कह सकते हैं, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है।

‘चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः’

और इस चमत्कार अथवा विस्मय को स्वीकृतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, और यही अद्भुत सभी रसों में एक अनिवार्य तत्त्व भी है, क्योंकि इसके बिना रस की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी—

(१) न तो रामचन्द्र गुणचन्द्र आचार्यों के समान इस 'अद्भुत' को 'अद्भुत रस' इस नाम से अभिहित करना चाहिए, और

(२) न आचार्य नारायण के समान इस अद्भुत को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि उक्त स्वीकृति में यह 'चमत्कार' अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व रचना के मूल रस का केवल साधन मात्र होता है, साध्य नहीं होता, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहाँ तक कि जिस रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहाँ भी साधन रूप में ही इसकी स्थिति अनिवार्यतः रहेगी। निष्कर्षतः इस प्रसंग में 'अद्भुत' शब्द काव्य-चमत्कार का ही पर्याय है, अद्भुत रस का नहीं।

(६) शान्त रस का स्थायिभाव—

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शान्त रस का स्थायिभाव निर्वेद ॥ मानकर 'शम' माना है। इस सम्बन्ध में उनके निम्न कथन उल्लेखनीय है—

१.२. साहित्यदर्पण ३।३ श्रुति ।

(१) निःस्पृहता (इच्छा के अभाव) को 'शम' कहते हैं—निःस्पृहत्वं शमः । (पृष्ठ ३३०)  
काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित, विषयसंलग्नता से विमुक्त, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप  
'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [केन्द्र में अभिव्यक्त] होता है : 'काम-क्रोध-लोभ-मान-माया-  
चतुर्परत-परोगमुखता-विवर्जिताऽनित्यचेतोरूपशमस्याथो शान्तो रसो भवति । (पृष्ठ ३१७)

(२) दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भ्रम, आक्रोश, ताडन, इष्टवियोग, पर-  
विभूतिदर्शन आदि (सासारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराग्यभाव) तथा तत्त्वज्ञान को  
निर्वेद नामक संचारिभाव कहते हैं—निर्वेदस्तत्त्वयोः क्लेशोर्वैरस्यम् । (पृष्ठ ३३१)

(३) जन्म-मरण से युक्त संसार से, मय तथा वैराग्य से, जीव, भजीव (परमात्मा और  
प्रकृति), नाश-पुण्य आदि तत्त्वों तथा मोक्ष के उपायों के प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्शन से  
शान्त रस की उत्पत्ति होती है । (पृष्ठ ३१७)

स्पष्टतः उक्त कथनों में 'शम' को स्थायिभाव माना गया है और 'निर्वेद' को संचारिभाव ।  
रामचन्द्र-भुल्लुचन्द्र से पूर्व मम्मट ने निर्वेद को स्थायीभाव भी माना था और संचारिभाव भी, तथा  
'निर्वेद' स्थायिभाव से शान्त रस की अभिव्यक्ति स्वीकृत की थी । किन्तु इन आचार्यों ने मम्मट  
के इस मन्तव्य को अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव की इन दोनों नामों से अभिव्यक्ति  
करना स्वयम्भविरोध है । किन्तु वस्तुतः मम्मट को भी वही अभीष्ट है जो इन दोनों आचार्यों  
को है । उन्होंने सभी स्थायिभावों तथा संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके इन्हें 'लक्षण' नाम  
प्रकाश' समझ कर इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया । किन्तु उनके शान्त रस के प्रख्यात उदाहरण  
"अहो वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा" से निस्सन्देह यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक  
स्थायिभाव तत्त्वज्ञान से उत्पन्न भाव है, न कि सांसारिक क्लेशों के कारण उत्पन्न वैराग्य भाव  
से । हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायिभाव की नहीं ।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारों ने भी समझा था और स्पष्टतः  
लिखा था—

स्थायी स्याद् विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि ।

इष्टानिष्टवियोगास्तिसृस्तु व्यभिचार्यन्तौ ॥

का० प्र० (वास्तवोपनि टीका) पृष्ठ ११६

किन्तु फिर भी, रामचन्द्र-भुल्लुचन्द्र ने निर्वेद और शम का स्वरूप अलग-अलग दिलाकर विषय की  
स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवतः इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुसृत विद्वानों

१. (क) निर्वेदस्य × × × प्रथमम् × × × उपदानं व्यभिचारिवैरस्य  
स्थायित्वनिधानार्थम् । का० प्र० ४ । ३४

(ख) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि मयस्य रसः ।

यही ४ । ३१

२. मम्मटस्तु व्यभिचारिवचनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्यादिति, 'प्रतिभूतविभावादि-  
परिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च वृत्त्याः स्वयन्विरोधेन प्रतिहृत इति ।

—हि० बा० ६० पृष्ठ १३२ ।



अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्रारत कर विश्वनाथ ने भी काव्यप्रकाश के समान 'निर्वेद' को दोनों रूपों में स्वीकृत न कर इन्हीं के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावों की अलग-अलग स्वीकृति की है।<sup>१</sup> वस्तुतः स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था।

### (७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक—

'अभिनयते इति अभिनय'। अभिनय उसे कहते हैं जिसके द्वारा [अमीष्ट] मय (विषय) सामाजिकों के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—सामाजिकानामाभिमुखेन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेति अभिनयः।

अनुकर्ता (नट) अपने अनुकरण द्वारा अनुकार्य (रामादि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है : उसके अनुकरण के वक्त पर प्रेक्षक उसे ही अनुकार्य समझने लगता है। किन्तु यह सब कैसे सम्भव होता है क्योंकि न तो अनुकर्ता ने अनुकार्य को देखा होता है, और न प्रेक्षक ने। अतः न तो अनुकर्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है और न प्रेक्षक अनुकर्ता के अनुकरण को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है।<sup>२</sup>

इस पाँका के समाधान में रामचन्द्र-गुणचन्द्र के निम्न कथन उत्प्रेक्षनीय हैं :

१. अभिनेता कवि-प्रणीत रामादि के चरित को पढ़कर अत्यन्त अभ्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं देख सा लिया है और पुनः यह प्रत्यवसान करने लगता है कि मैं उसी का ही अनुकरण कर रहा हूँ।<sup>३</sup>

२. यहाँ एक धका की जा सकती है कि कवि जब अपने नाटको में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते हैं जबकि उन्होंने भी तो राम को नहीं देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि "निकातदर्शी श्रुतिपत्रों से उन्हें यह ज्ञान मिलता है, जिसके आधार पर वे अपने नाटको का निर्माण करते हैं, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।"<sup>४</sup>

३. यद्यपि नट को यह ज्ञान नहीं होता कि अमुक अवसर पर किस प्रकार का हास्य प्रयत्न या रोदन अनुकार्य ने किया होगा, किन्तु वह वस्तुतः सोव्यवहार का (लोक में विभिन्न अवसरों पर हसने और रोने वाले व्यक्तियों का) अनुकरण कर रहा होता है।<sup>५</sup>

१. साहित्यदर्पण ३। १४२, १७५, २४५

२. रामादेरनुकार्यस्य भवेत् प्रेक्षकं च स्वयमहृष्टत्वात्। अनुकर्ता हि अनुकार्यमहृष्टत्वा नानु-  
कुर्मसत्। प्रेक्षकोऽपि चाहृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्तुं रनुक्तुं त्वमनुमन्यते।

हि० भा० द० पृष्ठ ३५२

३. तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताभ्यासवशात् स्वयं हृष्टमनुमन्यमानोऽनु-  
करोमि इत्यप्यवस्यति।—वही

४. इह तावद् द्रष्टव्यमाकृतिरित्य गतिः। × × × इत्येवमशेषमपि रामादिललितम् श्रुत्वा  
कालदर्शनात् ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्थं मुनिज्ञानविश्रवासात्  
नटस्य साक्षाद् दर्शनेमेव।—वही, पृष्ठ ३५३

५. परमार्थतस्तु लोकव्यवहारमेवाऽयमनुवर्तते।—वही

४. उधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने में असमर्थ होता है, तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-सकेतो के श्रवण तथा अत्यन्त मनोरम संगीत आदि के वशीभूत होकर उस नट को रामादि समझने लगता है जो [वाचिक आदि] चार प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है—उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे डूब गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओं में लीन हो जाता है।<sup>१</sup>

५. इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण आगति भी है, जिसके दल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसों का आस्वाद प्राप्त करता है : उन्मिषन्ति च भ्रातरपि शृंगारादयः । क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, वैरी अथवा चोर आदि को देख कर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावों का अनुभव करते हैं।<sup>२</sup>

उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्त्ता की कृत्रिम व्यक्तित्व समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।<sup>३</sup> किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है। उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रंगमञ्चीय मनोहारी व्यवस्था। इन दोनों को नाट्यदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' अथवा चकाचौध भी कह सकते हैं। उधर अनुकर्त्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आपको अनुकार्य ही समझ से और यह तभी सम्भव है जब एक ओर तो वह कवि-निबद्ध नाटक का पुनः पुनः अभ्यास करता है और दूसरी ओर वह लौकिक व्यवहार से विभिन्न प्रकार के मनोभावों का प्रदर्शन सीखता है। छेप रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है ? वह इसे ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले श्रुतिपियों से प्राप्त करता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकांशतः मान्य है। उनका अन्तिम कथन किञ्चित् शिथिल है। इसका समिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के दल पर जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वे सारथ्य लगभग वैसे ही होंगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे। जिसे भाव का आलोचक रूपना (इमैजिनेशन) कहता है उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में 'श्रुतियों की ज्ञानचक्षु' कह सकते हैं। स्वयं वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हों तो भी वे उनकी सर्व प्रकार की मनोदशाओं से अवगत नहीं होंगे। अतः उनकी ज्ञानचक्षु को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते हैं। इसी प्रकार भास, कालिदास आदि नाटककारों ने अन्य मुनियों के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-संगत है और न बुद्धिसंगत।

हमारे विचार में अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परा-

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसकेतश्रवणाद् अतिदृष्टसंगीतकाहितवैद्ययाच्च स्वल्पदेशकालभेदेना-  
स्तयाभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनामदृश्यति ।  
अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु सम्पद्योभवति । —यही, पृष्ठ ३५२-३५३
२. उन्मिषन्ति च भ्रातरपि शृंगारादयः । कामिनीवैरि-चोरादीन् अयिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः  
कथम् अवस्था रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति । —यही, पृष्ठ ३५३
३. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो (प्रेक्षकाः) च रामादिमुखदुःखेषु सम्पद्योभवेयुः । —यही

गत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी के ही बल पर कविजन राम के परम्परागत अथवा लोकानुश्रुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं। यद्यपि अपनी कल्पना के आधार पर वे उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते हैं, तथापि उन के मूल रूप में, उनकी मूल भावना में, कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते हैं, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नहीं। इसी प्रकार नट भी यद्यपि नाटक में निदिष्ट नाटक-कार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सक्रोध, सहर्ष' 'तारस्वरेण' आदि निर्देशों द्वारा अभिनय-कीशल प्राप्त करता है, किन्तु किसी व्यक्ति विशेष के अभिनय के लिए उसे निर्देशन लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुरुषा के विरह-विलाप में क्या अन्तर है यह ज्ञान उसे अथवा उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। ठीक वही स्थिति प्रेक्षक की भी है। सीता के वियोग में 'राम' यदि रगमग पर बिसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से अभिज्ञ प्रेक्षक का 'कहण' रस हास्य-विनोद में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अनभिज्ञ किसी विदेशी रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं आता। बिसूरना भी कहण रस की अभिव्यक्ति का कारण बन सकता है पर सामान्य अनुकार्य के अनुकरण-प्रसंग में न कि राम जैसे धीरोदास नामक के प्रसंग में। इस रसमग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी कसौटी पर यदि कोई नट अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझकर रसास्वाद प्राप्त करता है।

#### ८ रस की सुखदुःखारमकता

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग वह है जिसमें रस की सुखदुःखारमक कहा गया है—सुखदुःखारमको रसः। (३।७) इस कथन को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकारों का अभिमत है कि जहाँ शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ कहण, रोद्र, भीमरस और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।<sup>१</sup> प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसों की भी यदि सुखारमक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं :

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयों को किसी अवर्णनीय क्लेशादशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला वही कोई उद्विग्न होता है ?<sup>२</sup> सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रों तथा केशों का कर्पण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रौहिताश्व की मृत्तु आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद को प्राप्त करता हो ?<sup>३</sup>

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सांसारिक सुखों का वर्णन सुख-रूप में करते हैं और दुःखों का वर्णन दुःख रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की कहण-दशाएँ निरसन्देह दुःखात्मक

१. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ १६०।

२. भयानकी भीमरस कहली रौद्रो वा रसास्वादवताम् अनास्थेया नामपि क्लेशादशामुप-नयति। अतएव भयानकादिभिर्द्विजते समाज। न नाम सुखास्वादाद् उद्देशो घटते।

—वही, पृष्ठ २६१।

३. वही, पृष्ठ २६१-२६२।

होती है, अतः यदि उनके काव्य-नाटक गत अनुकरण को सुखात्मक माना जाए तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा ।'

३. रस को सुखात्मक मानने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एवं शोकाकुल जनो के सम्मुख कार्णिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटक गत कथण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में भी दुःखी जनो को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण वार्ताओं से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओं से [इतर जनो के समान] सुख का अनुभव न कर बिकलित ही होता है। अतः नाट्यों का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एवं मान्य नहीं है। वस्तुतः कथण आदि रस दुःखात्मक ही हैं ।'

४. यद्यपि भयानक, कथण आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि हमसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं तो केवल-मात्र कवि एवं नट की कुशलता से चमस्कृत होकर ही ।'

इस वचन से श्रव्यकारो का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एवं हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोचुपता ही सहृदय को भयानक, कथण आदि रसों से मुक्त भी काव्य-नाटकों से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हें बार बार पढ़ने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए श्रव्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचरित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है, उसी प्रकार प्रेक्षक भी अथवा नटके कौशल द्वारा चमस्कृत हो जाते हैं।

उक्त तर्कों में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किया गया है और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्यति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एवं सान्त्वना से सम्बद्ध है और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जग्य बाह्य चमत्कार से। यदि सम्भौरतापूर्वक विचार करें तो इन चारों तर्कों के मूल में एक ही भाव धारणा उल्लिखित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही घरातल पर अवस्थित हैं। यही कारण है कि पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, कथण आदि रसों

१. (क) कवयस्तु सुखदुःखारमकससारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्मन्तः सुखदुःखारमक-रसानुविष्टमेव ध्रमन्ति ।

(ख) सयानुचार्यगतादयः कदण्ठादयः परिवेयितानुचार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव । यदि चाऽनुकरणे सुखारमनः स्युः न सम्पन् अनुकरणं स्यात् । विपरीतत्वेन भासनाद् इति । —यही, शृष्ठ २६१-२६२ ।

२. यही, शृष्ठ २६२ ।

३. प्रतेनेष च सर्वाङ्गाह्लासेन बबिन्दशशिजगमना चमत्कारेण विप्रसव्या परमानन्द-रूपतां दुःखारमकेष्वपि बटणादिषु सुमेयता प्रतिजानते । —यही, शृष्ठ २६१ ।

४. विरमयते हि निरददेवचारिणाऽपि प्रहारश्रुतेन चरिणा दीप्योरमानिनः । —यही

द्वारा वैसा ही उद्भिन्न एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि साधारण व्यवहार में भयभीत प्रयत्न कल्याणप्रसन्न व्यक्ति को। किन्तु वस्तुतः लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं और काव्यगत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे तर्कों में उक्त धारणा के ही बल पर लौकिक घटनाओं और काव्यगत घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु यह एक भ्रमान्वय मन्तव्य है। दोनों में बहुविध तथा बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओं के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण भी अनिवार्य रहता है। अस्तु! अतः लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदुःख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है। अब तीसरे तर्कों को लें। ऊपर लोक में पुत्र विच्छेदविह्वला माता के शोक में, और इधर ऐसी माता को रमण पर देखकर अथवा इसके चरित्र को पढ़कर शोक-विह्वल सहृदय के शोक में अन्तर है। ऊपर सान्त्वना से दुःख का हल्का होना, इस का कुछ क्षणों के लिए छुट्टा हो जाना अथवा इसका बढ़ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्भिन्न अथवा आवुस [यदि इस स्थिति को वह नाम दें तो] सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना प्रदान का प्रयत्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य नाटकगत घटनाओं से इतर घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती हैं तो उस समय वह सहृदय न होकर साधारण व्यक्ति-मान रह जाता है। चतुर्थ तर्कों में सत्यता अवश्य है, पर एकांगी। कवि के रचना कौशल से और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से जग्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है। इस कथन की पुष्टि में एक प्रमुदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त कथणोत्पादक एवं हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा कल्याण के स्थान पर हास्य का रूप धारण कर लेता है। अस्तु! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से किसी भी स्थिति में इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नहीं होता। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में वह सहृदय के रति भाव को उद्दीप्त करता है और कल्याण रस में उसके शोक भाव को। इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-बन्ध चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय में आश्चर्यभाव भी उत्पन्न करता है। किन्तु जैसा कि रामचन्द्र गुणचन्द्र का मन्तव्य है कि इसी आश्चर्यभाव को कल्याण रस में सुख-प्राप्ति का कारण नहीं मानना चाहिए। यह आश्चर्यभाव लौकिक होता है। अतः इससे लौकिक आह्लास ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नहीं हो सकता।

(२)

रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र नहीं है। इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं।<sup>१</sup>

(क) येन त्वम्यथापि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यं व सुखदुःखस्वभावो रसः। [अज्ञात आचार्य] अभिनवभारती, भा० १ पृष्ठ २७८

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'रससिद्धान्तः स्वरूप विस्तरेण' (आनन्दप्रकाश दीक्षित)

पृष्ठ २०६-२३०

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते अतएव तदुभयजनकत्वम् ।  
—रसकतिका (छद्मट्ट) नम्बर आफ रस'ज पृष्ठ १५५

(ग) रसा हि सुखदुःसरूपाः । शृ० प्र० २५ भाग पृष्ठ ३६६

किन्तु इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र गुणचन्द्र के समान शृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे और भयानक, करुण आदि को दुःखात्मक । इन कथनों के प्रतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण मानते थे ।

कदरुप्रेसाणीयेषु सभ्यतसु सुखदुःखयोः ।

यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोज प्रसारयो ॥ का० सू० वृ० ३।१।६ वृत्ति

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में सुख और दुःख का मिश्रण सहृदयजनो के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार भोज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है । सुख पहले होता है अथवा दुःख पहले—इस और इस श्लोक में कोई संकेत नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह करुण रस में दुःख की स्थिति पूर्वमान्य होगी, और सुख की बाद में । दूसरे शब्दों में, सहृदय लौकिक दुःख का अनुभव करता हुआ भी अन्ततः काव्यगत आनन्द का—प्रलौकिक सुख का—अनुभव करता है । कुछ इस प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से की है । उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसों में तुल्य रूप से नहीं होता । इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि किसी रस में रजोगुण और तमोगुण नितात अभिभूत हो जाए और सत्त्वगुण पूर्णतः आविर्भूत अथवा उद्धिक्त हो जाए, अर्थात् रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान रहते हैं । ये किस रस में कितनी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते प्रसङ्ग हैं । अतः उनके मिश्रण के सारसम्य के अनुसार सब रसों में सुख के साथ दुःख का मिश्रण भी सम्भवा चाहिए ।

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त-चार विवक्ष्य उपस्थित होते हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदुःखात्मक हैं

(ग) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं और भयानक, करुण आदि रस दुःखात्मक हैं,

(घ) शृंगार आदि रस तो सुखात्मक हैं किन्तु भयानक आदि रस सुखदुःखात्मक हैं ।

१. सत्त्वगुणस्य सुखरूपात् सर्वेषां भावनां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोर्निमिषणाम् तारतम्य-मयगतमम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यमुपानुभवः । —न० आक्ष १० पृष्ठ १५६

इन विषयों में से रामचन्द्र गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्ट, तीसरे विवरण को स्वीकार करते हुए भयानक आदि को दुःखारम्भ स्वीकार करते हैं तथापि वे इन्हें अन्ततः, सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे। कुछ इस प्रकार का संकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—पानकमायुर्ममिव च तीक्ष्ण-स्वादेन च स्वास्वादेन मुतरां सुखानि स्वहन्ते इति । (हि० ना० ८० पृष्ठ २६१) अर्थात् “जिम प्रकार पानक (चट्टे-मीठे तीखे पेय) की मिठास दुःखवादजनक तीक्ष्ण पदार्थ की मिथल से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार कष्ट आदि रसों में भी दुःख का मिथल सुखास्वाद प्रदान करता है।” यस्तु, देखा जाए तो पानक पदार्थ और कष्ट रस में स्थापित यह उपमेय-उपमान सम्बन्ध यथावत् एवं सुस्पष्टित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पानक में मायुर्म और तीक्ष्णता के मिथल में भेदे ही पूर्वापर सम्बन्ध हो, किन्तु उसके स्वास्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु कष्ट रस के शोक (लौकिक दुःख) और इस रस के स्वास्वाद (सुख) में निस्सन्देह पूर्वापर सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि सहायक बात है कि इनमें काल का अन्तर इतना स्वरित एवं स्पष्ट होता है कि यह कहते नहीं बनता कि इस दुःख और सुख में कोई काल सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह उद्देश्य यह मानने के लिए पर्याप्त है कि यह उक्त विवरणों में से तीसरे विवरण को स्वीकार न कर चौथे विवरण को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, कष्ट आदि केवल दुःखारम्भ न होकर सुखदुःखारम्भ हैं। अथवा यो कहिये कि दुःखसुखात्मक हैं। पूर्वस्थिति में यह दुःखारम्भ हैं और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही उनकी भाव्यता है तो इसकी व्याख्या उपस्थित की जा सकती है। यदि वे भयानक, कष्ट आदि को नितागत दुःखारम्भ स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिबल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिबल होने का कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विवेचनाय का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि कष्ट आदि रस इसीलिए सुखात्मक हैं कि सहृदय जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् आलोकित रहते हैं—

कष्टणादावपि रसे जायते यद्वरं सुखम् ।

सचेतसामनुभव प्रमाणं तत्र केवलम् ।

विच तेषु यदा सुखं न कीदृषि स्यात्तदुन्मुख ॥

सर्ग ८० ३१४,५

रामचन्द्र गुणचन्द्र का कोई पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने की कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिंतक आचार्य कष्ट आदि को केवल दुःखारम्भ ही मानते होंगे। वह इसे दुःखारम्भ मानते अवश्य होंगे किन्तु पूर्वस्थिति में, और अन्ततः वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।

(४)

इस भाव्यता की व्याख्या कई रूपों में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :

१. शृंगार, कष्ट आदि सभी प्रकार के रसों में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तब विभावादिके संयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते, तब तब उनमें लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृंगार रस के नाटक में अपनी प्रियसी की अथवा कष्टरस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति

हो जाती है तो उसका रति भयवा शोक भाव उसे लौकिक सुख भयवा दुःख की अनुभूति करायेगा। वह प्रेक्षक नाट्यगृह में बैठा हुआ भी तराण के लिए सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है—रतिजन्य सांसारिक सुख भयवा शोकजन्य सांसारिक दुःख इस रस-दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हैं और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहते हैं कि वे भव लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर प्रलौकिकता के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं। जब तक भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह पटना-स्थल नाट्यगृह भी क्यों न हो), तब तक वे निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे सुखात्मक भयानक, कष्ट आदि रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

३. भयानक, कष्ट आदि की अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय प्रसाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।<sup>१</sup> उसका भय भयवा शोक किसी देश भयवा काल-विशेष से मुक्त हो जाता है।<sup>१</sup> वह अपने समस्त मोह, संकट आदि (से अन्य अज्ञान) से निवृत्त हो जाता है।<sup>१</sup> परिणामतः काव्य-नाटकगत कोई पात्र भव उसके लिए अपना बिकृष्ट व्यक्तित्व छोड़ मानव-मान बन जाता है—राम नामक पुरुष पात्र पुरुषमात्र बन जाता है और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाता है,<sup>२</sup> और इसका प्रगल्भा परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनों प्रकार के विद्वांसों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृंगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दुःखानुभूति—यह प्रवस्था दोनों प्रकार के रसों में अनौकिक सुखात्मिका हो होती है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि—

१. प्रत्येक स्थाविभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख भयवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में केवल प्रलौकिक सुख का ही।

२. भयानक, कष्ट आदि रसों में निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दुःख का अनुभव करता है—किन्तु वह लौकिक दुःख ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृंगार, हास्य आदि रसों में रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख भयवा दुःख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

१. (क) प्रसाधारणस्य साधारणकरणम् इति साधारणीकरणम् ।

२. × × × भयमेव परं देशकालाद्यनित्यमितम् । —हिन्दी अभिनवभारती पृष्ठ ४७०

३. काव्ये × × नाट्ये चे × × निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि-साधारणीकरणान्मना × × × । —यही, पृष्ठ ४६४-४६५

४. तत्र सीतादिशब्दा. परित्यक्तजनकतनयाविविशेषा स्त्रीमात्रवाचिनः । —वशरूपक ४/४० वृत्ति



३. किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति हो ही, किन्हीं सहृदयों को नहीं भी होनी, यद्यपि ऐसे सहृदयों की संख्या बहुत अल्प होती है, किन्तु दोनों प्रकार के रसों से उन्हें अलौकिक सुखानुभूति अवश्य प्राप्त होती है।

४. अतः भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दुःखात्मक नहीं मान सकते, और अधिकांशतः ऐसा मान लेने पर भी वह दुःख लौकिक ही होता है, किन्तु यह दुःख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयों की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

५. निष्कर्षतः भयानक, कदस आदि रस दुःखात्मक नहीं है, वे वे भी शृंगार आदि के समान सुखात्मक ही हैं।

---

## (ख) नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान

नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध एवं अनुपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण करने से हमें प्रमुख नाट्यशास्त्रियों की सात कोटियाँ मिलती हैं : —

(१) भरत के पूर्ववर्ती आचार्य जिनकी रचनाओं को भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में सर्वथा आत्मसात् कर लिया है। इन आचार्यों की रचनाएँ अभी तक अप्राप्य हैं।

(२) आचार्य भरत जिनका नाट्यशास्त्र सत्ताष्टियों तक प्रायः सभी आचार्यों की रचनाओं का मूल आधार बना रहा।

(३) भरत के अनुवर्ती आचार्य जिनकी रचनाएँ भरत के नाट्यशास्त्र पर प्रायुक्त हैं। इन्होंने कारिकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखकर भरत के मत का स्पष्टीकरण किया। इस वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं—अभिनवगुप्त<sup>१</sup>, धनञ्जय<sup>२</sup>, सागरनन्दी<sup>३</sup>, रामचन्द्र-गुणचन्द्र<sup>४</sup>, धारदासनय<sup>५</sup>, शिङ्गभूपाल<sup>६</sup>, लण्गोत्सवामी<sup>७</sup>, सुन्दरमित्र<sup>८</sup> और नन्दिकेश्वर<sup>९</sup>।

(४) वे आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ तो अनुपलब्ध हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने अपनी रचनाओं में जिनका उल्लेख करते हुए कहीं कहीं उनके उद्धरण दिये हैं। उदाहरणार्थ अभिनवगुप्त ने अपने प्रथम अध्याय में नान्दी का विवेचन करते हुए 'कोहलप्रदक्षिता नान्दी' लिख कर यह सिद्ध किया है कि उन्हें कोहल की कोई न कोई रचना उपलब्ध थी जो अब अप्राप्य है। वे एक स्थान पर भरत से कोहल का मतवैभिन्य दिखाते हुए वे मिलते हैं :

“अनेन तु क्षोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते।”

[अभिनवभारती, अध्याय ६ कारिका १० की वृत्ति]

अभिनवगुप्त ने दक्षिणाचार्य के श्लोकों को भी चौदह बार उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि दक्षिण नामक आचार्य की भी कोई न कोई रचना अभिनवगुप्त को प्राप्त थी। सागरनन्दी के 'नाटकलक्षणरत्नकोष' में अरघुकुट्ट और नादरायण की रचनाओं के कई उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसी ग्रन्थ में शातकर्णी नामक आचार्य के कई उद्धरण पाये जाते हैं। अभिनवगुप्त

|                       |                              |
|-----------------------|------------------------------|
| १. रचना—अभिनवभारती    | — समय दसवीं शताब्दी का अन्त। |
| २. „ दशरूपक           | — समय ६७४ से ६९४ ई०।         |
| ३. „ नाटकलक्षणरत्नकोष | — समय ११ शतक का पूर्वार्ध।   |
| ४. „ नाट्यदर्पण       | — समय १२ शतक का मध्यभाग।     |
| ५. „ भावप्रकाशन       | — समय १२ और १३ शतक के मध्य।  |
| ६. „ नाटकपरिभाषा      | — समय १४ शतक।                |
| ७. „ नाटकचित्रिका     | — समय १५ शतक।                |
| ८. „ नाट्यप्रदीप      | — समय १६१३ ई०।               |
| ९. „ अभिनयदर्पण       | — समय २-३ शती ई० (सम्भवतः)   |

ने तुंबड़ नामक आचार्य की रचना का उद्धरण देकर एक स्थान पर लिखा है—‘तुम्बड़देव-मुक्तम ।’ अभिनवभारती के चौदहवें अध्याय में कात्यायन का मत कई श्लोको में उद्धृत किया गया है । कात्यायन ने वीरो के भुजदह के वर्णन में सगंधरा छन्द और नायिका-वर्णन में वसन्त-तिलका का प्रयोग विहित माना है । इसीप्रकार इसी ग्रन्थ के चौथे अध्याय में राहुल नामक आचार्य का मत देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—‘यथोक्त राहुलेन,’ तथा ‘ते च यथाह राहुला’ विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में नखकुट्ट की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं । इस प्रकार इस कोटि के प्रमुख नाट्याचार्य हुए—मातृगुप्त, दत्तिन, भस्मकुट्ट, वादरायण, सातकर्णी, तुम्बुरु, कात्यायन, राहुल, नखकुट्ट आदि ।

(५) पाँचवीं कोटि में वे आचार्य आते हैं जिनका एकमात्र नामोल्लेख पाया जाता है, किन्तु जिनकी न तो कोई रचना उपलब्ध है, न किसी श्लोक का उद्धरण ही कहीं पाया जाता है । ऐसे आचार्यों में भरत के पूर्ववर्ती हैं—शिलालिप्त, कृशास्व, धूर्तिस, शान्तिहर्ष, वात्स्य जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में पाया जाता है । अभिनवभारती, दशरूपक और भावप्रकाशन में सदाशिव, पद्मभू, प्रोहिणि, व्यास, भ्राञ्जनेय नामक आचार्यों का नाट्यकार के रूप में वर्णन मिलता है, परन्तु उनकी किसी रचना का उद्धरण नहीं पाया जाता । वारदासन ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन में सुबन्धु का उल्लेख किया है । यदि यह सुबन्धु वासवदत्ता के रचयिता भी हैं तो इनका समय पाँचवीं शताब्दी में मानना होगा, किन्तु नाट्यसम्बन्धी इनकी कोई भी रचना प्राप्य नहीं है ।

(६) छठी कोटि में वे आचार्य आते हैं जिन्होंने नाटक के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र रचना न करके केवल भरत-नाट्यशास्त्र का भाष्य प्रस्तुत किया है । ऐसे भाष्यकारों में आचार्य अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, नान्यदेव, भट्ट उद्भट, श्रीगणक, भट्टयत्र प्रसिद्ध हैं ।

(७) सातवीं कोटि में वे आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सभी अंगों को ग्रहण करके उसके कुछ अध्यायों में नाट्य-शास्त्र का विवेचन किया है । ऐसे आचार्यों में शिङ्गभूषाल, रूपगोस्वामी, भोजराज, विद्यानाथ और विश्वनाथ प्रसिद्ध हैं । शिङ्गभूषाल ने अपने ग्रन्थ ‘रत्नांशु-सुधाकर’ में एक और तो ‘नाटक-परिभाषा’ की रचना केवल नाट्य-विषयों को लेकर की, और दूसरी ओर इन ग्रन्थ के अंतिम भाग में काव्य के अन्य विषयों के साथ नाट्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला । इसी प्रकार भोजराज ने ‘शृंगारप्रकाश’ के बारहवें प्रकाश में नाटक का वर्णन किया और शेष में साहित्यशास्त्र के सभी अंगों का । उन्होंने अपने ‘सरस्वतीक्षेत्रप्रकरण’ के पाँचवें परिच्छेद में तो नाटक का विवेचन किया और शेष अध्यायों में काव्यशास्त्र के अन्य अंगों का । विद्यानाथ ने ‘प्रतापहृदयश्रीसूचणु’ नामक ग्रन्थ के केवल तीसरे प्रकरण में नाटक का विवेचन किया और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाट्य-सम्बन्धी लक्षणों पर प्रकाश डाला । इन आचार्यों ने भरत-नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक को अपनी रचनाओं का आधार बनाया ।

उक्त आचार्यों में से अधिकांश ने अपने को भरत के नाट्यशास्त्र का ऋणी माना है, किन्तु नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र बड़े बर्ग के साथ अपनी रचना को सर्वथा मौलिक मानते हैं, और भरत-नाट्यशास्त्र पर आदृत दशरूपक के मर्मों का स्थान स्थान पर खण्डन करते हैं । रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्व धनञ्जय और उनके अनुज धनिक भी दशरूपक पर प्रवलोक-वृत्ति का इतना प्रचार हो गया था कि सर्वत्र उक्त शब्द ही समादृत हो रहा था । धनञ्जय के उपरान्त

तीन शताब्दियाँ बीत चुकी थी, और इस काल में ऐसे अनेक नाटक विरचित हो चुके थे, जिन्हें देख कर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को दशरूपक के लक्षण और उदाहरण अपर्याप्त प्रतीत होने लगे, और उन्हें नाट्यशास्त्र पर एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता जान पड़ी।

### रचना की प्रेरणा

रामचन्द्रगुणचन्द्र के पूर्व नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तीन ग्रन्थ अति प्रसिद्ध थे। १. भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' २. घनञ्जय-कृत 'दशरूपक' ३. सागरनन्दी-कृत 'नाटकलक्षणरत्नकोष'। नाट्य-दर्पण में स्थान स्थान पर उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों से मतभेद मिलता है। रामचन्द्र स्वयं एक सकल नाट्यकार थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की। अपने ग्रन्थ नाट्यदर्पण में पारिभाषिक शब्दों का लक्षण देते हुए उदाहरण के लिए उन्होंने अपने नाटकों से उद्धरण दिये। इससे यह आभास मिलता है कि वे पूर्ववर्ती प्राचार्यों के लक्षण और उदाहरणों में असन्तुष्ट होकर नवीन ग्रन्थों की रचना आवश्यक समझते थे। वे स्वयं लिखते हैं कि कालिदास आदि महान् कवियों के बनाए हुए अनेक रूपकों को देख कर और स्वयं भी अनेक रूपकों का निर्माण करके हम दोनों नाट्य-लक्षण की विवेचना आरम्भ करते हैं। (ना० द० ११२)

प्राचार्य विश्वेश्वर ने अपनी भूमिका में इस ग्रन्थ की प्रेरणा के सम्बन्ध में अपना मत दिते हुए लिखा है "इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आवश्यक नहीं है। दशरूपककार घनञ्जय मालवमहेश मुञ्ज के सभापण्डित थे। रामचन्द्र-गुणचन्द्र गुर्जरेश्वर के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संपर्क रहता था। इसमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए गौरव-प्रति के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीश के आश्रय में निर्मित दशरूपक की प्रतिस्पर्धा में इस नाट्यदर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा संभावित है"।

दशरूपक और नाटकलक्षणरत्नकोष से नाट्यदर्पण की तुलना करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र को पूर्ववर्ती प्राचार्यों के नाट्यसम्बन्धी लक्षणों से कई स्थलों पर इतना असन्तोष था कि उन्हें अपने मत को स्पष्ट करने के लिए एक नये ग्रन्थ की रचना करनी आवश्यक प्रतीत हुई। दशरूपक और नाट्यदर्पण की तुलना करते हुए २१ स्थलों पर मतभेद मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन भूमिका के पृष्ठ २१ से २५ तक देखा जा सकता है। सागरनन्दी के मत से भी ये ग्रन्थकार कई स्थलों पर मतभेद रखते हैं, इसका विस्तृत विवेचन भी पृष्ठ २५ पर देखा जा सकता है।

### रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मौलिकता

रामचन्द्र गुणचन्द्र निर्भीक शास्त्र प्रणेतार थे। उन्होंने न केवल घनञ्जय और सागरनन्दी के ही मतों का खण्डन किया है अपितु भरतमुनि के मत का भी खण्डन करने में उन्हें सकोच नहीं हुआ। निदर्शन एवं प्रमाण के लिए निम्न प्रसंग द्रष्टव्य हैं—

तृतीय विवेक में प्ररोचना के सम्बन्ध में उनका मत देखा जा सकता है। इसके लिए भूमिका का पृष्ठ २० द्रष्टव्य है। वृत्तियों का निरूपण भी भरतमुनि के मत से भिन्न जान पड़ता है।

रामचन्द्र ने भरतमुनि के 'भारती वृत्ति विवेचन' में 'बदतोव्याघात दोष' दिखा कर भरतमुनि के मत को झालोचना की है। भरतमुनि ने जहाँ रूपक के दस भेद किये हैं वहाँ 'नाट्यदर्पणकार' ने इसके बारह भेद करके भगलाचरण में ही जितनाही ॐ आचारादि से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह भगो के अनुसार रूपक के बारह भेदों का संकेत कर दिया है। भरतमुनि के दशरूपको से दो भेद नाटिका और प्रकरण अधिक मान कर इन्होंने नयी पद्धति से बारह रूप-भेदों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने नाटक, प्रकरण, नाटिका, और प्रकरणों में कैंशिकी, सात्वती, भारभटी और भारती वृत्तियाँ मानी हैं किन्तु व्यायोग, समवकार, माण, प्रहसन, डिम उत्पृष्टिकाङ्क, ईहामृग एव शीघ्री में कैंशिकी रहित केवल तीन वृत्तियाँ। इसप्रकार वृत्तियों के आधार पर नाटको का वर्गीकरण रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी मौलिक सूत्र है।

नाट्यदर्पण में रस विवेचन भी पूर्वाचार्यों से कही कही भिन्न प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र अपने पूर्ववर्ती आचार्यों मम्मट के मत का खडन करते हुए कही भी संकोच नहीं करते। मम्मट 'अधिक विस्तार' को रसदोष में परिगणित करते हैं, किन्तु नाट्यदर्पणकार इसे रसदोष न मान कर वृत्तदोष मानते हैं। उनका कथन है कि रस की दृष्टि से यह दोष न होकर गुण है। "प्रतिपक्षी का प्रत्यत उत्कर्ष दिखलाकर नायक द्वारा उसका बध कराने में तो नायक का उत्कर्ष बढता ही है, इसलिए यह दोष नहीं अपितु गुण है।" इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नाट्यदर्पण के पृष्ठ १५५ पर देखा जा सकता है। इसी प्रकार इन आचार्यों ने अभिनवगुप्त के मतों का भी रस की दृष्टि में खडन किया है। इसके लिए भूमिका (पृष्ठ २८ से ३१) तक द्रष्टव्य है।

नाट्यदर्पणकार का रस विवेचन सर्वथा मान्य भले ही न हो, पर वह मौलिक प्रयत्न है। उन्होंने रस को सुखदुःखात्मक दोनों माना है,<sup>१</sup> उनके मत से शृङ्गार, हास्य, वीर, भक्तुत और घात तो सुखात्मक रस हैं किन्तु कण्ठ, रोद्र, बीभत्स और भयानक रस दुखात्मक ही हैं। तृतीय विवेचन में कतिपय आचार्यों के सभी रसों की सुखात्मकता का खडन करते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र कारिका की वृत्ति में कहते हैं :—

[कुछ आचार्यों के द्वारा] जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया जाता है, वह प्रतीति के विपरीत [होने ॐ सामान्य असंगत] है। मुख्य [प्रर्षात् वास्तविक] विषयों से उत्पन्न कण्ठ आदि की दुःखात्मकता की तो बात ही जाने दो, काव्य के अभिनय में प्राप्न [बनावटी] विभाव आदि से उत्पन्न हुमा भी भयानक बीभत्स, कण्ठ, भयवा रोद्र रस आस्वादन करने वालों को कुछ भवर्णनीय सी बलेश दशा को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए भयानक आदि [दृश्यो] से सामाजिकों को घबराहट होती है [यदि सब रस सुखात्मक हो तो] सुखास्वादसे तो किसी को उद्वेग नहीं होता [इसलिए कण्ठादि रस दुःखात्मक ही होते ॥]।<sup>२</sup>

१. स्थायीभाव प्रीतिकर्षो विभावव्यभिचारिभि ।

स्वष्टानुभावनिश्चये सुखदुःखात्मको रसाः ॥

२. यत् पुन सधरसानां सुखदुःखात्मकत्वमुच्यते ॥ प्रतीतिवाचितम् । प्रास्ता नाम मुख्यविभावोपचिता, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सकण्ठो रोद्रो वा रसास्वादवतामनास्थेयां कामपि बलेशदशाभुपनयति । अतएव भयानकादिभिरद्विजते समाजः । न नाम सुखास्वादोबुद्धेयो यदते । हि० भा० ६० पृष्ठ २६०-२६१

सभी रसों को सुखारमक मानने वाले प्राचार्यों के तर्कों का खंडन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि कवि एवं प्रभिनैता के कौशल के द्वारा करुण आदि रसों में भी बुद्धिमान् व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति होती है, यह धारण्यमान है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की युक्ति यह है कि कविगण तो सुख-दुःखात्मक ससार के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुखदुःखात्मक रसों से युक्त ही (काव्यनाटक आदि की) रचना करते हैं। अब कवि को स्वतः दुःखारमक रस की अनुभूति होती है तो रोहिताश्व के मरुण, खड्गण के दक्षि भेदन आदि को देखकर सामाजिक को सुख वा आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए करुणादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।]

उनका दूसरा तर्क यह है कि अनुकार्यगत करुणादि विलापादि युक्त होने के कारण निश्चित रूप से दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्पक् अनुकरण नहीं हो सकता है।

तीसरा तर्क है कि इष्टजन के विनाश से दुःखियों के सामने करुणादि वा ध्यान किये जाने अथवा अभिनय किये जाने पर जो सुखास्वाद होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है।

नाट्यदर्पणकार करुण को दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गार को सुखारमक स्वीकार करते हुए कारण बताते हैं कि—विप्रलम्भशृङ्गारस्तु बाह्यदिकार्यस्वाद दुःखरूपोऽपि सम्भोग सम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मक।

अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार तो इष्टजन के दाहादि द्वारा विनाश की प्रतीति से जन्म होने के कारण दुःख रूप होने पर भी उसमें सम्भोग (पुनर्मिलन) की सम्भावना बनी रहने से सुखारमक ही है।

नाट्यदर्पणकार का रससिद्धान्त अथ प्राचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वे काव्य और नाटक में सामान्य विषयक और विशेष विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानते हैं। जहाँ अन्य प्राचार्य लोक में होने वाली स्त्री पुरुष की परस्पर रति की रस नहीं मानते, वहाँ नाट्यदर्पणकार लौकिक स्त्री पुरुष आदि को भी विभावानि शब्दों से और उनकी रति आदि को भी 'रस' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं।

अन्यकार के मत से रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं (१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष (२) नट (३) काव्य नाटक के श्रोता (४) काव्यनाटक के अनुसन्धाता अर्थात् कवि एवं नाट्यकार (५) सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्ता श्रोता एवं अनुसन्धाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

रसभेद सबकी अधिकार का मत अन्य प्राचार्यों के मत से भिन्न है। यद्यपि रामचन्द्र गुणचन्द्र रस के मूलतः नौ भेद मानते हैं, किन्तु इनके प्रतिरिक्त सृष्ट्या को स्थायी भाव मान कर लौत्पररस, धादता को स्थायिभाव मानकर स्नेह रस, आसक्ति को स्थायी भाव मान कर व्यसनरस, भरति को स्थायीभाव मान कर दुःख रस, और सतोष को स्थायी भाव मान कर सुख रस को भी अनुभूति के स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने स्वतन्त्र ढंग से रसविवेचन का भी प्रयास किया है। इस प्रयास में सफलता की कसौटी एक मात्र यही है कि आचार्यों ने उनके मत को वहीं मान्य नहीं माना, और विश्वनाथ आदि ने उनके मतों की सर्वदा अवहेलना ही की।

नाट्यदर्पणकार की एक बड़ी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि वे अपनी कारिका के गूढ़ स्थलों की व्याख्या स्वरचित वृत्ति में इतने विस्तार के साथ कर देते हैं कि वे गूढ़ स्थल स्पष्ट हो जाते हैं। कहीं कहीं तो अन्य आचार्यों के कई श्लोकों में वर्णित वक्षणों को वे एक ही श्लोक में समाविष्ट कर लेते हैं। जहाँ भरत मुनि ने अठारहवें अध्याय के १०, ११, १२वें श्लोकों में नाटक का लक्षण किया है वहाँ रामचन्द्र ने केवल एक श्लोक में नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—

“उत्त रूपक सेवो मे से धर्म, धर्म और कामरूप त्रिविध फलो जाता, भक्त, उपाय, दया,  
सधि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हो, इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं का  
चरित्रप्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है :—

व्यासादराजचरितं धर्मकामार्थसकलम् ।

साङ्ख्योपायादशा-संधि-विषयाङ्गं तत्र नाटकम् ॥ ११३

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के नाटक शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने ‘एतद् नृती’ के स्थान पर ‘एतन्नृती’ पाठ मान कर गति धर्मात् नमनार्थक नद् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो उनके विचार से ‘मिता ह्रस्वः ६।४।६२ (अष्टा०) सूत्र से शिच् पर रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से ‘नटक’ शब्द ‘घटक’ के समान बनता है। किन्तु रामचन्द्र की यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। (विशेष विवेचन के लिए नाट्यदर्पण की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या पृ० २३ देखिए।) इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनवगुप्त ने केवल नमनार्थक धातु से ही नहीं, अपितु नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। अभिनवगुप्त लिखते हैं:—

नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रहृषाभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोत्साहनया  
हृदय शरीर च नर्तयति नाटकम् ।

नाटक और नाटकेतर काव्यों में अन्तर—

नाट्यदर्पणकार के पूर्व आचार्यों ने नाटक एवं नाटकेतर काव्य में उतनी स्पष्टता के साथ अन्तर नहीं दिखलाया है, जितनी स्पष्टता हमें रामचन्द्रगुणचन्द्र की रचना नाट्यदर्पण में मिलती है। आचार्य धनञ्जय ने नाटक और नाटकेतर रूपकों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है—

प्रकृतिरवादयान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।

सम्पूर्णसंसारत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥

[नाटक अन्य प्रकार के रूपकों की प्रकृति है। अगर्भ प्रकरण आदि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही दिया जाता है। नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है, और उसमें सपूर्ण लक्षण होते हैं।]

सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले आचार्यों के तर्कों का खंडन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि कवि एवं अभिनेता के कौशल के द्वारा कष्ट आदि रसों में भी बुद्धिमान् व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति होती है, यह धारणायाम है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की युक्ति यह है कि कविगण तो सुख-दुःखात्मक सत्कार के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुखदुःखात्मक रसों से युक्त ही (काव्यनाटक आदि की) रचना करते हैं। जब कवि को स्वतः दुःखात्मक रस की अनुभूति होती है तो 'रोहिताश्व' ने मरण, लक्ष्मण के शक्ति-भेदन आदि को देखकर सामाजिक को सुख का आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए कष्टादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।]

उनका दूसरा तर्क यह है कि अनुकार्यगत कष्टादि विषादादि युक्त होने के कारण निश्चित रूप से दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्पक् अनुकरण नहीं हो सकता है।

तीसरा तर्क है कि इष्टजन के विनाश से दुःखियों के सामने कष्टादि का दर्शन किये जाने अथवा अभिनय किये जाने पर जो सुखास्वाद होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है।

नाट्यदर्पणकार कष्ट की दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गार को सुखात्मक स्वीकार करते हुए कारण बताते हैं कि—विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहाविकार्यत्वाद् बुद्धिपोषि सम्भोग-सम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मक।

अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार तो इष्टजन के दाहादि द्वारा विनाश की प्रतीति से जन्म होने के कारण दुःख रूप होने पर भी उसमें सम्भोग (पुनर्मिलन) की सम्भावना बनी रहने से सुखात्मक ही है।

नाट्यदर्पणकार का रससिद्धान्त अन्य आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वे काव्य और नाटक में सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानते हैं। जहाँ अल्प आचार्य लोक में होने वाली स्त्री पुरुष की परस्पर रति को रस नहीं मानते, वहाँ नाट्यदर्पणकार लौकिक स्त्री पुरुष आदि को भी विभावादि शब्दों से और उनकी रति आदि को भी 'रस' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं।

अथकार के मत से रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं (१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष (२) नट (३) काव्य नाटक के श्रोता (४) काव्यनाटक के अनुसंधाता अर्थात् कवि एवं नाट्यकार (५) सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्ता, श्रोता एवं अनुसंधाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

रसभेद संबंधी अथकार का मत अन्य आचार्यों के मत से भिन्न है। यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस के मूलतः दो भेद मानते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त तुल्यता को स्थायी भाव मान कर लोत्तररस, आदत्ता को स्थायिभाव मानकर स्नेह रस, आसक्ति को स्थायी भाव मान कर व्यसनरस, भरति को स्थायीभाव मान कर दुःख रस, और सत्त्व को स्थायी भाव मान कर सुख रस की भी अनुभूति वे स्वीकार करते हैं।



इस प्रकार ग्रंथकार ने स्वतन्त्र ढंग से रसविवेचन का भी प्रयास किया है। इस प्रयास में सफलता की कसौटी एक मात्र यही है कि आचार्यों ने उनके मत को कहीं मान्य नहीं माना, और विश्वनाथ आदि ने उनके मतों की सर्वदा अवहेलना ही की।

नाट्यदर्पणकार की एक बड़ी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि वे अपनी कारिका के शूद्र श्लोकों की व्याख्या स्वरचित वृत्ति में इतने विस्तार के साथ कर देते हैं कि वे शूद्र श्लोक स्पष्ट हो जाते हैं। वही कही तो अन्य आचार्यों के कई श्लोकों में वर्णित लक्षणों को वे एक ही श्लोक में समाविष्ट कर लेते हैं। जहाँ भरत मुनि ने अठारहवें अध्याय के १०, ११, १२वें श्लोकों में नाटक का लक्षण किया है वहाँ रामचन्द्र ने केवल एक श्लोक में नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—

‘उन रूपक भेदों में से धर्म, प्रयत्न और कामरूप त्रिविध फलों वाला, भक्त, उपाय, दशा, संधि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हो, इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं का चरित्रप्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है :—

स्वात्मोत्तराक्षरित धर्मकामार्थसरफलम् ।

साङ्ख्योपायादशा-संधि-द्विष्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥ १।५

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के नाटक शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने ‘एतद् नृत्त’ के स्थान पर ‘एतन्नृत्त’ पाठ मान कर नति अर्थात् नमनार्थक नद् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो उनके विचार से ‘मिता ह्रस्वः ६।४।६२ (अष्टा०) सूत्र से एिच् परे रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से नटक’ शब्द ‘घटक’ के समान बनता है। किन्तु रामचन्द्र की यह भाविति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। (विशेष विवेचन के लिए नाट्यदर्पण की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या पृ० २३ देखिए।) इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनवगुप्त ने केवल नमनार्थक धातु से ही नहीं, अपितु नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। अभिनवगुप्त लिखते हैं:—

नाटक नाम तत्त्वैर्धित प्रह्लाभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोत्साहनया हृदय शरीर च नर्तयति नाटकम् ।

नाटक और नाटकेतर काव्यार्थों में अन्तर—

नाट्यदर्पणकार के पूर्व आचार्यों ने नाटक एवं नाटकेतर काव्य में उत्तमो स्पष्टता के साथ अन्तर नहीं दिखाया है जितनी स्पष्टता हमें रामचन्द्रगुणचन्द्र की रचना नाट्यदर्पण में मिलती है। आचार्य धनञ्जय ने नाटक और नाटकेतर रूपकों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है—

प्रकृतिस्वादयान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।

सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥

[नाटक अन्य प्रकार के रूपकों की प्रकृति है। अर्थात् प्रकरण आदि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही दिया जाता है। नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है, और उसमें सपूर्ण लक्षण होते हैं।]

यही पनञ्जय ने नाटक और अन्य रूपकों में अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है, पर रूपक और रूपक से इतर साहित्य का अन्तर नहीं स्पष्ट किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इस समस्या को सुलभाने का प्रयत्न किया है—

१. रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नाटक और कथासाहित्य में व्यावर्तक धर्म स्थापित करते हुए कहा है कि यद्यपि कथादि भी श्रोताओं के हृदय को नचा देते हैं किन्तु वे उपायादि वैविध्य हेतुओं के प्रभाव में उसने उत्सासकारी नहीं होते।

२. नाटक के द्वारा राजा और उसके अंग रूप में आमात्यादि को व्युत्पन्न किया जाता है, जो नाटकेतर साहित्य में सम्भव नहीं है।

३. कथासाहित्य और नाटक की रचनाशैली में स्पष्ट अन्तर इस प्रकार होता है। आख्यायिका में पद्य ही पद्य और आख्यायिका में गद्य ही होता है और दोनों में सशुद्ध, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि के प्राकृतिक वर्णन का बाहुल्य होता है। किन्तु नाटक में पद्य की सक्षय स्वल्प और गद्यशैली भी आख्यायिका से भिन्न होती है। कादम्बरी एवं वासवदत्ता आदि आख्यायिका ग्रन्थों में दीर्घ सामासिक गद्य स्पृहणीय है। किन्तु नाटक में सरल एवं दीर्घ समास-रहित गद्य ही वाञ्छनीय है कर्कश और अधिक समस्तपदयुक्त गद्य ठीक नहीं। नाटक में उसी अन्तर कथावस्तु की योजना होती है जो परंपरा से फल की साधक होती है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अपने 'नलविलास' नामक नाटक का उल्लेख करते हुए दमयन्ती के चित्रदर्शन द्वारा नल के हृदय में अनुराग उत्पन्न करने का प्रयास किया है, अतः चित्रदर्शन की अवान्तर कथा नाटक के सर्वथा उपयुक्त ही मानी जायगी।

४. नदी, सशुद्ध, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, मधुपान जलक्रीडा आदि का वर्णन नाटकेतर साहित्य में आवश्यक माना जाता है, किन्तु नाटक में इन सबके वर्णनों से नाटक-रस तिरोभूत हो जाता है। इनका अत्यल्प वर्णन तो स्वीकार्य हो सकता है पर विस्तृत वर्णन नाटकोपयोगी नहीं माना जा सकता।

५. अलंकारों का विशेष प्रयोग भी नाटक में उपादेश नहीं समझा जाता। नाट्य-दर्पणकार कहते हैं कि उन्हीं श्लेषोपमादि का प्रयोग करना चाहिए जो रससिद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्न से ही सिद्ध होते हैं। कथानाग में उपलक्ष्य आदि सन्ध्यों की रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे वे रस को तिरोभूत न कर सकें।

**लक्षण और उदाहरण—**

नाट्यदर्पणकारने पारिभाषिक शब्दावली के लक्षण एवं उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्यों से पूरक रूप में किये हैं। उन्होंने न तो मरत का अनुसरण किया है और न अन्य पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों का। उन्होंने लक्षण और उदाहरण की एक नवीन पद्धति अपनाई है। सूत्रों में सामान्य लक्षण और वृत्ति में उसका विवेचन किया है। यहाँ दो चार पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और उदाहरण लिखकर रामचन्द्रगुणचन्द्र की मौलिकता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

भङ्ग का लक्षण भरतमुनि इस प्रकार लिखते हैं—

अङ्क इति रुद्रिग्यो भावश्च रसश्च रोहयत्यर्थान् ।

नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥

इस लक्षण से अङ्क का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। धनञ्जय ने भी अङ्क का लक्षण स्पष्ट नहीं किया। नाट्यदर्पणकार ने अङ्क का लक्षण ग्रन्थ आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ इस प्रकार लिखा है—

[कार्य की प्रारम्भ आदिरूप] अवस्था की समाप्ति अथवा कार्यवश [प्रसमाप्त अवस्था का भी] विच्छेद [जो अगले अङ्क की कथा के बीच अथवा] बिन्दु से युक्त और दो पङ्क्तियों से लेकर चारप्रहर तक के दशमीय अर्थ से युक्त हो वह 'अङ्क' कहलाता है।

पाँच अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था का प्रारम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति [अङ्क की नियामिका होती है]। उसको अङ्क में दिखसाना चाहिए। अथवा प्रसमाप्त अवस्था का भी कार्यवश जो बीच में विच्छेद कर दिया जाय वह भी अङ्क का नियामक है। 'वार्ध' पद से यहाँ एक दिन में न हो सकने वाले दूरदेशगमन आदि अथवा बहुत सभ्य होने के कारण एक दिन में जिसका प्रतिनय किया जाना सम्भव न हो [उसका ग्रहण होना है]। उसके कारण जो अवस्था का बीच में ही विच्छेद कर दिया जाता है वह भी 'अङ्क' का नियामक है। [कारिका १६]

रामचन्द्रगुणचन्द्र का यह लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों से अधिक स्पष्ट है। किन्तु आवश्यक यह है कि परिवर्ती आचार्यों ने इसका कोई उपयोग नहीं किया, और विद्वनाय ने साहित्यदर्पण में भरत के ही लक्षण का आधार लेते हुए कहा है "जिसके अन्त में सम्पूर्ण पात्र रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ।" भरत ने कहा है : निष्क्रान्तः सर्वेषां यस्मिन्प्रह्णः । त्रितोयः, और विद्वनाय ने भरत के निम्नलिखित श्लोकों की संस्था उपेक्षा की तथा उनका कोई अंश अपने लक्षण में सम्मिलित नहीं किया—

यत्रावस्य समाप्तिर्वैत्र च योत्रस्य भवति संहारः ।

किञ्चिद्व्यसन्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सप्तमगुणतमः ॥

अङ्क का यह लक्षण अधिक स्पष्ट है। अभिनवगुप्त ने इसी लक्षण का आधार लेकर लिखा है—

अङ्क इत्यर्थं लक्षणं क्वः शब्दः । अग्न्यतो व्यवच्छेदकं लक्षणम् अभिनेये रसभाव-  
व्यतिष्ठानप्यर्थान् रोहयति । हृदयसंवादाधारललाटारणेभ्यः प्रत्यक्षोभाजनया रसाकारोदयप्ररोहो  
भवति । प्रारम्भाद्यवस्थानलक्षणो यत्र समाप्यते सोऽङ्कः । मुक्ताविषु यथायमं योजय रसाविशेषाः  
संहारस्तत्प्रवाच्याः अनेक रसाङ्कितवाच्यङ्क इति नाम । —अभिनवभारती

अभिनवगुप्त ने भरतमठ की व्याख्या विस्तार के साथ की है। सागरनगरी ने 'नाट्य-  
लक्षणरत्नाकर' में अङ्क में योजित घटनाओं का ही उल्लेख किया है। घटनाक्रम के विषय में  
इतना अवश्य लिखा है "बहुकालप्रत्येयं कार्यं नाङ्के विधेयम् ।" अर्थात् दीर्घकाल में घटित होने

१. अग्न्यतोऽप्यवच्छेदकं लक्षणम् अभिनवभारतीः । अग्न्यतोऽप्यवच्छेदकं लक्षणम् अभिनवभारतीः ॥

ता० २० ६-१२ ।

वाले कार्य को भद्र में स्थान नहीं देना चाहिए, किन्तु भद्र की अन्य विशेषताओं का कही उल्लेख नहीं किया।

उपयुक्त लक्षणों की तुलना करते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पूर्ववर्ती भाषाओं के भद्र-सम्बन्धी लक्षणों की स्वतन्त्र रीति से सोचने और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार अर्थप्रकृति के लक्षण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से भी हम उक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं।

### अर्थ-प्रकृति—

भरतमुनि ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों का विवेचन किया है। परवर्ती सभी भाषाओं ने भरतमुनि का ही अनुसरण किया और उन्हीं के निर्मित लक्षणों को आधार बनाया। सभी ने प्रयोजन-सिद्धि के पाँच हेतुओं का उपयुक्त क्रम रखा। किन्तु रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इनमें परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अर्थप्रकृति को 'उपाय' नाम से अभिहित किया और उनका क्रम रखा—

बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथावच्च ।

फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥ सूत्र १।२८

उन्होंने कारिका की वृत्ति में यह स्पष्ट किया है कि वृत्ति के अनुरूप इनके क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। अन्य भाषाएँ इस मत से सहमत नहीं। दूसरा अन्तर यह है कि रामचन्द्रगुणचन्द्र इन उपायों का विभाजन चेतन एवं अचेतन की दृष्टि से एक विलक्षण रीति से करना चाहते हैं। अचेतन हेतु भी मुख्य और प्रमुख भेद से दो प्रकार का होता है। 'बीज' मुख्य अचेतन हेतु है और 'कार्य' प्रमुख। इसी प्रकार चेतन हेतु भी मुख्य और उपकरणभूत दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं। 'बिन्दु' मुख्य चेतन हेतु है। उपकरणभूत चेतन हेतु दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वार्थसिद्धि युक्त होने के साथ परार्थ-सिद्धिपर (२) परार्थ-सिद्धितत्पर। प्रथम का नाम 'पताका' है और द्वितीय का नाम प्रकरी।

इस प्रकार का वर्गीकरण और क्रम हमें अन्य किसी भाषाओं की रचना में नहीं दिखाई पड़ता। पंच उपायों के लक्षण भी अन्य भाषाओं से कही-कही भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। रामचन्द्र की विशेषता यह है कि वे लक्षण के उपरान्त स्वरचित नाटकों से उदाहरण देकर लक्षणों की पुष्टि करते हैं। बीज और बिन्दु के लक्षण और उदाहरण कई भाषाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और बोधगम्य हैं। आवश्यकतानुसार एक ही 'उपाय' के चार चार उदाहरण देकर उन्होंने कठिन विषय को सरल बना देने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, बीज के लक्षण के उपरान्त रत्नावली, सत्यहरिश्चन्द्र, स्वरचित यादवाम्बुदय एवं मुद्राराक्षस के उन स्थलों का विश्लेषण किया है जहाँ से 'बीज' प्रारम्भ होकर शाखा आदि रूप में विस्तार पाता है।

उपयुक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्य-सम्बन्धी गूढ़ स्थलों का भौतिक रीति से चिन्तन करने का प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि भौतिकता के उसाह में वे कही कही इतने बहक गए हैं कि मूलतत्त्व तक पहुँचते पहुँचते रह जाते हैं। जैसे रस-वर्णन में कतिपय प्रसंगों में।

## नाट्यदर्पणकार का योगदान

रामचन्द्र उन कतिपय आचार्यों में परिगणित होने योग्य हैं जिनमें बारमित्री एवं मायमित्री दोनों प्रकार की प्रतिभा विद्यमान है। नाट्यदर्पण के अतिरिक्त उन्होंने महिमबा-मकरन्दम्, यादवाभ्युदयम्, रघुविलासम्, राघवाभ्युदयम्, रोहिणीमृगाक्षम्, वनमाता नाटिका आदि नाटक एवं मुधावल्गव नामक काव्य की रचना की। अपने नाट्यग्रन्थ के लिए उनके मन में नाटक-रचना की प्रेरणा उठी। अथवा नाटक-रचना के उपरान्त प्राचीन नाट्य-संदागों में संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई अथवा दोनों प्रेरणाएँ साथ साथ उत्पन्न हुई, यह निश्चय करना कठिन है।

यद्यपि नाट्यदर्पणमें विद्वान् व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ निवास करती हैं, और आचार्य की महीन माग्यनामो का संपदन भी कर सकते हैं, पर इनका तो अर्थ ही स्वीकार करना पड़ेगा कि (१) उन दोनों ग्रन्थकारों ने अनेक अप्रवाजित नाट्य ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके आधार पर एक नये नाट्यशास्त्र का निर्माण किया। (२) अनेक अप्रवाजित ग्रन्थों का विषय प्रकाश में लाकर नाट्य साहित्य की समृद्धि की। (३) नाट्य साहित्य और नाट्यशास्त्र का नये ढंग से विस्तार किया। (४) अनेक गम्भीर विषयों का अपने मतानुसार स्पष्टीकरण किया। (५) विरक्ति प्रधान जैन समाज में शृंगार-प्रधान नाट्यसाहित्य की भी समाहित किया। (६) पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत नाट्य-संदागों में संशोधन उपस्थित करने का साहस करके महीन मीनो पर संशोधन का मार्ग प्रशस्त किया। (७) रस विवेचन में इन आचार्यों ने एक नया सिद्धांत उपस्थित किया। ये आचार्य रसों की अतिव्यवृत्ति के समाप्त होना ही मानते हैं, न इनका मत वनजय घनिष्ठ एवं विश्वनाथ के समान मुक्तात्मकवादी ही है। इनका मत विभक्तवादी मत कहलाता है जिनके विषय में हम पूर्ण विवेचना कर आए हैं।

38815



श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितं  
स्वोपज्ञविवरणविमूर्षितं

## नाट्यदर्पणम्

प्रथमो विवेकः

चतुर्धर्गफलां नित्यं जैनीं वाचमुपास्महे ।  
रूपैर्द्वादशभिर्विंशं यथा न्याय्ये धृतं पवि ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यविद्वेश्वरमिद्धान्तशिरोमणिविरचिता  
नाट्यदर्पणदीपिका हिन्दी व्याख्या  
इतिवत् पृच्छ जनिमा कधीनां मनोधृनः सुहृन्स्वत्तत्तं घाम ।  
इमा उ ते प्रत्यो वर्धमाना मनोवाता अथ नु धर्मणि गमन ॥  
अग्वेद ३-३८-२ ।  
विश्व-नाट्यमिदं सूत्रधारो यस्तनुते सदा ।  
रमन्न्दम्बरूपाय तस्मै सूत्रात्मने नमः ॥  
यदंश-भाष्यं भरते सधृत्तिके  
कृतं, न पूर्ति विषयस्य तावता ।  
अनोऽस्य पूर्त्यै परिशिष्टरूपतः  
तनोमि धृत्ति गन्तु नाट्यदर्पणे ॥

महाकविनिवृत्तानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः ।

स्वयं च कृत्वा, स्वोपज्ञं नाट्यलक्ष्म विवृणुहे ॥२॥

६ जाताधर्मकथा, ७ उपासकदत्ता, ८ प्रवृत्तदृष्टा, ९ अनुत्तरोपपादिक, १०. प्रवन्-  
म्पाकरण, ११ विषाव और १२ दृष्टिवाद ।

शाचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यंत इन 'द्वादश-रूपों' के द्वारा ही रागादिके विजेता जिनोकी धार्मिकी विषयकी धर्ममागमें स्थित रहनेकी प्रेरणा प्रदान की है । इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ उा द्वादश-रूपों वाली जिा वाणीकी नमस्कार किया है । किन्तु इसके प्रतिरिक्त यहाँ 'द्वादश-रूपों की चर्चा करनेका कुछ और भी कारण है उसका सम्बन्ध इस ग्रन्थसे है । नाट्यदर्पणके आरम्भमें जो यह मङ्गल श्लोक लिखा गया है उसका ग्रन्थके प्रतिपाद्य नाट्य विषयके साथ भी कुछ सम्बन्ध होना चाहिए । इस दृष्टिसे ग्रन्थकार इसकी नाट्यपरक व्याख्या भी आगे स्वयं प्रस्तुत करेंगे । इस व्याख्यामें 'द्वादशरूप' से बारह प्रकारके रूपक-भेदाका ग्रहण किया जायगा । इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यहाँ विशेष रूपसे 'रूपैर्द्वादशभिः' पदाका समावेश किया है ।

नाट्यके विषयपर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है । उसके बाद 'दशरूपक', 'भावप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'प्रतापरद्रयशोभूषण' आदि अनेक ग्रन्थोंमें नाट्य सम्मधी विषयका विवेचन किया गया है । इन सबमें ही प्रायः रूपक के दस भेद गिनाए गए हैं । दश रूपककार धनञ्जयने तो अपने ग्रन्थका नाम ही 'दशरूपक' रखा है । उससे रूपकके मुख्य दस भेदोंकी सूचना मिलती है । उन्होंने दस रूपकोंका सम्बन्ध दस अवतारोंके साथ भी जोड़ा है । दस अवतारोंके समान रूपक भी दस ही हैं, यह उनका मत है । परन्तु फिर भी उन्होंने गौण भेदके रूपमें ग्यारहवें भेद 'नाटिका' का भी उल्लेख किया है । और 'रत्नावली नाटिका' के बहुतसे उदाहरण भी ग्रन्थमें प्रस्तुत किए हैं । 'भावप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पणकारने भी 'नाटिका' को ग्यारहवाँ भेद माना है और उसके उदाहरण रूपमें 'रत्नावली नाटिका' का उल्लेख किया है । इस प्रकार ग्रन्थ आचार्योंके मतमें भी रूपकके ग्यारह भेद बन जाते हैं । किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने 'प्रकरणी' नामक एक और भेद करके रूपकके बारह भेद कर दिए हैं । उसी आधारपर यहाँ द्वादश रूपों की चर्चा की गई है ।

इस ग्रन्थके दो भाग हैं एक कारिका भाग और दूसरा उसका वृत्ति अथवा विवरण भाग । दोनों भागोंके रचयिता एक ही हैं । अर्थात् जिन्होंने मूल कारिकाओंकी रचना की है, उन्होंने उनपर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है । इसलिए यह मङ्गल श्लोक कारिका भाग और वृत्ति भाग दोनोंके आरम्भमें दिया गया है । यहाँपर यह श्लोक वृत्ति भागके मङ्गलाचरणके रूपमें दिया गया है । मूलकारिका भागके मङ्गलाचरणके रूपमें आगे फिर इसको लिखकर इसकी व्याख्या करेंगे । सम्प्रति वृत्ति भागकी अवतरणिकाके रूपमें बारह श्लोक लिखते हैं ।

वृत्ति भागकी अवतरणिका—

[कालिदास आदि] महाकवियोंके बनाए हुए अनेक रूपकों [भूरिश रूपाणि] को

अलङ्कारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुमञ्चरः ।

दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कलः ॥३॥

न गीतावाद्यनृचञ्चा लोकस्थितिविदो न ये ।

अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते वहिर्मुखाः ॥४॥

बेलकर और स्वयं भी [अनेक रूपको] निर्माण करके [अर्थात् नाट्य-लक्षण सादिका पूर्ण शान और अनुभव प्राप्त करके] हम दोनों [अर्थात् इस ग्रंथके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र इस नाट्यदर्पण ग्रंथमें] नाट्य-लक्षणकी विवेचना [प्रारम्भ] करते हैं । ॥३॥

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि इस ग्रन्थके पत्रों रामचन्द्र और गुणचन्द्र दो व्यक्ति हैं । उन दोनोंने मिलकर इस ग्रन्थकी रचना की है । इस नाट्यदर्पणके अतिरिक्त 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' नामक एक और भी ऐसा ग्रन्थ है जिसकी रचना इन दोनोंने मिलकर की है । गुणचन्द्रका स्वतन्त्र रूपसे लिखा हुआ कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है । परन्तु रामचन्द्र ने स्वतन्त्र रूपसे भी बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की है । उनको प्रायः 'प्रबन्ध शतवर्ता' उपाधि से विभूषित किया जाता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उन्होंने लगभग सौ ग्रन्थोंकी रचना की थी । उनके सब ग्रन्थ तो अब तक नहीं मिले हैं और न उनके नाम ही प्राप्त हैं किन्तु फिर भी अपने स्वारह नाटकोंका उत्प्रेष्य उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर किया है । अर्थात् अधिक नहीं तो कम से-कम स्वारह नाटक तो उन्होंने बनाए ही हैं । जब इनके नाटक उन्होंने स्वयं बनाए हैं तो सम्भवतः अपने समयमें उपलब्ध प्रायः सभी नाटक उन्होंने पढ़ दिये होंगे । इतने नाटकोंके पढ़ने और स्वयं बनानेके बाद उन्होंने इस नाट्य-दर्पणकी रचनामें हाथ लगाया है इससे विश्वि होना है कि ये इस विषयपर ग्रन्थ लिखने के लिए अत्यन्त उपयुक्त और अधिकारी व्यक्ति हैं । इसी बातको सूचित करनेके लिए उन्होंने इस श्लोकमें सबसे पहले अपने नाट्य-विषयक इस विद्याम अनुभवका उल्लेख उपर्युक्त प्रकारसे किया है ।

नाट्यरचनाशी दुष्करता

वाक्यके, शब्द-वाक्य नाटक साध्यादिका आदि अनेक भेद माने गए हैं । इन सबकी ही रचनाके लिए विभिन्न प्रकारकी प्रतिभाकी आवश्यकता होती है किन्तु एककारकी शक्ति नाट्यकी रचना अन्य कलाकी अपेक्षा अधिक बढित है । इसलिये ये अपने श्रोताओंके उगकी दुःखताका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

कथा आदि [वाक्यके अन्य प्रभेदोंकी रचना] का कार्य शतपुत्रोंमें योग्य हो जानेके कारण सुसम्पूर्ण सञ्चरण करने योग्य है [अर्थात् अलङ्कार प्रधान कथा सादिकी रचना सरलतासे की जा सकती है] किन्तु श्रोताकी वात्सल्यसे परिपूर्ण होनेसे नाट्यका कार्य अत्यन्त बढित [दुःसञ्चर] है । ॥ ५ ॥

जो सौत साट-पुत्र सादिकी नहीं जानते हैं और जो मोह-व्यथारूपे कुत्स नहीं हैं वे [प्रकाशपूर्ण अर्थात्] नाटकोंका अभिनय करने और रचना करनेके लिए [अनिर्गुण है अर्थात्] अधिकारी नहीं हैं । ॥ ५ ॥



स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्वसः ।  
 रसोमिधूषिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती ॥५॥  
 नानार्थशब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात् ।  
 विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥६॥

इन श्लोकोमे ग्रन्थकारने कथा प्रादि काव्यभेदोवे मार्गको 'भलङ्कारमृदु' भतएव 'सुसञ्चर' कहा है और नाटककी रचनाके मार्गको 'रस-वत्सोलसकुल' होनेके कारण 'दुसञ्चर' बतलाया है। किन्तु वधा आदि गद्य-काव्योके लेखकोन 'गद्य कवीना निकप वदन्ति' लिखकर उस गद्य रचनाको ही कवियोंकी प्रतिभाकी परखके लिए कसौटी माना है। इसी प्रकार पद्यात्मक प्रबन्ध काव्योंके लेखकोने छन्दके परिमित अक्षरोंके बन्धनमें बंधकर की जाने वाली काव्य रचना ही कवि प्रतिभाका निकप माना है। वास्तवमें प्रतिभावाद् कवियोंके लिए तो सभी मार्ग सुसञ्चर है और अप्रतिभावानोंके लिए सभी जगह कठिनाई है। पण्डितराज जगन्नाथने अपनी रचना शक्तिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

साहित्ये सुकुमारचस्तुनि हृदय्यायग्रहप्रस्थिते  
 तर्के वा मयि सविधातरि सम लीलायते भारती ।

शट्पा वास्तु सुदूतरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तुता ।

भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रसिर्द्योपिताम् ॥

जिस प्रकार अनुकूल पतिके होनेपर चाहे कठोर भूमि हो या नोमल सुसज्जित शय्या हो स्त्रियोवे आनन्द और विलासमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है इसी प्रकार प्रतिभा-वाद् कविके होनेपर वह किसी मार्गसे चले उसके प्राये सरस्वती समान रूपसे ही अपने सौन्दर्यको प्रभिव्यक्त करती है, उसमें अन्तर नहीं आता है।

रसकवियोंकी प्रशंसा—

नाट्यकी रचनाको 'रस-वत्सोलसकुल' होनेके कारण ही बठिन कहा गया था। किन्तु वह रस ही नाट्य या काव्यका प्राण है। इसीलिए 'रससिद्धा कवीश्वरा' रस-कवियोंकी सर्वत्र प्रशंसा की गई है। अगले श्लोकमें ग्रन्थकार भी उनकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

यही [ वास्तविक ] कवि है और उसके काव्य [ के बढ़ने ] से मर्त्यलोकके वाली [ मनुष्य ] भी [ काव्यरस रूप ] अमृतका पान करने वाले बन जाते हैं जिसकी वाली नाटकों में रसकी सत्त्वियोमें चकराती हुई सी भावती है । ५ ।

शब्द-कवियोंकी निन्दा—

जो कवि नानार्थक [ अर्थात् अनेकार्थ-वाचक श्लेष ] शब्दोंके प्रलोभनमें [ परकर ] रसामृतसे पराङ्मुख हो जाते हैं [ अर्थात् रसकी उपेक्षा कर, केवल श्लेष प्रादिके निबहिके लिए शब्द-प्रपाण शुक्यन्त्रोमें लग जाते हैं ] वे विद्वाञ् [ अर्थपटुताके कारण विद्वा तो पढ़े जा सकते हैं किन्तु वे 'कवीन्द्राणां कथा न गर्हन्ति' ] उनमें कवि नहीं गृह्यता सकते हैं । ६ ।

रत्नेपालङ्कारभाजोऽपि रसानिस्पन्दकर्कशाः ।  
 दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः ॥७॥  
 आरङ्गाद् भूपतिं यावदौर्चितां न विदन्ति ये ।  
 स्पृहन्ति कवित्वाय खेलनं ते सुमेधसाम् ॥८॥

नीरस-वाणीकी निन्दा—

इस प्रलङ्कारसे युक्त होनेपर भी रस-प्रवाहसे रहित होनेके कारण कर्कश [कवियों की] वाणी उसी प्रकार [सहृदयोके] मनको प्रफुल्लित नहीं करती है जिस प्रकार प्रालिङ्गन करती हुई और प्रलङ्कारसे सजी हुई होनेपर भी [यौन] रसके न निकलने के कारण कठोर भग वाली [कुर्भंग] स्त्रियाँ [पुरुषोंको] आह्लादित नहीं करती हैं । ७ ।

इस प्रकार इन तीन श्लोकोमें ग्रन्थकारने रसकवियोंकी प्रशंसा करते हुए यह दिखलाया है कि रस ही काव्य या नाटकका सर्वस्व है । उससे रहित नाटकोंकी प्रलङ्कार आदिसे चाहे जितना भी प्रलङ्कृत कर दिया जाय वे सहृदयोंकी आकृष्ट नहीं कर सकते हैं । सहृदयोंके आकर्षणकेलिए रसप्रधान नाटक ही उपयुक्त हो सकते हैं ।

कवियोंकेलिए व्यवहार ज्ञानकी उपयोगिता—

उत्तम काव्य या नाटककी रचनाके लिए सबसे मुख्य कारण तो कविनी प्रतिभा है । किन्तु उसके बाद कविकी व्युत्पत्ति अर्थात् सौक्य तथा शास्त्रीय व्यवहारका परिज्ञान भी दूसरा अनिवार्य कारण है । मम्मट आदिने सो इन दोनोंकी प्रलग-प्रलग कारण न मानकर सम्मिलित रूपसे कारण माना है । और उनके साथ 'वाक्यशिक्षयाभ्यास' अर्थात् अभ्यासकी भी जोड़कर—

शक्ति-निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणम् ।

काव्यशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुभवे ॥

वाक्यप्रकाश १—२ ।

शक्ति अर्थात् कवित्वकी बीजभूत प्रतिभा, लोक, शास्त्र तथा काव्यादिके परिशीलन से उत्पन्न निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति और काव्यके निर्माण तथा उसकी विवेचनामें समर्थ काव्यज्ञोंकी शिक्षाके अनुसार अभ्यास करना ये तीनों मिलकर 'हेतु' अर्थात् काव्यके कारण होते हैं । 'न तु हेतवः' प्रलग प्रलग तीन कारण नहीं होते हैं । इसी दृष्टिसे यहाँ भी ग्रन्थकार लोकव्यवहार आदिकी उपयोगिताका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

निर्धनसे लेकर राजा तक [के व्यवहार] के श्रोक्षित्यको जो नहीं जानते हैं और कवित्वकी कामना करते हैं [अर्थात् कवि बनना चाहते हैं] वे विद्वानोंके उपहासके [मनो-रजनके] पात्र बनते हैं [लिखन से सुमेधसाम्] । ८ ।

विद्वत्ताके साथ कवित्व आवश्यक—

अगले श्लोकोमें ग्रन्थकार इस बातपर बल देते हैं कि लोक रजन और लोकमें प्रतिष्ठाकी प्राप्ति केवल विद्वत्ताके द्वारा नहीं हो सकती है । इनकी प्राप्तिके लिए शास्त्रीय विद्वत्ताके साथ कवित्वकी शक्ति भी आवश्यक है । कवित्वके बिना कोई विद्वान् लोकमें न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है और लोकका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता है ।

प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।

त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥६॥

नांसिकान्ते द्वयं शिवत्रं द्वयोर्ग्रीडा रसज्ञयोः

कुचाभावः कुरङ्गाक्ष्याः काव्याभावो विपरिचयः ॥१०॥

अकवित्वं परस्तायत् कलङ्कः पाठशालिनाम् ।

अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ॥११॥

स्त्रियोके लावण्यके समान कवित्व, विद्याग्रीका प्राणरूप है । इसलिए प्रयोदिष्टाके जानने वाले [वेदोंके विद्वान्] भी इस [कवित्वकी प्राप्ति] के लिए सदा उत्सुक रहते हैं ॥६॥

[श्लोकके उत्तरार्द्धमें वही जाने वाली] दो वस्तुएँ नाकके ऊपर हुए जोड़के समान है और [इन] दोनोंसे रसज्ञोंको लग्ना होती है । [ये दोनों वस्तुएँ हीन तो यह कहते हैं । उनमेंसे एक तो] मृगनयनी [सुन्दरी] के स्तनोका अभाव [अर्थात् छोटे स्तन का होना और दूसरा] विद्वान्का काव्याभाव [अर्थात् कवि न होना, ये दोनों तक्षपरवै जोड़ के समान लग्नाप्रवृत्ति होते हैं] ॥१०॥

काव्यापहरणकी निन्दा—

जैसा कि पिछले श्लोकमें कहा गया है बिना कवित्वके केवल जोड़े विद्वानोको भी जगत्में आदर प्राप्त करना कठिन हो जाता है । इसलिए कभी-कभी कवित्वकी प्रतिभा से हीन, किन्तु लोकमें आदर पानेके लिए उत्सुक, विद्वान् भी दूसरोंके काव्यको चुराकर अपहरण कर अपने नामसे प्रसिद्ध कर देते हैं और इस प्रकार अपनावास ही लोकमें आदर प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार लोगोकी निन्दा करते हुए अन्धकार भ्रममें श्लोक में लिखते हैं—

[पाठशालिनाम् अर्थात्] विद्वानोंकेलिए कवि न होना ही बड़ा बलशुभ है किन्तु भ्रमों के कारणसे [अर्थात् दूसरोंके काव्यका अपहरण करके अपने नामसे प्रसिद्ध करनेसे] कवित्व [को प्राप्त करनेका यत्न] तो बलशुभकी भी चूलिका [और भी अधिक बढ़ाने वाली वेश] है । ११ ।

राजमोक्ष आदिने इस प्रकारके कवियोंका अच्छा विवेचन किया है । उन्होंने कवियोंके चार भेद किए हैं । (१) उत्पादक कवि, (२) परिवर्तक कवि, (३) आच्छादक कवि और (४) गवर्गक कवि । इनमेंसे 'उत्पादक' कवि जगत्को बहते हैं जो अपनी प्रतिभाके बलमें सुन्दर भूतन काव्यकी स्वयं रचना करता है । यही वास्तवमें कवि कहना ही अधिकारी है । दूसरा 'परिवर्तक' कवि वह कहलाता है, जो किसी अन्य कविके भाव और शब्दों में परिवर्तन करके जगत्को अपना काव्य बना लेता है । अर्थात् कुछ परिवर्तनोंद्वारा दूसरेकी कवितापर अपने व्यक्तित्वको छाप लगा देता है । तीसरे प्रकारका कवि 'आच्छादक' कवि होता है । वह दूसरेकी रचनाको छिपा देता है, प्रकाशित होनेका अवसर नहीं देता है और उसीमें मित्वा-बुझी या हीन कोटिरी भी अपनी कविताको प्रसिद्ध कर देता है । चौथा कवि 'गवर्गक' कवि कहलाता है । 'गवर्गक' का अर्थ डाढ़ है । जो दूसरे काव्यको

सुलभ-सुलभा अपना बहुर प्रवासित करनेवा दुस्माहम करता है वह 'सवर्ण कवि' कहा जाता है। परिवर्ण कवि और प्राच्छादक कवि यदि चोर कवि हैं तो सवर्ण कवि डाकू कवि है। कवियोंके ये सब भेद प्राचीन कालमें भी पाए जाते थे और अब भी पाए जाते हैं। इस प्रकारके कवियोंका विषयम निम्न इनक्रम अच्छी छुटकी ली गई है—

कविरनुहरति च्छाया, अर्थ कुरुचि, पदादिक चारः ।

सकलप्रबन्धार्थे साहसार्थे नमस्तस्मै ॥

अर्थात् कवि यदि कभी काव्यापहरणका घल करता है तो वह केवल छायाप्राप्तका ही अपहरण करता है। कुरुचि दूसरेके काव्यसे अर्थका अपहरण करता है और चोर कवि पदादिका अपहरण करता है। किन्तु जो सारे प्रबन्ध, सारे काव्यका ही अपहरण कर लेता है उस साहसिक डाकूकी दूरसे नमस्कार है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दूसरोके काव्यसे छायाप्राप्तका अपहरण करना, ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं है उसकी अनुमति सुरक्षित लिए भी प्रदान की गई है। किन्तु अपावहरण, पदापहरण और प्रबन्धापहरण उत्तरोत्तर गुह्यतर अपराध बन जाते हैं।

त्रिविध काव्यस्वाद—

ऊपरके इनक्रम 'कविरनुहरति च्छाया' लिखकर कवियोंका छायापहरणकी अनुमति भी प्रदान कर दी गई प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि काव्योम बहुधा साम्य भी पाया जाता है। और यह साम्य कभी कभी महाकवियोंके काव्योम भी पाया जाता है। पर यह छाया-साम्य ही होता है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन तथा राजशेखर आदि ने इस प्रकारके काव्य साम्यको तीन भागोंमें विभक्त किया है। (१) प्रतिस्मिन् रूप साम्य, (२) आनन्दप्रसङ्ग साम्य और (३) तुल्यदेहिबत् साम्य। इनका वर्णन करने हुए आनन्दवर्धनाचार्यने लिखा है—

सनादो ह्यन्यमादृश्य तन् पुन प्रतिस्मिन्वत् ।

आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिबन्ध शरीरिणाम् ॥ ध्वन्यालोक ४ १२ ।

इनके लक्षण राजशेखरन निम्न प्रकारसे किये हैं—

अर्थ म एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरो यत्र ।

तदपरमार्थविभेद काव्य प्रतिस्मिन्वत् रूप स्यात् ॥

कियतापि यत्र सस्मारकर्मणा यस्तु भिन्नबद्ध भाति ।

तन् कथितमर्थचतुरे रालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् प्रतिस्मिन्वरूप काव्य मूलकाव्यका प्रतिस्मिन्मात्र प्रतीत होता है उसका अपना व्यतिरिक्त और स्वल्प भूतकाव्यसे भिन्न प्रतीत नहीं होता है। आनन्दवर्धनाचार्यने इन प्रकारके काव्योंको 'तार्त्त्विक शरीर' रूप और राजशेखरने उसका 'अपरमाथ विभेद' कहा है। यह काव्य सर्वथा हेय है। दूसरे आनन्दप्रसङ्ग काव्यम मूलकाव्यका कुछ मस्कार करके उसकी रचना की जाती है। जिसमें वह प्रतिस्मिन्भावना छाड़कर आनन्द या चित्रके समान प्रतीत होता है। यह भी हेय ही माना जाता है। तीसरा 'तुल्यदेहिबत्' साम्य माना गया है। आनन्दवर्धनने इनके विषयम लिखा है—

तत्स्वम्या-न्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।

यस्तु भातितरा तन्व्या शशिच्छायाभिवाननम् ॥ ध्वन्यालोक ४ १४ ।

कवित्वबन्धाः क्लिरयन्ते सुखाकतुं जगन्ति ये ।

नेत्रे निमील्य विद्वांसस्तेऽधिरोहन्ति पर्वतम् ॥१२॥

अथ शिष्टसमयपरिपालनाय प्रत्यूहव्यूहोपशमनाय च सकलसन्दर्भाश्रित-  
वनागमै समुचितेष्टाधिदैवतस्य सूत्रकारो नमस्कारश्लोकं परामृशत —

[सूत्र १]— चतुर्वर्गफलां नित्यं जैनी वाचमुपास्महे ।

रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यथा न्याम्ये पथि धृतम् ॥१॥

अर्थात् जिस प्रकार कामिनिका मुख पूर्ववर्ती चन्द्रमाकी कान्तिका अनुसरण करने पर भी अत्यन्त शोभित होता है इसी प्रकार पूर्वकान्यकी छायाका अनुसरण करनेवाला नवीन वाद्य भी चमत्कारयुक्त हो सकता है। आनन्दवर्धन इस प्रकारके वाद्य साम्यके समर्थक है। इसीको पूर्व श्लोकमें "कविरुहुरति च्छाया" जिसकर ग्राह्य कहा गया है।

कवित्वशक्तिते रहित जो [विद्वान् अपनी कोरी विद्याके आधारपर] जगद्गुरु प्रसन्न [शुद्ध] बनानेका बलेश उठते हैं वे विद्वान् मानो आँखें भींच कर पर्वतपर चढ़नेका प्रयत्न करते हैं। [अर्थात् वे कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकते हैं] उनका वह प्रयास अविवेक-पूर्ण है ॥१२॥

मूल ग्रन्थका मङ्गलाचरण—

ऊपरके बारह श्लोक ग्रन्थकी अवतरणिका रूपमें लिखे गए थे। वे मूल ग्रन्थ के भाग न होकर उसके व्याख्याभूत विवरणके भाग थे। अब आगेसे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याका आरम्भ होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है—एक मूल कारिका भाग जिसकी सूत्रभाग भी कहा जाता है, और दूसरा उसका व्याख्या भाग अथवा विवरण भाग कहलाता है। इन दोनों भागोंके निर्माता एक ही व्यक्ति हैं। अर्थात् सूत्रकारोंने स्वयं ही उसपर विवरण भी लिखा है। इसलिए मूल सूत्र ग्रन्थका जो मङ्गल श्लोक या उसीको उगहोंन अपने विवरणके आरम्भमें मङ्गलश्लोकके रूपमें भी दे दिया है। 'चतुर्वर्गफला इत्यादि श्लोककी हम इससे पहिले भी देख चुके हैं, वही श्लोक हम फिर आ गया है। इसका यही कारण है। पहिली जगह विवरण या व्याख्या-भागके मङ्गलश्लोकके रूपमें उसको दिया गया था। अब उसे मूल सूत्र ग्रन्थ के मङ्गलश्लोकके रूपमें लिखकर स्वयं सूत्रकार ही उसकी व्याख्या कर रहे हैं। इस बात को समझ लेंगे श्लोककी पुनरावृत्ति से किसी प्रकारका सहाय या भ्रम उत्पन्न नहीं होगा।

सदाचारके परिपालनकेलिए और विघ्न-समुदायके नाश करनेकेलिए सूत्रकार [अर्थात् मूल सूत्र ग्रन्थके] निर्माता रामचन्द्र गुणजन्द्र] सम्पूर्ण ग्रन्थके अर्थकी स्तुतिसे युक्त [ग्रन्थके आरम्भमें नमस्कार करने योग्य] समुचित इष्टदेवता [जैनी वाक् अर्थात् सरस्वती] के नमस्कार-परश्व श्लोक लिखते हैं—

[सूत्र १]—[सर्व, सर्व, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गस्य फलको प्रधान करने वाली [रागादि शोषोंको जीत देने वाली शक्त एक] जिनो [अर्थात् जिन नामसे कहे जाने वाले शक्तो] के [उस] शक्तियोंको [इस ग्रन्थके निर्माता हम दोनों] नमस्कार करते हैं जिसने

‘चतुर्वर्गो’ इत्यादि—चतुर्वर्गो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षा, यथोचित्यं प्रधानं गौणं वा ‘फलं’ यस्याः । समुदाय-समुदायिनोरभेदोऽप्यस्ति, तेन पुरुषभेदेन एक-द्वि-त्रि-पुरुषार्थफलत्वेऽपि चतुर्वर्गफलत्वं न विहन्यते ।

इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः सो तस्य प्रधानं, अपरो गौणः । ‘नित्यम्’ इत्यनेन आवश्यकं वाच्यं चतुर्वर्गफलं प्रति हेतुत्वमुच्यते । अर्थ-पेक्षया जिनानामियं ‘जैनी’ । जिनोपदिष्टं ह्यर्थं ऋषयो प्रयच्छन्ति । ‘वाचम्’ इति भारतीम् । ‘उपास्महे’ तदर्थानुष्ठानेन समीपे वर्तमानम् । समीपवृत्त्या च तदेकशरण-त्मास्यमात्मन स्थापितम् ।

[प्रपन्ने प्राचारास्तु ते लेकर दृष्टिवाद पर्यन्तं प्रसिद्धं] बारह रूपोंके द्वारा समस्त जगत्को व्यापोजित [धर्मानुकूल] मार्गमें नियन्त्रित किया है । १।

‘चतुर्वर्ग’ इत्यादि [व्याख्येय इत्योका का प्रतीक-भाग है । आगे उसकी व्याख्या करते हैं] चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष [एक चारों पुरुषार्थ प्रवरणानुकूल] औचित्य अनुसार जिसके प्रधान या गौण फल हैं [यह चतुर्वर्गफलता वाली हुई] । समुदाय और समुदायी [अर्थात् समष्टि और व्यष्टि] का प्रभेद भी [माना जाता] है इसलिए पुरुषभेदसे [कहीं] एक [कहीं] दो और [कहीं] तीन पुरुषार्थोंके फल होनेपर भी चतुर्वर्गफलत्व का खण्डन नहीं होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ जिन-वाणीका जो ‘चतुर्वर्गफलत्व’ प्रतिपादन किया है वह सर्वत्र समान रूपमें प्रतिष्ठित नहीं होता है । पुरुषभेदसे उसमें भेद लाया जाता है । नहीं धर्म अर्थ कामादिभेदसे केवल एक ही फलही प्राप्ति होती है । वही दो फल भी मिल सकते हैं और वही तीन या चार फल भी मिल सकते हैं । इसलिए जिन-वाणी कहीं एकफला, कहीं द्विफला, और वही त्रिफला भी हो सकती है । इसलिए यहाँ जो ‘चतुर्वर्गफलत्व’ कहा है सो उचित नहीं है । यह पाङ्का हो सकती है । इस पाङ्काका समाधान करनेकेलिए ग्रन्थकारने समुदाय और समुदायी अर्थात् समष्टि और व्यष्टिके अभेद-सिद्धान्तका आश्रय लिया है । इस सिद्धान्तके अनुसार समुदायी अर्थात् व्यष्टि रूप धर्म, अर्थ आदि प्रलग प्रलग व्यक्तियों और उन चारोंके समुदाय अर्थात् समष्टिको अन्निष्ठ मानकर केवल एक, दो या तीन फलोंके होने पर भी चतुर्वर्गफलत्व बन जाता है । उसमें कोई दोष नहीं होता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

ये चारो फल सर्वत्र समान स्थितिमें भी नहीं होते हैं । कोई प्रधान होता है और कोई गौण । जो फल जिस समय जिस व्यक्तिको विशेष रूपसे अभीष्ट होता है वह उस समय प्रधान फल कहलाता है और दोष फल गौण कहलाते हैं । परन्तु वह फल चाहे प्रधान रूप हो अथवा गौण रूप, प्रत्येक दशांश चतुर्वर्गफलके भीतर गिना जाता है । तभी उन चारोंकी फलरूपताका उपपादन हो उक्तता है ऐसी बातको आगे कहते हैं—

और फलके इष्ट होनेसे [अर्थात् अभीष्ट अर्थोंकी प्राप्तिसे ही फल-पद-वाच्य होनेसे धर्मादि चारो पुरुषार्थोंमेंसे जिस समय] जो पुरुषार्थ जिसको अभीष्ट है वह उससे लिए प्रधान [फल] होता है और अन्य [पुरुषार्थ] गौण [फल] होते हैं । [‘चतुर्वर्गफल’ोंके साथ प्रन्वित होने वाले] ‘नित्यम्’ इस पदसे वाणीका चतुर्वर्गफलके प्रति आवश्यक—अनिवार्य—हेतुत्व

‘नित्यम्’ इत्यस्यात्रापि सम्बन्धादुपासनायाविच्छिन्तिः ख्यापिता । रूपाणि अङ्गान्याचारादीनि दृष्टिवादपर्यन्तानि । ‘द्वादश’ प्रसिद्धानि । सत्यानिर्देशेन चानियन्त्रितसख्याया जिनवाच. प्रस्तुतातुल्यत्वेन व्यवच्छेद कथ्यते ।

‘विश्वम्’ इति समुदायापेक्षमेकत्वम् । कर्मभूमित्वात् प्राधान्यविवक्षया मनुष्यलोको वा विश्वम् । ‘न्याय्ये’ न्यायादनपेते । ‘धृतम्’ व्यवस्थापितम् । व्यवस्थापनस्य त्रैकाल्येऽपि अतीतनिर्देशोऽर्थापेक्षया वाचोऽनादित्वस्यापनार्थः । ‘पथि’ इति पुरुषार्थप्रापणोपायत्वादहिंसा-दानादिकं कर्म लक्ष्यते ।

सूचित किया है ।’ [अर्थात् जिनवाणी अवश्य ही चतुर्वर्गरूप फलको प्रदान करने वाली होती है । यह जिन-वाणी सर्वत्र साक्षात् शब्दात्मक ही हो यह आवश्यक नहीं है किन्तु] अर्थकी अपेक्षासे [रागादिके विजेता अत एव ‘जिन’ नामसे प्रसिद्ध सन्तों] जिनोंकी यह [वाणी] ‘जैनी’ वाग् [कही गई] है । ‘जिनो [ अर्थात् रागादि विजेता सन्तों ] के द्वारा बतलाए हुए अर्थको ही ग्रहण लोग अन्य रूपसे मिलते हैं । [इसलिए श्रष्टियोंके ग्रन्थोमें लिखी गई भाषा साक्षात् जिन वाणी न होते हुए भी ‘अर्थपिक्षया’ जिनोंकी वाणी ‘जैनी वाग्’ [कही जा सकती है] ‘वाचम्’ इस पदसे भारतीय [का ग्रहण होता है] । ‘उपास्यम्’ इससे उसके अनुसार आचरण द्वारा उसके समीपमें उपस्थित होते हैं । समीप रहनेके द्वारा अपने एकमात्र उसके शरणगत्यका प्रतिपादन किया है ।

‘नित्यम्’ इस पदका अन्वय एक बार गहिले ‘चतुर्वर्गफलता के साथ कर चुके है । किन्तु दुबारा ‘उपास्यम्’ के साथ भी ग्रन्थकार उसका अन्वय करना चाहते हैं । और इस प्रकार उपासनाकी निरप्यता या निरन्तरता सूचित करना चाहते हैं । इसलिए अगली पंक्तिमें वे अपने इस अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

‘नित्यम् इस [पद] का यहाँ [उपास्यम् पदके साथ] भी अन्वय होनेसे उपासनाका अविच्छेद [निरन्तरम्] सूचित किया है । [यारह] रूप अर्थात् प्राचाराविसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त यारह अङ्ग प्रसिद्ध हैं । [द्वादश इस] सख्याके निर्देशसे अनियत-सत्या वाली जिन-वाणीके प्रस्तुत [अर्थात् द्वादश सख्या वाले दृष्टकनेदों] के साथ समानता न होनेसे व्यवच्छेद किया गया है ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनोकी वाणी तो अन्य विषयोसे सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु यहाँ उस सत्त्वा ग्रहण नहीं किया गया है । द्वादशाङ्ग वाली जिन-वाणीकी ही प्रस्तुत द्वादश प्रकारके रूपकोके साथ समानता हो सक्ती है इसलिए प्राचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादश अङ्गोका प्रतिपादन करने वाली जिन-वाणीकी ही यहाँ नमस्कार किया है ।

‘विश्वम्’ इस पदमें समुदायकी दृष्टिसे एक अचन [का प्रयोग किया गया] है । [अर्थात् उस एवमचनसे समष्टि रूपसे सारे चराचर जगत्को ग्रहण करना चाहिए] । अथवा कर्मभूमि [अर्थात् कर्म-भूमि] होनेके कारण प्रयानताकी विद्यतासे [बिबल] मनुष्यलोक [यही] ‘विश्व’ [पदसे अभिप्रेत हो सकता] है । [धर्मपथ्यर्थन्यायाशनपेते अष्टा० इस सूत्रसे न्याय-शास्त्रसे यत् प्रपन्न करने ‘न्याय्य’ शब्दकी सिद्धि होती है । इसलिए] ‘न्याय्य’ अर्थात् न्यायसे अनपेक्ष [न्यायातुरूप धर्म] से । ‘धृतम्’ अर्थात् व्यवस्थित किया । [इस] व्यवस्थापनके अन्तर्गत होने

२—अथाभिनेयवाक्यपरतया श्लोकोऽयं व्याख्यायते । यद्यपि साक्षात् धर्म-  
अर्थ-कामफलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् वृत्तितन्त्रं न रावणवद्' इति  
हेयोपादेय-हानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण  
फलम् । 'नित्यम्' इत्यनेन चतुर्वर्गफलान्येव रूपरूपि निबन्धनीयानि इति रूपायते ।  
जिनानां रागादिजेतृणां लक्षणप्रख्यनापेक्ष्यं 'जैनी' । न नाम सर्वत्रोपदिष्टं लक्षणं  
न । नवेचाऽर्वाचीनदृशः मञ्चेपविस्तराभ्यां तत् कर्तुं प्रभवन्ति ।

पर भी [अर्थात् जिन-वाणीके द्वारा जगत्को न्याय-मार्गमें व्यवस्थित करनेका कार्य, भूत  
भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमें ही होता रहता है फिर भी 'धृतम्' पदमें अतीतकालके सूक्ष्म  
वृत्त-प्रत्ययके द्वारा केवल] अतीत कालका निर्वेश वाणीके अनादित्वको सूचित करने के लिए  
किया गया है । 'पथि' मार्गमें इस [पद] से [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] पुष्पायोंके  
प्राप्त करनेका उपाय होनेके कारण साहिता दान आदि धर्मका ग्रहण [पथि पदसे] होता है ।  
[अर्थात् जिनोंकी वाणीमें विद्वत्को साहिता दान आदि धर्मोंमें लगाया यह 'पथि धृतम्' का  
अर्थ है] ।

मङ्गल श्लोककी दूसरी व्याख्या

यहाँ तक विवरणकारने मङ्गलश्लोककी सामान्य मङ्गलाचरण-परक व्याख्याकी है ।  
प्रागे वे इसकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या करेंगे । इस दूसरी व्याख्याका सम्बन्ध प्रवृत्त नाटकादि  
रूप विषयके साथ होगा । इसलिए हममें 'वाचम्' शब्दसे सामान्य वाणी मानका ग्रहण न  
होकर केवल नाटकादि रूप वाणीका ही ग्रहण किया जायगा । दोष पदोंके अर्थोंमें तो कोई  
विशेष अन्तर नहीं किया गया है किन्तु उनकी व्याख्या नाटकादिपरक रूपसे भिन्न प्रकारसे  
दिखाई है । उमीका अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अथ प्रागे अभिनेय-वाक्य [अर्थात् नाटक आदि] परक रूपसे इस श्लोककी [दूसरे  
प्रकारसे] व्याख्या करते हैं । यद्यपि साक्षात् रूपसे नाटक आदि [बारहों प्रकारके रूपक] धर्म,  
अर्थ और काम [इन तीनोंमेंसे ही किसी एक] फलको ही प्रदान करने वाले होते हैं [अर्थात्  
मोक्ष रूप चतुर्थ फलके साथ नाटकादिका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है] फिर भी  
'रामके समान आचरण करना चाहिए रावणके समान नहीं' इस प्रकारको हेय [अर्थात्  
परित्याग करने योग्य अधर्माचरण] और उपादेय [अर्थात् ग्रहण करने योग्य धर्माचरण] के  
[क्रमशः] हान [अर्थात् परित्याग] और उपादान [अर्थात् ग्रहण] परव होनेसे [नाटकादि  
मोक्षके प्रति भी परम्पराया कारण हो सकते हैं] । इसलिए मोक्षको भी उनका फल कहा जा  
सकता है । इसका दूसरा कारण भी अगली पंक्तिमें देते हैं कि] और धर्मके [भी] मोक्षजनक  
होनेसे परम्परासे मोक्ष भी [नाटकादिका] फल [हो सकता] है । 'नित्यम्' इस [पद] से  
चतुर्वर्ग रूप फल [के साथक, अथवा चतुर्वर्ग रूप फलको प्रदर्शित करने] वाले ही नाटकादि  
की रचना [कवियोंको] करनी चाहिए यह बात ['नित्यम्' पदसे] सूचित की गई है । [जैनी  
इस पदमें 'जिन' पदसे तस्येदम् अष्टा० इस सूत्रके द्वारा धर्म्म-प्रत्यय करके 'जैनी' पद जनता  
है । इसलिए उसका अर्थ] जिनानामिय जैनी [जिनोंकी यह] । अर्थात् जिन-सम्बन्धनीय वाणी  
यह होता है । और 'जिन' शब्दसे रागादिके विजेता सन्तोका ग्रहण होता है इसलिए]  
'जिनों' अर्थात् राग आदिको वशमें कर लेनेवालोंकी यह [वाणी साक्षात् रूपसे जिनप्रोवन न



‘वाचम्’ नाटकाद्या, ‘उपास्महे’ परिशीलयाम । ‘नित्यम्’ इति अत्रापि सम्बन्धते । सततापरिशीलिताभिनेयवाचो हि कुतो नामौचित्यवादनो भवेयु ।

रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि । अनभिनेयाना रूपशब्दा-प्रतीतेः सामान्यनिर्देशेऽपि वाचोऽभिनेयत्व लभ्यते । भूरभेदत्वेऽप्यभिनेयवाचो ‘द्वादशभिः’ इति प्रस्तुतप्रकरणापेक्षम् । ‘विश्वम्’ इति पूर्ववत्, समवकारादीनां देव देव्यचरितव्युत्पादकत्वात् । ‘पयि’ इति यश सम्पदुपायत्वात् कृत्य लक्ष्यति । नायक-प्रतिनायकयोर्हि नयानयकलोपदशनेन नाटकादिभिर्दुर्दान्तचेतसा न्यायादपेक्षे कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते ।

अत्रापि व्याख्याने श्रद्धापरत्वेन नमस्कारपरतैव श्लोकस्य । व्याख्येय-व्याख्यानयोरेककर्तृकत्वख्यापनार्थमयमेव श्लोको चिचरणभ्याप्यादावधीत इति ॥ १ ॥

होने पर भी मूल रूपमें] लक्ष्मणकी रचनाकी दृष्टिसे ‘जनी’ [वाणी कही जा सकती] है । [पहले] यह शङ्का हो सकती है कि नाटकादिके लक्षण तो भरतादिके ग्रन्थोमें सर्वत्र पाए जाते हैं फिर उनको जिन प्रणीत कैसे कह सकते हैं । इसका उत्तर देनेकी दृष्टिसे आगती पक्षिमें लिखते हैं कि] सर्वत्र उपदिष्ट अर्थ लक्षण न हो ऐसी बात नहीं है । [योंकि मूल रूपमें जिनों द्वारा प्रणीत लक्षणोंको ही] नवीन दृष्टिवाले यादके [भरत आदि मुनि] लक्षेप और विस्तारके द्वारा उनको [फिर] कर सकते हैं ।

‘वाचम्’ अर्थात् नाटकादि रूप [वाणी] को । ‘उपास्महे’ अर्थात् हम परिशीलित [निरूपित] करते हैं । [प्रथम अध्यायमें भी ‘नित्य’ पदका सम्बन्ध चतुर्वर्गफला’ और ‘उपास्महे’ दोनों पदोंके साथ किया गया था । इसी प्रकार इस द्वितीय अध्यायमें भी दोनोंके साथ सम्बन्ध माना है । इसी बात को आगे लिखते हैं कि] ‘नित्यम्’ यह [पद पहले चतुर्वर्ग-फल]के साथ एक बार ग्रन्थित हो चुका है किन्तु दुबारा] यहाँ [उपास्महेने साथ] भी ग्रन्थित होता है । ‘उपास्महे’के साथ ‘नित्यम्’ पदके सम्बन्धसे यह अभिप्राय निकलता है कि नाटक आदिका निरन्तर परिशीलन करने से ही नाटकके लक्षणादिका निरूपण ठीक तरहसे किया जा सकता है । अगत्या] अभिनय वाणी [अर्थात् नाटकादि] का निरन्तर अनुशीलन न करने वाले [नाटकलक्षणकार अर्थात् नाट्यशास्त्रके विषयपर ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान्] अधीक्षक को प्रतिपादन करने वाले [अर्थात् नाटकादिमें उचित नियमोंके प्रतिपादन] कैसे हो सकते हैं ?

नाटकादिका निरन्तर परिशीलन न करनेवाले विद्वान् अनुभवहीन होनेके कारण नाटकादिके लक्षण और अधीक्षक आदिवा प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं । इसलिए हमने अर्थात् इस ग्रन्थके प्रणेता रामचन्द्र और गुणचन्द्रन नाटकोका मतत परिशीला करने अनुभव प्राप्त करनेके बाद ही इस ग्रन्थकी रचनाया साहस किया है यह ग्रन्थकारका निगूढ़ अभिप्राय है ।

आगे प्रथमवार ‘रूप’ शब्दको व्युत्पत्ति द्वारा यह दिखलाते हैं कि नाटकोकेलिए ‘रूप’ शब्दका प्रयोग क्यों होता है ।

वर्णित अर्थात् अभिनय द्वारा प्ररक्षित किये जाते हैं, इसलिए नाटकादि ‘रूप’ [वा रूप] कहलाते हैं । जिनका अभिनय नहीं होता है उनको ‘वच’ शब्दसे प्रतीति न होनेके कारण

अथ लक्षणस्य विषय प्रतिजानीते—

(सूत्र २)—अभिनेयस्य काव्यस्य भूरिभेदभूतः कियत् ।

कियतोऽपि प्रसिद्धस्य दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥२॥

यहाँ याणीका सामान्य निर्देश होनेपर भी उससे अभिनेय [नाटकादि रूप याणी] का ही पटल होना है । अभिनेय [नाटकादि रूप] याणीके [चारहसे अधिक] बहुतसे भेद होनेपर भी 'द्वादशभि' चारह यह [पद] प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार कहा गया है । 'त्रिदशम्' यह [पद] पूर्ण [व्याख्या] के समान [यहाँ इस द्वितीय व्याख्यामे भी समुदायकी दृष्टिसे एकवचनमे प्रयुक्त हुआ] है । [योंकि नाट्यके भेद रूप] समवकार आदिमे देय तथा ईय आदिसे चरित या प्रदर्शन होनेसे [नाट्य समस्त विदग्धसे ही सम्बन्ध रखता है] । 'वधि' यह [पद] यदा सम्पादनके उपाय होनेसे उसमे कार्योंको घोषित करता है । नायक और प्रतिनायकके धर्म और अपमर्मे के लोको दिखलाकर नाटकादि दुर्दान्तचित्त [अधर्मियों] के व्यवहारकी भी व्याख्य मार्गमे व्यवस्थित करते हैं ।

इस [द्विसती] व्याख्यामे भी अन्धापरक होनेसे यह इलोव नमस्कार सूचक ही समझना चाहिए । व्याख्येय [मूल कारिकाभाग] और व्याख्या [अर्थात् इस विवरण दोनोंके कर्ता अभिन्न होनेसे इसी इलोवको विवरणके प्रारम्भमे भी दे दिया गया है । [यहाँपर यह मूल प्रथमी कारिकाके रूपमे आया है । अतः उसकी व्याख्या की गई है । पटनी चार विवरणके मङ्गल-इलोवके रूपमे दिया गया था । अतः उसकी व्याख्या यहाँ नहीं की गई थी] ॥ १ ॥

प्रतिपाद्य विषय—

प्रथम दर्शकमे मङ्गलाचरण करनेके बाद अब द्वितीय कारिकाके प्रथमवार प्रथमे प्रथमे प्रतिपाद्य विषयका दिग्दर्शन कराने हैं । जैसा कि प्रथमे नामसे ही स्पष्ट है नाट्यमे सम्बन्ध रखने वाले लक्षणों आदिका प्रतिपादन ही इस प्रथमवा मुख्य एवं प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है । इन लक्षण आदिका प्रतिपादन भी प्रथमवार पूर्वप्रणीत भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' आदिसे साधारण करेगे । इसीलिए मूल कारिकामे कहा है—'दृष्ट तदस्य प्रथमहे' अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित लक्षणोंके आधारेपर ही हम लक्षण आदि निर्येगे । अन्तर जाना है कि भरतमुनिके समान नाट्यके सारे विषयोंका और सारे भेदोंका प्रतिपादन न करके कुछ कुछ भेदों और विषयोंका ही लक्षण करेगे और वह भी बहुत विस्तारके साथ नहीं अपितु संक्षेपमे करेगे । इसी दृष्टिसे कारिकाके 'विद्यतोऽपि' और 'विद्यम्' मध्य प्रथमहे दो अण्ड 'विद्यम्' पदका प्रयोग किया गया है । पटनी जगह 'विद्यतोऽपि' का अन्विष्टाव यह है कि सारे नाट्यभेदोंका नहीं अपितु केवल कुछ भेदोंका ही लक्षण करेगे । दूसरी जगह 'विद्यम्' पदका अन्विष्टाव यह है कि विस्तारपूर्वक लक्षण न करके कुछ थोड़ासा ही अर्थात् लक्षण करेगे । इसी बातको ध्यान में रखते हैं—

अथ [लक्षण अर्थात्] नाट्यके विषयका प्रतिपादन [की प्रतिज्ञा] करते हैं—

[सूत्र २]—बहुत प्रकारके भेदोंसे युक्त अन्विष्ट-काव्य [अर्थात् नाट्य] मेंते कुछ प्रति-  
[भेदों] के [भरत नाट्यशास्त्र आदिसे विस्तारपूर्वक] पूर्व-दृष्ट कुछ [अर्थात् अर्थात्] लक्षण हम [करने इन प्रथमे ध्यान] कर रहे हैं ॥२॥

‘अभिनेयस्य’ वाचिक-आङ्गिक-सात्त्विक-आहार्यैरभिनेयैः प्रत्यक्षीभवन्-योग्यस्य । सूत्रकाराभिप्रायापेक्षं चैतत्, तेन रस-भाव-नायक-नायिकादिलक्षणस्य अभिनेयं प्रति प्रयुक्तस्य अनभिनेयव्यापित्वेऽपि न विरोधः । ‘काव्यस्य’ वर्णनात्मनः शब्दार्थग्रन्थनस्य कविव्यापारस्य । ‘भूरीन्’ रसप्रधानानां नाटकादीन्, अप्रधानरसश्रद्धुर्मिलित-श्रीगदित-भाषी प्रस्थान-रासकादीन् ‘भेदान्’ विभक्तिं । ‘कियत्’ इति अनान्तरीयकस्य रङ्गसम्बन्धन्तरालादिलक्षणस्य परिहारेण वक्ष्यमाणप्रबन्धद्व्युदश-प्रथनान्तरीयकं कतिपयं लक्ष्मेति योगः ।

‘कियतोऽपि’ लक्षणविधावभिप्रेतस्य । तेन बोहलप्रणीतलक्ष्माणः साटकाद्यो न लक्ष्यन्ते । लक्षणीयबाहुल्येऽपि हि यावत्त्येव भागे, लक्ष्ययितुः श्रद्धा तावानेव लक्ष्यते । कियतोऽपि च ‘प्रसिद्धस्य’ रसप्राधान्यादखिललोकरक्षकतया ख्यातस्य नाटकादेः । ‘दृष्ट’ पूर्वमुनिप्रणीतनाट्यलक्षणपौर्वापर्यपरामर्शेन उपयुक्ततया निश्चिन्तम् । एवं च स्वमनीषिकानिगासेन लक्षणस्योपादेयत्वमुक्तम् । लक्ष्यति अभि-नेयादनभिनेयाच्च कियतोऽपि व्यवच्छिन्नतीति ‘लक्ष्म’ लक्षणम् । ‘प्रचक्ष्महे’ सारा-सारोपादानहानाभ्यां संक्षेप-विस्तराभ्यां च प्रकर्षेण मूमहे । एवं चापरप्रणीतलक्ष्णो-त्यकर्षेण निष्प्रयोजनत्वमपास्तमिति ॥२॥

‘अभिनेय [काव्य]’ के अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक [प्रभात् मानस] श्रौर आहार्य [अर्थात् वेप-भूयात्मक चार प्रकारके] अभिनयोंके द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य [नाट्य] का [लक्षण कहेंगे] । यह बात सूत्रकारके अभिप्रायकी दृष्टिसे कही है । इसलिए रस भाव नायक-नायिका आदिके जो लक्षण अभिनेय [काव्य] की दृष्टिसे किये गए हैं उनके अनभिनेय [अर्थात् अशब्द-काव्य] में गए जाने पर भी विरोध नहीं होता है । ‘काव्यका’ अर्थात् वर्णनात्मक शब्द श्रौर अर्थके ग्रन्थन रूप कविके व्यापारका । ‘बहुतसे’ अर्थात् रस-प्रधान नाटक आदि, श्रौर गीत रस वाले दुर्निलित, श्रीगदित, भाषी, प्रस्थान श्रौर रासक आदि भेदोंको धारण करने वाले [यह ‘भूरिभेदभूतः’ पदका अर्थ हुआ] । ‘कियत्’ इससे अनावश्यक रङ्ग सम्बन्धन्तराल आदिके लक्षणोंकी छोड़कर आने कहे जाने वाले चारह प्रकारके प्रयन्थोंकी रचनाके लिए आवश्यक ‘कुछ’ लक्षणोंकी कहेंगे यह सम्बन्ध [या अभिप्राय] है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र आदिमें रङ्गदानाके निर्माण आदिके विषयकी बहुत मूल्य विवेचन करते हुए अत्यन्त विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है । प्रकृत ग्रन्थकारने उस विषयको विस्तृत छोड़ दिया है । उन्होंने अपने क्षेत्रका बहुत विस्तार न करने सीमित क्षेत्रको ही अपना विषय बनाया है उसकी दृष्टिसे जितना भाग अत्यन्त आवश्यक समझा गया है उसीका प्रतिपादन यहाँ किया है । श्रौर वह भी अभि-नेय काव्यके अन्तर्गत कुछ भेदोंके सम्बन्धमें ही लिखा गया है । चारह प्रकारके अभिनेय-काव्यमें भेदोंकी विवेचना ही इस ग्रन्थमें की गई है । अतः ग्रन्थकारका क्षेत्र उन भेदोंकी विवेचना तक ही सीमित है । इस बातको आगे लिखते हैं—

‘कियतोऽपि’ अर्थात् ग्रन्थ [लक्षणविधि] में अभिप्रेत कुछ छोड़े-से [भेदों] का [ही लक्षण करेंगे] । इसलिए [नाट्यशास्त्रके भरतमुनिसे भी प्राचीनतर आचार्य] बोहत प्रणीत साटव [सट्टक] आदिका लक्षण यहाँ नहीं किया गया है । लक्षणीय [अर्थात् अभिनेय-

अथ व्यक्तिभेदानुदेशे, नियत न शक्यते लक्षणमाख्यातुमिति तानुद्दिशति—

[सूत्र ३]—नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरणयथ ।

व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः ॥३॥

काव्यों] का बाहुल्य [बहुतापत्] होनेपर भी जितने भागमें [लक्षयितुं] लक्षण करने वाले प्रयात् प्रत्यकारकी श्रद्धा [इच्छा] है उतने ही भागमें [प्रयात् केवल बारह भेदोंके] ही लक्षण करते हैं । और 'शियतोऽपि च प्रसिद्धस्य' कुछ प्रसिद्ध [अभिनेय-काव्यों] का प्रयात् रसकी प्रधानता होनेके कारण समस्त जगत्में आल्हादके कारण रूपसे प्रसिद्ध नाटक आदिवा [ही लक्षण करेंगे] । 'दृष्ट' प्रयात् [भरत आदि] पूर्वमुनियोंके द्वारा रचे गए नाट्य लक्षणोंके तारतम्य [पौर्वाप्य] का विचार करके उपयुक्तता निश्चय किए हुए [लक्षणको कहेंगे] । इस प्रकार ['दृष्ट' पदके प्रयोग द्वारा पूर्वाचार्योंके लक्षणोंके उपादेयता तारतम्यकी विवेचना करने लक्षण कहेंगे इस बातको सूचित करनेसे] अपनी वक्तव्यमात्रके निरास द्वारा लक्षणोंकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है । [आगे 'लक्षणम्' शब्दका अर्थ करते हैं] जो अभिनेय और कुछ अनभिनेयोंसे भी श्रुत करता है वह लक्षण है [समानासमानजातीयव्ययच्छेदो हि लक्षणार्थः] इसके अनुसार समानजातीय अथ अभिनेय काव्योंसे और असमानजातीय अनभिनेय काव्योंसे भिन्न करने वाले ही नाटक आदिके लक्षण होते हैं । यह बात इस पंक्तिमें सूचित की है । 'प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं' प्रयात् [पूर्वाचार्योंके लक्षणोंमें] सार भागको ग्रहण करने और असार भागको त्याग कर और संक्षेप तथा विस्तारके द्वारा [प्रयात् जहाँ पूर्वाचार्योंने बहुत संक्षेप कर दिया है वहाँ कुछ विस्तार करके और जहाँ उन्होंने अधिक विस्तार दिया है वहाँ संक्षेप करके] प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं । इस प्रकार अर्थोंके रचे लक्षणोंसे उत्कर्ष दिखलाकर [अपनी रचना] निष्प्रयोजनत्वका निराकरण कर दिया है [प्रयात् उपयोगिता प्रदर्शित करती है] ॥२॥

रूपोंके भेद—

जैसाकि ग्रन्थकार प्रथम मञ्जुल इत्यादि सकेत कर चुके हैं इस ग्रन्थमें बारह प्रकारके रूपके भेदाका निरूपण किया जायगा । इनलिए प्रगती की कारिकाओंमें ग्रन्थकार उन बारह भेदोंका नाम गिनाते हैं । इस नाम गिनानेकी प्रक्रियाका शास्त्रीय परिभाषामें 'उद्देश' शब्दमें कहा जाता है । 'उद्देश' शब्दका अर्थ 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन उद्देश' अर्थात् नाममात्रसे वस्तुका कथन करना उद्देश कहना होता है यह किया गया है । प्रायः शास्त्रोंमें उद्देश लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकारके उपायोंके द्वारा अपने विषयका प्रतिपादन किया जाता है । उस पद्धतिका ही अवलम्बन करके अथकार यहाँ रूपके भेदाका नाममात्रसे कथन या 'उद्देश' इन दो कारिकाओंमें कर रहे हैं । फिर आगे उनमें लक्षण आदि करेंगे ।

[सूत्र ३]—१ नाटक और २ प्रकरण तथा ३ नाटिका, ४ प्रकरणो एव ५ व्यायोग, ६ समवकार, ७ भाण ८ प्रहसन, ९ डिम ।

१० उत्सृष्टिकाङ्क, ११ ईहाभृग, १२ वीथी [ये बारह रूपके भेद होते हैं] उनमेंसे नाटक प्रकरण नाटिका और प्रकरणो ये चार [भेद कंशिकी, सात्त्वती आरभटी तथा भारती रूप] सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं और बाक्ये आठ [रूपके भेद] कंशिकीवृत्तिसे रहित

अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः ।

त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ कैशिकीपरिवर्जनात् ॥४॥

‘चकार’ सर्वपुरुषार्थफलत्वेन महापुरुषोपदेशार्हचरितत्वेन च प्रवन्देयु नाटकप्रकरणयोः प्राधान्यमाह । ‘अथ’-शब्दो नाटिकादिचतुष्टयाद् अपूर्णसन्धि-त्वेन विष्कम्भक-प्रवेशकायोग्यत्वेन अनुपदेशार्हचरितप्रायत्वेन च उत्तरेषां पार्थक्यं ज्ञापयति । ‘अङ्क’ इति उत्सृष्टिकाङ्को, न पुनरवस्थासमाप्त्यादिरूप । ऋङ्कवर्ता मध्ये पाठात्, छन्दोऽनुरोधाच्च एकदेशेनाभिधानम् ।

‘चत्वारः’ इति प्रकरण्यन्ता व्यक्तिभेदाः । ‘सर्वा’ गुण-प्रधानभावेन चतस्रोऽपि वृत्तयो भारती-सात्त्वती-आरभटी-कैशिक्यो चक्ष्यमाणलक्षणा यत्र । ‘सिखो’ भारती-सात्त्वती-आरभट्यो व्यस्ताः समस्ता या वृत्तयो येषु । अत्र च येषु व्यायोग-सम-कार-ईहामृग-डिमेपु एकस्या वृत्तेर्न-लक्षणे प्राधान्यनिर्देशस्तेषु व्यक्तिभेदेन पृथक्-पृथक्-कृत्या वृत्ते रुचिस्वेच्छया प्राधान्यं निश्चयते । येषु तु भेदेषु भाग प्रहसन उत्सृष्टि-काङ्क-वाद्यपु यस्या वृत्ते प्राधान्यनिर्देशस्तेषु प्रतिव्यक्ति तस्या एव प्राधान्यमपरयो-गीणत्वमल्पत्वादभावात् वा । ‘कैशिक्या’ परि सामस्येन ‘वर्जन’ अभाव । यद्यपि समवकारे शृङ्गारस्वमस्ति तथापि न तत्र कैशिकी । न यल्लु काममात्रं शृङ्गार, किन्तु विज्ञामोक्षक । न चासौ रौद्रप्रकृतीनां नेतृणाम् । शृङ्गारशब्दश्च तत्र काममात्रपर्यव-सायीति ॥३॥

होनेके कारण [केवल सात्त्वती आरभटी तथा भारती इन] तीन प्रकारकी वृत्तियोसे युक्त हो होते हैं । ३-४ ।

[कारिकामे ‘प्रकरण’ के बाद आया हुआ] चकार, समस्त [अर्थात् चारों प्रकारके] पुरुषार्थोंके प्रदान करने वाले होनेसे तथा महापुरुषोंके उपदेश-योग्य चरित्रसे युक्त होनेके कारण [चारहों प्रकारके इन] प्रबन्धों [अभिनेय-काव्यों] में नाटक तथा प्रकरणकी प्रधानताकी सूचित करता है । [‘प्रकरण’ के बाद प्रयुक्त हुआ] अथ-शब्द १ सम्पूर्ण [अर्थात् भाग कही जाने वाली पाँच प्रकारकी] सन्धियोंसे युक्त न होनेके कारण, २ विष्कम्भक तथा प्रवेशक [इनमें लक्षण भाग किए जावेंगे] के अयोग्य होनेसे, और ३. उपदेश प्रदान करनेमें अतमर्ष चरित्रोंसे पूर्ण होनेके कारण [अयोग्यसे लेकर चौथी पर्यन्त] अगले आठ [भेदों] का नाटकादि [प्रयोग चार भेदों] से भेद सूचित करता है । [कारिकामे आया हुए] ‘अङ्क’ शब्दसे ‘उत्सृष्टिकाङ्क’ का [पहलू करना चाहिए] अवस्था समाप्ति आदि रूप अङ्कोका नहीं । अङ्क युक्त [नाटकादि] के मध्यमे पठित होनेसे छन्दके अनुरोधसे [उत्सृष्टिकाङ्क पूरा शब्द ॥ कहकर] एकदेश [अङ्क-पद] से कथन किया गया है ।

[चार] अर्थात् [नाट्यसे लेकर] ‘प्रकरण’ पर्यन्त [रूपकोंके] व्यक्ति-भेद । [सर्व-वृत्तयः] सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं । इसका अर्थ करते हैं] सब अर्थात् गुणभाव या प्रधान भावसे भारती सात्त्वती आरभटी तथा कैशिकी चारों वृत्तियाँ जिसमें रहती हैं । [ये नाट-कादि चार भेद सब वृत्तियोंसे युक्त होते हैं । भाग ‘त्रिवृत्तयः’ का अर्थ करते हैं] तीन अर्थात् भारती, सात्त्वती तथा आरभटी [नामक तीन] वृत्तियाँ असग-असग [व्यस्त] अथवा समि-

अथ यथोद्देशं लक्षणमाह—

[सूत्र ४]—ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्

साङ्कोपाय-दशा-सन्धि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥५॥

लित रूपसे [समस्ता] जिनमे रहती हैं [ये व्यायोगसे लेकर चौथी पर्यन्त आठ एकभेद 'त्रिवृत्तय' तीन वृत्तियों वाले होते हैं] । इनमे जिन व्यायोग, समवकार ईहामृग और द्विममें उनके लक्षणोंमे एक-एक वृत्तिके प्राधान्यका निर्देश [किया हुआ] है उनमे व्यक्ति-भेदसे कवि अपनी स्वेच्छासे एक-एक वृत्तिको प्रधान रूपसे निबद्ध करता है । और जिन भेदोंमे अर्थात् भाग्य ग्रहसन, उत्सृष्टिकाङ्क्ष और वीथीमे जिस [विशेष] वृत्तिका [नाम लेकर] प्राधान्यका निर्देश किया गया है उनमे [कवि अपनी स्वेच्छासे नहीं अपितु उसी निर्देशके अनुसार] उसी वृत्तिको प्रधान रूपसे और अन्य दोनों [वृत्तियों] की गौरव रूपसे अथवा अल्पताके कारण सर्वथा अभावको [उपनिबद्ध करता है] । आगे 'कैशिकीपरिवर्जनात्' का अर्थ करते हैं—[कैशिकी [वृत्ति] का 'परि' अर्थात् सम्पूर्णतया वर्जन अर्थात् अभाव [होनेसे व्यायोगसे लेकर चौथी पर्यन्त आठ भेद केवल तीन वृत्तियों वाले होते हैं] । यद्यपि समवकारमे शृङ्गारत्व [शृङ्गार-का भाव काम प्रदर्शित] होता है किन्तु फिर भी [शृङ्गारमे होनेवाली] कैशिकी-वृत्ति वहाँ नहीं रहती है । क्योंकि केवल साधारण कामका ही नाम शृङ्गार नहीं है किन्तु [उसके] विलास का उत्कर्ष [उदात्तीकरण शृङ्गार शब्दसे कहा जाता है । समवकारमे सामान्य लौकिक काम-व्यापारमात्रका प्रवर्धन होता है उसके विलासोत्कर्ष या उदात्तीकरणका नहीं] । क्योंकि [यह] समवकारमे प्रस्तुत किए जाने वाले [रोद्र-प्रकृतिके] पात्रोंमे नहीं हो सकता है । इसलिए समवकारमे यथार्थ शृङ्गारका प्रदर्शन सम्भव नहीं है] और उसमे प्रयुक्त शृङ्गार शब्द केवल [सामान्य] काम मात्रका बोधक है ।

इसका यह अभिप्राय है कि तीन वृत्तियों वाले आठ रूप-भेदोंमे समवकारमे यद्यपि कामकी प्रवृत्तियोंका दर्शन होता है किन्तु उसको उदात्त रूप न होनेसे शृङ्गार शब्दसे नहीं कहा जा सकता है । इसलिए उसमे कैशिकी वृत्तिका उपयोग नहीं होता है । अत एव व्यायोग आदि अन्य सात भेदोंके साथ, काम युक्त होनेपर भी समवकारको कैशिकी-वृत्ति हीन केवल तीन वृत्तियों वाले वर्गमे रखा गया है ॥३-४॥

१ नाटक लक्षण—

पिछली कारिकाओंमे अवधारने रूपके बारह प्रधान भेदोंका 'उद्देश' अर्थात् 'नाम-मात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन' किया है । 'त्रिविधा च शास्त्रस्य प्रवृत्ति, उद्देशो लक्षण परीक्षा च' इस मिद्धान्तके अनुसार 'उद्देश' के बाद लक्षणका अवसर आता है । अत एव आगे अन्यकार उद्देशोंके क्रमसे ही लक्षणोंका निरूपण आरम्भ करते हैं । उद्देशक्रममे सबसे पहले नाटकका नाम आया है इसलिए सबसे पहले नाटकका ही लक्षण करते हैं ।

अब उद्देश क्रमके अनुसार [नाटकके] लक्षणोंको कहते हैं—

[सूत्र ५] उन [रूप-भेदों] मेसे धर्म, धर्म और काम [रूप त्रिविध] फलोंवाला, अङ्ग, उपाय, दशा, सन्धिसे युक्त, देवता आदि जिसमे [प्रधान नायकके अङ्ग अर्थात्] सहायक हों, इस प्रकारका पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाओंका चरित [प्रदर्शित करनेवाला अभिनेय काव्य] नाटक [नामसे कहा जाता] है ॥५॥

ख्याताक्षराजस्य चरितं यत्रेत्यन्यपदार्थः । इह ख्यातत्वं त्रिधा, नाम्ना, चेष्टितेन, देशेन च । कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम् । चरितमपि वत्सराजस्य । कौशाम्ब्यां वासवदत्ताभादिकमेव । वासवदत्ताभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव ।

चरितख्यातत्वं च प्रधानचरितापेक्षया । ततस्तदनुयायीनि रञ्जकत्वार्थमख्यातामपि चरितानि क्रियन्ते । तेन बहुषु रामप्रबन्धेषु सीताहरणानयनोपायानां युद्धानां गौणपात्राणि । अपरेषां च भणितिविशेषादीनां भेदेऽपि न विरोधः ।

पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाका चरित्र जिसमें [प्रदर्शित किया गया] हो वह [ख्याताक्षराजचरित] अभिनेय काव्य हुआ, यह ग्रन्थ-वदार्थप्रधान [बहुब्रीहिसमास 'ख्याताक्षराजचरित' इस पदमें किया गया] है । इसमें प्रसिद्धत्व तीन प्रकारसे होता है, १ नामसे [प्रसिद्धत्व], २ कार्यसे [चेष्टितेन प्रसिद्धत्व] और ३ देशसे [प्रसिद्धत्व] । [भाग्ये इन तीनों प्रकारके प्रसिद्धत्वको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट रूपसे दिखलाते हैं] जैसे नामकी प्रसिद्धिका उदाहरण यह है कि कौशाम्ब्योमें चरित [प्रयात् चेष्टाएं अभिनय] वत्सराज [के नाम] से ही हृदयाकर्षक होता है । [प्रयात् इस रूपमें वत्सराज नामसे नायक उदयनका ख्यातत्व बनता है । दूसरा चरितसे प्रसिद्धका उदाहरण दिखलाते हैं] और वत्सराज [उदयन] का कौशाम्ब्योमें वासवदत्ता—प्राप्ति रूप चरित ही [हृदयाकर्षक होता है] । यह चरित काव्यों द्वारा प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । इसीको तीसरे प्रकारसे बतल देनेपर] वत्सराज [उदयन] का वासवदत्तालाभादिक [चरित] कौशाम्ब्योमें ही [हृदयाकर्षक होता है यह देशसे प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । अर्थात् एक वत्सराजके चरित्रमें ही तीनों प्रकारकी प्रसिद्धि जाई जाती है] ।

यह चरित्रकी ख्याति प्रधान नायककी दृष्टिसे ही [सी जाती] है । इसलिए शोभाधान के लिए उस [प्रधान-नायक] के अनुयायी अप्रसिद्ध चरित्र भी [नाटकमें उपनिबद्ध] किए जाते हैं । इसलिए बहुतसे राम-काव्योंमें सीताके हरण तथा पुनः प्राप्तिके युद्धोंमें गौण पात्र [भी पाए जाते हैं] । और ग्रन्थ [अप्रधान पात्रों] को उक्तियोंमें [भिन्न भिन्न नाटकों] में विरोध होनेपर भी शेष नहीं होता है ।

वहाँ ग्रन्थकारने नाम्ना, चेष्टितेन देशेन च' तीनों प्रकारकी प्रसिद्धि एक वत्सराज उदयनके चरित्रमें ही दिखलाई है । और उसके लिए तीन भिन्न-भिन्न स्थानोंपर 'एवकार' का प्रयोग किया है । 'कौशाम्ब्या चरित वत्सराजेनैव रञ्जकम्' । इस वाक्यमें 'एव कार' द्वारा वत्सराज नामपर बल दिया गया है । अर्थात् कौशाम्ब्योमें वहाँके पूर्ववर्ती राजा वत्सराज उदयनका नाम प्रसिद्ध है इसलिए वहाँ उनका चरित्र ही लोगोंको प्रिय लगता है । यह 'वत्सराजेनैव' में वत्सराजके साथ प्रयुक्त 'एवकार' का अभिप्राय है । दूसरी जगह 'चरितमपि वत्सराजस्य कौशाम्ब्या वासवदत्ताभादिकमेव' में प्रयुक्त 'एवकार' वासवदत्ता प्राप्ति रूप चरितके ऊपर ही बल देता है । अर्थात् वत्सराज उदयनके ग्रन्थ चरित्र इतने हृदयाकर्षक नहीं हैं जितना कि वासवदत्ता प्राप्तिका वृत्तान्त । यह 'चेष्टितेन' प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । तीसरी जगह 'वासवदत्ता नामादिव वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव' यहाँ 'कौशाम्ब्यो' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' कौशाम्ब्यो रूप देशपर विशेष बल देता है । अर्थात् वत्सराज उदयनका वासवदत्तालाभरूप चरित भी केवल कौशाम्ब्योमें ही विशेष रूपसे सोचप्रिय है ग्रन्थ नहीं ।

आद्येति पूर्वः, तेन वर्तमानभविष्यतोर्निरासः । कविना हि रक्षनार्थं किञ्चित् सदप्युपेक्ष्यते, किञ्चिदसदप्याद्रियते । वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धिबाधया रस-  
हानिः स्यात् । पूर्वमहापुरुषचरितेषु च अश्रद्धानं स्यात् । भविष्यतस्तु वृत्तं चरितमपि  
न भवति । चर्यते स्म चरितमित्यतीतनिर्देशात् ।

यह 'देशेन' प्रसिद्धिका उदाहरण है । इस प्रकार एक बत्सरराज उदयनके चरित्रमे ही तीनों प्रकारकी प्रसिद्धिके उदाहरण ग्रन्थकारने दिखला दिए हैं ।

वर्तमान चरित्रोंके अभिनयका निषेध—

नाटकमे केवल पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाओंकी ही नायक रूपमे प्रस्तुत किया जा सकता है वर्तमान या भविष्यत्के राजाओंकी चरित नायकके रूपमे प्रस्तुत नहीं करना चाहिए इस बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'आद्य-राज' पदसे सूचित किया है । इस बातको विवरणकार अगली पक्तियोमे दिखलाते हैं—

'आद्य' इस [पद] से पूर्व [कालके राजाओंका ही ग्रहण होता है] इसलिए वर्तमान और भविष्यत् [कालके राजाओंके चरित्रका वर्णन] का निषेध हो जाता है । [इसकेलिए आगे दो युक्तियाँ देते हैं । उनमेसे पहली युक्ति यह है कि—नाटकमे] शोभाधानके लिए कवि कभी कभी कुछ विद्यमान [अर्थात् वास्तविक] बातको भी छोड़ देता है और कुछ अविद्यमान [अर्थात् स्वयं कल्पित अर्थ] को भी ग्रहण कर लेता है । [यदि नाटकमे वर्तमान-कालके व्यक्तिको भी नायक बना दिया जाय तो ऐसे स्थलोंमे] वर्तमानको नेता बनानेपर तो तरका-लीन प्रसिद्धिके बाधित होनेसे रसकी हानि होगी । और पूर्वकालके महापुरुषोंके चरितकी उपेक्षा [अश्रद्धान] भी होगी । [इसलिए वर्तमान कालके चरित्रको नाटकमे नायक नहीं बनाना चाहिए] और भविष्यत् कालका [कल्पित कथानक] तो 'चरित' भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि जिसका [अतीतकालमे] आचरण किया जाता या यह 'चरित' [कहलाता] है वह [बात 'चरित' पदमे आए हुए वत-प्रपयसे सूचित होती है । इसलिए वत-प्रपयके द्वारा] अतीतकालका निर्वेश होनेसे [भविष्यत्कालके कथानकको चरित भी नहीं कहा जा सकता है] ।

अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्तने भी प्रथमाध्यायमे [पृ० १४५ पर] इस विषय की विवेचना विस्तारके साथ की है । भरत नाट्यशास्त्रके प्रथमाध्याय मे 'तदन्तेऽनुकृतिर्विदा यथा देश्याः सुरैर्जिताः' । यह [श्लोक ५७] आया है । इसमे इन्द्रकी सभामे देवताओं द्वारा देश्यांश्च विजयं प्राप्त करनेके नवान्नयके अभिनव किए जानेकी बात लिखी है । इस आधारपर किन्ही पूर्ववर्ती टीकाकारोंने यह परिणाम निकाला है कि अपने स्वामी राजा आदिको प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उनके चरित्रका भी अभिनय उनका दिखलाना चाहिए । परन्तु अभिनवगुप्त इस बातको स्वीकार नहीं करते हैं । इसलिए उन्होंने प्रथमाध्यायकी इस ५७ वीं कारिकाकी व्याख्याके प्रसङ्गमे इस प्रश्नको उठाकर उसका खण्डन निम्न प्रकारसे किया है—

"प्रभुपरितोषाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाटये वर्णनीयमिति" 'यथा देश्याः सुरैर्जिताः' इत्येतस्मात्प्रत्यत इति केचिदाहुः ।

तदसत् । दशरूपम्-लक्षणं युक्तिविरोधान् । तत्र हि किञ्चिन् प्रसिद्ध-चरितं, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वदयते" ।



राजेति क्षत्रियमात्रं, न पुनरभिषिक्त एव । राम-जीमूतवाहन-पार्थादीनामन-मिषिक्तानामपि दर्शनात् । क्षत्रियो मर्त्य एव, तेन न देवनेतृकं नाटकमित्युक्तं भवति । नाटकं हि रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत् इत्युपदेशपरम् । देवतानां तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वाच्च मर्त्यानामुपदेशयोग्यम् । तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते न ते सम्यगगमंसेति ।

“न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयानां तत्र राग-द्वेषमध्यस्थता-दिना तन्मयोभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात् । वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्म-फलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम् । अप्रत्यक्षत्वे ‘भविष्यति प्रमाणाभावात्, इति न्यायेन व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम् । एतच्च दशरूपकाध्यायवितनिष्ठ्याम इत्यास्तां तावत्” ।

इतका अभिप्राय यह है कि प्रभु-राजादिके प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उसके चरित्रका भी अभिनय उनको दिखाना चाहिए ऐसा जो लोग मानते हैं उनका कथन उचित नहीं है । क्योंकि दशरूपकोके लक्षणोमे कुछ नाटकादि प्रसिद्ध-चरित वाले माने गए हैं और समवकार आदि कुछ भेद उत्पाद्य-चरित अर्थात् कल्पित चरित्रके आधारपर निर्मित माने गए हैं । वर्तमान राजादिका चरित्र इन दोनोंमेसे किसी श्रेणीमे नहीं आता है । अतः उसका अभिनय उचित नहीं है । इस सम्बन्धमे दूसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रमे देखने वाली का राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेसे उनका न मनोरजन होया और न उनको कोई शिक्षा ही मिलेगी । अर्थात् नाटकके दोनों ही प्रयोजन व्यर्थ हो जावेंगे । अतः वर्तमान चरित्रका अभिनय नहीं करना चाहिए । इसी विषयमे अभिनवगुप्तने तीसरी युक्ति यह दी है कि वर्तमान चरित्रमे यदि धर्मादिका फल तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है तो नाटकके प्रयोगका कोई लाभ सामाजिकको नहीं मिलता है । और यदि धर्मादि फलका प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती है । अतः वर्तमान चरित्रका अभिनय उचित नहीं है ।

यहाँ प्रकृत ग्रन्थमे रामचन्द्र-गुणचन्द्रे भी वर्तमान चरित्रके अभिनयको अनुपयुक्त ठहराया है । उनकी युक्तियाँ अभिनवगुप्तकी युक्तियोसे भिन्न हैं किन्तु उनकी कल्पना सुन्दर है । इन दोनोंकी युक्तियोको बिनाकर इस विषयका एक सर्वाङ्ग सुन्दर विवेचन उपरिपत हो जाता है । इसलिए हमने अभिनवगुप्तके मतका यहाँ उल्लेख कर दिया है ।

नाटकमे देवताओंके नायकत्वका खण्डन—

और ‘राजा’ पक्षसे क्षत्रियवाचका ग्रहण करना चाहिए केवल अभिषिक्तका ही [ग्रहण] नहीं [करना चाहिए] । क्योंकि राम, जीमूतवाहन और युधिष्ठिर आदि अनभिषिक्त भी [नायक रूपमे] पाए जाते हैं । क्षत्रियसे मानव [रूप क्षत्रिय] का ही ग्रहण करना चाहिए इसका यह अभिप्राय होता है कि नाटकमे देवताओंको नायक नहीं बनाया जा सकता है । क्योंकि ‘रामके समान आचरण करना चाहिए राखणके समान नहीं’, इस उपदेशको देनेवाला नाटक होता है । और देवताओंकेलिए तो अत्यन्त कठिन कार्योंकी सिद्धि भी उनकी इच्छा मात्रसे हो हो जाती है इसलिए उनके चरित्रके अनुसार आचरण सम्भव न होनेसे वह मनुष्योंके लिए उपदेशप्रति नहीं हो सकता है [इसलिए देवताकी नायक बनाना व्यर्थ और अनुचित है] इसलिए जो देवताओंको भी [नाटकोंको] नायक मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है ।

नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशी । प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात् । उपदेशानर्हंप्रायवृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते । चरितमित्याचरितं न तु कविबुद्धिकल्पितम् । बाहुल्यापेक्षं चैतत्, तेनाल्पं किमपि रञ्जकं कल्पितमपि न दोषायेति ।

धर्म-काम-अर्था व्यस्त-ममस्ताः सत् प्रधानं फलं यत्र । मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम् । सन्तोऽचिरभाविताद् वर्तमाना वा धर्म-अर्थ-कामाः फलम् । तेन भाविकामार्थफलत्वादागमा न नाटकम् ।

तत्र धर्मफले नाटके दया-दम-दान-न्यायप्राय दृष्टफलं आमुष्मिकफलं च राज्याद्यभाधया नेतुरचरितं व्युत्पाद्यते । न पुनः सर्वसङ्गपरित्यागं कृत्वा व्रतमाचरितमित्यामुष्मिकफलमेव । साक्षाद् दृष्टफलार्थी हि लोकः ।

नायिका दिव्य भी हो सकती है—

नायिका तो दिव्य भी हो सकती है जैसे उर्वशी । क्योंकि प्रधान मानव [रूप नायक] के चरित्रमे उस [दिव्य नायिका] के चरित्रका अन्तर्भाव हो जाता है । उपदेश प्रदान करनेकी क्षमतासे रहित और दीप्त रस वाला होनेसे समवकार आदिमेही दिव्य [अर्थात् देवतापरोक्ष] नेता माननेपर भी कोई विरोध नहीं होता है । 'चरित्रमें' इस पदसे [पहले] आचरण किया हुआ [यह अर्थ गृहीत होता है] । कविको बुद्धिसे कल्पित [चरित्रका] का [ग्रहण] नहीं होता है । और यह बाहुल्यकी दृष्टिसे [कहा गया] है इसलिए थोड़ा-सा कुछ सौन्दर्याभाष्य [वृत्त] कल्पित होनेपरभी दोषाभाष्य नहीं होता है ।

[आगे 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका भागकी व्याख्या करते हैं—] अलग अलग [व्यस्त] या समस्त [समष्टि] रूपमे धर्म, काम और अर्थ जिसके सत् अर्थात् प्रधान फल हैं [वह 'धर्मकामार्थसत्फलम्' हुआ] । मोक्ष तो धर्मका कार्य [धर्म जन्य] होनेसे गौण फल होता है [इसलिए यहाँ उसकी गणना नहीं कराई है] । अथवा अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होने वाले होनेसे भावी धर्मादि को भी सत् कहा जा सकता है इसलिए सत् अर्थात् वर्तमान [वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा] धर्म काम और अर्थ जिसके फल है [यह 'धर्म-कामार्थसत्फलम्' की दूसरी व्याख्या हुई] । इस व्याख्याके अनुसार [सुदूरवर्ती जन्मान्तरमें प्राप्त होने वाले] भावी फल [का प्रतिपादन करने] वाले 'आगम', नाटक [अंशमें] नहीं [माने जाते] हैं ।

उन [धर्म, काम और अर्थ फल वाले नाटकों जैसे] मे से धर्म-फल वाले नाटकोंमे दया, दम, दान और न्याय आदि दृष्ट फल तथा राज्य आदिकी अबाधसे पारलौकिक फल वाले नेताके चरित्रका प्रदर्शन कराया जाता है । समस्त सम्बन्धोंकी परिस्थापन करके [नायकने] व्रतका अनुष्ठान किया इस रूपमे आमुष्मिक फल वाले [नायकके चरित्र] का [प्रदर्शन] नहीं [कराया जाता है] । इसका कारण यह है कि] ससार साक्षात् दृष्ट फलको [देखना] चाहता है ।

'धर्म-कामार्थसत्फलम्' इस कारिकाभागमे धर्म फल वाले नाटककी चर्चा की गई है । धर्मके भीतर विधिरूप और निषेधरूप दोनों प्रकारके धर्मोंका समावेश हो सकता है । दया दान आदिका करना विधिरूप धर्म है और सब व्यापारोंसे उपरति रूप व्रतादि, निषेध रूप धर्म है । यहाँ नाटकमे दया दानादि रूप विधि धर्मोंका ही धर्म पदसे ग्रहण करना चाहिए । सर्वव्यापारोपरति रूप धर्मका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उस प्रकारके धर्मों

कामफले च दिव्यकुलजम्त्रीसम्भोग-सङ्गीतक-कामचारोपवनविहारप्रायम् ।  
अर्थफले च शत्रुच्छेद-सन्धि-विग्रहादिराज्यचिन्ताप्रायमिति ।

'साङ्ग', इति अङ्ग-उपाय-दशा सन्धिभिर्वच्यमाणे सह वर्तते । 'दिव्याङ्गम्,  
इति दिव्यं देवता अन्योऽपि चोत्तम प्रधानस्य नेतुरङ्ग' सहायः पताका-प्रकरी-  
नायक-लक्षणा यत्र । दिव्यो हि नेतैव विरुध्यते न पुनः महायः । अत्यन्त भक्तानामेव  
नाम देवता प्रसीदन्तीति देवताराधनपुर सरं उपायानुष्ठानमाधेयमिति व्युत्पादनार्थं  
दिव्योऽप्यङ्गत्वेन कायः ।

का फल लोकमे साक्षात् नहीं देता जाता है । इसलिए जिन व्रतादिके प्रदर्शनसे सामाजिकी  
साक्षात् फलका दर्शन न हो सके उस प्रकारके धर्मका ग्रहण यहाँ धर्म पदमे अभिप्रेत नहीं है ।

राज्यादिकी बाधाका अभाव तो उसके पूर्वकृत धर्मका दृष्ट फल हो सकता है किन्तु  
व्रतानुष्ठानका फल उस समय देखनेको नहीं मिल सकता है । अतः दया, दान आदि दृष्टफल  
तथा राज्यकी बाधाका अभाव आदि प्रायुक्तिक धर्म फल माने जा सकते हैं । यह ग्रन्थकारका  
अभिप्राय प्रतीत होता है ।

और कामफल वाले [नाटक] ने दिव्य [अर्थात् अक्षरा] अथवा [उत्तम कुलमे  
उत्पन्न हुई] कुलीन स्त्रीका सम्भोग, सङ्गीत, कामचार [अर्थात् यथेच्छ उपभोग आदि आच-  
रण] और उपवन-विहार आदि [प्रधान फल प्रदर्शित किया] है । अर्थफल वाले [नाटक]  
मे शत्रुका नाश, सन्धि-विग्रह आदि राज्य चिन्ताका [प्रधान फलके रूपमे प्रदर्शन किया  
जाता] है ।

यहाँ तक ग्रन्थकारने 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका-भाष्यकी व्याख्या की है । अब  
आगे 'साङ्गोपायदशासन्धि' इस पदकी व्याख्या करते हैं । इसमे अङ्ग, उपाय, दशा और सन्धि  
पद आए हैं, ये सब नाट्यशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं । ग्रन्थकार इन सबके लक्षण प्राण  
करेंगे । उन अङ्ग आदि सबसे युक्त, पूर्वकालिक राजाओंके चरित्रका प्रस्तुत करने वाला  
नाटक होता है यह इस पदका अभिप्राय है । इसी अभिप्रायकी प्रगती पक्षियोंमे देते हैं—

आगे कहे जाने वाले अङ्ग, उपाय, दशा तथा सन्धिसे युक्त [प्राञ्छराजचरित नाटक  
कहलाता है] । 'दिव्याङ्गम्' [इस पदके दो प्रकारके अर्थ हो सकते हैं । उनमेसे पहिला अर्थ  
यह है कि] दिव्य अर्थात् देवता [अथवा] और भी [कोई] उत्तम-प्रकृति [महानुभाव] प्रधान  
अर्थात् नायकका अङ्ग अर्थात् सहायक अर्थात् पताका-नायक अथवा प्रकरी-नायक-रूप जिसमे  
हो [यह नाटक 'दिव्याङ्ग' हुआ । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अभी तो नाटकमे दिव्य  
नायकके रसे जानेका छण्डन कर चुके हैं फिर उसके तुरन्त बाद ही देवताओंको नायकका  
सहायक अथवा पताका-नायक या प्रकरी नायक बनानेकी बात कह रहे हैं ये दोनों विरुद्ध बातें  
हैं । इसका शङ्का समाधान करते हैं कि] देवताको नायक बनाना ही अनुचित है सहायक  
बनाना [अनुचित] नहीं [है] । अत्यन्त भक्तोंके ऊपर ही देवता प्रसन्न [होकर उनसे सहायक  
बननेके लिए उद्यत] होते हैं इसलिए देवताओंका पूजन करने ही उपायोका अनुष्ठान करना  
चाहिए इस बातकी निशा देनेकेलिए देवताओंकी भी सहायक [रूपमे प्रस्तुत] करना  
चाहिए [यह इस पक्षिका अभिप्राय ] ।

तत्र देवता यथा नागानन्दे गौरी । उत्तमप्रकृतिर्यथा रामादिप्रबन्धेषु सुग्रीवा-  
दिरिति । यद्वा दिव्यानि अनवधानि अङ्गानि वक्ष्यमाणानि उपक्षेपादीनि यत्र ।

तत्रेति निर्धारणार्थः । अभिनेयममुदायान् प्रधानपुरुषार्थप्रवृत्तविनेयराजा-  
दिव्युत्पादनगुणेन नाटकं निर्धार्यते । नाटकमिति नाटयति विचित्रं रङ्गनाप्रवेशेन  
सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम् । अभिनवगुप्तस्तु नमनार्थस्यापि नट-नाटकशब्दं  
व्युत्पादयति । तत्र तु घटादित्वेन ह्रस्वाभावरिचन्त्यः ।

उनमेंसे देवता [के सहायक होनेका उदाहरण] जैसे भागानन्दमे गौरी [मलयवतीकी  
प्राप्तिमे जीमूतवाहन की सहायक बनती है । दूसरे प्रकारके] उत्तम प्रकृति [के सहायक होनेका  
उदाहरण] जैसे रामादिके नाटकमें सुग्रीव आदि । अथवा दिव्य अर्थात् सुन्दर जिसके अङ्ग  
अर्थात् भागे बड़े जाने वाले उपक्षेप आदि [रूप अङ्ग] हैं वह [दिव्याङ्ग हुआ । यह 'दिव्याङ्ग'  
पदका दूसरा अर्थ है] ।

[कारिकामें आया हुआ] 'तत्र' शब्द निर्धारणार्थक [छांटनेके अर्थमें प्रयुक्त] है ।  
[बारह प्रकारके] अभिनेय [काव्यों] के समुदायमेंसे [नाटकका अलग निर्धारण यहाँ 'तत्र'  
शब्दके द्वारा किया गया है । क्योंकि] मुख्य [धर्म, अर्थ, काम रूप] पुरुषार्थों [की सिद्धि]  
में प्रयुक्त, उपदेश करने योग्य राजा आदिको [विशेष रूपसे] शिक्षा प्रदान करने वाला होनेसे  
नाटकको [अभिनेय-काव्यके अन्ध भेदोंसे 'तत्र' शब्दके द्वारा यहाँ] अलग किया जा रहा है  
['निर्धार्यते' । इसलिए 'तत्र' शब्द यहाँ निर्धारणार्थक है । भागे] नाटक [शब्दकी व्युत्पत्ति  
दिललाते हैं] नाना प्रकारसे सौन्दर्यके प्रवेश द्वारा ही सहृदयोंके हृदयोंको [नाटयति नर्तयति]  
आनन्दान्तरिक से नचाता-सा है इसलिए [नर्तनार्थक नट धातुसे] 'नाटक' [शब्द बनता] है ।  
अभिनवगुप्तने तो [ 'एत नृत्तों' के स्थानपर 'एत नर्तों' पाठ मानकर 'नर्त' अर्थात्] नमन अर्थ  
धाले नट धातुसे भी नाटक शब्दकी सिद्धि की है । किन्तु उस स्थलपर [नमन अर्थमें तो नट  
धातुसे] घटादि गणपटित होनेसे [मित घोर घटादि गणपटित धातुओंको 'घटादयो मित.' के  
अनुसार मित् माननेसे 'मितां ह्रस्व' अष्टा० ६-४-६२ सूत्रसे लिख् परे रहते उपधाको ह्रस्व  
बढ़नेका विधान होनेसे 'नाटक' शब्दमें] ह्रस्वका अभाव चिन्तनीय है । [अर्थात् शुद्ध नहीं प्रतीत  
होता है] । अर्थात् यदि घटादि गणस्थ नट धातुसे इस शब्दकी सिद्धि की जायगी तो उपधाको  
ह्रस्व होकर 'घटक' शब्दके समान 'नटक' शब्द बनना चाहिए । नाटक शब्द नहीं बनेगा ।

'एत नृत्तों' धातु भ्वादिगणमें [धातु-नस्या ३१० तथा ७८१] दो स्थानोंपर पडा  
गया है । सिद्धांतकीमुदीकारने इनमेंसे अथम-पठित धातुको नाट्यार्थक और दुपारा पठित  
धातुको नृत्यार्थक माना है ।

"इदमेव पूर्वमपि पठितम् । एत्राय विवेकं पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थं । यत्कारिषु  
नट्यपदेशः । वाक्यार्थाभिप्रायो नाट्यम् । घटादौ तु नृत्त नृत्य भाव । यत्कारिषु नर्तकव्यप-  
देशः । पदार्थमिनयो नृत्यम् । गानविशेषमात्र नृत्तम् । केचित् घटादौ एत नर्त इति पठन्ति ।

भ्वादिगणकी ७८१ सस्या वाले धातुकी व्याख्याम यह मिथ्यात्वकीमुदीकारका लेख  
है । इसी एत नर्तों पाठका उल्लेख नमनार्थक नट धातुके रूपमें यहीं किया गया है ।

अभिनवगुप्तने नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति करने समय यद्यपि 'एत नर्तों' धातुका स्पष्ट  
रूपमें उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'नमन प्रद्वीभाव' नमनका अर्थ 'प्रद्वीभाव' नमन

यद्यपि कथादयोऽपि भोक्तृहृदय नाटयन्ति तथापि अङ्कोपायादीना वैचित्र्य-  
हेतूनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम् । तथा नाटकं प्रधानपुरुषार्थेषु  
राज्ञां तदङ्गभूतेष्वभात्यादीना च बहूना व्युत्पादकमिति कतिपयव्युत्पादवान् प्र-  
रणादीन्यपि न नाटकमिति ॥ ५ ॥

प्रदर्शन होता है । इस 'प्रह्नीभाव' और 'नति' शब्दोंका उल्लेख नाटक शब्दकी व्युत्पत्तिके  
प्रसङ्गमें अवश्य किया है । अठारहवें अध्यायमें नाटकके विवेचनके प्रसङ्गमें—

(१) नृपतीनामेव नाटकन्नाम तच्चेष्टितं प्रह्नीभावदायक भवति [पृ०  
४१३, पंक्ति ८] ।

(२) यद्यपि सर्वसूत्रकाराणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयाश्च विनीतान्  
करोति [पृ० ४१४, पंक्ति २] ।

(३) प्रधान पुरुषार्थे प्रधानविनेयानां अन्यत्रान्येषा वेदयतोऽवनति  
व्युत्पत्तिं ददाति । तत एव नाटकमुच्यते । [पृ० ४१४, पंक्ति ७] ।

इत्यादि रूपमें अनेक स्थानोंपर नमन प्रह्नीभाव, नति आदि शब्दोंका नाटक शब्दके  
साथ सम्बन्ध दिखलाया है । जिससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नमनार्थक नट धातुसे  
भी नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति मानते हैं ।

परन्तु प्रकृत अन्वयकार रामचन्द्र गुणचन्द्र इस व्युत्पत्तिसे सहमत नहीं हैं । उनका  
कहना है कि घटादि गण पठित एत धातुको ही कुछ लोगो ने 'नृती' के बजाय 'नती' अर्थ  
में माना है । घटादि गण पठित धातुओंको मित् सन्ना होकर उनमें मित्ता ह्रस्व, घूर्णसे ह्रस्व  
हो जाता है । उस दशामे नाटव पदमें भी ह्रस्व होकर 'घटव' के समान 'नटक' पद बनना  
चाहिए । 'नाटक' शब्द उस धातुसे नहीं बन सकता है । अत एव रामचन्द्र-गुणचन्द्रने इस  
व्युत्पत्तिका खण्डन किया है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्रने यहाँ अभिनवगुप्तकी व्याख्यापर जो प्राप्ति की है वह घटादि  
गणस्थ नट-धातुके नत्यर्थक माननेपर ही बन सकती है । यदि उनसे भिन्न पहिले स्थलपर  
३१० धातु-मर्यादा नामे नट धातुको नमनार्थक मान लिया जाय तो इस प्रकारकी प्राप्ति  
नहीं उठ सकती है । सम्भव है अभिनवगुप्त उसी स्थलपर 'नट नती' पाठ मानते हो दूसरी  
जगह नहीं । उस दशामे उनकी व्युत्पत्तिमें कोई दोष नहीं होगा ।

अभिनवगुप्तने केवल नमनार्थक धातुसे ही नहीं अपितु [पृ० ४१३, अध्याय १८] नत-  
नार्थक धातुसे भी नाटक शब्दकी मिथि की है । नाटक नाम तच्चेष्टितं प्रह्नीभावदायक  
भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जोत्सासनया हृदय 'शरीर च नतंयति' नाटकम् ये दोनों  
प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ अभिनव गुप्ता की हैं ।

यद्यपि कथा आदि भी श्रोताओंके हृदयको [मानन्दान्तिरेकसे] नचाते हैं किन्तु ये  
उपाय आदि र्चक्रियके हेतुओंके न होनेके इतने आनन्द दायक नहीं होते हैं इसलिए उनको  
नाटक नहीं कहते हैं । और नाटक प्रधान पुरुषार्थके विषयमें राजा [अर्थात् मुख्य नायक]  
और उसके सम रूपमें समस्त आदि यद्गोत्रोंकी व्युत्पन्न कराने वाला होता है इसलिए [उत्तरी  
भिन्न] वेचन कुछ [विने चुने व्यक्तियों] को व्युत्पत्ति प्रधान कराने वाले प्रचरण आदि  
[अभिनेय-शब्दोंके अर्थ ग्यारहों मेंसे] नाटक नहीं [कहवाते] हैं ।

अथ राजशब्दं व्याख्यातुं सामान्येन नेतुः स्वरूपमाह—

[सूत्र ५]—उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।

वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥६॥

‘धीरो’ धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोदत्त-धीरो-  
दात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु  
स्वभावा नेतृणां यथा-तथा वा भवन्तु । ‘नेतृणाम्’ इति बहुवचनात् प्रायेणैकैकस्मिन्  
धर्मियेकैकः स्वभावः, क्वचिदेव तु चत्वारः । ‘मध्यमोत्तमा’ इति—यद्यपि स्वस्थाने  
सर्वमपि उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिधा, तथापि धीरोदत्तादयः स्वभावा उत्तम-  
मध्यमभेदेनैव वर्णनीया इति ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थके निर्माता रामचन्द्र गुणचन्द्रने इस नाटकके लक्षण-सूत्रकी रचनामें अपने  
कीशालका बड़ा अच्छा परिचय दिया है । अन्य ग्रंथोंमें जहाँ नाटकका लक्षण किया गया है वहाँ  
कई इतोर इसके लक्षण रूपमें लिखे गए हैं । स्वयं भरतमुनिने अनेक श्लोकोंमें नाटकका  
लक्षण इस प्रकार किया गया है—

प्रख्यातघस्तुविषयं प्रख्यातोदात्त-नायकं चैव ।

राजपर्वश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१८॥

नानाविभूर्तिभयुतं श्रद्धाविलासादिभिरुपैश्वर्यैः ।

अंकप्रवेशफाट्य भवति हि तन्नाटकं नाम ॥१९॥

नृपतीनां यश्चरितं नाना रस-भाव-चेष्टितं बहुधा ।

सुप्तदुःखोत्पत्तिरुतं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥२०॥ अ० ६॥

किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने केवल एक ही श्लोकमें नाटकके लक्षणको सर्वांग-पूर्ण बना  
दिया है । यह उनके रचना-कीशालका चोतक है ।

नायकके चार भेद—

अथ राज शब्द [अर्थात् नायक] की व्याख्या करनेकेलिए सामान्य रूपसे नायकके  
स्वरूपका वर्णन करते हैं—

[सूत्र ५]—नायकोंके धीर विशेषणसे युक्त उद्धत उदात्त, ललित धीर प्रशान्त [अर्थात्  
धीरोदत्त, धीरोदात्त, धीरललित धीर-धीरप्रशान्त] चार प्रकारके स्वभाव [‘वैयर्थ्य’] मध्यम तथा  
उत्तम [‘शे’ रूपोंमें] हो वर्णन करने चाहिए [अथम नहीं] ॥ ६ ॥

धीर अर्थात् धैर्यं अर्थात् भारी विपत्तिमें भी न घबड़ाना, जिनका विशेषण है ये,  
अर्थात् धीरोदत्त, धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रशान्त [इन चार प्रकारके नायक-स्वभावोंका]  
वर्णन करना चाहिए । इस प्रकारका [स्वभावोंका] वर्णन [‘वैयर्थ्य’] यदि [अपने नाटकमें]  
करता है । [उन्होंने] नायकोंके जन्मसे उत्पन्न स्वभाव पाए जते हैं । ‘नेतृणाम्’ इस बहुवचन  
के निर्देशमें [यह प्रतीत होता है कि] प्रायः एक-एक व्यक्तिमें एक-एक प्रकारका ही स्वभाव  
[कारण-नाटक] ॥ होता है । चारों स्वभाव तो बहीं [विरले] हो पाए जाते हैं । मध्यमोत्तमाः  
इसमें [पहले यह सूचित होता है कि] यद्यपि अपने-अपने स्थानपर सब ही [यह] उत्तम,  
मध्यम धीर अथम भेदमें तीन प्रकारको होगी हैं । [इसलिए धीरोदत्त आदि के भी ये तीन-

अथ बहुवचनाप्रमेव विषयभेदं स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—देवा धीरोद्धता, धीरोदात्ताः सैन्येश-मन्त्रिणः ।

धीरशान्ता वणिग्-विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः ॥७॥

स्वभाव स्वभावानोरभेदात् सामानाधिकरण्यानिर्देशः । राज्ञां चातुर्विध्य-  
भणनान् देवा धीरोद्धता एव, सैन्येश-मन्त्रिणो धीरोदात्ता एव, वणिग्-विप्रा  
धीरशान्ता एव, घर्षणोया इति स्वयोगव्यवस्थायकत्वेनैवावधार्यते नान्ययोगव्य-  
वच्छेदेन ।

तीन भेद हो सकते हैं] फिर भी धीरोद्धत आदि [नायकोके स्वभाव] उत्तम तथा मध्यम  
[केवल दो] भेदोंमें ही वर्णन करने चाहिए [अर्थात् उनके मध्यम रूपको नाटकोंमें प्रस्तुत नहीं  
करना चाहिए] ॥ ६ ॥

स्वभाव व्यवस्था—

पिछली कारिकामें नायकोके चार प्रकारके स्वभावोंका वर्णन किया था । उसकी  
व्याख्यामें यह भी कहा था कि सामान्य रूपसे एक व्यक्तिमें एक ही प्रकारका स्वभाव पाया  
जाता है किन्तु कही-कही चारो प्रकारके स्वभाव भी एक व्यक्तिमें पाए जा सकते हैं । अब  
इत चारो प्रकारके स्वभावोंकी व्यवस्था दर्शाते किन लोगोंमें किस प्रकारका स्वभाव पाया  
जाता है अथवा किसका किस प्रकारका स्वभाव नाटकादिमें चित्रित करना चाहिए इस बात  
को इस कारिकामें कहते हैं—

[सूत्र ६]—देवता धीरोद्धत [स्वभाव] सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त [स्वभाव]  
वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशान्त [स्वभाव तथा] क्षत्रिय चारो प्रकारके [स्वभाववाले] हो  
सकते हैं ॥ ७ ॥

इस कारिकामें धीरललितका कोई उल्लेख नहीं किया है । व्यक्तिभेदसे क्षत्रिय चारो  
स्वभावके हो सकते हैं । इस कथनसे क्षत्रियोमें धीरललितका समावेश हो जाता है । श्रीकृष्ण  
आदि धीरललित-नायकके उदाहरण हैं । यहाँ जो देवताओंको धीरोद्धत, सेनापति धीर  
मन्त्रियोंको धीरोदात्त, तथा विप्र तथा वणिक्को धीरप्रशान्त बतलाया है, उसका अभिप्राय  
स्वयोगव्यवस्थापन-मात्र है, अन्ययोग-व्यवच्छेद नहीं । अर्थात् देवता आदिका उसी-उसी  
प्रकारका स्वभाव चित्रित करना चाहिए वही इस व्यवस्थाका अभिप्राय है । क-योमें इस  
प्रकारका स्वभाव नहीं हो सकता है, यह इसका तात्पर्य नहीं है । इस बातको विवरणवार  
भागें लिखते हैं—

स्वभाव तथा स्वभाववात् दोनोंका अभेद मानकर देवा धीरोद्धताः आदिमें स्वभाव  
परक 'धीरोद्धता' तथा स्वभाववात् 'देवा' दोनों पदोंका समान विभक्ति तथा समान घननमें  
प्रयोग रूप] सामानाधिकरण्य-निर्देश किया गया है । राजा [अर्थात् क्षत्रियों] के चातुर्विध्य-  
कहे जानेसे देवता धीरोद्धत हो [हो सकते हैं], सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त हो, धीर  
वणिक् तथा विप्र धीरप्रशान्त हो धारित होने चाहिए यह बात स्वयोगव्यवस्थापकत्वेन ही  
निर्धारित होती है अग्रयोग व्यवच्छेदकत्वेन नहीं ।

प्रमुख बात ऐसी ही होनी चाहिए इस भावमें समुक्त होने वाला 'एव' शब्द निर्धारण-

य. पुनः परशुरामस्यातिक्रूरत्वस्यापनार्थो धीरोद्धतत्वनिबन्ध. म 'भाषा-प्रकृतिवेषादे कार्यत. कापि लंघनम्' इत्यपवादोदविन्द. अयं च नियमो देवाना मर्त्यापेक्षया न स्वापेक्षया । शिवादीनामुदात्तानां, ब्रह्मादीना शान्तानामपि च दर्श-नान् । 'राजान' इति क्षत्रियजाति । बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुः स्वभावो नाटकस्य नेता, न पुनरेकस्या व्यक्ती । एकत्र प्रधान्येन स्वभावचतुष्टयं वर्णयितुमशक्यत्वा-दिति । प्रधाननायकस्य चायं नियमो गौणेतृणां तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्व-भावत्यागेन निरध्यते । ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते न ते मुनि-समाध्यायरगादिन । नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनान् क्वदिसमय-वाह्याश्च ॥५॥

एवम् माना जाता है । इसके प्रायः तीन प्रकारके प्रयोग माने जाते हैं । 'विशेष्य सम्बद्ध. एवकार. ग्रन्थयोगव्यवच्छेदक' अर्थात् विशेष्य पदसे जब 'एव' का पद सम्बन्ध होता है तो वह ग्रन्थयोगका व्यवच्छेदक होना है । जैसे 'पार्थ एव धनुर्धर' इसमें 'पार्थ' धनुर्धरको छोड़कर अन्य धनुर्धर नहीं हैं यह ग्रन्थयोगका व्यवच्छेदक होता है । इसी प्रकार 'विशेषण-सगत एवकार ग्रन्थयोगव्यवच्छेदक' । विशेषण-सगत एवकार ग्रन्थयोगव्यवच्छेदक होता है जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' अर्थात् धनुर्धर धनुर्धर ही है यहाँ 'एव' शब्द धनुर्धरमें धनुर्धरत्वके प्रयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव-का निषेधक अर्थात् अवश्य सम्बन्धका सूचक है । इसी ग्रन्थयोगव्यवच्छेदक एवकारको यहाँ ग्रन्थकारने स्वयोगव्यवस्थापक' माना है । धीरोद्धत आदि विशेषणोंके साथ सम्बद्ध एवकार ग्रन्थ-योगका व्यवच्छेदक नहीं अपितु प्रयोगव्यवच्छेदक अथवा स्वयोगव्यवस्थापकमात्र है यह ग्रन्थ-कारका अभिप्राय है । सीसरा एवकार क्रियाके साथ सम्बद्ध होता है । 'क्रिया-सम्बद्ध एवकारो अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक' क्रियाने साथ सम्बद्ध होने वाला 'एवकार' अत्यन्तायोगका व्यवच्छेदक होता है । जैसे 'नील कमल भवत्ययम्' इसमें 'भवति' क्रियाके साथ सम्बद्ध 'एवकार' कमलमें नीलत्वके अत्यन्त प्रयोगका निषेध करने नील कम्प भी हो सकता है इस अर्थको बोधित करता है ।

धीर जो [विप्र] परशुरामके अतिक्रूरत्वके सूचित करनेकेलिए धीरोद्धतत्वका वर्णन किया गया है वह 'कहीं कार्यवश [विशेष प्रयोजनसे] भाषा-प्रकृति और वेप आदि [विषयक नियमों] का उल्लंघन भी किया जा सकता है' इस अपवादके विद्यमान होनेसे अनुचित नहीं है [अर्थात् यहाँ अपवाद स्वयं ही परशुरामके ब्राह्मण होनेसे हुए भी धीरोद्धत-स्वभावका वर्णन किया गया है यह समझना चाहिए] । देवताओंका यह [धीरोद्धत स्वभावका] नियम अनुप्यों-की दृष्टिसे है, अपनी दृष्टिसे नहीं । क्योंकि [देवताओंमें भी] शिव आदि धीरोदात्त तथा ब्रह्मा आदि धीरमातृ [नायक] भी दित्तलाई देते हैं । 'राजान' पदसे [राजाका ही प्रत्येक न करने] क्षत्रियजाति मात्र [का ग्रहण करना चाहिए] । और [राजान पदमें] बहुवचन [के प्रयोग] में व्यक्ति भेदसे नाटकके नेता चारों प्रकारके स्वभाव वाले हो सकते हैं, एक व्यक्तिमें [चारों प्रकारके स्वभाव] नहीं [हो सकते हैं यह ज्ञान सूचित की है] । क्योंकि एक व्यक्तिमें ही चारों प्रकारके स्वभावोंका वर्णन कर सकता असम्भव है । और यह नियम [अर्थात् चारों प्रकारके स्वभावका एक व्यक्तिमें वर्णन नहीं किया जा सकता है केवल] प्रधान नायकके विषयमें ही है । गोए नायकोंमें तो पूर्व-स्वभावको छोड़कर अन्य स्वभावका वर्णन भी किया जा सकता



अथ धीरोद्धतादीनां यथोद्देशमर्थमाह—

[सूत्र० ७]—धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकल्थनः ।

धीरोदाचोऽतिगम्भीरो न्यायी सच्ची क्षमी स्थिरः ॥८॥

शृङ्गारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।

धीरशान्तोऽनहङ्कारः कृपालुर्विनयी नयी ॥९॥

अकावरत्वं धीरशब्दस्यार्थः सर्वत्र समान एव । चलत्वाद्यः पुनरुद्धतादीनां शब्दानामर्थः । चलोऽनवस्थितः । चण्डो रौद्रः । दर्पः शौर्यादिमदः । दम्भः कूट प्रयोगः । विकल्थनः स्वप्रशंसा । अतिगम्भीरो दुरवबोधमध्यः । सच्ची शोक-क्रोधा-द्यनभिभवनीयः । स्थिरो विमृश्यकारी ।

कलासक्तो गीतादिवत्परः । सुखी मन्त्रिजन्यस्तराजचिन्ताभारत्वाभिराधिः । मृदुरक्रूराचारः । अनहङ्कारः सर्वथाप्यनवल्लेपः । धीरोदात्तस्तु विनयच्छन्नावलेपः, इति भेदः । विनयी गुरुजनाद्यनुल्लंघीति । उपलक्षणमात्रं चेत्तत्, तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा दृष्टव्या इति ॥८-९॥

है । जो नाटकके नायकको केवल धीरोदात्त ही मानते हैं वे भरतमुनिके सिद्धान्तको नहीं समझते हैं । धीर नाटकमें धीरललित आदि नायकोंके भी पाए जानेसे कवियोंके व्यवहारसे अपरिचित प्रतीत होते हैं । [अर्थात् भरतमुनिके सिद्धान्त तथा कवियोंके व्यवहार दोनोंके अनुसार नाटकमें चारों प्रकारके नायकोंका विग्रह किया जा सकता है । केवल धीरोदात्त ही नायक हो ऐसा कोई ध्वन्य नहीं है] ॥७॥

अब [उद्देश] क्रमके अनुसार धीरोद्धत आदिका अर्थ बतलाते हैं—

[सूत्र ७] धीरोद्धत [नायक] अतिशय-चित्त, भयङ्कुर, अभिमानी, छसी, घातम- श्लाघी, [होता है] । धीरोदात्त [नायक] अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय, शोक-क्रोध आदिके वशी-भूत न होने वाला [सच्ची], क्षमाशील धीर स्थिर [सोच-विचार कर कार्य करने वाला होता है] ॥८॥

[सूत्र ७] धीरललित [नायक] शृङ्गारप्रिय, [गीत-वाद्यादि] कलाप्रोक्त प्रेमी [शृङ्गारप्रियके मन्त्रीके सोपकर निश्चित हो जाने वाला] सुखी श्रेष्ठ होकर स्वभावका [होता है] । धीर धीरप्रज्ञान्त [नायक] सर्वथा अहङ्कार-रहित, दयालु, विनयशील और नीतिका अवलम्बन करने वाला होता है ॥९॥

[कारिकामें पाए हुए] 'धीर' शब्दका अर्थ अकातरत्व [न घबड़ाना] है । वह [धीरोदात्त आदि चारों प्रकारके नायकोंमें] सर्वमें समान ही है । और चलत्व आदि उद्धत आदि शब्दोंके अर्थ हैं । 'चल' अर्थात् अस्थिरचित्त । 'चण्ड' अर्थात् भयङ्कुर । शीर्षादिके घमण्डका नाम 'दर्प' है । 'दम्भ' का अर्थ कूटप्रयोग [छल] है । घातमश्लाघा करने वाला 'विकल्थनः' [होता] है । 'अतिगम्भीर' अर्थात् जिसके मनकी बात सहज न समझी जा सके । 'सच्ची' अर्थात् शोक-क्रोध आदिके वशमें न होने वाला 'स्थिर' अर्थात् सोच-विचार कर कार्य करने वाला ।

कलासक्त अर्थात् गीत [वाद्य] आदि [कलाप्रोक्त] का प्रेमी । 'सुखी' अर्थात् रागवश विन्याका भार मन्त्रीके सोपकर निश्चित हो जाने वाला । 'मृदुः' अर्थात् क्रूर आचरण न

अथ चरितशब्द व्याचष्टे—

[सूत्र ८]—मुख्यमिष्टफलं वृत्तं, अङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित् ।

सूत्र्यं प्रयोज्यमभ्युह्यं, उपेत्यं तच्चतुर्विधम् ॥१०॥

मुख्य सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम् । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेतं फलं यस्य । वृत्तं चरितम् । अङ्गं मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वादवयवः । प्रसङ्गात् परकीय-यत्नादागतं प्रासङ्गिकम् ।

इह तावत् न निसर्गतं किञ्चिच्चरितं मुख्यमङ्गं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्य अत्यन्तमुत्कर्षमभिप्रेति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरत् अङ्गत्वात् प्रासङ्गिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुप्रीवमैत्री-शरणागत-

करने वाला । 'मनहङ्कार' अर्थात् सर्वथा अभिमान-शून्य । धीरोदात्त [नायक] तो [अभिमान-युक्त होनेपर भी] विनयके द्वारा अपने अभिमानको छिपा लेने वाला होता है यह [धीर प्रशासित उसका] भेद है । 'विनयी' अर्थात् गुरुजन आदि [की आज्ञा या मर्यादा] का उल्लंघन न करने वाला । ये धर्म केवल उपलक्षण मात्र हैं । इसलिये औचित्यके अनुसार धीरोदात्त आदि [नायकों] में अन्य धर्म भी समझ लेने चाहिए ॥८-९॥

चरितके दो भेद—

नाटकमें वर्णित आख्यान-वस्तु जिसकी यहाँ प्रत्यक्षरूप में 'वृत्त' तथा 'चरित' शब्दोंसे निर्दिष्ट किया है दो प्रकारका होता है । एक मुख्य और दूसरा उभय भङ्गभूत । नाटकमें वर्णित प्रधान कथकी प्राप्ति जिसकी होती है वह पात्र नाटकका नायक या प्रधान पात्र होता है । उसका चरित मुख्य चरित कहलाता है । और दोष मय चरित उसकी कार्यसिद्धिसे उपकारक होते हैं इसलिए ये सब उभय भङ्गभूत चरित माने जाते हैं । इसी बातका प्रतिपादन ग्रन्थकार इस चारिकाके विवरणमें निम्न प्रकार करते हैं—

[सूत्र ८]—[कविके द्वारा अभिप्रेत] प्रधान फल जिसको प्राप्त होता है उसका चरित [इष्टफल वृत्त] मुख्य [चरित कहलाता है] । और [अनिवार्य रूपसे सर्वत्र नहीं अपितु 'यवचित्' अर्थात् 'कहीं-कहीं' वर्णित] प्रासङ्गिक [वृत्त] अङ्ग [अप्रधान चरित कहलाता] है । [इन दोनों प्रकारके चरितोंमें भी उनकी अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे चार भेद होते हैं । उनके नाम इस चारिकामें निम्न प्रकार बिलसाए हैं] वह भी १ मुख्य, २ प्रयोज्य, ३ अभ्युह्य [चल्पनीय] और ४ उपेक्षणीय [अेदसे] चार प्रकारका होता है ॥१०॥

सारे प्रबन्ध [अर्थात् सारे नाटकमें आदिसे लेकर अन्त तक निरन्तर] व्यापक रहनेसे प्रधान [चरित ही] मुख्य [चरित कहलाता] है । [उसका लक्षण यहाँ 'इष्टफल' दिया गया है । इसलिये इस शब्दका अर्थ प्राप्ति के हैं] । 'इष्ट' अर्थात् वह जिसके फलको सबसे उत्कृष्ट रूपमें चाहता है [यह 'इष्ट' फल इष्ट फल वाला वृत्त] है [वृत्त अर्थात् चरित] । अङ्ग-अर्थात् मुख्य चरितका अनुगामी होनेसे उसका अवयव [अङ्ग-चरित कहलाता है] । प्रसङ्ग अर्थात् अन्य [विषय] यत्नमें प्राप्त होने वाला वृत्त प्रासङ्गिक [चरित कहलाता] है ।

इनमेंसे कोई भी चरित स्वभावतः मुख्य या अंग-रूप नहीं होता है । किन्तु अनेक फलोंसे वह जिसको अत्यन्त उत्कर्ष [दिखाता] चाहता है वह फल 'इष्ट' [फल होता] है ।

विभीषणरक्षण-रावणवध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्सम्पादनाय तदितरेषु प्रवृत्तेः । अत एव सान्यङ्गानि ।

कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्धमुर्हति, किन्त्वौचित्येन । यस्य धीरोद्धतादे-र्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः । प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्य-वृत्तमयत्नेनैव निष्पत्तिविधेया । प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् । तापसवत्सराजे हि वत्सराजस्य मुख्याय कौशाम्बीराज्यलाभाय प्रयत्नेनैव यौगन्धरायणव्यापारेण प्रासङ्गिकं वासवदत्तासंगम-पद्मावतीप्राप्त्यादिकर्माणि साध्यते ।

‘क्वचित्’ इति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धी सहायमपेक्षते तत्रैव प्रासङ्गिकम् । न सर्वत्र । यथा भट्टश्रीभवनुनचूडामणिविरचितायां कोशालिकायां नाटिकायां कोशालिकाप्राप्तिसिद्धयः प्रवृत्तस्य वत्सराजस्य न प्रासङ्गिकम् ।

यथा वास्मदुपज्ञे सत्य-हरिश्चन्द्रे नाटके प्रतिज्ञानिर्वाहं प्रति प्रवृत्तस्य हरिश्चन्द्रस्य । ‘तच्चतुर्विधम्’ इति ‘तत्’ सामान्येन वृत्तम् ॥१०॥

यह फल जिसको प्राप्त होता है वह ‘चरित’ यहाँ मुख्य [‘चरित’ कहलाता] है । उससे भिन्न [चरित उसका] भङ्ग होनेसे प्रासङ्गिक [चरित कहलाता] है । राम-विषयक नाटकोंमें सुग्रीव-मंत्री, शरणागत विभीषणकी रक्षा, रावण-वध और सीताका लौटाना आदिमेसे सीताके प्रत्यानयनका ही प्रधान रूपसे वर्णन किया है । अन्यो [का वर्णन करने] से उस [सीता-प्रत्यानयन] के सम्पादनकेलिए ही प्रवृत्त होनेसे [सीता-प्रत्यानयन ही प्रधान फल है । अन्य प्रधान नहीं है] इसलिये वे भग [कहलाते] हैं ।

कवि भी अपनी इच्छासे [किसी विशेष] फलका उत्कर्ष वर्णन नहीं कर सकता है । किन्तु औचित्यके अनुसार [ही वह उत्कर्षका वर्णन करता है] । जिस धीरोद्धत आदि [नायक के] केलिए जो फल उचित हो उसका ही उत्कर्ष वर्णन करना चाहिए । और मुख्यवृत्तके लिए किए गए प्रयत्नके द्वारा ही प्रासङ्गिक [वृत्त] की भी सिद्धि करना चाहिए । उस [प्रासङ्गिक वृत्तकी सिद्धि] केलिए अलग प्रयत्न करनेपर तो वह भी मुख्य बन जावेगा । ‘तापस-वत्सराज’ [नामक नाटक] में वत्सराज [उदयन] के कौशाम्बीके राज्यकी प्राप्ति रूप मुख्य फलके लिए किए गए [वत्सराजके मंत्री] यौगन्धरायणके व्यापारसे ही वासवदत्ताका संगम और पद्मावतीकी प्राप्ति आदि रूप प्रासङ्गिक कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं ।

[इसी प्रकार सर्वत्र मुख्य फलकी प्राप्तिके लिए किए जाने वाले व्यापारसे ही प्रासङ्गिक कार्योंकी सिद्धि दिखलानी चाहिए । उसके लिए अलग व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती चाहिए । अन्यथा वह भङ्ग न रहकर प्रधान बन जायगा] ।

[कारिकामे आए हुए] ‘क्वचित्’ इस पदसे [यह सूचित किया है कि] जहाँ मुख्य नायक [अपने] फलकी सिद्धिके लिए सहायकको चाहता है वहाँ ही प्रासङ्गिक [चरित] की आवश्यकता होती है । [वहाँपर उसका वर्णन करना चाहिए] सब जगह नहीं । जैसे श्री भवनुत चूडामणि भट्ट द्वारा विरचित ‘कोशालिका’ [नायक] नाटिकामें कोशालिका [नायिका] की प्राप्तिकेलिए प्रवृत्त वत्सराजका [कोई सहायक अपेक्षित न होने से उसमें] प्रासङ्गिक [वृत्त] या चरित नहीं है ।

अपवा जैसे हमारे बनाये हुए ‘सत्यहरिश्चन्द्र’ [नामक] नाटकमें अपनी प्रतिज्ञाकी

अथ चातुर्विध्यमेव स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—नीरसानुचितं सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययः ।

ऊहं तदविनाभूतं, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम् ॥११॥

नीरसं अरञ्जम् । अनुचितं सरसप्यनर्हं आलिङ्गनं चुम्बनादि । तत् सूच्यं विष्कम्भादिभिर्ज्ञाप्यम् । तस्य नीरसानुचितस्य विपर्ययः सरसमुचितं च प्रयुज्यते, वाचिकादिभिरभिनये सामाजिकानां साक्षादिव क्रियते इति प्रयोज्यम् । तयोः सूच्य-प्रयोज्ययोरविनाभूतं देशान्तरप्राप्त्यादौ गमनादि उहाते स्वयं वितर्क्यते इति उहम् । न नाम देशान्तरप्राप्तिं पादविहरणादिकं विना भवति । उपेक्ष्यते घ्रीडादिद्वेष्टुत्वा-द्वयगण्यते इत्युपेक्ष्यम् । जुगुप्सनीयं भोजन-स्नान-शयन-प्रश्रवणादि । यत् पुनरुत्तर-रामचरिते सीताया, अरमदुपशे नलविलासे अरण्ये दमन्याश्च प्रयुक्तं तत् प्रस्तुत-तोषयोगित्वान् रञ्जकत्वाच्च न दुष्टम् ॥११॥

पूरां करतलेकेति प्रवृत्त हरिश्चन्द्रका [कोई सहायक या प्राप्तिक्रम वृत्त या चरित्र नहीं है । कारिकाके अन्तमें आए हुए ] 'तच्छुचिविषय' इस [पद] में 'तत्' [पदसे] सामान्य रूपसे चरित [अर्थात् वृत्त (१) सूच्य, (२) प्रयोज्य, (३) अस्पृह्य अर्थात् कल्पनीय और (४) उपेक्ष्य आदि भेदोंसे चार प्रकारका हो सकता है यह बात ग्रन्थकार द्वारा सूचित की गई है] ॥१०॥ चरितकी चार अवस्थाएँ या स्थितियाँ—

प्रथम [पिछली कारिकासे बतलाई हुई चरितकी] चार प्रकारकी स्थितिकी ही [इस कारिकासे] स्पष्ट करते हैं—

[सूत्र ६]—[प्रस्तुत चरितमें जो कुछ भाग] नीरस या अनुचित हो वह [विलसने योग्य नहीं होता है अपितु विट्कम्भादिमें अर्थोंकी उक्ति द्वारा] सूचित करने योग्य [होता] है । [अतः उसको 'सूच्य' वृत्त कहा जाता है] उससे विपरीत [अर्थात् सरस और उचित भाग ही] 'प्रयोज्य' [अभिनय द्वारा विलसने योग्य होता] है । उसका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'प्रयोज्य' भागका अभिनय ही न हो सके वह भाग स्वयं] 'ऊह' [अर्थात् कल्पनीय] होता है । और घृणा उत्पन्न करने वाला [जुगुप्सित भाग] 'उपेक्षणीय' [होता] है [अर्थात् उसका अभिनय नहीं करना चाहिए] ॥११॥

नीरस अर्थात् जो मनोरञ्जक न हो । अनुचित अर्थात् जो सरस होनेपर भी [विलसनेके] प्रयोग्य हो जैसे आसिङ्गन, चुम्बन आदि, वह 'सूच्य' अर्थात् विट्कम्भक आदि द्वारा तापनीय [अर्थात् अर्थोंके वर्णन द्वारा बोध्य होना] है । [आगे 'तद्विपर्यय' का अर्थ करते हैं] उमका अर्थात् नीरस और अनुचित रूप 'सूच्य' भागका विपरीत अर्थात् सरस और उचित है यह प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् वाचिक आदि [चारों प्रकारके] अभिनयों द्वारा सामाजिकों के सामने प्रत्यक्ष-ज्ञेय किया जाता है इसलिये 'प्रयोज्य' [कहा जाता] है । उन 'सूच्य' तथा 'प्रयोज्य' दोनोंका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'सूच्य' अथवा 'प्रयोज्य' भागका उपपादन ही न हो सके] जैसे अर्थ स्थानपर पहुँचनेके लिये [अपरिहाय] गमन आदिकी स्वयं ऊहा,

१. उपेक्ष्यते घ्रीडादिद्वेष्टुत्वाद्वयगण्यते इत्युपेक्ष्यं प्रयोज्यम् ।

२. तयोः सूच्यं प्रयोज्ययोः जुगुप्सनीयं भोजन-स्नान-शयन-प्रश्रवणादि ॥

अथ अन्यानपि वृत्तभेदान् दर्शयति—

[सूत्र १०] प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषां स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।

परावृत्त्य रहस्याख्यान्यस्मै तदपवारितम् ॥१२॥

अर्थात् कल्पना की जा सकती है इसलिये यह 'अहम्' [कहलाता] है । क्योंकि परीति चले बिना दूसरे स्थानपर नहीं पहुँचा जा सकता है । जो उल्लिखित किया जाता है अर्थात् लज्जादि-जनक होनेके कारण अनाहत किया जाता है वह 'उपेक्ष' [कहलाता] है । [घृणाके जनक] भोजन-स्नान-शयन और भूषण त्याग आदि [प्रसवण] लुपुष्कित [कहलाते] हैं । किन्तु 'उत्तररामचरित' में रामकी गोदमे पड़ी हुई सीताका और हमारे बनाए हुए 'नलबिलास' में वनमें दमयन्तीके शयनका जो अभिनय दिलाया गया है वह प्रस्तुतमें उपयोगी होने और मनोरञ्जक होनेके कारण बोध नहीं है ॥११॥

भावाभिव्यक्तिके नाटकीय प्रकार—

नाटकमें और लोकमें भी सारी बातें एक ही रूपमें नही कही जाती हैं । भिन्न भिन्न अवसरोंपर भिन्न भिन्न प्रकारकी शैलीका अवलम्बन वार्तालापमें किया जाता है । कोई बात ऐसी होती है जो सबके सामने कही जाती है । कोई ऐसी होती है जिसे बत्ता दूसरों से छिपा कर अपने तक ही सीमित रखना चाहता है । इन दोनोंके लिए नाटकमें असंग-प्रलग शैलियों का अवलम्बन किया जाता है । जो बात गोप्य नहीं है, बत्ता सबको उस बातकी सुनाना चाहता है उसको नाट्यकी परिभाषामें 'प्रकाशम्' शब्दसे कहा जाता है । और जिसकी बत्ता अन्य सबसे छिपाकर केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहता है इस प्रकारकी बातकेलिए नाटकमें 'स्वगतम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । ये 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' शब्द नाटकमें भावाभिव्यक्तिकी विशेष प्रकारकी शैलीको सूचित करते हैं । 'स्वगतम्' रूपमें कही जाने वाली बात गोप्य होती है । परन्तु उसकी गोप्यता केवल अभिनय करने वाले पात्रोंकी दृष्टिसे ही होती है । नाटकके देखने वाले सामाजिकोंकी दृष्टिसे नहीं । नाटकमें मिलने समय जिसको 'स्वगतम्' लिखा जाता है वह बात भी सामाजिकोंको सुनारी ही होती है । अन्यथा सामाजिकका रसास्वाद गड़बड़ा जायगा । इसलिए अभिनय करते समय उस स्वगत भागकी भी जोरसे बोला जाता है कि जिससे सामाजिकगण उसे स्पष्ट रूपसे सुन सकें । केवल मुख-मुद्रादिके द्वारा ऐसा अभिनय किया जाता है कि मानो वक्ता अपने मनमें ही बह रहा है ।

इसी प्रकार जो बात अनेक पात्रोंसे छिपाकर किसी एक पात्र पर प्रकट करनी होती है उसे अन्य लोगोंकी ओर से मुख मोड़कर उस एक व्यक्तिसे कहा जाता है । उसको 'अपवारित' नामसे कहा गया है । इस 'अपवारितम्' की भी सामाजिकोंकी सुनाना अवश्य अभिप्रेत होता है । इसी बातको इस कारिकामें लिखते हैं—

अथ वृत्त [की अभिव्यक्ति] के अन्य प्रकारोंको भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १०]—अन्य सबको जतलाने योग्य [वृत्त या बात] को 'प्रकाशम्' और केवल अपने हृदयमें स्थित [गोप्य बात] को 'स्वगतम्' [शैलीसे] कहा जाता है । [वृत्तोंसे छिपाकर एक ही व्यक्ति पर प्रकट करनेकेलिए अन्योकी ओरसे] मुख मोड़कर रहस्याका कथन करना 'अपवारितम्' कहा जाता है ॥१२॥

यद्गु घृतमगोप्यतया अन्येथामात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति 'प्रकाशम्' । यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृदोऽवस्थितं तत् 'स्वगतम्' । परावृत्य अङ्ग-चलनेनाभावयितेभ्यः पराङ्मुखीभूय अन्यस्मै रहस्यारया या तदपघार्यते गहनं प्रच्छाद्यत इति 'अपघारितम्' ।

आख्यायते इति आख्या । कर्मसाधनः । तेन युक्तमपघारितम् । एवमुत्तर-प्रापि ॥१२॥

[सूत्र ११]—त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।

आकाशोक्तिः स्वयं-प्रश्न-प्रत्युत्तरमात्रकम् ॥१३॥

जो बात गोप्य न होनेसे अपनेसे भिन्न अन्य लोगोंको भी बनसाने योग्य है उसको प्रकाशित किए जानेके कारण 'प्रकाशम्' कहते हैं । और जो [बात] अग्नौसे दिवाने योग्य होनेसे अपने मनमें ही रहती होती है उसको 'स्वगतम्' कहते हैं । शरीरको घुमाकर जिनको घुमाना नहीं है उनकी ओरसे घुस मोड़कर किसी दूसरेसे रहस्यका कथन करना बहुतोंसे दिवाए जानेके कारण 'अपघारितम्' इति अपघारितम् इति व्युत्पत्तिके अनुसार 'अपघारितम्' कहलाता है ।

जिसको कहा जाय वह 'आख्या' है । [यह कारिकामें आए हुए 'आख्या' शब्दको व्युत्पत्ति है । इसके अनुसार आख्या शब्द] कर्ममें [प्रत्यय करने] तिष्ठ होता है । इसलिए [कर्मभूत अर्थात् कहा जाने वाला] घृत 'अपघारित' [कहलाया] है । इसी प्रकार आगे [अल्प प्राप्ति शब्दोंकी व्युत्पत्ति] भी समझनी चाहिए ॥१२॥

पिछली कारिकामें अन्वयकारोंने 'प्रकाशम्', 'स्वगतम्' और 'अपघारितम्' इन तीनों शब्दोंके परिभाषाओंकी व्याख्या की थी । उसी प्रसंगमें जोषा 'अनांतिकम्' शब्द भी शब्दकोषमें प्रयुक्त होता है । 'अनांतिकम्' और 'अपघारितम्' शब्द एक-दूसरेसे सम्बन्ध बिगुण एक-दूसरे से विपरीत स्थितिके बोधक हैं । जब बहुतकथन अन्य सब लोगोंसे दिवाकर कोई बात किसी एक ही व्यक्तिपर प्रकट करनी होती है तब उसको 'अपघारितम्' कहते हैं । इस 'अपघारितम्' का लक्षण पिछली कारिकामें दिया जा चुका है । 'अनांतिकम्' शब्दका प्रयोग उससे विपरीत स्थितिमें होता है । जो बात किसी एक ही व्यक्तिसे दिवाकर अन्य बहुतकथन व्यक्तिगतर प्रकट करनी होती है उससे प्रकट करनेकेलिए विशेष संकीर्ण अवसरका दिया जाता है और उस विशेष संकीर्ण 'अनांतिकम्' कहा जाता है । इन दोनोंमें 'निदान' अथवा 'निदानावर' का प्रयोग दिया जाता है । 'अनांतिकम्' के समान 'निदान' शब्द भी नाथ साहजका पारिभाषिक शब्द है । वादित्तिके पाग बानी 'तामिस' उलसीकी समूचेसे दबाकर सेव तीन उद्यतिया उठाकर जो हाथकी स्थिति बनती है उसको 'निदानावर' कहते हैं । इस प्रकार हाथकी मुद्रासे बात समझकर एक विशेष व्यक्तिसे दिवाकर अन्योको सुनानेकेलिए जो बात की जाती है उसको 'अनांतिकम्' कहते हैं । इसीको आगे दिवते हैं—

[सूत्र ११]—त्रिपताक [अर्थात् जिसमें तीन उद्यतिया उठी हुई हों इस प्रकारके] हाथकी बीचमें लगाकर [एक स्थितिसे दिवाकर बहुतकथन] अग्नौके साथ जो बातिया है

जल्प्यते इति जल्पो वृत्तमेव । ऊर्ध्वसर्वांगुलिर्विकानामिकः करस्त्रिपताकः । सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्र । अन्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं, श्राव्यतया निकटं, 'जनान्तिकम्' । इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्यं तदजनान्तिकम् । तद्विपरीतमपवारितम् । प्रश्नेश्च प्रत्युत्तरं चेति समाहारः । अपात्रम्, रङ्गप्रविष्टद्वितीयपात्ररहितम् । रङ्गप्रविष्टपात्रेण स्वयमात्मनैव यः प्रश्नो यच्चोत्तरं तदाकाशे पात्राभावात् शून्ये उक्तिः, 'आकाशोक्तिः' । सच्यते इति उक्तिः । प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थः । क्वचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायाया परकीयः प्रश्नः, क्वचित् स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायाया परकीयमुत्तरं इत्युभयमपि आकाशोक्तिरिति ॥१२॥

वह 'जनान्तिक' और बिना पात्रके स्वयंही प्रश्न तथा उत्तरका कथन 'आकाशोक्ति' [कहलाता] है ॥१२॥

जो कहा जाता है वह 'जल्प' 'वृत्त' ही होता है । अनामिका उंगलीको झुकाकर और सब अंगुलियाँ उठी हों ऐसा हाथ 'त्रिपताक' [कहलाता] है । उसको अश्राव्य [अर्थात् जिस एक व्यक्तिको बात सुनाना अभीष्ट नहीं है उस एक व्यक्ति] के प्रति व्यवधान जिसमें बनाया जाय । [वह जल्प 'त्रिपताकान्तर अल्प' हुआ] । अश्राव्यके साथ [विशेष प्रकारका] धार्तालाप एकहीके प्रति गोप्य होने, और [बहुतोके प्रति अगोप्य होनेसे] बहुतसे जनोके लिए श्राव्य होनेसे 'अन्तिक' अर्थात् निकट होनेके कारण 'जनान्तिक' [कहलाता] है । [आगे 'अपवारित' और 'जनान्तिक' का विशेष भेद बखसाते हैं—] इनमेसे जो बात एकही [व्यक्ति] से छिपाना हो बहुतोंसे गोप्य न हो वह 'जनान्तिक' [कहलाता] है । उसके विपरीत [अर्थात् बहुतोंसे गोप्य और एकपर ही प्रकाशनीय अर्थ] 'अपवारितम्' [कहा जाता] है । [कारिकामें आए हुए 'प्रश्नप्रत्युत्तरम्' पदमें] प्रश्न और प्रत्युत्तर इन दोनोंका समाहार है । 'अपात्रकम्' [वदका] रङ्गमें प्रविष्ट दूसरे पात्रसे रक्षित [यह भाव है] । रङ्गमें प्रविष्ट पात्रके द्वारा जब स्वयं अपने-आपही प्रश्न और प्रत्युत्तर किया जाता है वह आकाशमे अर्थात् दूसरा पात्र न होनेसे शून्यमें कथन होनेसे 'आकाशोक्ति' [कहलाती] है । जो कहा जाय वह [अर्थ] 'उक्ति' है । अर्थात् प्रश्न और उत्तरका विषयभूत अर्थ [उक्ति पदसे अभिप्रेत है] । इसके भी दो प्रकार होते हैं [कहीं स्वयं उत्तर देनेके लिए अनुभाषणके द्वारा दूसरेका प्रश्न, और कहीं अपने प्रश्नके [उत्तर रूपमें] अनुभाषण द्वारा दूसरेका उत्तर [आकाशोक्तिके रूपमें कहा जाता है] । ये दोनों ही आकाशोक्ति [कहलाते] हैं । [अनुभाषणच्छायाका अभिप्राय यह है कि उस परकीय प्रश्न या उत्तरको स्वयं कहके सुनाता है अर्थात् वही प्रश्नाज्ञ आकाशभाषित रूप होता है, और कही उत्तर भाग आकाशभाषित रूप होता है । इस 'आकाशभाषित' शब्द का प्रयोग भी नाटको में पाया जाता है ।] ॥१३॥

बारह तथा तरह सख्याकी इन दोनों कारिकाओंमें नाटकीय भावाभिव्यक्तिमें पाँच शैलियाँ दिखलाई हैं । इनमेंसे 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं । जब 'स्वगतम्' रूपसे कहीपर कुछ बात कही जाती है तब उसके बाद फिर जहाँपर गोपनीय बात समाप्त हो जाती है और वक्ता सबको सुनाने योग्य बात कहना प्रारम्भ करता है वहीपर 'प्रकाशम्' शब्दना प्रयोग किया जाता है । हर जगह 'प्रकाशम्' शब्दना प्रयोग

नहीं होता है। क्योंकि नाटकका सारा भाग तो सर्वथाव्य अर्थात् 'प्रकाशम्' होता ही है। उसके लिए हर जगह 'प्रकाशम्' लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती है। उस 'प्रकाशम्' के बीच जहाँ कुछ भाग ऐसा आ जाता है जिसे वक्ता स्वयं अपने तक ही सीमित रखना चाहता है उसके लिए 'स्वगतम्' शैलीका प्रयोग होता है। यद्यपि 'स्वगतम्' शब्दसे अपने मनमें वही जाने वाली 'स्वगत स्वहृदि स्थितम्' बातका ही ग्रहण होता है किन्तु वह बोली इतने उच्च-स्वरसे जाती है कि नाटक देखने वाले सामाजिक उसको सुन सके। जहाँ कोई ऐसी बात कहती होती है जिसको उस समय सामाजिकको भी सुनाना अभीष्ट नहीं होता है वहाँ उस बातको 'स्वगतम्' पदसे न बहुर 'पर्यं एवमिव' लिख कर कानमें कहलाया जाता है। 'स्वगतम्' के रूपमें वही जाने वाली बात केवल अन्य पात्रोंसे गोपनीय होती है। सामाजिकोंसे नहीं। एक बार जब 'स्वगतम्' लिख दिया गया तब वह 'स्वगतम्' के रूपमें वही जाने वाली बात जहाँपर समाप्त होती है उसके बाद 'प्रकाशम्' पदका निर्देश करना आवश्यक होता है। इसलिए 'स्वगतम्' के समाप्त होनेके बाद 'प्रकाशम्' वा उत्तेज्य नाटकीय सर्वत्र किया जाता है।

गोपनीय बातको कहनेका एक प्रकारका यह 'स्वगतम्' दुप्रा। उसके अतिरिक्त दो प्रकार और भी हैं। एक 'अपवारितम्' और दूसरा 'जनान्तिक्म्'। इनमेंसे जब एक व्यक्तिने छिपा कर प्रथम व्यक्तिपर बातको प्रकट करना अभीष्ट होता है तब उस बातको 'जनान्तिक्म्' नामसे कहा जाता है। 'जनान्तिक्म्' शब्दका अर्थ ही यह बतला रहा है कि बहुतसे 'जनों' के 'प्रतिक्' अर्थात् समीप जो हों वह 'जनान्तिक्म्' कहलाने योग्य है। इसलिए 'जनान्तिक्म्' के रूपमें वही जाने वाली बात एक ही व्यक्तिसे गोपनीय और बहुतसे जनोंके लिए श्राव्य होनेके कारण उनके 'अन्तिक्' अर्थात् 'निकट' होनेसे 'जनान्तिक्' नामसे वही जाती है। इसके विपरीत जो बात बहुतोंसे छिपा कर एक ही व्यक्तिपर प्रकाशित करने योग्य हो उसको प्रकट करनेके लिए 'अपवारितम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। यह शब्द भी नाटकी बहुत प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार गोपनीय बातको प्रकट करनेके लिए (१) 'स्वगतम्' (२) 'अपवारितम्' और (३) 'जनान्तिक्म्' इन तीन नाटकीय अभिव्यक्ति शैलियोंका निर्देश किया गया है। इन सभी शैलियोंके द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले भाव सामाजिकोंके लिए श्राव्य ही होते हैं। इसलिए इनके अंतर्गत अभिव्यक्त किए जाते हैं कि सामाजिक बिना किसी चटिनाईके उनको सुन सकें। केवल अभिनयही मुद्राओंके द्वारा उनकी गोपनीयताका प्रदर्शन किया जाता है। आगे कही जाने वाली अथवा पूर्व कही जो बात सामाजिकोंको भी नहीं सुनानी हानी है उनके लिए इनसे भिन्न (४) 'पर्यं एवमिव' कानमें कहलानेकी चौथी शैली और भी पाई जाती है उसका निर्देश यहाँ नहीं किया गया है। आगे १६वीं बारिका में उसका उल्लेख करते-यह 'एवमिव' वाली शैली नाटकीय बहुत कम मात्रामें विरल रूपसे ही प्रयुक्त होती है। एक नाटकमें एक बारसे अधिक इसका प्रयोग प्रायः नहीं पाया जाता है। (५) प्रकाशम् वाली पाँचवीं शैली मुख्य अभिव्यक्ता शैली है। जो सारे नाटकों में आद्यतः स्थापन रहती है ॥११॥



अथ वृत्तस्य कर्तव्यगुणानाह—

[ सूत्र ११ ]—स्वल्पपद्यं लघुगद्यं श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्

सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितम् ॥१४॥

सुष्ठु प्रसन्नार्थं प्रसिद्धशब्दं अल्पं परिमितं पद्यं यत्र । गद्येन ह्यर्थः कथ्यमानः सुखा-  
वयोधो भवति । लघु ह्यर्थं परिमितं च गद्यं यत्र । कर्कशं बहुसमासं च गद्यं दुर्बो-  
धत्वात् रोदमुपनयति । श्लिष्टानि पारम्पर्येण प्रधानफलसम्बद्धानि अवान्तराणि  
प्रस्तुतान्तरालवर्तीनि वस्तूनि यत्र । नाट्ये हि तदेवावान्तरं वृत्तमायोऽर्थं यत् पार-  
म्पर्येण प्रधानफलसाधकम् । यथा रत्नावल्यां प्लवगसम्पातः सागरिकानुरागवीजस्य  
फलस्य सम्प्राप्तिहेतुः । यथा चात्मदुषत्रे नलविलासे कापालिक-विद्रूपकनिपुणं  
राज्ञोरुरागमूलस्य दमयन्तीप्रतिकृतिदर्शनस्य हेतुः । सिन्धुर्नदी समुद्रो वा । सूर्येन्दुभ्यां  
समुद्रयास्ती गृह्येते । कालो वसन्तादि प्रभावादिश्च । आदिशब्दान् गिरि-मधुपान-  
जलक्रीडादि । सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितं न वर्णनीयम् । सफलमध्येकेन  
द्वाभ्यां वा वृत्ताभ्याम् । अधिक्यन्तु रसमन्तरयतीति ॥१४॥

नाटक-रचनाविषयक विशेष बातें—

प्रगती दो कारिकाओंमें ध्वनिकारोने नाटककी रचनामें ध्यान रखने योग्य कुछ विशेष  
बातोंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

अथ वृत्तके [ अर्थात् नाटककी रचनाके अवश्य ] करने योग्य गुणोंको कहते  
हैं—

[ सूत्र ११ ]—सुन्दर और थोड़े पद्यों तथा सरल गद्यसे एवं परस्पर सम्बद्ध अवान्तर  
[ यथा आदि ] वस्तुओंसे युक्त, समुद्र, नदी, सूर्य-चन्द्र [ के उदयास्त ] और [ वसन्त या प्रभात  
आदि ] कालके अधिक वर्णनसे रहित [ अर्थात् स्वल्प यत्नं युक्त नाटककी रचना करनी  
चाहिए यह बात नाट्य-रचनामें अवश्य-कर्तव्य अर्थात् विशेष ध्यान देने योग्य है । १४।

सुन्दर अर्थात् सरल अर्थ और प्रसिद्ध शब्दों वाला, थोड़ा अर्थात् परिमित पद्य जिसमें  
हो [ यह स्वल्पपद्य का अर्थ हुआ ] । क्योंकि गद्यके द्वारा कहा गया अर्थ जल्दी समझमें आ  
जाता है । 'लघु' अर्थात् अनोहर और परिमित गद्य जिसमें हो [ यह 'लघुगद्य' का अर्थ है ] ।  
कर्कश और अधिक समासों वाला गद्य कष्टदायक होता है श्लिष्ट अर्थात् परम्परासे प्रधान फल  
से ही सम्बन्ध रखने वाली अवान्तर अर्थात् प्रस्तुतके बीचमें प्रयुक्त वस्तुएँ जिसमें हों [ यह  
'श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्' का अर्थ है ] । नाटकमें उसी अवान्तर कथावस्तु की योजना करनी  
चाहिए जो परम्पराया प्रधान फलकी साधक हो । जैसे रत्नावली [ नाटिका ] में बगदरका  
आना, सागरिकाके [ उदयनके प्रति ] अनुरागके सूचक चित्रपटकी प्राप्ति का हेतु है । अथवा  
जैसे हमारे बनाए हुए नलविलासे कापालिक और विद्रूपकका भगडा राजा [ नल ] कि  
[ दमयन्तीके प्रति ] अनुरागके सूचक दमयन्तीके चित्रके दर्शन का हेतु है । सिन्धुका अर्थ नदी  
अथवा समुद्र है । सूर्य और इन्दु कहते उनके उदय-अस्तका ग्रहण होता है । आदि शब्दसे  
पर्वत, मधुपान, जलक्रीडा आदि [ का ग्रहण होता है ] । केवल काव्यरचनाकी जुगली भिटाने  
के लिए समुद्र आदिका स्पष्ट वर्णन नहीं करना चाहिए । सार्यक होनेपर भी एक-दो श्लोकों

[सूत्र १२]—एकाङ्गिरसमन्याद्भ्रमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।

अलङ्घितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम् ॥१५॥

एको नायकौचित्येनान्यतमो अङ्गी प्रधानरसो यत्र । अन्ये अङ्गिरसादपरे रसा अङ्गं गौणा यत्र । नाटकं हि सर्वरसं, केवलमेको अङ्गी, तदपरे गौणाः । अद्भुत एव रसो अन्ते निर्वहणे यत्र । यतः शृङ्गार-वीर-रीत्रैः स्त्रीरत्न-पृथ्वीलाभ-शत्रुक्षयसम्पत्ति । कण-भयानक-वीभत्सैः तन्निवृत्तिः । इति इयता क्रमेण लोकोत्तरासम्भाव्यफल-प्राप्तौ भवितव्यमन्ते अद्भुतेनैव । अपि च नाटकस्यासाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियायाः फलमात्रं किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनकलेशेन । 'रसोर्मिभि' रसाधिक्येन 'अलङ्घित' अविच्छिन्नम् । न नाम रसपर-तया कथाशरीरमन्तरयेत् ।

से ही करना चाहिए । क्योंकि लम्बा वर्णन रसको तिरोभूत कर देता है ।

इस कारिका में 'स्वल्पपद्य' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । वैसे 'स्वरूप' शब्द एक साधारण शब्द है । उसका अर्थ 'थोड़ा' होता है । इसलिये 'स्वल्पपद्य' का अर्थ 'थोड़े पद्यों वाला' यह होना चाहिए । किन्तु अर्थकारने यहाँ उसकी जो व्याख्या की है उसमें उन्होंने 'स्वरूप' पदको सु + रूप दो भागोंमें विभक्त कर 'सु' का अर्थ 'सुष्ठु प्रमत्तार्थं प्रतिशब्द', तथा 'रूप' का अर्थ परिमित किया है । इसलिये यह शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है ।

यहाँ तक चौदहवीं कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो गई । किन्तु यह विषय अभी पूर्ण नहीं हुआ है । प्रगल्भी कारिका में इसी विषयका वर्णन किया गया है ।

[सूत्र १२]—जिसमें एक रस प्रधान और अन्य रस अप्रधान हों अन्तमें अद्भुत रस [का निवेश] हो किन्तु रसाधिक्यसे [कथाभाग] विच्छिन्न न होने पावे, साथ ही अलङ्कार या कथा आदि [के आधिक्य] से रसका विच्छेद भी न होने पावे [इस इन सब बातोंका ध्यान रखते हुए ही नाटककी रचना करनी चाहिए] । १५ ।

नायकके आधिक्यके अनुसार कोई एक रस जिसमें प्रधान हो [यह 'एकाङ्गिरस' का अर्थ है] । 'अन्य' अर्थात् प्रधान रससे भिन्न रस जिसमें अङ्ग अथवा गौण हो । नाटकमें [दोनों] सारे रस होते हैं किन्तु एक रस प्रधान और उससे भिन्न सब गौण होते हैं । अन्तमें अर्थात् निर्वहण-सन्धिमें अद्भुत-रस ही होना चाहिए । क्योंकि शृङ्गार, वीर, रीत्र रसोंके द्वारा स्त्रीरत्न अथवा राज्यादिका लाभ और शत्रुके विनाश आदिकी सिद्धि होती है । और कण, भयानक तथा वीभत्सके द्वारा [प्रतिनायक] उन [स्त्रीरत्न राज्य आदि प्राप्ति] की निवृत्ति होती है । इस लिये इस प्रकारसे [सभी रसोंका नाटकमें उपयोग होना है और] लोकोत्तर असाधारण फल प्राप्ति [के दिसाने] में अन्तमें अद्भुत रस होना चाहिए । [इसकी निश्चि-ते लिये दूसरा हेतु यह भी है कि] यदि असाधारण वस्तुकी प्राप्तिकी नाटकका पत्र न माना जाय तो प्रत्येक विद्याका बहु-न-बहु फल तो अवश्य होना ही है फिर उसके लिये उपायोंका व्यवस्थान करनेमें क्या लाभ ? रसकी सहस्रोंसे अर्थात् रसके आधिक्यमें [जिनकी कथावस्तु] संपन्न अर्थात् विच्छिन्न न हो । रस प्रधान होकर सभी कथाके स्वल्पको विच्छिन्न न करे ।

१. न विच्छिन् ।

अलङ्काराः श्लेषोपमादयः । कथा वृत्तम् । अङ्गान्युपक्षेपादीनि, अङ्गभूताः रमारच, तैरगलन् अत्रुटन् रसो यत्र । त एव श्लेषोपमादयो विधेया ये रसनिष्पत्ति-  
प्रयत्नेनैव निष्पद्यन्ते । वृत्तान्ते अङ्गानि उपक्षेपादीनि च तथा निबन्धनीयानि यथा  
रसमन्तरयन्ति । अङ्गभूता रसारच तथा नियोज्या यथा न नाङ्गिनं रसं तिरोदधत  
इति ॥१५॥

अथ वृत्तबन्धशिक्षामाह—

[सूत्र १३]—उक्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद् भूयः कार्याद् यदुच्यते ।

तत् कर्णे श्रावयेद् येन न याति पुनरुक्तताम् ॥१६॥

‘उक्तं’ पूर्वं, वक्ष्यमाणं पुरः प्रकाश्यमानम् । प्रयोजनवशाद् भूयोऽपि यद्  
वृत्तमुच्यते तत् पुनरुक्तताभयात् पात्रस्य कर्णे कविः श्रावयेत् । तथा च दृश्यते ‘कर्णे  
एवमेव’ ॥१६॥

[सूत्र १४]—गोपुच्छकेशकल्पानि नाट्यवस्तूनि कल्पयेत् ।

उदात्ता रङ्गका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥१७॥

गोपुच्छम्य च केशाः केचिन् श्लोकमात्रयाचिनः, केचिन्मध्यावधयः, केचि-  
दन्तव्यापिनः । एवं प्रत्यन्वयवस्तूयपि । यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव  
निष्ठितः । मुखोपक्षिप्तो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे । रत्नावली प्राप्या-

अलङ्कार श्लेष उपमादि है । कथा अर्थात् वृत्तान्त । अङ्गसे उपक्षेप आदि अङ्गो तथा  
अप्रधान रसोका ग्रहण होता है । उनसे [अर्थात् श्लेषादि अलङ्कार, अवातर कथा और  
उपक्षेपादि अङ्गों अथवा अप्रधान रसों] के द्वारा जिससे [प्रधान] रसका विच्छेद न हो । उन्हीं  
श्लेष उपमादि का प्रयोग करना चाहिए जो रस-सिद्धि के लिए किए जानेवाले प्रयत्नसे ही सिद्ध  
हो सकते हैं । और कथाभागमें उपक्षेप आदि अङ्गों की रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि  
जिससे वे रसको तिरोभूत न कर सकें । तथा अङ्गभूत अप्रधान रसोंको इस ढंगसे रखना  
चाहिए कि वे प्रधान रसको तिरोभूत न कर सकें ॥१५॥

अब कथाभागकी रचनाकी शिक्षाको कहते हैं—

[सूत्र १३]—पहले कहे हुए या आगे कहे जानेवाले [कथाभाग] को यदि कार्यवश फिर  
दुबारा कहा जाय तो उसको [कवि ‘कर्णे एवमेव’ लिखकर] कानमें कहलावे जिससे वह पुन-  
रुक्त न हो ॥१६॥

‘उक्तं’ अर्थात् पहिले कहा हुआ और ‘वक्ष्यमाणं’ अर्थात् आगे कहे जाने वाला जो  
अर्थ प्रयोजनवश दुबारा कहा जाता है उसको पुनरुक्तिसे बचानेकेलिए कवि पात्रके कानमें  
कहलावे । जैसे कि [नाटकोंमें] ‘कर्णे एवमेव’ [लिखा] देखा जाता है ॥१६॥

[सूत्र १४]—नाट्यकी वस्तुओंकी रचना गोपुच्छके देशोंके समान करे । और जो  
उदात्त तथा मनोरञ्जक भाव हों उनको आगे-आगे [मुखरूपसे] प्रस्तुत करे ॥१७॥

गोपुच्छके बालोंमें कुछ थोड़ी दूर तक हो जाते हैं । कुछ बीच तक पहुँचते हैं । और  
कुछ अन्त तक फैले रहते हैं । इस प्रकार नाट्यकी वस्तुएँ भी [रखनी चाहिए] । जैसे  
रत्नावली [नाटिका] में प्रमोदोत्सव मुखसन्धिमें ही समाप्त हो गया है । मुखसन्धिमें सूचित

दयश्च साररूपाः पदार्थाः अन्ते इति । उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः । अनुदात्ता अपि ये रञ्जना भावाग्ने सकलस्यापि प्रबन्धस्य रमारोहार्थं पुरः पुरो निवेशनीया इति ॥१७॥

अथानिषन्धनीयमाह—

[सूत्र १५]—अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।

वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥ १८ ॥

अयुक्तमनुचितं, विरुद्धं विपरीतम् । परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य हानुचितं परस्त्रीसम्भोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि । शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिङ्गन-चुम्बनादि अनुचितं, बोभत्सस्तु विरुद्धः । अन्यथेति अर्थात् अनादिगोचरेण वा । यथा नलविलासे धीरललितस्य नायकस्य दोषं विना मधर्मचारिणीपरित्यागोऽनुचित इति कापालिकप्रयोगेण निरुद्धः । एवमन्यदप्युक्तमिति ॥ १८ ॥

यथास्य आदिका दृष्टान्त निर्वहण-संग्रहे आरम्भमे [समाप्त हो गया है] और रत्नावलीकी प्राप्ति आदि सारभूत पदार्थ अन्तमे [समाप्त हुए हैं] । उदात्त [भाव] अर्थात् उत्तम प्रकृतिके योग्य [भाव] मुख्यरूपमे प्रस्तुत करने चाहिए] और अनुदात्त होनेपर भी जो रञ्जक भाव हैं वे भी सारे नाटकके रसके अधिरोहण [बोधण] के लिए आगे आगे [प्रधान रूपसे] रखने चाहिए ॥१७॥

इस कारिकाके ग्रन्थकारने 'क्यों गुनमेव' को पुनरुक्ति के बचानेके लिए प्रयुक्त किए जानेवाले भावाभिप्रेक्षिकके माघनके रूपमे प्रस्तुत किया है । किन्तु कहीं कहीं उस समयकी सामा-जिकसे गोप्य बातको अभिप्रेक्षन करनेके लिए भी इस मार्गका प्रयत्नस्वन किया जाता है ।

नाटकमें परित्याज्य—

पिछनी कारिकाओंमें नाटककी रचनामें ग्रहण करने योग्य विशेष बातोंकी ओर ध्यान दिलाया गया था । अब इस कारिकाके नाटकमें परित्याग करने योग्य बातोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार दिखते हैं—

अथ [नाटकमें] न रखने योग्य [बातोंको] कहते हैं—

[सूत्र १५] जो [बात] नायकके अथवा [अकृत] रसके लिए अनुचित या विपरीत हो उसको परित्याग कर देना चाहिए [नाटकमें प्रदर्शित नहीं करना चाहिए] अथवा अन्य प्रकारसे उसकी कल्पना कर लेना चाहिए [अर्थात् उसको बदल देना चाहिए] । १८ ।

अयुक्त अर्थात् अनुचित और विरुद्ध अर्थात् विपरीत [धर्मको] परित्याज्य अर्थात् उपेक्षा करने योग्य [समझना चाहिए] । जैसे धीरललित [नायक] के लिए परस्त्रीके साथ सम्भोग करना अनुचित है [इसलिए परित्याज्य है] । और धीरोद्धतत्वादि विरुद्ध है । [इस-लिए धीरललित नायकके वर्णनमें उसमें धीरोद्धतत्वके गुण स्वभाव आदिका चित्रण नहीं करना चाहिए । आगे रसके लिए अनुचित तथा विरुद्धका उदाहरण देते हैं] प्रत्यक्ष दिखलाया हुआ मालिङ्गन-चुम्बन आदि शृङ्गारके लिए अनुचित तथा बोभत्स [रसका प्रदर्शन शृङ्गाररसके] विरुद्ध है । अन्य प्रकारसे [कल्पना कर लेना चाहिए इसका अर्थ यह है कि] श्रीचित्त्यके अनु-सार अथवा जिससे यह विरोधी न रहे इस प्रकारसे [कल्पना करले] । जैसे नलविलासेमें धीरललित नायकके लिए बिना दोषके सहर्षमिणीका परित्याग अनुचित है इसलिए कापा-लिकके प्रयोगके कारण [नलने दमयन्तीका परित्याग किया है] । इस रूपमें [अथवा कल्पना करके] वर्णित किया गया है । इसी प्रकार अन्य [रसतोष भी] समझ लेना चाहिए ।

‘धर्म-कामार्थसत्फलम्’ इति सुगमत्वादुपेक्ष्य ‘साङ्कोपायदशासन्धि’ इत्यस्मा-  
दङ्कपदं लक्षयति—

[सूत्र १६]—अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः ।

अङ्कः सविन्दु-दर्शयार्थः चतुर्यामो मुहूर्ततः ॥ १६ ॥

अवस्था वक्ष्यमाणाः प्रारम्भादिकाः पञ्च । तत्रान्यतमस्या अवस्थाया उप-  
क्रम-निष्पत्तिभ्यां या समाप्तिः । असमाप्तायामप्यवस्थायां कार्यवशेन यो वा छेदः  
खण्डनं सोऽङ्कः । कार्य दूराध्वगमनादि एकाहाघटमानं भूयस्त्वादेकाहाशक्याभिनयं

शकुन्तला नाटकमे दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाकी विस्मृति और प्रत्यास्थान भी इसी प्रकारकी घटनाएँ हैं जिनकी अग्यथा वरूपना द्वारा कविने अपने नायकके चरितको चमका दिया है । महाभारतमें जहाँसे कि शकुन्तलाका प्रस्थान लिया गया है—दुष्यन्त एक प्रत्यन्त सम्पट प्रकृतिका राजा है । जो मधुकरके समान नए-नए पुष्पोका रसास्वादन करनेका ध्यसनी है । इसी प्रसङ्गमें उसने वण्वमुनिके माथममें उनकी अनुपस्थितिमें पहुँचकर शकुन्तलाके साथ सब कुछ किया और उसको अपने महलमें बुसानेका वचन देकरभी भूल गया । पर कालिदास ने इसकी दुष्यन्तका स्वाभाविक व्यापार न मानकर दुर्वासाके शापकी उसका कारण माना है । कालिदासने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा इसके कारण रूपमें दुर्वासाके शापकी वरूपना करके दुष्यन्तको न केवल सम्पटताके इस दोषसे ही रक्षा लिया है बल्कि शकुन्तलाका प्रत्यास्थान करवाकर उसे उच्चकोटिके आदर्शचरित्रके रूपमें चित्रितकर उसको धीरोदात्त नायकका रूप प्रदान कर दिया है ॥ १८ ॥

अङ्कलक्षण—

पाँचवी कारिकामें ‘ख्याताधराजचरित’ आदिसे नाटकका लक्षण किया गया था । उसीकी विशेष व्याख्या आगे चल रही है । इसमेंसे केवल ‘ख्याताधराजचरित’ इस प्रथम पदकी ही विस्तृत विवेचना १८ वी कारिका तक की गई है । उस नाटक-संज्ञामें दूसरा पद ‘धर्मकामार्थसत्फलम्’ यह है । परन्तु यह पद बहुत सरल है इसलिए इसकी अलगसे विशेष व्याख्या न करके, अगले ‘साङ्कोपायदशासन्धि’ इत्यादिकी विशेष व्याख्या आगे प्रारम्भ करते हैं । इसमें सबसे पहला ‘अङ्क’ पद है इसलिए इस कारिकामें ‘अङ्क’ का लक्षण करते हैं ।

‘धर्मकामार्थसत्फलम्’ यह सरल [पद] है इसलिए उसको छोड़कर अगले साङ्कोपाय-  
दशासन्धि’ इति [अगले विशेषण] में [प्रथम] ‘अङ्क’ पदका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६]—[कार्यकी प्रारम्भ आदि रूप] अवस्थाकी समाप्ति अथवा कार्यवश [असमाप्त अवस्थाका भी] विच्छेद [जो अगले अङ्ककी कथाके बीज अथवा] विन्दुसे युक्त और [दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनटके] ‘मुहूर्त’ से लेकर चार प्रहर [बारह घण्टे] तकके दर्शनीय अर्थसे युक्त हो वह ‘अङ्क’ कहलाता है [यह अङ्कका लक्षण हुआ] । १६ ।

अवस्था [पदसे] आगे कहे जाने वाली प्रारम्भ [यत्न प्राप्त्याशा] आदि रूप पाँच हैं । उनमेंसे किसीभी एक अवस्थाका प्रारम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति [अङ्ककी निष्पत्ति] होती है । उसको अङ्कमें दिखलाना चाहिए [अथवा प्रसमाप्त अवस्थाका भी कार्यवशसे जो बीचमें विच्छेद अर्थात् समाप्ति कर दो जाय वह भी] अङ्क [का नियामक] है । ‘कार्य’ पदसे यहाँ

वा। तद्वशादवस्थाया अन्तराले यश्छेदः क्रियते सोऽप्यङ्क इत्यर्थः । एतावदङ्क-लक्षणम् ।

सविन्दुरिति सह विन्दुना वर्तते । विन्दिन्नविस्तृतार्थाय उत्तराङ्गस्यानु-  
सन्धानात्मा वृत्तसंक्षेप उत्तरत्र विस्तार्यमाणत्वादुदके तेलविन्दुरिव 'विन्दु' । पूर्वो-  
त्तरयोरङ्कयोरसम्बन्धार्थत्वं मा भूदिति पूर्वाङ्गस्यान्ते विन्दुनिबन्धनीयः ।

एक दिनमें न हो सकने वाले दूर-देहागमन आदि अथवा बहुत सम्बा होनेके कारण एक दिनमें जिसका अभिनय किया जाता सम्भव न हो [उसका ग्रहण होता है] । उसके कारण जो अथस्याका ओचमें हो विच्छेद कर दिया जाता है यह भी 'अङ्क' [का नियामक] है वह अभि-  
माय है । इतनाही अङ्कवा लक्षण है ।

[कारिकाके] 'सविन्दु' [अर्थात्] विन्दुसे युक्त । [पूर्व अङ्कमें] विन्दिन्न विस्तृत अर्थ-  
का अगले अङ्कमें सम्बन्ध दिखलानेवाला कथाका सूत्र भाग, आगे विस्तार पानेके कारण तैलविन्दुके समान 'विन्दु' [कहाता] है । आगे-पीछे वाले अङ्क परस्पर असम्बन्ध न हो जायें  
इसलिए पूर्व अङ्कके अन्तमें 'विन्दु' की रचना करना चाहिए ।

अगला श्लोक 'तप्तसद्यस्तराजचरित' के तृतीय अङ्कमें अन्तमें दिया गया है । श्लोकमें मुख्य रूपसे वृक्ष और छायाका वर्णन किया है । परन्तु उसमें नायक नायिकाके व्यवहारका समारोह कर एक प्रकारका विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है । प्रातःकालके समय सूर्यमण्डल विलुप्त दितिजवा स्थिति सा करता हुआ होता है । इसलिए उस समय वृक्षोकी छायाका परिमाण बहुत लम्बा होता है । अर्थात् छाया बहुत दूर तक फैली होती है । उसके बाद उद्यो उद्यो सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है तो वृक्षकी छाया छोटी होती जाती है । अन्तको दोपहरके समय वह विलुप्त वृक्षके नीचे इकट्ठी हो जाती है । और वृक्ष उस सारीकी-सारी छायाको अपने शरीरके भीतर समाविष्ट कर लेता है ।

वृक्षछायाकी इन स्थितियोंको कविने मानिनी नायिकाके व्यवहारके सहस्र दिखलाया है । मानिनी नायिका जैसे आरम्भमें अत्यधिक मान करके पतिसे रुठकर दूर चली जाती है इसी प्रकार वृक्षकी छायामें आरम्भमें अर्थात् प्रातःकालके समय दीर्घ परिमाणकी ग्रहण कर दूर तक फैल जाती है । फिर जैसे मानिनी पश्चात्तापसे पीड़ित होकर सायबकी प्राप्त होती है अर्थात् मानकी छोड़कर पतिके पास आती है इसी प्रकार ऊपर उठने हुए सूर्यका सन्ताप वृक्षकी छायाको सत्य त छोटा बना देता है । और अन्तमें जब नायिका सर्वात्मना नायककी चक्षुष्यतिनी होकर उसकी गोदमें आ जाती है तब नायक उसकी जैसे आतिथ्य प्राप्त पाशमें बांध लेता है इसी प्रकार मध्याह्ने वृक्ष श्रियाके समान अपने ही भीतर सम्पिण्डित छायाको सर्वा-  
त्मना अपना लेता है । यह दस श्लोकका भाव है । इस प्रकार दस श्लोकमें कविने वृक्ष और छायाके व्यवहारपर नायक नायिकाके व्यवहारका आरोप कर जिस व्यवहारको सूचित किया है उसी प्रकारका व्यवहार नाटकमें अनुर्थ अङ्कमें नायक-नायिकाना पाया जाता है । इसलिए अगले अङ्कके विषयका संक्षेपमें प्रतिपादक होनेसे हमको 'विन्दु' के उदाहरण रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया गया है । 'विन्दु' शब्दका प्रयोग यहाँ 'तैल विन्दु' के सादृश्यसे किया जा रहा है । तैलका छोटासा विन्दु जैसे पानीम पड़ेपर बड़ आकार में फैलता जाता है इसी प्रकार 'विन्दु' रूपमें वर्णित अर्थ अगले अङ्कमें विस्तृत रूपसे फैल जाता है इसीलिए उसको 'विन्दु' कहते हैं । इसीका उदाहरण आगे देन ह—

यथा तापसवत्सराजे—

आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपितां  
पश्चान् तापक्षरेण तानवकृता नीतां परं लाघवम् ।  
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमान् सम्पिण्डिताद्गोमिमां  
सर्वाङ्गप्रणयं प्रियामिव तरुश्रवायां समालम्ब्यते ॥”

इति तृतीयाहुममाधौ उत्तराद्वृत्त्यानुसन्धायको विन्दुः ।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयम्बराद्धे नेपथ्ये घन्दी—

विन्दस्याभिनवोदये त्रियमयं राक्षि प्रतापोज्जितो  
सूतस्य व्यमनीव धूसरकरः सन्नुद्यदाशस्थितिः ।  
निद्रायहललोचनां कमलिनीं सन्त्यज्य मध्येवनं  
क्रामत्यम्बरराण्डमात्रविभवो देशान्तरं गोपतिः । इति॥

जैसे तापस वत्सराज चरितमें—

प्रारम्भमें [छाया-पक्षमें प्रातःकाल और नायिका-पक्षमें मानके प्रादिने] प्रबल मान [परिमाण और नजरो] को ग्रहण करने दूर तक फैली हुई [छाया पक्षमें दूर तक फैली हुई और नायिका पक्षमें नायकसे दूर भागी हुई], बादकी तनुताको प्राप्त कराने वाले सन्ताप [नायिका पक्षमें पश्चात्ताप और छायापक्षमें सूर्यके घटाव] के आधिपत्यसे अत्यन्त सघुताको प्राप्त हुई, इसलिए [अनुगमात् अर्थात्] लोटकर अङ्गोंको समेटकर गोबसें समाई प्रियाके समान छायाको वृक्ष सब अङ्गोंसे प्रेम पूर्वक ग्रहण कर रहा है ॥

यहाँ तृतीय अङ्ककी समाप्तिमें अगले अङ्कका सम्बन्ध जोड़ने वाला 'विन्दु' रखा गया है ।

अथवा जैसे नलविलासके स्वयम्बराङ्क नामक चतुर्थ अङ्क [के अन्तमें] में नेपथ्यमें घन्दी [सन्ध्याकालमें सूर्यास्तका वर्णन करता हुआ निम्न श्लोक यह रहा है । इस श्लोकमें श्लेषसे नलकी अवस्थाका भी वर्णन किया गया है] ।

[यहाँ 'गोपति' शब्द शिष्ट है । उसने दो अर्थ होते हैं एक राजा और दूसरा सूर्य । गो पृथिवीका नाम है । उसका पति अर्थात् राजा नल । और 'सूर्य' पक्षमें 'गर्वा किरणानां पतिः गोपति सूर्यदेव' इसी प्रकार प्रथम पादमें आया हुआ 'राक्षि' राजा पद भी शिष्ट है । उसका एक अर्थ नलका विरोधी राजा, और दूसरा अर्थ चन्द्रमा है । अभी जिसका उदय हुआ है इस प्रकारके राजा [अर्थात् नल पक्षमें अपने विरोधी राजाको] यह अर्थ होता है । और सूर्य पक्षमें चन्द्रमाको] अपनी लक्ष्मी [नल पक्षमें धन-सम्पत्ति और सूर्य पक्षमें तेज] देकर स्वयं प्रतापरहित, जुआ खेलनेके व्यसनी [जुआरी] के समान मलिन किरणों [जुआरी पक्षमें करका अर्थ हाथ होगा] वाला बनकर, और [सन्नुद्यदाशस्थिति सूर्यके पक्षमें उठके अस्तोन्मुख हो जानेसे आशा अर्थात्] दिशाओंकी मर्यादाको विलोप करता हुआ [जुआरी पक्षमें जिसकी आशाकी स्थिति बिल्कुल समाप्त हो गई है अर्थात् अपनी जीतसे बिल्कुल निराश हो चुका है इस प्रकारका 'गोपति' अर्थात् राजा नल और] सूर्य [दोनों ही 'निद्रापहललोचनां' सूर्य पक्षमें] जिसकी पखुरी-रूप आँखें मिची जा रही हैं इस प्रकारकी कमलिनीको [और नल पक्षमें सोती हुई बमयन्तीको । सूर्य पक्षमें मध्येवनं] जलके बीचमें [और नल पक्षमें जंगलमें]

इदं च पदमुपयोगापेक्षम् । तेन सर्वरूपकपर्यताङ्गेषु, एकाङ्गेषु च रूपमेषु, सम-  
वकाराद्यङ्गेषु च उपयोगाभावाद् विन्दोरनिवृत्त्यः ।

छोडकर केवल आकाशका एकदेश [अर्थात् पश्चिम भाग] ही जिसका विभव रह गया है [नल पक्षमे 'अम्बर-लण्डमाश्रयिभवं', जिसके पास केवल एक वस्त्र मात्र ही सम्पत्ति शेष है] इस प्रकारका 'गोपति.' [अर्थात् सूर्य और दूसरे पक्षमे राजा नल] देशान्तरको [अर्थात् सूर्य पक्षमे पाताल लोकको और नल पक्षमे अन्ध स्थानको] जा रहा है ।

यह श्लोकका साधारण अर्थ है । इसमें वैतालिक सन्ध्याकालीन सूर्यास्तके दृश्यका वर्णन कर रहा है । पर उनमे अगले अङ्कमे दिखलाई जाने वाली सम्पूर्ण घटनाका बीज-रूप से बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । यह चतुर्थ अङ्क स्वयम्भराङ्क है । इसमें नलका दमयन्ती-के साथ विवाहका दृश्य दिखलाया गया है । अगले अङ्कमे नलकी द्यूतक्रीडा आदिका वर्णन है । नल द्यूतक्रीडामे राज-पाट सब कुछ हारकर वनमे चले जाते हैं । दमयन्ती भी उनके साथ जाती है । राजा नल वहाँ भूखसे व्याकुल होकर अपनी स्थितिसे विस्कुल निराश हो जाते हैं और अन्तमे वनमे जब दमयन्ती सो जाती है तो उसको अकेला छोडकर वही और भाग जाते हैं । इस सब घटनाक्रमको अगले अङ्कमे दिखलाया गया है । किन्तु यही कवि ने वैतालिकके द्वारा किए जाने वाले चतुर्थ अङ्कके इस अन्तिम श्लोकमे उस सारे घटनाक्रमको श्लेष द्वारा बड़े सुन्दर रूपमे व्यक्त कर दिया है ।

नल जुएमे हारकर नवीन सम्पत्ति प्राप्त करने वाटे बिजयी राजाको अपनी सम्पत्ति अर्पण कर और स्वयं प्रताप-रहित होकर द्यूतव्यसनीके समान अतिन हाथ और सम्पूर्ण आनाप्रोँका परित्राग कर अत्यन्त निराश होकर केवल एक कपड़ेका टुकड़ा ही जिनका वैभव शेष रह गया है इस प्रकारके गोपति अर्थात् पृथिवीपाल बनकर 'निद्रायद्मलोचना' कमलिनी-के समान दमयन्तीको वनमे अकेला सोता हुआ छोडकर किसी अन्य देशको चले जाते हैं यह अर्थ भी श्लेष द्वारा इस श्लोकसे सूचित किया गया है । इस प्रकार संक्षेपमे अगले अङ्ककी कथाका सूचक होनेसे यह अङ्कके अन्तमे पड़ा हुआ यह श्लोक 'बिन्दु' का सुन्दर उदाहरण बन पड़ा है ।

इस प्रकार 'सबिन्दु' पदसे, पूर्व अङ्कके अन्तमे अगले अङ्कमे आने वाली कथाका सम्बन्ध सूचित करनेकेलिए 'बिन्दु' की रचना आवश्यक बनलाई गई है । जिस प्रकार पानीमे पड़ा हुआ तैलका बिन्दु फैलकर विस्तीर्ण हो जाता है इसी प्रकार अङ्कान्तमे 'बिन्दु' रूपसे जिस कथा-भागका संकेत किया जाता है वह कथा भाग अगले अङ्कमे विस्तृत होकर फैल जाता है । इसीलिए अङ्कान्तमे किए जाने वाले इस संक्षिप्त संवेतकेलिए यहाँ 'बिन्दु' शब्दका प्रयोग किया गया है । यह बिन्दु प्रत्येक अङ्कके अन्तमे अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है अपितु उपयोगकी अपेक्षासे ही उसकी रचना की जाती है । जहाँ उसका उपयोग नहीं हो सकता है वहाँ उसकी रचना आवश्यक नहीं है । जैसे नाटक आदिमे अन्तिम अङ्कमे बिन्दुका कोई उपयोग नहीं हो सकता है क्योंकि उसके आगे तो फिर कोई नया अङ्क आना ही नहीं है जिसमे उसका विस्तार हो सके । इसलिए अन्तिम अङ्कमे 'बिन्दु' का संनिवेश नहीं किया जाता है । इसी प्रकार एकाङ्की नाटकमे भी दूसरा कोई अङ्क न होनेसे 'बिन्दु' का कोई उपयोग नहीं होता है । इस बातको आगे लिखते हैं—



‘दृश्यार्थः’ इति दृश्या, रञ्जकत्वाद् दर्शनीया, अर्था नायकपरितोषभोगा यत्र । चरितासाक्षात्कारे हि प्रेक्षकाणामव्युत्पत्तिः । सम्भोगासाक्षात्कारे च किमनेन महाक्लेशेनेति चैरस्य स्यात् । शापावसानविवाहादयोऽपि रञ्जकत्वात् साक्षात्कार्याः । यथा उर्वश्याः शापोद्भवस्य लताभावस्य नाशः । दृश्याविनाभाविनी सूच्यो-ऊही अप्यर्थो क्वचिद् भवतः । एतदङ्गस्य स्वरूपम् ।

यह [बिन्दु] पद उपयोगकी दृष्टिसे ही रखा गया है । इसलिए सारे रूपकोंके अन्तिम अङ्गमें, एकाङ्की रूपकोंमें और समवकार आदिके अङ्गोंमें उपयोग न होनेसे ‘बिन्दु’ की रचना नहीं की जाती है ।

अङ्गके लक्षणमें ‘सबिन्दु’ के बाद अगला ‘दृश्यार्थः’ पद है । इसलिए अगले अनुच्छेदमें उसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

‘दृश्यार्थः’ इससे [यह अभिप्राय है कि] दृश्य अर्थात् मनोरञ्जक होनेसे देखने योग्य अर्थात् नायकके चरित और उपभोग जिसमें हों [वह ‘दृश्यार्थः’ हुआ । इसमें चरित और उपभोग दोनोंका साक्षात्कार आवश्यक है । क्योंकि] चरितका साक्षात्कार न होनेपर देखने-वालोंको [रामादिभूत प्रवर्तितियं न रावणादिवत् इस प्रकारकी] शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती है । और सुन्दर भोगका साक्षात्कार न होनेपर [नायकके द्वारा उठाए गए] इस महाद्वेषलेशसे क्या लाभ हुआ ऐसा अनुभव होनेसे [नाटक] नीरस हो जायगा । शापकी निवृत्ति और विवाह आदि भी रञ्जक होनेसे [अङ्गके भीतर] साक्षात् विलसने चाहिए । [अर्थात् उनका विलसना निषिद्ध नहीं है] । जैसे [विक्रमोर्वशीमें] उर्वशीके शापवश प्राप्त हुए लता-भावकी निवृत्ति [विललाई गई] है । दृश्यके अविनाशित होनेसे ‘सूच्य’ और ‘ऊह’ अर्थ भी वहीं [अङ्गमें] हो सकते हैं । यह अङ्गका स्वरूप है ।

यहाँपर अन्वयकारने ‘एतदङ्गस्य स्वरूपम्’ कहा है । इसके पूर्व ३६ पृष्ठ पर एतावदङ्गलक्षणम् यह लिख चुके हैं । अर्थात् अङ्गके लक्षणकी व्याख्या करते हुए एक जगह ‘एतावदङ्गलक्षणम्’ और दूसरी जगह ‘एतदङ्गस्वरूपम्’ यह लिखा है । इस दो प्रकारके लेखका विशेष प्रयोजन है । लक्षण दो प्रकारके माने गए हैं एक तटस्थ-लक्षण और दूसरा स्वरूप-लक्षण । जो स्वरूपके अन्तर्गत न होकर भी अन्यसे भेद कराने वाला हो उसको ‘तटस्थ-लक्षण’ कहते हैं । और जो स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्यसे व्यावृत्ति कराता है वह ‘स्वरूप-लक्षण’ कहलाता है । जैसे ‘जन्मानस्य मत’ जिससे जगत्का जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, विधिति और प्रलय होता है वह ब्रह्मा या ईश्वर है । इसमें जगत्का जन्मादि ईश्वर या ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत न होनेपर भी व्यावर्तक होनेसे ‘तटस्थ-लक्षण’ कहलाता है । और ‘सच्चिदानन्द ब्रह्म’ आदि ब्रह्मके ‘स्वरूप लक्षण’ होते हैं । इसी प्रकार यहाँ ‘अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः’ यह अङ्गका ‘लक्षण’ अर्थात् ‘तटस्थ लक्षण’ है और ‘सबिन्दु दृश्यार्थः’ यह अङ्गका ‘स्वरूप’ अर्थात् स्वरूप-लक्षण है । इन अभिप्रायसे ये दोनों पद लिखे गए हैं ।

इस प्रकार ‘अङ्ग’ के लक्षण तथा स्वरूपका प्रतिपादन करनेके बाद अगले चरणमें अन्वयकार ‘अङ्ग’ के काल-परिमाणका निर्देश करते हैं । इसमें एक मुहूर्त अर्थात् दो घण्टी [४८ मिनट] से लेकर चार पहर [१२ घण्टा] तक अङ्गका काल-परिमाण बतलाया है । अर्थात् एक अङ्गका विस्तार उतना ही होना चाहिए जिसका अभिनय इस समयके भीतर

‘चातुर्यामो मुहूर्तता’ इति मुहूर्तादारभ्य यामचतुष्टयं यावत् । सर्वापकर्षेण षटिकाद्वयाभिनेय । सर्वोत्कर्षेण त्रिंशद्वटिकाभिनेय । मुहूर्तादप्यपकर्षे प्रयोगा-परिपूर्णत्वेन, यामचतुष्टयादप्याधिक्ये आवश्यककर्मविरोधेन च प्रेक्षक प्रयोवर्तुर्था वैरस्यं स्यात् । एतदङ्कस्यापकृष्टमभ्यमोत्कृष्ट कालमानमिति ।

अमुना धृद्धमम्प्रदायायातेनाङ्गलक्षणेन वक्ष्यमाणनीत्या अङ्कसख्यापरिमाण-मुपपद्यते । ये तु धृद्धमम्प्रदायमवधूय अङ्कमध्येऽप्यवस्था समापयन्ति तन्मतसप्रद्धार्य उत्तरार्धमेव लक्षणम् । अत्र पुनरङ्कमस्यानियमकारणमपरमन्वेप्यमिति ॥१६॥

समाप्त हो सके । इसी बातको आगे कहते हैं—

‘चातुर्यामो मुहूर्तता’ अर्थात् ‘मुहूर्त’ से लेकर चार पहर [जिसका अभिनय हो] । अर्थात् कमसे कम [मुहूर्त भर] दो घड़ी [४८ मिनट] में अभिनय करने योग्य । और अधिकसे-अधिक [चार प्रहर] तीस घड़ी [चार घण्टे] में अभिनय करने योग्य । मुहूर्तसे भी कम [प्रयोगसमय] होनेपर प्रयोगसे अपूर्ण रह जानैसे, और चार पहरसे भी अधिक [अभिनय] होनेपर [सप्या बदन आदि] आवश्यक कार्योंमें बिग्न पड़नेसे देखने वालों और अभिनय करने वालों [दोनों] के लिए ही भ्रष्टचित्र हो जायेगा । यह [कालकी दृष्टिसे] अङ्कका कमसे कम, मध्यम और सबसे अधिक काल परिमाण कहा है ।

यहाँ सबसे अधिक जो चार प्रहर अर्थात् बारह घण्टेका अभिनयका काल परिमाण लिखा है वह केवल एकाङ्की रूपकोम ही लागू हो सकता है । अनेक अंकी वाले नाटक आदि में एक एक भूकवा अभिनय चार प्रहरम समाप्त हो यह बात तो बिल्कुल असङ्गत है । परन्तु उसे केवल एकाङ्की रूपको तब ही सीमित समझना चाहिए । मध्य काल परिमाण यद्यपि यहाँ लिखा नहीं गया है कि तु इनके बीचमें कहीं भी स्वयं समझा जा सकता है । इसलिए मध्यमका भी उल्लेख व्याख्याकारने कर दिया है । यूननम परिमाण एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी या ४८ मिनटका माना गया है ।

पूर्वाचार्योंके मतानुसार परम्परासे आए हुए इस अङ्क-लक्षणसे आगे कही जाने वाली अङ्ककी सख्याका परिमाण भी बन जाता है । जो लोग प्राचीन आचार्योंके मतको उपेक्षा करके अङ्कके बीचमें भी अवस्थाकी समाप्ति कर देते हैं उनके मतका समर्थ करनेके लिए उत्तरार्ध ही सक्षम है । और इस मतमें अङ्कसख्याके नियमका कोई और कारण जौजना होगा ॥१६॥

नाटकोंकी अङ्क सख्याका विषय

इस बारिकाम अङ्कके सङ्ख्यसे अङ्ककी सख्याके निश्चयकी बात नहीं है । उसका यह अभिप्राय है कि अवस्थाकी समाप्ति एक अङ्कमें हो करनी चाहिए अथवा वायवश उसका विच्छेद जहाँ होता है वह अङ्क कहलाता है । अर्थात् अङ्ककी रचना अवस्थाओंके आधारपर की जाती है । नाटकमें प्रस्तुत वायव्य १ आरम्भ, २ यत्न ३ प्राप्ति ४ निपताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं । उनका वरण आग होगा । इनमें समाप्त एक एक अवस्थाकी एक एक भूकवा होनेपर नाटककी समाप्ति पाँच अंकोंमें हो जानी चाहिए । यदि किसी अवस्थाकी पूर्तिमें दो अंक लग जाय तो नाटकके ६ अंक हो सकते हैं । दो अवस्थाओंमें दो दो अंक लग जाय पर सात या पाँचों अवस्थाओंमें दो दो अंक लग जाय

अथाङ्गस्य लक्षणशेषं संख्यापरिमाणमाह—

[सूत्र १७]—आवश्यकविरोधार्थः स्वल्पपात्रः सनिर्गमः ।

पञ्चसंख्योऽपकर्षेण दशसंख्यः प्रकर्षतः ॥२०॥

एकस्मिन्तङ्के तावद्वान्तराणि बहूनि कार्यानि न निबन्धनीयानि । यत्रापि निबन्धयन्ते तत्राप्यावश्यकस्य सन्ध्याचन्दन-भोजनादेरविरोधेन । सुष्ठु कार्योपयोगीनि अल्पानि संख्यया पात्राणि यत्र । तत्रोत्कर्षे दश, मध्यमगत्या अष्टौ, अपकर्षेण चत्वारि पञ्च वा पात्राणि । आविश्ये तु पात्रसम्मर्देनैव अभिनयघतुष्टय प्रेक्षकाणाम् विभावनीयं स्यात् । प्रभूतपुरुषसाध्यं पवसोद्धरणादि न रङ्गे दर्शनीयमित्युक्तं भवति । समवकारादौ तु बहुपात्रत्वेऽपि विरोधोपादानान्न दोषः । 'सनिर्गमः' इति तिगमो रङ्गप्रविष्टपात्राणां स्वकार्याणि कृत्वा निष्क्रमो जवनिकया तिरोधानम् ।

पर अधिकसे अधिक दस अक तक रचे जा सकते हैं । इस प्रकार नाट्यकोका कमसे-कम पाँच और अधिकसे-अधिक दस अकोके रखनेका विधान किया गया है । यह सब विधान अब स्थामोको विभाजनका आधार मानकर ही किया गया है । इस बातका प्रतिपादन अगली कारिकामे करते हैं—

अब अङ्कके लक्षणके दोष भाग और सख्या-परिमाणको कहते हैं—

[सूत्र १७]—आवश्यक [सन्ध्या चन्दन-भोजन आदि कार्यों] में बाधा न आनेवाला जिसका [अभिनय] अर्थ है [इस प्रकारका], सुन्दर और परिमिति सत्त्वा वाले पात्रोंसे पुष्ट तथा [अग्तमे सारे पात्रोंके] बाहर चले जावे [को दिखलाने] वाला कमसे-कम पाँच सख्या और अधिकसे अधिक दस सत्त्वा युक्त अङ्क होता है । [यह १९-२० दो कारिकाओंको मिला कर अङ्कका लक्षण बनता है] । २० ।

एक अङ्कमें बीधके बहुतसे कार्योंका समावेश नहीं करना चाहिए । जहाँ कहीं करना ही पड़े वहाँ भी आवश्यक सन्ध्या चन्दन भोजनादि कार्योंमें बाधा न आने देना चाहिए । सुष्ठु, सुन्दर अर्थात् कार्यमें उपयोगी और मत्स्याकी दृष्टिसे 'अल्प'-कम पात्र, जिसमें हो [यह 'स्वल्पात्र' हुआ] । इसमें [अर्थात् प्रत्येक अङ्कमें] अधिकसे-अधिक दस, मध्यम रूपसे आठ और और कमसे कम चार या पाँच पात्र होने चाहिए । अधिक [सत्त्वा] होनेपर तो यत्रोकी भौड-भाडके कारण ही चारों प्रकारके अभिनय देखनेवालोंको दौक तरहसे नहीं दीख सकेंगे । इसका यह प्रशय भी हुआ कि बहुत अधिक पुरुषोंके द्वारा साध्य पर्वतका उठाना आदि कार्य रङ्गभूमिमें नहीं दिखलाने चाहिए । समवकार आदिमें तो अधिक पात्र होनेपर भी विशेष [अभिनयों] का ग्रहण हो सकने [से बाधा न होने] से दोष नहीं होता है । [अर्थात् समवकार आदिमें बसते अधिक पात्र भी अङ्कमें रचे जा सकते हैं] । 'सनिर्गमः', अर्थात् रङ्गमें प्राए हुए पात्रोंका अपने कार्योंको करके बाहर चला जाना अर्थात् जवनिकाके पोछे चला जाना [जिसमें हो यह अङ्क कहलाता है] ।

समवकारादिमें दससे अधिक पात्र होनेपर भी 'विरोधोपादान्न दोष' अभिनयके विशेष रूपोंका ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं होता है यह बात जो यहाँ कही है उसका कारण यह है कि समवकारमें देवताआ अथवा देवतादिका अभिनय दिखलाया जाता है इसलिए उसका

‘पञ्चसंख्य’ इति अत्यन्तस्तोवताया पञ्चाङ्काः । सर्वोत्कर्षेण दश । मध्यमवृत्त्या षट्, सप्त, अष्टौ, नव । इत्यङ्कसंख्याया भेदा । यदा एकैकस्यामवस्थाया एकैकोङ्क-स्तदा पञ्चाङ्काः । यदा तु कार्यवशेन काप्यवस्था उपक्रमोपसंहाराभ्यां छिद्यते तदा षट् । एक उपक्रमाङ्क, एक उपमहाराङ्क । अपरावस्थाचतुष्टयस्य तु चत्वारः । एव कृत्वा अष्टौ नव च । सर्वावस्थाभेदे तु दशेति ।

यदापि कार्यबहुत्वात् काप्यवस्था त्र्यङ्का तथाप्युत्कर्षतो दशेव । एकस्या कस्याश्चिदेकाङ्ककरणात् । एकरथा चावस्थायामङ्कत्रय दृश्यते । यथा वेणीसंहारे गर्भसन्धौ प्राप्त्याशावस्थालङ्घने तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमा अङ्काः । न्यूनत्वे त्वङ्कानामेकाङ्क-तापि स्यात् । तथा च पञ्च सन्धयो नोपसंहारयोगः । आधिक्ये पुनरुनियतसंयत्यं स्यादिति मध्यमा वृत्तिराभीयते । नाटिका-प्रवरण्योस्तु चतुरङ्कत्वम् । कस्याश्चिदव-स्थाया अवस्थान्तरे मिश्रणादिति ॥२८॥

मण्डप भी सामान्य नाट्य मण्डपने बहुत बड़ा बनता है । इसलिए उसमें अभिनय अव्यक्त नहीं होता है । मानव-चरितका अभिनय प्रदर्शित करनेकेलिए जो मध्यम मण्डप बनता है उसमें अधिक पानोंके आ जानेपर अभिनय अव्यक्त हो जाता है । इसलिए नाटकादिमें दस पानोंके अधिक पानोंके एक साथ रहनेभूमिम मानेका नियम है ।

‘पञ्चाङ्क’ ‘पाँच अङ्क वाला’ इससे कमसे कम पाँच अङ्क हों [ यह अभिप्राय है ] । सबसे अधिक दस [अङ्क हो सकते हैं] । मध्यम दशाने छ, सात, आठ या नौ तक अङ्कोंकी सख्याके भेद हो सकते हैं । जब [पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओंमेंसे] एक-एक अवस्थाके लिए एक एक अङ्क हो तब पाँच अङ्क हुए । जब कार्यवश किसी अवस्थाका उपक्रम और उपसंहार [अलग-अलग दो अङ्कोंमें] बँट जाता है तब छ अङ्क हो जाते हैं । एक उपक्रमाङ्क । दूसरा उपसंहाराङ्क । और दोष चारों अवस्थाओंके चार अङ्क [मिलकर छ अङ्क हो जाते हैं] । पाँचों [सभी] अवस्थाओंके [उपक्रम उपसंहार रूपमें अलग-अलग अङ्कोंमें] बँट जानेपर सा [मिलाकर] दस अङ्क हो सकते हैं ।

और अब कार्यके आधिक्यके कारण किसी अवस्थामें तीन अङ्क हो जायें तो भी [सब मिलाकर] अधिक से-अधिक दस हो अङ्क होने चाहिए । [इसके लिए] किसी [अन्य] अवस्था में एक ही अङ्क करके [कुल सख्या दससे अधिक नहीं होनी चाहिए] । दस ही होने चाहिए । एक अवस्थामें तीन अङ्क भी पाए जाते हैं । जैसे वेणीसंहार में प्राप्त्याशा [रूप तीसरी अवस्था] से पुनर्त ‘गर्भसन्धि’ [नामक तृतीयसन्धि-भेद] में [नाटकके] तृतीय चतुर्थ और पञ्चम [तीन] अङ्क [लग गए हैं] । कम होनेपर तो एक अङ्क भी हो सकता है । किन्तु उससे पाँचों सन्धियोंका प्रदर्शन नहीं हो सकेगा । और [दससे भी] अधिक होनेपर सख्याकी कोई अवधि नहीं रहेगी इसलिए मध्यम मार्गका अवलम्बन करना उचित है । नाटिका और प्रकरणोंमें तो चार अङ्क होने चाहिए । किसी अवस्थामें दूसरी व्यवस्थाका मिश्रण कर देनेमें [पाँचके स्थानपर चार अङ्क हो जायेंगे] ॥२९॥

अथाङ्कानिवन्धनीयमाह—

[सूत्र १८]—अभिघातः प्रधानस्य नेतुर्ग्रन्थो न कुत्रचित् ।

बन्धः पलायनं सन्धिर्योज्यो वा फललिप्सया ॥२१॥

अभिघात शोणितहेतु प्रहारः । प्रधानस्य मुख्यस्य । तेन पताका प्रकरी-  
नायकादीनां ग्रन्थत एव । कुत्रचिदिति विष्कम्भकादावपि । सामान्योक्तावर्त्यभि-  
घातः परपरकृत । तेन यद्ग्रन्थाभि सत्यहरिश्चन्द्रे हरिश्चन्द्रेण देवतोपहारार्थस्वयं  
स्वमांसोरुर्तनं निवद्धं न तद् दोषाय ।

अङ्कोमे अदर्शनीय तत्त्व—

पिछली दो बारिकाग्रोमे भञ्जुका लक्षण करनेके बाद अब भगनी बारिकामे ग्रन्थकार  
यह दिखलाना चाहते हैं कि अङ्कोमे किन्-किन बातोंको नहीं दिखलाना चाहिए । जिन बातों  
का अङ्कोमे दिखलानेका निषेध है उनमें प्रधान नायकका 'अभिघात' सबसे मुख्य है । अभिघात  
शब्दका अर्थ 'रक्त प्रवाहित कर देनेवाला प्रहार' किया गया है । प्रधान नायकका अभिघात तो  
न केवल अङ्कोम अपितु निष्कम्भक आदिमें भी नहीं दिखलाना चाहिए ।  
उसका बन्धन पलायन आदि भी सामान्य रूपसे नहीं दिखलाना चाहिए । किन्तु विशेष स्थिति  
में यदि बन्ध आदिके द्वारा विशेष फलकी सिद्धि हो तब उनको प्रदर्शित किया जा सकता है ।  
इसी बातको इस कारिकामे निम्न प्रकार लिखा है—

अब अङ्को में न रखने योग्य [अर्थों] को कहते हैं—

[सूत्र १८]—प्रधान नायकका अभिघात [शोणित जनक प्रहार] कहीं भी [अर्थात्  
अङ्कोमें तो नहीं ही दिखलाना चाहिए किन्तु उसके अतिरिक्त विष्कम्भक आदिमें भी नहीं  
दिखलाना चाहिए । [प्रधान नायकका] बन्धन पलायन अथवा सन्धि [भी सामान्य रूप से  
नहीं दिखलाना चाहिए किन्तु] विशेष फलकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रदर्शित किया जा सकता  
है । २१ ।

'अभिघात' अर्थात् रक्तको प्रवाहित करनेवाला प्रहार । प्रधान अथवा मुख्य [नायक]  
का [नहीं दिखलाना चाहिए] इस [कथन] से पताका-नायक और प्रकरी-नायक आदि  
[अग्रमुख नायकों] का [अभिघात भी] ग्रन्थित किया ही जाता है [यह अभिघात है] ।  
'कुत्रचित्' इससे विष्कम्भक आदिमें भी [नहीं दिखलाना वा ग्रन्थित करना चाहिए वह अभि-  
घात है] । अभिघात स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारका हो सकता है । विशेष निर्वेशके बिना]  
सामान्य रूपसे कथित होनेपर भी यहाँ परकृत [का ही ग्रहण करना चाहिए] । इसलिए  
हमने 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] में देवताको उपहार रूपमें चढ़ानेके लिए हरिश्चन्द्रके ही द्वारा  
स्वयं अपने भासके काटनेका जो वर्णन किया है वह [परकृत अभिघात न होवेके कारण]  
दोषापायक नहीं है ।

इसमें प्रधान नायकके अभिघातका निषेध करते हुए वृत्तिग्रन्थमें पताका-नायक तथा  
प्रकरी नायकके अभिघातकी अनुमति दे दी गई है । इन पताका और प्रकरी-नायकोंके लक्षण  
आगे दिए जावेंगे । किन्तु इस प्रकरणके अर्थको समझनेके लिए सक्षेपमें उनका ज्ञान आवश्यक  
है । 'अपि प्रातङ्गिक वृत्त पताकेत्यभिधीयते' यह 'पताका' का लक्षण, और 'प्रातङ्गिक

परेणापि विपक्षेण कृतो निविध्यते । तेन नागानन्दे गरुडकृताभिघातस्य जीमूतवाहनस्य भासात्करणां परोपकाराय सत्त्वाधिक्येन विशेषतो रसपुष्टिमावहति । योऽपि चास्माभी रघुविलासे शक्तिसत्त्ववत्तसो लक्ष्मणस्य प्रवेशः कृतः, मोऽपि न दोषाय । सीताऽऽनयनलक्षणफलसम्बन्धेन रामस्य मुख्यत्वात् । 'बन्ध' उक्ति परैर्ब्रह्मणम् । यथा वामवदत्तानृत्तवारे वत्सराजस्य । पलायनमपसरणम् । यदाहु — 'अशक्ये मय्यमुत्सृज्यापगच्छेत्' । दृष्टा हि जीवतः पुनरावृत्तिर्यथा सुयात्रोदयनयो । इति । 'सन्धिः' सन्धानम् । बहुक्तम्—

“प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवताऽबलः ।

सन्धिनोपनमेत् तूर्णं कोश-दण्डात्मभूमिभिः ।” इति ।

फललिप्सयेति—बन्धनादीनि तावन्त योप्यानि । यदि च योष्यन्ते तदा पर्यन्ते विशिष्टं फलमवेद्य, न पुनरेवमेवेति ॥२१॥

प्रवेशस्य चरित प्रकरी मता' यह 'प्रकरी' का लक्षण है । अर्थात् प्रासङ्गिक किन्तु व्यापक चरित का नाम 'पताका' है जैसे राम प्रद-बोमे सुग्रीवका चरित रामके बाद व्यापक चरित है । अतः उसका नायक सुग्रीव 'पताका नायक' माना जाता है । इसके विपरीत एकदेशस्थ प्रासङ्गिक वृत्तको 'प्रकरी' कहा जाता है जैसे जटायुवा वृत्तांत रामायणमें 'प्रकरी' चरित है । उसका नायक जटायु 'प्रकरी-नायक' है । उसका अभिघात और बध तक भी दिखलाया जा सकता है और दिखलाया भी गया है ।

[परकृत अभिघातमे भी] 'पर' शब्दसे शत्रुके द्वारा किया गया [अभिघात] ही निविद्ध है । इस लिए नागानन्दमे गरुडके द्वारा अभिघात किए हुए [रक्त प्रवाहित होते हुए] जीमूत-वाहनके साक्षात्कारसे परोपकारके प्रबल उत्साहके कारण रसकी विशेष रूपसे पुष्टि होती है । [इस लिए वह दोषाधायक नहीं है] । और हमने भी रघुविलासेमे जो छत्तीमे शक्ति लगे हुए लक्ष्मणका [रङ्गमञ्चपर] प्रवेश कराया है वह दोषाधायक नहीं है । क्योंकि सीताके धावस लाने रूप फल सम्बन्धके कारण राम मुख्य [नायक] है । [लक्ष्मण मुख्य नायक नहीं है] । अतः उनका अभिघात प्रदर्शित करना दोषाधायक नहीं है । कारिकामें आए हुए 'बन्ध' [पदका अर्थ] दूसरे के द्वारा परकृत जाना है । जैसे वासवदत्ताकी नृत्यशालामे वत्सराजका [बन्धन दिखलाया गया है यह विशेष फलकी सिद्धिका जनक होनेसे दोषाधायक नहीं है] । पलायनका अर्थ [पुनरावृत्ति] हट जाना है । जैसाकि [उसके श्रीचित्तको दिखलानेकेलिए] कहा गया है 'असमयं हो जानेपर सब कुछ छोड़कर चला जाये' । क्योंकि जीवित रहते फिर वापिस आना देखा जाता है । जैसे सुयात्र और उदयनका । [इस लिए जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य होनेपर पलायन भी उचित है] । 'सन्धि' अर्थात् मेल कर लेना । जैसाकि [उसका श्रीचित्त दिखलाते हुए] कहा है—

[जिसका चक्र चल रहा है उस] प्रभावशाली बलवान् राजाके साथ कुबल राजा कोश दण्ड और अपनी भूमि आदिके द्वारा सधि कर ले ।

'फललिप्सया' इसका यह अभिप्राय है कि [सामान्यतः] बन्ध आदिकी योजना नहीं करनी चाहिए किन्तु यदि योजनाकी ही जाय तो अन्तमे किसी विशेष फलको देखकर ही की जाय, ऐसे ही नहीं ॥२१॥

अथ विष्कम्भमादीनां लक्षणं कथनार्थं अङ्गावर्णनीयं विष्कम्भकादिभिर्वर्णनीयमित्याह—  
[सूत्र १६]—दूराभ्ययानं पूरोघो राज्य-देशादिविप्लवः ।

रतं मृत्युः समीकादि वषट् विष्कम्भकादिभिः ॥२२॥

दूराभ्ययानमिति । मुहूर्तत्रिक-चतुष्कसाध्यं देशान्तरगमनं शक्यत्वादङ्केऽपि  
दर्यते । यत् पुनरधिककालसाध्यं तदशक्यत्वात् विष्कम्भकादिभिरेव वषट्म् ।  
विश्रान्तिस्थान-शयन-पान-भोजनादीनां बहूनाभिरङ्गकर्मियाणां प्रसङ्गात् । सम-  
वकारादौ तु दूराभ्ययानदर्शनेऽपि न दोषः । दिव्यस्य गगनक्रमणसामर्थ्यात् ।

विष्कम्भकादि-प्रयोग—

नाटकादिभ्यः 'दृश्य', 'सूच्य' तथा 'कृत्य' तीन प्रकारके अर्थ होते हैं इस बातका उल्लेख  
वृत्तिकार ११ कारिकायै वृत्तिभाग्ये कर चुके हैं । इनमेंसे जिन अर्थोंको नाटकमें साक्षात्  
प्रभिनय द्वारा दिखलाया जाता है वे 'दृश्य' अर्थ कहलाते हैं । नाटकादिका अधिकांश भाग  
'दृश्य' ही होता है । उसका नाम ही 'दृश्य वाच्य' है । किन्तु कुछ भाग ऐसा भी होता है  
जिसको प्रभिनय द्वारा दिखलाना न सम्भव हो सकता है और न कविको अभीष्ट हो सकता  
है । ऐसे अर्थोंको कवि अन्य रूपोंमें कहलवाकर सूचितमात्र करता है । उनको 'सूच्य' अर्थ  
कहते हैं । इन 'सूच्य' अर्थोंमें प्रायः दो प्रकारके अर्थ आते हैं, एक नीरस और दूसरे प्रति-  
विस्तीर्ण एव अनुपयोगी । रामादिके जीवनके मुख्यभागोंको ही प्रभिनय द्वारा प्रदर्शित किया  
जाता है । छोटी छोटी बातोंको प्रभिनय द्वारा दिखलानेसे नाटकका बहुत विस्तार हो जायगा  
इसलिए उन अर्थोंको पात्रोंके वार्तालाप द्वारा सूचित कराया जाता है । इसी प्रकार नीरस अर्थ-  
को भी सूचनामात्र दी जाती है । उन अर्थोंको 'सूच्य' अर्थ कहते हैं । और उनके लिए नाटकमें  
अङ्गुलिभेद भिन्न विशेष भाषाओंकी रचना की जाती है । उन भाषाओंका सामान्य नाम 'अर्थोपक्षेपक'  
है । ये 'अर्थोपक्षेपक' पाँच प्रकारके माने गए हैं । जिनको क्रमशः १ विष्कम्भक, २ प्रवेशक,  
३ चूल्हिका, ४ अङ्गुलिभेद, और ५ प्रकाशतार कहते हैं । इन्हींके लक्षण करनेकेलिए अन्वकार  
इन विष्कम्भक आदिके द्वारा सूचनीय अर्थोंकी चर्चा इस कारिकामें विभिन्न प्रकार करते हैं—

प्रथम विष्कम्भक आदि [पाँच प्रकारके अर्थोपक्षेपकों] के लक्षण करनेकेलिए अङ्गुलि-  
प्रवर्णनीय [सूच्य-भाग] को विष्कम्भकादिके द्वारा वर्णन [अर्थात् सूचन] करना चाहिए इस  
बातको कहते हैं—

[सूत्र १६]—दूर वेतको गमनं, नगरापरोग्यं, राज्य तथा देशादिका विप्लव सम्भोग,  
मृत्यु, भङ्गच्छेद आदि [अङ्गुलि न दिखलाने योग्य अर्थों] को 'विष्कम्भक' आदिके द्वारा वर्णन  
करना चाहिए । २२ ।

'दूर मार्गका गमन' इसका यह अभिप्राय है कि तीन-चार मुहूर्तमें जिसको समाप्त  
हो सके इस प्रकारका देशान्तर-गमन तो सम्भव होनेसे अङ्गुलिमें भी दिखलाया जा सकता है ।  
किन्तु जो अधिक कालमें समाप्त हो वह [अङ्गुलिमें दिखलानेके] अशक्य होनेसे विष्कम्भक आदि  
॥ द्वारा ही वर्णित किया जाना चाहिए । क्योंकि उसमें लहरनेका पड़ाव, शयन, पान, भोजन  
आदि बहुत सी अरञ्जक क्रियाओंका समावेश होगा । समवकार आदिये तो दूर मार्गकी  
यात्राके दिखलानेमें भी दोष नहीं है क्योंकि देवताओंमें आकाश-गमनकी सामर्थ्य होती है ।

नगररोधोऽप्येवमेव, सेनायाः पर्यकुटी-यन्त्र-सुरङ्गादिदानव्यापाराणां च बाहुल्यात् । राज्य-देशादिभ्रंशोऽपि पतन-मरणादिसम्भवात् तथैव । रतमिति आलिङ्गनं चुम्बनादि घ्रोडादायत्वादेवमेव । तेन तदनुकूलानि रक्ष-प्रवेश-वर्माकर्या-दीन्यङ्केऽपि दर्शयन्ते । मृत्युः प्राणनिर्गम एव । समीकं हस्त-पादादिच्छेद प्रथमः । तेन नागानन्दे जीमूतवाहनस्य क्षणभाविनां इन्द्रियवैकल्यादीनां, रघुविलासे च रावणस्य विभीषणं प्रति माटोपं चन्द्रहासप्रहणस्याङ्केऽप्यविरोधः । आदिशब्दादपरमपि प्रभूतकाल-स्लेशसाध्यं घ्रोडातङ्कदायि च गृह्यते । आदिशब्देन प्रवेश-अङ्काभ्य-नूलिकाङ्कावनाराणां ग्रहणमिति ॥२२॥

नाटकमे 'दूराध्वयान' अर्थात् अधिक लम्बी यात्राको अङ्को द्वारा दिखलानेका निषेध किया गया है । इनका कारण यह है कि अधिक लम्बी यात्रामे रास्तेमे ठहरनेकेलिए पड़ावो, उनमे होने वाले भोजन, पान रायन सभी व्यापारोको दिखलाना आवश्यक होगा । वह सब एक तो अत्यन्त नीरस हो जायगा और दूसरे सम्बा भी अधिक हो जायगा । इसलिए नाटकमे उसको प्रत्यक्ष दिखलानेका निषेध कर अर्धोपसंपकोके द्वारा सूचित मात्र करनेका विधान किया गया है । किन्तु 'समवकार' आदि रूपकभेदोमे दूराध्वयानका अङ्कोमे दिखलानेका भी निषेध नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि 'समवकार'मे देवादिके चरित्रका प्रदर्शन किया जाता है । उन देवताओमे आकाश गमनकी सामर्थ्य होती है अतः उसमे बीचके पड़ाव, आदि सम्बाभी व्यापारोके दिखलानेकी आवश्यकता न रहनेसे न नीरसता आती है और न दीर्घता ।

नगरावरोध भी इसी प्रकार [नीरस व्यापारोसे पूर्ण होनेके कारण दिखलाया नहीं जा सकता] है । [अर्थात् उसमे] सेनाके [ठहरनेकेलिए] पर्यकुटी [डेर या भोंपड़ी] यन्त्र सुरंग लगाने आदि व्यापारोको बाहुल्य होता है । राज्य देशादिका विप्लवभी पतन-मरण आदि [अनेक प्रकारके नीरस और असोभनीय व्यापारों] की सम्भावनासे पूर्ण होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् नाटकमे न दिखलाकर केवल सूचित करने योग्य] है । सम्भोग भी पालिङ्गन चुम्बन आदि लज्जाजनक [व्यापारोसे परिपूर्ण] होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् रङ्गमञ्चपर न दिखलाने योग्य] है । इसलिए उस [सुरत-सम्भोग] केलिए अनुकूल पुरान्त-स्थानमे प्रवेश और यथोक्ति आदि तो अङ्कोमे भी दिखलाए जाते हैं [किन्तु उसके भागे जहाँसे पालिङ्गन-चुम्बनादि प्रारम्भ होता है उस भागको बीडाशायक होनेमे अङ्कोमे रङ्गमञ्चपर दिखलाना निषिद्ध माना गया है] । मृत्युसे प्राण निकल जानेका ही पटल होना है । 'समीक' का अर्थ हाथ-पैर आदिका काटना ही है । इसलिए नागानन्दमे जीमूतवाहनका कुछ समय होने पाला इन्द्रिय-वैकल्य आदि, और रघुविलासमे रावणका विभीषणके प्रति श्रेय करके तलवारका घट्टा [मृत्यु अर्थात् प्राणविमोचन अथवा समीक अर्थात् हाथ-पैरके देवन तक न पहुँचनेसे, दिखलाया जानेपर] भी दोषापायक नहीं है । [समीकर्तृ मे प्रयुक्त] 'आदि' शब्दसे प्रभूत काल और प्रभूत बनेशसे साध्य तथा बीडाशायक आदि अथ अर्धोका भी पटल होता है । [और विषयमन्त्रादिभि मे प्रयुक्त] 'आदि' शब्दमे प्रवेश, अङ्काभ्य, नूलिका और अङ्कावनार [रूप दोष चारों अर्धोपसंपको] का भी पटल होता है । [अर्थात् मृत्यु अर्थ भी इन पाँच प्रकारके अर्धोपसंपकोके द्वारा ही सूचित करना चाहिए । साक्षात् रूपमे नहीं दिखलाना चाहिए] ॥२२॥



अथ प्रथम विष्कम्भक शुद्धाशुद्धभेदं लक्षयति—

[सूत्र २०]—अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य त्रिकालस्यानुरङ्गिना ।

संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिरङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥२३॥

शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।

अङ्कसन्धायकः शक्यसन्धानातीतकालवान् ॥२४॥

विष्कम्भकलक्षण—

पिछली कारिकामे ग्रन्थकारने नाटकके अङ्कोमे जिन बासोका साक्षात् जगसे दिखलाना वसित है उनका उल्लेख किया था । इनमेसे दूराध्वयान आदि कुछ कार्य प्रभूतकाल साध्य या प्रभूत अमसाध्य होनेसे, कुछ कार्य श्रीडादायी होनेसे, और कुछ कार्य आतङ्कदायी होनेके कारण अङ्कानर्ह अङ्कोमे साक्षात् रूपसे दिखलानेके अयोग्य माने गए हैं । परन्तु क्या भागकी सङ्गति बनाए रखनेके लिए इन भागोंकी भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इसलिए प्रेक्षकोंको इन क्या भागोंसे परिचित करानेके लिए 'विष्कम्भक' आदि पाँच प्रकारके 'अर्थोप-क्षेपको' की रचनाकी व्यवस्था नाट्यशास्त्रम की गई है । इन 'अर्थोपक्षेपका' मे सबसे मुख्य 'विष्कम्भक' है । इसलिए अगली दो कारिकाओंमे ग्रन्थकारने 'विष्कम्भक' का लक्षण निम्न प्रकार किया है ।

अथ [पाचो 'अर्थोपक्षेपको' मे] सबसे पहले शुद्ध और अशुद्ध भेद जाने [दो प्रकारके] 'विष्कम्भक' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २०]—[अथ] उन [पाचो प्रकारके 'अर्थोपक्षेपको' मेसे] [भूत भविष्यत् और वर्तमान] तीनों कालोंके [अङ्कानर्ह] अङ्कोमे न दिखलाने योग्य वृत्त [कथाभाग] को अङ्कके प्रारम्भमे सक्षिप्त करके मध्यम पात्रोंके द्वारा संस्कृतमे कहलानेको 'शुद्ध विष्कम्भक' [कहते हैं] और नीच तथा मध्यम पात्रोंके द्वारा [संस्कृत तथा प्राकृत भाषामे कहलानेका वृत्त] सङ्कीर्ण [विष्कम्भक कहलाता] है । [शुद्ध और सङ्कीर्ण दोनों प्रकारका विष्कम्भक] अङ्क [के प्रतिपाद्य विषयकी सङ्गति] को जोड़ने वाला [अथवा दो अङ्कोंके बीचके कथाभागकी सङ्गतिको जोड़ने वाला 'अङ्कसन्धायक' होता है] और जितने कालकी स्मृति सम्भव हो उतने प्रतीतिकाल [की स्मृति कराने] वाला [शक्यसन्धानातीतकालवान्] होता है ॥२३-२४॥

ग्रन्थकारने यह 'विष्कम्भक' का लक्षण किया है । लक्षणकी रचनासेही कुछ स्पष्ट-सी प्रतीत होती है । इसलिए उसको ठीक तरहसे समझनेके लिए विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है । इस लक्षणमे निम्न बातें समाविष्ट की गई हैं—

१. विष्कम्भकमे अङ्कानर्ह अर्थात् जिसका नाटकके अङ्कोमे दिखलाना उचित नहीं है उन्ही बातोंका समावेश किया जाता है ।
२. उस अङ्कानर्ह भागको मध्यमपात्रोंके द्वारा अथवा नीच और मध्यम दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा कहलाया जाता है । केवल मध्यम पात्रोंके द्वारा कहालाया जाने पर 'शुद्ध विष्कम्भक' तथा नीच मध्यम द्विविध पात्रों द्वारा कहालाए जानेपर 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' होता है ।
३. विष्कम्भकमे अर्थकी सूचना देने वाले पात्रोंकी भाषाका भी उल्लेख किया है

अरक्षकं च, रक्षकमपि एकदिनाशक्याभिनयं च, प्रेक्षकैःमात्तादनुपलभ्यमानं 'अङ्कानर्द्धम्' । 'त्रिकालस्य' वृत्तवर्त्यद्-वर्तमानकालस्य । अनुरजिनेति असमस्तेन अदीर्घसमासेन च प्रमन्नेन । 'संक्षिप्य' विततमपि उत्तराङ्कमन्वानोपयोग्येव कृत्वा । संस्कृतेनेति शुद्धविष्कम्भभाषेक्षम् । सङ्कीर्णं तु संस्कृतेनासंस्कृतेनापि च, नीचपात्रस्यापि तत्र भावात् ।

अङ्कादाविति प्रथमेऽङ्के आमुखादृर्ध्वम्, अन्येषु पुनरारम्भे इति तावत् सर्वं समाचनन्ति । कोदल पुनरेतं प्रथमाङ्कादावेवेच्छति ।

किन्तु उसमे केवल शुद्धविष्कम्भकके पात्रोकी भाषा सङ्कृत होती है । सङ्कीर्णं विष्कम्भकमें जो मध्यम पात्र हों वे ही सङ्कृत बोलते हैं और नीच पात्र प्राकृत भाषाका ही प्रवलम्बन करते हैं । टीकामे तो इस भेदका उल्लेख किया गया है किन्तु मूलमें उसको उल्लेख न होनेसे प्रयं स्पष्ट नहीं हो पाता है ।

४ 'अङ्कसन्ध्यायक' तथा 'शक्यसन्धानासीतकालवान्' ये दो पद जो सङ्कलामे रले गए हैं वे अधिक प्रस्पष्ट हैं । 'अङ्कम-धायक' का अभिप्राय यह है कि विष्कम्भक दो अङ्कोंके बीचके कथाभागको जोड़कर बधामूलको अविच्छिन्न बनाता है । और 'सन्ध्यासन्धानासीतकालवान्' का अभिप्राय यह है कि असीतकालकी जिन घटनाओका उल्लेख उसमें किया जाता है वे घटनाएँ बहुत अधिक पुरानी नहीं होनी चाहिए । केवल सतनी पुरानी हों जिनका स्मरण सामान्य रूपसे मनुष्यको रह सकता है ।

५ पाँचवी बात यह है कि विष्कम्भककी रचना अङ्कके आरम्भमें ही की जाती है । अन्तमें या बीचमें नहीं । 'अङ्कादौ' का यह भी अभिप्राय है कि यह विष्कम्भक प्रथम अङ्कमें भी रखा जा सकता है । किन्तु वही यह आमुखके बाद ही भा सकता है जबके पहले नहीं । अथ अङ्कमें अथके आरम्भमें होता ही है ।

इन्हीं सब बातोंको लेकर व्याख्याकार इन श्लोकोकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

[प्रक्षक प्रयात्] नीरस, अथवा सरस होनेपर भी [प्रयन्त विस्तीर्ण होनेके कारण] जिसका अभिनय एक दिनमें करना सम्भव न हो [इसीलिए] प्रेक्षकोंको सामान् [अभिनय द्वारा] न दिललाया जाने वाला [बधामाग] अङ्कानर्द्धं [अथ न विरलाने योग्य] है । तीनों कालका प्रयात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकालका । 'अनुरजिना' [संस्कृतेन] इससे सर्वथा समाप्त-रहित अथवा छोटे-छोटे समाप्तो वाले सरस [प्रसन्न] संस्कृतके द्वारा । 'संक्षिप्य' प्रयात् विस्तीर्ण [बधामाग] को भी अगले अथका सम्बन्ध जोड़ने मात्र [संक्षिप्त] बना कर [बह-क्षाना] । 'संस्कृतेन' [संस्कृत भाषाके द्वारा बहक्षाना] । यह केवल शुद्ध-विष्कम्भककी दृष्टिसे कहा गया है । सङ्कीर्णं [विष्कम्भक] में तो संस्कृत और [संस्कृत प्रयात्] प्राकृतमें भी [प्रयात् दोनों भाषाओंके द्वारा वृत्त बहक्षाना जाना है] क्योंकि उसमें नीच पात्र भी होते हैं [वे संस्कृत नहीं बोल सकते हैं] अतः वे प्राकृत भाषामें भाषण करते हैं और जो मध्यम पात्र होत हैं वे संस्कृतभाषामें । इस प्रकार सङ्कीर्णं विष्कम्भकमें संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाप्रति उप-योग होता है ।

'अङ्कादौ' अङ्कके आरम्भमें इसका [यह अभिप्राय है कि] प्रथम अङ्कमें [आमुख प्रयात्] प्रस्तावनाके बाद, और शेष अङ्कमें अङ्कके आरम्भमें ही [विष्कम्भककी रचना होना चाहिए]

मध्यमैरिति अमात्य-सेनापति वशिष्ठ-विप्रादिभिः । न पुनर्देवी कुमार-  
नायक-प्रतिनायकादिभिः । मध्यमत्वं चैषा राजापेक्षया । राजपरिजनापेक्षया तु  
तेऽपि प्रधानम् । जनैरिति पुष्पि, स्त्रीभिः, स्त्री-पुं सैश्च, सामान्यवाचित्वात् । बहु-  
वचनमतन्त्रम् । तेनैकेनापि स्वगतेनाकाशोक्त्या च निबध्यते । जनैरिति सामान्य-  
निर्देशादेव च शुद्धविष्कम्भे स्त्रिया अपि संस्कृतेनैव पाठः । शुद्धो नीचाप्रवेशात् ।  
विष्कम्भनाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपपद्यति इति विष्कम्भकः ।

तत्रेति विष्कम्भादिषु पञ्चसु मध्यात् द्विभेदत्वेन विष्कम्भको निर्धार्यते । अथ  
सङ्कीर्णो नीचस्यापि प्रवेशात् । नीचा दास-चेष्ट्यादयः । 'अट्टसन्धायक' इति अट्टाय

यह बात [नाट्यशास्त्रके] सब [आचार्य] मानते हैं । किन्तु कोहल [नामक नाट्याचार्य] इसको  
केवल प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही मानते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरत आदि अन्य सब नाट्याचार्योंके मतमें नाटकके  
किसी भी अङ्कमें आवश्यकतानुसार विष्कम्भकका प्रयोग किया जा सकता है । किन्तु केवल  
इतना ध्यान रखना है कि जब कभी भी विष्कम्भकका प्रयोग किया जाय वह सदा अङ्कके  
आरम्भमें ही होना चाहिए । बीचमें या अन्तमें नहीं । किन्तु कोहलाचार्यका मत इससे भिन्न  
है । उनका यह कहना है कि विष्कम्भकका प्रयोग केवल प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही किया  
जा सकता है । अन्य अङ्कमें उसका प्रयोग नहीं हो सकता है । या फिर अङ्कके मध्य प्रथवा  
अन्तमें कहीं भी किया जा सकता है ।

'मध्यमे' इस पदसे अमात्य सेनापति वशिष्ठ विप्र आदिके द्वारा [यह कार्य करना चाहिए] ।  
महाराणी, राजकुमार, नायक, 'प्रतिनायक' आदिके द्वारा [यह कार्य] नहीं [लिना चाहिए] ।  
इन [अमात्य सेनापति आदि] का [भी] मध्यमत्व राजाकी दृष्टिसे है । राजाके अन्य सेवकों  
की अपेक्षसे तो वे भी प्रधान हैं । 'जनं' इस पदसे [पदके] सामान्य-वाचक होनेसे पुष्पोंके  
द्वारा, अथवा स्त्रियोंके द्वारा, अथवा स्त्री और पुरुष दोनोंके द्वारा यह कार्य ग्रहण [करना  
चाहिए] । इसमें बहुवचन प्रविशित है । [अर्थात् बहुतसे पात्र ही प्रयुक्त किए जायें यह इस  
बहुवचनगत 'जनं' पदका अभिप्राय नहीं है] । इसलिए 'स्वगत' अथवा 'आकाशभाषितके  
रूपमें एक पात्रके द्वारा भी [अपेक्षित कार्यको कहला कर विष्कम्भकका] प्रयोग किया जाता  
है । 'जनः' इस सामान्य निर्देशके कारण ही शुद्ध विष्कम्भकमें स्त्रियोंके द्वारा भी सादृष्टमें  
ही पाठ किया जाता है । [इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य रूपसे स्त्रियोंके मुखसे प्राकृत  
भाषा ही प्रयोग नाटकीमें कराया जाता है किन्तु शुद्ध विष्कम्भकमें यदि कोई मध्यम स्त्री-  
पात्र हो तो उसको सादृष्टमें भाषण कराया जा सकता है] । शुद्ध [विष्कम्भक] नीच [पात्रों]  
का प्रवेश न होनेसे [ही शुद्ध कहलाता] है । [यानि विष्कम्भक सादृष्टा नियंचन दिलाता है]  
'विष्कम्भनाति' अर्थात् स्मृतिके द्वारा कथाभागको [जोड़कर] पुष्ट बनाता है इसलिए [उसको]  
'विष्कम्भक' कहा जाता है [यह विष्कम्भक सादृष्टा अथवाचार्य है] ।

'तत्र' इससे 'विष्कम्भक' आदि पाँच [अर्थोपशेषों] के मध्यमेंसे [शुद्ध तथा सरोलं  
रूप] दो भेद वाला 'विष्कम्भक' अलग निर्धारण किया गया है [यह बात 'तत्र' पदसे सूचित  
ही है] । 'तत्तत्प्राप्तम्' सूत्रसे सप्तमीके अर्थमें तत्-प्रत्यय बरके 'तत्र' शब्द बना है । और  
'पतन्त्र निर्धारणम्' [जिसे किसी वस्तुको पुनः कर अलग किया जाय उस निर्धारणमें सप्तमी

अङ्कार्थस्य सन्धायक संसूचकः प्रथमाङ्कभावी । अङ्कयोरङ्कार्थयोः सन्धायकः पुनरङ्कद्वयान्तरालभावी । शक्यं सन्धानमनुस्मरणं यस्यासौ शक्यसन्धानः । स चासापत्नीतकालो वृत्तोऽर्थस्तद्वान् विष्कम्भको भवति । इह तावत् पुरुषप्रज्ञापेक्षया विष्कम्भकार्यं कालो निबध्यते । रामयुधिष्ठिरादयो हि चिरातीतमप्यर्थमनुसन्दधतीति न तथैव निबध्यते । ये तु प्राकृता स्तोककालमेवार्थमनुसन्दधते तदर्थस्तथैव निबध्यनीयः । कामफले तु नाटके वर्षैकवृत्तमेव निबध्यते । परतः संस्कारविच्छेदात् । ययोऽतिवृत्तेरिति ॥२३-२४॥

विभक्ति होती है । अतः यहाँ सप्तमी विभक्तिके द्वारा बने 'तत्र' पदसे निर्धारण—छांटना—प्रलप करना सूचित होता है यह अभिप्राय है] । आगे सङ्कीर्ण [विष्कम्भको] नीच [पार्श्व] का भी प्रवेश होनेसे [सङ्कीर्ण विष्कम्भक] कहते हैं । नीच अर्थात् दास-दासी आदि । 'अङ्कसन्धायक' इससे [दो अर्थ निकलते हैं । एक तो यह है कि] अङ्कका अर्थात् एक अङ्कके अर्थका सन्धायक अर्थात् संसूचक । इस प्रकारका [एक अङ्कका अर्थात् एक अङ्कसे सम्बद्ध अर्थका सूचक जो विष्कम्भक होता है वह] प्रथम अङ्कके आरम्भमें ही होता है । [अङ्क-सन्धायक] का दूसरा अर्थ यह भी है कि] दो अङ्कोंका अर्थात् दो अङ्कोंके अर्थों का सन्धायक अर्थात् सम्बन्ध कराने वाला [जोड़ने वाला] वह दो अङ्कोंके बीचमें [अर्थात् उत्तरवर्ती अङ्कके आरम्भमें] होता है । [आगे 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' पदका अर्थ उसको दो भागोंमें विभक्त करते हैं । पहले 'शक्यसन्धान' इस भागका अर्थ करते हैं] जिसका सन्धान अर्थात् अनुस्मरण हो सकता है [उतना अतीतकाल शक्यसन्धान हुआ] । इस प्रकारका [शक्यसन्धान] जो अतीतकाल अर्थात् अतीत कालमें हुआ कथाभाग उससे पुष्ट [अर्थात् उसको सूचित करने वाला] विष्कम्भक [शक्यसन्धानातीतकालवान्] विष्कम्भक हुआ] । इसमें पुरुषोंकी स्मरणशक्ति [प्रता] की अपेक्षासे विष्कम्भकके [अर्थात् कथाभाग] के कालको [शक्यसन्धान जिसका स्मरण सम्भव हो सके इसके अनुसार] निबद्ध किया गया है । राम युधिष्ठिर आदि [प्रबल स्मरणशक्ति वाले उत्तम पात्र] बहुत पुराने अतीत अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं इसलिए [विष्कम्भकमें उनके स्मरणसे सम्बन्ध रखनेवाली दीर्घकालीन बात भी कहो जाती है वहाँ] उसको उसी प्रकारसे दिसलाया जाता है । और जो साधारण पुरुष थोड़ी देरकी ही बात स्मरण कर सकते हैं उनके लिए उसी प्रकारकी रचना करनी चाहिए । कामप्रधान कलत्राले नाटकमें तो [विष्कम्भकके रूपमें] एक ही वर्षके वृत्तकी रचना की जानी है । उसके बाद [अर्थात् एक वर्षसे अधिककालके प्रेमके] संस्कारोका विच्छेद हो जाता है और अवस्था बीत जानेसे भी । [शृङ्गार रसमें अधिक पुरानी बातोंका स्मरण व्यर्थ हो जाता है] । ॥२३-२४॥

'विष्कम्भक' के इस लक्षणमें ग्रन्थकारने 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' इस विशेषण की व्याख्यापर विशेष बल दिया है । उनमें दूरके अतीत कालके अर्थकाही वर्णन 'विष्कम्भक' द्वारा करना चाहिए, जिसका अनुसन्धान अर्थात् स्मरण सम्भव हो । राम युधिष्ठिर आदि दीर्घकालीन अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं, अतः उनके वृत्त में दीर्घकालीन घटना का भी वर्णन किया जा सकता है । सामान्य पुरुष स्वल्प कालके अर्थको स्मरण कर सकते हैं, उनके प्रसङ्ग में उसीके अनुसार विष्कम्भकमें वर्णन करना चाहिए । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अथ विष्कम्भकलक्षणानुवादेन प्रवेशक लक्षयति—

[सूत्र २१]—एवं प्रवेशको नीचैः परार्थैः प्राकृतादिना ।

एतौ प्रभूतकार्यत्वान्नाटकादिचतुष्टये ॥२५॥

एवमिति 'अज्ञानहंस्य' इत्यादि सर्व विष्कम्भकलक्षणमत्रातिदिश्यते । केवलमसौ नीचैरेव पात्रै परार्थैर्मुख्यनायकादिकार्यनिष्ठैर्न पुन. स्ववृत्त्यैकतपरैः । यथा—

“आणत्त म्हि भट्टदारियाए इत्यादि ।

[आज्ञप्तास्मि भट्टदारिकया इत्यादि । इति संस्कृतम्]”

प्रवेशकका लक्षण—

प्रर्वोपक्षेपकोमे विष्कम्भकवे बाद दूसरा स्थान 'प्रवेशक' का आता है । विष्कम्भकके जो कार्य बतलाए गए हैं प्राय वे ही सब कार्य 'प्रवेशक' के द्वारा भी सम्पन्न किए जाते हैं । फिर भी उन दोनोंको अलग-अलग माना गया है इसका कारण उनके स्वरूपमें कुछ भेदका होना है । इनका मुख्य भेद यह है कि प्रवेशकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग होता है । और विष्कम्भकमें केवल मध्यम, या नीच और मध्यम दोनों प्रकारके पात्रोंका प्रयोग होता है । विष्कम्भकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग नहीं होता है । इस भेदका परिचय आगे दिए जाने वाले लक्षणसे ही मिलेगा । अतः ग्रन्थकार आगे प्रवेशकका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

प्रथम विष्कम्भकके लक्षणका अनुवाद करते हुए प्रवेशकका लक्षण बिलालते हैं—

[सूत्र २१]—इस प्रकार [अर्थात् अज्ञानहंस्य] प्रभूतको न बिलालते योग्य भिन्नलवर्ती अर्थको सूचित करने वाला] दूसरेके लिए कार्य करने वाले [अर्थात् स्वामी आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्यमें निपुण] नीच पात्रों [वास-दासी आदि] के द्वारा [संस्कृतसे भिन्न] प्राकृत आदि [भाषाओंमें प्रयोग] से [अन्यसम्बन्धानातीतकालके अर्थको सूचित करने वाला] 'प्रवेशक' होता है । [इतना प्रवेशकका लक्षण हुआ] अधिक कार्य [कि साधक] होनेके कारण नाटकादि चारमें [अर्थात् नाटक, नाटिका, प्रकरण और प्रवर्णनी इन चारमें], अनावश्यक या अज्ञानहंस्य भागको सश्लेष करके सूचन करनेकेलिए विष्कम्भक और प्रवेशक इन दोनों अर्थोपक्षेपों का अवलम्बन किया जाता है ॥२५॥

इस प्रकार 'एव' इस पक्षसे 'अज्ञानहंस्य' इत्यादि विष्कम्भकका सारा लक्षण यहाँ [प्रवेशकमें] सम्बद्ध होना है [अन्यधर्मस्थान्यत्रानिस्त्वद्भेदो प्रतिदेशः । अन्यधर्मका अन्यत्र सम्बन्ध दिखलाना 'प्रतिदेश' कहलाता है । विष्कम्भकके सारे अर्थोंका प्रवेशकके साथ सम्बन्ध प्रदर्शन रूप 'प्रतिदेश' विद्या गया है । उन दोनोंमें अन्तर देखन इतना है कि यह [प्रवेशक] केवल नीच और दूसरोंके कार्यमें लगे हुए अर्थानु मुख्य नायक आदिके कार्यमें लगन, न कि स्वयं अपने कार्यमें लगे हुए पात्रोंके द्वारा [प्रयुक्त होता है] जैसे—

जैसे कि स्वामिपुत्रोंने आता दी है [तदनुसार मैं धर्म्य कार्य कर रही हूँ] इत्यादि [नीच पात्र चेटो आदि द्वारा प्रयुक्त प्रवेशकका उदाहरण है] ।

इस प्रकार विष्कम्भकके प्रवेशकका एक भेद तो यह हुआ कि विष्कम्भकमें मध्यम पात्रोंका उपयोग भी होता है और नीच पात्रोंका भी प्रयोग हो सकता है । किन्तु प्रवेशक

नीचप्रयुक्तत्वादेव च ग्राम्यार्थप्रायेण प्राकृतेन, आदिशब्दात् शौरसेन्यादिना प्रवेशको भवति । अत्रत्यज्ञानार्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः । केचित् प्रवेशकं प्रथमांशस्यादौ नेच्छन्ति । एताविति विष्कम्भक-प्रवेशकौ । नाटकादिचतुष्टयं नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणम् । नाटकादौ हि परिमितोपायेन बहुषु मुख्यावान्तर-कार्येषु नृपादीनां क्तमहायानां चामात्यादीनां व्युत्पत्तिः क्रियते इति अत्रैव प्रभूतस्य-व्युत्पादको विष्कम्भक-प्रवेशको । न व्यायोगादिषु एकांकेषु सावदल्पवृत्तत्वेनाल्प-कार्यत्वात् । बहुकृतेष्वपि समवकारस्य परस्परसम्बद्धाङ्कत्वात्, अपरेष्वन्तु कतिपय-दिनवृत्तत्वादिति । अङ्कास्यादीनि तु स्वरूपसूच्यत्वेन यथासम्भवं रूपकान्तरेष्वपि भवन्ति ॥२५॥

मे निश्चित रूपसे नीच पात्रोंका ही प्रयोग होता है । इसीसे दूसरा भाषाविषयक भेद भी प्रा जाता है । विष्कम्भकमे संस्कृत भाषा मुख्य रहती है किन्तु प्रवेशकमे प्राकृतभाषाका ही प्रयोग होता है । इसी बातको ध्याने लिखते हैं—

नीच [माने] के द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण ही ग्राम्य [अशिक्षित] अर्थसे युक्त प्राकृतके द्वारा, आदि शब्दसे [उनमे भी] शौरसेनी आदिके द्वारा प्रवेशक [का प्रयोग] होता है । [आगे प्रवेशक शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अप्रत्यक्ष अर्थोंको सामाजिकोंके हृदयमे प्रविष्ट कराता है इसलिए 'प्रवेशक' [कहलाता] है । कुछ [नाट्याचार्य] लोग प्रथम अर्धके आदिमे इस [प्रवेशक] का प्रयोग नहीं मानते हैं । [यह विष्कम्भकसे इसका तीसरा भेद हुआ] । 'एतौ' अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशक । नाटकादि चारमे [रहते हैं] । इसमे नाटकादि चार से] १ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणी [इन चारका ग्रहण करना चाहिए] । नाटकादिमे [अर्ध रूप] परिमित साधनोंके द्वारा मुख्य तथा अग्रान्तर [गीत] बहुत-से कार्योंका परिज्ञान राजा और उसके सहायक मन्त्री आदिको कराना होता है इसलिए इनमे ही विस्तृत अग्रान्तर कार्योंका परिचय करानेके लिए ये विष्कम्भ और प्रवेशक [प्रयुक्त] होते हैं । 'व्यायोग' आदि एकाकी [रूपक] मे थोडा-सा ही अन्वयभाग होनेसे कम कार्य होनेके कारण [इन विष्कम्भक और प्रवेशकोंका प्रयोग] नहीं होता है । और अनेक अर्धों वालोंमे भी 'समवकार' के अर्धोंके परस्पर सम्बद्ध न होनेसे, तथा अन्वयेमे कुछ दिनका ही वृत्तान्त होने से [प्रवेशक] तथा विष्कम्भककी आवश्यकता नहीं होती है । यह अभिप्राय है । अकारण्यदि [शेष तीन अर्धोंपर्यन्त] तो अल्प वृत्तके सूचन करने योग्य होनेके कारण यथासम्भवं [आवश्यकानुसार] अल्प रूपको भी प्रयुक्त होते हैं ।

इस प्रकार इस सक्षणमे प्रवेशकके विष्कम्भक तथा अन्य अर्धोंपर्यन्तको जो भेद दिखलाए गए हैं वे मुख्य रूपसे निम्न प्रकार हैं —

१ विष्कम्भक मे मध्यमपात्र भी प्रयुक्त होते हैं इसलिए संस्कृत भाषाका भी आश्रय लिया जाता है । किन्तु प्रवेशकमे केवल नीचपात्र ही हान है इसलिए उगम केवल प्राकृत भाषाका ही उपयोग होता है ।

२ विष्कम्भका प्रयोग अङ्कके आदिमे भी प्रस्तावनाके बाद किया जा सकता है किन्तु प्रवेशकका प्रयोग प्रथम अर्धके नहीं होता है ।

३. मङ्गादय आदि अन्य अर्धोंपर्यन्तको प्रयोग नाटिकादिमे भी हो सकता है किन्तु

अथ अङ्कास्य-चूलिके लक्षयति—

[सूत्र २२]—अङ्कास्यमन्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम् ।

वस्तुनः सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ॥२६॥

अन्तपात्रेणेति पूर्वस्याङ्कभ्यान्ते स्त्री-पुंसान्धतरेण पात्रेण । छिन्नस्य अमम्बद्धस्य उत्तराङ्कमुरास्य योजनमुपक्षेपो यस्तत् 'अङ्कास्यम्' अङ्कमुद्रम् । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—

"प्रविश्य सुमन्त्र—भगवन्तो वसिष्ठ-विश्वामित्रौ भवतः सभागवान् आह्वयेते इति ।

इतरे तु—एव भगवन्तो ?

सुमन्त्र—महाराजदशरथस्यान्तिधे ।

इतरे—तदनुरोधात् तत्रैव गच्छाम ।

इत्यङ्कममाप्तौ—ततः प्रविशन्ति वसिष्ठ-विश्वामित्र शतानन्द-जनक-परशुरामाः ।"

इत्यत्र पूर्वाङ्कान्ते एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्द-जनकस्यार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनान् अङ्कास्यमिति ।

विष्कम्भज श्रीर प्रवेताकृपा प्रयोग एकाकी व्यायोगादि श्रीर परस्परसम्बद्ध अङ्को जाने सम्-  
कार तथा प्रत्यवृत्त वाले अन्य रूपकभेदोमे नहीं किया जाता है ।

अथ आगे 'अङ्कास्य' तथा 'चूलिका' दोनोंका संक्षेप [एक ही कारिकामे] करते हैं—

[सूत्र २२]—[अङ्कके अन्तमे ही प्रविष्ट होने वाले] अन्तिम पात्रके द्वारा [पूर्व अङ्कके असम्बद्ध] विच्छिन्न [अगले उत्तरवर्ती] अङ्कके आरम्भका सम्बन्ध जोड़नेसे 'अङ्कास्य' नामक अर्थाप-  
क्षेप होता है] श्रीर नेपथ्य स्थित पात्रोंके द्वारा वस्तुकी सूचना 'चूलिका' [पहलाती] है । २६।

अन्तिम पात्रके द्वारा अर्थात् पूर्व अङ्कके अन्तमे [प्रविष्ट होने वाले] स्त्री या पुंथप किसी भी पात्रके द्वारा छिन्न अर्थात् [पूर्व अङ्कके साथ] असम्बद्ध अगले अङ्कके आरम्भ [मुख] की जो योजना अर्थात् उपलक्ष [बीजारोपण] करना वह 'अङ्कास्य' अर्थात् 'अङ्कमुख' [कहलाता] है । जैसे महावीर चरितके द्वितीय अङ्कके अन्तमे—

"प्रविष्ट होकर सुमन्त्र [कहते हैं कि]—महापि वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, भार्गव [परशुराम] सहित आप दोनों [शतानन्द और जनक] को बुला रहे हैं ।

अन्य दोनों—[जनक और शतानन्द] वे दोनों कहां हैं [यह पूछते हैं] ?

सुमन्त्र—[उत्तर देते हैं]—महाराज दशरथके समीप हैं ।

अन्य दोनों—उनकी इच्छाके अनुसार हम सब वहीं जाते हैं ।

यह अङ्ककी [द्वितीय] समाप्तिमे [आया है] । उसके बाद [अगले अङ्कके आरम्भमें] वसिष्ठ विश्वामित्र शतानन्द जनक और परशुराम प्रविष्ट होते हैं ।"

इस उदाहरणमे पूर्ववर्ती द्वितीय अङ्कके अन्तमे ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र पात्रने शतानन्द और जनकके वार्तालाप रूप अर्थको विच्छिन्न करके [अगले तृतीय अङ्कमे वसिष्ठ विश्वामित्र आदिके साथ होने वाले जनक शतानन्दके वार्तालाप रूप] अङ्कके आरम्भकी सूचना दी है [इसलिए यह अङ्कास्यका उदाहरण है] ।

‘वस्तुन’ इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेपः । ‘पात्रैः’ स्त्री-पुंसैः । ‘नेपथ्य-संस्थितैः’ यवनिकान्तरदेशस्थार्थभिः । सा चूडेव चूलिका । रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिष्टारूपत्वात् । यथा ‘उत्तररामचरिते’ द्वितीयाङ्कस्यादौ—

“स्वागतं तपोधनायाः । ततः प्रविशति तपोधना ।”

अत्र नेपथ्यपात्रेण स्त्रिया वामन्तिकया आत्रेयीवस्तुनः सूचनात् चूलिका ।

यथा वा ‘नलविलासे’ द्वितीयाङ्कस्यादौ—

“स्वागतं सपरिच्छदाय कलहंसाय । ततः प्रविशति कलहंसो मकरिकाप्रभृति-  
कुरच परिवारः ।”

अत्र नेपथ्यपात्रेण पुंसा शेषरेण कलहंसादिवस्तुनः सूचनात् चूलैति ।

यथा वा रत्नावल्यां—

“अस्तापास्तसमस्तमासि नभसः पारं प्रयाते रथी

आस्थानी समये समं नृपजनः सायन्तमे सम्पतन् ।

सम्प्रत्येप मरोरुह्युतिमुपः पादांस्तवासेवितुं

प्रीत्युरूपकृतो दशामुदयनस्थेन्दोरिवोदीक्षते ॥”

यद् ‘अङ्काद्य’ का उदाहरण दिया है इसमें ‘छिन्नाङ्क’ पद विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । इसी पदके द्वारा अङ्कास्य और अङ्कावतारका भेद होगा है । अङ्कास्यमे प्रगल्भा अङ्क पूर्वं अङ्कमे प्रसम्बद्ध रूपमे प्रारम्भ होता है और अङ्कावतारमे पूर्वं अङ्कके अग २१मे ही नया अङ्क प्रारम्भ होता है । यहा इन दोनोंका भेद है ।

‘वस्तुन’ अर्थात् किसी अर्थका ‘सूचन’ अर्थात् उपक्षेप करना । ‘पात्रैः’ अर्थात् स्त्री-पुंसोके द्वारा । ‘नेपथ्यसंस्थितैः’ अर्थात् यवनिकाके भीतर स्थित । ‘चूडा’ अर्थात् शिखाके समान होनेसे ‘चूलिका’ है । क्योंकि नेपथ्यकी उक्ति रङ्गमे अभिनय किए जानेवाले अर्थकी शिखाके समान होती है । जैसे उत्तररामचरितके द्वितीय अङ्कके आदिमे—

[नेपथ्यमे] तपोधनाका स्वागत है ।” इसके बाद तपोधना प्रवेश करती है ।”

इसमे नेपथ्यमे स्थित वास्तविकका रूप स्त्रीपात्रके द्वारा आत्रेयी रूप वस्तुके सूचित होनेसे यह ‘चूलिका’ [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे नलविलासके द्वितीय अङ्कके आदिमें [भी चूलिका दी गई है]—“तपरि-  
वार कलहसका स्वागत है । इसके बाद कलहस और मकरिका आदि परिवार प्रविष्ट होता है ।”

इसमे नेपथ्यवर्ती ‘शेखर’ नामक पुद्गलपात्रके द्वारा कलहसादि वस्तुके सूचित होनेसे ‘चूलिका’ है ।

अथवा जैसे रत्नावलीमे—[प्रथम अङ्कमें]—

‘अपनी समस्त प्रभावी अस्तावतपर विलेखर, सुवर्णके आकाशके पार धले जानेपर, सायकालके समय सभा-भण्डयमे एक साथ प्रविष्ट होते हुए सारे राजा कमलोंकी वास्तिका हरण करने वाले [अर्थात् कमलोंके समान सुन्दर] और अत्यन्तमानन्द [प्रीत्युत्पन्न] को प्रदान करने वाले [चन्द्रमाकी किरणोंके समान कमल-शोभापहारी और आह्लादकारक] सतत उदयशील चन्द्रमाके पदोंके समान चाप उदयन’ के [पादोंकी] किरणोंकी सेवा [उपासना] करनेके लिए देख रहे हैं ।



इति नेपथ्यपात्रेण चन्दिना काननस्थस्योदयनवस्तुनः सागरिकां प्रति सूचनात्  
चूलिका ॥२६॥

अथाङ्गावतारं लक्षयितुमाह—

[सूत्र २३]—मोऽङ्गावतारो यत् पात्रैरङ्गान्तरमसूचनम् ।

पात्रान्तराभावेन यथैवाङ्गस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थाभावात्  
प्रवेशरु-विष्कम्भरु सूचनारहितमङ्गान्तरं भवति, ॥ द्वितीयाङ्गस्यावतारणादङ्गाव-  
तारः । यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमेऽङ्के—

“विदूषः—तेन हि तुवे वि देवीण पेक्त्वागिहं गइय मंगीदोषकरणं गहिष  
तत्तभवदो दूदं विसज्जेय । अथवा मुदंगमहो ज्येय ए उत्थावइम्मदि ।

[तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागृहं गत्वा सङ्गीतोपकरणं गृहीत्वा तत्रभवन्तो  
दूतं विसर्जयेताम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव तमुत्थापयिष्यति इति । संस्कृतम् ।”

इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणानन्तरं तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयाङ्कमार-  
भन्ते इति ।

अन्ये तु यत्राङ्के अन्याङ्कानां बीजलक्षणोऽर्थोऽवतार्यते तमङ्गावतारमाभ-  
नन्ति । यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्कः । तत्र हि—

यहां नेपथ्यवर्ती चारण रूप पात्रके द्वारा सागरिकाके प्रति उद्घातनमें स्थित उदयन रूप  
वस्तुके सूचनसे चूलिका [बनती] है ।

इस प्रकार इस एक ही चारिकामे अन्यकारने ‘अङ्कुमुख’ और ‘चूलिका’ इन दो  
अर्थोपलक्षकोके लक्षण सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किए हैं ॥ २६॥

अङ्गावतारका लक्षण—

अब [अन्यकार] अङ्गावतारका लक्षण करनेकेलिए कहते हैं—

[सूत्र २३]—जो [पुन्य अङ्कके] पात्रोंके द्वारा [अन्य बिन्हीं पात्रोंके आगमनकी  
विरुद्धभाक् आदि अर्थोपलक्षकोके माध्यमसे] सूचना दिए बिना [पूर्व अङ्कके पात्रोंके ही] दूसरे  
अङ्कका आरम्भ होता है उसको ‘अङ्गावतार’ कहते हैं ।

[मवीन अङ्कमे जानेवाले नए] दूसरे पात्रोंके न होनेके कारण और सूचनीय अर्थका  
अभाव होनेसे प्रवेशक, विरुद्धभाक् आदिके बिना ही जिस [पूर्ववर्ती] अङ्कके पात्रोंके द्वारा  
अविच्छिन्न रूपसे नए अङ्कका आरम्भ किया जाता है वह द्वितीय अङ्कका अवतारण कराते  
वाला होनेसे ‘अङ्गावतार’ कहालाता है । जैसे मालविकाग्निमित्र [नाटक] के प्रथम अङ्क [के  
अन्त] में [निम्न पावय आता है]—

“विदूषक—इसलिए आप दोनों देवीकी रङ्गशालामे जाकर और सङ्गीतके साजकी  
संभालकर [यहां हम लोगके पास] दूत भेज दीजिएवा । अथवा [दूत भेजनेकी आवश्यकता  
नहीं होगी क्योंकि आपके] मृदङ्गका शब्द ही हम सबको उठा [कर सङ्गीत सुननेकेलिए आपके  
पास पहुँचा] देगा ।”

[प्रथम अङ्कके अन्तमे] इस प्रकारका उपक्रम करके मृदङ्ग शब्दके श्रवणके बाद वे ही  
सब पात्र द्वितीय अङ्कका आरम्भ करते हैं ।

दूसरे आचार्य तो जिस अङ्कमे अन्य [सब] अङ्कोंके बीजभूत अर्थकी अवतारणा की

“ईदिसस कन्नगारयणस्म ईदिये य्येव वरे अहिलासेण भोदब्धं ।

[ईदशम्य कन्नारत्नस्येदृश एव वरेऽभिलाषेण भवितव्यम् । इति संस्कृतम्]”

इत्यादिकोऽनुरागलक्षणं सर्वाङ्गानामर्थ इति । अथ च गर्भाङ्गोऽप्युच्यते ।

यदाहु —

“अङ्कान्तरेव चाङ्गो निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।

वीजार्थयुक्तियुक्तो गर्भाङ्गो नाम विज्ञेय ॥” इति

अथ विष्कम्भकादीनां विषय-व्यवस्थामाह—

[सूत्र २४]—आद्यौ सूच्ये बहान्ये क्रमादल्पे तरे तमे ॥ २७ ॥

तर-तम-प्रत्ययौ नान्तरीयकतया सन्निधानाच्चाल्पशब्द प्रकृतिमाकर्षत, तेनारूपतरे अल्पतमे इत्यर्थः । छन्दोऽनुरोधाच्च प्रत्ययानुकरणनिर्देशः । ‘अन्ये’ अङ्कारय-चूलिका-अङ्गावतारः । क्रमादिति लक्षणक्रमेण । ‘बहौ’, बहुवचने च सूच्ये आद्यौ विष्कम्भक प्रवेशकौ । ‘अल्पे’ अल्पकाले चाङ्गास्यम, अल्पतरे अल्पतरकाले च चूलिका, अल्पतमे अल्पतमकाले चाङ्गावतार इति ॥ २७ ॥

जाती है उसको ‘अङ्गावतार’ मानते हैं । जैसे रत्नावलीमें दूसरा अङ्क [इनके मतसे अङ्गावतार का उदाहरण धनता है] । क्योंकि उसमें—

“इस प्रकारके कन्नारत्नका इस प्रकारके वरमे ही अभिलाष होना चाहिए” ।

इत्यादिसे सब अङ्गोंका [योजभूत] अनुराग रूप अर्थ [प्रदर्शित किया गया है] इस लिए [यह द्वितीयाङ्क ही अङ्गावतार माना जाता है] । इसीको [यें लोग] गर्भाङ्ग भी कहते हैं । जैसाकि [गर्भाङ्गका लक्षण करते हुए] लिखा है कि—

‘जहाँ प्रयोग [के अवसर] की प्राप्ति करके अङ्गोंमें भीतर ही वीजार्थ और युक्ति सहित नवीन अङ्क [उससे अविच्छिन्न रूपसे] आरम्भ हो जाता है उसको ‘गर्भाङ्ग’ नामसे समझना चाहिए ।

विष्कम्भकादिनी विषय-व्यवस्था—

विषयी कारिकाप्रोक्त विष्कम्भक, प्रवचन आदि पाँच प्रकारके अर्थोपदेशोंका वर्णन किया था उनके विषयका उपसंहार करते हुए २७ वीं कारिकाके उत्तराद्विभागमें इनका प्रयोग कर बंद करना चाहिए इस विषयव्यवस्थाका निरूपण करते हुए अन्वयकार लिखते हैं—

अथ विष्कम्भक आदिकी विषय-व्यवस्थाको कहते हैं—

[सूत्र २४]—बहुत और यहकाल-व्यापी [अर्थों] सूचनीय होनेपर आदिके दो [अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशक] प्रयोग करना चाहिए और अल्प, अल्पतर एवं अल्पतम [अर्थों] सूचनीय होने पर क्रमसे [अङ्गास्य, चूलिका और अङ्गावतार रूप] अथ [अर्थोपदेशोंका प्रयोग करना चाहिए] । २७ ।

[कारिकामें दिए हुए] तर, तम दोनों प्रत्यय [अङ्गोंके बिना न रह सकनेके कारण] अधिनाभूत होनेसे और सन्निहित होनेसे कारण ‘अल्प’ शब्दको अङ्गति रूपमें आरपित कर लेते हैं । इसलिए अल्पतर और अल्पतम यह अर्थ हो जाता है । [यूक्त कारिकामें] दादरे अनुरोध के कारण [अल्पतर अल्पतम न कहकर केवल तर तम द्वारा] प्रत्ययके अनुसरणका निर्देश किया गया है । [कारिकामें आए हुए] ‘अथ’ [पर] हैं अङ्गास्य, चूलिका और अङ्गा-

अथ अङ्गानन्तरोद्दिष्टमुपायं व्याचष्टे—

[सूत्र २५]—बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।

फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥

उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां स्वरूपपरिज्ञानासम्भव इति उपायस्वरूपं व्युत्पाद्यते । 'यथारुचि' इति नैपार्मादेशिको नियन्धक्रम, सर्वेषामवश्यम्भावित्वं वा । 'फलस्य' मुख्यसाध्यस्य 'हेतवः' उपायाः । इह हेतुद्विधा अचेतनश्चेतनश्च । अचेतनोऽपि मुरयामुख्यभेदाद् द्विधा । मुख्यो बीजम्, तन्मूल-त्वादितरेषाम् । अमुख्यस्तु कार्यम् । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च । मुख्यो

वतार [का प्रहण होता है] । 'कमात्' इस वक्ते लक्षणके क्रमसे [अङ्कास्य वृत्तिका अङ्कावतारका प्रहण करना चाहिए । स्वेच्छया नहीं यह अभिप्राय है] । बहुत तथा बहुकाल व्यापी [अर्थके] सूचनीय होनेपर आदिके दो अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेक्षक [प्रयुक्त होते हैं] । अल्प और अल्पकालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कास्य, [उससे भी कम] अल्पतर और अल्पतर-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर वृत्तिका, तथा [उससे भी कम] अल्पतम और अल्पतम-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कावतार [का प्रयोग किया जाना चाहिए] यह अभिप्राय है । २७ ॥

इस प्रकार इस कारिकाकी समाप्तिके साथ पाँचो अर्थोपलक्षकोका विषय-विवेचन समाप्त हो जाता है । पाँचवीं कारिकामे नाटकका जो लक्षण किया गया था उसकी ही व्याख्या आगे चल रही है । इसमें 'अङ्क' पद आया था उसकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इन विष्कम्भक आदि अर्थोपलक्षकोका निरूपण किया गया । उसके द्वारा नाटकके लक्षणमें आए हुए 'अङ्क' पदकी व्याख्या पूर्ण हो जाती है । नाटक-लक्षण वाली कारिकामे 'अङ्क' पदके बाद 'उपाय' पदका प्रयोग किया गया है । अतएव अङ्क पदकी व्याख्याके बाद 'उपाय' पदकी व्याख्या क्रम-प्राप्त है । इस लिए अगली कारिकामे 'उपाय' पदकी व्याख्या आरम्भ करते हैं ।

इस कारिकामे पाँच प्रकारके उपाय बतलाए गए हैं । परन्तु पहिले उनके चेतन और अचेतन दो भेद किए हैं । उनमेंसे अचेतन उपायोके भी मुख्य तथा अमुख्य दो भेद किए हैं । फिर चेतन उपायोके भी मुख्य तथा उपकरणभूत दो भेद करके उनमेंसे उपकरणभूतके भी दो भेद कर दिए हैं । इस प्रकार उपायोकी संख्या पाँच हो जाती है । इन पाँचों उपायों का वर्णन इस कारिकामे निम्न प्रकारसे किया है—

अथ [नाटक-लक्षणमें] अङ्कके बाद कहे हुए 'उपाय' [पद] की व्याख्या [आरम्भ] करते हैं—

[सूत्र २६]—१. बीज, २ पताका, ३. प्रकरी, ४. बिन्दु और ५. कार्य [पताका प्रकरी और बिन्दु ये तीन चेतन तथा बीज एवं कार्यको दो अचेतन इस प्रकार] ये चेतन और अचेतनात्मक फलके हेतु पाँच [उपाय कहलाते] हैं [उनका] अपनी कल्पिते अनुसार [प्रयुक्त] करे । २८ ॥

उपायोंके स्वरूपको जाने बिना उनके सम्बन्धमें आरम्भादिके स्वरूपका परिज्ञान भी असम्भव है, इस लिए 'उपायोंके स्वरूपका परिचय करवाया जा रहा है । [कारिकामे आगे

विन्दु, कार्यानुमन्धानरूपत्वात् । उपकरणभूतो द्विधा । (१) स्वार्थसिद्धियुतः परार्थ-  
सिद्धिपर, (२) परार्थसिद्धिपररश्च । पूर्वः पताका, अन्य-प्रकरीति । अत्र चाचेतन-  
चेतनानां मध्ये बीजविन्दोर्मुक्तत्वम्, सर्वव्यापित्वादिति ॥२८॥

अथ बीजमाह—

[सूत्र २६]—स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात् ।

आदौ गभीरत्वादल्पानित्तिप्तो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुर्मुख्यसाधो-  
पायः, स धान्यबीजवद् 'बीजम्' । 'प्ररोहणात्' उत्तरत्र शाखोपशाखादिभिविस्तर-  
णात् । इदं च आमुपानन्तरं निबध्यते । बीजं हि नाटकादीनामिष्टतार्थस्योपाय ।  
आमुप तु रूपप्रस्तावनार्थं नटस्यैव वृत्तम् । या. पुनरत्र नाटकार्थस्युक्तो नटोक्त-  
यस्ताः प्रयोगपाननिकार्थमेव । अत एव आमुपेक्षया अपि बीजोक्तयः प्रविष्ट-  
नाटकपात्रेण पुनरुच्यन्ते । तथा च रत्नावल्याम्—

दृष्टे 'यथावच्च' इति [पद] से [यह सूचित किया है कि] कि औद्देशिक [अर्थात् जिस क्रमसे  
उनको यहाँ पढ़ा गया है उसी] क्रमसे [नाटकमे] उनका प्रयोग-क्रम [अपेक्षित] नहीं है ।  
और न सब [पात्रों उपायों] का अपरिहार्यत्व [अपेक्षित] है । [अर्थात् कवि या नाटककार  
अपनी आदश्यकता और इच्छाके अनुसार उनमेसे किन्हींका और किसी भी क्रमसे उपयोग  
कर सकता है] । 'फल' अर्थात् [नाटकके] मुख्य साध्यके 'हेतु' उपाय [बहलाते] हैं । ये हेतु  
[उपाय] दो प्रकारके होते हैं । एक 'अचेतन' और दूसरे 'चेतन' । [उनमेसे] अचेतन [हेतु]  
भी मुख्य तथा अमुख्य भेदसे दो प्रकारका होता है । मुख्य [अचेतन हेतु] 'बीज' [बहलाता]  
है । क्योंकि अन्य सब उसके आश्रित होते हैं । अमुख्य [अचेतन हेतु] 'कार्य' बहलाता है ।  
चेतन [हेतु] भी मुख्य और उपकरणभूत दो प्रकारका होता है । मुख्य [चेतन हेतु] कार्या-  
नुसंगान रूप होनेसे 'विन्दु' [बहलाता] है । उपकरणभूत [चेतन हेतु] भी दो प्रकारका होता  
है । एक स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर, और दूसरा [अचेतन] परार्थसिद्धिमे  
तत्पर । [इनमेसे] पहिला [अर्थात् स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर चेतन साधन]  
'पताका' । और [केवल परार्थसिद्धिपर] दूसरा [चेतन साधन] 'प्रकरी' बहलाना है । इनमे  
से [भी] अचेतन तथा चेतन [साधनों और उपायों] मेसे [क्रमशः] बीज और विन्दु [नाटक  
की आह्वान-यस्तुमे] सर्वत्र व्यापक होनेसे मुख्यता है ॥२८॥

अथ आदौ [उपारम्भमेसे हाथप्रारम्भ] 'बीज' को कहते हैं—

[सूत्र २६]—[आरम्भमे] सूक्ष्मरूपमे बहला गया और [अन्तमे] फल रूपमे पर्यवसित  
होनेवाला [मुख्य अचेतन] हेतु [वृक्षके बीजके समान शाखा आदि रूपमे] विस्तृत हो जानेसे  
'बीज' [बहलाता] है ।

[नाटकके] आरम्भमे, [गम्भीर] दुर्गम होनेसे सूक्ष्म रूपमे बोधा और मुख्य रूपमे  
समाप्त होनेवाला जो हेतु, मुख्य-साध्यका उपाय है वह धान्यके बीजके समान होनेसे 'बीज'  
[बहलाता] है । [कारिकामे आए हुए] 'प्ररोहणात्' [पदका अभिप्राय] 'शाखा-प्रशाखा रूपमे  
पल्लवित होनेसे' यह है । [नाटककी रचनामे] आमुप [प्रस्तावना] के बाद इस [बीज] को  
निबद्ध किया जाता है । बीज नाटकके इतिवृत्त [आह्वान-वातु] का उपाय [होना] है ।  
[विन्दु] आमुप तो रूपरचने प्रयुक्त करनेकेलिए नटका ही व्यापार [वृत्त] है । [अर्थात्

“द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

‘पानीयं स्फटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥”

इत्याद्यामुद्योक्तं योगन्धरायणः पठति ।

आमुख-भागका नाटककी मुख्य आख्यान-वस्तु या इतिवृत्त कथा आदिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है] । इस [आमुख] में जो नाटकके मुख्य कथा-भाग [अर्थ] को स्पष्ट करनेवाली मटोंकी उक्तियाँ होती हैं वे प्रयोगकी अवतरणिकाकेलिए ही होती हैं [मुख्य नाटकका भङ्ग नहीं होती है] । इसी लिए आमुखमें कही हुई बीजभूत उक्तियोको [आमुखके बाद] प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र फिरसे दुहराता है । इसीलिए रत्नावलीमें—

“अनुकूलताको प्राप्त हुआ [अभिमुखीभूत] देव, अन्य द्वीपसे, सागरके बीचसे और दिशाओंके छोरसे भी अपने अभीष्ट अर्थको लाकर मिला देता है ।”

आमुखमें कहे हुए [नाटकके कथाभागको स्पष्ट करनेवाले] इस [श्लोक] को [आमुख के बाद प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र] योगन्धरायण फिर पढ़ता है ।

रत्नावलीके आमुखमें नटीने नटसे यह कहा था कि मेरी एक ही लड़की है तुमने बड़े दूर देशमें उसका सम्बन्ध पक्का कर दिया है । पता नहीं इतनी दूरसे आकर वह कब मेरी लड़कीका पाणिप्रक्षालन करेगा । मैं तो इसी चिन्तामें मरी जा रही हूँ । इसलिए मेरा मन गाने-वानेको नहीं करता है । इसके उत्तरमें नटने इस श्लोकको कहा है । उसका नाव यह है कि तुम चिन्ता क्यों करती हो । भगवान्‌के अनुकूल होनेपर वे तो दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओंके छोरसे भी अभिमत अर्थोंको लाकर मिला देते हैं । तब यह कार्य भी पूर्ण होगा ही । क्योंकि मैंने भी तो भगवान्‌की प्रेरणासे ही यह सम्बन्ध पक्का किया है ।

इस प्रकार यह श्लोक मुख्य रूपसे नटीकी चिन्ताकी निवृत्तिकेलिए नटके द्वारा कहा गया है । किन्तु वह प्रकृत नाटककी कथावस्तुको स्पर्श कर रहा है । इस नाटककी नायिका रत्नावली सिंहलेश्वरकी पुत्री है । किसी ज्योतिषीने इस नाटकके नायक राजा उदयन और उनके मन्त्री योगन्धरायणको बतलाया था कि सिंहलेश्वरकी पुत्री इस रत्नावलीके साथ जिसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती साम्राज्यको प्राप्त करेगा । इस लिए उदयनकी ओरसे योगन्धरायणने रत्नावलीका विवाह उदयनके साथ कर देनेका प्रस्ताव उसके पिताके सामने रखा । किन्तु उस समय उदयनकी रानी वासवदत्ता विद्यमान थी जो दूरके सम्बन्धमें रत्नावलीकी बहिन लगती थी । सिंहलेश्वरने यह सोचकर कि इस विवाहमें रत्नावलीकी बहिन वासवदत्ताको भेदा होगा—उस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया । कुछ समय बाद योगन्धरायणने वासवदत्ताके घर जानेका समाचार फँसा देनेके बाद वहीं प्रस्ताव फिर सिंहलेश्वरके सामने रखा । इस बार वे सम्बन्ध करनेके लिए तैयार हो गए । उस प्रसङ्गमें रत्नावली सिंहलसे भारत आ रही थी । उसका जहाज डूब गया । वह जैसे-तैसे किसी बाण्ड के सहारे बचकर उधरसे आनेवाले व्यापारियोंके द्वारा योगन्धरायणको प्राप्त हुई । योगन्धरायणने उसे अपनी बहिन बतलाकर रक्षाके लिए राजमहलमें रानी वासवदत्ताके पास कुछ वित्तके लिए रख दिया । यह कन्या सागरसे प्राप्त हुई थी इसलिए इसका नाम भी योगन्धरायणने ‘सागरिका’ रख दिया था । कन्याको वासवदत्ताने अपने पास रख तो लिया किन्तु उसके अपूर्व रूप लावण्यको देखकर वह बड़ी सशङ्क हो गई कि कहीं राजाकी दृष्टि

यथा वा 'सत्यहरिश्चन्द्रे'—

“सत्त्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।

प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुनः प्राकृतो जनः ॥”

इत्यामुखोक्तं हरिश्चन्द्र पठति ।

यथा वा अस्मदुपज्ञ एव 'यादवाभ्युदये'—

उदयाभिमुख्यभाजा सम्पत्त्यर्थं विपत्तयः पुंसाम् ।

खलितानले प्रपातः कनकस्य हि तेजसो वृद्धयै ॥

इति नाटकपात्र गुप्तमन्त्र पठति ।

इस पर न पढ़ जाय । इस लिए वह खड़े यत्न पूर्वक राजा उदयनकी दृष्टिसे उसकी बचाए रखनेका यत्न करती थी । किन्तु राजमहलमें रहकर यह कब तक सम्भव था । आखिर राजा के कानों तक उसके रूप सावण्यकी खर्चा पहुँची ही । और फिर सब प्रकारके उपायोंका अवलम्बन करके राजाने उसका साक्षात्कार करने और अन्तमें उसके साथ विवाह करनेमें सफलता प्राप्त कर ही ली ।

इस क्रमसे अनुकूल देवने सिंहल नामक दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओं धोरसे रत्नावलीको लाकर उदयनके साथ सम्बन्ध कर ही दिया । इस प्रकार कामुलमें जो यह श्लोक केवल नटीकी सागवनाके लिए कहा गया था वह नाटककी मुख्य कथा वस्तुका स्पर्श कर रहा है । इसलिए कामुलकी समाप्तिके बाद जब नाटकके पात्रके रूपमें उदयनके मन्त्री योगन्धरायण शङ्खमञ्च पर प्रविष्ट होते हैं तो फिर वे इस श्लोकको दोहराते हैं । कामुलमें पड़ा हुआ यह श्लोक मुख्य कथाभागका स्पर्श करनेवाला होनेपर भी केवल नटीोक्तिमान था, नाटकका भाग नहीं । इसी लिए मुख्य नाटकसे सम्बन्ध करनेके लिए योगन्धरायणके द्वारा उसका पुनः पाठ दिलाया गया है । इसी प्रकारके और उदाहरण भी आगे देते हैं ।

प्रथवा जैसे 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] में—

केवल सत्य-प्रधान वृत्तियों वालों और प्रतिज्ञात अर्थको [निश्चित रूपसे] पूर्ण करने वालों [के मार्गमें बाधा डालने] के लिए देव भी समर्थ नहीं होता है फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या ।

कामुलमें कहे हुए इस [श्लोक] को [नाटकके पात्रके रूपमें प्रविष्ट हुआ] हरिश्चन्द्र [फिर दुबारा] पढ़ता है ।

प्रथवा जैसे हमारे ही बनाए हुए यादवाम्बुदय में—

उन्नतिकी और प्रगतिशील पुण्योंकी विपत्तियाँ भी उनके धन्युदय [सम्पत्ति] के लिए ही होती हैं । सोनेका प्रखलित अग्निमें पड़ना भी उसकी कान्तिकी बढ़ानेवाला होता है ।

[कामुलमें धाए हुए कथा स्पर्शों इस बीजभूत श्लोकको] गुप्तमन्त्र [नामका पात्र फिर] पढ़ता है ।

ये तीनों श्लोक उम-उम नाटकके कामुलमें किसी अन्य रूपमें बड़े गए हैं किन्तु उनके द्वारा मुख्य नाटकके आख्यान वस्तुकी बीज रूपमें सूचना मिलती है । सूत्रधार भी मुख्य नाटकके आख्यान वस्तुकी सहाय्य रूपमें सूचित करनेकी दृष्टिसे ही उन इनेयमय श्लोकोंका

तत्र यीर्जं क्वचिद् व्यापाररूपम् । यथा रत्नावलीयां वत्सराजस्य रत्नावली-  
प्राप्तिहेतुरनुकूलदेवः सागरिकान्तःपुरनिक्षेपादियौगन्धरायणव्यापारः ।

क्वचित्तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम् । यथा 'मायापुष्पके'  
शाप प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

कैकेयी क्व पतिव्रता भगवती क्वैवंविधं चाग्विषं  
धर्मात्मा क्व रघूद्वहं क्व गमितोऽरण्यं सजायानुजः ।  
क्व स्वच्छ्रो भरतः क्व वा पितृवधान्मात्राधिकं दहते  
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथे चण्ड्ये कुलस्य क्षयः ॥

प्रयोग करता है । परन्तु ग्रामुख भागमें प्रयुक्त इस प्रकारकी उत्तिमोकी बीज नहीं माना जाता है । ग्रामुखके बाद बीजका आरोपण होता है । इसी लिए ग्रामुखकी समाप्तिके बाद मुख्य नाटकका जो पान रङ्गमञ्चपर आता है उसके द्वारा इस प्रकारकी उत्तिमोकी पुन कहुलाकर नाटककार बीजका आरोपण करता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

यह बीज रूप उपाय, नाटकोके आश्वान-वस्तुके अनुसार विभिन्न रूपका होता है । नाटकका प्रवसान जिस रूपमें होना है उसीके अनुसार नाटकके आरम्भमें उसका बीज-  
रोपण किया जाता है । इस प्रकारके चार उदाहरण ग्रन्थकार प्रागे प्रस्तुत करते हैं । इनमें से पहिला उदाहरण रत्नावली नाटिकासे दिया गया है । रत्नावली नाटिकामें जैसाकि पहिले कहा जा चुका है सागरसे प्राप्त हुई रत्नावलीको यौगन्धरायणने सागरिका नामकी अपनी सहिन कहकर उदयनके राजमहलमें वासवदत्ताके पास रख दिया है । यही इसका बीज भाग है । इसीके द्वारा वत्सराज उदयनकी प्रागे वत्सकर रत्नावलीकी प्राप्ति हो रही है । यह बीज यौगन्धरायणका व्यापार-रूप है । इसी बातको ध्याये लिखते हैं—

और वह बीज जहाँ व्यापाररूप होता है । जैसे रत्नावली [नाटिकामें] वत्सराज [उदयन] को रत्नावलीकी प्राप्ति करानेवाला देवकी अनुकूलतासे युक्त सागरिकाका अन्त पुरमें [वासवदत्ताके समीप] रखने आदिका यौगन्धरायणका व्यापारः ।

इस प्रकार रत्नावलीमें यौगन्धरायणका व्यापार बीजभूत उपायके रूपमें प्रयुक्त हुआ है । इसमें रत्नावलीकी प्राप्ति नाटकका अन्तिम फल अभीष्ट है । इन लिए रत्नावली का अन्त पुरमें निक्षेप उक्तान् जगत् होनेसे 'बीज' है । जिस नाटिकामें किसी विपत्तिसे निवृत्ति आश्वान वस्तुका चरम फल अभीष्ट होता है उसमें उस विपत्तिका आरम्भ ही 'बीज' रूप उपायके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है । इसका उदाहरण प्रागे देते हैं ।

जहाँ, जहाँकि [नायकपर आनेवाली किसी] विपत्तिका निवारण ही [नाटकका मुख्य] फल है । उस नाटकमें विपत्तिका आरम्भ [बीज रूपमें प्रस्तुत किया जाता है] । जैसे 'माया-पुष्पक' [नाटक] में [धवलकुमारके] घरके बाद उसके घरके माता-पिता द्वारा दशरथको दिया हुआ शाप [मानव रूपमें] प्रविष्ट होकर वचनक्रमसे [नाटकके] आखी आश्वान-वस्तुको करता है—

जहाँ तो पतिव्रता भगवती कैंकेयी और जहाँ इस प्रकारका घालीका विष [उदयन], जहाँ धर्मात्मा रामचन्द्र और जहाँ उसको रानी और भाईके साथ वनको भेजा जाता, जहाँ रघुद्वज भरत और जहाँ पिताके घरके कारण मात्रासे भी अविश्व अपरिमित सम्पत्तियों

कवचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा 'तापसवत्सराजे' माणवकः—

“अमन्त्रो वि एवं मामिहा अप्पणो पट्टिकुलमायरतेण दढं आयासिनो !  
पथुदं च खेण कमणमिस्सेहि सह संपधारिय मामिभत्तोण मद्दिविहवस्स य  
अणुत्तवं” इत्यादि ।

[अमात्योऽप्येवं स्वामिना आत्मनः प्रतिकूलमाचरता दृढमायासितः ।  
प्रभुत चानेत कमण्वन्मित्रैः सह सम्प्रवार्य स्वामिभस्त्या मतिविभवस्य चानुरूपम् ।  
इति संस्कृतम्] ।

कवचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

“आः ए एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभूतुमिच्छति ।

नन्दकुलयालभुजगीं कोपानलवह्मलधुमलताम् ।

अद्यापि बध्यमानां बध्य को नृपछति शिर्षां मे ॥

इत्यादि नायक प्रतिनायक-अमात्याद्याभयेण विचित्ररूपो योजोपन्यास इति ।

[अथवा मातङ्गि द्वारा दुल्लकी] भोग रहा है । [शुक्र क्षापके द्वारा] केवल बशरथके ही बध्य होने पर भी मैंने यह सारे कुलका बिनाश क्यों कर डाला ।

कहाँ व्यसन तथा अम्युदय [अर्थात् पहले होनेवाले व्यसन या विपत्ति और उसके बाद प्राप्त होनेवाले अम्युदयका प्रदर्शन जिस नाटकको क्या वस्तुमें किया गया है उस प्रकार के नाटकमें] दोनोंका [धीज रूपमें] उपलब्ध [होता है] जैसे तापसवत्सराजचरितमें माणवक [प्रसिद्ध होकर कहता है कि]—

इस प्रकार स्वामीने [वत्सराज उदयनने] स्वयं अपने प्रतिकूल आचरण करने अमात्य को भी अराजक बट दिया । किन्तु उस [अमात्ययोगधरायण] ने स्वामिभक्ति और अपने बुद्धि-युक्तके अनुदय [इससे मन्त्री] समझानु मित्रके साथ विचार कर [कार्यका] आरम्भ कर दिया ।

वहाँ [आरम्भमें नायकके ऊपर] विपत्तिके घटने [की सम्भावना होने] पर उसकी निवृत्तिका उपक्रम [धीज रूपमें प्रारम्भ किया जाता है] जैसे मुद्राराक्षसमें चालुक्य [कहता है]—

मेरे मेरे रहते यह कौन चन्द्रगुप्तको मलपूर्वक अभिभूत करना चाहता है ।

यह कौन मृत्युका अभिलाषी [अथवा क] नन्दकुल [का बिनाश करनेवाली, उस] की काली नागिन रूप और [मेरे] प्रचण्ड कोपानलकी नीसी धूमरेला रूप मेरी शिवाकी आज [मन्दकुलका आश हो जानेपर] भी घंघने नहीं देना चाहता है ।

इत्यादि । [इस प्रकार] नायक-प्रतिनायक अमात्य आदिके आशयसे [नाटकके] धीजका आरोपण नाना प्रकारसे किया जा सकता है ।

मुद्राराक्षसमें राक्षस और मलयकेतु मिलकर चन्द्रगुप्तको राज्यभुक्त करनेकी योजना बना रहे हैं । नन्दकुलका बिनाश कर चाणक्यन ही चन्द्रगुप्तको राजा बनाया है । इसलिए जब उसे यह मालूम होता है कि मलयकेतुके साथ मिलकर नन्दकुलका गुराना मन्त्री राक्षस चन्द्रगुप्तको राज्यभुक्त करना चाहता है तब उसने यह दलील कहा है । मही दलील मुद्राराक्षस नाटकका बोधभूत है । इसीसे आत्मा प्रजाप्राप्तके रूपमें आश कदाभागमें चाणक्य तथा राक्षस दोनोंके प्रयत्नोंका परिचय मिलता है । उसका परिणाम अन्तमें राक्षसका चालुक्यको आत्म-समर्पण होता है ।



### पताका-निरूपण—

इस कारिकाके पूर्वार्द्ध-भागमें बीजरूप प्रथम उपायका वर्णन किया गया है। अथ उत्तरार्द्ध-भागमें पताका रूप दूसरे उपायका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाँच उपायोको चेतन तथा अचेतन भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया गया है। पाँचों साधनोंमेंसे बीज तथा कार्यरूप रूप दो उपायोको अचेतन साधनोंमें और शेष पताका प्रकारों तथा बिन्दु रूप तीन उपायोको चेतन साधनोंमें गिना जाता है। पिछले प्रकरणमें 'बीज' रूप अचेतन साधनका वर्णन किया था इस लिए सामान्यतः उसके बाद दूसरे अचेतन साधन 'कार्य'का वर्णन करना चाहिए था। किन्तु मूल कारिकामें 'बीज' के बाद पताका का नामत कथन या उद्देश्य किया गया है। इसलिए उद्देश्य क्रमसे ही उनके लक्षण करना उचित मानकर 'बीज' के बाद 'पताका' का लक्षण किया गया है—पाँचों उपायोका नामत कथन या उद्देश्य करनेवाली कारिकामें जो बीजके बाद पताकाका नाम रखा गया है वह कदाचित् छन्दो गुरोवसे ही रखा गया है।

पताका शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ध्वजा है। परन्तु यहाँ वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। ध्वजा रूप पताका अचेतन पदार्थ है। यहाँ पताका शब्दसे चेतन अर्थका ग्रहण किया गया है। इस लिए पताका शब्दका मुख्य प्रसिद्ध अर्थ यहाँ सङ्गत नहीं होता है। यहाँ नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायता देनेवासे किसी चेतन व्यक्तिके लिए 'पताका' शब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे रामचन्द्र, के चरित्रमें सीतानयन आदि रूप कार्यकी सिद्धिमें उनके सहायक सुग्रीव रहे हैं इस लिए वे 'पताका' या 'पताका-नायक' कहलाते हैं। पताका जिस प्रकार प्रसिद्धि तथा प्राशस्त्रकी सूचिका होती है। इसी प्रकार पताका-नायक भी प्रधान-नायककी प्रतिष्ठि तथा प्राशस्त्र आदिका सूचक होता है। इस लिए पताका के सदृश होनेसे उसको भी 'पताका' या 'पताका-नायक' कहा जाता है।

### पताका और प्रकरी—

'पताका'के साथ ही दूसरा शब्द 'प्रकरी' भी इन पाँचों उपायोकी वर्णनामें प्रयुक्त किया गया है। ये दोनों प्रधान नायककी कार्यसिद्धिमें उसके प्रधान सहायक होते हैं। इन दोनोंमें परस्पर यह अन्तर होता है कि 'पताका-नायक'का अपना भी कुछ स्वार्थ होता है। और 'प्रकरी'का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है। 'पताका-नायक' अपने स्वार्थकी सिद्धिके साथ-साथ प्रधान-नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। किन्तु 'प्रकरी' अपने किसी स्वार्थकी अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष भावसे प्रधान-नायकका सहायक होता है। 'रामचरित'में सुग्रीव 'पताका-नायक' है और जटायु 'प्रकरी' का उदाहरण है। सुग्रीव वालिसे अपने राज्य और अपनी पत्नीको वापिस दिलानेके स्वार्थको सिद्ध कर रामका सहायक बना है। और जटायु निरपेक्ष भावसे रामकी सहायता करता है। इस लिए स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके कारण सुग्रीव 'पताका-नायक' और केवल परार्थसिद्धि-पर होनेके कारण जटायु 'प्रकरी नायक' है। इसी अभिप्रायको लेकर आगे अथकार 'पताका' और 'प्रकरी' के लक्षण देते हैं। उनमेंसे भी पहिले वे पताकाका लक्षण करते हैं।

### पताका और प्रकरी का दूसरा भेद—

पताका और प्रकरीका एक भेद तो यह हुआ कि पताका नायकने साथ स्वार्थका

सम्बन्ध भी रहता है और प्रकरीके साथ स्वार्थसिद्धिका कोई प्रश्न नहीं रहता है । इनका दूसरा भेद दोनोंके चरित्रकी व्यापकताकी दृष्टिसे है । 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी और सीमित होता है । 'पताका-नायकका चरित्र उसकी अपेक्षा पर्याप्त बड़ा और अधिक देश-व्यापी होता है । पताकाका लक्षण करते हुए जो 'आ विमर्शात्' पद दिया गया है उससे पताका-नायकके चरित्रकी व्यापकता ही प्रदर्शित की गई है । नाटकके कथाभागकी पाँच भागोंमें बाँटकर उसमें पाँच प्रकारकी सन्धियोंका प्रयोग करनेका विधान किया गया है । इन सन्धियोंके नाम—१. मुख-सन्धि, २. प्रतिमुख सन्धि, ३. गर्भ सन्धि, ४. विमर्श-सन्धि और ५. निर्वहण-सन्धि रखे गए हैं । इनमें पताका-नायकका चरित्र मुख सन्धिसे प्रारम्भ होकर 'आ विमर्शात्' विमर्श सन्धितक ध्यात हो सकता है । 'आ विमर्शात्' पदमें आए हुए माङ्-उपसर्गके भी दो अर्थ हैं । एक 'मर्यादा' और दूसरा 'अभिविधि' । 'तेन विना मर्यादा' और 'तत्सहितो अभिविधि' । आ-विमर्शात् पदमें यदि माङ्-उपसर्गको मर्यादापरक मानें तो 'तेन विना' अर्थात् विमर्श सन्धिको छोड़कर अर्थात् गर्भ सन्धि पर्यन्त पताका नायक के चरित्रका क्षेत्र रहता है । और यदि माङ् उपसर्गको 'अभिविधि' अर्थमें मानते हैं तो 'तेन सह अभिविधि' इस लक्षणके अनुसार 'आविमर्शात्' पदमें विमर्श-सन्धिको भी सम्मिलित करने मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्श इन चारों सन्धियोंमें पताका नायकका चरित्र व्यापक हो सकता है । परन्तु 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी होती है ।

**पताका अनिवार्य नहीं—**

पताका और प्रकरी दोनोंके विषयमें एक बात यह और ध्यान रखने की है कि इन दोनोंमेंसे किसीकी भी स्थिति नाटकमें अनिवार्य नहीं है । इन दोनोंके बिना भी नाटककी रचना हो सकती है । इनकी आवश्यकता उसी दृष्टांसे है जब मुख्य-नायककी सहायककी आवश्यकता होती है । जिस नायककी इस प्रकारके सहायककी आवश्यकता नहीं होती उसके चरित्रको लेकर लिखे गए नाटक की रचना इनके बिना भी की जा सकती है ।

**पताका और पताका स्थान—**

इस सम्बन्धमें एक बात और ध्यानमें रख लेनी चाहिए कि यह पताका शब्द कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर देता है । यह जो यहाँ पताकाका लक्षण दिया जा रहा है वह प्रधान-नायकके सहायक पताका-नायकका लक्षण दिया जा रहा है । इसके प्रतिरिक्त चार प्रकारके पताका स्थानोंका वर्णन भी आगे आयेगा । वे 'पताका स्थान' इस पताकाके बिलकुल भिन्न वस्तु हैं । जहाँ केवल 'पताका' शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ उससे 'पताका-नायक' का ही ग्रहण होता है । पताका स्थानोंकी चर्चा जहाँ अभिप्राय होती है वहाँ केवल पताका शब्दका प्रयोग न करके 'पताका स्थान' शब्दका ही प्रयोग किया जाता है । इन दोनों के नामोंमें अत्यधिक माध्य होनेके कारण ही अन्वयकारने पताका शब्दके बाद ही 'पताका-स्थानोंका' भी वर्णन कर दिया है । वेमें साधारणतः हम स्थान पर उनके वर्णनका कोई प्रसङ्ग नहीं था ।

इस विवरणकी समझ मने पर आगे बढ़ते हुए पताका-महागके मध्यस्थान पर समाप्त होगी ।

अथ पताका निरूपयति—

[सूत्र २७]—आविमर्शं पताका चेच्चेतनः स परार्थकृत् ॥२६॥

स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतन परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धि प्राशस्त्यहेतुत्वात् पताकेव 'पताका'। सुग्रीव विभीषणादिर्हि रामादिनोप-  
क्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन्, रामादे प्रसिद्धि प्राशस्त्यं च सम्पाद-  
यति। चेत् इति यदि फलमाद्यने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निबध्यते, तदा  
पताका भवति। न तु स्वपराक्रमबहुमानिनामिति। एवं प्रकर्ष्यपि। अविमर्शमिति  
यदा मर्यादायामाह, तदा मुग्ध-प्रतिमुख-गर्भान्, यदा पुनरभिविधौ, तदा विमर्श-  
मभिव्याप्य विरमति। तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिनिबध्यते। निर्वहण-  
सन्धावपि तत्काले निबध्यमाने तुल्यकालयोत्पकार्योपकारकत्वाभावात्, न तेन  
प्रधानस्योपकार रयान्। सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाणो भूतपूर्वगत्या  
पताकाशब्दवान्य इति ॥२६॥

अथ [स्वार्थसिद्धिके साय साय परार्थसिद्धि-पर उपकरणभूत चेतनसाधन रूप] पताका  
का निरूपण करते है—

[सूत्र २७]—[पताकाका होना अपरिहार्य नहीं है किन्तु] यदि वह चेतन [स्वार्थसिद्धि-  
सहित] पराधकारी हो तो [मुक्तसि पते लेनर] विमर्शसन्धि-पर्यन्त 'पताका' [नायक] हो  
सकता है। निर्वहणसन्धिमे उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए ॥२६॥

जो चेतन हेतु अपने स्वार्थके लिए प्रवृत्त होनेपर भी दूसरे अर्थात् प्रधान नायकके  
प्रयोजनकी सिद्ध करता है वह [प्रधान-नायककी] प्रसिद्धि एवं प्राशस्त्यका हेतु होनेसे पताका  
के समान [गौण रूपसे] 'पताका' [कहलाता] है। सुग्रीव विभीषणादि रामादिके द्वारा उप-  
वृत्त होकर रामादिके और अपने दोनोंके उपकारक होकर रामादिकी प्रसिद्धि और प्राशस्त्य  
की सिद्ध करते हैं [इसलिए 'पताका' कहलाते हैं]। 'चेत्' इस पदसे [यह मान सूचित की है  
कि] यदि फलसाधनमे साहाय्यकी अपेक्षा रखने वाले नायकके चरित्रका वर्णन किया जाता  
है तब तो पताका होता है किन्तु अपने ही पराक्रमकी बहुत समझने वाले [नायकके चरित्र  
के वर्णन] मे [पताका नायक] नहीं होता है। इसी प्रकार 'प्रकर्षी' मे भी समझना चाहिए।  
'आ-विमर्श' इस पदमे जब आह 'मर्यादा' अर्थमे है तब [तेन विना मर्यादा] उस विमर्श-  
सन्धिके छोड़कर] मुख प्रतिमुख और गर्भसन्धिकोमे, और जब 'अभिविधि' मे [प्राइका प्रयोग  
माने तो तेन सह अभिविधि] उस विमर्श सन्धिको भी सम्मिलित करके] विमर्श सन्धि पर्यन्त  
पताका [नायकका चरित्र] समाप्त होता है। [अधिकमे अधिक] वही तब ही पताकानायक  
के अपने फलकी सिद्धि हो जाती है। यदि निर्वहण सन्धिमे भी उस [पताका नायक] के फल  
का वर्णन किया जाय तो समान बात तब रहने वाले [प्रधान-नायक और पताका नायकके  
चरित्रोमे] उपरार्थ-उपकारक भावके सम्भव न होनेसे उस [पताका-नायक] के द्वारा प्रधान-  
नायकका उपकार नहीं हो सकेगा। [विमर्श-सन्धि पर्यन्त ही] फलकी सिद्धि हो जानेपर तो  
[निर्वहणसन्धिमे] यह प्रधान-नायकका फलके लिए हो यत्न करना हुआ [अथ पताका न  
रहनेपर भी] भूतपूर्व गतिमे 'पताका' शब्दमे कहा जाता है ॥२६॥

अथ पताकाप्रस्तावात् पताकास्थानकानां सामान्यलक्षणं भेदांश्चाह—

[सूत्र २८]—चिन्तितार्थात्परप्राप्तिर्धृत्वे यत्रोपकारिणी ।

पताकास्थानकं तच्च चतुर्द्धा मण्डनं क्वचित् ॥३०॥

‘अर्थः’ कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च । अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाश्च अन्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्तिर्यत्रैतिवृत्ते उपकारिणी, प्रधानफलोपकारिका तदितिवृत्तं पताकास्थानकम् । उपकारित्वमात्रमास्यात् पताकास्थानस्य तुल्यं पताका-स्थानरम् । न पुनः पताकास्थानमेव । अत एव तु शब्दः । पताकास्वरूपासु व्यतिरेकं द्योतयति । मण्डनमिति एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यालङ्कारेण किं पुनर्द्वं त्रीणि चत्वारि वा । एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः । क्वचिदिति अन्तर्दान्तरा, न तु पताकावधिरन्तरम् । अत एव पताकातो भिद्यते ॥३०॥

पताकास्थान—

इतः प्रकार पताकाका प्रकारण होनेसे [उसमें मिलाते हुए] पताका स्थानके सामान्य लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २८]—तोचे हुए अर्थ [अर्थात् प्रयोजन तथा उपाय] से दूसरे [प्रयोजन या उपाय रूप] अर्थकी [प्रनायाम] प्राप्ति जहाँ इतिवृत्त [आएथान वस्तु] में उपकारिणी हो जाती है वह [नाटकमें निरन्तर न रहकर] कहीं-कहीं होने वाला चार प्रकारका ‘पताकास्थान’ [नाट्य रूप काव्यका शोभाजनक] शोभार्थापायक होता है ॥३०॥

‘अर्थ’ शब्दमें [अर्थ्यते इति अर्थ] इस प्रकारकी कर्ममें व्युत्पत्तिमें प्रयोजन, तथा [अर्थ्यते येन स अर्थ] इस प्रकारकी कारण व्युत्पत्तिमें उपाय [दोनों ‘अर्थ’ कहलाते हैं] । निश्चित चिन्ते हुए प्रयोजन तथा उपायसे भिन्न प्रयोजन तथा उपायकी प्राप्ति जहाँ कथाभाग की उपकारिणी अर्थात् प्रधान फलकी [सिद्धिमें] उपकारिणी होती है वह कथाभाग [इतिवृत्त] ‘पताकास्थानक’ [कहलाता] है । [पहले कहे हुए पताका-नायकके समान प्रधानके] उप-कारकत्वमात्रकी समानताके कारण पताकाकी अर्थात् पताका-नायकके स्थान अर्थात् स्थितिके तुल्य होनेसे यह ‘पताकास्थान’ [कहलाता] है । [पताका नायक की स्थिति रूप न होनेसे] ‘पताकास्थानोप’ ही नहीं है । [अर्थात् पताकास्थान पताका स्वल्प नहीं किन्तु प्रधानोपकारकत्वकी समानताके कारण पताकाके तुल्य है] । इसीलिए [कारिकामें छाया हुआ] तु-दाश पताकाके स्वल्पमें [पताकास्थानके] भेदको सूचित करना है । ‘मण्डनम्’ इगने [एकवचन] से [यह सूचित किया है कि एक स्थानपर प्रयुक्त] । एक भी पताकास्थान नाट्य-काव्यका शोभार्थापायक हो जाता है फिर दो, तीन, चार [प्रकारके कहे जाने वाले अथवा अधिक स्थानोंपर प्रयुक्त हुए पताकास्थानों] का तो कहना ही गया है । [नाटकमें विशेष रूपसे पताकास्थानका प्रयोग अवश्य करना चाहिए] इसके बिना रूपक [की रचना] को नहीं करना चाहिए यह अभिप्राय है । [कारिकामें थाा हुआ] ‘क्वचित्’ इस [एक] में [यह सूचित किया है कि नाटकमें] बीच-बीचमें [कहीं-कहीं ही] पताकास्थानोंका प्रयोग करना चाहिए पताका [नायक] के समान निरन्तर [उसकी उत्पत्तिमें छायादय] नहीं [है] इसीलिए [पताका स्थान] पताका [नायक] से भिन्न [माना जाता है] ॥३०॥

अथ आश्रमेदमाह—

[सूत्र २६]—सहस्रेष्टार्थलाभश्च

‘सहस्र’ इत्याकस्मिकत्वेन सभ्यानां चमत्कारहेतुत्वमाह । यथा ‘रत्नावल्यां’ सागरिकायां पाशावलम्बनश्रवृत्तायां वासवदत्तेति मन्यमानो राजा पाशाद्विमोचयति, तदा तदुक्त्या सागरिकां प्रत्यभिज्ञायाह—

“कथं मे प्रिया सागरिका ? अलमलभतिमात्रेण ।” इत्यादि ।

अत्रान्यन् प्रयोजनं चिन्तितं, वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सम्पन्नम् ।

यथा वा ‘नलविलासे’, विद्रूपरूपापातिकनियुद्धनिवारणाद्योद्यतस्य राज्ञो दमयन्तीप्रतिकृतिलाभ इति ।

अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहस्रोपायान्तरप्राप्तिर्यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शाल्वचूडादप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना चासोयुगलार्पणमिति ।

अथ [चार प्रकारके पताकास्थानोपेत] प्रथम भेदको कहते हैं—

[सूत्र २६]—सहसा [आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सम्प्राप्ते के लिए चमत्कारजनक] इष्ट वस्तुकी प्राप्ति [का वर्णन प्रथम प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] ।

‘गहसा’ इस [पद] से आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सम्प्राप्ते चमत्कारका हेतुत्व सूचित किया है । जैसे रत्नावलीमें [तृतीय अंकमें] सागरिकाके [प्रपने गलेमें] काँती लगानेमें प्रवृत्त होनेपर राजा उदयन उसको [प्रपनी मुख्य रानी] वासवदत्ता समझकर काँती से छुडाते हैं । उस समय उसकी उत्तिकी सुनकर सागरिकाको पहिचान कर कहते हैं कि—

“भरे यह तो मेरी प्रिया सागरिका है । हटो हटो यह प्रतिज्ञाहस्त मत करो ।” इत्यादि ।

यहाँ [राजा उदयनने वासवदत्ताको पाशासे छुडाने रूपमें] कुछ दूसरा ही प्रयोजन सोचा था किन्तु [ सम्प्राप्ते के लिए और स्वयं राजाकेलिए भी ] चमत्कार-जनक [आकस्मिक अवस्थित रूपसे सागरिकाकी प्राप्ति रूप] कुछ और ही [प्रयोजन अर्थात्] कार्य हो गया ।

अथवा जैसे नलविलासमें विद्रूपक और कापालिककी लड़ाईको बघानेकेलिए उद्यत [अर्थात् लड़ाई बघानेवा प्रयत्न करते समय] राजा [नल] को [विद्रूपकके बगलमेंसे निवृत्त कर गिरी हुई] दमयन्तीकी तस्वीरकी प्राप्ति ।

इससे पूर्व शारिकामें पाए हुए ‘अर्थ’ शब्दकी व्याख्या करते समय वरम और वरण रूप दो प्रकारकी व्युत्पत्ति मान कर ‘अर्थ’ शब्दने ‘प्रयोजन’ तथा ‘उपाय’ दो अर्थ किये थे । ‘सहस्रेष्टार्थलाभश्च’ इस प्रथम पताकास्थानके सहायमें भी ‘अर्थ’ शब्दने ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं । हमें तो ‘प्रयोजन’ रूप अर्थकी जेकर दो उदाहरण दे दिए । अब आगे ‘उपाय’ रूप अर्थको जेकर भी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अथ उपायके सोचनेपर सहसा [ अवस्थित आकस्मिक रूपमें ] अथ उपायकी प्राप्ति [वा उदाहरण] जैसे नागानन्दमें जीमूतवाहनको दासपूजते बध्यने [धारण करने योग्य] वस्त्रोंकी प्राप्ति न होनेपर [वस्त्राणां धारण] वस्त्रोंके द्वारा [साग रणके] रूपमें जोरोंजा समर्पण [इष्ट वस्तुकी पूर्ति करता है] ।

अथ द्वितीयमाह—

[छत्र ३०]—रिलटसातिशया च वाक् ।

रिलट्टा प्रकृतसम्बद्धा, सातिशया अत्यद्भुतार्था । यथा 'रामाभ्युदये' द्वितीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य सन्देशोक्तिः—

“वदुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधेः स्थिताम् ।

अचिरादेव देवि त्वामाहरिष्यति राघवः ॥”

अत्र 'पारेऽपि जलधेः' इत्यतिशयोक्तिरपि सीतां प्रति तथैव वृत्तत्वात् प्रकृत-सम्बद्धा । अत्र सातिशयोक्तिमात्राच्चिन्तित्वात् प्रयोजनादपरं तथैव सीताहरणं प्रयोजनं सम्पन्नमिति सामान्यलक्षणम् ।

इस प्रकार प्रथम प्रकारके पताकास्थानके तीन उदाहरण ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किए हैं । इन तीनों उदाहरणोंमें नायकके द्वारा अचिन्तित, अत्यन्त आश्चर्यजनक रूपसे इष्ट प्रयोजन या इष्ट उपाय रूप इष्ट प्रयोजकी प्राप्ति हो गई है । इसलिए ये तीनों उदाहरण प्रथम प्रकारके पताकास्थानके हुए । अब द्वितीय प्रकारके पताकास्थानका वर्णन आरम्भ करते हैं । द्वितीय पताकास्थानमें सहसा इष्टकी प्राप्ति नहीं होती है किन्तु प्रकृत प्रकरणसे सम्बद्ध कोई ऐसी अद्भुत बात किसी पात्रके मुँहसे निकल जाती है जिसका धारके कथाभागमें अद्भुत प्रभाव दिखाई देता है । इसीका वर्णन आगे करते हैं ।

अब द्वितीय [पताकास्थान] को कहते हैं—

[पूत्र १०]—[रिलट्टा] प्रकृत-सम्बद्ध और [सातिशया] अद्भुतार्थक वचन [द्वितीय प्रकारके पताकास्थान कहलाते हैं] ।

'रिलट्टा' प्रकृत [प्रकरण] से सम्बद्ध और 'सातिशया' अर्थात् अत्यन्त अद्भुत अर्थ-वाली [वाणीका आश्चर्यजनक प्रयोग द्वितीय प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] । जैसे रामाभ्युदयमें द्वितीय अङ्कमें सीताके प्रति सुग्रीवकी [निम्नलिखित] सन्देशोक्ति [में पाया जाता है]—

“अधिक क्या कहा जाय, समुद्रके पार स्थित होनेपर भी हे देवी ! रामचन्द्रजी आपकी शीघ्र ही ले आवेंगे ।”

यहाँ 'पारेऽपि जलधेः स्थिताम्' समुद्र-पार रहनेपर भी यह अतिशयोक्ति [के रूपमें ही कहा गया] भी सीताके प्रति उसी प्रकार घटित होनेसे प्रकृतसे सम्बद्ध है । और यहाँ अतिशयोक्तिमात्रसे विचारित प्रयोजनसे भिन्न उसी प्रकार [समुद्रपारसे] सीताका आहरण रूप प्रयोजन हो गया । यह [पताकास्थानका] सामान्य लक्षण [जो इसमें समन्वित हो जाता] है ।

इसी प्रकार की उक्ति भवभूतिके उत्तररामचरित्रमें भी पाई जाती है । वसिष्ठ का प्रजाको प्रसन्न रखनेका सन्देश पानर रामचन्द्रजी अप्राप्तक मुनिसे कहते हैं—

स्नेहं दया च सौख्यं च यत्किं वा जानकीमपि ।

आराधनाय तोमस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

पर्याप्त सोचने आराधनके लिए प्रजाकी प्रसन्नताके लिए मुझे स्नेह, दया, सौख्य और यहाँ तक कि स्वयं जानकीको भी छोड़ देनेमें कोई कष्ट नहीं होगा । यहाँ यह बात तो प्रति-

अथ तृतीयमाह—

[सूत्र ३१] द्वयर्था च

‘वाक्’ इति इह, उत्तरत्र च सम्बध्यते । द्वयर्था श्लेषादिवशात् प्रस्तुतोप-  
योग्यर्थान्तरोपक्षेपिणी । यथा—

‘प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोरिचोदोक्षते ।’

अत्र हि सम्ब्याचर्णनप्रयोजनेन काट्यं प्रयुक्तं, सागरिकां प्रति उदयनाभि-  
व्यक्तितलक्षणं प्रयोजनान्तरं सम्पादयति । तथा च सागरिका—

‘अयं सो राया उदयणो, जस्स अहं तादेण दिग्घा ।’ इति ।

[अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता । इति संस्कृतम् ] ।

प्रयोक्ति रूपमे ही कही गई थी किन्तु उसके बाद थी प्र ही रामचन्द्रने अपने स्नेह, दया और  
सौम्यके माप जानकीका भी परित्याग कर दिया है ।

इस द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमे ‘द्विलिङ्ग’ पदका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका  
अर्थ केवल ‘प्रकृतसे सम्बद्ध’ इतना ही है । यहाँ ‘द्विलिङ्ग’ पद दो अर्थके वाचक शब्दका प्राहक  
नहीं है । प्रगले तृतीय पताकास्थानमे ‘द्विलिङ्ग’ अर्थात् द्वयर्थक पदके प्रयोग द्वारा चिन्तित अर्थ  
से भिन्न, प्रयोजन या उपाय रूप अन्य अर्थकी प्रतीति होती है । इस भेदके कारण तृतीय  
पताकास्थान पहिले और दूसरे दोनो पताकास्थानोसे भिन्न है । पहिले और दूसरे किसी भी  
पताकास्थानमे ‘द्विलिङ्ग’ अर्थात् द्वयर्थक पदका प्रयोग नहीं होता है । तृतीय पताकास्थानका  
प्राधार द्वयर्थक शब्द ही होता है । इसी कारण उसकी प्राये भिन्न रूपमे कहते हैं ।

अब तीसरे पताकास्थानको कहते हैं—

[सूत्र ३१] दो अर्थवाली [वाणीका प्रयोग करके चिन्तित अर्थसे अन्य अर्थकी प्रतीति  
जिसमे होती है वह तृतीय पताका स्थान कहलाता है] ।

[द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमे कहा हुआ] ‘वाक्’ यह पद यहाँ [तृतीय पताकास्थान  
के लक्षणमे] और प्रागे [चतुर्थ पताकास्थानके लक्षणमे] भी सम्बद्ध होता है । ‘दो अर्थवाली’  
अर्थात् श्लेषादिके कारण प्रस्तुतके उपयोगी दूसरे अर्थका बोध करनेवाली वाणी जैसे [रत्ना-  
वली नाटिकाके प्रथम अङ्कके प्राय अन्तमे वंतासिक राजाकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि]—

“उदीयमान चन्द्रमाकी नयनानन्ददायिनी किरणोंके समान [राजा लोग उदयन  
राजाके चरणोंकी ओर] देख रहे हैं ।”

यहाँ सम्ब्याचर्णनके प्रयोजनमे वाक्यका [स्तोत्रका] प्रयोग किया गया है किन्तु यह  
सागरिकाके प्रति उदयन [राजा रूप अर्थ] की अभिव्यक्ति रूप दूसरे प्रयोजनको सम्पादित  
कर रहा है । इसी लिए [ इस श्लोकको सुननेके बाद] सागरिका [कहती है कि]—

[अध्या] ये ये राजा उदयन हैं जिन्हें पिताजीने मुझे [ अपने संस्मरण द्वारा ]  
दिया था ।

इस श्लोकमे सम्ब्याचा वर्णन प्रकृत है । उसमे ‘उदयनस्य’ यह पद द्विलिङ्ग अर्थात् दो  
अर्थोंका बोधक है । सामान्य रूपसे उसे नवोदिन चन्द्रमाके लिए प्रयुक्त किया गया है किन्तु  
उसमे उदयन राजाका भी बोध हुआ है । अतः यह तृतीय पताकास्थान है ।

अथ चतुर्थमाह—

[सूत्र ३२] अप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्ट-प्रत्यभिधापि च ॥३१॥

अप्रकटे प्रत्युत्तरकारकेणाविज्ञातेऽर्थे केनचिदुपक्षिप्ते सति श्लिष्टमन्याभि-  
प्रायप्रयुक्तमपि प्रस्तुतसम्बद्ध, स्पष्ट विशेषनिश्चयकारि, यत् प्रत्यभिधानं प्रत्युत्तरं,  
तद्रूपा च वागिति ।

यथा मुद्राराक्षसे—

चाणक्यः—आप नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

एवमप्रकटेऽर्थे उपक्षिप्ते—

[प्रविश्य] सिद्धार्थकः—अयं गृह्येत ।

[आर्यं गृहीत. । इति संस्कृतम् । ]

इति प्रत्युत्तरं प्रस्तुतार्थसम्बद्ध विशेषनिश्चयकारि च ।

अत एव पुनः—

अथ चतुर्थं [पताकास्थान] को कहते हैं ।

[सूत्र ३२]—अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले व्यक्ति] को भी प्रज्ञात [अर्थके उपस्थित होने पर] अन्य अभिप्रायसे कहा जानेपर भी प्रकृत प्रकरणमें सुसम्बद्ध तथा [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें विशेष रूपसे निश्चय करानेवाला] स्पष्ट उत्तर भी [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाता है । ३१ ।

अप्रकट अर्थात् प्रत्युत्तर देनेवाले को अविरत अर्थको किसी [वक्ताके द्वारा] प्रस्तुत किए जानेपर श्लिष्ट अर्थात् अन्य अभिप्रायसे कथित होनेपर भी प्रकृत अर्थसे सम्बद्ध और स्पष्ट अर्थात् [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें] विशेष निश्चय करानेवाला जो उत्तर उस रूपकी वाली [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] ।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

“चाणक्य—यया दुरात्मा राक्षस पकडमे आ सकेगा ?”

इस प्रकारके अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले सिद्धार्थ] को जिस बातका ज्ञान नहीं है, अर्थात् सिद्धार्थके इस बातको नहीं सुना है उस प्रकारके] अर्थके प्रस्तुत होनेपर—

‘[अन्य कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ] सिद्धार्थ [प्रविष्ट होकर कहता है] आर्य [आका सदेश] ग्रहण कर लिया ।’

सिद्धार्थके प्रवेशके पहिले चाणक्यने स्वगत रूपसे ‘अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत’ यह वाक्य कहा था । सिद्धार्थके उम वाक्यको नहीं सुना था । उसे इस बातका कोई ज्ञान नहीं था । किन्तु चाणक्यके इस वाक्यके उच्चारण करनेसे साथ ही अन्य कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ सिद्धार्थ प्रविष्ट होकर कहता है ‘आर्यं गृहीतः’ । तब इस बातका चाणक्यके वाक्यके साथ सम्बन्ध बन जाता है और उससे चाणक्यको यह प्रतीत होता है कि ‘आर्यं दुरात्मा राक्षस पकड लिया गया ममम्भो ।’

[इस प्रकार सिद्धार्थ द्वारा कहा गया] यह प्रत्युत्तर प्रस्तुत [राक्षस ग्रहण रूप] अर्थसे सम्बद्ध ३६५ विशेष रूपसे [राक्षसके पकडे जानेका] निश्चय करनेवाला [हो जाता] है।



चाणक्यः—[ सहर्षमात्मगतम् ] इन्त गृहीतो दुरात्मा राक्षसः । इति ।

इदं प्रत्युत्तरं मन्देश-ग्रहणज्ञापनप्रयोजनेन प्रयुक्तं, चाणक्यस्य राक्षसग्रहं निश्चाययति इति सामान्यलक्षणम् ।

प्रत्येकं चकारश्चतुर्णामपि नाटकं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थं इति ॥३१॥

अथ प्रकरीलक्षणमाह—

[सूत्र ३३]—प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।

‘क्वचिद्भावी’ घृतेरुद्देशाख्यापी । अन्यस्य ‘मुख्यनायकस्य [प्रयोजनमेव] प्रयोजनं यस्य । स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी । ओणादिके इ-प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम् । यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः । ‘चेत्’ इत्यनेन पताकावदनवश्यम्भायित्वमाह । क्वचिद्भावितात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति ।

इसी लिए फिर [चाणक्य, सिद्धार्थके] इस कथनको अपने वाक्यके साथ जोड़कर और उसे राक्षसके पकड़नेमें अपनी सकलताका निश्चयकारक मानकर अपने मनमें प्रसन्न होकर कहता है कि—

“चाणक्य—[सहर्ष अपने मनमें कहता है] बड़ी प्रसन्नताको बात है कि राक्षस पकड़ने आ गया ।”

[यहाँ सिद्धार्थक द्वारा अन्य अर्थमें प्रयुक्त वाक्य रूप] यह उत्तर [चाणक्यके] संदेशको ग्रहण कर लेनेके सूचित करनेके प्रयोजनसे [सिद्धार्थके] प्रयुक्त किया था किन्तु [वह] चाणक्य को राक्षसके पकड़े जानेका निश्चय कराता है । इस लिए [उसमें] ‘चितितार्थ परप्राप्ति’ यह पताकास्थानका सामान्यलक्षण [समन्वित हो जाता] है ।

[पताकास्थानके पूर्वोक्त चारों राक्षसोंमें] प्रत्येकके साथ प्रयुक्त चकार-नाटकके प्रति चारोंकी प्रधानताको सूचित करनेकेलिए है ॥ ३१ ॥

अथ प्रकरीका लक्षण कहते हैं—

[सूत्र ३२]—यदि [स्वार्थानपेक्ष रूपसे केवल] अन्य [अर्थात् मुख्य नायक] के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला चेतन [सहायक नाटकके अधिक भागमें व्यापक न होकर केवल] किसी एक वेशमें होनेवाला ही हो तो उसे ‘प्रकरी’ कहा जाता है ।

[कारिकायें आएँ हुए] ‘क्वचिद्भावी’ [इसका अर्थ] कथाके एकदेशमें व्यापक [यह है] । ‘अन्यस्य’ अर्थात् मुख्य नायकका प्रयोजन ही जिस [सहायकका] का प्रयोजन है यह [‘अन्य-प्रयोजनः’ हुआ] । यह चेतन सहकारी प्रकर्षेण अर्थात् स्वार्थकी अपेक्षा न करता हुआ [निष्काम-भावसे] मुख्य नायकके कार्यमें करता है । इस लिए [अर्थात् प्रकर्षेण करोतीति प्रकरी इस व्युत्पत्तिके अनुसार] ‘प्रकरी’ [बहलाता] है । [प्र-उपतर्ग-पूर्वक कृ-धातुसे] ओणादिक इ-प्रत्यय करने पर संज्ञा शब्द होनेसे स्त्रीत्व [मुखक डीप्-प्रत्यय होकर प्रकरी पद बनता] है । जैसे राम-चरितको लेकर लिखे गए प्रबन्धोंमें जटायु [स्वार्थानपेक्ष चेतन सहायक, घृतेके केवल एकदेशमें स्थित होनेसे] ‘प्रकरी’ कहा जाता है । ‘चेत’ इस [पद] से पताकाके समान [प्रकरीकी भी] अवश्यम्भायिताका निषेध सूचित होता है । [अर्थात् नाटकमें पताका और

अथ विन्दुं लक्षयति—

[सूत्र ३४]—हेतोश्छेदेऽनुमन्धानं वदूनां विन्दुराफलान् ॥३२॥

उपायानुष्ठानस्यावश्यकत्वादिना व्यवधाने मति नायकप्रतिनायकामात्या-  
दीना यदनुमन्धानं ज्ञानममी ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद् विन्दु । सर्वव्यापि-  
त्वाद्वा जले तेषामनुमन्धुरिच विन्दु । आप्लावित बीजवन्ममस्तेतिवृत्तव्यापकत्वमाह ।  
केवल बीजं मुग्धमन्धेरेव प्रभृति निरभ्यते, विन्दुस्तु तदनन्तरमिति ।

इह तावन्नायकमहाय-उभयेभ्यस्त्रिधा पर्नासिद्धि । तत्र सर्वेषां स्वव्यापार-  
विशिष्टतावनुसन्धानात्मा विन्दुनिर्णयते । यथा च नायकेन प्रतिपक्षेतिवृत्तमनुमन्धी-  
यते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्येतिवृत्तमनुमन्धीयते । अत एव वदूनामित्युपात्तम् ।

प्रकारी बीजोंका अतिरिक्त अपरिहायं नहीं है ] । केवल एक देशमें होनेके कारण [प्रतिपक्षवि-  
त्वात्] और व्यापारिवेश होनेके [प्रकारी-नायकता] पताका नायकता भेद है ।

पाँच उपायोंमेंसे बीज, पताका और प्रकारी इन तीन उपायोंका वर्णन हो गया । प्रथ-  
मोपे उपाय 'विन्दु' का वर्णन प्रसङ्ग प्राप्त है । उपायोंका चेतन अचेतन रूपमें जो दो प्रकार  
का विभाग किया गया था । उनमें पताका, प्रकारी तथा विन्दु इन तीनोंको चेतन साधनोंके  
वर्गमें रखा था । उनमेंसे भी पताका और प्रकारी रूप दो चेतन साधनोंका वर्णन हो चुका  
प्रथम तीसरे चेतन साधन 'विन्दु' का वर्णन करते हैं ।

प्रथम विन्दुका लक्षण करते हैं—

[सूत्र ३४]—[ अथ व्यापक कार्योत्तर कारण ] हेतु [ अर्थात् उपायानुष्ठान ] का  
विस्मरण हो जानेपर भी फिरसे स्मरण 'विन्दु' [बहत्ताता] है । और वह [नायक प्रतिनायक  
प्रमात्य आदि रूप] वदूतोंका तथा जनप्रातिन्यस्त [सारे नाटकमें व्याप्त हो सक्ता] है ॥३२॥

व्यापक कार्योत्तर आदि द्वारा उपायानुष्ठानका [व्यवधान] विधेय हो जानेपर  
नायक, प्रतिनायक, प्रमात्यादि द्वारा जो उसका पुन स्मरण [रूप ज्ञान] वह ज्ञान और  
विचारके फल प्राप्तिका उपाय होनेके 'विन्दु' [बहत्ताता] है । अथवा [नाटकमें] सर्वत्र व्यापक  
होनेके [जलमें तैलका बिन्दु जैसे सारे जलमें फैल जाता है इस प्रकार सारे नाटकमें व्यापक  
होनेके] जलमें तैल बिन्दुके समान 'विन्दु' [बहत्ताता] है । 'आप्लावत्' इस [पक्ष] से बीजके  
समान [बिन्दुकी भी] सारे कथलाभय व्याप्तिको सूचित किया है । [अर्थात् बीजके समान  
हो बिन्दु भी सारे नाटकमें फैल तब विद्यमान रहता है । अतएव केवल [ज्ञाना है कि]  
बीज मुत्तमस्थिसे आरम्भमें ही निवृत्त होता है और बिन्दु उसके बाद [आरम्भ होता है ।  
बिन्दु बीजों नाटकमें फैल तब व्यापक रहते हैं वह बीजोंकी समानता है] ।

पहला [नाटकमें] १ नायक [जि द्वारा होने कार्यो] २ नायक [जि द्वारा] तथा ३ उन दोनों  
से मिलकर तीन प्रकारकी जननिधि होती है । [उनसे सबको ही अपने व्यापारका विधेय हो  
जाने पर पुन स्मृति हो सकनी है इसलिये नायक और उनका नायक प्रमात्यादि उन सब  
के ही [नाटकमें] अपने अपने विद्यमान व्यापारकी स्मृति रूप बिन्दु की रचना होती है ।  
[और न केवल नायक तथा उसके नायकमें निवृत्त बिन्दु की ही रचना होती है अतएव  
प्रतिनायकके नाटकमें भी । अतएव] अने नायक, प्रतिनायकके पुन [वर्तित] का अनुसंधान

नायकस्य विन्दुर्यथा अमरदुपज्ञे 'राघवाभ्युदये' पञ्चमेऽङ्के सुग्रीवचरितश्रवणे-  
नातिपतिते सीतापहारदुःखे सीतां स्मृत्वा रामः—

कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वयम्—

प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह जातलज्जचररः ।

प्रकाशयितुमक्षमः क्षणमपि स्वमार्यं जने ।

प्रयाति चरमोदधौ पतितुमेव देवो रविः ॥

इत्यनेन पुनः सीतापहारदुःखमानुमंक्षितमिति ।

[ध्यान] करता है इसी प्रकार प्रतिनायक भी नायकके चरित्रका ध्यान [प्रसूतधाम] करता है [इसलिए प्रतिनायककी दृष्टि भी बिन्दुका विन्यास नाटकमें हो सकता है] । इसी लिए [कारिकामें] 'बहूना' इस [पद] का प्रयोग किया गया है ।

'बिन्दु' का यह सामान्य लक्षण किया गया है । इस लक्षणके देखनेसे प्रतीत होता है कि नायक या उसके सहायक अमात्यादि अथवा प्रतिनायक और उसके सहायक अमात्यादिके अन्य मादक्य कामोंमें व्यापृत हो जानेसे कुछ समयके लिए मुख्य बीज रूप उपायकी विस्मृति या विच्छेद हो जानेके बाद उसकी जो पुनः स्मृति होती है उसको 'बिन्दु' कहते हैं । इस स्मृति या अनुसन्धानके बिना नाटकका कार्य आगे नहीं बढ़ सकता है इसलिए इयत्ता होना आवश्यक है । एक नाटकमें एक ही जगह नहीं अनेक बार इसका उपयोग किया जाता है । उपायोका चेतन प्रचेतन रूप जो द्विविध विभाग किया गया था उसमें इस बिन्दुकी चेतन उपायोमें गिना गया था । पर यह बिन्दु स्वयं तो चेतन रूप नहीं है । चेतनका व्यापार रूप है । परन्तु उस स्मरण या अनुसन्धान रूप प्रचेतन व्यापारकी चेतन रूपमें मानकर ही चेतन उपायोके वर्गमें बिन्दुका अन्तर्भाव किया गया है । आगे बिन्दुके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

उन्मेषे नायकके बिन्दु [का उदाहरण] जैसे हमारे बनाए राघवाभ्युदय [नाटक] में पञ्चम अङ्कमें सुग्रीवके चरित्रके सुननेसे सीताके अपहरणके दुःखके [कुछ समयके लिए] विस्मृत हो जानेपर [फिर दुदारा] सीताको स्मरण करके राम [निम्न श्लोक कहते हैं]—

"अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ सुनकी अपने [सूर्यदेव] घंशमें उत्पन्न हुआ देखकर लज्जसे सन्तप्त [सूर्यदेव] क्षण भरको भी लोगोंको अपना भुल दिखलानेमें असम हो जाने" कहकर यह सूर्य देव पश्चिम सागरमें डूबने आ रहे हैं ।

इस [श्लोक] के द्वारा [कुछ देरके लिए विस्मृत हुए] सीतापहारके दुःखकी [राम-पण्ड] पुनः स्मरण करते हैं ।

इस प्रकार यह नायकके 'बिन्दु' का उदाहरण है । इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण भागे 'वापसवत्सराज' चरित्रसे देने हैं । उसमें नाटकके नायक वत्सराज उदयन भुवया आदि व्यापारी में लग जानेसे कुछ समयके लिए अपनी रानी वासवदत्ताको भूल जाते हैं । इसी बीचमें राजा के मृगया सिविरमें जहाँ कि वासवदत्ता ठहरी हुई थी भाग लग जाने और रानीके उसी सिविरके भीतर जन्म जानेका समाचार राजाको मिलता है । उस समानारको सुनकर राजा को पुनः वासवदत्ताकी स्मृति हो जाती है । उसी प्रसङ्गमें वापसवत्सराजचरित्रका श्लोक अन्तर्धानमें यहाँ उद्धृत किया है ।

यथा वा 'तापसवत्सराजचरिते' मृगयादिभिरन्यैश्चामात्यव्यापारेर्वत्स-  
राजस्य विच्छिद्यन्नेऽपि प्रियासमागमोत्सुक्यरूपे प्रयोजने, द्वितीयेऽङ्के राजा वासव-  
दत्तां दग्धामुपश्रुत्याह—

रुमएवन् ! मुञ्च मुञ्च,

सुद्राग्नेरमुतोऽपि धूमस्तुषान् चिप्रस्थितेः सर्वतो  
ज्वालाताण्डवसारिणः किमपरं भीतोऽस्मि भाग्यैर्मम ।

अन्तर्घटपटं न पश्यमि सखे शोकानलं तेन माम्  
एवं चारयमि प्रियानुमरणान् पापः करोम्यत्र त्रिम ॥

इति वासवदत्तायामाग्रहविशेषान् तदेवानुमहितम् । एवमत्रोत्तरेऽप्यङ्केषु  
नायकाय विन्दुर्निघट्टोऽस्ति ।

एवं महाय-उभय-विपक्षाणामपि रज्यापारानुमन्धानात्मा विन्दुर्दृष्टव्यः ।

॥ ३२ ॥

प्रथमा जंते तापसवत्सराजचरिते मृगया आदि तथा समाचारोंके [द्वारा आयोजित]  
अन्य व्यापारोंके कारण वत्सराज [उदयन] को प्रिया [वासवदत्ता] के समागमके औत्सुक्य  
रूप प्रयोजनके विस्मृत हो जानेपर भी द्वितीय अङ्कमें राजा [वत्सराज उदयन दिविरमें]  
वासवदत्ताके जल जाने [के समाचार] को सुनकर कहते हैं—

'राजा—रुमएवन् छोड़ो । मुझे [मत पकड़ो] छोड़ दो ।

ब्रूते भी धूमसे बलुधित, क्षणिक स्थितिवाले घोर चारों ओर ज्वालाओंका ताण्डव  
करनेवाले इस क्षणनिम्ने में अपने भाग्यके दोषसे ही डर गया हूँ । घोर क्या [बुरा जाय]  
हे मित्र ! रुमएवन् तुम मेरे हृदयके भीतर भरे हुए शोकानलको नहीं देख पा रहे हो इसी लिए  
[अग्निमें जलकर मरनेके द्वारा] प्रियाका अनुसरण करनेमें मुझे रोक रहे हो । मैं समागत  
प्रय क्या कहूँ ।

वासवदत्ताके प्रति विशेष आग्रह होनेसे [उसके अग्निमें जलकर मर जानेका समाचार  
सुनकर राजाको] उसीका स्मरण हो आया है [नितको ये मृगया आदिसे प्रसङ्गमें भूल  
गये थे] । इसी प्रकार [तापसवत्सराजके] अगले अङ्कमें भी नायकके 'विन्दु' [अर्थात् अन्य  
आवश्यक कार्योंके प्रसङ्गसे कुछ समयकेलिए विस्मृत अवस्थाकी स्मृति] का निगमन किया  
गया है ।

यहाँ 'तदेवानुमहितम्' में 'तन्' पदमें 'प्रियागमागमोत्सुक्य' का ग्रहण करना चाहिए ।  
'तदेव' में 'तन्' पद ननु सङ्गतिहीन है इस लिए उससे न ता वासवदत्ताका ग्रहण हो सकता  
है और न आग्रहका ग्रहण हो सकता है । इस लिए यहाँ वासवदत्ताका स्मरण या आग्रहका  
स्मरण नहीं घटित प्रियाके समागमके औत्सुक्यका स्मरण हुआ है ।

इसी भाँति [नायकके] सहाय, अथवा [नायक घोर सहाय] दोनों घोर विपन्न [अर्थात्  
प्रतिनायक घोर उसके सहायक] का भी अग्ने [विस्मृत] व्यापारका स्मरण रूप 'विन्दु' समझ  
लेना चाहिए । [अर्थात् उनके उदाहरण नाटकोंमें स्वयं दूढ़ सेने चाहिए] ।

ऊपर २८वीं कारिकामें बोज, पताका, प्रकरी, बिन्दु तथा बाय रूप पाँच उपाय बड़े  
पर थे उनमें से बिन्दुअर्थात् चार उपायोंका विशेष विवरण समझ यहाँ तक कर दिया ।

अथ कार्यं विवृणोति—

[सूत्र ३५]—साध्ये बीजसहकारी कार्यम् ।

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते, बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य, सहकारी सम्पूर्णादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाधिपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थः, चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम् ।

अयमत्रोपायानां निबन्धसंक्षेपः ।

सहायानपेक्षाणां नायकानां पृष्ठे बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः ।  
सहायपेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यां, अन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति ।

प्रथमं अन्तिम उपाय 'कार्यं' वेप रह जाता है । इसका लक्षण आदि करते हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चेतन और अचेतन वर्गमें जो उपायोका द्विविध विभाग किया गया है उसमें सबसे प्रथम उपाय बीज तथा सबसे अन्तिम उपाय कार्य इन दो उपायोको प्रचेतन उपायोके वर्गमें रखा गया था । वैसे कार्यका जो लक्षण आगे किया जा रहा है उसमें भी कार्यको बीज का सहकारी बतलाया गया है । इस लिए इन दोनोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है ।

प्रथम कार्यकी व्याख्या करते हैं—

[सूत्र ३५]—साध्य [अर्थात् प्रधान फलकी सिद्धि] में बीजका सहकारी [द्रव्य, गुण आदि अचेतन साधन] 'कार्य' [कहलाता] है ।

प्रधान-नायक, पताका-नायक या प्रकरीनायकोंके द्वारा साध्य अर्थात् प्रधान फल रूपसे अभिप्रेत, [ विषय ] में [ बीजस्य अर्थात् ] प्रारम्भावस्थाके रूपमें आरोपित बीज अर्थात् प्रधानोपाय रूप बीजका सहकारी अर्थात् [उसको] पूर्णता तक पहुँचानेवाला सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय रूप द्रव्य, गुण, क्रिया आदि सारा ही [अचेतन साधनभूत] अर्थ, चेतनों के द्वारा फल [साध्यकी सिद्धिमें विशेष रूपसे प्रवृत्त अर्थात् उपयुक्त] कराया जाता है । इस [चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम्] इति व्युत्पत्ति] से 'कार्य' [कहलाता] है ।

यह पाँचो प्रकारके उपायोका सक्षिप्त रूपमें वर्णन हुआ ।

ये पाँचो उपाय सर्वत्र अपरिहार्य नहीं हैं । बिन्दु आवश्यकताके अनुसार ही उनका उपयोग किया जाता है । जिन नायकोंको सहायकोकी विशेष आवश्यकता नहीं होती है और स्वयं अपने सामर्थ्यसे ही जो सारे कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उनके चरित्रको लेकर लिखे गये नाटकोमें पताका तथा 'प्रकरी'का कोई उपयोग न होनेसे उनकी रचना नहीं की जाती है । उस दशामे इन नाटकोमें तीन ही उपायोका प्रयोग होता है । सहायकोकी आवश्यकता जिनको पड़ती है उनके चरित्रमें आवश्यकतानुसार केवल पताका या केवल प्रकरी किसी एक का उपयोग होनेपर चार, और दोनोंका उपयोग होनेपर पाँचो उपाय क्रममें आते हैं । इसी बातको प्रयत्नकर आगली पंक्तिमें कहते हैं—

सहायकोकी अपेक्षा न रखनेवाले नायकोंके चरित्रमें बीज, बिन्दु और कार्य तीन ही उपाय [प्रयुक्त] होते हैं । और सहायकोकी अपेक्षा रखनेवाले नायकों [के चरित्रमें] में तो पताका तथा प्रकरी दोनोंको मिलाकर पाँच, अथवा उन दोनोंमेंसे किसी [एकको बीजादि तीनके साथ] मिलाकर चार [उपायोका प्रयुक्त किए जाते] हैं ।

अधामीषा मुख्यत्वव्यवस्थायां हेतुमाह—

[ सूत्र ३५ ]—कार्यैस्तु मुख्यता ।

कार्यैः फलं प्रत्युपकारविशेषैः । पुनर्जीवादिनां भुग्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निरन्वनीयम् । तत्र बीजविन्दोस्तावन्मुख्यत्वमेव, सर्वव्यापित्वात् । पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोर्महत्याणां वा भुग्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम् ।

तत्र पताकाया मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्र-विरचिताया मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्य आर्यकस्य ।

प्रकर्या यथा—वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायां सीतायाम्भटपत्ययोरच पालन-संयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य बाल्मीकिः ।

उभयोयथा—रामप्रबन्धेषु सुग्रीव-विभीषण-जटायु-हनुमदङ्गवादीनां च । पताका-प्रकर्योरुपलब्धे अभ्यावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वम् ।

उपायाकी मुख्यता के नियायक हेतु—

[ पाँचो उपायोके लक्षण आदि करनेके बाद ] अब इनकी मुख्यता [ और गौणत्व ] की व्यवस्थाने हेतु बतलाते हैं—

[ सूत्र ३५ ]—[ कलके प्रति उपकार विशेष रूप ] कार्यके अनुसार मुख्यता [ निर्धारित ] होती है ।

कार्यं धर्मात् फलके प्रति उपकार-विशेषके द्वारा बीजादि [ उपायों ] की मुख्यता धर्मात् बाहुल्य अथवा प्रधानत्वकी रचना करनी चाहिए । उन [ पाँचो उपायों ] में [ अचेतन उपाय ] बीज तथा [ चेतन उपाय ] विन्दु इन दोनों [ नाटकमें आदिसे अन्त तक ] सर्वत्र व्यापक होनेसे मुख्यता ही होती है । पताका, प्रकरी और कार्य [ इन तीनों उपायों ] की तो मुख्य फलके प्रति उपयोगिताकी दृष्टिसे [ कहीं ] एककी [ कहीं ] दोकी अथवा [ कहीं ] तीनोंकी मुख्यता और दोषकी गौणता [ अनुमुख्यता ] होती है ।

उनमेंसे पताकाकी मुख्यता [ का उदाहरण ] जंमे की मूदक [ जयि ] विरचित मृच्छकटिक [ नाटक ] में पूर्व उपकारके कारण बशीभूत आर्यक [ नामक पताकानायक ] की [ मुख्यता पाई जाती है ] ।

प्रकरी [ नायक ] की [ मुख्यताका उदाहरण ] जंमे वीरनाग विरचित 'कुन्दमाला' [ नाटक ] में [ रामद्वारा परिश्रमता भूमिणी ] सीता और उसके [ पुत्र सव दोनो ] पुत्रोंका पालन तथा [ उन दोनों पुत्रों सहित सीताका रामके साथ ] संयोग करने [ रूप कार्य ] के द्वारा अपने पिता फलकी अपेक्षा न रखनेवाले [ इसलिये प्रकरी नायकके लक्षणमें युक्त ] धान्मोक्षिकी [ मुख्यता पाई जाती है ] ।

[ पताकानायक तथा प्रकरीनायक ] दोनोंकी [ मुख्यताका उदाहरण ] जंमे राम प्रबन्धों में [ धर्मात् रामके परिश्रमके लेकर सिने गण नाटकीमें ] सुग्रीव, विभीषण जटायु, हनुमान् आदि की [ मुख्यता पाई जाती है ] ।

पताका-नायक तथा प्रकरी-नायकके गौण होनेपर [ अर्थात् ] अथवा सर्वता न होनेपर [ अर्थात् वा ] तब कार्यकी ही मुख्यता रहती है ।

अथ पताकाया प्रधानत्वे समर्थिते मन्धिप्रमङ्गं निरस्यति—

[सूत्र ३६]—पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनादिभिः ॥३३॥

पताकावृत्तस्य प्राधान्यनिबन्धेऽपि अनुसन्धि मुख्यवृत्तसन्ध्यनुगत सन्धि-  
र्भवति । गौण सन्धिरित्यर्थः । यद्यपि पताकायाः प्रधानत्वे मुख्यवृत्तवत् सन्ध्य-  
स्युत्थापि तेऽनुसन्ध्यो मुख्यसन्ध्युपयोगित्वेन गौणत्वान् । अपरथा पताकावृत्तस्य  
प्रामाण्यस्य न स्थानम् । सन्धिसंख्यावृद्धिश्च स्थानम् । अत एव ते सूचनादिभिर्भवन्ति ।  
आदिशब्दान् कर्वाचिदृहन्ते, लेशतो निबध्यन्ते च । न च मुख्यसन्धिभ्यः पृथग्  
गण्यन्ते । अनुसन्धिरिति एकवचनमविशेषितम् । मुख्य-निर्वाह्योरवश्यम्भाविताम् ।  
तेन द्विप्रभृतयोऽनुसन्ध्यो भवन्ति । यथा 'मयापुण्ये'—

दुर्गं भूमिरमात्य-भृत्य-सुहृदो दारा शरीरं धनं,  
मानो वैरिविमर्द-मौरयममरप्रत्येण सख्योन्नति ।  
यस्मात् सर्वमिदं प्रियाविरहिणस्तस्याय शक्ता वयं,  
न खेन्द्वासुलभं पथोऽपि घटने शैलाभरणैरपि ॥

[पाँचो साधनोमिसे पताकानायकका भी प्राधान्य कहीं हो सकता है यह बात अभी  
कही जा चुकी है । इस प्रकार] पताकाके प्रधानत्वका समर्थन करनेपर [उसके चरित्रमे भाग  
बहे जानेवाले] सन्धियोंकी भी प्राप्ति होती है, उसका निराकरण करते हैं—

[सूत्र ३६]—पताकाकी प्रधानता होनेपर [मुख्य सन्धि नहीं होते हैं किन्तु] सूचना  
आदिके द्वारा अनुसन्धि [गौण सन्धि] होते हैं । ३३ ।

पताका [नायक] के प्राधान्यका वर्णन करनेपर भी [मुख्य सन्धि नहीं होते हैं किन्तु]  
'अनुसन्धि' अर्थात् मुख्य सन्धिके अनुगत सन्धि अर्थात् गौण सन्धि होते हैं यह अभिप्राय है ।  
यद्यपि पताका [नायक] के प्रधान होनेपर मुख्य [नायक] के चरित्रके समान [उत्तमे भी मुख्य]  
सन्धि होने चाहिए फिर भी वे [मुख्य सन्धि न होकर] मुख्य सन्धिके उपयोगी [प्रज्ञ] होनेसे  
गौण होनेके कारण 'अनुसन्धि' [कहलाते] हैं । अन्यथा [यदि पताका नायकके वृत्तमे प्रयुक्त  
सन्धिकी मुख्य सन्धि हो माना जाय तो] पताका नायकके चरित्रकी गौणता [प्रासङ्गिकत्व]  
नहीं बनेगी । इसलिए [गौण सन्धि होनेके कारण] वे [अनुसन्धि] सूचना आदिके द्वारा  
प्रकाशित होते हैं । आदि शब्दसे [यह भी सूचित होता है कि] कहीं [उनकी] कल्पना की  
जाती है और कहीं अशत [अनुसन्धिके रूपमे] रचना की जाती है । किन्तु मुख्य सन्धियोंसे  
अलग उनकी गणना नहीं की जाती है । 'अनुसन्धि' [पदमे प्रयुक्त] एकवचन अविवक्षित है ।  
क्योंकि [पताका-नायकके चरित्रमे जो] मुख और निर्वहण रूप दो [अनुसन्धियों] का होना  
आवश्यक है । इसलिए [एक सन्धि तो होता ही नहीं है] दोसे लेकर [तीन-चार आदि] अनु  
सन्धि होते हैं । जैसे माया पुष्पकमे—

जिन [रामचन्द्रजी] की कृपासे [हमको] दुर्गं भूमि, अमात्य, मित्र, स्त्री, शरीर, धन,  
मान, दात्र नाशका सुख और देव-कल्प [रामचन्द्रजी] के साथ मित्रता यह सब प्राप्त हुआ है,  
आज हम प्रियासे विरहित उनके लिए द्रष्टव्य रूपमे प्राप्त होनेवाले पर्वतके समान बड़े-बड़े  
शिलाखण्डोंसे [समुद्रके ऊपर पुल बनाकर] मार्गका निर्माण करनेमे भी समर्थ नहीं हो रहे हैं  
[यह लज्जा और दुःखकी बात है] ।

अत्र मुग्धादिमन्धिनिबन्धनीयं रामेण मह मैत्र्यादिकमभ्युहसुपफलस्य सुग्रीव-  
वचनाद् रामशक्तिमम्पन्नाभ्युदय निर्दहणस्यैव वृत्तमुपनिबद्धमिति ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

मित्र दर्शेनमात्रतोऽपि गणित किष्किन्धमागत्य च,  
क्षुण्ण क्षुद्रमति ॥ साहसगतिर्दत्ता सतारा मही ।  
इत्थं तेन वितन्वता न विहितं देवेन रामेण किं,  
तन् मत्थं मम सस्य कर्तुमुचित प्राणैरपि प्रीणनम् ॥

अत्र 'मित्रम्' इत्यादिना मुग्धं, 'किष्किन्ध' इत्यादिना प्रतिमुग्ध, 'क्षुण्ण' इत्यादिना विमर्श, 'दत्ता सतारा मही' इति निर्दहणं सुग्रीववचनान् प्रकाशितम् । उत्तरार्धेन तु सुस्थनायकानुयायित्वदर्शनादनुमन्धित्वं रयापितमिति ।

प्रकर्यान्तु प्राधान्येऽपि स्वल्पवृत्तत्वान् मन्ध्यनुसन्धिचिन्तैव नास्तीति ॥३३॥

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] अनुसन्धिमै वर्णनीय रामचन्द्रके साथ मैत्री आदि  
वर्णनीय अर्थको सुग्रीवके वचनसे कल्पना करके, [अर्थात् उसका साक्षात् रूपसे वर्णन न करके]  
रामचन्द्रकी शक्तिमें प्राप्त अभ्युदय रूप निर्वहण [सन्धिमै वर्णन किए जाने योग्य] वृत्तका ही  
वर्णन किया है ।

इस प्रकार इसमें अनुमन्धि तथा निर्वहण अधिक अर्थकोका दो अनुसन्धियोंके रूपमें  
नमावेश किया गया है । इसलिए यह दो अनुसन्धियों के नमावेशका उदाहरण है । आगे चार  
अनुसन्धियोंके प्रयोगका उदाहरण राघवाभ्युदयमें देते हैं ।

अथवा जैसे 'राघवाभ्युदय' [नाटक] में [चार अनुसन्धियोंका सम्मिश्रण निम्न इसीरूपसे  
पताका-नायक सुग्रीवके वृत्तांतमें पाया जाता है]—

[जिन रामचन्द्रजीमें मुभक्तो] देखते ही अपना मित्र मान लिया, [१ मुखसन्धि], उससे  
बाद किष्किन्धामै आकर [२ प्रतिमुख सन्धि], क्षुद्रमति और साहसगति [अर्थात् छट्ठापूर्वक  
परदारोपहरण आदि अकार्य करनेवाले] उस बृष्ट [बासि] का नाश किया [३ विमर्श सन्धि],  
और [मेरी पत्नी] ताराके सहित शृषिबी [अर्थात् मेरा राज्य मुभक्तो] प्रदान की [४ निर्वहण  
सन्धि] । इस प्रकार [मेरे हितके समस्त कार्य] करते हुए भगवान् रामचन्द्रजीने [मेरे लिए]  
बया नहीं किया [अर्थात् सब कुछ किया, मेरे सारे मनोरथ पूर्ण कर दिए] । इसलिए यह  
विस्तृत सत्य है कि मुने अपने प्राणों [के मूल्य] में भी [अर्थात् प्राणोंको देकर भी] उनकी  
प्रसन्नताका सम्पादन करना चाहिए ।

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] मित्रम् इत्यादिमें मुख [सन्धि] किष्किन्धामै आकर  
इत्यादिमें प्रतिमुख [सन्धि], 'क्षुण्ण' [बासिको मारा] इत्यादिमें विमर्श [सन्धि] तथा 'दत्ता  
सतारा मही' ताराके साथ मेरा राज्य मुभक्तो प्रदान किया इसमें निर्वहण [सन्धि] [इन चार  
अनुसन्धियों] को सुग्रीवके वचनसे प्रकाशित किया है । [इसके] उत्तरार्द्ध में [अपना] मूल्य  
नायकका अनुयायित्व दिलसावर [उन मुन्नादि सन्धियोंका] अनुसन्धिय [पीए सन्धिय भी]  
गूँघित किया है ।

प्रकरी [नायक] का तो प्राणाय होनेपर ही [उसका] घोडाया ही ब्रह्म होनेके  
कारण [उतमें] सन्धि या अनुसन्धि आदिबी लिखा ही नहीं होती है ॥ ३३ ॥



(३) अथ उपायानन्तरमुद्दिष्टां दशां लक्षयितुं तद्वेदानुद्दिशति—

[सूत्र ३७]—आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।

नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥३४॥

‘नेतुः’, मुख्यं फलं प्रति बीजाद्युपायान् प्रयोक्तुः । ‘अवस्थाः’ प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः । ‘ध्रुवम्’ इति प्रधाने वृत्ते पञ्चानामवश्यसम्भावमाह । तेन प्रामाणिके द्वयादयो अनुसन्धिवद् गौणाश्च भवन्ति । नाटकलक्षणप्रस्तावान्नाटके, नाटकलक्षणानुसारिणु प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु चायं नियमः । तेन व्यायोगादौ यथालक्षणं न्यूनाद्यवस्थमपि न दोषाय । ‘क्रमात्’ इति उद्देशोक्तक्रमेणैव निबध्यन्ते, नापायवन् क्रमाक्रमाभ्याम् । प्रेक्षापूर्वकारिणां हि प्रथममारम्भः, ततः प्रयत्नः, ततः सम्भावना, ततो निश्चयः, ततः फलप्राप्तिरित्ययमेव क्रम इति ॥३४॥

(३) पाँच दशाओं का निरूपण—

पाँचवीं कारिकासे नाटकका लक्षण करते समय १ अङ्क और २ उपायके अन्तर तीसरे ‘दशा’ शब्दका प्रयोग किया गया था । ‘दशा’ भी नाटकका एक मुख्य भाग है । इसलिए उपायोका निरूपण कर चुकनेके बाद ‘दशा’ का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपोंका वर्णन करनेके बाद बीज आदि पाँच उपायोका वर्णन किया गया था । उसी प्रकार अवस्थाओं और भागों का भी जाने वाली सन्धियोंकी भी सत्त्वा पाँच पाँच हैं । इस समय पहले पाँच अवस्थाओंका वर्णन करते हैं ।

अब उपायोंके बाद उद्दिष्ट ‘दशा’ का लक्षण करनेकेलिए उसके भेदोंको गिनाते हैं [‘उद्दिशति’ नाममात्रेण कथयति]—

[सूत्र ३७]—नायकके मुख्य चरित्र [वृत्त] से १ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ [इसी] क्रमसे और अवश्य होती हैं [इससे पाँच अवस्थाओंका उद्देशमात्र किया गया है । उनके लक्षण आगे करेंगे] ॥३४॥

‘नेता’ अर्थात् मुख्य फल [की प्राप्ति] के प्रति बीजादि उपायोका प्रयोग करने वालोंके, [चरित्रसे पाँच अवस्थाएँ अवश्य होती हैं] । ‘अवस्था’ अर्थात् प्रधान चरित्रके विषयसे शरीर, बाली तथा मनके व्यापार । ‘ध्रुवम्’ इस [पद] से प्रधान [नायक] के चरित्रसे [वृत्ते] पाँचो [अवस्थाओं] की अपरिहर्ष्यता सूचित की है । इसलिए प्रामाणिक [अर्थात् पताका प्रकरी आदिके चरित्रसे] अनुसन्धियोंके समान दो आदि [अवस्थाएँ] भी हो सकती हैं और वे गौण हैं । नाटकके लक्षणका प्रकरण होनेसे नाटकसे तथा नाटकके लक्षणका अनुसरण करने वाले प्रकरण नाटिका तथा प्रकरणोंसे भी यही नियम है [अर्थात् पाँचों अवस्थाओंका होना अनिवार्य है] । इसलिए व्यापार आदिसे उनके लक्षणोंके अनुसार [पाँचो अवस्थाओंका प्रयोग न करके] न्यूनत्व [अर्थात् दो-तीन-चार अवस्थाओंका प्रयोग] भी दोषाचार्यक नहीं होता है । ‘क्रमात्’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि पाँचो अवस्थाएँ] इसी क्रमसे निबद्ध करनी चाहिए उपायोंके समान क्रम या व्यतिक्रमसे नहीं । बुद्धिमान् पुरुषोंके कार्यमें पहले आरम्भ, फिर उसके बाद प्रयत्न, उसके बाद सम्भावना, उसके बाद निश्चय और अन्तमें फलप्राप्ति यही क्रम रहता है । [इसलिए नाटकमें भी इसी क्रमसे अवस्थाओंका समावेश करना चाहिए] ॥३४॥

(१) आधारम्भं व्युत्पादयति—

[ सूत्र ३८ ]—फलायौत्सुक्यमारम्भः

फलं मुख्यं माध्यम । तदर्थमौत्सुक्यं उपायविषयं, अनेनोपायेन एतत् सिध्य-  
तीति । स्मरणोत्पत्तादि कर्म, तदनुगुणो व्यापारश्चोभयमारम्भः । उपायविषय-  
मौत्सुक्य, औत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः ।

यथा वेणीसंहारे प्रथमेऽङ्के महदेवं प्रति—

“भीमः—अथ भगवान् कृष्ण केन पश्येन सुषोभनं प्रति सन्धिं कर्तुं प्रार्हतः ।

महदेवः—आर्यं ननु पञ्चभिर्भीमैः ।” इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे प्रथमेऽङ्के—“नेपथ्ये तूर्यध्वनिः ।

कलहंसः—देव युगादिदेव-देवातायतन-मध्यावलिपटदध्वनिश्च यम् ॥

राजा—[ स्वगतम् ] अहो परमं शत्रुनम् । [ पुनर्विमृश्य ] प्रेय्याभ्येत फलहंसं  
दमयन्त्या, पार्श्वे । एषा च मकरिणा विदर्भभाषा-वेषाचारकुशला सहैव यातु ।”  
इत्यादीति ।

पिछली कारिकासे पाँचो अवस्थाओंका ‘उद्देश’ दर्शान् नाममात्रसे बयन किया गया  
था । अब उनमेंसे एक एक अवस्थाका क्रमसे लक्षण आदि बरते हैं । उनमें सब पहले आरम्भ  
अवस्थाका लक्षण देने हैं ।

(१) आरम्भावस्था—

अथ आरम्भ [अवस्था] का विवेचन करते हैं—

[ सूत्र ३८ ]—फल [को प्राप्ति] के लिए औत्सुक्य ‘आरम्भ’ [अवस्था कहलाती] है ।

फल [का अर्थ] मुख्य साध्य [है] । उसके लिए उपाय-विषयक औत्सुक्य अर्थात् इस  
उपाय [के करने] से यह [फल] सिद्ध होगा इस प्रकारका स्मरण तथा उत्पत्तादि कर्म, और  
उसके अनुकूल व्यापार दोनों आरम्भ [अवस्था होने] हैं । अर्थात् उपाय-विषयक औत्सुक्य,  
और औत्सुक्यके अनुकूल व्यापार [दोनों] आरम्भावस्था हैं यह अभिप्राय है ।

जैसे वेणीसंहारके प्रथम अङ्कमें सहदेवके प्रति [भीम कहते हैं कि]—

“भीम—अच्छा भगवान् कृष्णकी निज शरीरपर दुर्योधनके पात सन्धि करनेके लिए  
भेजा है ?

सहदेव—आर्य पाँच गाँवोंके द्वारा ।” इत्यादि ।

अथवा जैसे नलविलासके प्रथम अङ्कमें—

“नेपथ्यमें वाद्यध्वनि [सुनाई देता है] ।

कलहंस—देव, युगादिदेवके मन्दिर [देवतायतन] के मध्याकालीन पूजनके समयके  
वाद्योंका यह ध्वनि है ।

राजा [स्वगत] अहो यह बड़ा अच्छा शत्रुन है । [ फिर विचार कर ] तब इस कल-  
हंसकी दमयन्तीके पास भेज दूँ । और विदर्भ देशकी भाषा केष तथा आचार आदिकी जानने  
वाली यह मकरिणा [दासी] भी उसके साथ ही भेज दो जाय ।” इत्यादि ।

यह सब मुख्य कर्मकी प्राप्तिके लिए उपाय विषयक औत्सुक्य तथा तदनुकूल व्यापारके  
गूण है । अतः ये आरम्भावस्थाका प्रदर्शन करत हैं ।

एतासु चावस्थासु नायक-सहाय-प्रतिपक्ष-देवव्यापाराणां अन्यतमस्य, द्वयो-  
स्त्रयाणां चतुर्णां च एकस्यां, द्वयोस्त्रिसु चतसृषु पञ्चस्वपि च यथायथमुन्मीलने  
वृत्तिः । फलयोगस्तु मुरयनायकस्यैव ।

न च देवात् कर्मणः प्रारम्भाशुन्मीलने मानुषकर्माभावात्ताटवस्याव्युत्पात्त-  
हेतुत्वम् । देव-मानुषव्यापारयोः परस्परापेक्षयैव शुभाशुभफलसाधकत्वात् । देवाद-  
प्यर्थं पर्यन्त पुण्यमुपचेतुं मानुषे कर्मणि प्रवर्तेरन । उपभोगान्च जीयमाणमननु-  
कूलं देव प्रति विहितप्राणात्यया प्रतीक्षेरन्निति सर्वत्र देवस्य मानुषव्यापारापेक्ष-  
त्वात् देवायत्तफलान्यपि रूपकाणि सामाजिकानां बुद्धिसंस्फागय निबन्धनीयानि ।  
यथा पुष्पद्रुतिकं मृच्छकटिकं चेति ।

य प्रारम्भावस्थाके तदाह्येन उदाहरण ऊपरके मनुच्छेदोक्तं दिखताए हैं । प्रथ-  
मगले मनुच्छेदमे अन्वधार यह दिखताना चाहते हैं कि इन अवस्थाओंका प्रदर्शन नायकके  
व्यापार द्वारा भी हो सकता है और वही प्रतिनायक, सहायक तथा देव व्यापारके द्वारा भी  
सकता है । और वह केवल प्रारम्भावस्थामें ही नहीं अपितु सभी अवस्थाओंमें हो सकता है ।  
कभी-कभी नायक, सहायक, प्रतिपक्ष और देव व्यापारोंमेंसे दो, तीन या चारो मिलकर किसी  
अवस्था विशेषका उन्मीलन कराते हैं । कभी ये चारो या इनमेंसे एक, दो, या तीन किसी एक  
अवस्थाका प्रथवा एकसे अधिक दो तीन, चार या पाँचो अवस्थाओंका उन्मीलन कराते हैं ।  
इसी बातको अगले मनुच्छेदमें इस प्रकार दिया है—

इत [पाँचो] अवस्थाओंमें १ नायक, २ सहायक [पताका प्रकरो], ३ प्रतिनायक और  
४ देव [इन चारो व्यापारोंके] मेंसे किसी एक या दो या तीन अथवा चारोका, किसी एक  
[अवस्थाके उन्मीलन] में, अथवा दो या तीन अथवा चार या पाँचो [अवस्थाओं] के उन्मीलन  
में आवश्यकतानुसार व्यापार होता है । [अवस्थाओंका प्रकाशन या उन्मीलन चाहे किसीके  
भी व्यापारसे हो किन्तु] फलकी प्राप्ति [सदेव] मुख्य नायकको ही होती है ।

इन अवस्थाओंके प्रकाशनमें देव-व्यापार भी कारण हो सकता है यह बात सभी इस  
मनुच्छेदमें कही है । देव व्यापार को पञ्चविध अवस्थाओंके प्रकाशनमें कारण माननेपर यह  
प्रश्न उठ सकता है कि नाटकका उद्देश मनीषाज्ञानके साथ कर्तव्यावर्तनकी शिक्षा देना ही है ।  
जब देवकी कारण मानेंगे तो उसपर मनुष्यका नियन्त्रण न होनेके कारण देवाधित कार्योंमें  
कोई शिक्षा नहीं मिलेगी । यह शङ्का उठाकर उसका समाधान अगले मनुच्छेदमें करते हैं—

देवके व्यापारसे प्रारम्भ आदि [अवस्थाओं] के उन्मीलन होनेपर उसमें मानुष  
व्यापारका अभाव होनेसे नाटककी शिक्षा प्रदानका हेतु नहीं कहा जा सकेगा । यह बात नहीं  
समझनी चाहिए । [क्योंकि] देव तथा मानुष-व्यापार दोनों एक-दूसरेकी सहायतासे ही  
शुभ और अशुभ फलके साधक होते हैं । [दूसरी बात यह भी है कि] आद्यसे भी अर्थकी  
प्राप्ति देखकर [देखने वाले] पुण्यका सन्ध्य करनेकेलिए मनुष्य साध्य कार्योंमें प्रवृत्त हो सकते हैं ।  
और जीवनके सकटमें पड़ जानेपर भी [विहितप्राणात्यया] प्रतिकूल देवके उपभोग द्वारा  
नष्ट होनेकी प्रतीक्षा कर सकते हैं । इसलिए देवके सर्वत्र मानुष-व्यापारकी अपेक्षा रखनेसे  
देवके अपेक्ष ही जिनका फल है इस प्रकारके रूपक भी सामाजिकोंके बुद्धिकी शुद्धिके लिए  
बनाने ही चाहिए । जैसे 'पुष्पद्रुतिक' तथा 'मृच्छकटिक' आदि [देवायत्त पक्ष वाले रूपक हैं] ।

(२) अथ प्रयत्नमाह—

[सूत्र ३६]—प्रयत्नो व्यापृता त्वरा ।

मुख्यफलोपायव्यापारणे त्वरा, अनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं, प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः । औत्सुक्यमात्रमारम्भः, परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः ।

यथा रत्नावल्याम्—

“तद्वा वि नस्ति अत्रो दमणोवाउ स्ति जद्वा तद्वा आलिह्य जधाममीहिदं करइस्स ।

[तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथा आलिंग्य यथासमीहितं करिष्ये ।” इति संस्कृतम् ।]

इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

“राजा—[ सत्वरम् ] मकरिषे प्रभवमि राजपुत्रीमिह समानेतुम् ?

मकरिषा—अहं दाव पयतिस्मं । आगमणं इणु दिव्वस्स आयत्त ।

[अहं साधत् प्रयतिष्ये, आगमनं पुनर्देवस्यायत्तम् । इति संस्कृतम् ] ।

“राजा—तद्दि यतरव ।”

इत्यादि ।

उन्से भी सामाजिकोंको शिक्षा मिलती हो है ] ।

(०) प्रयत्नावस्था—

प्रथम प्रयत्न [के लक्षण आदि] को कहते हैं—

[सूत्र ३६] —[फलके उपायोंके] व्यापारमे शीघ्रता [करना] प्रयत्न कहलाता है ।

मुख्य फल [की प्राप्ति] के उपायोंको लागू करनेमे शीघ्रता अर्थात् इस उपायके बिना यह फल सिद्ध नहीं हो सकता है । इस प्रकारके निश्चयके कारण [उपायको प्रयुक्त करनेके लिए] अत्यन्त उत्सुकता, प्रकर्षेण यत्न [प्रयत्न इस व्युत्पत्तिसे अनुसार] ‘प्रयत्न’ [कहलाता] है । [इसका अभिप्राय यह हुआ कि] केवल औत्सुक्य आरम्भ [अवस्थामे], और परम औत्सुक्य प्रयत्न [अवस्थामे परिणत] होता है ।

जैसे रत्नावलीमे—

“फिर भी दर्शनका अन्य कोई उपाय नहीं है इसलिए जैसे जैसे चित्र बनाकर ही अपनी इच्छाकी पूर्ति करता हूँ ।”

इत्यादि ।

अथवा जैसे नलविलासेके तृतीय अङ्कमें—

“राजा—[शीघ्रतासे] मकरिषे ! क्या तुम राजपुत्रीको यहाँ ला सकती हो ?

मकरिषा—मैं [अपनी ओरसे पूरा] प्रयत्न करूँगी । किन्तु आना भगवान्के अधीन है ।

राजा—तो [शीघ्र हो] यत्न करो ।”

इत्यादि ।

ये दोनों उदाहरण मुख्य फलकी प्राप्तिके प्रति उपायोंका उपयोग करनेके विषयमे

(३) अथ प्राप्त्याशां विपश्चयति—

[ सूत्र ४० ]—फलसम्भावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ॥३५॥

मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यर्थान्दृश्यते । फलान्तरा सम्बन्धान् अनिश्चितबाधकाभावाच्चोपायादीपत् प्रधानफलस्य या सम्भावना, न तु निश्चयः, सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्य आशा प्राप्त्याशा ।

यथा वेणीमंहारे तृतीयेऽङ्के ।

“भीम—कृष्टा येन शिरोरुद्धेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा,

येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरुणां पुरं ।

यस्योरः स्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,

सोऽयं मद्भुजपञ्चरान्तर्गतः सरच्चयतां कौरवा ॥”

इत्यत्र दुःशामनवधादशेषकौरववधसम्भावनेन युधिष्ठिरस्य राज्यप्राप्ति-  
सम्भवः ।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयम्बराङ्के—

“नलः—फलहंस ! मकरिणे ! फलितः म एष वां प्रयासः ।

फलहंसः—देव नावयोः प्रयासः किन्तु देवस्य स्वप्नः ।

स्वरा या परम श्रोतुव्यको प्रदर्शित कर रहे हैं । इसलिए ये प्रयत्नावस्थाके उदाहरणके रूप में यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं ।

(३) प्राप्त्याशावस्था—

अथ प्राप्त्याशा [रूप तृतीयावस्था] का विवेचन करते हैं—

[ सूत्र ४० ]—हेतुमात्रसे फलकी [प्राप्तिकी] कुछ सम्भावना [ही जाना] ‘प्राप्त्याशा’ [कहलाती] है । ३५ ।

मात्र शब्दसे [मुख्य फलके प्रतिरिक्त या मुख्य फलसे भिन्न] अन्य फलका सम्बन्ध तथा प्रतिबन्धके निश्चयका निवारण किया है । [उस हेतुके साथ] अन्य फलका सम्बन्ध न होनेसे और किसी अनिश्चित बाधकके अभावसे उपायसे प्रधान फलकी [प्राप्तिकी] थोड़ी सी सम्भावना, न कि निश्चय होना, प्राप्तिकी अर्थात् प्रधान फलकी प्राप्तिकी आशा होनेसे ‘प्राप्त्याशा’ [कहलाती] है ।

जैसे वेणीमहारे तीसरे अङ्कमें ।

“भीम—जिस दुष्ट [पशुना] ने पाञ्चालराजकी पुत्रीके केशको खींचा था और जिसने राजाको तथा गुरुओंके सामने उसके वस्त्रोंका भी अपहरण [करनेका यत्न] किया । जिसकी छातीका रक्त पीनेकी मैंने प्रतिज्ञा की थी वह [दुष्ट दुःशासन इस समय] मेरी भुजाओंके शिकजे-में आ गया है । हे कौरवो ! [तुम्हारी सामर्थ्य ही तो आकर अब] इसकी रक्षा कर लो ।”

इसमें दुःशासनके वधसे समस्त कौरवोंके वधकी सम्भावना हो जानेसे युधिष्ठिरकी राज्यप्राप्तिकी सम्भावना [प्राप्त्याशा] हो गई है ।

अथवा जैसे नलविलासके स्वयम्बराङ्क नामक चतुर्थ अङ्कमें—

“नल—हे कलहंस ! हे मकरिके ! तुम दोनोंका वह प्रयास सफल हो गया ।

कलहंस—देव ! हम दोनोंका प्रयास नहीं किन्तु आपका स्वप्न [सफल हुआ] ।

नल—ममभूदिदानीं स्वप्नार्थप्राप्त्याशा ।” इति ॥ ३५ ॥

(४) अथ नियताप्तिं स्पष्टयति—

[सूत्र ४१]—नियताप्तिरूपायानां साफल्यत्वात् कार्यनिर्णयः ।

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धरामावेन मङ्गलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधान-फलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो, नियता फलान्वयभिचारिणी अस्तिनियताप्ति । यथा वेणीमहारे—

“कर्मा द्यूतच्छूलानां जतुमयशरखोदीपनः सोऽभिमानी,  
राजा दुःशासनान्दे-गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।  
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यम्य दामा,  
कत्राप्ते दुर्योधनोऽमो रथयत न रुपा द्रष्टुमभ्यागतो स्वः ॥”

इत्यादिना भीमार्जुनाभ्यामेकशेषदुर्योधनान्वेषणास्तिनियताप्तिर्दाशता ।

नल—अथ स्वप्नने अर्थको प्राप्तिर्को प्राप्ता हो गई है ।” इत्यादि ॥ ३५ ॥

४ नियताप्ति अवस्था—

प्रारम्भ, यत्न, प्रीर प्राप्त्याशा रूप तीन अवस्थाओंवा वर्णन कर चुकनेके बाद अब ‘नियताप्ति’ रूप वस्तुचं अवस्थाने लक्षणोंदिका अवसर प्राप्त होता है । मत आगे उसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं ।

अब नियताप्ति [जि लक्षण आदि] को स्पष्ट करते हैं—

[सूत्र ४१]—उपायोके सफल होजानेसे कार्य [की प्राप्ति] का निर्णय ‘नियताप्ति’ कहलाती है ।

प्रधान फलके हेतुओंके, प्रतिबन्धक [बाधकों] का नाश [अभाव] हो जानेसे प्रीर [उसकी उत्पत्तिके] समस्त सहकारियोंके प्राप्त हो जानेसे कारण कार्य अर्थात् प्रधान फलका निर्णय अर्थात् अवश्य होगा हो इस प्रकारका निश्चय, नियता अर्थात् फलकी अव्यभिचारिणी निश्चित प्राप्ति होनेसे [इस व्युत्पत्तिके अनुसार] नियताप्ति [कहलाती] है ।

जैसे वेणीमहारे—

“[हम पाण्डवोंके साथ] द्यूतका दान [करके हमारा राज्य अपहरण] करने वाला, लालचे घर [जि आद करके हम सब] को जलाने वाला, दुःशासन आदिका यह अभिमानी राजा, लो भद्रयोक्ता जुहु [अथेष्ठ आदि] कर्तृरत्न [बर्त] का पित्र, श्रीपरीके बेटा प्रीर लक्ष्मी का अपहरण करानेमें पटु प्रीर [अपिच क्या कहें] पाण्डव जितके ‘शास’ हैं वह दुर्योधन अब कहा है, यत्नसाधो, हम दोनों [अर्थात् अर्जुन प्रीर भीम] जोयने [उने मारनेके लिए] नहीं केवल मितनेके लिए आए हैं ।”

इत्यादि [वचन] में भीम तथा अर्जुनके द्वारा अर्जुनके घरे हुए दुर्योधनका अन्वेषण किए जानेके कारण [पाण्डवोंकी राज्यकी प्राप्तिका निश्चय हो जाने से । यह] नियताप्ति है ।

वेणीमहारेके पञ्चम अष्टम तथा आदि लक्ष मङ्गलान्वय का वचन आचार्य प्रीर दुर्योधनका जीवन भी मष्टम पङ्क्ति अन्वय मूलित दुर्योधनकी रथम लक्ष्मी मारवि उसके रथ की भगा जाता है । ऐसी दशामें धृष्टकेतु तथा या पागे दुर्योधनका समझा रह है । उसी समय दुर्योधनका जीवन हुए भीम प्रीर अर्जुन उपर धाड़िका है । उन्ही समयमें यह

यथा वा राघवाम्युदये पण्डेऽङ्के—

“सुग्रीवः—[जाम्बवन्तं प्रति] भवतु यादृशस्तादृशो वा स पारदारिको  
राक्षसस्तथापि देवपादानां बध्यः ।

रामः—[सीतापहारं स्मृत्वा सगर्वविशदम्] कपिराज ! प्रतिराजविक्रम-  
यामिनीतपनोदये भवति सहाये सति—

निहत्य दशकन्धरं सह विपत्तरक्षः कथा—

प्रथामिरधि सङ्गरं जनकजां प्रदीप्ये ध्रुवम् ।

शशाक न स रक्षितुं रघुपतिः परेश्वरः प्रिया—

मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिशोलाहलः ॥”

इति ।

भीमकी उक्ति है । इसको सुनकर कौरवपक्षके मुख्य सेनानायकोंके मारे जाने और दुर्योधनके  
मकेले ही शेष रह जानेसे अब पाण्डवोंकी राज्य-प्राप्ति प्रायः निश्चित हो जाती है । इसलिए  
ग्रन्थकारने इसे कार्यकी ‘नियताप्ति’ रूप चतुर्थी अवस्थाके उदाहरणके रूपमें यहाँ प्रस्तुत  
किया है ।

इसी प्रकारका नियताप्तिका दूसरा उदाहरण आगे चलने बनाए राघवाम्युदय नाटक  
मेंसे प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा जैसे राघवाम्युदयके पष्ठाङ्कमें—

सुग्रीवः—[जाम्बवन्तके प्रति कहते हैं कि] हे अमत्य ! वह दूसरेकी स्त्रीका अपहरण  
करने वाला राक्षस [रावण] चाहे कंसा भी [बलवान् और विद्वान्] हो किन्तु [दूसरेकी स्त्री  
का अपहरण करने वाला होनेके कारण वह पापी है अत एव] देव पाद [भी रामचन्द्रजी] के  
लिए बध्य ही है ।

रामः—[सीताके अपहरणके दुःखको स्मरण करके गर्व तथा विषादके सहित कहते  
हैं कि] हे कपिराज ! शत्रुघ्नो [प्रतिराज] के विश्व रूप यामिनी [राम] के लिए सूर्यके  
समान [अर्थात् शत्रुघ्नके पराक्रमको नष्ट करने वाले] आपके सहायक होनेपर—

शत्रु राक्षसोंकी कथाओंकी परम्पराओंके साथ रावणको युद्धभूमिमें मार कर निश्चय  
हो मैं [जनकजा] सीताको प्राप्त कर लूँगा । फिर भी वह रघुपति दूसरोसे अपनी प्रियाकी  
रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं हुआ इस प्रकारका अपकीर्तिका कोलाहल सदाके लिए ही  
जायगा ।

यह ।

यहाँ भी फलसिद्धिके बाधकोका निराकरण और फल-प्राप्ति अर्थात् सीताके उद्धारके  
अभीष्ट साधनोंके उपस्थित हो जानेसे रामचन्द्रकी सीताके उद्धार रूप फलकी प्राप्ति निश्चय  
हो ही गया है । इसलिए यह भी ‘नियताप्ति’ रूप चतुर्थी अवस्थानाके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत  
किया गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक कार्यकी आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओंमेंसे चार अवस्थाओंका  
संक्षेप तथा उदाहरण आदि सहित विस्तार-पूर्वक विवेचन हो गया । अब एक ‘फलागम’ रूप  
अन्तिम अवस्था शेष रह जाती है । उसका निरूपण अपने श्लोकाध्यक्ष द्वारा प्रस्तुत करते हैं ।

(५) अथ फलागम निरूपयति—

[ सूत्र ४२ ]—साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागमः ॥३६॥

साक्षान् समनन्तरं, न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी । इष्टस्याभिप्रेतस्य, अथस्य प्रयोजनस्य, सम्यक् पूर्णत्वेन, भूतिरुत्पत्तिः, फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम् । इह फलम्योत्पत्त्यावेशः पञ्चम्यवस्था । उत्पन्नस्य तु नायकेन यः सम्भोगस्तन् प्रवन्धस्य मुख्य माध्यम् । अत एव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्था सङ्गच्छन्ते ।

‘नायकस्य’ इत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका विपक्ष-देवादिद्यापारैरपि निबध्यन्ते इत्युक्तं भवति । तानि तु तथा निबद्धान्यापि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति । अत एव रत्नावल्या —‘प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतोः’ इत्यादि स्वामिगत्वेनैव योगधरायणेनोक्तम् । फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबध्यते ।

(५) फलागम अवस्था—

अथ फलागम [रूप पञ्चमी अवस्था] का निरूपण करते है—

[ सूत्र ४२ ]—नायकको साक्षात् [जन्मान्तरभावी फलके रूपमे नहीं] अपितु इसी जन्म मे वापके बाद [इष्ट अर्थकी प्राप्ति फलागम] [रूप पञ्चमी अवस्था कहलाती] है ॥३६॥

[ कारिकामे ध्याया हुया ] ‘साक्षात् [यद समन्तर] गुरन्त बादमे [ होनेवाली इष्टार्थ प्राप्ति का सूचक है ] न कि दानादिते प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलके समान दूसरे जन्ममे प्राप्त होनेवाली [इष्टार्थ प्राप्ति का प्रमाण उससे होता है] । ‘इष्ट’ अर्थात् अभिप्रेत [चाहे हुए] ‘अर्थ’ अर्थात् प्रयोजनकः [सम्भूति अर्थात्] सम्यक् पूर्ण रूपसे [भली प्रकार] भूति अर्थात् उत्पत्ति । ‘फलागम’ [कहलाती] है । फलागम [इस पदमे] ‘आगम अर्थात् आरम्भ [का प्रमाण करना चाहिए] न कि [आगतत्व अर्थात् फलकी] सिद्धि । अर्थात् फलकी उत्पत्तिका आरम्भ पञ्चमी [फलागम रूप] अवस्था [से अभिप्रेत] है । और [पूर्ण रूपसे] उत्पन्न [फल] का जो नायक द्वारा उपयोग है वह प्रवन्धका मुख्य साध्य है । [अवस्था रूप नहीं] । इसलिये फलकी सिद्धिमे नायककी पाँच अवस्थाएँ [माननी] मुक्तिसङ्गत है ।

‘नायकस्य’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि फलागम रूप अन्तिम अवस्थाकी छोड़कर] प्रायः [चारों] अवस्थाएँ सचिव, नायिका, प्रतिनायक या देव आदिके व्यापारोंके द्वारा भी आयोजित हो सकती हैं [किन्तु फलागम रूप अन्तिम अवस्था केवल नायकको ही प्राप्त होती है] यह अभिप्राय है । ये [आरम्भ आदि रूप चार अवस्थाएँ] उस प्रकारसे [अर्थात् नायकसे भिन्न सचिव, नायिका, प्रतिनायक तथा देवादि द्वारा] निबद्ध होनेपर भी एव रूपमे [अन्तको] नायकमे ही पर्यवसित होती है [अर्थात् दीप चारों अवस्थाओंकी आयोजना चाहे किसीके भी प्रयत्नमे हो किन्तु अन्तमे उत्पन्न फल नायकको ही प्राप्त होता है] । इसीलिए रत्नावलीमे—‘स्वामिकी वृद्धि’ हेतुभूत इस वाक्यमे ‘इत्यादि स्वामिगत रूपमे ही [फल का निर्देश करते हुए] योगधरायणे कहा है । [अर्थात् रत्नावलीके आरम्भमे आरम्भ अवस्थाका आयोजन यद्यपि अमात्य योगधरायणे किया है किन्तु उत्पन्न फल स्वामिगत ही निर्दिष्ट किया है] । फलागम [पञ्चमी अवस्था केवल] नायकको ही वर्णित की जानी है ।



यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्गे—

“भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक् चन्द्रनाभं भयाङ्गे,  
लक्ष्मीराये निपण्णा चतुर्दधिपयसीमेया सार्धमुर्व्या ।  
भृत्या मित्राणि योधाः कुर्वन्लभनुजां दग्धमेतद् रणान्नी,  
नामैकं यद् भूमीषि क्षितिप ! तद्घुना घातैराप्रम्य जेपम् ॥”

इत्यनेन दुर्योधन इत्वा भीमसेनेन युधिष्ठिरराज्यसमर्पणफलयोगो दर्शित ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

“वेदेही हतवांस्तदेव महत मन्त्र्ये विप्लवा क्लृप्तमान,  
चक्रोत्पादितस्त्रधरो दशमुखः कीनाशदासीकृत ।

फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके लक्षणकी व्याख्यामें ‘साक्षात्’ तथा ‘फलागम’ इन दो शब्दोंकी व्याख्यापर ग्रन्थकारने विशेष ध्यान दिया है । ‘साक्षात्’ एवसे उन्होंने यह अर्थ लिया है कि इष्ट अर्थकी प्राप्ति वानादि बर्मासे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि रूप फलके समान जन्मान्तरभाविनी न होकर ‘साक्षात्’ इसी जन्ममें घोर बर्माके अनन्तर ही होनी चाहिए । इसका कारण यह है कि यदि नाटकमें श्री जन्मान्तरभाविनी फलप्राप्तिका वर्णन किया जाय तो फिर प्रेक्षककी बर्मा और उससे फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूपसे गृहीत न हो सक्तेसे उसे नाटकसे वर्तमान्यन्तर्गतकी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकेगी । इसलिए फलप्राप्ति साक्षात् रूपमें ही अङ्कित होनी चाहिए ।

दूसरा बन्त उन्होंने ‘फलागम’ पदकी व्याख्यापर दिया है । फलागम शब्दसे उन्होंने फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति नहीं अपितु केवल फलप्राप्तिका आरम्भ यह ग्रन्थ लिया है । इसका कारण यह है कि फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति तो अवस्थाके भीतर नहीं आती है । वह तो अन्तिम साध्य है । यहाँ अन्तिम साध्यका नहीं अपितु केवल अवस्थाशोका वर्णन चल रहा है । इसलिए फलागम शब्दमें फलप्राप्तिका आरम्भ यह अर्थ ग्रन्थकारने लिया है । जो सर्वथा उचित है ।

आगे फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके दो उदाहरण देते हैं ।

जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें [भीम कह रहे हैं]—

[दुर्योधनके] शरीरको पृथिवीपर पटककर उसका यह रक्त मेने चन्द्रनके समान अपने शरीरमें लगा लिया है । चारों समुद्रोंका जल जिसकी सीमा है इस प्रकारकी पृथिवीकेसाथ लक्ष्मीको आर्य [युधिष्ठिर] में स्थापित कर दिया है । [कौरवोंके] भृत्य, मित्र, योषाणः, कुलसेना और [दुर्योधनके] भाई सब इस अरणाग्निमें भस्म हो गए । हे राजन् [युधिष्ठिर] । आप जिस नामको बोल रहे हैं [छत्राष्टके पुत्र] दुर्योधनका केवल एक वही [नाममात्र ही] जेप रह गया है ।

इससे दुर्योधनको मारकर भीमसेनने युधिष्ठिरको राज्यापारण रूप फलको प्रदर्शित किया है । [अतः यह फलागमका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमें [राम कह रहे हैं कि]—

[रावणने] वेदेहीका अपहरण किया था इसलिए सधाममें महान् बटोंको सहवर भी चक्रमें गर्दन बाँटकर उस रावणको यमराजके अर्पित कर दिया । किन्तु उस [सीता] को

प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विवृतवाङ्मतेन त्रपासुन्दरं,  
चक्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलचः क्षमः ॥”

इति ।

इह च तावन् पुरुषकारमात्राभिनिवेशिनां देवमपाकुर्वता नास्तिकानां देव-  
चतुष्टयानव्युत्पत्तये पुरुषकारोऽप्यफलमतदभावोऽपि सफल इति दर्शनीयम् । ततो  
देवायत्तरुने द्रष्टृचारुत्तादिरूपके पुरुषव्यापारस्य गौणत्वान् यथं प्रारम्भादय  
स्यु ?

न, तत्रापि नायकस्य फलार्थित्वान्, फलस्य च प्रारम्भादिनान्तरीयकत्वान् ।  
अनुमान्यपि हि मन्थ्यानि घृष्टिसेवाप्यायितायां भुवि उच्छूनता-मन्थ्यभवन-पुष्पोद्गम-  
क्रमेणैव फलन्ति ।

यद्यपि हि सेवाद्युपेयव्यापारविमुख- पुरुषो न व्याप्रियते, तथापि देवदेरितो  
राजादिव्याप्रियत एव । स च राजादिगतो व्यापारः पुरुषगत एव । तद्व्यापारमाय-  
फलार्थित्वान् । अथवा पश्यत प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यादिति ॥३६॥

विरहमे भी जो मे प्राणोंको धारण किए रहा इसलिये लज्जित हुआ मैं अपने लगनेसे युक्त  
[त्रपासुन्दर] मुखको उसके [सीताके] सामने दिखलानेमें समर्थ नहीं हूँ ।

इसमें [कलामम रूप पञ्चमी अवस्थाका चलन है] ।

ऊपर यह प्रस्ताव था कि प्रारम्भादि अन्य अवस्थाओंकी योजना देवके व्यापारमें  
भी हो सकती है । किन्तु उसका फल नायकको ही प्राप्त होगा । इसीका समर्थन करते हुए  
आगे उसी विशेष उपयोगिताका प्रतिपादन करते हैं ।

केवल पुरुषार्थको मानने वाले और देवका तिरस्कार करने वाले नास्तिकोंको भी  
देवमें धृष्टा करानेके लिए [कहीं] पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है और उसका अभाव [अर्थात्  
देव] भी सफल हो जाता है यह बात यहाँ तादृशमे दिखलानी चाहिए । इसलिये केवल देवके  
अधीन फल वाले 'विरह चादत्त आदि रूपकोंमें पुरुषके व्यापारके गौण हो जानेमें प्रारम्भ  
आदि [अवस्थाओं] कंगे हो सकती हैं [यह शङ्का यदि उठाई जाय तो]—

टीक नहीं है । क्योंकि यहाँ भी नायकको फलकी कामना होती ही है । और फल  
प्रारम्भादिके बिना नहीं हो सकता है । [इसलिये उसमें भी प्रारम्भादि अवस्थाओंका समावेश  
हो सकता है] । फिर कोण कृष्ण बीज भी [अथ किसी प्रकार लेनेमें पर जाते हैं तो वे] धर्ममें  
तर हुई भूमिमें फलकर [अथ पृथ्वी पर] पीदा बन कर और फल कर प्रथमे ही फलते हैं  
[इसी प्रकार बिना पुरुषार्थके केवल भाग्यके द्वारा कोण गाँव कर्म बीज भी प्रारम्भादि अव-  
स्थाओंके द्वारा ही फलको उत्पन्न करते हैं] ।

यद्यपि सेवा आदि ममत्त व्यापारोंमें रहित [राजादि महान्] पुरुष [स्वयं] किसी  
कार्यको नहीं करता है किन्तु देवमें प्रेरित अथवा राजा आदि होनेपर [स्वयं भी देव-व्यंग्याके  
अनुसार] व्यापार करता ही है । और राजादिगत यह [देव प्रेरित व्यापार भी] पुरुषका ही  
व्यापार होता है । [यद्यपि उस दली-] व्यापार द्वारा होने वाले फलका आर्थो यत् [राजादि]  
ही होता है । अन्यथा [यदि यह फलार्थो न हो तो] बादमें प्राप्त होनेवाले फलको भी स्वीकार  
न करें ॥३६॥

(४) अथ दशानन्तरमुद्दिष्टान् व्याख्यातुं सन्धीनुपक्षिपति—

[सूत्र ४३]—मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽऽमर्श-निर्वहणान्यमी ।

सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ॥३७॥

मुखस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागा, परस्पर स्वरूपेण चाङ्गं सन्धीयन्ते इति सन्ध्य । अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता, अवस्थासमाप्ती समाप्यन्त इत्यर्थः । अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणेषु पञ्चावस्थ्यभाविनः । समवकारादौ तु विशेषोपादानादनत्वेऽपि न दोषः । क्रमादिति मुखानुद्देशक्रमेण अवस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते । इह तावत् प्रबन्ध-निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्भागैः परिकल्प्यते । एकैकश्च भागो द्वादश-त्रयोदशोऽत्यादिरूपया अङ्गसम्यया चिभज्यते । प्रासङ्गिकवृत्तसन्धयस्तु मुख्यसन्ध-नुयायित्वादनुसन्धय एवेत्युक्तमेवेति ॥३७॥

(५) सन्धि-निरूपण—

१वी कारिकायां निर्दिष्ट नाटक सक्षणमे 'अङ्क' 'उपाय' और 'दशा' के बाद 'सन्धियों' का उल्लेख किया गया है । प्रत्येक दशाभोका निरूपण कर चुकने के बाद प्रत्येक सन्धियों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । पाँच अर्थोपक्षेपक, पाँच अङ्क और पाँच दशाभोके समान सन्धियों की संख्या भी पाँच ही है । यहाँसे आगे उन पाँचों सन्धियों का निरूपण किया जायगा ।

अथ 'दशा' के अनन्तर कहें हुए [सन्धियों] की व्याख्या करने के लिए 'सन्धियों' का प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र ४३]—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण ये [पूर्वोक्त] पाँच अवस्थाओं का क्रमशः अनुगमन करने वाले मुख्य कथानके पाँच भाग 'सन्धि' कहलाते हैं ॥३७॥

मुख अर्थात् स्वतन्त्र महावाक्य [नाटक के कथाभाग] के प्रथम अर्थात् भाग, परस्पर अपने अपने और अङ्गों के साथ मिलते हैं इसलिये 'सन्धि' [कहलाते हैं] । प्रारम्भ आदि [पाँच] अवस्थाओं के साथ चलने वाले [हैं इसलिये] अवस्थाओं की समाप्तिपर [सन्धि भी] समाप्त हो जाते हैं । यह [अवस्थानुगा] पदका अभिप्राय है । [नाट्यक्रमे अवस्थाओं के सक्षणमे कहे गए 'ध्रुव' पदके] अवस्थाओं के अपरिहार्य होनेसे [उनका अनुसरण करने वाले पाँचों सन्धि भी नाटक प्रकरण नाटिका और प्रकरणोंमे अपरिहार्य हैं । समवकार आदि [स्वभाव के अथ भेदों] से तो [सन्धियों की संख्याका] विशेष रूपसे निर्देश होने के कारण क्रम [सत्या] होने पर भी दोष नहीं है । [कारिकायां आगे हुए] 'क्रमात्' इस [पद] से मुख आदि रूपसे उद्देश्य समते [अर्थात् क्रम क्रमसे उनके नाम इस कारिकायां गिनाए गए हैं उसी क्रमसे] और अवस्थाओं के क्रमसे ही [सन्धियोंका] समावेश किया जाता है । यहाँ [नाटकमे] प्रबन्धमे वर्तनीय कथाभागको [प्रारम्भ आदि] अवस्थाओं के भेदमे पाँच भागोंमे विभक्त किया जाता है । और उनमेंसे प्रत्येक भाग चार-तेरह आदि रूप अङ्गों की संख्यामे बाँटा जाता है । [ये ही पाँच सन्धि और चार-तेरह आदि सङ्ख्यङ्क कहलाते हैं] । प्रासङ्गिक [पनाका आदि के] परिचय सन्धि तो मुख्य सन्धियों के अनुगामी होने के कारण 'अनुसन्धि' ही होने हैं यह बात ध्यान रखी जा चुकी है ॥३७॥

(१) अथ मुख लक्षयितुमाह—

[सूत्र ४४]—मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।

प्रारम्भावस्थाभाषित्वान् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम् । 'बीजोत्पत्तेः' मुख्योपायोपक्षेपस्य, 'रसानां' च शृङ्गारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र । प्रारम्भोपयोगी याचानर्थराशि प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखमन्विरित्यर्थः ।

यथा 'रत्नावल्या' प्रथमोऽङ्कः । अत्र हि सागरिकाराजदर्शनरूपे अमात्य-प्रारम्भविषयोक्तुनेऽर्थराशी राज्ञः प्रथमं महावराहदर्शने अद्भुतं, प्रहृतहरिणीदर्शने करुणं, पुनराश्रमदर्शने अद्भुतं, हरिणीवधभ्रवणदुःखस्य कुलपते रीतिः, ततः पृथिवीसुवर्णदानाभ्युपगमे राज्ञो दानवीर इति । रसप्राप्तौ नाट्यविधिरिति रसाश्रयस्वमुत्तरसन्निध्यपि द्रष्टव्यमिति ।

यथा वा 'मत्स्यहरिश्चन्द्रे' प्रथमोऽङ्कः । तत्र हि कुलपतिप्रारम्भविषयीकृते पृथिवी-सुवर्णदानाभ्युपगमरूपे अर्थराशी राज्ञः प्रथमं महावराहदर्शने अद्भुतं, प्रहृतहरिणीदर्शने करुणं, पुनराश्रमदर्शने अद्भुतं, हरिणीवधभ्रवणदुःखस्य कुलपते रीतिः, ततः पृथिवीसुवर्णदानाभ्युपगमे राज्ञो दानवीर इति । रसप्राप्तौ नाट्यविधिरिति रसाश्रयस्वमुत्तरसन्निध्यपि द्रष्टव्यमिति ।

(१) मुखसन्धि—

अथ मुख [सन्धि] का लक्षण करनेके लिए कहते हैं—

[सूत्र ४४] बीजकी उत्पत्ति तथा रसका आश्रयभूत मुख्य कथाभागका [मुख] समान रायसे पहिले दिखलाई देनेवाला] भाग 'मुखसन्धि' कहलाता है ।

[कथाभागकी] प्रारम्भावस्थाके साथ होनेके कारण प्रधान वृत्तका [प्रारम्भिक] भाग मुखके समान [समने पहिले दृश्य होनेसे] 'मुख' [सन्धि कहलाता] है । बीजकी उत्पत्ति अर्थात् मुख्य उपायके [उपक्षेप] प्रारम्भका और शृङ्गारादि रसोंका आश्रय अर्थात् अवतरण जिससे होता है [यह मुखसन्धि कहलाता है] । अर्थात् [नाटकके] प्रारम्भका उपयोगी जितना अर्थरसित और प्रसक्तानुप्रसक्त अर्थात् परम्परित रूपसे विचित्र रसोंका [जितना] सन्निवेश [प्रारम्भके लिए उपयोगी है] वह सब मुखसन्धि [के अंतर्गत] है ।

जैसे रत्नावलीमें प्रथम अङ्क [मुखसन्धिका उदाहरण है] । क्योंकि उसमें प्रमात्य [पृथिवीधरायण]के प्रारम्भ [व्यापार] के विषयभूत सागरिकाके राजाके द्वारा देने जाने रूप अर्थमनुदायमे पृथिवीक साप्राप्त्यको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले अमात्य योगधरायणका वीररस, वमत रूप [उद्दीपन] विभाव से युक्त वत्सराजका शृङ्गाररस पुरषामिषाके प्रमोदके अवलोकनसे अद्भुत और उसके बाद उत्थानमे जानेमे भ्रमर फिर शृङ्गार [पाया जाता है] । इस प्रकार [मुखसन्धिमे विचित्र रसाश्रयत्व पाया जाता है] ।

अथवा जैसे मत्स्यहरिश्चन्द्रे प्रथम अङ्क [मुखसन्धिका उदाहरण है] । उगमे कुलपति का प्रारम्भके विषयभूत पृथिवी और सुवर्णदानके स्वीकार करने रूप अर्थमनुदायमे राजाका प्रथम महावराहके दर्शन रूप अद्भुत, [उसके बाद] भारी गर्ज हरिणीकी डेननेपर करुण, उसके बाद आश्रमके डेननेपर अद्भुत, फिर हरिणीवध [का महावराह] की मुनवर दृष्ट दृष्ट कुलपतिका रीति और फिर पृथिवी और सुवर्ण का दान करनेपर राजाका दानवीर [रस] पाया है । [इस प्रकार इस नाटकमें भी मुखसन्धिमे जितना रसोंका विचित्र सन्निवेश किया गया

(२) अथ प्रतिमुखं व्याचष्टे—

[ सूत्र ४५ ]—प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटनमन्वितः ॥३८॥

‘प्रधानवृत्तांश’ इहोत्तरेषु च स्मर्यते । कियल्लक्ष्यस्य मुख्यमन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीयन् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्य, उद्घाटेन प्रबलप्रकाशनेन, सम्यगनुगतः, प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्नो य प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति ‘प्रतिमुखम्’ ।

“द्वीपादन्यस्मादपि” इत्यादिना ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुख्यसन्धौ न्यस्तं, बसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहितत्वादीपलक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गतारचित राज-सागरिकासमागमेन द्वितीये अङ्के उद्घाट इति ॥३८॥

है । अत एव यहाँ भी मुखसन्धि रसावय है । नाट्यकी रचनाका प्रण ही रस है इसलिए [प्रतिमुख आदि] अगली संधियोंमें भी रसावयत्व होना चाहिए ।

(२) प्रतिमुखसन्धि—

अब प्रतिमुख [सन्धि] की व्याख्या करते हैं—

[ सूत्र ४५ ]—[ मुखसन्धिमे ] सूक्ष्मरूपसे दिखलाई देने वाले [ विषयस्य ] बीजके उद्घाटनसे युक्त प्रति मुख [सन्धि] होता है ॥३८॥

[मुखसन्धिके लक्षणमेसे] ‘प्रधानवृत्तांशः’ इस भागकी अनुवृत्ति यहाँ [इस प्रतिमुखके लक्षणमे] तथा आगे [गर्भ सन्धि आदिके लक्षणमे] भी आती है । [‘इह उत्तरेषु च त स्मर्यते’ इस वाक्यका यह अर्थ किया है] । ‘किवल्लक्ष्यस्य’ [यवका अभिप्राय यह है कि] मुखसन्धिमे घूठ रूपसे आरोपित किए गए, इसलिए सूक्ष्म रूपसे दिखलाई देने वाले बीजके अर्थात् प्रधान उपायके, उद्घाटन अर्थात् प्रबल रूपसे प्रकाशनसे, सम्यक् अर्थात् स्पष्टरूपसे अनुगत, प्रयत्नावस्थामात्रमे व्याप्त, प्रधान वृत्तका जो भाग होता है वह मुखके सामने आगे विद्यमान होनेसे ‘प्रतिमुख’ [प्रतिमुखसन्धि कहलाता] है ।

प्रतिमुखसन्धिके लक्षणकी इस व्याख्यामें तीन बातें कही गई हैं । पहली बात तो यह यही है कि ‘प्रधानवृत्तांश’ इस भागका सम्यग्मुखसन्धिके लक्षणसे यहाँ भी साना चाहिए । दूसरी बात यह है कि मुखसन्धिमें बीजका सूक्ष्मरूपसे जो निवेश किया जाता है उसका प्रतिमुखसन्धिमें अधिक स्पष्ट रूपसे विकास उद्घाटन किया जाता है । और तीसरी बात यह है कि जैसे मुखसन्धि गारम्भावस्थाका अनुसरण करने वाला होता है । प्रारम्भावस्थाके समाप्त होनेके साथ ही मुखसन्धि समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार प्रतिमुखसन्धि प्रयत्न का द्वितीयावस्थाका अनुगामी होना है । द्वितीयावस्थाके समाप्त होनेके साथ समाप्त हो जाता है । आगे इसीका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

जैसे [रत्नावलीमें] ‘द्वीपादन्यस्मादपि’ इत्यादिसे अमात्य [योगधरारण] के द्वारा सागरिकाका व्यापार रूप बीज [प्रथमाङ्कमे] मुखसन्धिमे [सूक्ष्मरूपसे] स्थापित किया था । यह वसन्तोत्सव, कामदेव-पूजनादिके द्वारा तिरोहित होनेके कारण धोखा-सा दिखलाई देता था । उसका सुसङ्गताके द्वारा कराए गए राजा और सागरिकाके समागमके द्वारा द्वितीयाङ्कमे उद्घाटन [अपिच विस्तार] किया गया है । [अत एव द्वितीयाङ्कका क्याभाग उग माटकेमें प्रतिमुखसन्धि कहलाता है] ॥३८॥

अथ गर्भं व्याख्यातुमाह—

[सूत्र ४६]—बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लामालाभगनेपणै ।

उत्पत्ति-उद्घाटनदशाद्व्याविष्टस्य बीजस्य औन्मुख्य फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लामालाभगनेपणै. पुन-पुन भवद्भियुक्त प्रदानवृत्ताशो गर्भसन्धि ।

यथा वेणीसहारे तृतीय-चतुर्थ पञ्चमेष्टकेषु । फलसाधकानो पाण्डवाना वृत्ते नेपथ्ये भीमसेनेन—

‘कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना’ ।

इत्यादिना प्रतिज्ञानिर्वहणोपपन्नात् विजयानुगुण्यलाभेन बीजस्यौन्मुख्यं दशितम् । तथा—

‘भगदत्तलुहिलकुम्भके’ [भगदत्तरुधिरकुम्भके] ।

इत्यादिना राक्षसीमुखसूचितेन प्रधानयोधवधेन ।

‘एषो लुधिद्वज्जुण्येणं केशेषु गिरिहय दोगे वावार्थाद्दि ।’

[‘एष लुधुष्टुम्नेन केशेषु गृहीत्वा द्रोणो व्यापाद्यते’] इति सङ्कृतम् ।

इत्यादिना राक्षसमुखसूचितेन च सेनापतिवधेन । स्वलक्षोभकारिणा कर्णे-  
३ गर्भसन्धि—

अथ गर्भं [सधि] की व्याख्या करनेके लिए कहते हैं—

[सू० ४६]—[मुख्य फलके] लाभ और प्रलाभ [अर्थात् कभी प्राप्ति की प्राप्ति और कभी प्राप्ति की निराशा] के अनुसंधानके द्वारा बीजकी कसो-मुगतासे युक्त [कथाभाग] गर्भ [सधि कहलाता] है ।

[पहिले मुख तथा प्रतिमुख सधिये कही हुई] उत्पत्ति तथा उद्घाटन रूप से प्रवर्णना से युक्त बीजका जो फल-जननके उन्मुख होना, उससे युक्त [सीमरा गर्भसधि होना है । और वह] प्राप्त्याशा रूप तृतीयावस्थासे सीमित [अर्थात् तृतीयावस्थाके साथ प्रारम्भ और उसकी समाप्तिसे साथ समाप्त होनेवाला] होता है । बार-बार होनेवाले लाभ तथा प्रलाभके अनुसंधानसे युक्त प्रधान कथाका भाग गर्भसधि [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसहारे तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अङ्कमें [गर्भसधि निम्न प्रकार पाया जाता है] । कर्णके साथ-साथ पाण्डवके धरित्रके नेपथ्यमें भीमसेनके द्वारा —

“कृष्टा येन शिरोरुहेषु” [ तृतीय अङ्कके ४७वें श्लोकमें इसका अर्थ कीष्टे, वृष्ट पर देखो ] ।

इत्यादिमें [ भीमसेनके द्वारा अपनी ] प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके उपक्रममें विजयकी अनुसंधानकी प्राप्तिसे द्वारा बीजकी कसो-मुगताका प्रदान किया है । और [उसी तृतीय अङ्कके प्रवेशमें]—

“भगदत्ते रुधिरते भरा हृषा घटा” इत्यादिसे द्वारा राक्षसीके मुगमें सूचन कराए गए प्रधान-योधा [भगदत्त] के वधके, और [उसी प्रवेशमें]

“यह धृष्टदुम्न बाल परहरर द्रोणकी मार रहा है” इसके द्वारा राक्षसक मुगमें सूचन कराए गए सेनापतिके वधके तथा [उसी अङ्कमें] अपनी सेनामें अर्जुन वधा करनेवाले कर्ण

श्वत्थाम्नो. कलहेन च दुर्योधनस्य विजयालामलक्षण पाण्डववृत्ते फलानुगुण  
वीजस्यौन्मुख्यम् । तथा—

“आ शक्तिरस्ति वृकोदरस्य मयि जीवति वत्सस्य द्वायामप्याक्रमितुम् ।”  
इति योद्धुं निष्क्रान्तेन दुर्योधनेन विजयान्वेषणरूप औन्मुख्यम् । तथा—

“राज्ञो मानघनस्य कामुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः,  
प्रत्यक्षं कुरुवान्धवस्य भिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।  
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः,  
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजल्लुण्णादसृग् वक्षसः ॥”

इत्यादिना भीमसेनेन दुःशासनबधात् विजयलाभरूपमौन्मुख्यम् । एवमत्र पुनः  
पुनर्लाभालाभगवेषणैर्वीजस्यौन्मुख्यम् दर्शितम् । अत एव फलप्राप्तिसम्भावनारूपो  
गर्भसन्धिरुच्यते ।

तथा अश्वत्थामाके फलहृते, दुर्योधनको पराजय रूप और पाण्डवोंके पक्षमें फलके अनुकूल वीज  
का औन्मुख्य [दिखलाया गया है] । तथा [चतुर्थ अङ्कमें]—

“आ । मेरे जीते रहते भीम, घरस दुःशासनकी छाया तक झूनेकी शक्ति नहीं रखता है  
[यह कहकर] पुटके लिए निकलते हुए दुर्योधनके द्वारा विजयान्वेषण रूप फलानुगुणता  
[दिखलाई गई है] तथा—

“अभिमानी और धनुर्धारी राजा दुर्योधनके सामने, कौरव यन्त्रियोंके आगे, तथा कर्ण  
एव शल्यके देखते-बैलते आज मैंने पाण्डवोंकी यधू [द्रोपदीके] के केश तथा घस्त्रोका अपहरण  
करनेवाले उस दुःशासनकी अपने तीक्ष्ण नाखूनों द्वारा फाड़ी गई धातीका गरम-गरम लहू  
उसके जीते हुए भी पी लिया ।”

इत्यादि [वाक्य] से भीमसेनके द्वारा दुःशासनके वधसे [पाण्डवोंके] विजयलाभ रूप  
फलकी उन्मुखता [दिखलाई गई है] । इस प्रकार यहाँ [वेणिसहारमें] बार-बार [विजयके]  
लाभ और अलाभके अनुसंधान द्वारा वीजकी [फलके प्रति] उन्मुखता दिखलाई गई है । अतः  
एव [यह] फलकी प्राप्ति की सम्भावना रूप गर्भसन्धि कहलाता है ।

वेणिसहार वीररस प्रधान नाटक है । उसमें पाण्डवोंका विजयलाभ मुख्य पक्ष है ।  
प्रथम अङ्कमें उसमें ‘लाक्षाशृङ्गनखिपाश्र’ इत्यादि भीमसेनकी उक्तिसे जिस वीरवधवाके नाश  
के वीजका आरोपण किया गया था उसका द्वितीय अङ्कमें अधिक उद्भेद होकर तृतीय पदुर्ध्व  
अङ्कमें उसने प्राप्ति की आशा हो जाती है । इन अङ्कोंमें अनेक स्थानोंपर वीरवधके प्रधान  
पुरुषोंके वधकी सूचना मिलती है । यह पाण्डवोंकी विजयके अनुकूल जाती है । वही वही  
दुर्योधन आदि कभी अपनी विजयके लिए प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं । वह स्थल मुख्य पक्षकी  
प्राप्तिमें बाधक प्रतीत होते हैं । सब मिलकर लाभकी आशा अधिक रहती है । इसलिए  
इस भागमें प्राप्तिवासा रूप तृतीयावस्था और गर्भसन्धि रूप तृतीय सन्धिको ही निबद्ध  
किया गया है । इसी दृष्टिसे अन्यवारने गर्भसन्धिने उदाहरणरूपमें उस भागको प्रस्तुत  
किया है ।

यह वीररस प्रधान नाटकमें गर्भसन्धिका प्रदर्शन कराया । इसी प्रकार शृङ्गार प्रधान  
नाटकोंमें भी दिखलाया जा सकता है । इसी बातको ध्यान में रखते हैं—

एवं शृङ्गारादिप्रधानेष्वपि रूपकेषु लाभालाभगवेष्टानि दर्शनीयानि ।  
इह गर्भसन्धौ अप्राप्त्यंशः प्रधानं फलसम्भावनात्मकत्वात् । अन्यथा फल-निश्चया-  
त्मक एव स्यात् । अवमर्शमन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानं फलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः ।  
इति ।

अथावमर्शमाह—

[सूत्र ४७]—उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः ॥३६॥

बीजस्य उत्पत्ति-उद्घाट-फलोन्मुख्यैर्द्विभ्रं भवनाभिमुखं यत् साध्यं प्रधान-  
फलं तद्विघ्नात्मा तत्प्रत्युद्भवसम्पादात्मा नियताप्तियुक्त्यवस्थापरिच्छिन्न प्रधान-  
वृत्ताराः, विमृशति बलवदन्तरायहेतुसम्पातप्रत्यासन्नमपि साध्यं प्रति सन्देह-  
नेताऽस्मिन्निति 'विमर्शः' । नियतफलाप्यवस्थया व्याप्तत्वेऽप्यस्य सन्धेः सम्भाव-  
नानन्तरं सन्देहस्याप्राप्त्यपि च फलं प्रति जनक-विघातयोस्तुल्यबलत्वात् सन्देहा-  
त्मकत्वम् । 'विघ्नैरपि हन्यमानाश्च महात्मानो विशेषतो यतन्ते' इति तद्वतो नियत-

इसी प्रकार शृङ्गार-प्रधान रूपकेषु भी [फलका] लाभालाभके अनुसन्धान दिखलाने  
चाहिए ।

इस गर्भसन्धिये, उसके फलसम्भावना रूप होनेसे अप्राप्तिका अथ प्रधान रहता है ।  
अग्यया [गर्भसन्धि न रहकर] फल-निश्चयात्मक [विमर्श-सन्धि] ही बन जाय । विमर्श-सन्धिये  
प्राप्तिका अथ प्रधान रहता है । क्योंकि वह फल-निश्चय रूप होता है । यह [गर्भसन्धि तथा  
विमर्श-सन्धि] भेद है ।

४ विमर्श-सन्धि—

अथ विमर्श [सन्धि] को कहते हैं—

[सूत्र ४७]—[बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन और फलोन्मुख्यके द्वारा] उद्भिन्न अर्थात्  
पूर्ण होनेके लिए प्रस्तुत जो साध्य, उसमें व्यसन आदिके द्वारा विघ्न-स्वरूप विमर्श [सन्धि]  
बहलता है । ३६ ।

[मुल, प्रतिमुल तथा गर्भसन्धियोंमें वधन ] बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन तथा फलो-  
न्मुख्यताके द्वारा उद्भिन्न अर्थात् [सफल] होनेवाला जो साध्य, अर्थात् प्रधान फल, उसका  
विघ्न-स्वरूप अर्थात् उसमें विघ्नोपनिषात रूप नियताप्ति नामक धतुर्य अवस्थासे परिच्छिन्न  
[अर्थात् धतुर्य अवस्थाके उदयके साथ उदय और उसकी समाप्तिके साथ समाप्त होने-  
वाला मुख्य कथाका भागको जिसमें कि 'विमृशति' अर्थात् बलवान् विघ्नोके आ जानेसे  
प्रत्यासन्न फलके प्रति भी नायक सन्देहमें पड़ जाता है । इसलिए [इसी व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थके  
कारण] 'विमर्श' [सन्धि कहा जाता] है । इस [विमर्श] सन्धिये नियताप्ति रूप [धतुर्य]  
फलावस्थामें व्याप्त होनेपर भी और सम्भावना [अर्थात् उत्पट बोद्धे निश्चय] के अनन्तर  
सन्देहका अवसर न होनेपर भी फलके प्रति जनक और उसके विघातक दोनोंके तुल्यबल होने  
के कारण [विमर्श-सन्धिकी] सन्देहात्मकता होती है । और [सन्देहात्मकता होते हुए भी]  
'विघ्नोमें बार-बार बाधित होनेपर भी महापुण्य और अपिच यत्न [फल प्राप्तिसे लिए]  
करते हैं' इसलिये वास्तवमें वह नियताप्ति रूप ही होता है । 'धेयानि बहुविघ्नानि' अथे  
बाधोंमें अनेक विघ्न होते ही हैं । इसलिए विघ्नके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी समीपवर्ती



फलातिरूपत्वम् । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति' इति विघ्नहेतुसम्पातेऽपि, प्रत्यासन्नवर्तिनि फले न निवर्तनीयमिति च व्युत्पादयितुमवश्यमत्र सन्धौ विघ्न-हेतवो निबन्धनीयाः । 'व्यसनादिभिः' इति आदि-शब्दात् शापादिपरिमृद् ।

तत्र व्यसनाद्विघ्नो यथा रामाभ्युदये पञ्चमेऽङ्के । रामः—

“प्रत्याख्यानरूपः कृतं समुचितं करेण ते रक्षसा,  
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।  
व्यर्थं सम्प्रति विभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा,  
रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्णः प्रिये ! नोचितम् ॥”

अत्र रावणेन यन्मायारूपसीताव्यापादनं तद्रूपेण व्यसनं सीताप्राप्तिविघ्नो विमर्शः ।

यथा वा रघुविलासे षष्ठेऽङ्के । लक्ष्मणः—

“नाकीर्णा दशरुधरी पलमुजां पत्युः शितैः पत्रिभिः,  
दत्ता नापि विभीषणाय सुहृदे लङ्काधिपत्यस्थितिः ।  
वैदेही विरहाग्निमग्नमनसो नार्यस्य सन्दर्शिता,  
जातं जन्म घृथा इहा ! रणधुराधीरेयदोष्णो मम ॥”

[फल] की प्राप्तिसे निवृत्त नहीं होना चाहिए [कितने ही विघ्न आर्थे अपने प्रयत्नकी नहीं छोड़ना चाहिए] इस बातकी शिक्षा [सामाजिकोंको] देनेकेलिए [विमर्श] सचिमे विघ्नकी कारणोंको अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए । [कारिकामे आए हुए] 'व्यसनादिभिः' से प्रादि शब्दसे शापादिका ग्रहण करना चाहिए । [अर्थात् प्रत्यासन्न फलकी सिद्धिमे जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं उसके व्यसन अर्थात् क्लेश या शापादि अनेक कारण हो सकते हैं । उनमें किसी भी कारणसे विघ्नोकी उपस्थिति दखलाई जा सकती है] ।

उनमेंसे सकट [व्यसन] के कारण विघ्न [की उपस्थितिका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदयमे पञ्चम अङ्कमे । राम [कहते हैं कि]—

‘निर्दयी राक्षस [रावण] ने प्रत्याख्यान [अर्थात् उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार] कर देनेसे उत्पन्न क्रोधके कारण तुम्हारे साथ उचित ही [व्यवहार] किया [अर्थात् रावणने तुम्हारे इन्कार कर देनेपर तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया वह उसके क्रोधके अनुरूप ही था] । और तुमने भी उस [प्रत्याचार] को इस प्रकारसे सहन किया जिससे उच्च कुलकी स्त्रियाँ आज भी गर्वसे भस्तक ऊँचा करती हैं । किन्तु तुम्हारी विपत्तियोंको साक्षीरूपसे देखनेवाले [और उसका प्रतिशर न करनेके कारण] व्यर्थ ही धनुरारण करनेवाले अपने जीवनके सोभी रामने हे प्रिये ! अपने प्रेमके अनुरूप कार्य नहीं किया ।

यहाँ रावणके द्वारा बनावटी सीताको जो मार डाला गया था उस व्यसनसे सीताकी प्राप्तिमे विघ्न या पड़नेमे यह व्यसन-जन्य विमर्श [सचि] है ।

अथवा जैसे रघुविलासेके छठे अङ्कमे । लक्ष्मण [कह रहे हैं]—

“[मैं लक्ष्मण] राक्षसराज [पलमुजां पत्युः] के दश गिरोंके समुदायको सीङ्ग बाणोंसे द्वारा काटकर गिरा नहीं पाया, न मित्रवर विभीषणको सङ्ग्रामे राजाका पद रित्ता पाया और न विरहानिते सनत्त मनवासे आर्थ रामचन्द्रको वैदेहीका दर्शन ही क्या



प्रतिज्ञामास्थितवति भीमसेने, दुर्योधने चान्तिर्जसि निमग्ने यत्नान्वेषणैरप्यनुपलभ्य-  
माने युधिष्ठिरो निर्वेदाद् विमृशन्नाह—

तीर्थे भोग्यमहोदधौ कथमपि द्रोष्णान्ते निवृत्ते,  
कर्णशोविषभोग्निं प्रशमिते शन्ये च याते दिवम् ।  
भीमेन प्रियमाहसेन रभसात् स्वत्पावशेषे जये,  
सर्वे जीवितसशयं वयमभी वाचा समारोपिता ॥

अत्र भीमक्रोधान् कार्यविनिधाते सति जाम इति क्रोधजप्रतिज्ञाविधत्तात्मा  
विमर्शः ।

एवमनेकहेतुजो विमर्शसन्धिः ॥३६॥

अथ निर्वेदणसन्धिं निरूपयति—

[सूत्र ४८]—सबीजविकृतावस्थाः, नानाभावा मुदादयः ।

फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वेदखो ध्रुवम् ॥४०॥

बीजस्य विकृतं विकार उत्पत्ति-उद्घाट फलौमुत्पादिक सप्त बीजविकृतै

तक न विकलवाली, उत्तरे बिज पूर्ण होनेवाली) प्रतिज्ञा कर लेनेपर, और दुर्योधनके जलसे  
भीतर छिप जाने तथा प्रयत्नपूर्वक खोज करनेसे भी न मिलनेपर अत्यन्त दुःख होकर  
'विमर्श' करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

"भीष्म रूप महासागरको पार कर लेनेपर, जैसे-तैसे करते द्रोणाचार्य रूप घनिलो  
सागर करनेके बाद, और कर्ण रूप भयंकर नागराजको बाँध करने तथा शल्यके इषम विषार  
णामके बाद अन्धक विजयका थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया था ऐसे समय साहज ही  
जितको प्रिय है इस प्रकारके भीमसेनके केवल [अपनी प्रतिज्ञा रूप] वारणसे हम सबको  
सशयमें डाल दिया है । [अर्थात् यदि आज दुर्योधनका यत्न नहीं लग पाता है ] भीमसेन  
अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपना प्राण त्याग कर देंगे । उस दशामें हम सबकी भी यही परि-  
णामी होगी ।

यह [विमर्श] भीमके अधिक कारण कामके विनाश जानेपर उत्पन्न हुआ है । अतएव  
क्रोध-जन्म प्रतिज्ञासे उत्पन्न विमर्श रूप विमर्श है ।

इस प्रकार अनेक प्रकारके हेतुओंसे 'विमर्श' उत्पन्न होता है । ॥३६॥

५ निर्वेदण सन्धि—

अथ धामे 'निर्वेदण' सन्धिका निरूपण करते हैं—

[सूत्र ४८]—बीज और उसके [उद्घाटन फलौमुत्पत्ता आदि] विकारों एव [प्राण  
आदि रूप] अवस्थाओंके सहित [बिन्दु पताका आदि] नाश प्रकारके भाव [अर्थात् स्वादिना  
व्यभिचारिभाव आदि अथवा बिन्दु भावि उपाय] तथा भुव आदि [सन्धिप] का पूर्ण  
पर [मुण्य] फलसे युक्त होते हैं यह निर्वेदण [नामक] पञ्चम सन्धि कहलाता है । और यह  
[रूप] कि समस्त भेदप्रवेशोंमें प्रयुक्त अर्थात् अपरिहार्य है । ४० ।

बीजकी विकृति अर्थात् उत्पत्ति उद्घाटन, फलौमुत्पत्ता आदि । बीज [उत्पत्ति] के  
तथा भारण्य आदि अवस्थाओंके सहित जो विद्यमान हैं । [यह चार्त्तिक के 'सर्व' ]

अवस्थाभिश्च प्रारम्भादिभिवर्तेन्ते । नाना विचित्रा भावाः स्थायि-व्यभिचारि-  
मास्तिवतः, अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावाः, उपाया विन्दु-पताका-प्रवरी-  
कार्याणि यत्र । मुख्यप्राप्तौ च फले रति-हाम-उत्साह-विस्मय-स्थायिभावपाटुन्यं,  
धृति गर्व-श्रोतुमुक्त्व-मदादि-व्यभिचारिषाटुल्यं च मुग्धादीनाम् । दुःखदानौ तु फले  
क्रोध-शोक-भय-तुमुग्मा-स्थायिभावपाटुन्यं, आलस्योपयादि-व्यभिचारिषाटुल्यं च  
दृष्टव्यम् । मुग्धादयो मुख्य-प्रतिमुख्य-गमे-विमर्शः । फलेन मुग्माप्येन नायक-प्रति-  
नायक-नायिका-अमाग्यादिख्यापाराः, मम्यगोचित्येन मुज्यन्त मम्यभ्यन्ते यस्मिन्  
प्रधानवृत्तानि स फलनामावस्थया परिच्छिन्नो निर्बेदगमन्भिः । धूर्वामति प्रारम्भाय  
निर्वाहारिनाभावित्वान् मयस्त्वफेदपस्यावश्यम्भावमाह । यथा रत्नापठ्यार्जुन-  
जासिकप्रवेशान् प्रभुस्याममाधेरिति ।

केचिन् मुग्धादयः मन्धयो, अवस्थाश्च यत्र प्रथम-प्रथमं संक्षेपतः पुनर-  
स्मिद्भ्यन्ते तं निर्बेदगमन्भिमाहुः । यथा मरयहरिश्चन्द्रे पण्डेऽष्टे । देवः—

विहतावस्था' पदवा अर्थं हृत्वा । आने वारिवाते 'नानाभावा' पदवा अर्थं करते हैं ।  
गता प्रवारे अर्थात् विविध भाव अर्थात् स्थायि, व्यभिचारि तथा तास्तिव [व्य भाव] ।  
अथवा 'भावयन्ति' अर्थात् फलको तिष्ठ करते हैं [इत सुगतिसे अनुगार फलोत्पत्तिसे  
जो साधन होते हैं] वे 'भाव' [कहाते] हैं । [और वे] बिबु, पताका, प्रवरी तथा कार्य रूप  
उपाय [भाव] कहाते हैं । वे] त्रिमे विद्यमान हैं [यह निर्बेदगमन्भि मां है । यह  
वारिवाते आये हुए 'नानाभावा' पदवा अभिप्राय है] गुण-प्राप्ति रूप [यत्र आने नायक] में  
रति, हाम, उत्साह, विमय आदि स्थायिभावोंका बाह्य रूप रहता है । धृति, गर्व, प्रीति,  
मद आदि व्यभिचारिभावोंका बाह्य रूप मुगति [तन्मियों] में रहता है । और दुःख-हानि  
रूप वग [वारे वपरी] में क्रोध, शोक, भय, तुमुग्मा रूप स्थायिभावोंका बाह्य रूप, तथा आलस्य,  
उपमा, आदि व्यभिचारिभावोंका बाह्य रूप [होता है ऐसा] समझना चाहिए । [वारिवाते  
आए हुए मुगति पदवा अर्थ करते हैं । मुगति अर्थात् मुग, प्रतिमुख्य, गर्व तथा विमर्श  
[रूप वार तन्मियों] । वपरी नाय अर्थात् मुनर्वाचरे नायके नाय, नायक, प्रति-  
नायक, नायिका, अमाग्य आदिसे व्यापार 'मम्य' अर्थात् उचित प्रवर्तने त्रिमे मुग  
होते हैं, अर्थात् मुख्य वपारीसे नाय सम्बन्ध होते हैं, वपारय रूप अथवा नाय मुग वह  
विबेदगमन्भि कहलाता है । [वर्तमानमें आने हुए] 'प्र' इत करते आगच्छ इत हूँ  
कार्यको समाप्ति अथवा होतो चाहिए, इतविषय समाप्त वपरीमें इतको [निर्बेदगमन्भि प्रदी]  
गता अवश्य होतो चाहिए यह सुविन किया ।] निर्बेदगमन्भि वका उदाहरण] जैसे मन्त्रावर्तोंमें  
देवद्वारिके प्रवेशमें तेकर तन्मियावर्त [का अर्थ निर्बेदगमन्भि वका पदवा है] ।  
निर्बेदगमन्भि वका द्वितीय अर्थ —

हृत्वा अर्थ तो [निर्बेदगमन्भि वका समाप्त इत प्रकार करते हैं कि] मुग आदि  
तन्मियों और वपारियों त्रिमे लक्षणेसे समाप्त-समाप्त हुआका करी करी है उपायो निर्बेदग-  
मन्भि करते हैं । जैसे मन्त्रावर्तिका [वाक] के तरे आहूते [अथवा मुनिवाक्या] इतकी  
वपरी इतकेसे मुग तन्मि आदि वका हुआका उपाय इत प्रकार किया गया है]

मन्त्रावर्तिका मन्त्रवरी वपरी १ आहूते १ वपार्य हूँ है । वाक्य वपार्यमें ही

उपक्षेपादीनि करणरहितानि युक्तिसहितानि षट् अत्रावश्य भवन्ति । विलोभनादीनि तु सर्वसन्धिष्वपि भवन्ति । संविधानकवशात् तदर्थस्यान्यत्रापि सम्भवात् । बाहुल्यनिबन्धनापेक्षया त्वत्रोपादानम् । एवमन्यसन्धिष्वपि ज्ञेयम् ।

भेदस्तु मयेशसन्धिष्वङ्गान्ते, प्रवेशक-विष्कम्भकान्ते च अवश्यं निबन्धनीय । पात्रभेदरूपत्वात् तस्य । उपक्षेप-परिकर-परिण्यास-भ्योऽपराध्यङ्गानि वृत्तानुगुण्या-  
उद्देशकमातिक्रमेणापि निबन्धन्ते । आमुखस्य च नटवृत्तत्वेन इतिवृत्तानङ्गत्वात् तदनन्तरमङ्गानां निबन्धः । द्वादशाङ्गमिति सन्धिः । संविधानरसहान्यङ्गानि सन्धिरूपस्य अङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात् ।

नही है । उस करणको हटाकर उसके स्थानपर युक्तिको जोड़ देनेपर जो उपक्षेप आदि छ अङ्ग बनते हैं उनका मुखसन्धिमे होना अनिवार्य है इस बातको अगले अनुच्छेदमे कहते हैं—

करणको छोड़कर और युक्तिको मिलाकर उपक्षेपादि छ [अर्थात् (१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिण्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद तथा (६) युक्ति ये छः अङ्ग] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमे] अवश्य होते हैं । विलोभनादि [शेष छ अङ्ग] तो सब ही सन्धियोमे होते हैं । क्योंकि रचनाके अनुसार उनका कार्य 'अ-यत्र' [अर्थात् अन्य सन्धियोमे] भी हो सकता है । [सब सन्धियोमे सम्भव होनेपर भी] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमे] उन [विलोभनादि शेष छ अङ्गों] का ग्रहण बाहुल्यके कारणसे [अर्थात् मुखसन्धिमे विलोभनादि अङ्गों का अधिकतर प्रयोग होनेके कारण] किया गया है । इसी प्रकार अन्य सन्धियो [कि अङ्गोंके विषय] मे भी सम्भना चाहिए ।

अर्थात् प्रतिमुखादि अन्य सन्धियोमे कहे हुए अङ्गोंका प्रयोग भी उस-उस सन्धिमे भिन्न अ-य सन्धियोमे भी हो सकता है । किन्तु अधिकतर प्रयोग उस-उस सन्धिमे ही होता है, इसलिए उनका ग्रहण उस-उस सन्धिमे विशेष रूपसे किया गया है ।

भेद [नामक आठवें अङ्ग] को सब सन्धियोमे, अङ्गुके अन्तमे, प्रवेशक तथा विष्कम्भको के अन्तमे अवश्य प्रयुक्त करना चाहिए । क्योंकि वह पात्र-परिवर्तन रूप होता है । उपक्षेप, परिकर तथा परिण्यास [इन तीन अङ्गों] को छोड़कर अन्य अङ्ग तो कथावस्तुकी अत्रकृतताके अनुसार उद्देश-क्रमका परित्याग करके भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं । आमुखके नटवृत्तान्त-रूप होनेसे कथावस्तुका भाग न होनेके कारण [उसके बीचमे अङ्गोंका प्रयोग न करके] उसके बाद अङ्गोंका प्रयोग किया जाता है । 'द्वादशाङ्ग' इससे बारह अङ्गवाला सन्धि गृहीत होता है । सन्धि-रूप अवयवोंके अवयव रूपसे निर्माण करनेवाले होनेके कारण [उपक्षेपादि अङ्ग] रचना [संविधानक] के अङ्ग कहलाते हैं ।

ऊपर जो हमने यह दिसलाया था कि मुखसन्धिके बारह अङ्ग, प्रतिमुख, गर्भ तथा विमर्शसन्धियोमेसे प्रत्येकमे तेरह तेरह अङ्ग तथा निर्वेक्षणसन्धिमे चौदह अङ्ग माने गए हैं । यह अङ्गसंख्या केवल उन-उन सन्धियोमे बतलाए गए अङ्गोंकी दृष्टिसे बही गई है । किन्तु उन सन्धियोमे, कहे हुए घटन अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य सन्धियोके अङ्गोंका प्रयोग भी हो सकता है । उनकी मिला देनेपर यह संख्या वाला नियम नहीं रहता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अङ्गसंख्यानियमश्च सन्धिपूर्वात्ताङ्गापेक्षया । सन्ध्यन्तरङ्गानुप्रवेशो तु न संख्यानियमः । सख्यासंक्षेपश्चाङ्गानां परस्परान्तर्भावेन प्रतिसन्धिसुकरोऽपि प्राचीनेरुक्तत्वात्, भणितिमंगिबाहुल्यस्य च चमत्कारकारित्वाद्गमाभिर्न कृतः । 'ध्रुवम्' इति मुख्यसन्धिः सर्वरूपकेष्ववश्यं भवति । निर्वहणमप्येवम् । आरम्भ-निर्वाहयोरवश्यम्भावित्वात् । प्रतिमुखादयस्तु व्यायोगादिषु यथालक्षणं भवन्ति, न भवन्ति च ।

अङ्गानि च वृत्तविस्तरकारित्वादवश्यं नियन्धनीयानि । अपरथा 'रामस्य पत्नी रावणेन बान्तादपहृता । रामेण च जटायुष समुपलभ्य, सुग्रीवं सहाय बानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य, समुद्रमेतुबन्धमाधाय, निहृत्य च रावणं प्रत्यानीता' इत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिवन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्भ्राजानुपाययुक्तै-  
नियद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात् । तथा च न चमत्कारः । किं चारञ्जमपि वृत्त अङ्गवैचित्र्येण नियध्यमानं परां रक्तिमावहति । कायेवशाच्च पुनरुक्त्यमानमपि वृत्तं अङ्गमङ्गया नियद्धमपुनरुक्तमिवाभाति । अय.शलाकाफलपत्रा च अङ्गमन्वद्वय वृत्तस्य न भवति । प्रत्येकशरचाङ्गानां प्रयोजनं यथावसरं लक्षणे दर्शयिष्यामः ॥४१-४०॥

अङ्गोंकी सख्याका नियम [उन-उन] सन्धियोंमें गृहीत अङ्गोंकी दृष्टिसे ही होता है । प्रायः सन्धियोंके अङ्गोंका अनुप्रवेश हो जानेपर तो यह सरण-नियम नहीं रहता है । श्रीर प्रत्येक सन्धिमें [कुछ अङ्गोंका] एक-दूसरेमें अन्तर्भाव करके अङ्गोंकी सख्याका संक्षेप सम्भव होनेपर भी प्राचीन आचार्योंके द्वारा न किए जानेके कारण तथा कथन-शैलीयोंके वाहुल्यके चमत्कारजनक होनेके कारण हमने नहीं किया है । 'ध्रुवम्' इस [पर]से [यह सूचित किया है कि] मुख्यसन्धि समस्त रूपकीमें अवश्य होता है । इसी प्रकार निर्वहणसन्धि भी [रूपके समस्त भागमें अवश्य होता] है । [प्रत्येक रूपक अथवा प्रत्येक कार्यमें] आरम्भ और समाप्तिके अवश्यम्भावी होनेसे [प्रत्येक रूपकमें मुख्यसन्धि तथा निर्वहणसन्धिका होना अपरिहार्य है । प्रायः सन्धियोंका सब रूपक भागमें होना अपरिहार्य नहीं है] प्रतिमुख आदि [अन्य सन्धियाँ] तो लक्षणोंके अनुसार व्यायोग आदि [रूपक] भागमें होती भी हैं और नहीं भी होती हैं ।

[प्रत्येक सन्धिमें वर्णित] अङ्गोंके, कथावस्तुके विस्तारकारी होनेसे अङ्गोंकी रचना [रूपकोंमें] अवश्य करनी चाहिए । अन्यथा [रूपककी कथावस्तु बहुत संक्षेपमें समाप्त हो जानेके कारण] चमत्कार-शून्य हो जावेगी । जैसे] (१) रामकी पत्नीको रावणने हरण कर लिया । (२) रामचन्द्रने जटायुसे [इस समाचारको] जानकर, (३) बानरोंके अधिराजपदको प्रदान करनेके द्वारा सुग्रीवको अपना सहायक बनाकर, (४) समुद्रपर सेतुबन्ध बनाकर श्रीर रावणको मारकर, (५) उसको लौटा लिया इस [रामायणकी कथा] में प्रारम्भादि अवस्थाओं के द्वारा विरचित तथा खोजादि उपायोंसे युक्त पाँचो सन्धियों [के प्रयोग] से [युक्त] रूपककी रचना करनेपर [भी] कथावस्तुका [प्रत्यक्ष] संक्षेप हो जाता है । इसीलिए उसमें कोई चमत्कार नहीं रहता है । [इसके विपरीत] अरञ्जक [नोरस] कथावस्तु भी विभिन्न अङ्गों द्वारा [विस्तार-पूर्वक] वर्णित होनेपर अत्यन्त मनोरञ्जक बन जाती है । और कार्यपद [जहाँ-जहाँ] कथाभाग पुनरुक्त होनेपर भी अङ्गोंकी शैलीसे निबद्ध होनेपर पुनरुक्त-सी प्रतीत नहीं

आखेटो मुनिकन्यका कुलपतिः कीरः शृङ्गालोऽध्वगाः,  
विप्रो म्लेच्छपतिर्मनुष्यमरणं लम्बस्तनी मान्त्रिकः ।  
उद्धतः पुरुषो वियच्चरवधूर्गोभायुनादः फणी,  
सर्वं सत्त्वपरीक्षणोत्सुकरसैरस्माभिरेतत् कृतम् ॥

आखेट इत्यादिना मुखसन्धिनिबद्धाः, कीर इत्यादिना प्रतिमुखसन्धिभाविनः,  
अध्वगेत्यादिना गर्भसन्धिप्रयिताः, मनुष्येत्यादिना च विमर्शसन्धिसूत्रिताः, यथा-  
संख्यं प्रारम्भाद्यवस्थानुगताः फलवन्तोऽर्था निर्वहणमन्यावेकवाक्यताऽऽपादनार्थं  
संक्षेपतः पुनरुपात्ता इति ॥४०॥

कुन्तल और कर्पिजलके साथ राजा हरिश्चन्द्र घोड़ेपर चढ़े हुए वराहका आखेट करते हुए  
प्रविष्ट होते हैं, इसी मृगया-प्रसंगमें एक तपोवनके समीपमें राजाके बाणसे एक गभिणी हरिणी  
की हत्या हो जाती है। यह हरिणी आश्रमके कुलपतिजी कन्याकी पालतू हरिणी थी। राजा  
को उस हरिणीके वधसे बड़ा दुःख होता है। वे अपने साधियोंके साथ आश्रममें प्रवेश करते  
हैं। वहाँ कुलपति उनका स्वागत करते हैं। किन्तु इसी बीचमें कुलपतिजी मालूम होता है  
कि उनकी कन्या अपनी प्रिय हरिणीके मारे जानेके कारण अनशन करके मरनेके लिए  
तैयार हो रही है। और उसके साथ उसकी माता भी अनशन करने जा रही है। कन्याना  
नाम वधना और उसकी माताका नाम निकुति है। कन्या और परनीके अनशन तथा हरिणी  
के वधका समाचार जानकर कुलपति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं, और राजाको बहुत खरी-  
खोटी सुनाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं कि यह राजा अपना सर्वस्व दान करनेपर ही इस पापसे  
मुक्त हो सकता है। और राजा उसी समय अपना सर्वस्व दान कर देते हैं। यह मुख-सन्धि  
का कथाभाग है। आगे की राजा हरिश्चन्द्रके अपने बेचने आदिकी कथा अगले प्रच्छोमे  
चलती है, उस सारे कथाभाग का स्पर्श करनेवाले शब्दों द्वारा कथाशेषा निर्देश अगले  
श्लोकमें 'आखेटो मुनिकन्यका कुलपति' शब्दोंसे किया गया है।

इसी प्रकार श्लोकमें आए हुए कीर शृङ्गाली, अध्वगा आदि प्रत्येक शब्द नाटकके  
अगले प्रच्छोमे वर्णित कथानक तथा विशिष्ट पात्रोंसे सम्बन्ध रखता है। इन शब्दोंके द्वारा  
मारे नाटकके कथाभागकी ससेपमें बड़ी सुन्दरताके साथ एन तरहसे पुनरावृत्ति कर दी गई  
है। इसलिए यह दूसरे लक्षण के अनुसार निर्वहण सन्धिका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ  
निम्न प्रकार है—

(१) वह शिकार, मुनिकी पुत्री, कुलपति, (२) वह तोता और शृङ्गाल, (३) वह  
पथिका, आखण और म्लेच्छराज, (४) वह मनुष्यका मरण, लम्बस्तनी, मान्त्रिक, उद्धत  
पुरुष, पक्षियोंका शब्द, शृङ्गालोंकी आवाज, और सर्व यह सब आपकी [हरिश्चन्द्रकी]  
शक्तिकी परीक्षाके लिए हमने ही किया था।

[इसमें] आखेट इत्यादिसे मुखसन्धिमें निबद्ध [अर्थ], कीर इत्यादिसे प्रतिमुख सन्धिमें  
निबद्ध [अर्थ], अध्वगा इत्यादिसे गर्भ सन्धिमें प्रयित [अर्थ] और मनुष्य इत्यादिसे विमर्श  
सन्धिमें वर्णित [अर्थ] कथन प्रारम्भ आदि अवस्थाओंसे युक्त फलवान् अर्थ एकवाक्यता  
सम्पादनके लिए 'निर्वहण सन्धिमें संक्षेपसे फिर कहे गए हैं। [इसलिए निर्वहण सन्धिके  
दूसरे लक्षणके अनुसार यह उसका उदाहरण है] ॥४०॥

अथ 'दिव्याङ्गम्' इत्यत्र अङ्ग-शब्दोपात्तानि उपक्षेपादीनि अङ्गानि विपञ्चयितुं प्रथमं (१) मुखसन्धिगतान्युद्दिशति—

[सूत्र ४६]—उपक्षेपः परिकरः परिन्यासः समाहितः ।

उद्भेद करणं चैतान्यत्रैवाथ विलोभनम् ॥४१॥

भेदनं प्रापणं युक्ति-विधानं परिभावना ।

सर्वसन्धिध्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम् ॥४२॥

'अत्रैव' इति उपक्षेपादीनि करणान्तानि मुखसन्धावेव भवन्ति । तत्रापि उपक्षेप-परिकर-परिन्यासानां यथोद्देशक्रममादावेव, समाधानस्य च रचनावशान्मध्यैरुद्देश एव, उद्भेद-करणयोस्तु उपान्त्ये निबन्धः ।

मुखसन्धिके द्वादश अङ्ग—

पाँचवी कारिका में ग्रन्थकार ने नाटक का लक्षण करते समय उसमें पञ्च-सन्धियों की वर्णा की थी । उन पञ्च-सन्धियों का विवेचन यहाँ तक समाप्त हो गया । अब आगे उन सन्धियों के अङ्गों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं । इन अङ्गों की संख्या प्रत्येक सन्धि में भिन्न-भिन्न निर्धारित की गई है । मुखसन्धि में १२ अङ्ग होने हैं । प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि तथा विमर्श सन्धि इन तीनों सन्धियों में तेरह-तेरह तथा निर्वहण सन्धि में १४ अङ्ग माने गए हैं । इस प्रकार पाँचों सन्धियों में कुल मिलाकर अङ्गों की संख्या पैंसठ हो जाती है । आगे ग्रन्थकार क्रमशः पाँचों सन्धियों के इन पैंसठ अङ्गों का वर्णन करेंगे । उनमें सबसे पहिले मुखसन्धिके बारह भेदों का उद्देश अर्थात् नाममात्रेण कथन करते हैं ।

अब [पाँचवीं कारिका में नाटक के लक्षण में आए हुए] 'दिव्याङ्गम्' इसमें अङ्ग शब्द से गृहीत होने वाले 'उपक्षेप' आदि [पाँचों सन्धियों को मिलाकर ६५] अङ्गों का विवेचन करने के लिए पहिले मुखसन्धिके [बारह] अङ्गों का उद्देश [अर्थात् नाममात्रेण कथन] करते हैं—

[सूत्र ४६]—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद, (६) करण, ये [छ] अङ्ग इसमें ही [अर्थात् मुखसन्धि में ही] होते हैं [अन्य सन्धियों में नहीं होते हैं] ।

[सूत्र ४६]—और (७) विलोभन, (८) भेदन, (९) प्रापण, (१०) युक्ति, (११) विधान तथा (१२) परिभावना ये [सात अङ्ग] सब सन्धियों में ही सन्धि हैं । [इस प्रकार] बारह अङ्गों वाला मुखसन्धि [हृत्पञ्चके समस्त भेदों में 'ध्रुव' अर्थात् अवश्य होता है ।

'अत्रैव' इसका अभिप्राय यह है कि उपक्षेप से लेकर करण पर्यन्त [छ अङ्ग] मुखसन्धि में ही होते हैं [अन्य सन्धियों में नहीं होते हैं] । उनमें भी उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास [इन तीनों अङ्गों] का इस [उद्देश] के क्रमसे [सन्धिके] प्रारम्भ में ही सन्निवेश किया जाता है । समाधान का रचना के अनुसार मध्य के [रिप्ति] एक भाग में ही तथा उद्भेद एवं करण का [मुखसन्धिके] प्रायः अन्त में [उपान्त्ये] ही सन्निवेश किया जाता है ।

कारिका में आए हुए 'अत्रैव' पद से यह कहा था कि उपक्षेप से लेकर करण पर्यन्त छ अङ्ग मुखसन्धि में ही होते हैं, अन्य सन्धियों में नहीं होते हैं । इनमें से करण नामक अङ्ग अन्य सन्धियों में तो होता ही नहीं है किन्तु मुखसन्धि में भी उसका होना आवश्यक



अथ सकलकाव्यार्थः, प्रधानरसलक्षणं प्रयोजनं च, संक्षेपेणोपक्षिप्यत इति प्रथमं (१) 'उपक्षेप' लक्षयति—

[सूत्र ५०]—बीजस्योप्तिरुपक्षेपः—

विस्तारिणः काव्याथस्य मूलभूतो भागो बीजमिव 'बीजम्' । तस्य उत्तिरा-  
वापमात्रं 'उपक्षेपः' । यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये—

द्वीपादन्यश्मादपि मध्यादपि जलनिघेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

अनीय कटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

इत्यादिना योगन्धरायणेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुः स्वव्यापारानुकूलदैवो  
बीजमुत्पन्नम् ॥

होता है । और अङ्गोसे सम्बद्ध [अर्थात् अङ्गोकी झेलीसे निबद्ध] कथावस्तु लोहेकी शलाकाके  
समान [एकदम सीधा अपरिवर्तनीय] नहीं रहता है [उसमे लचकीलापन आ जाता है जिससे  
कवि सौन्दर्याधानके लिए उसे आवश्यकतानुसार मोड़माड़ सकता है ।] प्रत्येक अङ्गका अलग-  
अलग प्रयोजन उनके लक्षणमे ध्यावसर बिलतावगे ।

इस अनुच्छेदमे ग्रन्थकारने पञ्च सन्धियोंमे कहे जानेवाले अङ्गोकी उपयोगिताके विषय  
मे सामान्यरूपसे प्रकाश डाला है । उसके अनुसार अङ्गोका प्रयोजन कथावस्तुमे घमत्कार  
को उत्पन्न करना है । अङ्गोके प्रयोगके बिना अत्यन्त सरस कथावस्तु भी नीरस बन जाती  
है । और अङ्गोके यथोचित प्रयोगके द्वारा नीरस कथावस्तुमे भी घमत्कार उत्पन्न किया जा  
सकता है । इसलिए ग्रन्थकारने रूपकोमे अङ्गोके प्रयोगको अपरिहार्य माना है । उन्हीके  
द्वारा कथाका विस्तार और लचकीलापन आता है । और पुनरुक्ति आदि दोषोका परिहार  
होता है । अत एव अङ्गोका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है ॥४१-४२॥

इन दो कारिकाओंमे मुलसन्धिके अङ्गोका उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन करनेके  
बाद अब ग्रन्थकार मुलसन्धिके बारहो अङ्गोका अलग-अलग-अलग लक्षणादि भाषे करेंगे ।  
इनमे सबसे पहिले उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गका लक्षण करते हैं—

(१) उपक्षेप—

[उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गके द्वारा] समस्त काव्यका अर्थ और प्रधान रस रूप  
प्रयोजन संक्षेपमे [बीज रूपसे] उपक्षिप्त किया जाता है, इसलिए ['उपक्षिप्यतेऽनेन इति उप-  
क्षेप' ॥ स ध्युत्पत्तिके अनुसार] सबसे पहिले 'उपक्षेप' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र ५०]—[कथावस्तुके] बीजका वपन करना 'उपक्षेप' [कहलाता] है ।

[भाषे चलकर] विस्तृत होनेवाले कथावस्तुका मूलभूत भाग [धान्यके] बीजके समान  
[होनेसे] 'बीज' [कहलाता] है । उसको डालना अर्थात् बोना [जिस अङ्गके द्वारा किया  
जाता है वह] 'उपक्षेप' [कहलाता] है ।

जैसे रत्नावलीमे नेपथ्यमे [बीजका 'उपक्षेप' इस प्रकार किया गया है]—

दूसरे द्वीपसे भी, समुद्रके बीचसे भी और दिशाके छोरसे भी अनुकूल हृद्या बँव अभि-  
मत घस्तुको लाकर मिला देता है ।

इत्यादि [कथन] के द्वारा [वत्सराज उदयनके मंत्री] योगन्धरायणने वत्सराज  
[उदयन] को रत्नावली [नायिका] की प्राप्ति करानेवाले अपने व्यापारके अनुकूल बँव रूप

(२) अथ परिकरः—

[सूत्र ५१]—स्वरूपव्यासः परिक्रिया ।

उपक्षिप्तस्यार्थस्य सुष्ठु विशेषवचनैरूपं विस्तारणं 'परिकरः' । यथा वेणी-  
संहारे भीमसेनः सहदेवमाह—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिः,  
न तत्रार्थो हेतुर्भवति न किरीटी न च युवाम् ।  
जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरुद्धं पुनरपि,  
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥ इति ।

(३) अथ परिन्यासः—

[सूत्र ५२]—विनिश्चयः परिन्यासः—

उपक्षिप्त्य, विस्तारितस्यार्थस्य विशेषेण निश्चयः सिद्धतया हृदयेऽप्यप्यपन  
परितो न्यसनं 'परिन्यासः' । यथा राघवाभ्युदये—

“मतिसागरः—देव मा शङ्किष्ठाः । प्रलयेऽपि हि किं विपरियन्ति मुनि-  
भाषितानि ?

बोजका प्राधान किमा है ।

(२) परिकर

'परिकर' [नामक मुखसम्बन्धके दूसरे शब्दको कहते हैं]—

[सूत्र ५१]—[बोज रूपमें उपक्षिप्त अर्थका] स्वरूप विस्तार 'परिकर' [नामक,  
मुखसम्बन्धका कहलाता] है ।

[बोज रूपमें] उपक्षिप्त अर्थका [स्वरूपव्यास अर्थात्] भली प्रकारसे विशेष वचनों  
द्वारा तनिक-सा विस्तार करना 'परिकर' [कहलाता] है । जैसे वेणीसंहारमें भीमसेन सहदेव  
से कहते हैं—

“मेरा कौरवोंके साथ बचपनसे ही जो वैर बन गया है उसमें न भ्राम्यं [अर्थात्  
युधिष्ठिर] कारण हैं, न धर्म न धीर न तुम दोनों [अर्थात् नकुल और सहदेव ही कारण हैं] ।  
बोधके कारण भीमसेन [अर्थात् मैं स्वयं] जरासन्धके उरःस्थलके समान परिपक्व संघिकों भी  
भङ्ग करने जा रहा है तुम लोग उसे [मत्से ही] जोड़ते रहो ।”

(३) परिन्यास—

[सूत्र ५२]—[उपक्षिप्त और तनिक विस्तारित अर्थका] विशेष रूपसे निश्चय परि-  
न्यास [कहलाता] है ।

[बोज रूपमें] उपक्षिप्त करके फिर [परिकर शब्द द्वारा] विस्तारित अर्थका विशेष  
रूपसे निश्चय अर्थात् सिद्ध मानकर हृदयमें धारण करना [परित] पूर्ण रूपसे [हृदयमें]  
स्थापित करना [‘परितो न्यसनं परिन्यासः’ इस विग्रहके अनुसार] ‘परिन्यास’ [कहलाता]  
है । जैसे ‘राघवाभ्युदये’में—

मतिसागर—हे राजन् ! अथ शङ्का न करें । क्या मुनियोंके वचन कभी प्रलयमें भी  
मिट्या हो सकते हैं ?

जनक—तत् किं भुजदण्डविक्रमाक्रान्तभारतखण्डत्रयस्य तस्यापि पराजय सम्भाव्यते ?

मतिमागरः—[स्वगतम्] अहो दुरात्मनो राक्षसस्याज्ञैश्वर्यं, यदयं रहोऽपि देवस्तद्भिवानमुच्चारयन् विभेति । [प्रकाशम्] देव सम्भाव्यत इति किमुच्यते ? सिद्ध एव किं नाभिधीयते देवेन ।" इति ।

यथा वा वेणीसंहारे—

“चञ्चद्-भुजभ्रमित-चण्डगदाभिघात—

सञ्चूणितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्यानापविद्ध-घनशोणितशोणपाणि—

रुतंसयिष्यति कथांस्तव देवि भीमः ॥” इति ।

यथा वास्मदुपह्वे रोहिणीमृगाङ्गाभिधाने प्रकरणे प्रथमऽङ्के मृगाङ्गं प्रति—

“वसन्तः—कुमार भा शङ्किष्ठा—

उन्मत्तप्रेमसरम्भादारभन्ते यदङ्गना ।

तत्र प्रत्यूहमायातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥”

अनुपक्षितोऽर्थो न विस्तार्यते, अविस्तारितश्च न निश्चीयते, इति त्रयाणां मध्येषां उद्देशक्रमेणैव निबन्ध ।

जनक—तो क्या अपने भुजदण्डके विक्रमके ही जिसने भारतके तीन खण्डोंको आक्रांत कर लिया है उस [रावण] की भी कभी पराजय हो सकती है ?

मतिमागरः—[अपने मनमें 'स्वगत' कहते हैं] अहो बुद्ध राक्षसराजके शासनका कैसा प्रभाव है कि ये महाराज एकात्मने भी उसका नाम लेनेमें डरते हैं । [प्रकाशम्] हे राजन् [उसको पराजय] सम्भव है ऐसा क्यों कहते हैं, सिद्ध ही है ऐसा आप क्यों नहीं कहते हैं । इसमें [विस्तारित अर्थका 'विशेषण निश्चय' अर्थात् सिद्धतया कथन होनेसे यह 'परिग्यास' नामक तीसरे अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे वेणीसंहारमें—

हे देवि ! अपनी चञ्चल भुजाप्रति घुमाई हुई भयङ्कर गदाके प्रहारसे तोड़ी हुई सुयोधन की दोनों जङ्घाओंके गाँठे जमे हुए प्रचुर रक्तसे रंगे हुए हाथोंसे ही यह भीम मुन्हारे घालोंको बाँधे ॥ इसमें [विस्तारित अर्थका सिद्धवत् कथन होनेसे यह 'परिग्यास' का उदाहरण है] ।

अथवा जैसे हमारे बनाए हुए 'रोहिणीमृगाङ्ग' नामक प्रकरणमें प्रथमाङ्कमें मृगाङ्गके प्रति वसन्त [कहता है]—

वसन्त—कुमार ! आप [किसी प्रकारकी] शङ्का न करें ।

उन्मत्त प्रेमके आवेगमें स्त्रियाँ जो [प्रणय-व्यापार] आरम्भ करती हैं उसमें बिघ्न डालनेका साहस ब्रह्मा भी नहीं कर सकता है ।

[सक्षिप्त रूपमें बीजके समान] उपक्षिप्त किए बिना अर्थका विस्तार नहीं किया जा सकता है और विस्तार किए बिना निश्चय नहीं किया जा सकता है इस लिए [उपसेप परिकर तथा परिग्यास] इन तीनों [अङ्गों] का उद्देशक्रमसे [अर्थात् इसी क्रमसे] सन्निवेश करना चाहिए ।

(४) अथ समाहिति —

[सूत्र ५३]—पुनन्यासः समाहितिः ॥४३॥

संक्षिप्तोपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पष्टताप्रतिपादनार्थं पुनन्यासो भणितिवैचित्र्यं, सम्यग् आसमन्तात् ध्यान पोषण 'समाहितिः' ।

यथा वेणोसहारे—

“[नेपथ्ये]—भो भो द्रुपद विराट्-वृष्ण्यन्धव सहदेवप्रभृतयोऽस्मदक्षौहिणी-पतय कौरव्यमूप्रधानाश्च योधाः श्रूयताम्—

यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यन्नेन ऋन्नीकृत,

यद्विष्मर्तुमपीदृशं शमवता शान्तिं कुलस्येन्दुता ।

तद् द्युनाशिममभृत नृपसुतापेशाभ्यराजर्षणे ,

क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥” इति ।

‘स्वस्था भवन्ति’ इति यद्वीज, तदिदानीं प्रधाननायस्तगतत्वेन सम्यक् पोष नीतिमिति ॥४३॥

(४) समाधान—

अथ [चतुर्यं भङ्ग] ‘समाधान’ [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५३]—[सक्षेपमे उपक्षिप्त बीजका] द्वारा [अधिक स्पष्ट रूपसे] प्राधान ‘समाधान’ [कहाता] है । ४३ ।

[उपक्षेप रूप प्रथम भङ्गमे] सक्षेपसे उपक्षिप्त बीजको और अधिक स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए फिरसे कथन करना अर्थात् विविध भाषणशीलसे [द्वारा] कथन करना, ‘सम्यग्’ भली प्रारम्भसे और ‘आ समन्तात्’ पूर्ण रूपसे स्थापित करना [इस विग्रहके अनुसार] ‘समाधान’ [समाहिति कहालाता] है ।

जैसे वेणोसहारे—

“[नेपथ्यमे]—हे द्रुपद, विराट्, वृष्णी, अन्धक और सहदेव आदि हमारी अधोहिणी सेनाके सेनापतियो ! और कौरवोंकी सेनाके प्रधानाधिकारियो ! [आप सब लोग कान खोलकर] सुनलें कि—

[धारह् वर्गं यत्नवात् तथा एव वर्गके अज्ञातवासका जो बात हम पाण्डवोंने लिया है वह कहीं भङ्ग न हो जाय इस प्रकार] सत्यव्रतके भङ्गसे डरनेवाले [युधिष्ठिर] ने [अब तक अपनी] जिस [क्रोधाग्नि] को यत्नपूर्वक दबाए रखा था और शा त-स्वभाव वाले [युधिष्ठिर] ने कुलकी शान्तिकी कामनासे जिसकी भूलनेका भी यत्न किया, दूतकी अर्पणायसे उत्पन्न और द्रौपदीके केश तथा यस्त्रोके लोचि जानेसे नरपशु [दुःशासन] के द्वारा उड़ीस किया हुआ युधिष्ठिरकी यह भयानक क्रोधाग्नि आज कुरुकुल रूप वनमें [उसको अस्म कर देनेके लिए] प्रदीप्त हो रहा है ।

इसमें [‘स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा’] कैरे जीवित रहते कौरव कहीं [‘स्वस्थ हो सकते हैं’] [अथवा कौरव स्वर्गकी भावें] इस रूपमें जिस बीजका प्राधान किया गया था वह इस समय प्रधान नायक [युधिष्ठिर] गत रूपसे पूर्ण रूपसे परिपुष्ट हो गया है । [इस लिए यह ‘परिन्यास’का उदाहरण है] ॥४३॥

इति द्रौपद्याभिहितो भीमः प्रत्याह—

“अयि किमद्याप्यलोकारवासनाभिः ?

भूयः परिभवच्चान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिशेषितकौरव्यं न पर्यसि वृकादरम् ॥”

इति कुमुदिधनारम्भरूपस्य वीजार्थस्यायमुद्भेदः । इति ।

अन्ये तु गूढभेदनमुद्भेदनमामनन्ति । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुमुमायुध-व्यपदेश-निगूढस्य ‘अस्तापास्त’ इत्यादिना वृत्तालिकवचसा सागरिकां प्रत्युद्भेदः ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

“सीता—[ समन्तादप्यस्य राम च सविशेषं निर्वर्ण्य स्वगतम् ] कथमय-  
मनङ्गोऽप्यङ्गमास्थाय चापारोपणं द्रष्टुमायात । प्रसीद भगवन्नङ्ग ! प्रसीद । तथा  
कुर्या यथा राम एव चापारोपणाय प्रभवति ।

लवङ्गिका—[अगुल्या रामं दर्शयन्ती] जं भट्टिदारिका इत्तिर्यं कालं मणो-  
रहगोचरं कथयदी तं संपथं दिष्टिगोचरं करेदु ।

[य भट्टिदारिका इत्यन्तं कालं मनोरथगोचरं कृतवती, तं साम्प्रतं दृष्टिगोचरं  
करोतु । इति संस्कृतम् ] ।

द्रौपदीके इस प्रकार कहनेपर भीमने उत्तर दिया कि—

“अरे अब भी और मिथ्या आडवाहन देनेसे क्या लाभ [मैं तो यही कहता हूँ कि]—

तिरस्कार सहन करनेकी लज्जाके कारण मतिनमुख भीमको तुम अथ कौरवोंका नाश  
किए बिना दुबारा नहीं देखोगी [अर्थात् अब मैं कौरवोंका समूल विनाश करनेके बाद ही  
दुबारा तुम्हारे पास आऊँगा । उससे पहले नहीं] ।”

इसमें कौरवोंके विनाशके भारम्भ रूप बीजका ‘उद्भेद’ [स्वल्पप्ररोह] है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने मुखसन्धिके ‘उद्भेद’ नामक पञ्चम अङ्गका लक्षण प्रस्तुत  
किया । किन्तु ग्रन्थ व्याख्याकार ‘उद्भेद’ का लक्षण ग्रन्थ प्रकारसे करते हैं । उनके मतमें  
किसी गूढ प्रर्थका प्रकट होना ‘उद्भेद’ कहलाता है । हम मतको ग्रन्थकार भागे दिलसाते हैं ।

दूसरे [आचार्य] तो [किसी] गूढ [रहस्य] के प्रकट होनेको ‘उद्भेदन’ कहते हैं ।  
जैसे रत्नावलीमें [अनङ्ग वृजनके अवसरपर] कुमुमायुधके नामसे छिपे हुए वत्सराज [उदयन]  
का ‘अस्तापास्त’ इत्यादि [श्लोक] से वृत्तालिकाके वचनसे सागरिकाके प्रति [उदयनके रूपमें  
वत्सराजका] प्रकट होना । [उद्भेद कहा जा सकता है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमें—

“सीता—[ चारों ओर देखकर और रामचन्द्रकी ओर विशेष रूपसे देखती हुई अपने  
मनमें स्वगत कहती है ] अच्छा यह [अनङ्ग] कामदेव भी शरीर धारण करके धनुषके आरो-  
पणको देखनेके लिए आ गया है । कृपा करो, भगवन् अनङ्ग ! कृपा करो, जिससे रामचन्द्र ही  
धनुषके चढ़ानेमें समर्थ हो सकें [अन्य कोई समर्थ न हो सके] ।

लवङ्गिका—[अङ्गुलीसे रामको दिलसाती हुई] हे स्वामिपुत्रि ! जिनको आप अब  
तक मनोरथका विषय बनाए हुए थीं उनको अब दृष्टिका विषय बना लो [अर्थात् देख लो] ।

सीता—[ ससम्भ्रमं स्वगतम् ] कथमहं राममेव अनङ्गमज्ञासिपम् ?”

इत्यनङ्गभ्रान्त्या निगूढस्य रामस्य लवङ्गिकावचसा उद्भेदः ॥

(६) अथ करणम्—

[ सूत्र ५५ ]—करणं प्रस्तुतक्रिया ।

अवसरानुगुणस्यार्थस्य प्रारम्भः करणम् । यथा वेणीसंहारे—

“सहदेवः—आर्यं गच्छामो वयं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।

भीमः—एते च वयमुद्यता एवार्यस्याज्ञामनुष्ठातुम् ।”

इत्यनेन अनन्तराङ्गप्रस्तूयमान-संप्रामारम्भणात् ‘करणम्’ ।

यथा वा यादवाभ्युदये द्वितीयाङ्कोपान्त्ये—

“कंसः—[ मप्रसादम् ] साधु अमात्य साधु । अयमेव संप्रहोपायो नान्यः ।

तन् तर्हि व्रज त्वं सामग्रीकरणाय ।”

इत्यनेन अनन्तराङ्गप्रस्तूयमान-मत्सररङ्गभूमिप्रारम्भात् करणमिति ।

अन्ये तु विपदां शमन करणमाहुः । शमनं चाशीर्वादवशेन अन्यथा वा ।

सीता—[ आदर-पूर्वकं अपने मनमे ] अछा मै रामचन्द्रजीको ही कामदेव समझ रही थीं ।”

इस प्रकार कामदेवके भ्रमे छिपे हुए रामचन्द्रका लवङ्गिकाके वचनसे [सीतासे प्रति प्रकट होता] उद्भेद है ।

उद्भेदके दूसरे लक्षणके अनुसार ये दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं ।

(६) करणम्—

अथ करण [नामक मुखसन्धिके पष्ठ अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५५]—प्रस्तुत [कार्यका अनुष्ठान] करण [कहलाता] है ।

अवसरके अनुकूल अर्थका आरम्भ करना ‘करण’ [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमे—

“सहदेव—हे आर्य हम गुरुजनोंकी अनुमतिसे अपने पराक्रमके अनुसार [युद्ध] करनेके लिए जा रहे हैं ।

भीम—और ये हम भी आर्यकी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार हो हैं ।”

इस [सवाद] से भगते अङ्गमे प्रस्तुत किए जाने वाले संग्रामका प्रारम्भ करनेसे यह ‘करण’ [वा उदाहरण] है ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमे द्वितीय अङ्गके प्रायः अन्तमे [उपान्त्ये]—

“कंस—[प्रसन्न होकर] शावाश मन्त्रिवर शावाश, यही [कृष्णके] पकड़नेका उपाय है दूसरा नहीं । इस लिए सामग्री तैयार करनेके लिए जाओ ।”

इस [कथन] से भगते अङ्गमे प्रस्तुत किए जानेवाले मत्स्ययुद्धका अन्तका अन्तर्गत प्रारम्भ करनेसे यह ‘करण’ [नामक मुखसन्धिका पष्ठ अङ्ग है] ।

अथ [आचार्य] तो विपत्तियोंके शमनको ‘करण’ कहते हैं । वह शमन आशीर्वादे रूपमे अथवा अन्य प्रकारमे [दोनों प्रकारमे] हो सक्ता है ।

यथा वेणीमहारे भीमं प्रति द्रौपदी—

“जं असुरसमराभिमुदस हरिणो मङ्गलं, तं तुम्हाणं भोदु । इति ।

[यदसुरसमराभिमुखस्य हरेर्मङ्गलं, तद् युष्माकं, भवतु । इति संस्कृतम् ] ।

(७) अथ विलोभनम्—

[सूत्र ५६]—विलोभनं स्तुतेर्गाध्यम्

स्तुते-गुणवदेतदिति श्लाघातः प्रस्तुते कृत्ये गार्ह्ये—अभिलाषस्थिरीकरणं विलोभनम् ।

यथा वेणीसहारे ‘चञ्चद्भुज’ इत्यादि श्लोकानन्तरं—

“द्रौपदी—नाथ किं दुष्करं त्वयः परिकुपितेन ? ता अगुगिरहंतु एदं ववसिदं देवदाउ ।

[नाथ ! किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन ? तदनुगृह्यन्तु एतद् व्यवसितं देवताः । इति संस्कृतम् ]

इत्यनेन सुयोधनवधस्य गुणवत्त्वख्यापनाद् भीमस्य गार्ह्येपदं विलोभनम् । इदं च परिन्यासानन्तरमेव निबध्यते । मन्थन्तरसाधारण्याय चोक्तप्रमेणोक्तिः ॥

जैसे ‘वेणीसहार’ में भीमके प्रति द्रौपदी [कहती है]—

असुरीसे मुझके लिए जाते हुए विष्णुको जो मङ्गल प्राप्त हुआ था वह तुमको भी [प्राप्त] हो ।

(७) विलोभनम्—

विलोभनम्—अथ विलोभन [नामक सत्तम श्रृङ्गको कहते हैं]—

[सूत्र ५६]—स्तुतिके द्वारा [वस्तुके प्रति] अभिलाष विलोभन [कहाता] है ।

स्तुतिसे अर्थात् यह [वस्तु] गुणवान् है इस प्रकारकी प्रशंसाके कारण प्रस्तुत कार्य के विषयमें अभिलाषका स्थिर हो जाना ‘विलोभन’ [कहाता] है ।

जैसे ‘वेणीसहार’ में ‘चञ्चद्भुजश्रमित’ इत्यादि श्लोकके बाद द्रौपदी [कहती है]—

‘हे नाथ आपके प्रकुपित होनेपर क्या दुष्कर है ? [अर्थात् सब कुछ सहज साध्य है] । इसलिए देवतागण तुम्हारे इस निश्चयकी अनुगृहीत करें ।’

इससे सुयोधनके वधकी गुणवत्ताकी सूचित करके भीमसेनके [उसके प्रति] अभिलाष को पुष्ट करना ‘विलोभन’ है ।

इसका सन्निवेश [मुखसन्धिके सतुर्थ श्रृङ्ग] ‘परिन्यास’ के अनन्तर [पञ्चम श्रृङ्गके रूपमें] ही होता है । [परन्तु उद्देशवाली कारिकामें इसे परिन्यासके बाद नहीं रखा है । ६ श्रृङ्गके बाद सातवें श्रमके रूपमें रखा गया है । इसका यह कारण है कि ] अन्य सन्धियोंमें भी होनेके कारण उक्त क्रमसे [ अर्थात् अन्य सन्धियोंमें होनेवाले श्रृङ्गोंके आरम्भमें ] कथन किया गया है ।

इसका यह अभिप्राय है कि यह जो ‘विलोभन’ श्रृङ्ग यहाँ दिखलाया है इसका स्थान साधारणतः मुखसन्धिके परिन्यास श्रृङ्गके बाद होता है । इसलिए मुखसन्धिके श्रृङ्गोंमें ‘परिन्यास’ श्रृङ्गके बाद इसको गिनाना चाहिए था । किन्तु ५१वीं कारिकामें परिन्यासके बाद

(८) अथ भेदनम्—

[सूत्र ५७]—भेदनं पात्रनिर्गमः ॥४४॥

रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रङ्गान्निःसरणं येन तद् भेदनम् । पात्राणां यथास्व प्रयोजनवशादितश्च इतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रङ्गान्निर्गममापादयन् भेदनमुच्यते । यथा 'वेणीसंहारे' भीमो द्रौपद्या सप्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेक्षे पराक्रमे निपिद्ध प्रत्याह—

“भीम—सुहृत्रिये—

अन्योऽन्यास्फालभिन्न-द्विपरुधिर-वसा-सान्द्रमस्तिष्कपट्टे,

मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविभ्रान्तपत्तौ ।

स्फीतासृम्पानगोष्ठी रसदशिचशिवातुर्यं नृत्यत्कबन्धे,

सप्रामैकार्णवान्तपयसि विचरितुं पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥” इति॥

पतेन हि सप्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डव-विरुद्धापनेन सप्रामाचतरणाभिप्राय सहदेवस्य, आत्मनश्च सघातभेदनार्थं एवोपदिशित इति भेदोऽङ्गम् ।

इसको न कराके करणके अनन्तर उसकी गणना कराई है । इसका कारण यह है कि करण तकके ६ भङ्ग केवल मुखसन्धिमें ही होते हैं । आगे गिनाए गए शेष छ भङ्ग मुखसन्धिके प्रतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी होते हैं । यह बात पीछे कह चुके हैं । यह विलोभन भङ्ग मुखसन्धिके प्रतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी हो सकता है । इसलिए उसका नाम परिग्यासके बाद न रखकर अन्य सन्धियों में भी होनेवाले भङ्गोंके साथ रखा गया है ।

(८) भेदन—

अथ भेदन [नामक मुखसन्धिके अष्टम भङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५७]—पात्रोक्ता [रङ्गभूमिसे] बाहर जाना 'भेदन' [कहलाता] है । ४४।

रङ्गभूमिसे प्रविष्ट हुए पात्रोंका निर्गम अर्थात् रङ्गभूमिसे बाहर जाना जिससे होता है वह 'भेदन' कहलाता है । किसी प्रयोजनवश पात्रोंका ऊपर-ऊपर जानेका अभिप्राय या उद्योग भी रङ्गभूमिसे निर्गमका हेतु होनेसे 'भेदन' कहलाता है । जैसे 'वेणीसंहार' में—पुद्गले अनिष्टकी प्राशङ्का करनेवाली द्रौपदीके द्वारा शरीरचिन्ताकी छोड़कर पराक्रम करनेके लिए मना किए जानेपर भीमसेन कहते हैं—

“भीम—हे सुहृत्रिये ।

एक दूसरेसे साथ सधयमें गटे हुए घोर हाथियोंके रुधिर एव वसा [चर्बी] से भरे हुए सिरोंकी बीचडमें डूबे हुए रथोंके ऊपर होकर पदाति संनिव जिसमें पराक्रम दिला रहे हैं, गरम-गरम रुधिरके पानकी गोष्ठीमें शृगाल तथा शृगालियोंकी धमझल व्यवस्था पाछे [तृप] जिसमें वज्र रहा है और [वज्रय अर्थात् सिर गटे हुए] रण्ड जिसमें नाच रहे हैं इस प्रकारके अनोले सप्राम सागरके जलके भीतर धुसकर विचरण करनेमें पाण्डव लोग निपुण हैं । [इसलिए इस विषयमें तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो] ।”

इसके द्वारा सप्रामके भीतर विचरण करनेमें पाण्डवोंके पाण्डित्यकी सूचित करने सहदेवके सप्राममें अवतीर्ण होनेके अभिप्रायकी घोर [अशुभ] सघातको भेदन करनेके अपने



अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः । यथा 'वेणीमहारे'—

“द्रौपदी—नाथ । मां सुजहणसेणीपरिभवोद्दीपितकोपा अणवेकिण्णदसरीरा परिक्कमिस्समध, यदो अपमत्तसचरणीयाइ रिउवलाइ सुणीयति ।

[नाथ मां रग्लु याङ्गसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीरा परिक्कमिस्समध यतोऽपमत्तसञ्चरणीयानि रिपुग्लानि श्रूयन्ते । इति सम्कृतम् ।]

“भीम —अयि सुत्तत्रिये ! ‘अन्योऽन्याम्फालभिन्न—”

इत्यादिना विषण्णया द्रौपद्या ओघोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

अन्ये तु सहताना प्रतिपक्षाणा बीजफलोत्पत्तिनिरोधकाना चिह्नलेपन भेद-रूपमुपाय 'भेदनं' मन्यन्ते इति ॥४४॥

(६) अथ प्रापणम्—

[सूत्र ५८]—प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः

सुखस्य सुखहेताश्च सम्यगन्वेपणादाप्तं प्रापणम् । यथा वेणीमहारे—

“कञ्चुको—[प्रविश्य] कुमारं पश्यन्नु भगवान् वासुदेव पाण्डवपक्षपाता-मर्पितेन कुरुराजेन सयमितुमारब्धः । ततः स महात्मा दर्शितचिह्नरूपतेजसम्पातमूर्ध्नि तमवधूय कुरुपलमस्मत्सेनामन्निवेशमनुप्राप्तः । अतो देव कुमारमविलम्बितप्रभिप्रायको प्रदर्शितं विद्या है इसलिये यह 'भेदन' नामक अङ्ग है ।

अथ [प्राप्ताय] तो प्रोत्साहनको 'भेद' कहते हैं । जैसे वेणीसहारमे—

“द्रौपदी नाथ याज्ञतेनीके अपमानसे उद्दीप्तबोध होकर कहीं अपने शरीर [की रक्षाकी] ओरसे असावधान होकर युद्धभूमिमें न घूमने लगना । क्योंकि शत्रु सेनामें सावधान होकर ही जाना चाहिए ऐसा सुनते हैं ।

भीम—हे सुक्षत्रिये ! [तुम डरती क्यों हो] 'अ योऽन्याम्फाल' [इत्यादि विद्यले श्लोकमें कहे हुए सप्राप्तके भीतर विचारण करनेमें पाण्डव लोग बहुत निपुण हैं। इसलिये तुम चिन्ता न करो] ।

इत्यादि [कवच] से, विषण्ण मनवाली द्रौपदीको क्रोध तथा उत्साहके बीजने अनुलप ही प्रोत्साहन किए जानेसे यह 'भेद' [नामक अङ्ग] है ।

अथ [प्राप्ताय] तो बीजकी फलोत्पत्तिका अवरोध करनेवाले सहत शत्रुओंके फोड़ने वाले भद्वह्य उपायको ही 'भेदन' [नामक सध्यङ्ग] मानते हैं ॥४४॥

इस प्रकार भेदन नामक अष्टम अङ्गकी चार प्रकारकी व्याख्या उपस्थित की है । अथ आगे मुखसन्धिके नवम अङ्ग प्रापण का लक्षण आदि वरते हैं ।

(६) प्रापणम्—

अथ प्रापणं [नामक, मुखसन्धिके नवम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५८]—सुखकी सम्प्राप्ति प्रापणं [नामक अङ्ग कहलाती] है ।

सुख तथा सुखके कारणकी भली प्रकार अन्वेपणसे होनेवाली प्राप्तिकी प्रापणं [नामक सध्यङ्ग कहा जाता] है । जैसे वेणीसहारमे—

'कञ्चुकी—[प्रविष्ट होकर] कुमार पाण्डवोंने प्रति पक्षपातके कारण क्रुद्ध होकर कुरु राजने इन भगवान् वासुदेवकी पकड़ना चाहा । तब वे महात्मा अपने विद्वत्पक्षके प्रदर्शित

द्रष्टुमिच्छति ।”

अयं ह्यर्थो भोमसेनस्य कुरुभिः सह मन्धिभेदमापादयश्चान्तःसुप्तयतीति । तथा भणितिर्वैचित्र्यार्थमङ्गानि कथय एकस्मिन्नपि सन्धावावर्तयन्त । यथा वेणी-संहारे इदमेवाङ्गं पुनर्निबद्धम् । तथाहि—

“चेटी—[द्रौपदीमुद्दिश्य मानन्दम्] भट्टिणि ! परिकुविदो विश्व कुमारो लक्ष्मीयदि ।

[भट्टि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते । इति संस्कृतम्] ।

द्रौपदी—एवं ता अवधीरणा वि मं एमा समासासेति । ता इव एवैव उववि-सिअ सुणामो दाव नाधम चर्चामिदं ।

[एवं सावदवधीरणापि मामेपा ममारवामयति । तदत्रैवोपविश्य शृणुमः तावन् नाथस्य व्यवमितम् । इति संस्कृतम्] ।

भीमः—मध्निम कौरवशतं समरे न कोपाद्,  
दुःशासनस्य रुधिरं न पिषाम्भुरस्त ।  
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,  
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी—[सहर्षम्] असुदपुरवं ईदिसं वयणं, ता पुणो वि भण ।

[अश्रुतपूर्वं ईदग् वचनम् । तत् पुनरपि भण । इति संस्कृतम्] ।”

करनेके तेजसे मूढित कौरव बलको छोड़कर अपनी सेनाके शिबिरमें चले आए । इसलिए वेव आपको [कुमारको] तुरन्त देसना चाहते हैं । [अर्थात् आपको तुरन्त बुला रहे हैं] ।”

कौरवोंके साथ सन्धि [के प्रयत्न] को समाप्त करनेवाला यह अर्थ भीमसेनके प्रग-करणको प्रसन्न करता है [इसलिए यह प्रापण नामक अङ्ग है] ।

उक्ति-वैचित्र्यके सम्पादनार्थ कविगण एक ही सन्धिमें भी अङ्गोंको दुहरा देते हैं । जैसे वेणीसंहारमें [मुखसन्धिमें ही] इस [प्रापण नामक] अङ्गको ही दुबारा [इस प्रकारसे] निबद्ध किया गया है । जैसे कि—

“चेटी—[द्रौपदीको लक्ष्य करके आनन्दपूर्वक कहती है] हे स्वामिनि ! कुमार [भीमसेन] कुपितसे दिखलाई देते हैं ।

द्रौपदी—यदि यह बात है तो [सिरे प्रति उनकी] यह अपेक्षा भी मुझको सान्त्वना प्रदान करती है । इसलिए हम दोनों यहीं बैठकर नायके निश्चयको सुनें ।

भीम—यदि आप [सहदेव आदि] के राजा साहब [युधिष्ठिर] किसी शतपर [कौरवों के साथ] सन्धि कर लें तो क्या मे कुछ होकर युद्ध भूमिमें सी कौरवोंका नाश नहीं कहेगा । अथवा दुःशासनकी छातीका रक्त पीना छोड़ दूंगा । या गदासे दुर्योधनकी जंघाओंको चूर्ण नहीं कहेगा । [अर्थात् युधिष्ठिर भले ही कौरवोंके साथ सन्धि कर लें, पर मैंने तो जो कुछ प्रतिज्ञा कर ली है उसकी पूरा करके ही रहूंगा । सन्धिके कारण अपनी प्रतिज्ञाको कभी भी न छोड़ूंगा] ।

द्रौपदी—[सहर्षं] इस प्रकारका [आनन्द-दायक] वचन पहिले कभी नहीं सुना था इसलिए [इसको] फिर-फिर कहिए ।”

इति द्रौपद्या अभिप्रेतार्थप्राप्तिरिति ॥

(१०) अथ युक्ति —

[सूत्र ५६]—युक्तिः कृत्यविचारणा ।

विचारणा गुणदोषविवेकतः कार्यपर्यालोचनम् । यथोदात्तराघवे—

“लक्ष्मण —

किं लोभेन विलङ्घितं न भरतो येनैतदेव कृतं,

मात्रा स्त्रीलघुता गता मिथश्च मातेव मे मध्यमा ?

मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितीयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु,

माता तातकृतमिदमनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ।”

इयं च युक्तिः स्थानान्तरभाविन्यपि तापसवत्सराजे उपक्षेपपरिकरान्तरे निषेद्धा न्येति । राघवाभ्युदये तथैवास्माभिर्मथिता । तत्र हि—

“मतिमागर — यत्पुरा भट्टारकेण सागरबुद्धिना विभीषणाय कथितं यथा—

इससे द्रौपदीके अभिप्रेत अर्थकी प्राप्ति कही है [इसलिए यह ‘प्रापण’ नामक सङ्घ्यङ्ग का उदाहरण है] ।

(१०) युक्ति —

प्रथम युक्ति [नामक, मुखसन्धिमें दशम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५६]—कार्यका विचार करना युक्ति [नामक दशम अङ्ग कहलाता] है ।

विचारणा अर्थात् गुण-दोषके विवेचन द्वारा कार्यका पर्यालोचन करना ।

जैसे ‘उदात्तराघव’ में—

“लक्ष्मण [कहते हैं]—

यथा वह भरत [राज्यके] लोभसे पराभूत हो गए जिससे [रामको वनवास दिलानेका] यह कार्य किया है । अथवा यथा मेरी ममत्ता माता [कंकेयो] ही मानने स्त्रीके समान लघुता की प्राप्ति हो गई थी । [जिसके कारण उन्होंने यह नीच कार्य करवाया] । अथवा मेरी सोची हुई ये दोनों ही बातें मिथ्या हैं क्योंकि ये मेरे बड़े भाई [गुरु अर्थात् भरत] भावोंके [अर्थात् रामचंद्रके] अनुज हैं । [अर्थात् रामचन्द्रजीके अनुज और मेरे गुरु भरत] कभी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकते हैं] और माता [कंकेयो] पिताजीकी पत्नी हैं [इस लिए वे कभी इस गद्दित पापकी नहीं कर सकती हैं] । इस लिए इन दोनोंके विषयमें सोचना अनुचित है । तब फिर यह कार्य हुआ कैसे, इसका समाधान करते हैं कि] मात्सूम होता है कि यह अनुचित कार्य करने ही किया है ।’

इस प्रकार कार्यकी विचारणारूप होनेसे यह युक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है ।

यह युक्ति [नामक अङ्ग मुखसन्धिमें] अन्य स्थानपर होनेवाली [अर्थात् दशम स्थानपर पठित] होनेपर भी ‘तापसवत्सराजचरित’ में उपलब्ध तथा ‘परिकर’ के बीचमें [द्वितीय स्थानपर] निबद्ध किया हुआ देखा जाता है । इसलिए ‘राघवाभ्युदय’ में हमने भी उसी प्रकार [उपक्षेप तथा परिकरके बीचमें] प्रयुक्त कर दिया है । वहाँपर —

“मतिमागर—स्वामी सागरबुद्धिने जो पहले कभी विभीषणसे कहा था कि—

‘सीतानिमित्तको दाशरथितो रावणवध’ इति । तस्यार्थस्य तदेतच्चापारोपणं बीजमुपस्थितम् । कथितं च मे करडकनाम्ना लङ्काचारिणा चरेण यथा—‘भूमण्डलस्येव रावणस्यापि सीतायां प्रेम अस्त्येव, किन्तु दोर्दृष्ट्याच्चापारोणे नायातः’ । [विमृश्य] तन्नूनमसौ पश्चार्धापि सीतामपहरिष्यति ।” इति ।

(११) अथ विधानम्—

[सूत्र ६०]—विधानं सुख-दुःखाप्तिः

द्वयोः सुख-दुःखयोरेकत्र अनेकत्र वा पात्रे प्राप्तिः । एकस्यैव वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिः, विधानम् । एकत्रपात्रे सुख-दुःखयोः प्राप्तिर्यथा—मालतीमाधवे—

“माधवः— यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्,  
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।  
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयं,  
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुख-दुःखाप्तिः ।

अनेकत्र यथा तापमवत्सराजे काञ्चनमालया ज्ञातिगृह्णवार्ताविशेषापदेशात् वामवदत्ताया वियोगदुःखेऽपह्नुते राजा स्मित्वाऽऽह—

‘सीताके कारण दशरथ पुत्रके द्वारा रावणका वध होगा’ । उस बातका बीजरूप यह चापारोपण [का प्रसङ्ग] आ गया है । और लङ्कामे विचरण करनेवाले करडक नामक गुप्तचर ने मुझसे कहा भी है कि—‘भूमण्डलके [अन्य सब रानाओंके] समान रावण भी सीताको चाहता ही है किन्तु अपनी भुजाओंके बर्षके कारण चापारोपणमे नहीं आया है’ । [कुछ सोचकर] तो निश्चय ही यह वादको सीताका अपहरण करेगा । यह [भी कार्यकी विचारणा रूप होनेसे युक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

(११) विधान

अथ विधान [नामक, मुख्यतन्त्रिके ग्यारहवें अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६०]—सुख-दुःखकी प्राप्ति ‘विधान’ [कहलाती] है ।

सुख तथा दुःख दोनोंकी एक पात्रमे अथवा अनेक पात्रमें प्राप्ति । अथवा सुख और दुःखमेंसे किसी एककी ही प्राप्ति [दोनों ही] विधान [नामक अङ्गके भीतर समाविष्ट हो जाते] हैं । एक ही पात्रमे सुख-दुःख दोनोंकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे ‘मालतीमाधव’ में माधव [कहता है]—

“माधव—जो [मेरा हृदय मालतीकी उपस्थितिमे] विस्मयसे कुण्ठित, अन्य समस्त भावोंसे शून्य, अमृतमे डुबकी लगानेसे आनन्द निमग्न सा हो रहा था वही मेरा हृदय इस समय [मालतीके वियोगकालमे] अङ्गारोंसे जला हुआ सा वेदनामय हो रहा है ।”

इससे अनुरक्ता मालतीकी देखकर माधवको सुख और [उसके वियोगमे] दुःखकी प्राप्ति [एक ही पात्रमे पाई जाती है] ।

भिन्न-भिन्न पात्रोंमे [सुख और दुःखकी प्राप्तिका उदाहरण] जैसे ‘तापमवत्सराज’ में पितृगृहके समाचार विशेषके बहानेसे काञ्चनमाला द्वारा वासवदत्ताके वियोग दुःखकी विधान पर राजा मुस्कराकर बहते हैं—

“दृष्टिं प्रेमभरालसां मयि मुहुर्विन्ध्यस्य लज्जावती,  
कालस्याहमिहासहेत्यविरतं प्रत्यर्पयन्ती मनः ।  
जाता देवि तदा ममापनयने हेतुश्वमेवाधुना  
किं सन्देशनबीभवत्कुलगृहोत्कण्ठाधिकं ताम्यसि ॥”

अत्र च वासवदत्ताया प्रवासाभ्युपगमाद् दुःखम् । वत्सराजस्य चाविदित-  
प्रवासवृत्तान्तस्य सुखम् ।

एकस्य सुखस्य प्राप्तिर्यथा रत्नावल्याम्—

“कञ्चनमाले पश्टावेहि असोयमूले भयवतं पञ्जुन । [इत्युपक्रमे]  
[काञ्चनमाले प्रसिष्टापयाशोकमूले भगवन्त प्रशुम्नम् । इति संस्कृतम् ]  
राजा—कुसुमकुमारमूर्तिर्नृधती नियमेन तनुतरं मध्यम् ।

आभासि मकरकेतो पार्श्वस्या चापयष्टिरिव ॥  
इत्यारभ्य, ‘वासवदत्ता राजानं पूजयति’ इति यावत् ।

एकस्य दुःखस्य यथारमदुपक्षे निर्भयभीम-नान्ति व्यायोगे—

“भीम—

अन्यायेऽजुप. शठप्रतजुपो येऽम्भाकमत्र द्विप,  
ते नन्दन्ति मदं वहन्ति महतीं गच्छन्ति च रत्नावल्याम् ।

“मेरी और बार-बार प्रेमभरी दृष्टि डालती हुई, लज्जायुक्त, और ‘मैं अधिक विलम्बको सहन नहीं कर सकती हूँ इस प्रकार [अपना] मन समर्पित करती हुई, हे देवि ! उस समय तुम ही मेरे हृदयके कारण बनी तो फिर सदेशसे पितृगृहकी उत्कण्ठाके नशीब हो जानेसे इस समय क्यों कुली हो रही हो ?”

यहाँ वासवदत्ताके प्रवास स्वीकार करनेके कारण दुःख है । और प्रवासका वृत्तान्त न विदित होनेके कारण वत्सराजको सुख है । [इस प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रोंने प्रलग-प्रलग सुख-दुःखकी प्राप्तिरूप विधानका यह उदाहरण है] ।

एक सुखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें—

“काञ्चनमाले ! अशोकके नीचे भगवान् कामदेव [प्रशुम्न] को स्थापित करो । [इसके प्रसङ्गमें]—

राजा—कुसुमके समान सुकुमार बेहवाली और अतः पालनके कारण और भी अधिक क्षीण भयसे युक्त तुम मकरकेतु [कामदेव] के पास रखी हुई चापयष्टिके समान प्रतीत होती हो [सोभित होती हो] ।

यहाँसे लेकर ‘वासवदत्ता राजाकी पूजा करती है’ यहाँ तक केवल एक सुखकी प्राप्ति का वर्णन होनेसे यह विधान नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

केवल दुःखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे हमारे बनाये ‘निर्भयभीमसेन’ नामक व्यायोगमें [भीम कहते हैं]—

भीम—केवल अन्यायपर आरुढ़, दुष्टताका अतः धारण किए हुए, यहाँ हमारे जो शत्रु हैं, वे भ्रान्त कर रहे हैं, सर्व धारण किए फिरते हैं और सब जगह प्रशंसा प्राप्त कर रहे हैं । और [हम] जो व्यापका अवसम्भन कर रहे हैं और अत्यन्त सरलताको धारण

ये तु न्यायपराः परार्जवधरास्ते पश्यतामी वयं  
नीचैः कर्मकृतः पराभवभृतस्तप्ताश्च वर्तमाने ॥”

मुपस्य सुखहेतोश्च अन्वेपणरूपा ‘प्राप्तिः’ । सन्निहितसुखात्मकं च एकपात्र-  
गतसुखात्मकं च विधानमिति भेदः ।

(११) अथ परिभाषना—

[सूत्र ६१]—विस्मयः परिभाषना ॥ ४५ ॥

जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कान्तुकानुबन्धो विस्मयः, परिभाषना । यथा  
नागानन्दे—

“[मलयवतीं दृष्ट्वा] नायकः—

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुःमहर्ष हरेः,  
नामी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते ।  
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,  
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ॥”

किए हैं सो वे हम देखो [रसोद्भवा आदिके] नीच कर्मको कर रहे हैं और तिरस्कार प्राप्त  
कर रहे हैं ।

मुखसन्धिके ‘प्रापण’ नामक भङ्गकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । उसमें भी ‘प्रापण  
मुखसम्प्राप्तिः’ मुख-सम्प्राप्तिको ही उसका लक्षण बतलाया गया था । यहाँ ‘विधान’ भङ्गमें  
मुखप्राप्तिको विधान भङ्गका लक्षण बतलाया है । तब इन दोनोंमें परस्पर क्या भेद है यह  
प्रश्न उपस्थित हो सकता है । इस लिए ग्रन्थकारने भगवी पक्तिमें इन दोनोंके भेदको इस  
प्रकार प्रदर्शित किया है कि—

मुख और मुखके कारणका अन्वेपण जिसमें किया जाय वह ‘प्राप्ति’ [अर्थात् प्रापण  
नामक भङ्ग] है । और [अन्वेपण रूप नहीं किन्तु] सन्निहित मुख स्वरूप तथा एक पात्र गत  
‘मुखात्मक’ विधान होता है यह [‘प्रापण’ तथा विधान इन दोनों भङ्गोका] भेद है ।

(१२) परिभाषना—

अब परिभाषना [नामक, मुखसन्धिके आरम्भमें भङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६१]—विस्मय [का नाम] ‘परिभाषना’ है ।

जिज्ञासाके अतिशयके कारण ‘यह क्या है’ इस प्रकारका आग्रह, विस्मय [कहलाता]  
है । वही ‘परिभाषना’ [नामक भङ्ग कहा जाता] है । जैसे नागानन्दमें—

“[मलयवतीको देखकर] नायक [जोमूतवाहन कहता है कि]—

[यह मलयवती] यदि स्वर्गकी स्त्री है तो इन्द्रके सहस्रो नेत्र कृतार्थ हो गए [समझो],  
यदि यह नाग जातिकी स्त्री है तो इसके मुखके विद्यमान रहते पाताललोक चन्द्रमासे शून्य  
नहीं [कहा जा सकता] है । यदि यह विद्याधरी है तो निश्चय ही हमारी [विद्याधर] जाति  
अन्य जातियोंमें श्रेष्ठ है । और यदि यह सिद्धवशमें उत्पन्न हुई है तो अब सिद्ध लोग त्रिभुवन  
में प्रसिद्ध हो जावेंगे [यह समझो] ।

इसमें मलयवतीके सौन्दर्यातिशयको देखकर जोमूतवाहन अपने विस्मयको प्रकट कर  
रहा है अतः यह ‘परिभाषना’ नामक भङ्गका उदाहरण है ।

यथा वा रोहिणीमृगाङ्गाभिधाने प्रकरणे प्रथमेऽङ्के—

“मृगाङ्ग [मोत्कण्ठम्]—

सा स्वर्गलोकललाजनवर्णिका वा,  
दिव्या पयोधिदुहितु प्रतिपातना वा ।  
शिल्पप्रियामथ विधे पद्मन्तिम वा,  
विश्वत्रयीनयनमञ्जटनाफल वा ॥

एतानि मुग्यमन्येर्द्वादशाङ्गानि ॥ ४४ ॥

[०] अथ प्रतिमुग्यमन्यङ्गान्युद्दिशति—

[सूत्र ६२]— विलासो धूननं रोधः सान्त्वनं वर्णसंहतिः ।

नर्म नर्मद्युतिस्तापः स्युरेतानि यथारुचि ॥४६॥

पुष्पं प्रगमनं वज्रमुपन्यासोपसर्पणम् ।

पञ्चावश्यमथाङ्गानि प्रतिमुखे त्रयोदश ॥४७॥

अथवा जैसे रोहिणीमृगाङ्ग नामक प्रकरणके प्रथम अङ्कमें—

“मृगाङ्ग [उत्कण्ठापूर्वक कहता है]—

वह [रोहिणी] क्या स्वर्गलोककी स्त्रियोंकी [वर्णिका] विव्रित करनेवाली लेखनी [या ‘वर्णिका’ कस्तूरी] है । अथवा सागरकी पुत्री लक्ष्मीकी दिव्य प्रतिकृति [प्रतिपातना तत्वीर] है । अथवा विधाताके रचना कौशलकी चरम सीमा है अथवा तीनों लोकोंके [समस्त प्राणियोंके] भेषोंकी रचनाका फल है ।”

इसमें रोहिणीके सौन्दर्यातिशयके कारण उत्पन्न विस्मयकी मृगाङ्गन प्रकट किया है । इसलिए यह मुखसन्धिके ‘परिभावना नामक बारहवें अङ्गका उदाहरण है ।

इस प्रकार यहाँ तत्र अग्यवारन मुखसन्धिके बारह अङ्गोंके लक्षण तथा उदाहरण दिखानेके उद्देश्य विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया है । इसलिए अब इसका उपसंहार करते हुए अगली पंक्ति लिखते हैं—

ये बारह मुखसन्धि अङ्ग होते हैं ॥४५॥

[२] प्रतिमुखसन्धिके तेरह अङ्ग—

अब हमने आगे प्रतिमुखसन्धिके [तेरह] अङ्गोंका उद्देश्य [नाममात्रेण कथन] करते हैं—

[सूत्र ६२]—(१) विलास, (२) धूनन, (३) रोधः, (४) सान्त्वन, (५) वर्णसंहार, (६) नर्म, (७) नर्मद्युति और (८) ताप ये [आठ अङ्ग प्रतिमुखसन्धिके] यथारुचि रखे जा सकते हैं । [अर्थात् उनका रखा जाना अपरिहार्य नहीं है । कथावस्तुकी उपयोगिताके अनुसार उनको रखा भी जा सकता है और नहीं भी रखा जा सकता है] ॥४६॥

[सूत्र ६२]—(९) पुष्प, (१०) प्रगमन (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) उपसर्पण ॥ पाँच [अङ्ग प्रतिमुखसन्धिके] आवश्यक् हैं । इस प्रकार प्रतिमुखसन्धिके कुल तेरह अङ्ग होते हैं ॥४७॥

‘यथारुचि’ इति धृतवैचित्र्यानुरोधेनात्र भवन्ति, न भवन्ति च । पुष्पादीनि पुनः पञ्चावरणं प्रतिमुखसन्धौ भवन्त्येव । त्रयोदशाप्येतानि रतिमुख एव सुतरां निर्वन्धमर्हन्ति । उद्देशक्रमश्च निबन्धेषु नापेक्षणीय इति ॥४६-४७॥

(१) अथ विलासः—

[सूत्र ६३]—विलासो नृ-स्त्रियोरीहा,

नृ-स्त्रियोः परस्परमीहा रत्यभिलापः ।

यथाभिज्ञानशाकुन्तले मुखसन्धानुपलब्धायां नायिकायां प्रतिमुखं तद्विषयो राज्ञो विलासः । तत्र हि राजा आह—

‘कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनारवासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थनां कुरुते ॥

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तः प्रार्थयिता विप्र-लभ्यते । कुतः—

‘यथारुचि’ इसका यह अभिप्राय है कि कथावस्तुकी विविधताके अनुसार [यि आठ अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमे] होते भी हैं और नहीं भी हो सकते हैं । [अर्थात् उनकी स्थिति अपरिहार्य नहीं है] । लेप पुष्प आदि पाँच [अङ्ग] तो प्रतिमुखसन्धिमे अवश्य होते ही हैं । ये तेरहो अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमे ही सन्निविष्ट होते हैं [अन्य सन्धिषोमे प्रयुक्त नहीं होते हैं] । इनकी रचनामे उद्देशक्रम अपेक्षित नहीं होता है । [अर्थात् जिस क्रमसे यहाँ गिनाए गए हैं उसी क्रमसे इनकी रचना हो यह आवश्यक नहीं है] ॥४६-४७॥

इस प्रकार ४६-४७ दो कारिकाओंमे प्रतिमुख सन्धिके तेरह अङ्गोंके नाम गिनाकर तथा उनमेसे पाँचकी अनिवार्य स्थिति एवं आठकी ऐच्छिक स्थितिका उल्लेख करके अब उनके लक्षण आदि क्रमशः आरम्भ करेंगे । इनमे सबसे प्रथम अङ्ग ‘विलास’ है । इसलिए सबसे पहिले उसीका लक्षण करते हैं ।

(१) विलास—

अब [प्रतिमुखसन्धिके अङ्गोंमेसे प्रथम अङ्ग] ‘विलास’ [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६३]—स्त्री श्रीर पुरुषकी [परस्पर सम्मिलनकी] इच्छा ‘विलास’ [नामक, प्रतिमुखसन्धिका प्रथम अर्थ कहलाती] है ।

पुरुष तथा स्त्रीकी परस्पर [सम्मिलनकी] इच्छा अर्थात् रतिकी कामना [विलास नामक अङ्गके रूपमे कही जाती] है ।

जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमे मुखसन्धिमें [प्रथम अङ्गमे नायिका] शकुन्तलाके प्राप्त हो जानेपर प्रतिमुखसन्धिमे [द्वितीय अङ्गमे] उसके विषयमे राजाका [रति विषयक] अभिलाष विलास । उसमें राजा [दुष्यन्त अपने इस अभिलाषको व्यक्त करते हुए] कहते हैं—

“प्रिया [शकुन्तला इस समय] भले हो प्राप्त न हो किन्तु मेरा मन तो उसके भावको देखकर विश्वस्त है [कि यह मुझे प्रेम करती है इसलिए जल्दी या देरसे वह मुझको अवश्य प्राप्त होगी] । क्योंकि कामदेवके कृतार्थ न होनेपर भी [अर्थात् सम्भोगाभिलाषके पूर्ण न होने पर भी] दोनों ओरका प्रेम स्वयं रति [एक अपूर्व आनन्द] को प्रदान करता है ।

[फिर मुस्कराकर राजा कहता है]—इस प्रकार अपने मनके अभिप्रायके अनुसार



स्तिग्ध वाञ्छितमन्यतो ऽपि नयने यत् प्रेरयन्त्या तथा,  
यातं यच्च नितम्बयोगुरुतया मन् विलासादिव ।  
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तन् सासूयमुक्त्वा सखी,  
सर्वं किल तन् मत्परायणमहो कामं भवता पर्यति ॥”

इत्यादिना राज्ञो रतिसमीक्षा ।

यथा वा नलविलासे तृतीयाङ्के—

“दमयन्ती—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] कहमेस सय भयत्र पचवाणो ?  
अहवा चरायस्म अण्णगस्स कुणो ईदिसो अगसोह्मगप्प भारो ? ता कदत्थो दम-  
यन्तीयाए अंगचग्गिमा ।” इति ।

[रुधमेप मय भगवान् पञ्चग्राण ? अथवा वरानस्यानङ्गम्य कुत ईदृशोऽङ्ग-  
सौभाग्यप्राग्भार ? तत् कृतार्था दमन्त्या अगचङ्गिमा । इति सरकृतम्] ।

यथा वाश्मदुपह्ने कौमुदीमित्राणन्दनाम्नि प्रकरणे तृतीयेऽङ्के—

“मित्राणन्द—प्रिये ।

वक्त्रं शीतम्चि र्वचासि च सुध्रा दृष्टिश्च कादम्बरी,

घिम्राष्ट पुनरेप कौमुभमणि मूर्तिश्च लक्ष्मीस्तव ।

दृष्टजनकी चित्तवृत्तिकी कल्पना करके प्रमो जन स्वयं अपनेसे घोला देते हैं । क्योंकि [अपने मनकी भावनाके अनुसार वे यह समझने लगते हैं । कि]—

[उनकी प्रमदाश्रमे] दूसरी ओर दृष्टि डालते हुए भी जो मधुरताक साथ देखा [वह कापदेव मेरी ओर ही देखा था] नितम्बोंके भारके कारण जो विलासपूर्वक धीरे धीरे गमन किया ओर [सखीके द्वारा] जाओ नहीं इस प्रकार रोके जानेपर जो नाराज होकर [उस सखी को] फटकारा था कहा था वह सब मेरे ही कारण था । भाइयय है कि काम [या कामी पुरुष अपने प्रम पात्रके सारे कामोंमें अपना सम्बन्ध] ही देखता है ।

इत्यादिते राजा [वृष्यत] की रतिकी इच्छा [प्रवर्धित की गई है] । अतः यह प्रति मुखसंघके विलास नामक प्रथम अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जसे नलविलासके तृतीय अङ्कमें—

दमयंती—[राजाको देखकर स्वगत अपने मनमें कहती है]—अच्छा यह तो स्वयं भगवान् कामदेव [आ गए] हैं । अथवा [वह कामदेव तो शरीर रहित आङ्ग है] उत विचारे मनङ्गके पास इतने देहसौभाग्यकी सम्पत्ति कहा हो सकती है । [इसलिए यह कापदेव नहीं है] । इसलिए [निश्चय ही ये राजा नल हैं] तब तो दमयंतीका [अर्थात् मेरा] अङ्ग-सौन्दर्य कृतार्थ हो गया ।

इसमें राजा नलके प्रति दमयंतीकी रतिवा प्रदर्शन होनेसे यह भी विलास नामक प्रतिमुखसंघके प्रथम अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जसे हमारे बनाये हुए कौमुदी मित्राणन्द नामक प्रकरणमें तृतीय अङ्कमें—  
मित्राणन्द—प्रिये ।

[तुम्हारा] मुख चन्द्रमा [तुम्हारी] वाणी अमृत [तुम्हारी] दृष्टि कादम्बरी [मदिरा]  
[तुम्हारा] अपरोष्ठ कौस्तुभमणि और तुम्हारी मूर्ति लक्ष्मी रूप है । [इस सबको देखकर ऐसा

वीरादिरसप्रधानेष्वर्थफलपेपु रूपेषु पुनरुत्साहादिसम्पद्विषयो नृस्त्रियोरीहा-  
व्यापारो विलासः । यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दशितो रत्य-  
भिलापरूपो विलासः, न नायकस्य तादृशेऽवसरे ऽनुचितः । यदाह—

सन्धि-सन्ध्यङ्गघटनं रसबन्धव्यपेक्षया ।

न तु केवलशास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ इति ।

(२) अथ धूननम्—

[सूत्र ६४]—भूननं सामान्यनादरः ।

साम्नि अनुनये अनादरो मनागनादृतिः । नञोऽल्पाव्यवस्थान् ।

यथा पार्थविजये चित्रसेनेन मयते दुर्योधने सति—

युधिष्ठिरः—“वत्स भीमसेन !

अयं स कालः शूराणां गिनानां यत्र बन्धुषु ।

आपद्गतपरित्राणम्, अपूर्वोऽनुनयक्रमः ॥

नहीं अपितु प्रकृत रसके अनुकूल स्त्री-पुरुषकी इच्छा यह अर्थ करना चाहिए । वीररस-प्रधान नाटकमें ‘विलास’ अङ्गमें वीररसके अनुकूल स्त्री-पुरुषोंकी इच्छाका वर्णन कर वीररसकी सम्पुष्ट करना चाहिए । और उसीके अनुकूल अन्य अङ्गोंकी भी रचना करना चाहिए । भट्ट-नारायणने इस सिद्धान्तको नहीं समझा है, इसीलिए वे इस प्रकारकी भूल कर बैठे हैं । इसी बातको ध्यान रखकर अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखत है—

वीर आदि रसप्रधान अर्थवाले रूपकोंमें तो उत्साह आदिका पोषण करनेवाला स्त्री-पुरुषका इच्छा रूप व्यापार विलास [पदसे गृहीत] होता है । इसलिए ‘वेणीसंहार’ में जो सुयोधनके साथ भानुमतीका रत्यभिलाष विललाप है वह उस प्रकारके [युद्धकी तैयारी करने योग्य] समयमें नायकके लिए अनुचित है । जैसाकि [ध्वग्यालोककारने] कहा है कि—

सति तथा सविधियोंके अङ्गोंकी रचना रसप्रयोगके अनुसार करनी चाहिए । केवल शास्त्रकी मर्यादाकी रक्षाकी इच्छासे ही नहीं करनी चाहिए ।

इस वचनमें ऐसा भ्रम हो सकता है कि शास्त्र-स्थिति और रस-स्थितिमें विरोध हो सकता है । वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिका पालन करनेकी इच्छासे ही दुर्योधन और भानु-मतीके रत्यभिलाषका वर्णन प्रतिमुखसन्धिके विलास अङ्गमें किया है । किन्तु यहाँ ध्यान रखने यह दिखलाया है कि वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिको ही नहीं समझा है । उन्होंने जो रत्य-भिलाषका वर्णन किया है वह शास्त्रीय मर्यादाके अनुकूल नहीं प्रतिकूल किया गया है ।

(२) धूनन

अथ धूनन [नामक प्रतिमुखसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६४]—शास्त्र-वचनोका अनादर करना धूनन [बहलाता] है ।

साम अर्थात् अनुनय [वचनों] में अनादर अर्थात् थोड़ी-सी अनास्था [धूनन बहलाता है] । नञ्के अल्पार्थक होनेसे [मनागनादृति यह अर्थ किया है] ।

जैसे ‘पार्थविजय’ में चित्रसेनके द्वारा दुर्योधनके पकड़ लिए जानेपर—

युधिष्ठिर [कहते हैं]—हे वत्स भीमसेन !

यह वह समय [था गया] है जबकि अपने बंधुओंसे नाराज हुए शूरोका प्रापत्तिमें पड़े

भीमसेनोऽपि दुर्योधनं प्रति युधिष्ठिरस्यानुनयमगृह्णाद्—

“कोऽयमनेकविधापकारकारिणः कौरवानुद्दिश्यायैर्यात्रैर्भावः ?” इति ।

केचिद् धूननमरतिमाहुः । तच्च रोधेनेव संगृहीतमिति ।

(३) अथ रोधः—

[सूत्र ६५]—रोधोऽतिः—

अतिः सेदो व्यमनमिष्टरोधाद् रोधः । यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

“राजा [चन्द्रगुप्तमाह]—

त्वद्दुःखस्यापनेतुं मा शतांशेनापि न क्षमा ।

ध्रुवदेवी—[सूत्रधारीमाह]—

हृज्जे इयं सा ईदृसी अञ्जउत्तम कर्णपराहीणदा ।

[हृज्जे ! इयं सा ईदृशी आर्यपुत्रस्य कर्णपराधीनता । इति संस्कृतम्]

सूत्रधारी—देवि पंडति चंद्रमण्डलात् वि बुडुलीत् किं एतु परिम्ह ।

[देवि ! पतन्ति चन्द्रमण्डलादपि उल्काः । किमत्र कुर्मः । इति संस्कृतम्]

राजा—त्वय्युपापोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह ।

परित्यक्ता भया देवी जनोऽयं जन एव मे ॥

हुए [बधुओं] की रक्षा करने रूप [उनको मनानेका] कोई अपूर्व अनुनय प्रकार [प्रदर्शित किया जाता] है ।”

[युधिष्ठिरके द्वारा इस प्रकार दुर्योधनको धुशनेके लिए प्रेरित किए जाने पर]

भीमसेन भी दुर्योधनके प्रति युधिष्ठिरके अनुनयको अस्वीकार करते हुए कहते हैं—

अनेक प्रकारसे अपकार करनेवाले कौरवोंके प्रति आपकी यह दया कैसी है ?”

इसमें भीमसेन युधिष्ठिरके शान्तिवचन या अनुनयका तनिक अनादर सा करते हैं मत. यह धूनन नामक अङ्गका उदाहरण है ।

कोई [आचार्य] भरति [खेद या दुःख] को ‘धूनन’ कहते हैं । [किन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि] वह तो रोध [नामक अगले अङ्ग] में ही संगृहीत हो जाता है ।

(३) रोध—

अथ रोध [नामक प्रतिमुखसंधिके तृतीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—भरति [का नाम] ‘रोध’ है ।

भरति अर्थात् खेद या दुःख [प्रकट करना] इसके अवरोधके कारण ‘रोध’ [कहलाता] है । जैसे देवीचन्द्रगुप्तमें राजा [चन्द्रगुप्तसे कहता है]—

“वह तुम्हारे दुःखको क्षताशमे भी दूर करनेमें समर्थ नहीं है ।

ध्रुवदेवी [सूत्रधारसे कहती है]—

अरे ! आर्यपुत्रकी यह कैसी कर्णपराधीनता है ।

सूत्रधारी—देवि ! चन्द्रमण्डलसे भी उल्कापात होता है । इसमें हम क्या करें ।

राजा—तुममें अपने प्रेमको स्थिर करनेवाले मैंने तुम्हारे लिए यशके साथ-साथ देवी का भी परित्याग कर दिया । और यह [प्रजा] जन तो मेरे [प्रजा] जन ही हैं [उनके परित्यागकी तो बात ही क्या है] ।

ध्रुवदेवी—अहं पि जीविषं परिन्चयंती पदमयं यथेव तुमं परिचङ्गम् ।”  
[अहंमपि जीवितं परित्यजन्ती प्रथमतरमेव त्वां परित्यज्यामि ।

इति सङ्कृतम् ]

अत्र स्त्रीवेषनिहृते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनै स्त्रीप्रत्ययान् ध्रुवदेव्या गुणमन्यु-  
मन्तापरूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्ति ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

‘राजा—देवि ! अवलम्बस्व मद्रूपनम् । अत्रैव तिष्ठ । अशिक्षितपादचारा  
न शक्यति भवती क्रमितुं दर्भाङ्कुरविधुरासु वनवसुन्धरासु ।

सुतारा—जं भोदि तं भोदु । अहं गमिम्स ।

[यद् भवति तद् भवतु । अहं गमिष्यामि । इति सङ्कृतम् ]

राजा—[कुलपतिं प्रति] भगवन् !

त्यजन् हेम्नो लज्जं चतुर्द्व्यधिकावधी च वसुधा,

मुधाम्भोभिः स्नानादपि ममधिकां प्रीतिममजम् ।

सवत्सामेता तु प्रवसनपरा वीक्ष्य दयिता,

इदानीं मन्येऽहं वलद्वनललीढं वपुरद ॥ इति ।

ध्रुवदेवी—मैं भी अपने जीवनका परित्याग करती हुई उससे पहले ही तुमको छोड़ दूंगी ।  
यहाँ चन्द्रगुप्तके स्त्री वेषमें छिपे होनेसे ध्रुवदेवीकी [उत्तम वास्तविक] स्त्री होनेके  
विश्वासके कारण [अपनेमें अन्य स्त्रीके प्रति राजाकी आसक्तिको देखकर] अत्यंत दुःख और  
सताप रूप व्यसनकी प्राप्ति हो रही है [इस लिए रोध नामक अगका उदाहरण है] ।

ध्रुव स्वामिनी भगव नरेण रामगुप्त की पत्नी हैं । रामगुप्त बड़ा वापुस है । शत्रुके  
दबावसे यह अपनी प्रियतमाको शत्रुको देनेके लिए तैयार हो गया था । चन्द्रगुप्त हम अपमान  
को सहन नहीं कर सका । उसने स्वयं स्त्रीका वेष धारणकरके शत्रुके पास जाकर अपमानकी  
बदला लेनेका निश्चय किया । इस प्रसङ्गमें स्त्री वेषमें उपस्थित उसी चन्द्रगुप्तके माथ राजा  
रामगुप्तका वार्तालाप हो रहा है । ध्रुव स्वामिनीको यह रहस्य पता नहीं है । इसलिये वह  
स्त्री वेषधारी चन्द्रगुप्तको दूसरी स्त्री समझकर दुःखी हो रही है । इसीलिए हमें रोधके उदा-  
हरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है ।

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्र’ में—

राजा—देवि ! मेरी बात मान जाओ । तुम यहीं रहो । [आज तक] कभी पंवल न  
चलनेके कारण तुम कुछ अकुरसि भरी हुई वनग्रामियोंमें नहीं चल सकोगी ।

सुतारा—चाहे जो हो मैं तो [अवश्य] चलूंगी ।

राजा—[कुलपतिके प्रति] भगवन् !

सालों व्यर्थ-मुद्राओं, और चारों समुद्र रूप काञ्चीकी धारण करनेवाली वसु धरा  
का परित्याग करते हुए मैंने मुधा-सलिलसे स्नान करनेकी अपेक्षा भी अधिक आनन्दका अनुभव  
किया था । किन्तु अच्छेके सहित इस प्रियतमा रानीकी [वनमें पंवल] चलनेकी उद्यत देखकर  
इस समय मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरा यह सारा शरीर आगमें आलिपित हो रहा है ।

इस इनोक्म राजा हरिश्चन्द्र जब अपना राज पाट सब कुछ दवर जा रहे हैं उस

(४) अथ सान्त्वनम्—

[ सूत्र ६६ ]—सान्त्वनं साम

कुडम्यानुकूलम् । यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

मारीचः—नायमनुवृत्तिवचसामवमरः । परिष्फुट विज्ञाप्यते—

दाराणां व्रतिनां च रक्षणविधौ चोरोनुयोज्यानुजं,  
वीराणां स्वर-दूषण-त्रिशिरसामेभ्यो बध यो व्यधात् ।  
तस्याखण्डिततेजसः कुलजने न्यक्कार आविष्कृतः,  
कुण्ठ सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्थान्द्रहासोऽप्यसि ॥

रावणः—आ. प्रतिपक्ष-पक्षपातिनं जुष्ट राक्षसापमदं किं बहुना—

तच्चैव रुधिराम्बुभिः क्षतकठोरकण्ठस्रुते,  
रिपुस्तुतिभक्तो मम प्रशममेतु क्रोधानलः ।  
सुरद्विपशिरः- स्थलीदलनदष्टमुक्ताफलं,  
स्वसु परिभक्तोचित पुनरसौ विधास्यत्यसि ॥

(इति खड्गमारुर्षति ।)

समय रानी सुतारा और पुत्रको भी साथ चलनेके लिए उद्यत देखकर जिस दुष्ट और सङ्कट में पड़ गए थे उसका चित्रण किया गया है । इस लिए यह प्रतिमुखसन्धिके 'रोध' नामक तृतीय अङ्कका उदाहरण है । 'रोध' का लक्षण 'रुधि' है । अर्थात् खेद या व्यसन, दुःख, सङ्कट को रोध कहा गया है ।

(४) सान्त्वनम्—

अथ 'सान्त्वन' [नामके प्रतिमुख-सधिके चतुर्थ अङ्कका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—शान्ति वचन [का नाम] 'सान्त्वन' है ।

कुडको मनाना [साम कहलाता है] जैसे रामाभ्युदये द्वितीय अङ्कमें—

"मारीच—यह बुझाव करनेका अवसर नहीं है । [मैं तो] स्पष्ट रूपसे बतलाए देता हूँ कि—

जिस घोर [रामचन्द्र] ने स्त्री [सीता] और तपस्वियोंकी रक्षाका भार छोड़े भाई [लक्ष्मण] को सौंपकर खर, द्रुपद और त्रिशिरा आदि घोरोंका अकेले ही बध कर डाला था । उसकी पत्नीके अपमान या मारनेके लिए निकला हुआ तुम्हारा चक्रहास नामक खड्ग भी कुण्ठित हो जायगा ।

रावण—अरे शत्रुके पक्षपाती नीच दुष्ट राक्षस अधिक क्या कहें—

[रामको मारनेकी बात तो जाने दे पहिले] तेरे ही कठोर कण्ठमें निकले हुए रुधिर, जलसे [तेरे द्वारा की गई] शत्रुकी स्तुतिसे उत्पन्न मेरा क्रोधानल ज्ञात हो ले । देवताओंके हाथी [पिरावत] के गण्डस्थलके विदारणके कारण जिसमें मुक्ताफल लग गए हैं इस प्रकारकी [मेरी] यह तलवार, बहिन [सूर्यलता] के अपमानके अनुरूप [रामचन्द्रके वध रूप कार्य को] बादको करेगी [अर्थात् पहिले तुम्हें मारीचको, जो शत्रु की स्तुति कर रहा है समाप्त कर लूँ तब फिर रामचन्द्रको मारनेका कार्य बादको कर लूँगा] ।

ऐसा कहकर [रावण मारीचके मारनेके लिए अपनी] तलवारको सौंचता है ।

प्रहस्त — [पादयोनिपत्य] प्रमीदु प्रसीदतु महाराज । नेदमनुरूप स्वामिन ।  
देव ।

लोकत्रयत्रयोद्वत्तप्रकोपाप्रेमरम्य ते ।

ईदराञ्चन्द्रहासस्य भृत्येष्वनुचिन क्रम ॥

[पुन क्रमादाह] देव प्रमीद प्रणयादतिप्रमोऽय न वामतया ।

इति मारीच प्रति क्रुद्धस्य रावणस्य प्रहस्तविहितोऽयमनुनय मान्दवनम्  
वयमप्यत्र प्रमज्जात् प्रयुक्तम् । “कुण्ठ मङ्गरदुर्मदस्य भवत म्याञ्चन्द्रहामो ऽप्यासि,  
इत्यस्य प्रत्यक्षनिष्ठुरत्वात् ।

(४) अथ वर्णमहोत —

[सूत्र ६७]—पार्श्वो वर्णसहति ॥४८॥

प्रथक् स्थितानां पात्राणामोघ कार्यार्थं भीजनम् । वर्ण्यन्ते इति वर्णा,  
तेषां नायक प्रतिनायक नायिका महायादिपात्राणां सहविवेकप्रकरणम् । यथा रत्ना  
वल्याम—

राजा—राजा सुमङ्गते । क्वामी, क्वामी [इत्यत आरभ्य]—

इस प्रकार यहाँ तक रावणके कोपका बरन किया है । इसके अगले भागमें प्रहस्त,  
मारीचके प्रति रावणके इस कोपका शमन करनेका बरन करते हुए कहता है—

प्रहस्त—[पेरमि गिरवर] प्रसन्न हों महाराज, प्रसन्न हों । यह कार्य आपके अनुरूप  
नहीं है । देव ।

तीनों लोकोंका नाश करनेमें समय प्रकोपवालोंमें अग्रगण्य ! इस प्रकारका आपके  
चन्द्रहास [तलवार] का भृत्योंपर प्रहार उचित नहीं है ।

[उसके आगे फिर कहता है] देव । प्रसन्न हों । प्रमके कारण ही यह [मर्षावाका]  
अतिक्रमण [मारीचने] किया है बिरोधी होकर नहीं ।

इस प्रकार मारीचके प्रति जुड़ हुए रावणके प्रति प्रहस्तका अनुनय सारथन [अङ्गका  
उदाहरण] है । इसमें प्रमङ्गते [अगले अङ्ग] वज्र'का भी प्रयोग किया गया है । [प्रत्यक्ष  
निष्ठुर वचनका प्रयोग वज्र कहलाता है । सा इस प्रसंगमें] युद्धके दुरभिमानो तुम्हारी  
चन्द्रहास [नामक] तलवार भी कुण्ठित हो जायगी इस [मारीचके वचन] के प्रत्यक्ष ही  
निष्ठुर होनेसे [यह 'वज्र' का भी उदाहरण है ।

(५) वर्णमहोत—

प्रव वर्णसहति' [नामक प्रतिमुखसहि व पञ्चम अङ्गका सक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६७]—[अनेक] पार्श्वोंका समुदाय [इकट्ठा हो जाना] वर्णसहति [नाम अङ्ग  
कहलाता] है ।

अलग-अलग स्थित पार्श्वों का ओघ अर्थात् किसी कार्यके लिए एक साथ सम्मिलित  
[वर्णसहति कहलाता है] । जिनका बरन किया जाय वे [पात्र] वर्ण हैं । उन 'वर्णों'  
अर्थात् नायक प्रतिनायक नायिका सहाय आदि पार्श्वोंका सहति अर्थात् इकट्ठा होना [वर्ण-  
सहति कहलाता है] है । जैसे रत्नावलीमें—

राजा—सुसगने वह बहौ है, बहौ है । [यहाँसे लेबर] —

श्रीरेपा पाण्डुरप्यस्या. पारिजातस्य पल्लवः ।

कुतोऽन्यथा स्रवत्येष म्वेदच्छद्वामृतद्रवम् ॥ इति यावत् ।

अत्र राज-सागरिका-विदूषक-सुसङ्गतानामेकत्र योजनम् ।

अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां यथासम्भवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा एकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते । यथा वीरचरिते लुवीयेऽङ्के—

परिपदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्

सह नृपतिभिरन्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनकानामद्रहो याचकस्ते ॥ इति ।

एके तु वर्णिताथतिरस्कारं वर्णसंहारमामनन्ति । उदाहरन्ति च यथा वेणी-संहारे ऋचुकिना रथकेतनपत्ने निवेदिते भानुमती—

“अंतरीयदु दाव एदं समस्थवंभणार्ण वेयङ्मुणि-भंगलुग्घोसेण । इति”

[अन्तरीयतां तावदेतत् ममस्तब्राह्मणानां वेदध्वनिमगलोद्घोषेण । इति संस्कृतम्] ॥४८॥

यह [साक्षात्] लक्ष्मी है और इसका हाथ पारिजातका पल्लव है । अन्यथा [इससे] श्वेदके बहानेसे अमृतद्रव कैसे टपक रहा है ।

इस [सारे प्रसंग] में राजा, सागरिका, विदूषक तथा सुसंगता [आवि अनेक पात्रों] का एक साथ सम्मिलन हो गया है [अतः यह वर्णसंहति नामक अंगका उदाहरण है] ।

अन्य [व्याख्याकार] तो वहाँ अर्थात् ब्राह्मणादिका यथासम्भव दो-तीन या चार [वर्णों] के एक साथ इकट्ठे होनेको ‘वर्णसंहति’ कहते हैं । जैसे महावीरचरितके तृतीय अङ्कमें—

सीता-स्वयम्बरमें रामचन्द्रजीके द्वारा धनुष तोड़ दिए जानेके बाद परशुरामजीके आ जानेपर उनके साथ सघर्षका प्रसङ्ग चल रहा है । परशुरामजी रामचन्द्रपर अत्यन्त अप्रसन्न हैं और उनकी मार देनेका भय दिखला रहे हैं । उस समय अन्य सब लोग इकट्ठे होकर परशुरामजीको मनानेका यत्न कर रहे हैं । इसी प्रसङ्गमेंसे यह श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है । उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णोंके प्रयोजनवश एकत्र हो जानेसे यह वर्णसंहारका उदाहरण है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

यह ऋषियोका समुदाय, यह [भरतके मामा वैक्य देशके राजा] वृद्ध युधाजित्, और अन्य राजाओंके साथ ये शूद्धे लोमपाद तथा निरन्तर यज्ञ करने वाले एवं पुराने ब्रह्मवादी जनकोंके राजा [सीरध्वज] ये सब आपके अविरोधी होकर आपसे याचना कर रहे हैं [अतः अथकी बार आप रामचन्द्रको क्षमा कर दें] ।

अन्य लोग पणित अर्थात् तिरस्कारके ‘वर्णसंहार’ मानते हैं । और उसके उदाहरण रूपमें येलीसहार [के द्वितीय अङ्क] में कञ्चुकीके द्वारा [दुर्योधनके] रथकी ध्वजा के पतन [रथ अगडुन] की सूचना मिलनेपर भानुमती आपके निम्न वचनको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत करते हैं—

भानुमती—इस [अपगडुन] की समस्त ब्राह्मणोंके [द्वारा किए जाने वाले] वेद-ध्वनि के घोष द्वारा प्रमन कर दो ॥४८॥

(६) अथ नर्म—

[सूत्र ६८]—क्रीडार्यं हसनं नर्म

यथा रत्नावल्याम्—

“विदूषकः—[कृणु दत्त्वा ससम्भ्रमं राजानं हस्ते गृहीत्वा] भो वयस्य ! पलायम्ह । एदस्मिं लकुचपायवे किं पि महाभूतं परिवसदि । यदि मे न पत्तियसि ता अगदो भविय मयं न्येव आयन्नेहि ।

[भो वयस्य ! पलायामहे । एतस्मिन् लकुचपादपे किमपि महाभूतं परिवसति । यदि मां न प्रत्येपि तदाप्रतो भूत्वा स्वयमेवाकर्ण्य । इति संस्कृतम्] ।

राजा—[आश्चर्यं] वयस्य सारिकेयम् । इति ।”

तथा—

“विदूषकः—भो मा पंडित्यगव्वमुव्वहह । एद देअह वक्काणुइस्मं जा एसा आलिहिदा, मा कएणा दंसणीया य ।

[भो मा पाण्डित्यगव्वमुव्वहह । इद देवाय व्याख्यास्यामि या एसाऽऽलिखिता मा कन्यका दर्शनीया च । इति संस्कृतम्] ।

राजा—वयस्य यन्नेवं अचहितै श्रोतव्यम् । अस्यवकाशो न कुतुहलस्य ।’

तथा—

“सुसङ्गता—सहि जस्स कए सुवं आगदा सो अयं पुरदो चिट्ठदि ।

[मखि यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति । इति संस्कृतम्] ।

(६) नर्म—

इम प्रकार यहाँ तक प्रतिमुख-सन्धिके पाँच अङ्गोका वर्णन हो गया । अब प्रागे प्रतिमुख-सन्धिके छठे अङ्क ‘नर्म’ का वर्णन प्रारम्भ करते हैं ।

अब ‘नर्म’ [मामक छठे अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६८]—मनोरञ्जन [क्रीडार्यं] केलिए हास्य करना ‘नर्म’ [कहलाता] है ।

जैसे रत्नावलीसे—

विदूषक—[कान लगाकर सुनते हुए और भयके भारे राजाका हाथ पकडकर विदूषक राजासे कहता है कि—] हे मित्र, चलो यहाँसे भाग चलें क्योंकि इस कठहलके पेठपर कोई भयङ्कर महाभूत रहता है । यदि तुम मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते हो तो अपने-प्रापे प्रागे बढ़कर सुन लो विलो इसपर भूत बोल रहा है कि नहीं] ।

राजा—[सुनकर] अरे मित्र ! यह तो मैंना [बोल रही] [भूत कहीं] है ।

यहाँ विदूषकका वचन मनोरञ्जन मात्रके लिए है इसलिए यह ‘नर्म’ या हास्य मजाक का उदाहरण है । रत्नावलीसे इसी प्रकारका एक और उदाहरण प्रागे देते हैं—

विदूषक—अरे मित्र, पांडित्यका गवं मत करो । मैं तो इसकी ऐसी व्याख्या करता हूँ कि यह जो चित्रमे अङ्कित है वह कन्या है और दर्शनीया है ।

राजा—यदि ऐसी बात है तो तनिक सावधान होकर सुनना चाहिए [कि यह क्या कहती है । क्योंकि इस कन्याकेलिए] हमें उत्सुकता होना स्वाभाविक है ।

सुसङ्गता—सखि ! जिसके लिए तुम आई हो वह सामने ही उपस्थित है ।



सागरिका—[ सासूयम् ] सुसंगदे ! कस्स कए अहं आगदा ?

[ सुसंगते ! कस्य कृते अहमागता ? इति संस्कृतम् ] ।

सुसंगता—अयि अप्पसकिदे ! एं चित्तफलहरस्स, ता गिरह् एदं ।” इति ।

[ अयि आत्मशङ्किते ! ननु चित्रफलकस्य । तद् गृहाणैनम् । इति संस्कृतम् ] ।

एता विद्रूपरु-सुमङ्गतयो राज सागरिकाक्रीडार्थं हासोक्तयः । अनेकशोऽप्ये-  
कमेवाङ्गं निबद्धञ्चत इति त्रिघोटाहृतम् ।

यथा वा नलविलासे—

“विद्रूपरुः—[ लम्बस्तनी विलोक्य समयकम्पम् ] भो रायं अहं पदाड द्वाणा  
उट्ठिस्म । [ भो राजन ! अहमेतस्मान् स्थानादुत्थाम्यामि । इति संस्कृतम् ] ।

• राजा—किमिति ।

विद्रूपरुः—जइ एसा थूलमहिप्पी कट्टितट नर्त्तयन्ती ममोपरि पडेदि, ता  
धुव मं मारेदि ॥

[ यथेषा स्थूलमहिषी कटितटं नर्तयन्ती ममोपरि पतेत्, तथा ध्रुव मं  
मारयेत् । इति संस्कृतम् ] ।”

तथा—

“राजा—लम्बस्तानि इदमामनमास्थताम् ।

विद्रूपरुः—भोदी लबत्थणीए दुब्बल खु एद आसण । ता तुमए सावहाणाए  
उवविसिदव्व । [ भवति ! लम्बस्तन्यै दुर्बलं पश्येतदामनम् । तत् त्वया सावधान-  
योपवेष्टव्यम् । इति संस्कृतम् ] ।”

सागरिका—[ क्रोध पूर्वकं ] सुसङ्गते ! मे किसके लिए आई हैं ।

सुसङ्गता—घरे अपने आप बाढ़ा कर लेने वाली, चित्रफलके लिए [ आई हो न ] इस  
[ चित्र ] को पकड़ो [ यह तुम्हारे सामने ही रखा है ] ।”

ये सब विद्रूपरु तथा सुसङ्गताकी [ क्रमशः ] राजा तथा सागरिकाके मनोरञ्जनके लिए  
हास्योक्तियाँ हैं [ अतः ‘नर्भं’ नामकं अङ्गके उदाहरण हैं ] एक ही अङ्गका अनेक बार भी  
प्रयोग किया जा सकता है । इसके लिए तीन उदाहरण दिए हैं ।

अथवा जैसे नलविलासे—

‘विद्रूपरु—[ लम्बस्तनीकी देखकर भयसे काँपते हुए ] हे राजन् ! मे तो इस स्थानसे  
उठता हूँ ।

राजा—क्यों किसलिए [ उठते हो ] ?

विद्रूपरु—यदि यह मोटी भेंट कमर भवाती हुई मेरे ऊपर गिर पड़ी तो मुझको मार  
ही डालेगी ।”

तथा—

“राजा—हे लम्बस्तनि ! इस आसन [ कुर्सी ] पर बंटो ।

विद्रूपरु—भगवति ! लम्बस्तनीके लिए यह आसन कुबल है इसलिए तुम इसपर साव-  
धान होकर बंटना ।

ये सब हास्योक्तियाँ नर्भं नामक अङ्गके उदाहरण रूपसे प्रस्तुत की गई हैं ।

तथा—

“विदूषक —भोदि ! किं अइदुच्चलासि ।

[भवति ! किमितिदुर्बलासि । इति संस्कृतम्] ।

सम्बस्तनी—मगपरिस्समेण । [मार्गपरिश्रमेण । इति संस्कृतम्] ।

विदूषक —भो कलहसा कित्तिण्हि गोणेहि मुदेहि एसा इध सपत्ता ?

[भो कलहस ! कियद्दि गोभि मृतैरेपात्र सम्प्राप्ता । इति संस्कृतम्] ।

[कलहसो विद्वस्यागोमुपस्तिष्ठति ॥” इति ॥

(७) अथ नर्मद्युति —

[सूत्र ६६]—दोषावृत्तौ तु तद्युतिः ।

दोषावृत्त्यै दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसन हास्यहेतुर्वान्वय सा तस्य नर्मणो  
द्योतन नर्मद्युति । यथा रत्नावल्याम्—

“विदूषक —भो ! अज्ज वि एमा चउज्जेई विय थंभणो गियाउ पडिउ पयत्ता ।

[भो ! अग्राप्येषा चतुर्वेदीय ब्राह्मण ऋच पठितु प्रवृत्ता । एत संस्कृतम्] ।

राजा—वयस्य किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितम् । तत् किमनयोक्तम् ?

विदूषक —भो ! एद एदाए पडिद—

दुर्लभजनागुराओ लज्जा गरुई परवसो आप्पा ।

प्रियमहि । विसम पिम्म मरण मरण नु वरमेकम् ॥

[भो ! इदमेतया पठितम्—

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।

प्रियसति । विपम प्रेम मरण शरण न वरमेकम् ॥ इति संस्कृतम्] ।

तथा—

“विदूषक—भगवति ! [कहिण] अप दुर्बल कंते हो रही हैं ?

सम्बस्तानी—मार्गकी थकावटमे ।

विदूषक—अरे कलहस [रास्तेमे] कितनी गीएँ मार कर ये यहाँ तक आई हैं ।

[कलहस हसते हुए मुख नीचा कर लेता है ।]”

यह सब हास्य परवचन हैं । इसलिए यह भी नर्मका उदाहरण है ।

(७) नर्मद्युति—

अथ ‘नर्मद्युति’ [नामक प्रतिमुख सम्बन्धके सप्तम अगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—दोषके छिपावके लिए [हास्य वचनोंका प्रयोग होने पर तद्युति अर्थात्]

नर्मद्युति [नामक अग माना जाता] है । जैसे रत्नावली मे—

विदूषक—अरे यह [सारिका] तो अब भी चतुर्वेदी ब्राह्मणके समान ऋचाधोवा पाठ  
करे जा रही है ।

राजा—हे मित्र मेरा ध्यान दूसरी ओर था, मैं समझा नहीं कि इसने क्या कहा ।

विदूषक—अरे इसने यह कहा है कि—

दुर्लभ जनके साथ प्रेम हो गया है भारी सज्जा हो रही है किन्तु आत्मा भी परवश  
है । प्रिय सति । प्रेम बड़ा कठिन है अब सो केवल मरण ही एक शरण है ।

राजा—भो महाब्राह्मण ! कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञः ?

अत्र मौख्यदोषं आदयितुं यद् विदूषकेणोक्तं तद् राज्ञो हास्यहेतुत्वान्नर्मद्युतिः ।

अन्ये तु नर्मजां धृतिं नर्मद्युतिमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

सुसंगता—सहि ! अदक्खिन्ना दाणिं सि तुवं जा एवं भट्टिणो इत्थावलंबिया वि कोवं न मुंचमि ।

[मखि ! अदाक्षिण्या इदानीं त्वमसि या एवं भर्तुर्हस्तावलम्बितापि कोप न मुंचसि । इति संस्कृतम् ] ।

सागरिका—[सभ्रूभंगमीपद्विहस्य] सुसंगदे ! इयाणि पि न विरमसि ।” इति ।

[सुसंगते ! इदानीमपि न विरममि । इति संस्कृतम् ] ।

एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हतः । कैशिकी-प्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वादिति ।

(८) अथ तापः—

[सूत्र ७०]—अपायदर्शनम् तापः

यथा पार्थिविजये—

“कञ्चुकी—भो भो लोकपालाः परित्रायध्वम् ।

राजा—हे महाब्राह्मण [तुमको छोडकर] और कौन इन ऋचाओंको समझ सकता है ।

यहाँ [प्रपनी] मूर्खताके दोषको छिपानेकेलिए विदूषकने जो-कुछ कहा है वह राजाके हास्यका हेतु होता है । [इसलिए नर्मद्युति अंगका उदाहरण है] ।

अग्न लोभ तो नर्म [नजाक] से उत्पन्न छति [आगन्ध] को नर्मद्युति कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें—

सुसंगता—सखि ! तुम बड़ी दाक्षिण्य-रहित हो जो स्वामीके इस प्रकार हाथ पकडने पर भी क्रोध नहीं छोडती हो ।

सागरिका—[भौहें डेढी करके तनिक हँसकर] सुसंगते ! तू अब भी नहीं मानती है ।

यह नर्मद्युतिका उदाहरण है । क्योंकि इसमें सुसंगताके हास्यवचनसे सागरिकाको एक प्रकारके विशेष आनन्द या धैर्यकी प्राप्ति हो रही है । इसलिए जो लोग नर्मजा धृतिको ‘नर्मद्युति’ कहते हैं उनकी दृष्टिसे यह नर्मद्युतिका उदाहरण होता है ।

ये नर्म तथा नर्मद्युति नामक दोनों अंग काम-प्रधान रूपकोंमें ही निबद्ध किए जा सकते हैं । क्योंकि उन [काम-प्रधान रूपकों] के कैशिकी-प्रधान होनेसे उनमें हास्य उचित हो सकता है ।

(८) तापः—

अब ‘ताप’ [नामक प्रतिमुखसंधिके अष्टम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७०]—किसी इष्टजनके [अपाय अर्थात्] विनाशका दर्शन [तापजनक होनेसे] ‘ताप’ [कहलाता] है । जैसे पार्यविजयमें—

कञ्चुकी—हे हे लोकपालो ! रस्ता करो ।

एषा बधू भरतराजकुलस्य साध्वी,  
दुर्योधनस्य महिषी प्रियसङ्गरस्य ।  
चिस्मृत्य पाण्डु-धृतराष्ट्र पितामहादीन्,  
गन्धर्ववीरपशुभिः परिभूयते स्म ॥

युधिष्ठिर — [ श्रुत्वा दुर्योधनान्तपुरे महतीमपायशङ्कामाविर्बुध्वा नाह ]  
वत्स ! स्वगात्रपरिभयावच्छारनिष्ठुर शब्द । अद्याप्यभ्रान्तः स्मामि । व कोऽत्र,  
चापम । [ इति चापारोपणमभिनयन सम्प्रमादुत्तिष्ठति ] इति ।

कैचित्तु स्थानेऽस्य अनुनयागत्यो ग्रेह-निग्रह रूप 'शमन' पठन्ति । यथा  
पार्थविजये—

“भीम — आ क एष मयि स्थिते भरतकुल परिभवति ? अतः परं न मर्प-  
यामि” इति ।

अत्र 'अयि वत्स ! स्वगात्र' इत्यादि पूर्वदर्शितेन युधिष्ठिरस्मरभेदे भीम  
स्यानुनयग्रहणम् ।

अरतिनिग्रहो यथा वेशीसहारे—

यह भारतके राजवंशकी साध्वी बधू और युद्धप्रेमी दुर्योधनकी रानी पाण्डु धृतराष्ट्र  
और पितामह [भीष्म] आदिको भुलाकर [पर्याप्त उनकी शक्ति आदिकी और ध्यान न देकर]  
बुद्ध गन्धर्व धीरो द्वारा अपमानित की जा रही है ।

युधिष्ठिर—[ सुनकर और दुर्योधनके अन्त पुरमे किसी भारी विनाशकी शका  
समभवकर कहते हैं कि ] हे वरस [भीम] ! अपने वंशके अपमानका कठोर अप्रिय शब्द [सुनाई  
दे रहा] है । तुम अब तक स्थिर बंठे हुए हो । कौन, यहाँ कौन है ? धनुष धनुष [जल्दी धनुष  
साधो] इस प्रकार [कहते हुए और] धनुष चढ़ानेका अभिनय करते हुए जल्दीसे उठते हैं ।

इसम दुर्योधनके अंत पुरम होनेवाले विनाशको देखकर युधिष्ठिरकी व्यग्रताका वरण  
मिया गया है । अतः यह ताप नामक अङ्गना उदाहरण है ।

कुछ लोग इस [‘ताप नामक अंग’] के स्थानपर अनुनयके ग्रहण और अरतिके निग्रह  
रूप शमन को [प्रतिमुख सन्धिके अंगोंमें] पढ़ते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि वे लोग 'ताप' को प्रतिमुखसन्धिके अङ्ग न मानकर शमन  
को उसका अङ्ग मानते हैं । और इस शमनकी व्याख्या दो प्रकारकी करत है । एक अनुनयका  
ग्रहण, और दूसरी अरतिका निग्रह, इन दोनोंको वे 'शमन' कहते हैं ।

जैसे पार्थविजयमें [अनुनयग्रहणका उदाहरण]—

“भीम—अरे यह कौन है जो मेरे रहते भरतकुलका अपमान करना चाहता है ।  
इससे अधिक मैं सहन नहीं करूँगा ।

इस [उदाहरण] में 'हे वत्स ! अपने गोत्रके पराभवका सा अप्रिय शब्द सुनाई दे  
रहा है' इत्यादि पूर्वदर्शित [वाक्यम दिखलाए हुए] युधिष्ठिरके कोपको देखकर भीम  
[युधिष्ठिरके] अनुनयका ग्रहण करते हैं [इतलिय यह अनुनय ग्रहण रूप शमनके प्रथम भेदका  
उदाहरण है] ।

अरति निग्रह [नामक शमनके दूसरे भेदका उदाहरण] जैसे वेशीसहारेमें—

“सखी—जइ एव ता कहेहि जेण म्हे पढिहावयतीउ पससाए देवदाण सकित्तणेण दुब्बादिपरिग्रहेण पढिहणिसामो !”

[यद्येव तदा कथय येन वय प्रतिष्ठापयन्त्य. प्रशसया देवताना सकीर्तनेन दूर्वादिपरिग्रहेण प्रतिहणियाम् । इति संकृतम् ] ।

पुन. स्वावसरे

“भानुमती—[अर्घपात्र गृहीत्वा सूर्याभिमुख स्थित्वा] भयव अम्बरमहा-  
मरेरुसहस्रवत्त ! दिसावहुमुपमडण कुकुमविसेसय ! सयमभुवणरयणपट्टव ! उज  
इह सिचिणयदसरो ज किचि अन्चाहिदं, तं भयवओ पणामेण सभाहुणो अट्टयउत्तस  
कुमलपरिणाम भोदु ति ।”

[भगवन् ! अम्बरमहासरैकसहस्रपत्र ! दिग्बधूमुग्रमण्डलकुकुम विशेषक !  
सरुनभुयनरत्नप्रदीप ! अद्येह स्वप्नदर्शने यत् किञ्चिदस्याहित, तद् भगवत्  
प्रणामेन मभ्रातुरार्यपुत्राय कुशलपरिणाम भवतु ।” इति संकृतम् ] ।

अत्र दु स्वप्नोद्भूताया अरतेनिर्ग्रह । इति ।

(६) अथ पुष्पम्—

[सूत्र ७१]—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ४६ ॥

पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयु-  
ज्यते तेन अन्येन वा, तत् पूर्वस्माद्विशेषवत् । तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम् । पेश-  
रचनाया पुष्पमिव पूर्ववाक्यालंकारकारित्वान् । यथा ‘वल्लभदुर्योधने’—

“सखी—यदि ऐसी बात है तो कहो, जिससे हम लोग प्रतिष्ठापना, प्रशंसा, देवताओंके  
सकीर्तन तथा दूर्वादिके पहरणके द्वारा [उस दु स्वप्न] का प्रतिविधान करें ।

बेलीमहारके द्वितीय मङ्गले भानुमतीके मुखसे दु स्वप्नकी बात सुनकर उसका सखी  
उस अरतिके शमनकी चर्चा कर रही है । अतः यह अरति निग्रहका उदाहरण है । आगे स्वयं  
भानुमती द्वारा किए जानेवाले अरति-निग्रहका उल्लेख करते हैं ।

फिर अपना अवसर आनेपर—

“भानुमती—[अर्घपात्र लेकर और सूर्यके सामने खड़े होकर] हे भगवन् ! आकाश रूप  
महासरोवरके अद्वितीय कमल ! दिग्बधूके मुख-मण्डलके कुकुम-बिन्दु ! और समस्त भुवनोंके  
[प्रकाशित करनेवाले] रत्नदीप ! आज स्वप्न-दर्शनमें जो कुछ महाभय [अत्याहित महाभीति]  
उपस्थित हुआ वह आपको प्रणाम करनेसे, भाइयो सहित आर्यपुत्रके लिए कुशल परिणामका  
जनक हो ।

इसमें दु स्वप्नसे उत्पन्न अरतिका निग्रह [स्वयं भानुमती कर रही है । अतः शमनका  
उदाहरण है] ।

(६) पुष्पम्—

अथ ‘पुष्प’ [नामक प्रतिमुखसधिके नवम अगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७१]—विशेषतासे युक्त वाक्य ‘पुष्प’ [नामक अग होता है]—

पहिले स्वयं ही, अथवा किसी दूसरेके द्वारा कहे गए वाक्यकी अपेक्षासे जो विशेषता-  
युक्त वचन [वादकी] उसीके द्वारा अथवा अन्य [वक्ता] के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है । पूर्व

“भीष्म.—

एतन् ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,  
ममप्रत्येव तु गोमहे यदभवत् तत् तावदावस्थिताम् ।  
एन. पूर्वमुदायुधै म बहुभित्प्रस्ततोऽनन्तरं,  
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनस्तावन्त एवाजुनाः ।”

अत्रोत्तरार्धे विशेषवद्वाक्यम् ।

यथा वा मत्पुत्रश्चन्द्रः—

“वसुभूतिः—[मरोप राजानं प्रति]—

न नाम स्यु र्गर्ण-चित्ति-सुत-रत्नराशि यतिना,  
नदमै यद्वत् तदिह निरिखं भग्मनि हुतम् ।  
विहाय व्यामोहं विमृश विमृशाणापि नृपते !  
तपोऽथाजच्छत्रं किमपि नियतं श्रेयसमिदम् ॥

कुलपति.—[मोपह्वामम्] अरे मुग्ध ! सचिवापमद ! चिराद् यथार्थमभिहित-  
वानसि । दुःखं तप करकलिनम्बगापवर्गशर्मणो मर्त्यापदेगेन देवतान्येव मुनयः ।”  
वाक्यकी अपेक्षा विदोषता युक्त वह वाक्य पुष्पके समान [होनेसे] ‘पुष्प’ बहुलाता है । पुष्प  
जिम प्रकार केदारचनाका अलङ्कार होता है इसी प्रकार [विदोषक उत्तर वाक्य] पुष्प-वाक्य  
का शोभा-घायक होता है । जैसे ‘विलसदुद्योपन’ में—

“भीष्म [दुयोपनसे कह रहे हैं]—

यह मैं तुम्हारे हृदयका स्पर्श करके [ तुम्हारी शपथ लाकर कह रहा हूँ ] अथवा  
तुम्हारा ही पुत्र इसका साक्षी हो सकता है । कि अभी गोपीको पकड़ते समय जो-कुछ हुआ  
उसकी पहिले मुन लो । पहिले [युद्धके आरम्भ होते समय] शस्त्र उठाए हुए [हम] बहुतसे  
लोगोंने उस अकेले [घर्मन] को देखा था और उसके बाद [जब युद्धसे गर्मी घई तो] हम  
लोग जितने ही [उसके साथ] युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले थे [उनमेसे प्रत्येकके साथ युद्ध  
करनेके लिए प्राप्त] उतने ही घर्मन दिखलाई देते थे ।”

इसमें [सतोऽहं] उत्तरार्ध [पूर्वार्ध] का विदोषक होनेसे] विदोषक है ।

अथवा जैसे सरवहरिचन्द्रमे—

“वसुभूति [शेषमें आकर राजाके प्रति कहते हैं]—

मन्यामियोके पास सोना, शृंगीची, पुत्र, वस्त्रादि नहीं होने चाहिए इसलिये आपने इन  
[कुलपति साथ] को जो कुछ [अपना राज्य और स्वयं आदि] दिया है वह सब भग्नमे डालो  
आहुतिसे समान करके है । इसलिये [मेरी प्रार्थना है कि इस] व्यामोहके तोड़कर [कि यह  
कोई महात्मा है] हे राजन् ! आप सब भी विचार कीजिए [इसके अन्तरमें मन पहिले] यह  
तो तपस्योके लेपमे दिया हुआ चिह्नय ही कोई देयता है [जो आपकी परीक्षा सेनेकेलिए  
आपका दृष्टा प्रतीत होता है] ।

कुलपति—[उपह्वाम करते हुए] अरे आत्मान ! नीच मन्त्री ! बहुत देर बाद मुने टीका  
बान बजो है । दुस्तर तपस्वी हाथके द्वारा स्वयं और धरणां मुखकी प्राप्ति करनेवाले मुनिपरा  
[मत्पुत्र] देवता ही होने हैं ।

अत्र वसुभूतिवाक्यादुत्तरवाक्यं समर्थकत्वेन विशेषवदिति ॥ ४६ ॥

(१०) अथ प्रगमनम्—

[ सूत्र ७२ ]—प्रगमः प्रतिवाक्-श्रेणिः

प्रश्नप्रतिपन्थिनी वाक् प्रतिवाक् । तस्याः श्रेणिः । अपरर्पितो द्वे प्रतिवचने,  
उत्कर्षतो बहून्यपि । यथा वेणीसंहारे—

“भानुमती—अय्यउत्त ! अदिभत्तं मे मका वाधाद । ता अणुमन्नेदु मं  
अउजउत्तो । [आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मां शंका वाधते । तदनुमन्यतामामार्यपुत्रं ।  
इति सस्कृतम् ]

राजा—अयि देवि !

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितमुवामक्षौहिणीनां फल,  
किं द्रोणेन किमंगराजविशिखैरेवं यदि कलाभ्यास ।  
भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखापाश्रिता,  
त्वं दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शंकास्पदं किं तव ॥

इसमे वसुभूतिके वाक्यके बादका [कुलपतिका] वाक्य [पूर्व वाक्यके अर्थका] समर्थक होनेसे ‘विशेषवत्’ है [इसलिए यह भी ‘पुष्प’ नामक अंगका उदाहरण है] ।

पहिले उदाहरणमें पूर्व वाक्य तथा उत्तर वाक्य दोनों बबता भीष्म थे । इसमें दोनों के वक्ता अलग अलग हैं यह भेद है ।

(१०) प्रगमनम्—

अथ ‘प्रगमन’ [नामक प्रतिमुख सन्धि के दशम अणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७२]—प्रश्नोत्तर परम्परा [का नाम] ‘प्रगम’ है ।

प्रश्नकी विरोधिनी [अर्थात् प्रश्नकी समाप्त करने वाली उत्तर रूप] वाली ‘प्रतिवाक्’ [कहलाती] है । उसकी ओर [अर्थात् परम्परा प्रतिवाक्-श्रेणि] हुई । उसीको प्रगमन अर्थात् के नामसे कहते हैं । उस परम्परामें कम-से-कम दो प्रतिवचन हों । अधिक तो बहुत भी हो सकते हैं । [उसका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें—

“भानुमती—आर्यपुत्र ! [स्वप्न दर्शनके कारण] मुझे [अनिष्टको] शंका बहुत सता रही है । इसलिए आर्य पुत्र ! [उत्तोपकृतदि द्वारा उस अनर्थके प्रतिविभ्रम करनेके लिए] अनुमति प्रदान करें ।

राजा—अयि देवि !

[यदि तनिकसे अनुभ स्वप्नके डोल जानेसे तुम इस प्रकार डर जाती हो तो फिर] चारों दिशाओंमें व्याप्त, घोर घृणितोको कम्पित कर सकने वाली हमारी अक्षौहिणी सेनाओं का क्या फल है ? यदि तुम इस प्रकार डुली हो रही हो तो [हमारे महारथों आचार्यों] द्रोण [के रहने] से क्या लाभ हुआ ? और अंगराज [वर्ण] के [शक्तिशाली] बालोका क्या उपयोग हुआ ? [अर्थात् इन लोगोंके रहते हमारा कोई किसी प्रकारका भी अनिष्ट सम्भव नहीं है इसलिए तुमको घबड़ाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है] हे भीरु ! तुम मेरे सौ भाइयों के भुज-समूहकी छायामें बैठे हुई दुर्योधन रूप भृशराजकी पत्नी हो, तुम्हारे लिए डरनेका क्या कारण हो सकता है । [इसलिए तुम बिल्कुल मत डरो । हमारा कोई अनिष्ट नहीं होगा] ।

भानुमती—अय्याउत्त ! न हु मे किंचि संका तुम्हेसु सन्निहिदेसु । इति ।

[आर्यपुत्र ! न हि मे काचिच्छंका युष्मासु सन्निहितेषु । इति संस्कृतम् ]

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

“दमयन्ती—[भुजमवलम्बिते राजनि क्रमादाह—] जई एवं मुंच मे पाणि ।

[यद्येवं मुंच मे पाणिम् । इति संस्कृतम् ] ।

राजा—कथमपराधकारी मुच्यते ?

दमयन्ती—किं एदिण्ण अवयद्धं ।

[किमेतेनापराद्धम् । इति संस्कृतम् ] ।

राजा—एतेन मत्प्रतिकृतमालिख्य अहमियति विरहानले पातितः ।

दमयन्ती—[स्मित्वा] जड एवं ता अहं पि ते पाणि गहिस्सं । तव पाणि-

लिहिदेन पडेण अहं पि एतावत्थसरीरा जादा । इति

[यदि एवं तदाहमपि ते पाणि ग्रहीष्ये । तव पाणिलिखितेन पटन अहमेत-

दवत्थशरीरा जाता । इति संस्कृतम् ] ।

(११) अथ वयम्—

[सूत्र ७३]—वज्रं प्रत्यक्षकर्कशम् ।

यन्निष्ठुरत्थान् प्रत्यक्षरुक्क वाक्यं यच्च पूर्वप्रयुक्तभ्यान्वयावयवस्य अनुष्ठानाय वा प्रथमकं तद् वज्रमिव वयम् । यथा वेलीमंहारे—

भानुमती—हे आर्यपुत्र [सचमुच ही] आपने समीप रहने पर मेरे लिए कोई संका [का स्थान] नहीं है ।”

इसमें दुर्योधन तथा भानुमतीके प्रदोषरूपके रूपमें प्रतिवाक्-श्रेणि दिखलाई गई है । इसलिए यह ‘प्रगम’ नामक धङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे नलविलासे तृतीय अङ्कमें—

“दमयन्ती—यदि ऐसी बात है तो मेरा हाथ छोड़ दो ।

राजा—अपराधीको कैसे छोड़ा जा सकता है ?

दमयन्ती—इसने क्या अपराध किया है ?

राजा—इसने मेरी तरबोर बनाकर मुझे इस प्रकारके विरहानलमें डाल दिया है ।

दमयन्ती—तो फिर मैं भी तुम्हारा हाथ पकड़ूंगी । तुम्हारे हाथके द्वारा मिले गए पटके कारण मेरे शरीरकी यह हासन हो गई है ।

इसमें नल दमयन्तीके उत्तर-प्रयुक्तकी परम्परा होनेसे यह भी ‘प्रगम’ धङ्गका उदाहरण है ।

(११) ‘वय’

अथ ‘वय’ [नामक प्रतिमुल साधने व्याख्याने अगका सप्तम आदि कहते हैं]—

प्रथम रूपमें वज्रं [प्रतीत होने वाला वज्र] ‘वय’ [बहसाला] है ।

जो वाक्य बटोर होनेके कारण स्पष्ट रूपमें ही दस है और पूर्व कहे हुए वाक्य अथवा [पूर्व किए हुए] वाक्यका विनाश कर देता है वह वयके समान [बटोर और वाक्य विच्छेद] होनेसे ‘वय’ [बहसाला] है । जैसे वेलीमंहारमें—



“अश्वत्थामा—[कर्णमुद्दिश्य] रे रे राधागर्भभारभूत सूतापसद !

कथंमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,

द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।

तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,

शिरसि चरण एव न्यस्यते वारयेनम् ॥”

यथा वा कृत्यारावणे द्वितीयेऽङ्के—

“रावण—विदेहराजपुत्रि !

विक्रमेण मया लोकाः, त्वया रूपेण निजिताः ।

सम्रक्षचारिणमतो भजमानं भजस्व माम् ॥

सीता—हृदास ! अप्पा दाव तए न निजिजदो, का गणणा लोएसु ।”

[हृताश आत्मा तावत् त्वया न निजितः, का गणना लोकेषु । इति संस्कृतम्]

अनेन प्रत्यक्षकर्कशेन वाक्येन रावणवचनं प्रध्वस्तम् ।

यथा वा रघुविलासे—

“रामः—[विराघवेशं रावणं प्रति साक्षेपम्]—

युद्धश्राद्धमयाः सकुट्टिमतटीशाणानिशताश्रयाः,

देवीमप्यनलम्भविष्णव इमे त्रातुं पृथका यदि ।

मथनन्तः पृथुपुंस्वपत्रपवनैर्धम्मिल्लमालयश्चिरं

निर्भिद्यः कथमिद्वकोकशघनां पौलस्त्यकण्ठाटवीम् ॥”

“अश्वत्थामा—[कर्णको लक्ष्य करके] अरे राधाके गर्भके भारभूत नीच सूत !

[यह ठीक है कि] दु ली शयवा [तेरे कहनेके अनुसार] भीरु मेरे उन पिना [श्रोणाचार्य] ने किसी कारणसे आज द्रुपदतमय [धृष्टद्युम्न] के [अपना शिरको काटनेके लिए उद्यत] हाथको नहीं रोका, [उसे जाने दे] पर ले भुजबलके बर्षसे फूलने वाले तेरे सिरपर यह मैं अपना घाया वंद रखता हूँ [तेरे भीतर सामर्थ्य हो तो] इसको रोक [के दिखला] ।

यह वज्रके समान प्रत्यक्ष-कर्कश वचन ‘वज्र’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे ‘कृत्यारावण’ के द्वितीय अङ्कमें—

रावण—हे जानकि !

मैंने अपने पराक्रमसे, और तुमने अपने रूपसे लोकोको जीत लिया है [इसलिए हम दोनों सहाय्यायी है] इसलिए अपने चाहने वाले अपने सम्रक्षचारी [सहाय्यायी मुझ रावण] को [तुम भी] प्रेम करो ।

सीता—अरे नीच ! तूने तो अपने [आत्मा] आपको ही नहीं जीत पाया है, लोकों [के जीतने] की तो बात ही कहाँ है ?

इस प्रत्यक्ष-कर्कश वाक्यसे रावणका वचन [प्रध्वस्त] कट जाता है । [इसलिए यह ‘वज्र’ नामक अङ्गके दूसरे भेदका उदाहरण हुआ ।]

अथवा जैसे रघुविलासेमें [कार्य-विध्वंस रूप वज्रके तृतीय भेदका उदाहरण]—

[विराघवेश-धारी रावणके प्रति राम कहते हैं]—

युद्धकी अद्धासे भरे हुए पर्वके फर्से वाली पहाडकी तटी रूप शरण [पर घिसने]

यथा वाग्वैव—

वैनतेय—[राम प्रति] अजितेन्द्रिय. गलु दुरात्मा रावणो न क्षाम्यति कलितमौभाग्यमाराणा परदाराणाम् । तद्वियमार्थं वेदेही क्वचिदपि गोपयितुमुचिता ।

लक्ष्मण—अजितेन्द्रिय गलु दुरात्मा सूर्यहासो न क्षाम्यति पापीयमां पुंसाम् । तद्वियमार्थं वेदेही न क्वचिदपि गोपयितुमुचिता ।” इति ।

अनेन वैनतेयवचनं प्रध्वस्तमिति ।

(१०) अथोपन्यासः—

[सूत्र ७४]—उपपत्तिरुपन्यासः—

कंचिदर्थं विधातुं या उपपत्तिर्युक्ति म उपन्यास । यथा कृत्यारावणे—

“रावण—मीते आरुह्यतां पुष्पकम् ।

मीता—इताम ! अघि मरिस्स न पुण्ण आरुहस्सिम् ।

[इताश ! अपि मरिष्यामि न पुनरारोक्ष्यामि । इति मस्कृतम्] ।

रावण—आ ! किं बहुना यावत् करेण दृढपीडितमुष्टियन्त्रमुत्तमाय चन्द्र-  
किरणयुतिचन्द्रहासेन त्वत्पुरो बटुशिर्कमलोपहार आरभ्यते । समधिगोह शिवाय  
तावत् ।

तो तोत्र धार वाले यदि मेरे से घाल देवो [सीता] की रक्षा करनेमे समर्थ नहीं हो सकें तो अपने दीर्घ पुंख पत्रोंकी हवासे [रावणके] केशोंकी शोभा को नष्ट करते हुए अस्मत्त बटोर एवं तपन रावणके शिरोंके भुण्डको से घाल कैसे काटेंगे ।

अथवा जैसे यहाँ [रघुविलासमे] ही [इतना एव धीर उदाहरण]—[अजितेन्द्रिय]

“वैनतेय—[रामके प्रति] कुछ रावण बड़ा बानी है वह दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियोंको सहन नहीं करता है । इसलिए इन आर्या वंदेहीको वहाँ दियाकर रखना ही उचित है ।

लक्ष्मण—[तो फिर हमारा या चन्द्रहास नहीं अपितु सूर्यहास [लक्ष्मण] भी बड़ा कुछ धीर [अजितेन्द्रिय अपने] बशमे न रहने वाला है । वह पापी पुरुषों को क्षमा नहीं करता है । इसलिए इन आर्या वंदेहीको वहाँ दिएकी आवश्यकता नहीं है ।

इस [लक्ष्मण-वचन] से वैनतेयके वचनका काट हो जाता है ।

(१०) उपन्यास—

अथ ‘उपन्यास’ [नामक प्रसिद्ध सचिवे १२वें अङ्कका तक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ७४]—[विभी कार्याके लिए] युक्तिको प्रस्तुत करना ‘उपन्यास’ [बहुमाता है] ।

विभी कार्याके करनेके लिए जो युक्ति वह ‘उपन्यास’ है । जैसे कृत्यारावणमे—

रावण—हे मीने ! पुष्पक विमानपर चढ़ जाओ ।

सीता—घरे नीच, मैं मर भये ही जाऊँ पर चढ़ूँगी नहीं ।

रावण—अच्छा, अधिक करनेकी आवश्यकता नहीं—तो से मैं जोरमे सूटको पकड़ कर चढ़ करलोके समान छुनि वामी तनदारको निशामकर तेरे सामने इन बटुओं [तपस्वी ब्रह्मचारियों] के शिरों-जो वज्रमों [को काट कर] उपहार देना आरम्भ करता हूँ । भया बाहो तो चढ़ जाओ ।

सीता—वरं अत्तणो सगीरस्म अत्तच्छाहिदं, न उण तवोधणाणं । इय अधि-  
रुहामि मन्दभाइणी । हा अज्जपुत्त ! [इति रुदता आरोहं नाटयति] इति ।

[वरमात्मनः शरीरस्य अत्याहिदं, न पुनस्तपोधनानाम् ।

इयमविरोहामि मन्दभागिनी । हा आर्यपुत्र ! इति मंसकृतम्]

यथा वा रघुविलासे—

विराधवेपो रावणः—[रामं प्रति] आगन्तवो यूयं, अहं पुनराकलितविपिन-  
कुहरो वनेचरदेशीयः । प्रभूतान्तरायं सम्पराय च रावणप्रमुखेभ्यो रक्षोभ्य-  
मम्भावयामि भवताम् । वधूवागुरानियन्त्रितमनसश्च कुत एव योद्धुमलम्भविष्णवः ।  
तद्वियमार्या वैदेही किमपि वनकुहरमलकुरुताम् ।”

इयमपहारार्थिना रावणेन भीतामेकाकिनीं वक्तुं श्रुतिर्दर्शिता । इति ।

(१३) अथानुसर्पणम्—

[सूत्र ७५]—नष्टेष्टेहा ऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥

पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्य इतिवृत्तवशादभिलषितभ्याथस्य ईहा  
अन्वेष्टा अनुसर्पणम् । यथा पार्थविजये द्वितीयेऽङ्के द्रौपदी युधिष्ठिर-  
मुद्दिश्याह—

“द्रौपदी—महाराय इमाहि एवेव दिवसपरिवत्तणगणणाहि किणीभदपा-  
भवुन्वेयदुक्खस्स मे हिययस्स पम्हुढो विय अणज्जदुस्सासणेण अत्तणो केसगाहाव-  
माणुत्तंतो ।

सीता—अपने शरीरको भयमे डाल देना अच्छा है किन्तु तपस्विर्दोको [सकटने डालना  
उचित] नहीं । अच्छा मैं मन्दभागिनी खटती हूँ । हा आर्यपुत्र ! [ऐसा कहकर रोती हुई वैदेही  
पुष्पक विमानपर] आरोहणका अभिनय करती है ।”

अथवा जैसे रघुविलासमे [उपन्यासका दूसरा उदाहरण]—

“विराध वेपथारी रावण [रामवे प्रति कहता है] आप लोग [बाहरसे] आए हुए हैं ।  
और मैं इस वनकी कुहरोंको छाना हुआ लगभग वनचर हूँ । इसलिए मैं रावण आवि राक्षसों  
के द्वारा [आपके मार्गमें] अनेक विघ्नो तथा युद्धोकी सम्भावना करता हूँ । [इस समय] स्त्री  
के भ्रममें आपका मन उलझा होनेसे आप उनके साथ लड़नेमें कैसे सफल हो सकेंगे । इसलिए  
इन आर्या वैदेहीकी वनकी किसी युष्मत्तरे रख दीजिए ।

सीताके अपहरणके चाहनेवाले रावणने सीताको अकेला करनेके लिए यह युक्ति  
दिललाई है [अतः यह भी ‘उपन्यास’ अङ्गका उदाहरण है] ।

(१३) अनुसर्पणम्—

अब ‘अनुसर्पण’ [नामक प्रतिमुखसधिके तेरहवें अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७४]—विस्मृतं ह्येदं अर्थका पुनः अनुसंधानं ‘अनुसर्पणं’ [कहलाता] है । ५०।

पहिले [एक बारके अनुभव द्वारा] प्राप्त हुए, फिर [किसी कारणसे] विस्मृति द्वारा  
लुप्त हुए, अभिलषित अर्थका कथाप्रसंगके वशसे फिर दुबारा अनुसंधान [या स्मृति] अनुसर्पण  
[नामक अङ्ग कहलाता] है ।

जैसे पार्थविजयके द्वितीय अङ्गमें द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है—

[ महाराज आभिरेव दिवसपरिवर्तनगणनाभिः किणीभूतपरिभवोद्वेगदुःखस्य मे हृदयस्य प्रसृत एवानार्यदुःशामनेन स्वात्मनः केशप्रहापमानवृत्तान्तः । इति संस्कृतम् ] ।

अथ प्रागनुभवाद् दृष्टं निष्प्रतीकार-कालहरणात् श्रमृतं नष्टमिति ब्रुवती पुनस्तमनुस्मरतीति ॥ ५० ॥

एतानि प्रतिमुखसन्धेरंगानि त्रयोदशेति ॥

[ ३ ] अथ गर्भसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[ सूत्र ७६ ]—संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः ।

उद्वेगो विप्लवरचैतद् गुणतः कार्यमष्टकम् ॥ ५१ ॥

आक्षेपोऽधिबलं मार्गो सत्याहरण-तोटकः ।

पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥ ५२ ॥

‘गुणतः’ इति गुणभावेन, गुणमुपकारमपेक्ष्य वा । तेन फलोद्भेददर्शनाय समग्रोऽवश्यं नियन्धनीयः । ‘आक्षेपादीनि तु मुख्यानीति ॥ ५१-५२ ॥

(१) अथ संग्रहः

[ सूत्र ७७ ]—संग्रहः साम-दानादिः

साम-दाने दण्ड-भेदयोरुपलक्षणम् । आदिशब्देन मायेन्द्रजालादिर्ममः ।

यथा रत्नावल्याम्—

हे महाराज । इन्हीं शिर्षोंके परिवर्तनोंको गिनते हुए मैं, हृदयमें गाँठ सी बाल बेने बाते [पाय या बार-बारकी रगड़ते चारोंके किसी स्थानपर जो बड़ी गाँठ-सी बन जाती है उसको किरण कहते हैं] दुःशासनके द्वारा किए गए अपने बातोंके खींचे जानेके अपमानके घृतांतको भूल गई थी ।

यहाँ [इस वचनमें] पहिले [विशेषहलके बालमें] अनुभव द्वारा प्राप्त धीर प्रतिकार के बिना ही बालके घ्यतीन होनेके कारण भूले हुए [दुःख] की इस प्रकार कहती हुई [श्रीपरी] उसको फिर स्मरण करती है । [अतः यह ‘अनुसर्पण’ का उदाहरण है] ।

ये प्रतिमुखसन्धिके तेरह अङ्ग हैं ॥

(२) गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग—

अथ गर्भसन्धिके अंगोंकी व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं ।

[ सूत्र ७६ ]—१. संग्रह, २ रूप, ३ अनुमा, ४ प्रार्थना, ५ उदाहृति, ६ वय, ७ उद्वेग, ८ धीर ९. विप्लव । ये आठ [अंग] गौण रूपमें [या विशेष प्रयोजनवश प्रयुक्त] करने चाहिए । ५१ ।

९. आक्षेप, १०. अधिबल, ११ मार्ग १२ अमर्याहरण धीर १३ तोटक । ये पाँच अंग गर्भसन्धिके प्रधान [अंग] हैं । इस प्रकार [गर्भसन्धिके] तेरह अंग [होने] हैं । ५२ ।

(१) संग्रह—

[ सूत्र ७७ ]—[सबसे पहिले] ‘संग्रह’ नामक गर्भसन्धिके अंगका सफल करने है—

साम दान आदि [के प्रयोगकी] ‘संग्रह’ [कहा जाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

“राजा—वयस्य न खलु किञ्चिन् त्वयि न सम्भाव्यते ।” इति साम ।

संकेतादिवातां श्रुत्वा कटमवितरणं तु दानम् ।

[भेदे] यथा रघुविलासे पञ्चमेऽङ्के क्रमात् पवनवेपो राज्ञः प्राह—

“राज्ञः—प्रसीदतु देवः ।

रावण—गृहाण प्रसादम् । [पुनः प्रतीहारं प्रति] वराहमुण्ड ! समादिश कुमारं कुम्भकर्णं यथा पवनं किष्किन्वारराज्ये त्वरितमभिपिञ्च ।”

एष दौत्यार्थमागतयनो बालितनयस्य क्षोभार्थं कृतो हनुमत्पितुः सुग्रीवाद् भेदः प्रयुक्तः ।

यथा बाह्ये चतुर्थेऽङ्के रावणः—

“यायाचरेण किमनेन बनेचरेण,

मां स्थावरं वरमुपास्य कुरङ्गकाञ्चि ।

किं वा मृगे तव पुरश्चनुरभ्यतीनां,

वेदगन्धसौरभवती भवती प्रकाण्डम् ॥

सीता—को वा जाजावरो को वा थावरः त्विदमेवं लक्ष्मणनारायणद्वयं वाचिकरिस्मह । [को वा यायावरः को वा स्थावर इति विवेकं लक्ष्मणनारायण-पद्धतिराविष्कारिष्यति । इति संस्कृतम् ] ।

रावणः [सरोपं चन्द्रहास परामृश्य]—

“राजा—हे मित्र ! तुम्हारे लिए कोई बात असम्भव नहीं है ।” यह साम है ।

[उक्तं वाद उतौ द्वितीयाङ्कमे] संकेतादिकी बात सुनकर कटकका देना, दान [अग्राह्य प्रयोग] है ।

[भेद-प्रयोगका उदाहरण] जैसे रघुविलासमें पञ्चमाङ्कमे [वातालापके] क्रमसे हनुमान के पिता] पवनका वेष धारण किए हुए [मायावी] राक्षस कहता है—

“राक्षस—हे महाराज ! आप प्रसन्न हों ।

रावण—[हमारे] प्रसादकी ग्रहण करो । [फिर प्रतिहारसे] हे वराहमुण्ड ! कुमार कुम्भकर्णकी [मेरी ओरसे] आता दो कि पवनकुमारकी शीघ्र [जाकर] किष्किन्धाके राज्यपर अभिपिञ्च करे ।”

इसमें [रामकी ओरसे] दून बन कर आए हुए अंगदके क्षोभके लिए हनुमानके पिता [पवनकुमार] का सुग्रीवसे यह बनावटी भेद दिसलाया गया है ।

अथवा जैसे यहाँ [अर्थात् रघुविलासमे ही] चतुर्थ अङ्कमें रावण [कहता है]—

“रावण—हे भृगुके समान नेत्रो वाली सोते । सर्वदा भारे-भारे फिरने वाले [अतिशयेन याति इति मायावरः] इस [रामचन्द्रके पास रहने] से क्या लाभ है । सदा स्थिर [एक स्थान पर] रहने वाले भुम्भकी अपना वर घना लो । तुम्हारे सामने मैं [अपनी] क्या चडाई करूँ, तुम तो स्वयं चतुरोंकी स्थितिमे अत्यन्त समझदार प्रसिद्ध हो ।

सीता—कौन भारा-भारा फिरने वाला या कौन स्थिर रहने वाला है इस बातको तो लक्ष्मणके बालोकी पक्ति ही प्रकट करेगी ।

रावण—[क्षोभपूर्वक तलवारकी पकड़ता हुआ]

प्रेमावनद्धदयः सर्वलेश्वरः सुदृति ! मोढा ।

सोढा न चन्द्रहासः पुनरयमुल्लुण्ठयूतानाम् ।”

एष सीतासौभार्थं रावणेन दण्डः प्रयुक्तः ।

मायाप्रयोगश्चात्रैव कृत्स्नरूपमणुग्रीवानयन-रावणसीताघटनादिको निबद्ध इति ।

(७) अथ रूपम्—

[सूत्र ७८]—रूपं नानार्थसंशयः ।

नानारूपाणामर्थानां संशयोऽनवधारणं रूपमिव रूपम् । अनियतो ह्यकारो रूपमुच्यते । मुख्यसन्ध्याद् युक्तैः कृत्यविचाररूपत्वेन नियताकाराया अभ्य भेदः ।

यथा कृत्यारावणे रामो जटायुपमप्रत्यभिज्ञानमाह—

“गिरिरयम्भरेन्द्रेणाद्य निर्लूनपक्षः,

कृतरिपुरसुरेशैः शातिसौ वैनतैः ।

अपरमिह मनो मे न पितुः प्राणभूतः,

किमुत घत स एष व्यपेतायुर्जटायु ॥” इति ।

अन्ये त्वधीयते—‘रूपं वितर्कवद् वाक्यम्’ इति ।

हे सुन्दर बातों वाली सीते ! प्रेममे घावद्ध हृदय होनेके कारण संदेशर [अर्थात् मैं रावण] तो सब कुछ [अर्थात् तुम्हारी उचित-अनुचित सब बातें] सह लेगा किन्तु [यह ध्यान रखो कि] तुम्हारे [अर्थात् राम लक्ष्मण] के आचरणको यह सत्तवार सहन नहीं करेगी ।”

सीताकी डरानेके लिए रावणने यह दण्डका प्रयोग किया है ।

और इसी [रघुविलासमे] में लक्ष्मण सुशोब आदिके बनावटी ध्यानमन और सीता रावणके घनावटी सम्मिलनके वर्णन द्वारा मायाका प्रयोग किया गया है ।

(२) रूप—

शब्द ‘रूप’ [नामक गर्भसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

अनेक प्रकारके अर्थोंका संशय [बर्णन करना] ‘रूप’ [कहा जाता] है ।

अनेक प्रकारके अर्थोंका [एक जगह] संशय अर्थात् [हिंसी एकता] निश्चय न कर सकना रूप [अर्थात् अनियताकार] के समान होनेसे ‘रूप’ [कहा जाता] है । अनियत आकारको ‘रूप’ कहा जाता है । आर्थके विचार-रूप और नियत आकार परसे ‘युक्ति’ [मात्रक] मुख्य-सन्धिके अङ्गमे [अनियत आकार होनेके कारण] इस [गर्भसन्धिके ‘रूप’ नामक अंग] का भेद [स्पष्ट] है । [इस ‘रूप’ नामक अंगका उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमे [रावणके द्वारा मारे गए] जटायुको न पहिचान सकने पर राम कहते हैं—

यथा धान देवराज इन्द्रने इस पर्वतके पंख बाट डाले हैं ? अथवा दैव्योंके राजाने शेरके कारण गरदियों बाट कर डाल दिया है । मेरे मनमे एक और धान भी धाना है कि अथवा ये हमारे पिताजीका प्राणभूत [घनिष्ठ मित्र] मरे हुए जटायु हैं ।

इसमे मृत् जटायुको देखकर नाना प्रकारके अर्थोंका संशय दिखताया गया है इसलिये यह ‘रूप’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

दूमरे लोग—‘वितर्कं युक्त वाक्य ‘रूप’ है’ इस प्रकार [‘रूप’ का लक्षण] पढ़ते हैं ।

यथा रत्नावल्या राजा व्रमादाह—

“प्रणयविशदा दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शक्तिः,  
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।  
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नघृताप्यहो,  
रमयित्तरां मवेत्तथा तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तक ? किं खलु विदितं स्यादथ वृत्तान्तो देव्या ।”  
इत्यनेन रत्नावलीममगमप्राप्त्यानुगुण्येनैव देवीशंकरा वितर्काद् रूपमिति ।  
अन्ये तु—‘चित्रार्थं रूपं वचः’ इति पठन्ति ।  
यथा वेणीसहारे सुन्दरपेण चित्रमममवर्णनमिति ।

(३) अथ अनुमानम्—

[सूत्र ७६]—अनुमा निश्चयो लिंगात् ।

लिंगाद्धेतोर्नान्तरीयकस्य लिंगिनो निश्चयोऽनुमानम् । निश्चयरूपत्वेन च उद्-  
रूपाया युक्तेभिद्यते । यथा भामकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकामण्डपशिलातलमव-  
लोक्य वत्सराज —

[उसका उदाहरण] जैसे रत्नावलीमे कमसे राजा कहता है—

भयभीत होनेके कारण मुझको ओर प्रेमपूर्वक [निर्भय होकर] देख नहीं पाती है गले  
मे भ्रातिगन करती हुई भी आनन्दमग्न होकर जोरसे स्तनोंको नहीं छिपटाती है । प्रयत्नपूर्वक  
पकड़ने पर भी बार-बार मैं जाती हूँ यह कहती है । फिर भी सकेतवश भाई हुई कामिनी  
आरगत आनन्द प्रदान करती है ।

वसन्तक [विदूषक न जाने] देर क्यों कर रहा है [अभी तक आया नहीं] ? कहीं यह  
समाचार देवी [वासवदत्ता] को मालूम तो नहीं हो गया ।”

इस [कथन] से रत्नावलीके साथ समागमके अनुकूल ही देवी [वासवदत्ता] की शका  
से वितर्क होनेके कारण रूप [अङ्गका यह उदाहरण] है ।

अन्य [आचार्य] तो—

‘विचित्र अर्थ वाला रूप [कहलाता] है ।’ यह [‘रूप’का लक्षण] बतलाते हैं [पठन्ति] ।

जैसे वेणीमहारमे [पंचम अङ्कमे] सुन्दरके सपामका विचित्र रूपसे वर्णन करता है  
[यह ‘रूप’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

(३) अनुमान—

अथ ‘अनुमान’ [नामक गर्भसन्धिके तृतीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७६]—लिंगके द्वारा [लिंगिका] निश्चय ‘अनुमान’ [कहलाता] है ।

लिंग अर्थात् हेतुके द्वारा उससे अविनाशित [नित्य सम्बद्ध] लिंगी [अर्थात् साध्य] का  
निश्चय करना ‘अनुमान’ [कहलाता] है । निश्चय रूप होनेके कारण ही ऊह रूप ‘पुवित’  
[नामक मुलसन्धिके अङ्ग] से इसका भेद है ।

जैसे भास-विरचित स्वप्न वासवदत्तमे शेफालिका-मण्डपके शिलातलकी देखकर वत्स-  
राज [उदयत कहते हैं]—

“पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोऽपि चेदं शिलातलम् ।

नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥”

पूर्वाद्धं लिङ्गम् । उत्तरार्द्धमनुमानम् ।

यथा वा यादवाम्बुदये पठे गर्भाङ्गे रुक्मिणीमवलोक्य कृष्णः—

“अस्यां मृगीदृशि दृशोरमृतच्छटायां,

देव स्मरोऽपि नियतं वितताभिलापः ।

एतत् ममागममहोत्सववद्वृष्णम्—

आहन्ति मामपरथा विशिष्टैः कथं सः ॥” इति

(४) अथ प्रार्थना—

[सूत्र ८०]—प्रार्थना भावयाचनम् ॥५३॥

भावानां साध्यफलोचिनानां रति-हर्ष-उत्सवादीनां याचनं प्रार्थना ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते चतुर्थऽङ्के चन्द्रगुप्तः—

“प्रिये माधवसेने ! त्वमिदानीं मे बन्धमाहात्म्यं पथ ।

फण्टे किन्नरकण्ठि ! बाहुलतिकापाश समासज्यतां,

हारस्ते स्तनघान्धवो मम बलाद् धम्नातु पाणिद्वयम् ।

पादौ त्वज्जघनस्थलप्रणयिनी सन्धानयेन्मेरला,

य त्वद्-गुणवद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नाहति ॥”

“कूल पॅरोसे कुचले हुए हैं और यह शिनातल गमं हो रहा है । [इससे प्रतीत होता है कि] निश्चय ही यहाँ कोई [स्त्री] बैठी हुई थी जो मुझको देखकर सहसा चली गई है ।”

इसमें पूर्वाद्धं [भाग] लिङ्ग है, और उत्तरार्द्धं [भाग] अनुमान है ।

अथवा जैसे यादवाम्बुदयके पठे [अङ्क] गर्भाङ्गमे दृष्ट्वा [कहते हैं]—

नेत्रोंके लिए अमृतके समान [आह्लाद-दायिनी] इस मृगनयनीके विषयमे निश्चय ही कामदेवका उत्कट अभिलाप है । अथवा इसके समागमके महोत्सवके लिए उत्सुक मुझको [अपना प्रतिद्वन्दी और बाधक समझकर] यह अपने आँखों से क्यों मार रहा है ?”

इसमें कामदेवके आँखोंके प्रहार रूप निगमे कामदेवके नायिकाके प्रति अभिलाप रूप निगीका अनुमान किए जातेमे यह ‘अनुमान’ रूप मङ्गल उदाहरण है ।

(४) प्रार्थना—

अथ प्रार्थना [नामक गर्भसंस्थिते चतुर्थ अंगका लक्षणआदि करते हैं] —

[सूत्र ८०]—भावोकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है ।

साध्य फलके अनुत्पत्ति रति हर्ष, उत्सव आदि भावोंकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है ।

जैसे देवीचन्द्रगुप्ते चतुर्थ अङ्कमे चन्द्रगुप्त [कहता है]

[प्रिये माधवसेने ! मुझ आँख मेरे बन्धनकी छाता [अपने अङ्गोंको इस प्रकार] दो—

दे किन्नरके समान [अधुर] कण्ठ वाली [प्रिये] ! अपनी बाहुमताका पाश मेरे गलेमे

झालो । मुझारे स्तनोंका बाधक [स्तनके साथ रहने वाला] हार जबरदस्ती मेरे दोनों

हाथोंको बाँध ले । मुझारे जघनस्थलका घासिगन करने वाली मेला मेरे पैरोंको जकड़ ले ।

चिन्तु पहिले ही मुझारे गुणोंमे बंधे हुए हृदयको दुबारा बाँधनेकी आवश्यकता नहीं है ।



अत्र रते प्रार्थना ।

तथा कृत्यारावणे चतुर्थेऽङ्के सीताहरण-भातृदुःखाच्च दुःखितो विपलान्वेषणो लक्ष्मणः—

“तदपि नामावस्यमद्वृत्तान्तस्य प्रतिक्षणमुपचीयमान-नायकव्यसनभाजोऽभ्युदयावसानः मंहारो नाटवस्येव भवेत् ।”

अत्राभ्युदयात्मक उत्सवो लक्ष्मणोनार्थितः ।

केचिदभ्यर्थनामात्रं प्रार्थनामाहुः । यथा रघुविलासे कृतकहनुमानस्त्वेषो राजसः [रावणं प्रति]—

“यद् भग्नं विपिनं धनुर्धरकलादक्षो यदक्षो हतः,

शिखां लंघयतः क्षपाचरपते र्यन्मूर्ध्निदत्तं पदम् ।

यद् वेश्मानि परःशतानि शिशुना क्षुण्णानि कापेयतः,

तन् क्षन्तव्यमशेषमेव पुरतस्ते देव ! वद्धोऽञ्जलिः ॥ इति ।

केचित् तु प्राक्तनमिदं चाहं न मन्यन्ते ॥ ५३ ॥

(५) अथोदाहृतिः—

[सूत्र ८१]—उदाहृतिः समुत्कर्षः ।

इसमें रमणकी प्रार्थना है ।

श्रीर कृत्यारावणके चतुर्थ अंकमें सीताहरण तथा भाईके दुःखसे दुःखित [सीताके] अन्वेषणमें असफल लक्ष्मण [कहते हैं]—

“फिर भी क्या प्रतिक्षण बढ़ने वाली विपत्तियोसे युक्त नायक वाले नाटकके उपसंहार के समान हमारा भी अभ्युदयमें पर्यवसान होगा ।”

यहाँ लक्ष्मणने अभ्युदयात्मक उत्कर्षकी कामना-प्रार्थना की है । [अतः यह ‘प्रार्थना’ नामक अंगका उदाहरण है] ।

कुछ लोग अभ्यर्थनामात्र [अर्थात् प्रत्येक प्रकारकी याचना] को ‘प्रार्थना’ कहते हैं । जैसे रघुविलासेमें हनुमानके पिता [अर्थात् पवनकुमार] का बनाबटो वेध धारण करनेवाला राक्षस [रावणके प्रति कहता है]—

[मेरे पुत्र हनुमानने लंकामें आकर] जो उद्यान उजाडा, श्रीर धनुर्धरोकी कलामें दक्ष अक्षकुमारोंको मारा, श्रीर शिक्षाका उत्लंघन करनेवाले राक्षसराजके सिरपर जो पेर रखा, तथा वानरभावके कारण [कापेयतः] मेरे धन्वेने जो संकष्टों पर जला डाले, हे देव ! उस सबको क्षमा करें । मैं [ उसका पिता ] आपके सामने यह मैं हाथ जोड़ता हूँ ।

इसमें पवनकुमारका वेध धारण किए हुए मायावी राक्षस, जो रावणसे हनुमानको क्षमा करनेकी याचना कर रहा है उसको भी ‘प्रार्थना’ अङ्ग कहा जा सकता है ।

कोई [आचार्य] तो इससे पहिले [अर्थात् हनुमानको] श्रीर इसको [अर्थात् प्रार्थना] को अंग नहीं मानते हैं ।

(५) उदाहृति—

अब ‘उदाहृति’ [नामक गर्भसंधिके पञ्चम अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८१]—[किसीके] समुत्कर्ष [का वर्णन] ‘उदाहृति’ [कहाता] है—

लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यः समुत्कर्षः समुत्कृष्टोऽर्थः स उत्कर्षाद्गुणा-  
दुदाहृतिः । यथा रत्नावल्यां—

“राजा—अहो महदाश्चर्यम्—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लभं च तथापि मे ।

कामेनेदं कथं विद्धं मम सर्वैः शिलीमुखैः ॥

अत्रेतरधन्विभ्यो मन्मथभ्य युगपन् सर्वैः शरैः स्वभावचपल-दुर्लभमनोवेवेन  
समुत्कर्षः ।

(६) अथ क्रमः—

[ सूत्र ८२ ]—क्रमो भावस्य निर्णयः ।

भावस्य पराभिप्रायस्थ, अथवा भाव्यमानस्यार्थस्य ऊह-प्रतिभादिवशा-  
न्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चयः ‘क्रम’ । बुद्धिस्तत्र क्रमते, न प्रतिहन्यते इत्यर्थः ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

“चन्द्रगुप्तः—[ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह] इयमपि देवी तिष्ठति । यैषा—

रम्यां चारुनिकारिणीं च कुरुणां शोकेन नीता दशां,

तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्त्री कला ।

पशुः क्लीधजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतो,

लज्जा-कोप-विपाद-भीत्यरनिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति ॥”

लोकप्रसिद्ध [सामान्य] वस्तुप्रोक्तो अपेक्षा [निसी वस्तुका] जो समुत्कर्ष है वह उत्कर्ष  
का उदाहरण [करनेवाला] होनेसे ‘उदाहृति’ [बहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

“राजा—अरे ! अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि—

मन तो स्वभावतः ही चञ्चल और न दियलाई देनेवाला है । फिर भी कामदेवने मेरे  
उप मनको एक साथ ही अपने सारे धाणोंसे विद्ध कर दिया है ।”

यहाँ स्वभावतः चञ्चल और न दियलाई देनेवाले मनको एक साथ ही सारे धाणोंसे  
वेध देनेके कारण अ-य धनुर्धारियोंकी अपेक्षा कामदेवका उत्कर्ष [बलिय होनेसे यह ‘समुत्कर्ष’  
नामक धमका उदाहरण] है ।

(६) क्रम—

अथ ‘अय’ [नामक गर्भतयिके पण्ड अंगरा लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ८२]—भावका निश्चय ‘क्रम’ [कहलाता] है—

भाव अपूर्ण दूसरेके अभिप्रायका, अथवा ऊहा, प्रतिभा आदिके द्वारा भाव्यमान  
[विचार आदिमें निमान] अर्थके धरावस्थित रूप आदिका निश्चय ‘क्रम’ [कहलाता] है । उसके  
विषयमें बुद्धि समझ करती है [चलती है ।] प्रतिहन नहीं होती है [इसलिए उगको ‘अय’  
कहते हैं] । जैसे देवी चन्द्रगुप्तमें—

“चन्द्रगुप्त—[ध्रुवदेवीकी ओर देखकर] यह देवी भी नंदी है जो—

तत्काल धाए हुए राहुके शिरसे द्वारा कवचिनरी हुई चन्द्रमाकी कलासे समान दोन  
के कारण रम्य होने पर भी दुर्गदायिनी बदल धवस्थाकी प्राप्त, यतिसे पुनः होने पर भी  
ननु’मरों-जैसे इन आचरणसे लज्जा, कोप, विपाद, अय धरनिमें चलन दुर्लभ हो रही है ।

अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः ।

तथा रत्नावल्याम्—

द्विधा सर्वस्यासौ हरति विदितारमीति वदनं  
द्वयोर्दृष्ट्वा लोपं कलयति कथामात्मविषयाम् ।  
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वेलक्ष्यमधिकं,  
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितात्कविधुरा ॥

अत्र राज्ञा भाष्यमानायाः सागरिकायाः स्वरूपाद्यन्तर्निर्गम्यः कृतः ।

अन्ये तु—‘क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः’ इत्याहुः । यथा रत्नावल्याम्—

वत्सराजस्य सागरिकासमागमसम्भलपतो विदूष्येणोपवने योजनम् ।

अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धिं क्रममिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे—

“कृप—राजन दुर्योधन ! महान् यत्नु त्रीणपुत्रेण वोदुमध्यवसितः समरभारः ।

भवता च कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तु’ लोकाग्रयमपि समर्थः । किं पुनरेतद् युधिष्ठिर-  
बलम् ।” इति ।

(७) अधोद्वेगः—

[सूत्र ८३]—उद्वेगो भीः

चौर नृप-अरि-नायिकादिभ्यो भयमुद्वेगः । यथा अमात्यशङ्कुकिरणिते  
चित्रोत्पलावलम्बितके प्ररुरणो पञ्चमेऽङ्के—

यहाँ ध्रुवदेवीके अभिप्रायका चन्द्रगुप्तके द्वारा निश्चय [होनेसे ‘क्रम’ का उदाहरण] है ।

इसी प्रकार रत्नावलीमें—

“तब लोगोको [मेरा वत्सराजके प्रति प्रेम] बिदित हो गया है ऐसा समझ कर [सागरिका] सबसे मुझ द्विपाती है, [कहीं] दो जनोको बात करते देखकर यह समझती है कि मेरे लोग मेरे विषयमें ही बात कर रहे हैं । सखियोंके मुत्करानेपर और भी अधिक शर्मा जाती है । इस प्रकार प्रिया [सागरिका] प्रायः हृदयमें बँठे हुए भयसे पीड़ित रहती है ।”

इसमें राजाने भाष्यमान सागरिकाके स्वरूप तथा अवस्थाका निरूपण किया है [इस लिए यह भी ‘क्रम’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो—‘सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्ति’ कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें सागरिकाके समागमको चाहने वाले वत्सराजको उपवनमें विदूषणके द्वारा [सागरिकाके साथ] मिला देना । [योजना सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्ति स्थ होने से ‘क्रम’ अङ्ग है] ।

अन्य लोग आगे होने वाले अर्थतत्त्वके ज्ञानको ‘क्रम’ कहते हैं । जैसे वेणीसंहारमें—

“कृप—हे राजन् दुर्योधन ! द्रोणके पुत्र [अश्वत्थामा] ने महान् युद्धके भारको पहण करनेका निश्चय किया है । आपके द्वारा [सेनापति पदपर] अभिषिक्त किए जानेपर यह लोगोको नाश करनेमें भी समर्थ हो सकता है । इस युधिष्ठिरकी सेनाकीतो बात ही क्या है ।

(७) उद्वेग—

अब ‘उद्वेग’ [नामक वर्जसन्धिके सप्तम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८३]—भय [का नाम] ‘उद्वेग’ है ।

चौर, राजा, शत्रु अथवा नायिका आदिसे भय ‘उद्वेग’ [कहलाता] है । जैसे अमात्य

“[नेपथ्ये सचीत्कारम्] गिण्हेध ले गिण्हेध वेढेध ले वेढेध । [सर्वे सभयमवलोकयन्ति] ।

[गृहीत रे गृहीत वेष्टध्वं रे वेष्टध्वम् । इति संस्कृतम्] ।

स्थविरः—हा धिक् कष्टं, दस्यवः सम्पतन्ति । किमत्र शरणं प्रपद्येमहि ।”

अत्र नायिका-सखी-स्थविरादीनां राजगृहमङ्गलेन विद्रुतानां दायुष्यो भयम् ॥

तथा मृच्छकटिकां सार्थवाहचारुदत्तस्य चौर्याभिशापजं नृपाद् भयम् ।

तथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के [नेपथ्ये कलकलानन्तरम्]—

“भो भो दुर्योधनानुजीविनः कौरवभटाः किमिदमस्मद् भयादयथायर्थं रुद्धरन्ति भवन्तः ।

धृतराष्ट्रः—[माशंकम्] सञ्जय ! ज्ञायतां क्रिमेतदिति ।

सञ्जयः—[उत्थाय नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] तात ! महाराज !

प्राप्तावेकरथारूढी पृच्छन्ती स्वामितस्ततः ।

सर्वे—[माशंकम्] वञ्च वञ्च—

सञ्जयः—स कर्णारिः स च क्रूरो धृक्कर्मा धृकोदरः ॥

गान्धारी—जाद किं सँवटँ अयलँयलँ इति ।

[जात कि माम्प्रतमवलम्बनम् । इति संस्कृतम्]

एतद्विभयम् । तथा रत्नावल्याम्—

डाकु विरचित ‘चित्रोत्पलावलम्बितक’ नामक प्रकरणके पञ्चमांकमे—

“[नेपथ्यमें चीत्कार करते हुए] पकड़ो रे पकड़ो, बापों रे बापों । [सब लोग भयभीत होकर देखने लगते हैं] ।

बृद्ध—हाय डाकु आ रहे हैं । यहाँ किसी शरण में जाय ।”

इसमें राजगृहके भय हो जानेसे भागे हुए नायिका, सखी तथा स्थविर आदि को डाकुओं से भय [बर्लिन हुआ है घत. यह ‘उद्देग’ नामक अङ्कका उदाहरण] है ।

इसी प्रकार मृच्छकटिकमें सार्थवाद चारदत्तको चौयेंके अभिशापमें उत्पन्न राजासे भय [उद्देगका उदाहरण है] ।

इसी प्रकार वेणीसंहारमें पञ्चम अङ्कमें—

“[नेपथ्यमें कोनाहलके अनन्तर] धरे रे दुर्योधनके अनुयायी कौरव वीरों ! हमारे भयके मारे तुम इधर-उधर क्यों भाग रहे हो ?

धृतराष्ट्र—[सदाश शोकर] सञ्जय ! देखो तो क्या बात है ।

सञ्जय—[उठ कर और नेपथ्यकी ओर देख कर] तात महाराज !

आपको इधर-उधर घूमने हुए एक रथपर बँटे हुए दोनों आ गए हैं ।

सब लोग—[भयभीत होकर] कौन कौन ?

सञ्जय—वह कर्णका शत्रु [धृष्टुन] धीर वह भेडियाके समान बल वाला भीम ।

गान्धारी—धरे बँटा ! अब क्या सहारा हो सक्ता है ?

यह तदुभय [आ उदाहरण] है ।

इसी प्रकार रत्नावलीमें—

सागरिका—वरं दाहिं अहं सयं ज्येव अत्ताणयं लब्धयैव उवरदा । न उण जाणिदसकेदवुत्तंताए देवीए सुसंगदा विय परिभूद म्हि । ता जाव इध असोए गदुअ जहासमीहिदं करिस्स ।”

[वरमिदानीमहं स्वयमेवात्मानमुद्वध्योपरता । न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या सुसंगतेव परिभूतास्मि । तद् यावदत्राशोके गत्वा यथासमीहितं करिष्ये । इति संस्कृतम् ] ।

अत्र नायिकातो भयम् ।

(८) अथ चित्रवः—

[सूत्र ८४]—द्रवः शंका

भय-त्रासकारिणो वस्तुनो या शंकाऽपायकारकत्वसम्भावना सा द्रवति श्लथीभयति हृदयमनयेति 'द्रवः' । उपनतं भयमुद्वेगः । तत्सम्भावना तु चित्रवः ।

यथा कृत्यारावणो पण्डेऽङ्गे शान्तिगृहस्थे रावणो—

“[नेपथ्ये] हा अउजउत्त ! परित्तायाहि परित्तायाहि ।

[हा आर्यपुत्र ! परित्रायम्, परित्रायस्व । इति संस्कृतम् ] ।

प्रतिहारी—[श्रुत्वा ससम्भ्रममात्मगतम्] अम्भो भट्टिणी चित्रकंदहि ।

[प्रकाशम्] भट्टा अंतेउरे महंतो कलयरुलो सुणीयदि ।

[अहो भर्त्री एवाक्रन्दति । भर्तः ! अन्तःपुरे महान् कलकलः श्रूयते । इति संस्कृतम् ] ।

रावणः—[हायतां किमेतन् ।] इति ।

सागरिका—अच्छा हो कि प्रथम मैं स्वयं अपने-आप काँती लगा कर मर जाऊँ ताकि संकेत [मिलन] के समाचारको जान जाने वाली रानी [वासवदत्ता] के द्वारा सुसंगताके समान प्रपमानित न होना पड़े । इसलिए इस क्लेशके पास जाकर अपनी इच्छाकी पूर्ति करती हूँ । यह नायिकासे भय [का उदाहरण] है ।

(८) चित्रवः—

प्रथम 'चित्रव' [नामक गर्भसंज्ञिते प्रथम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८४]—शंका 'द्रव' [नामसे कही जाती] है ।

भय या त्रास उत्पन्न करने वाली वस्तुसे जो शंका अर्थात् विनाश या अनिष्ट करने की सम्भावना, यह, जिससे हृदय द्रवित अर्थात् निश्चित होता है [इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'द्रव' [कहलाती] है । [आगे 'उद्वेग' नामक पूर्वोक्त अङ्गसे इस 'द्रव' का भेद दिलाते हैं] । आ जाने वाला भय 'उद्वेग' [कहलाता] है और [आगे आने वाले भयकी] सम्भावना 'द्रव' [नामसे कही जाती] है । [यह उद्वेग तथा 'द्रव' इन दोनों अङ्गोंका भेद है] ।

जैसे कृत्यारावणमे पण्डितके रावणके शान्तिगृहमे बैठे होनेपर—

“[नेपथ्यमे] हा आर्यपुत्र ! बचाओ बचाओ ।

प्रतिहारी—[गुनवर भयभीत होकर अपने मनमें घरे यह तो स्वामिनी ही घिल्ला रही है । [प्रकाशमें] हे स्वामिन् ! अन्त पुरमें बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा है ।

रावण [जाकर] देखो यह क्या घात है ।

अत्र रावणस्य शका ।

ये त्वत्र शंकां ग्रामरूप ससम्भ्रमभगमाहु तद् विद्रव-उद्वेगाभ्या गतार्थमिति ।

(६) अथाक्षेप —

[सूत्र ८५]—आक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥

प्राप्त्याशावस्थानिवद्धस्य बीजस्य मुग्गकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेण विभिन्न  
आक्षेपः । यथा वेणीसंहारे सूत —

“दत्त्वा द्रोणेन पार्यादभयमपि न संरक्षितं मि-धुराज,  
नूरु दुःशासनोऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।  
दुःसाध्यामध्यरीणा लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञा,  
नाहं मन्ये मराम क्षुरुकुलविभुरं देवमेसावतापि ॥”

अत्र पाण्डवानां राज्यप्राप्तिरूपकार्योपायस्यो-मुग्ग्याविच्छेदकं कृतम् ।

यहाँ रावणको [भयकी] शका है [इसलिए यह 'विद्रव' नामक झड़वा उदाहरण] है।

जो लोग यहाँ प्राप्त रूप काकाको ससम्भ्रम [गर्भसंघिका १४वा] झड़ पड़ते हैं [यह उचित नहीं है क्योंकि] यह 'विद्रव' अथवा 'उद्वेग' के ही अंतर्गत हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्हीं आचार्योंने गर्भसंघिके इन तरह झड़ने के प्रति-  
रिक्त 'सम्भ्रम' को भी गर्भसंघिक चोदहवाँ अंग माना है। किन्तु अचकार उनके इस मतसे  
सहमत नहीं है। 'सम्भ्रम' को गर्भसंघिक अंग मानने वालों उमका लक्षण, यास रूप काका  
को 'सम्भ्रम' कहते हैं इस प्रकार दिया है। अचकारका कहना यह है कि यदि प्राग प्रपत्ति  
भयको 'सम्भ्रम' माना जाय तो यह तो उद्वेग भी' इस लक्षण वा न उद्वेगके अन्तर्गत हो  
जाता है। और यदि काकाको 'ससम्भ्रम' कहा जाय तो वह 'विद्रव का' इस लक्षण वा न  
'विद्रव' अन्तर्गते प्रत्यगत हो जाता है। इन दोनों प्रतिरिक्त उमका अंग कोई अस्ति नहीं  
घनता है। अतः सम्भ्रम का अलग चोदहवाँ अंग मानना उचित नहीं है।

(६) आक्षेप —

अथ आक्षेप' [नामक गर्भसंघिके नवम झड़के लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ८५] बीजके प्रकाशन [करने] को 'आक्षेप' कहते हैं । ५५ ।

[गर्भसंघिके अन्तर्गत] प्राप्त्याशाकी अवस्थामे निबद्ध, मुग्गकार्यके उपायभूत बीजका  
प्रकाशन प्रपत्ति प्रकर्षेण अक्षेप प्रकारसे आदिभिन्न 'आक्षेप' [कहलाता] है। जैसे वेणीसंहार  
मे सूत [कहता है]—

द्रोणाचार्यने अभय-दान करने की अर्जुनके सिन्धुराज [जयद्रथ] को रक्षा नहीं कर  
पाई। इस दुःशासनके विषयमे भी [सिंहसदृश] भीमसेनेने हरिणक समान पूर कर्म कर  
जाता [प्रपत्ति मित्र क्रिम प्रकार हरिणक। अनायास ही मार डालता है इसी प्रकार भीमसेनेने  
दुःशासनको समाप्त कर दिया]। इस प्रकार शत्रुओं [अर्थात् पाण्डवों] की दुःसाध्य प्रतिज्ञाओं  
को भी मुग्गभूमिमे भटपट पूरा करने भी मुक्त एसा प्रतीत होता है कि क्षुरुकुलका विरोधी देव  
अभी पूर्ण मनोरथ नहीं हो पाया है [अभी पर-क्षुर और भी गेक सिन्धुवावेगा]।

यहाँ पाण्डवों राज्य प्राप्ति रूप काको उपाय [सूत्रके प्रमुख पुरुषोंके वध] का मुग्ग  
रूपसे प्रकाशन [किया गया] है [अतः यह 'आक्षेप' नामक नवम झड़का उदाहरण है]।

अथवा बीजस्य हृदयभूमिनिगूढत्वादभिप्रायस्य बहिष्करणमाक्षेपः। यथा रत्नावल्यां, वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां वदुक्तिपु-  
“प्रिये सागरिके !

शीतांशुमुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ,  
रम्भागर्भनिर्म तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।  
इत्याह्लादकराणिलान्नि ! रभसा नि शंकमालिङ्गय माम्,  
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येहो हि निर्वापय ॥”

इत्यादिपु राज्ञा स्वाभिप्रायबहिष्प्रकाशनम्। केचिदेतदङ्गं न मन्यन्ते इति॥५४॥

(१०) अथाधिकबलम्—

[सूत्र ८६]—अधिकबलं बलाधिक्यम्।

परस्परवञ्चनप्रवृत्तयोर्यस्य बुद्धिसाहायादिबलाधिक्येन यत्कर्म इतरमभिसन्धातुं समर्थं तत्कर्म बलविषये अधिकबलयोगादधिकबलम्।

यथा रत्नावल्याम्—

“किं पद्मस्य रुचि न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा,  
वृद्धिं वा भ्रूपकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ?  
वक्त्रेन्दौ तव सत्यं यदपर शीतांशुरभ्युद्गतो,  
दर्पः स्यादभतेन चेदिह तदप्यस्त्येव विम्बाधरे ॥”

अथवा बीज अर्थात् हृदय रूप भूमिसे छिपे हुए अभिप्रायका बाहर प्रकाशित करना ‘माक्षेप’ [कहलाता] है। जैसे रत्नावलीमें राजा तथा विदूषकके द्वारा वासवदत्ताको ही सागरिका समझ लेनेपर उनकी उक्तिपरिणामे [राजा कहता है]—

“प्रिये सागरिके !

तुम्हारा मुख चन्द्रमा [के समान], तुम्हारे नेत्र नील-कमल रूप, तुम्हारे हाथ कमलके सहस्र, तुम्हारी बोनौ जाँघें कदलीके भीतरी भागके समान, तुम्हारी बाहुएँ मृणालके तुल्य हैं। इस प्रकार सर्वाङ्गोत्तरे आह्लादकारिणि [हे प्रिये] ! आओ, आओ, जल्दीसे निशङ्क भावसे गाढालिङ्गन द्वारा कामविगते सन्तप्त हुए मेरे अङ्गोंको शास्त्र करो।”

इत्यादिमें राजा द्वारा अपने अभिप्रायका प्रकाशन किया गया है।

(१०) अधिकबलम्—

अथ [गर्भसन्धिके] ‘अधिकबल’ [नामक दशम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८६]—बलके आधिक्यको ‘अधिकबल’ कहते हैं।

एष-दूसरेको घोला देनेमें लगे हुए दो व्यक्तियोंमें बुद्धि अथवा सहायको आदिके बलके आधिक्यके कारण जिसका कार्य दूसरेको घोला देनेमें समर्थ हो जाता है उसका वह कार्य बनादिके विषयमें अधिक बल सम्पन्न होनेसे ‘अधिकबल’ [नामक अङ्ग कहलाता है]।

जैसे रत्नावलीमें—

यथा [तुम्हारा मुख चन्द्रमाके समान] कर्मलोको ज्ञानिको नष्ट नहीं करता है ? अथवा यथा [चन्द्रमाके समान हो] नेत्रोंको अज्ञान प्रदान नहीं करता है ? अथवा दर्शनमात्रसे ही [चन्द्रमाके समान तुम्हारा मुख अपवेता अर्थात्] कामको नहीं बढ़ाता है जो यह दूसरा

इति पाठानन्तरं राज्ञा वासवदत्ताया मुखोद्घाटने प्रत्यभिज्ञानम् । अत्र सागरिकावेप धारयन्ती विद्रूपकबुद्धिदीर्घल्याद् वासवदत्ता राजानमभिसन्धत्ते ।

कपटस्यान्धाभावमन्ये अधिबलमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

“राजा—एवमपि प्रत्यक्षदृष्ट्यलीकः किञ्चिद्विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलच पपः,

लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि ! मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनितां तु मुग्धेन्दुचिम्बे

हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥ इति ।

अत्र वासवदत्तां प्रति राज्ञो वञ्चन विफलं जातम् ।

एके तु मोपालम्भं वाक्यमधिबलमिच्छन्ति । यथा वेणीमहारे पञ्चमेऽङ्के

धृतराष्ट्रमुद्दिश्य

“भीमसेनः—अलमिदानीं मन्युना ।

कृष्टा केशेषु कृष्टा नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपेयैः

सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशालभकुनावक्ष्या येन दग्धाः ।

अध्वना [आकाशमे] उडय हो रहा है । यदि [उसको] प्रभुतरा सर्व हो [झोर उसीके कारण तुम्हारे मुखके सामने उडय होनेका दुस्ताहस कर रहा हो तो] यह [प्रभुत] भी तो तुम्हारे अपर-विश्वमे विद्यमान ही है ।

इस पाठके बाद राजाके द्वारा [सागरिका समझी हुई] वासवदत्ताके मुखको खोलनेपर वासवदत्ताका पहिचानना । यहाँ सागरिकाका वेप धारण किए हुए वासवदत्ता विद्रूपरणी मूर्धता [बुद्धिदीर्घल्यात्] से राजाको धोखेमे डाल देती है ।

इससे लोग कपटके अग्यथामात्र [अर्थात् परिवर्तन] को ‘अधिबल’ कहते हैं । जैसे रत्नावलीमे [इस ऊपरवाली घटनाके बाद ही]—

“राजा—इस प्रकार अपराधके प्रत्यक्ष देख लिए जानेपर भी कुछ प्रार्थना करना चाहता हूँ [झोर रहे प्रार्थना यह है कि]—

हे देवि ! [अपने सागरिका-प्रेम रूप इस अपराधके कारण] सज्जित मैं लाक्षा द्वारा सम्पादितकी हुई तुम्हारे चरणोंकी रक्तताको अपने शिरसे दूर कर ही रहा हूँ [अर्थात् तुम्हारे चरणोंपर मिर रक्तकर अपने इस अपराधकी क्षमा माँग रहा हूँ किन्तु] यदि मेरे ऊपर अत्यन्त दया हो जाय तो कोपके कारण उत्पन्न हुई मुख-रूप अङ्गमाकी रक्तताको भी [पुष्पनादि द्वारा] दूर करनेमे समर्थ हो सकता हूँ ।”

यहाँ वासवदत्ताके प्रति [लुणामद द्वारा] धोखा देनेका राजाका प्रयत्न विफल हो गया । [अर्थात् वासवदत्ता उसकी बातोंसे प्रसन्न नहीं हुई] ।

कुछ लोग उपासम्भ मुख वाक्यको ‘अधिबल’ कहते हैं । जैसे वेणीमहारे पाँचवें अध्वमे अनराष्ट्रकी सहायमे रत्नकर भीमसेन [कहते हैं कि]—

भीमसेन—घब हुआ करनेकी आवस्यकता नहीं है ।

जिन राजाघोने पाण्डवोंकी वधू दीपदीके आत्माकी पकड़कर राज सभामें घसीटा या उस सबकी कुछ परझके समान जिनमे अपनी कीर्त्याम्निमे अस्मत्तात्न कर दिया वह मैं [यह



तात । त्वा श्रावयेऽहं न खलु भुजङ्गलशलाघया नापि दर्शान्  
पुत्रे पौत्रैश्च कर्मस्थितिगुणि कृते तात । साक्षी त्वमेव ॥" इति ।

(११) अथ मार्ग —

[सूत्र ८७]—मार्गस्तच्चार्यशंसनम् ।

परमार्थस्य वचन सामान्येनोच्यमान प्रकृतार्थेन यत् सम्बध्यते तन्मार्ग ।  
यथा मुद्राराक्षसे—

“राजा—[प्रविश्य स्वगतमाह] राख्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिदु रितस्य  
नृपतेर्मेहद्वितीतिस्थानम् । कुत —

परार्थानुष्ठाने जडयति नृप स्वार्थपरता,  
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयस्यार्थं क्षितिपति ।  
परार्थश्चेन् स्वार्थानभिमततरो हन्त बलवान्,  
परायत्त प्रीते कथमिच रम वेत्ति पुष्प ॥

अपि च दुराराध्या लक्ष्मीरात्मबद्धो राजभि । कुत —

लित्तादुद्विजते मृदौ परिभयनामान्न मन्तिष्ठने,  
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयिता मत्यन्तचिद्वत्स्वपि ।  
शूरेभ्योऽभ्यधिक विभेत्पुष्पहमत्येकान्वभीरुहो,  
श्रीलब्धप्रमरेष वेशवनिता दु खोपचर्या भृशम् ॥" इति ।

साथ समाचार आपकी] इसलिए सुना रहा हूँ कि हे तान । पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा किए जाने  
वाले किसी भी बड़े कार्यमें आप ही साक्षी हो सकते हैं [इसलिए यह सब समाचार आपको  
सुनाया है] अपने भुजङ्गलकी प्रशंसाकेलिए अथवा अभिमानवश होकर नहीं [सुनाया है] ।

भीमसेना यह सोपालम्भ वचन इस लक्षणसे ‘अधिवल’ भङ्गका उदाहरण होता है ।

(११) मार्ग—

अथ ‘मार्ग’ [नामक गर्भसंघके ग्यारहवें अंगका निष्पन्न करते हैं]—

[सूत्र ८६]—तत्त्वार्थको वचन करना ‘मार्ग’ [कहलाता] है ।

वास्तविक बातका सामान्य रूपसे वचन होनेपर भी प्रकृत प्रकरणके साथ [उसके  
विशेष रूपसे] सम्बद्ध होनेपर ‘मार्ग’ [नामक अंग कहलाता] है । जैसे मुद्राराक्षसे—

“राजा—[प्रविष्ट होकर स्वगत कहते हैं] राजधर्मका पालन करनेके कारण राजाके  
लिए राज्य [शासनका सञ्चालन] बड़े सज्जुटका कारण होता है । क्योंकि—

[यदि राजा अपने स्वार्थको प्रधानता देता है तो] स्वार्थपरता राजाकी दूसरोंका कार्य  
करनेसे रोकती है । [यदि दूसरेके लिए] अपने स्वार्थको छोड़ देता है तो निश्चय ही राजा  
[अपयार्थ] राजा नहीं रहता है । और यदि स्वार्थकी अपेक्षा परार्थताको प्रधानता दो जाय  
तो दूसरेके अधीन हो जानेपर खलवान् [राजा] भी आनन्दका भोग कैसे कर सकता है ।

और जितेन्द्रिय राजाओंके द्वारा भी लक्ष्मीकी धारापना बड़ी कठिन है । क्योंकि—

[अत्यन्त] तीव्र प्रवृत्ति [के राजा] से [लक्ष्मी] धवडानी है और बीमस प्रवृत्तिने पात  
[दूसरोंके द्वारा] अपमानित होनेके अपते नहीं दिक्ती है । मूर्खोंसे द्वेष करती है, और अधि-  
विद्वानोंके पास भी नहीं रहती है । मूर्खोंसे भी बड़ा डरती है, और आयत्त भीदघोषा भी उपहास

यथा वा रघुविनासे चतुर्थेऽङ्के—रावणः—[मविपाठम्]

"लंकेरवरे त्रिदशदर्पद्वारे विरागो, रागस्तु, काननचरे जनकात्मजायाः ।

सौन्दर्य-विक्रम-कला-विभवानपेक्षः प्रेम्णां विचारविमुखः गच्छु कोऽपि पन्थाः ॥"

एतन् तत्त्वार्थकथनं सामान्येनोक्तमपि प्रकृतेन मन्वध्यत इति ।

(१२) अथ असत्याद्वयम्—

[सूत्र ८८]—असत्याद्वयं छत्र

यथा मालविनाग्निमित्रे यज्ञोपवीतघटांगुष्ठो विदूषकः ।

"विदूषकः—[प्रविश्य ससम्भ्रममाह] परिचायदु परिचायदु भयं ।

[ परिप्रायतां परिप्रायतां भवान् । इति संभ्रुतम् ] ।

राजा—किमेतन् ?

विदूषकः—भो ! मय्येषु गृहि दृष्टो ।

[भो ! मय्येषांमि दृष्टः । इति संभ्रुतम् ] ।

[मय्ये विदूषक दृष्ट्वा विपण्णाः ।]

राजा—दृष्टं क्व भवान् परिभ्रान्तः ?

विदूषकः—देवं पेक्षितमसि ति आचारपुष्कम कारणा पमद्वयं गदु गृहि ।

तद्वि च अमोयस्थवगमम पमारिदे अगद्वये कोडरविणिगदेण सपरुपेण कालेण गृहि लंभिदा । इमाणि दुवेदादापणाणि ।

ब्रूती है । इस प्रकार सत्य-प्रसरा प्रीडा येदपाके समान सत्यी यद्ये कठिनतामे वदामे पाती है ।

यही सत्यापेक्षा प्रकृतते सम्बद्ध रूपमे कथन किया गया है इसलिये यह 'मार्ग' नामक संगका उदाहरण है । यथवा जेते रघुविनासेके चतुर्थे अङ्केमे रावण विषाद-पूर्वक [ब्रूता है]—

देवतायोके भी दर्पका अपहरण करनेवाले सज्जाने अपीद्वर [सुभ रावण] के प्रति

सीताका वीरगाय है [अर्थात् सुभ रावणको तो नहीं चाहती है] और वन-वनमें भटकनेवाले

[रामचन्द्र] के प्रति राग है । निश्चय ही प्रेमका मार्ग सी-दर्प, विव्रम, कला और संभवकी

उपेक्षा करनेवाला और अविचारशील होता होता है ।

यह यथार्थ बातका कथन सामान्य रूपमे उक्त होनेपर भी प्रकृतते सम्बद्ध है ।

(१३) असत्याद्वयम्—

अथ असत्याद्वयम् [मामक सभंति-यके ग्यारहवें अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८९]—इमं 'असत्याद्वयम्' [ब्रूताता] है ।

जेंमे मालविनाग्निमित्र यज्ञोपवीतमे अंगुष्ठको बांधे हुए विदूषक [आकर पदराने हुए

ब्रूता है—] बघाए आप मुझे बघाए । राजा—घरे घर क्या हुआ ?

विदूषक—घरे सांघने दल लिया है । [मय विदूषकको देणकर नित्र हो जाते हैं] ।

राजा—तुम कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक—मुझारे पास आ रहा था इसलिये आचारार्थ पुनर जेनेके लिए प्रसन्नमने

गया था । वही अतीवका मुझा जेनेके लिए हाथ बढ़ाते ही बापके समान सीधे पराई लिया ।

ये दो बातें [मते] हैं ।

[देवं प्रेक्षिष्ये इत्याचारपुष्पस्य कारणात् प्रमदवनं गतोऽस्मि । तत्र चाशोकस्तवकस्य प्रसारिते हस्ताग्रे कोटरविनिर्गतेन सर्परूपेण कालेनास्मि लब्ध । इमौ द्वौ दंप्ताव्रणौ ॥ [इति संस्कृतम्] ।”

अत्र राजप्रसादपरीक्षार्थं विदुषकेण केतकीकण्ठवक्षतस्य असत्या सर्पवशता प्रकाशितेति ।

(१३) अथ तोटकम्—

[सूत्र ८६]—तोटकं गर्भितं वचः ॥५५॥

क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम् । यथा रामाभ्युदये चतुर्थेऽङ्के—

“इन्द्रजित्—तात । किमिदमनुचितमारब्ध तातेन, यदयमकाण्ड एव कुम्भकर्णं प्रतिषोध्यते । किमत्र न कश्चिन्नुद्रवापसोपमर्वाय सम्भावितस्तातेन । अपि च—

रक्षोवीरा दृढोर प्रतिफलनदलत्कालदण्डप्रचण्डा,  
दोर्दण्डाकाण्डकण्डूविपमनिकपण्णासितदम्भाधरेन्द्रा ।  
यावा कामं न नाम स्मृतिपथमपथप्रस्थितेन्द्रानुसारी,  
स्वर्वासिक्लिष्टदृष्ट कथमहमपि ते विस्मृतो मेघनाद ॥  
एतत् क्रोधा दावेग वचनम् ।

यथा वा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के रावण —

इसमे राजाके प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिए विदूषकने केतकीके काँटोके चिल्लोको भूँड़-मूठ सर्पवशके रूपमे प्रकाशित किया है [अतः यह ‘असत्याहरण’ का उदाहरण है] ।

(१३) तोटक—

अब तोटक [नामक गर्भसन्धिके तेरहवें अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८८] [किसी विशेष भावसे] गर्भित वचन ‘तोटक’ [कहलाता] है ॥५५॥

क्रोध, हर्ष, आदिसे उत्पन्न आवेग युक्त वचन, हृदयका तोटन अर्थात् भेदन करता है इसलिए ‘तोटक’ [कहलाता] है ।

[तोटकका उदाहरण] जेंते रामाभ्युदयमे चतुर्थं अङ्कमे—

“इन्द्रजित्—हे तात । आपने यह क्या अनुचित काम प्रारम्भ कर दिया कि बिना बात के ही कुम्भकर्णको जगा रहे हैं । क्या आपने यहाँ किसी शरीरको कुछ तापसका उपमर्शन करनेके लिए रमय नहीं समझा । शीर—

जिनसे पुष्ट वक्षस्थलोपर पड़कर वासवा दण्ड भी सण्ड लण्ड हो जाता है इस प्रकारके प्रचण्ड, शीर भुजदण्डोंमे अचानक उठी हुई छुजलीके निवारणकेलिए छुजलावर जो पर्वतोंको भी हिला डालते हैं इस प्रकारके [शक्तिशाली] राक्षस शीरोंको शीर आपका ध्यान नहीं गया तो कोई बात नहीं है, कि तु [अपथप्रस्थित अर्थात्] आगते हुए इन्द्रका भी पीछा करने वाले शीर स्वर्गलोकके रहने वाले जिसको भयभीत होकर देगते है इस प्रकारके मेघनाद को आप बंते भूल गए [जो इस कुम्भकर्णको जगाने लगे] ?

यह [मेघनादका] शीरसे प्रारण आवेगमय वचन है ।

अथवा जेंते रघुविलासमे चतुर्थं अङ्कमे, रावण—

‘वक्त्राणि हे ! हसत गायत तारसारं,  
नेत्राणि ! चुम्बत विहस्य च कर्णपालीः ।  
दीर्घलस्यः ! कुरुत ताण्डवदम्बरं च,  
श्रीराक्षणं ननु विदेहसुता रिरंसुः ॥’

इदं दर्पादावेगगर्भं वचनम् । एतानि गर्भसन्धेः त्रयोदशाङ्गानि ॥५४॥

[४] अधामर्शसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[सूत्र ६०]—द्रवः प्रसंगः सम्फेदोऽपवादसंज्ञादनं द्युतिः ।

खेदो निरोधः संरम्भो भवेद्युर्गुणतो नय ॥५६॥

शक्ति-प्ररोचना-दान-व्यवसायारतु मुख्यतः ॥

त्रयोदशांगान्यामर्शं

द्रवादीनि नय प्रयोजनमपेक्ष्य गौणतया शब्धन्ते । शस्त्रादीनि चरवारि पुनः प्राधान्येन ।

(१) अथ द्रव —

[सूत्र ६१]—द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥५७॥

व्यतिक्रमो मार्गाच्चलनम् । यथा रत्नावल्यां मन्त्रिहितं भर्तारमवगणय्य विद्रुपस्य सागरिकायाश्च वामवदत्तया बन्धनमिति ॥५८॥

“रावण—घरे [मेरे घर] भूखो ! तुम लोग [प्रसन्न होकर खूब] हँसो घोर नामो । हे नेत्रो ! तुम प्रसन्ननामे [कल-कल कर] कानोंकी चुम्बन करो [कानों तक कल आओ] । हे भुजबलियो ! तुम खूब नाचो क्योंकि आज बँदेही रावणके साथ रमण करना चाहती है ।”

यह [रावणकी] हयंसे आवेगमय वचन है ।

ये गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग हुए ॥५५॥

[४] अधामर्श सन्धिके तेरह अङ्ग—

घा अधामर्श सन्धिके अङ्गोंकी व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र ६६]—१ द्रव, २ प्रसंग, ३ सम्फेद, ४ अपवाद, ५ द्युति, ६ खेद, ७ निरोध, ८ घोर ९ संरम्भ ये नौ [विमर्शसन्धिके] गौण अङ्ग हैं ॥५६॥

[सूत्र ६६]—१० शक्ति, ११ प्ररोचना, १२ दान घोर १३ व्यवसाय ये चार मुख्य अङ्ग हैं । इस प्रकार अधामर्श सन्धिके तेरह अंग होते हैं ।

द्रव आदि नौ अंग प्रयोजनके अनुसार गौण रूपसे निबट किए जाने हैं, घोर शक्ति आदि चार मुख्य रूपसे निबट होते हैं ।

(१) अथ ‘द्रव’ [नामक विमर्शसन्धिके प्रथम अङ्गका निम्पल करते हैं]—

[सूत्र ६०]—पूज्योंकी व्यतिक्रम करना ‘द्रव’ [वहलाना] है ।

व्यतिक्रम अर्थात् मार्गसे हट जाना । जैसे रत्नावलीमें सामने उपस्थित भर्ता [वत्सराज उदयन] की उपेक्षा करने वागवदत्तसे द्वारा विद्रुप तथा सागरिकाकी वक्षाना ॥५८॥

(२) अथ प्रसंग :—

[सूत्र ६२]—प्रसंगो महतां कीर्तिः

कीर्तिः संशब्दनम् । यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्के—

युधिष्ठिरः—[मुखं प्रक्षाल्य उपस्पृश्य च] एष तावज्जलाञ्जलिर्गङ्गेयाय  
गुरवे प्रपितामहाय शान्तनवे । अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय । [साक्षम्]  
सातम्य अधुनावसरः । अयमपि तत्रभवते स्वर्गस्थिताय गुरवे सुगृहीतनाम्ने पित्रे  
देवाय पाण्डवे ।” इत्यादि ।

केचिदप्रस्तुततार्थवचनं प्रसंगमिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्के—

“युधिष्ठिरः—[द्रौपदीं प्रति]

स कीचकनिपूद्नो बक हिडिम्ब-किर्मीरहः,

मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिभंगाशनिः ।

गदा-परिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः ।

प्रियरत्नव ममानुजोऽजुर्नगुरुर्गतोऽस्त किल ॥”

अत्र मायातपस्विना राज्ञसेन व्यलीकभीमबधकथनात् युधिष्ठिरस्याऽभ्युतः  
शोकः ।

(२) अब प्रसंग [नामक विमर्श सन्धिके द्वितीय अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६१]—महात् [पूर्वज] लोगोका कीर्तन करना ‘प्रसंग’ [नामक अङ्ग कहलाता] है ।

कीर्ति अर्थात् कथन करना । जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—मुखको धोकर और आचमन करके [अपने पूर्वजोको जलाञ्जलि देते हुए  
क्रमशः उनका कीर्तन करते हुए कहते हैं] सबसे पहले यह जलाञ्जलि गङ्गातनय पूज्य प्रपिता-  
मह शान्तनुकेलिए है । यह दूसरी जलाञ्जलि पितामह विचित्रवीर्यकेलिए है । [रोते हुए]  
अब पिताजीकी बारी आती है । अच्छा यह [तीसरी जलाञ्जलि] स्वर्गलोकवासी पूज्य और  
सुगृहीतनामा पिता पाण्डुकेलिए है ।” इत्यादि ।

इस वचनमें जलाञ्जलि देते समय युधिष्ठिर द्वारा अपने पूर्वज महापुरुषोंके नामोंका  
कीर्तन किया गया है अतः यह ‘प्रसंग’ नामक आदर्शसन्धिके द्वितीय अङ्गका उदाहरण है ।

कोई लोग अप्रस्तुत अर्थके कथनको ‘प्रसंग’ मानते हैं । जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—[द्रौपदीके प्रति]—

कीचकको मारने वाला, बकासुर, हिडिम्ब और किर्मीर [आदि राक्षसोंका] नाश करने  
वाला, मदमत्त मगधराज [जरासन्ध] रूप हाथीकी सन्धियोंको भग्न करने वाला, यय और  
गदा तथा परिघ [नामक अस्त्रों] से शोभित उन [अपुन्य शक्तिशाली] भुजाओंसे युक्त, तुम्हारा  
प्रिय, मेरा छोटा भाई और अजुर्नका ज्येष्ठ भ्राता [अर्थात् भीमसेन, इन मुनिजी महाराजके  
कथनके अनुसार] समाप्त हो गया है ।

यहाँ बनावटी तपस्वी [दुर्योधनके पक्षपाती] राजसने भूट-मूढ़ भीमसेन मारे जानेकी  
बात कहकर युधिष्ठिरको अप्रासंगिक शोकमें डाल दिया है [अतः यह प्रसंग नामक अङ्गका  
उदाहरण है] ।

(३) अथ सम्फेटः—

[सूत्र ६३]—सम्फेटः क्रोधजं वचः ।

परस्परं क्रोधजन्मोत्तर-प्रत्युत्तररूपः संलापः सम्फेट । यथा वेणीसंहारे—

“भीमः—भो कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना । मैवं विपादं कृथाः

पर्याप्ताः पाण्डवाः समराय अहमसहाय इति ।

पञ्चानां मन्यसे ऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन !

दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥

इत्थं श्रुत्वा असूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारे दृष्टि उक्तवान् धार्तराष्ट्र —

कर्ण-दुःशासनवधात् तुल्याचेव युवां मम ।

अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहस ॥”

इत्येतद् भीम-दुर्योधनयोरन्योन्यं रोपभाषणम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

“बलभद्रः—[स्वगतम्] कथमुपहसति नारदः । भवतु [प्रकाशम्]—

बुद्धोत्तरस्य नृपस्य तस्य नियतं को नाम मङ्गो युधि,

व्याधत्त किल यस्य विक्रमचरणः पक्षं मुनिर्नारदः ।

(३) अब सम्फेट [नामक विमर्शसंधिके तृतीय अङ्गका सहाय आदि कहते हैं]—

[सूत्र ६२]—क्रोधपूर्ण भाषण ‘सम्फेट’ [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

“भीम—हे कौरवराज [दुर्योधन] ! बन्धुमोके नाशको बेलकर दु खी होनेकी आश-

ङ्कता नहीं है । तुम घट दुःख मत करो कि पाण्डव सोम युद्ध करनेके लिए [पर्याप्त] बहुत से हैं और मैं प्रबल हूँ ।

हम पाँचोंमेंसे जिसके साथ युद्ध करना तुम सहज समझी बबचादि धारण करके और शस्त्र लेकर उसीके साथ तुम युद्धका आनन्द ले सकते हो ।

ऐसा मुनकर [भीम तथा अर्जुन] दोनों कुमारोंकी ओर असूयापूर्वक देखकर दुर्योधन कहता है कि—

[अर्जुनने कर्णका और तुमने दु शासनका बध किया है । ये दोनों ही मेरे प्रिय थे इसलिए] कर्ण और दु शासनका बध करनेवाले होनेके कारण तुम दोनों ही मेरे लिए एक-जैसे [प्रिय] हो, फिर भी, अप्रिय होनेपर भी साहसी तुम ही युद्धके लिए मुझे प्रिय मालूम पड़ते हो ।”

यह भीम तथा दुर्योधनका एक-दूसरेके प्रति रोष-भाषण है [अतः यह ‘सम्फेट’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदये सप्तम अङ्कमें—

बलभद्र—[अपने मनमें] अच्छा नारद हमारी हँसी उड़ा रहे हैं । [प्रकाशम्]—

बूढ़े साँढिके समान उस राजाके साथ युद्ध करनेवाला प्रतिमल कीन हो सकता है जिसका पक्ष स्वयं नारद मुनि ले रहे हैं [यह व्यङ्ग्योक्ति है] फिर भी कसका बिनाश करनेमें

कंसध्वंसकृतश्रमो मधुरिपोर्बाहू तथाप्याहवे,  
क्षामस्थामलवानुरूपमचिरादाघास्यतः किञ्चन ॥

नारदः [सरोपमिव]—

कंसांसभित्तिमदभर्दनकेलिचञ्चो-  
श्चक्रस्फुलिङ्गगणसंगपिशंगत्राहुः ।  
सम्पूरयिष्यति हरेरपि गाढरूढ-  
संग्रामदोहृदमसौ मगधाधिनाथः ॥ इति ।

(४) अथापवादः—

[सूत्र ६४]—अपवादः परीवादः ।

परीवादः स्वपरदोषोद्घटनम् । यथा पुष्पवृत्तिके पञ्चमेऽङ्के—

“ब्राह्मणः—मार्जिता हि ब्राह्मणस्य मुख्यमधुरः कालपाशः । तथा हि—  
इतः पुत्रो हतो भ्राता हतो मार्जितया पिता ।  
तथाप्येतां स्वगोत्रघ्नीं निन्दामि च पियामि च ॥” इति ।

परिश्रम कर चुकनेवाले मधुरिपु कृष्णके दोनो बाहु दुर्बल या प्रबल जो कुछ हैं उसके अनुरूप  
पुढमें कुछ न-कुछ शोष ही बिललावेंगे ।

नारद [क्रोधपूर्वक]—

कंसके स्कंधोकी भित्तिका भर्दन करनेमें घतुर, चक्रकी चिनगारियोके ससंगति [सपु-  
बापसे] पीतबाहु [अर्थात् कृष्णका सुदर्शन चक्र भी जिसके हाथोंमें केवल चिनगारियाँ उत्पन्न  
कर सकता है अधिक उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता इस प्रकारका] यह मगधराज, कृष्णकी  
भी प्रबल पुढ-कामनाको पूरा कर देगा ।

यह नारद तथा बलभद्रके रोष-वाक्य एक-दूसरेके प्रति बहे गये हैं अतएव यह भी  
‘सम्फोट’का दूसरा उदाहरण है ।

(५) अब अपवाद [विमर्शसन्धिके चतुर्थ अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६३]—[किसीकी] निन्दा करना ‘अपवाद’ [कहलाता] है ।

निन्दा करना अर्थात् अपने या दूसरेके दोषका प्रकट करना । जैसे पुष्पवृत्तिके  
पञ्चम अङ्कमें—

“ब्राह्मण—मार्जिता [अर्थात् शकर मिला हुआ दही] ब्राह्मणके लिए मुख्यमे मधुर लगने  
वाला कालपाश है । इसलिये—

इस मार्जिता [शकर मिले हुए दही] ने यद्यपि अपने पुत्र [घृत] को मार डाला  
[अर्थात् दही से घी उत्पन्न होता है इसलिये घी दहीका पुत्र है । किन्तु जब दहीको शकर  
मिलाकर खानेके काममें ले लिया जाय तो उससे घी बँसे निकल सकता है इसलिये ‘मार्जिता’  
शकर मिले दहीने अपने पुत्रको नष्ट कर दिया यह कहा है] भ्राता [तक मट्ठे] को भी मार  
दिया है और पिता [दूध] को भी नष्ट कर दिया है फिर भी अपने बशका नाश करने वाली  
इस ‘मार्जिता’ की निन्दा करता हुआ भी मैं उसको पो रहा हूँ ।

इसमें मार्जिता शकर मिले दहीकी निन्दा होनेसे यह ‘अपवाद’ नामक मद्दबा उदा-  
हरण है ।

अत्र स्वदोषोद्घटनम् ।

तथा रघुबिलासे सप्तमेऽङ्के रावणं प्रति मारीचः—

“तच्छय न्यायतेजोभिः शूर ! कौलीनदुर्दिनम् ।

अनीति-धूमरी हन्ति यशश्चूषाममञ्जरीः ॥”

अत्र परदोषोद्घटनमिति ।

(५) अथ द्वादशम्—

[सूत्र ६५]—द्वादशं मन्युमार्जनम् ॥५८॥

मन्युरपमानो येन मार्ज्यते तत् द्वादशम् । यथा रत्नावल्याम्—

“सागरिका—विदूढया पञ्जलिदो भयवद् द्रुयासण अञ्ज करिरसदि मे सयलदुःखस्यसाण त्ति ।

[विदूढया प्रज्वलितो भगवान् हुताशनोऽद्य करिष्यति मे सकलदुःखाघसान-मिति । इति संस्कृतम् ]”

अन्ये ॥—कार्यार्थममहस्याप्यर्थस्य सहनं द्वादशमात्मनन्ति । यथा श्रीशुक्ति-वासकुमारचिरचिते अनङ्गसेना-हरिनन्दिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के, राजपुत्रचन्द्र-केतुना दत्तं कर्णालकाश्चुगलं नायिकया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् । नायकेन हरिनन्दिना पुष्पलङ्गनामानं ब्राह्मणं राजवन्धनान्मोचयितुं सम्मात्रेऽतिष्ठम् ।

इसमे [वक्ता] अपने दोषका [अर्थात् निन्दा करते हुए भी पीनेका] उद्घाटन किया है ।

और रघुबिलासके सातवें अङ्कमें रावणके प्रति मारीच [कहता है]—

“हे शूर [रावण] ! न्यायके तेजोंके द्वारा अयशस्वी दुर्दिन [मेषाष्टम्यं तु दुर्दिनम्] का नाश करो [अर्थात् सीताको मुक्त करके अपने न्यायका परिचय देकर सुम्हारा जो अपयश सीताहरणके कारण हो रहा है उसको दूर करो] अनीतिकी धूमरी यशो रूप प्राचकी उत्तम मञ्जरीका नाश कर देती है । [इसलिए अनीतिके मार्गको छोड़ दो] ।

इसमें [वक्ता] दूसरेके दोषका उद्घाटन [कर रहा] है ।

(५) अथ द्वादशं [नामक विमर्श सन्धिसे पञ्चम अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—अपमानका परिमार्जन ‘द्वादशं’ [कहलाता] है ॥५८॥

मन्यु अर्थात् अपमानका मार्जन जिसके द्वारा किया जाय वह ‘द्वादशं’ [नामक अङ्क कहलाता] है ।

जैसे रत्नावली में—

“सागरिका—सोभायसे प्रज्वलित हुआ अग्नि प्राज मेरे सारे दुःखोंको समाप्त कर देगा ।”

अन्य लोग तो विशेष प्रयोजनके कारण असह्य अर्थको भी सह लेनेको ‘द्वादशं’ मानते हैं ।

जैसे—श्री शुक्तिवासकुमारके बनाए हुए ‘अनङ्गसेना हरिनन्दी नामक प्रकरणके नवम अङ्कमें, राजपुत्र चन्द्रकेतुके द्वारा दिए हुए कानोंके अन्वहारके जोड़ेको नायिका माधवीने नायकके पाम भेजा था । नायक हरिनन्दीने पुष्पलङ्ग नामक ब्राह्मणको राजवन्धनसे मुक्त करानेके लिए उसे उसकी [पुष्पलङ्ग ब्राह्मणकी] माताको दान कर दिया । उस [कर्णभरण



तत्प्रत्यभिज्ञाय च स ब्राह्मणः पौरेषु प्रकाशितचौर्यो राजाज्ञया बध्यस्थानं नेतुमारब्धः ।  
तन्मात्रा चागत्य हरिनन्दिने निवेदितम् । हरिनन्दिना च ब्राह्मणरक्षार्थं चौर्य-  
मात्मनोऽङ्गीकृत्य अयशो विसोढमिति ।

अन्ये त्वस्य स्थाने च्छलनमवमाननरूपमाहुः । यथा रामाभ्युदये सीतायाः  
परित्यागेनावमानं च्छलनम् ।

अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे पण्डेऽङ्के—

“युधिष्ठिरः—[अश्रूणि मुञ्चन चार्वाकमाह]—

सर्वथा कथय ब्रह्मण संक्षेपाद् विस्तरेण वा ।

वत्सस्य किमपि श्रोतुमेतद् दत्तमुरो मया ॥

राक्षसः—श्रूयताम्—

तस्मिन् कौरव-पार्थयोर्गुणगदाघोरध्वनौ संयुगे ।

द्रौपदी—[लब्धसंज्ञा] अयि तदो किम् ?

[अयि ततः किम् ? इति संकृतम्] ।

राक्षसः—[आत्मगतम्] कथं पुनरतया लब्धा संज्ञा । अपहराभ्यस्याः प्राणान् ।

[प्रकाशम्]—

सीरी तत्क्षणमागतश्चिरमभूत् तस्याग्रतः संगरः ।

कञ्चुकी—नूनं तत्कृतोऽत्र कश्चिदपचारो भविष्यति ।

का उपयोग किए जानेपर उस] को पहिचान कर नवरत्नासिंघोने चोरीका आरोप घोषित कर राजाकी आज्ञासे ब्राह्मणको बध्य स्थानकी ओर ले जाया जाने लगा । तब ब्राह्मणकी नासने आकर हरिनन्दीसे कहा । हरिनन्दीने ब्राह्मणकी रक्षाके लिए स्वयं चोरी करनेके अपराधको स्वीकृत कर अपयशको सहन किया । यह [छादन' नामक भङ्गका उदाहरण है ।]

अन्य लोग इस [छादनके] के स्थानपर अवमान रूप 'छलन' [भङ्ग] को मानते हैं [छादनको भग्न नहीं मानते हैं] । जैसे राम भ्युदये सीताके परित्यागसे किए गए अपमानको [‘छलन' नामक भग्न] कहते हैं ।

अन्य लोग सम्मोहको छलन कहते हैं । जैसे वेणीसंहारके एके अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—[रोते हुए चार्वाकसे कहते हैं] —

हे ब्रह्मन् ! सक्षेपसे या विस्तारसे जैसे चाहे आप कहिए । वत्स [भीम] के किसी भी तमाचारको मुननेके लिए मैंने अपना हृदय तैयार कर लिया है ।

राक्षस—अच्छा सुनिए ।

द्रौपदी—[होशमें आकर] अच्छा तब फिर क्या हुआ ?

राक्षस—[स्थगत] अच्छा यह तो फिर होशमें आ गई । अभी इसके प्राणोंका अपहरण करता हूँ । [प्रकाशम् कहता है]—

उसी समय बलरामजी वहाँ आ गए और उनके सामने बहुत देर तक [भीम तथा युधिष्ठिरका] मुँह होता रहा ।

कञ्चुकी—निश्चय ही उनके द्वारा किया गया कोई अनिष्ट इसमें उपरिपत होता ।

राक्षसः—

आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना संज्ञा रहः सा कृता  
यामासाद्य कुल्लतमः प्रतिकृतं दुःशासनारी गतः ॥ इति  
अत्र तापसेन व्यामोहः कृतः ॥५८॥

(६) अथ द्युतिः—

[सूत्र ६६]—तिरस्कारो द्युतिः

यथा कृत्यारावणो मन्दोदरीं प्रति श्रृंगदः—

“मा गाम्निष्ठ पुनर्ब्रज क्षणमितो गत्वा पुनः स्थीयतां,  
यत्रागते भुजवीर्यदर्पितमन्दो विद्रावणो रावणः ।  
मद्व्याहुद्वयपञ्जरान्तरगता मूढे किमाश्रन्दमि,  
निहम्यां रुमुपागतामिव मृगीं वस्त्रां परित्रास्यते ॥”

तर्जनोद्वेजने द्युतिं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु तर्जनार्पणे द्युतिं मन्यन्ते ।  
तदेतन्मतद्वयमध्यर्थाभेदान् मंगृहीतम् । एवमन्यदपि साक्षान् पारम्पर्येण धान्यकार-  
परं चास्यं द्युतिरेव ।

(७) अथ रौद्रः—

[सूत्र ६७]—रौद्रः श्रमः काय-मनोद्वयः ।

यथा विक्रमोर्ध्वश्यां पुष्करवाः—

राक्षस—यत्तरामजीने अपने प्रिय शिष्य [दुर्योधन] का पक्ष लेकर चुपचाप कोई ऐसा  
संकेत किया जिसको प्राप्त कर कृदराज [दुर्योधन] ने दुःशासनको मारने वाले [भीमसेन] ॥  
[दुःशासनके बधरा] बदला ले लिया [अर्थात् भीमसेनको मार डाला] ।’

यहाँ तापस [विषधारी राक्षस] ने व्यामोह उत्पन्न कर दिया है ।

(६) अथ ‘द्युति’ [नामक श्रमसं सम्बन्धे द्युते अङ्गना निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—तिरस्कार करना ‘द्युति’ [बहुलाता] है—

जैसे कृत्यारावणनेने मन्दोदरीके प्रति अङ्गः [बहता है]—

“मत जाग्रो, टहरो, अच्छा फिर चलो, तनिक इधर चल कर लड़ी हो जाग्रो, जहाँ  
पर भुजाओंके पराक्रमके अभिमानसे बुर यह [शत्रुओंको] भयभीत करने वाला रावण [गडा]  
है । धरी मूर्ख ! मेरी दोनों भुजाओंके बलरमे बड़ी हुई तू घिसला किम लिए रह्यो है । तिरहे  
पञ्जमेने फंसी हुई हरिणीके समान अथ बीन सुन्नेको बधा सहता है ?”

कोई लोग डाटने-गटकारने [तर्जन उद्वेजन] को ‘द्युति’ कहते हैं । दूसरे लोग डाटने  
धीर पगोटनेको ‘द्युति’ कहते हैं । इन दोनों मतोंमें अर्धका भेद न होनेसे [इसो द्युति तत्प्राप्ते  
भीतर] मध्य हो गया है । इसी प्रकार तापसा या परमार्थमे अथ अथवान्-परक वाच्य भी  
‘द्युति’ हो माने जाते हैं ।

(७) रौद्र

अथ ‘रौद्र’ [नामक श्रमसं सम्बन्धे श्रमसं शब्दों मशरु छानि करने हैं]

[सूत्र ६६]—शारीरिक या मानसिक श्रम रौद्र [बहुलाता] है ।

जैसे विजयोवेंशीमे पुष्करवा [बहते हैं] -

“अहो आन्तोऽस्मि । भवतु अस्यास्तावद् गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तम्भवात्  
सेविष्ये ।” इत्यादि । अत्र कायिक ।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के रावण —[सखेदम्]—

“हु शक्र स जितो जितो धृत-धृत कैलासशैलोऽप्यरे ।  
क्रान्त क्रान्तमिदं जगत् प्रतिभुजप्रस्तासिकैर्बाहुभिः ।  
यारब्धा प्रति बन्धुबन्धनरुधा लकापतेर्जीवत,  
कर्णेपु प्रथते किमन्वमनया नीतं न बिस्फुर्जितम् ॥”

अत्र मानस ।

तथा कृत्यारावणे लक्ष्मण —

“मार्गाः कण्टकिन प्रतप्तसिकतापाशूकरा लचिता,  
क्रान्ता शृङ्गवतां निकामपरुषा स्थूलोपला भूमय ।  
भ्रान्तं दृप्तमृगेन्द्रनादजनितत्रासैः समं दन्तिभिः ?  
पीतं च द्विपदानराजिकलुपड्यासगतिक्तं पयः ॥”

अत्रोभयज । यद्यपि भ्रमोद्वेगवितर्कादयो व्यभिचारिमध्ये लक्ष्यिष्यन्ते,  
तथापि रसविशेषपुष्ट्यर्थं सम्बन्धगावसरे लक्ष्यन्ते । इति ।

(८) अथ विरोध —

[धृत्र ६८]—विरोधः प्रस्तुतज्यानिः

“भरे बड़ा पक गया है । अच्छा चलो इस पहाड़ी नदीके किनारे बैठकर तरगोरी  
चायुका सेवन करें ।” इत्यादि । इसमें शारीरिक [धम दिखाना या पना है] ।

घोर रघुविलासके सप्तम अङ्कमें रावण [खिदपूर्वक कहता है]—

“हाँ उस इन्द्रको तो बार-बार जीता था । भरे ! उस कैलास पर्वतको भी बार-बार  
उठाया ही था । घोर प्रत्येक भुजामें सतबार पकड़कर इस सारे जगत्को अनेक बार घाबान  
किया ही है किन्तु आज रावणके जीते-जी उसके बन्धुओंको पकड़नेका जो यह प्रसंग प्रारम्भ  
हुआ है घोर कानोमें घड़व रहा है उसने क्या उस सारे दर्पका नाश नहीं कर दिया है ।

इसमें [रावणके] मानसिक [खिदका वर्णन है] ।

घोर कृत्यारावणमें लक्ष्मण [कहते हैं]—

“बाँटो घोर जलती हुई बायू तथा घूल फूटा-करकटसे भरे हुए मागोंमें घसना पडा ।  
पहाड़ोंकी अत्यन्त कठोर और बड़े बड़े पथरोसे भरी हुई भूमियोंको पार करना पडा । मत  
तिहूँके गर्जनसे भयभीत हुए हाथियोंके साथ वनोंमें घूमना पडा और हाथियोंके मदने कलुषित  
सम्पर्कके कारण तिक्त पानी पीना पडा ।”

इसमें [शारीरिक और मानसिक] दोनों प्रकारका [खिद पाया जाता है] ।

यद्यपि धम उद्देग वितर्क आदिके लक्षण व्यभिचारिभावोंके प्रसंगमें किए जावेंगे फिर भी  
रसकी विशेष पुष्टिके लिए साँपियोंके अङ्गोंके प्रसंगमें यहाँ भी उनके लक्षण बर दिए गए हैं ।

(८) धम विरोध [नामक विमर्शसाँपिके अष्टम अङ्कका सप्तम आदि बरते हैं]—

[धृत्र ६७]—प्रस्तुत अर्थको हानि ‘विरोध’ [बहाना] है ।

प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानि अत्ययो विरोध इव 'विरोध' । यथा कृत्यारावणे सप्तमेऽङ्के—

“कञ्चुकी—[लक्ष्मण-विभीषणौ प्रति] कुमार ! एतत् ।

उभौ—किम् ।

कञ्चुकी—आ इदम् ।

उभौ—आर्य ! कथय कथय ।

कञ्चुकी—का गति ? श्रूयताम् । आर्या खलु सीता रावणाक्षया क्रिक्रो-  
पनीत भर्तुर्मायाशिरोऽवलोक्य सखीभिराश्रयमानापि निवृत्तप्रयोजना 'नाहमा-  
त्मानं क्लेशयामि' इत्युक्त्वा—

सर्वे—किं कृतवती ?

कञ्चुकी—यन्न शन्यते वक्षुम् ।

शशिनं इव कला निशावसानं कमलवनोदरमुत्तुपेयं हसी ।

पतिभरणरसेन राजपुत्री स्फुरितकरालशिरः विवेश बह्मि ॥”

अत्र सीताप्रत्यानयनस्य प्रस्तुतस्य विरोधः ।

अन्ये तु रोद-विरोधौ न मन्यन्ते । विद्रव विचलने तु पठन्ति । तत्र विद्रवो  
यन्ध-नधाध्यवसायादि । यथा छलितरामे—

प्रस्तुत कार्यकी हानि अर्थात् नाश विरोधसं समान होनेसे 'विरोध' [बहुताता] है ।  
जैसे कृत्यारावणके सप्तम अङ्कमे—

'कञ्चुकी—[लक्ष्मण तथा विभीषणके प्रति कहता है]—कुमार ! यह ।

दोनो—क्या ?

कञ्चुकी—अरे यह ।

दोनो—आर्य ! कहिए-कहिए [क्या बात है] ।

कञ्चुकी—क्या करे । अर्घ्या सुनो । आर्या सीताने रावणकी आत्मासे नीकर द्वारा  
साए गए [स्वामी] रामचन्द्रके [कटे हुए] घनाघटी सिरको देखकर, सतिषोर्वि द्वारा आश्रयान  
दिए जानेपर भी 'अयं [मैंने] जीनेका प्रयोजन समाप्त हो गया ऐसा कहकर—

सब लोग—क्या किया ?

कञ्चुकी—[अतको कहा नहीं जा सकता है ।

रात्रिकी समाप्तिपर चन्द्रमाकी कलाके [समाप्त हो जानेके] समान, उत्सुका हँसोके  
रमस वनोके भीतर [समा जाने] के समान, पतिके मरणके रमसे राजपुत्री सीता भयकर  
शवालाएँ जिनसे निजस रही हैं इस प्रकारकी अग्निमे प्रविष्ट हो गई ।”

इसमे सीताके प्रत्यानयन रूप प्रस्तुत बायबा विरोध है । [इसलिए यह ग्राममें सन्धि-  
'विरोध' नामक अष्टम अंगका उदाहरण है] ।

अथ सोम सो रोद और विरोध [इन दोनों अङ्गों] को नहीं मानने हैं [उनके ह्यार  
पर] 'विद्रव' तथा 'विचलन' [अङ्गों] को मानने हैं । उनमेंसे बंध अथवा बंधनके निद्रपनो  
'विद्रव' करने हैं । जैसे 'द्विनिवसाम'मे—

१ दिनावसाने ।

“येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं,  
वाल्याद् येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।  
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांस्थलो,  
मूर्च्छाधोरतम प्रवेशविवशो बध्वा लवो नीयते ॥” इति ।

वधाध्यवसायस्तु मृच्छकटिकायां चारुदत्तविषयः । तथा रत्नावल्याम्—

“पुनर्वासवदत्ता—अञ्जज्ज ! एं खु अत्तणो कारणा भणामि एसा मए  
निग्घिण्हिअयाए सपदा सागरिया विवज्जदि । इति ।

[आर्यपुत्र ! ननु रत्नावलात्मन कारणात् भणाम्येषा मम निर्धृणहृदययाः सम्पत्  
सागरिका विपद्यते । इति संस्कृतम् ] ।”

अत्र सागरिकाया बन्ध-वधाग्निभिर्विद्रवः ।

तथा वेणीसंहारे—

“युधिष्ठिर — कः कोऽत्र । सनिपङ्गं धनुरुपनीयताम् । कथं न कश्चिन् परि-  
जनः । भवतु वा, बाहुयुद्धमम्भावनाविह्वलमेनं दुरात्मानं ग्राहमातिङ्गय वर्जित-  
वचननममिपतामि ।” इति ।

अत्र सम्भ्रमात्मको विद्रवः । इति ।

शौर्य-कुल विद्या-रूप-मौभाष्यादिसम्भवमात्मविकस्थनं नृ विचलनम् ।

यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के—

“तात ! अम्ब !

“जिस [लव] ने सामवेदका पाठ करते हुए [ब्रह्मचारियोका] मुख बन्द करके उनको  
बड़ा तग किया । जिसने बचपनके कारण उनके अक्षसूत्र और वलय आदिको छीनकर फिर  
वेकर क्रीड़ाएँ कीं, तुम्हारे हृदयके समान [अत्यन्त प्रिय] बाणोसे जिसका कन्धा भगा हुआ है  
और मूर्च्छासे गहन आधवारमे पहुँच जानेके कारण विवश उस सबको [तुम्हारे सैनिक]  
बांधकर लिए जा रहे हैं ।”

[यह बगधनाध्यवसायका उदाहरण है] यद्यपि अध्यवसायका [उदाहरण] जैसे ‘मृच्छ-  
कटिक’मे चारुदत्तके विषयमे [पाया जाता है] । और जैसे ‘रत्नावली’मे—

[वासवदत्ता फिर कहती है ।] आर्यपुत्र ! मैं अपने कारण ही कहती हूँ कि मुझ  
निर्दयाकी सम्पत्ति सागरिका [इस अग्निमे जलकर] मरी जा रही है ।

इसमे सागरिकाके बन्ध तथा बध आदि [दोनों] के होनेके कारण ‘विद्रव’ [भङ्ग पाया  
जाना] है । और ‘वेणीसंहार’मे—

“युधिष्ठिर—अरे ! यहाँ कौन है ? तूणोर सहित धनुष लाओ । अरे, कोई नीर  
नहीं जान पड़ता है । अच्छा रहने दो । बाहुयुद्धकी सम्भावनाके कारण [घस्त्रमे रहित] ताली  
हाथ पाले इसको जोरसे पकड़कर प्रज्वलित अग्निमे डूबा पड़ता हूँ ।”

इसमे सम्भ्रम रूप ‘विद्रव’ है ।

शौर्य, कुल, विद्या रूप, सौन्दर्य आदिके कारण अपनी प्रशंसा करना ‘विचलन’  
[बहमाता] है । जैसे ‘वेणीसंहार’मे पञ्चम अङ्कमे—

‘हे तात ! हे मत !

सकलरिपुजयाशा यत्र वद्धा मुतेस्ते,  
 तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।  
 रणशिरमि निहन्ता तस्य राधासुतस्य,  
 प्रणमति चरणौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि—य तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।  
 भक्तवा मुयोधनस्योरु भीमोऽयं शिरसार्चति ॥” इति ।

अत्र स्वगुणाविष्करणात् विचलनमिति ।

(६) अथ संरम्भः—

[सूत्र ६६]—संरम्भः शक्तिकीर्तनम् ॥५६॥

संरब्धानामुत्तर-प्रत्युत्तरेण आत्मशक्तिभाषणं संरम्भः ।

यथा वेणीसंहारे दुर्योधनं प्रति क्रमाद्—

“भीमः—अन्यथा मूढ !

शोकं श्नीचमयनमलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि,  
 भ्रातुर्वक्षःस्थलविघटने यच्च नाक्षीकृतोऽसि ।  
 आसीदेतन् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य,  
 वृद्धे युष्मत्कुलकमलिनी-वृद्धरे भीमसेने ॥

तुम्हारे पुत्रोंने जिसके ऊपर तारे झमझकी विजय करनेकी आशा लगाई हुई थी, और जिसके अभिमानके कारण तारे संसारको तुल्यके समान तिरस्कृत किया था, उस रापा-मुत [बर्ण] की वृद्धभूमिमे मारनेवाला यह मध्यम पाण्डव [भर्जुन] आपके दोनोंके चरणोंमें प्रणाम करता है ।

हे तात ! और भी [मुनि]—

समस्त कौरवोंका नाश कर डालनेवाला, दुःशासनके रक्तसे मत्त हुआ एवं दुर्योधनकी जंपाप्रोंको तोड़कर यह भीम [भी] आपको तिरते ममस्कार करता है ।”

इसमे अपने गुणोंके प्रकट करनेके कारण यह ‘विचलन’ [अङ्गका उदाहरण] है ।

(६)—अथ संरम्भ [नामक] आभ्युदयिके नयम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ६६] [अपनी] शक्तिका बयन करना ‘संरम्भ’ [नामक अङ्ग कहलाता] है ॥५६॥

आवेग भरे दो जनोंका उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका बयन करना ‘संरम्भ’ [कहलाता] है । जैसे ‘वेणीसंहार’ मे दुर्योधनके प्रति भीम वचने [कहते हैं]—

“मूर्ख ! और भी [मुनि]—

स्त्रियोंके समान [अपने सम्बन्धियोंका नाश देनकर] तुम्हें जो दयाया गया, और भाई [दुःशासन] की दासीकी पगडने [और उसका रक्षणपान करने] मे जो तुमको तापी बनाया गया । तेरे कुल रूप कमलिनीके लिए हाथोंके समान [विनाशक] भीमगेनके वृद्ध होनेपर भी तेरे घब तब भीवित रहनेका घटी कारण था [अन्यथा तुम्हें न जाने बचका मार दिया जाता] ।

राजा—दुरात्मन् ! भरतकुलापसद ! पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकथ-  
नाप्रगल्भः । किन्तु

द्रक्ष्यन्ति न चिरान् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।

मद्गदाभिन्नवक्तोऽस्थिवेणीकामीमभूषणम् ॥”

इत्यादीति ।

असंरन्धस्यापि दृश्यते । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिरः—

“नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीक्ष्ण ।

बध्यतां केशपाशस्ते स चास्याकर्षणक्षमः ॥” इति ॥

सम्प्रेटे क्रोधेन भाषणमात्रं संरम्भे तु चलकीर्तनमित्यनयोर्भेद इति ॥५६॥

(१०) अथ शक्तिः—

[ सूत्र १०० ]—क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः

क्रुद्धस्य प्रसादनं अनुकूलनं युद्धि-विभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः । यदि  
वा क्रुद्धस्य द्विपतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः । यथा रत्नबल्याम्—

राजा—

राजा—अरे नीच ! भरतकुलकलंक ! पाण्डवपशो ! मैं तेरे समान आत्मश्लाघामे  
निपुण तो नहीं हूँ किन्तु—

तेरे बाणध्वज लोग शीघ्र ही, मेरी गदासे दूढ़ी हुई छातीकी अस्त्रियोंकी मालासे भयंकर  
धूँपणोंसे युक्त तुझको युद्धभूमिमें सोता हुआ देखेंगे ।

इत्यादिमें [संरम्भेकी शक्ति-कीर्तनके कारण ‘संरम्भ’ का उदाहरण है] ।

क्रोधविशेक के बिना भी [शक्ति-स्थापन] देखा जाता है । जैसे वेणीसंहारमें—

“युधिष्ठिर—प्रतिज्ञाके अङ्ग भंग होनेके भयसे वह [भीमसेन] आज तुम्हारे केशपाश  
को घोर जिसने उसका आकर्षण किया था उन दोनोंको [क्रमशः] बांधे तथा मारेगा । [इसमें  
‘बध्यता’ पद अपायक तथा बन्धनार्थक दोनों धातुओंमें समान रूपसे ही बनता है । अतः  
उसके दोनों अर्थ लगते हैं] ।

यह वचन युधिष्ठिरने क्रोधविशेक के बिना ही कहा है । अतः दूसरे प्रकारके ‘संरम्भ’  
अङ्गका उदाहरण है । आगे इसी आदर्श सन्धिके सम्प्रेट नामक तृतीय अङ्गके साथ इन  
‘संरम्भ’ नामक नवम अङ्गका भेद दिखलाने हैं ।

‘सम्प्रेट’ [अङ्ग] में केवल क्रोधसे भाषण मात्र होता है और ‘संरम्भ’ में शक्ति-  
कीर्तन होता है यह इन दोनोंका भेद है ॥५६॥

(१०) अथ ‘शक्ति’ [नामक अमरां सन्धिके दशम अङ्गका सञ्चाल आदि करते हैं]—

[ सूत्र १०० ] क्रुद्धको प्रसात्र करना ‘शक्ति’ [कहा जाता] है ।

क्रुद्धको प्रसात्र करना अर्थात् अनुकूल करना, युद्धि या विभव आदि शक्ति-कार्य  
होनेसे वह [क्रुद्ध प्रसात्र] ‘शक्ति’ [कहा जाता] है । अथवा क्रुद्ध हुए शत्रुका [प्रसादन अर्थात्  
प्रकर्षेण सादन] अत्यन्त विनाश ‘शक्ति’ [कहा जाता] है ।

[पहले प्रकारका उदाहरण] जैसे रत्नबल्यामी—राजा—

“सद्व्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्या भृशं,  
वैलक्ष्येण परेण पादपत्तनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।  
प्रत्यासत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या यथा,  
प्रक्षाल्येव तथैव वाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतो यथा ॥”

तथा कृत्यारावणे मत्तमांरुस्य पूर्वार्द्धे—

“कण्ठं भोः कष्टम्—

रामेण प्रलयेनेव महामत्त्वेन लीलया ।

पातितोऽयं दशशिराः शृङ्गवानिव पर्वतः ॥” इति ।

अत्र विरोधिनी रावणस्य विनाशनमिति ।

एके तु विरोधप्रशमनं शक्तिमामनन्ति । यथोत्तरचरिते—

“क्षवः—विरोधो विश्रान्तः प्रमरति रसो निर्वृत्तिघनः,

तदौद्धत्यं क्वापि अजति विनयः प्रह्वयति माम् ।

क्षयित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा,

महार्थस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यसि शयः ॥” इति ।

एतदप्यत्रैवान्तर्भूतम् । प्रसादने प्रसत्तैरपि भावान् । अस्ति चात्र लवस्य  
शृङ्गस्य मनःप्रसत्तिरिति ।

“बहाने घनाकर शपथोंके द्वारा, प्रिय वचनोंके द्वारा, सर्वथा चित्तके अनुसार अनुगमन करनेके द्वारा, प्रसन्न लज्जाके [अनुभव या प्रकाशन] द्वारा, घेरोंपर घड़कर घोर धार-धार सखियोंके कहनेपर भी प्रिया [वासवदत्ता] उस प्रकार प्रसन्नताको प्राप्त नहीं हुई जैसी कि स्वयं रोती हुई उसने अनुभूति मानो प्रीतिकी ओर बहा दिया हो [अर्थात् वासवदत्ताके इन भावुप्रेति मानो उसका सारा क्रोध बहा दिया हो ।]”

यह प्रथम प्रकारके प्रसादन रूप शक्ति अङ्गका उदाहरण है । दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति अङ्गका उदाहरण आगे देते हैं—

घोर जैते ‘कृत्यारावण’के सप्तमांके पूर्वार्द्धमें—

“मरे ! घड़े बुलकी बात है कि—

प्रसयके समान महा-शक्तिशाली रामचन्द्रने शृङ्गोंमें युक्त पर्वतके समान इस दश शिरोधार्य रावणकी प्रनाशना ही निरा दिया ।”

इसमें विरोधी रावणका विनाश कहा गया है [अनः यह दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

कुछ लोग विरोधके प्रथमको ‘शक्ति’ कहते हैं । जैते ‘उत्तरचरित’में—

“सव—[रामचन्द्रजीके आज्ञानेसे चन्द्रबेलुके साथ होनेवाले युद्धमें हम दोनों अर्थात् सब घोर चन्द्रबेलुका] विरोध दान्त हो गया घोर आनन्द प्रदान करने वाता प्रेम [रस] उत्पन्न हो रहा है । यह उद्दण्डता [ओ मेरे प्रिय भीतर थी] न जाने कहीं चली गई, घोर विनय मुझे [उसके सामने] विनम्र बना रही है । इनको देखकर न जाने क्यों मैं सुरंग ही परबल-सा हो गया हूँ प्रपवा सीधोंके समान महापुरुषोंका कुछ अनिर्वचनीय प्रभाव होता है ।

इसमें यह [विरोध-विधानि] भी इसी [कुट्ट-प्रभाव] में अन्तर्भूत हो जाती है । प्रसादन



प्रकृताभिप्रायविरुद्धाचरणहेतुरभिप्रायो भावान्तरमङ्गं अत्रान्य मन्यन्ते ।  
यथा तापसवत्सराजे पठेऽङ्के—योगन्धरायणस्य वासवदत्तां मरणाध्यवसा-  
यात्रिवर्तयितुं भावः । तद्विरुद्धा चित्ताविरचनक्रिया अभिप्रायान्तरात् कृतेति भावा-  
न्तरम् । तत्र हि—

“योगन्धरायणः—भद्र विनीतक ! रचय चित्ताम् ।” इति ।

अन्ये तु शक्तेः स्थाने आज्ञां पठन्ति । युक्तयुक्तमविचार्य क्रोधाद् यदा-  
ज्ञापनं सा आज्ञा । यथा कृत्यारावणे त्रिजटया दारुणिकमिधाना राक्षसी पृष्ठा—

त्रिजटा—दारुणिक किं तुमं भणसि ।

[दारुणिके ! किं त्वं भणसि । इति संस्कृतम्] ।

दारुणिका—अय्ये तियडे ! अवि नाम अप्पडिइदा आणा मम सरीरे निव-  
डिस्सइ न उण ईदिसं अरुज्जं करइस्सं ।

[अयि त्रिजटे ! अपि नाम अप्रतिहृता आज्ञा मम शरीरे निपतिष्यति न  
पुनरीदृशमकार्यं करिष्यामि । इति संस्कृतम्] ।

त्रिजटा—तद्वा वि तुमं दारुणिअ त्ति वुच्चसि ।

[तथापि त्वं दारुणिका इत्युच्यसे । इति संस्कृतम्]

(पुनः क्रमान्नेपथ्ये—)

ने [प्रसत्ति] प्रसन्नताके भी आ जानेसे । और यहाँ कुछ लवके मनकी प्रसत्ति अर्थात् प्रसन्नता  
है । [मतः यह कुछ प्रसादन रूप शक्तिके भीतर ही आ जाता है । उसका अलग लक्षण करने  
की आवश्यकता नहीं है] ।

अग्न्य लोग प्रकृत अभिप्रायके विरुद्ध आचरणके हेतुभूत अभिप्राय-रूप भावान्तरको  
इसके स्थान पर अङ्ग मानते हैं । जैसे तापसवत्सराजके पठे अङ्कमें योगन्धरायणका वासव-  
दत्ताको मरणासे बचानेका अभिप्राय है । किन्तु उसके विपरीत चित्ता बनानेकी क्रिया दूसरे  
अभिप्रायसे कराई है । इसलिये यह भावान्तर [अङ्ग] का उदाहरण है । जैसे कि—

वहाँ [योगन्य रूपण कहते हैं]

“योगन्धरायण—हे भद्र विनीतक ! चित्ता बना दो । यह [योगन्धरायणका वचन  
उनके प्रकृत अभिप्रायके विपरीत होनेसे भावान्तरका उदाहरण है] ।

अग्न्य लोग शक्तिके स्थानपर आज्ञा [नामक अङ्ग] को रखते हैं । उचित-अनुचितका  
विचार किए बिना ओथसे जो आग्रह दे देना है उसको आज्ञा [अङ्ग] कहते हैं । जैसे इत्या-  
रावणमें त्रिजटा दारुणिका नामकी राक्षसीसे पूछती है ।

त्रिजटा—हे दारुणिके ! तुम क्या कह रही हो ?

दारुणिका—हे आर्य त्रिजटे ! [रावणकी] अप्रतिहत आज्ञा मेरे शरीरपर भते ही गिरे  
[अर्थात् रावण भते ही मुझे जान से मरवा डाले] किन्तु मैं इस प्रकारका अनुचित कार्य नहीं  
करूँगी ।

त्रिजटा—फिर भी लोग तुमको दारुणिका [नामसे] कहते हैं ।

फिर हमसे नेपथ्यमें—

“हा तियहे । एसा दे पियसही सीढा भत्तुणो मायासिग्दस्सुप्पत्तीमरण-  
निन्द्या अग्नि पविसिउत्तामा । [हा त्रिजटे एसा ते प्रियमग्नी सीता भर्तुर्माया-  
शिरोदर्शनोत्पत्तिमरणनिश्चया अग्नि प्रवेष्टुमा] ।

त्रिजटा-हा ऋद्धिम मन्दभाङ्गी मा दाणि दिव्वेण भत्तुणो आणा सपादीयदि ।  
[हा इतस्मि मन्दभागिनी । मा इदानीं देवेन भर्तुराज्ञा सम्पाद्यते] ।

एतस्मादवसीयते सीताव्यापादनाय क्रोधाद् रावणेन दाणिमायै आज्ञा  
दत्तेति ।

सर्वमन्विष्वपि मतान्तराणि वृद्धोक्त्यान् भणितिभेदाद् वैचित्र्यस्य रक्षक-  
त्वाच्च प्रमाणान्येव । अत एव सर्वमन्विष्यगमरयाकरणमुदाहरणपरमिति  
मन्तव्यमिति ।

अथ प्ररोचना—

[सूत्र १००]—भारमिद्धिः प्ररोचना ।

निर्ऋगामन्धौ भाविनोऽर्थस्य मिद्धि मिद्धवैनोपक्रमणं प्रकर्षेण रोच्यते  
वीप्सतेऽनया रूपकार्थं इति प्ररोचना । यथा वेणीमहारे—

पाञ्चालक —[‘अहं च देवेन चक्रपाणिना’ इत्युपक्रम्य] कृतं मन्देहेन—  
पूर्वैस्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते  
वृक्षास्त्यन्तचिरोन्मिते च कवरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

हा त्रिजटे ! सुन्दारी यह प्रिय सखी सीता स्वामी [रामचन्द्रके] बनायटी शिरको  
देखनेके कारण देनेके निश्चय करके अग्निमे प्रविष्ट होना चाहती है ।

त्रिजटा—अरे मैं अभागिनी मरी । भगवान् करे इस समय स्वामी [रावण] की  
आज्ञापूर्ण न हो सके ।

इस [संवाद] से प्रतीत होता है कि रावणने दाणिमाको सीताको मार डालनेकी  
आज्ञा दी थी । [इसलिए यह ‘आज्ञा’ नामक अङ्गका उदाहरण है । क्योंकि यह आज्ञा क्रोधा-  
वैराग्ये ही दी गई है ।

सभी सधियोंमें [अङ्गोंके विषयमें] अथ अग्य [संज्ञा प्रस्तुत करनेवाले] मत वृद्धों  
द्वारा कथित होनेसे और वर्णन श्रुतीके भेदसे उत्पन्न वैचित्र्यके मनोरञ्जन होनेके कारण  
प्रमाणभूत [माग्य] ही है । इसीलिए सभी सधियोंमें अङ्गोंकी गणना केवल उदाहरण-परक  
समझनी चाहिए । [अर्थात् उसी प्रकारके अथ अङ्ग भी हो सकते हैं । वह सध्या निश्चित  
नहीं है यह समझना चाहिए] ।

अथ ‘प्ररोचना’ [नामक विमर्शसंघिके दशम अङ्गके संज्ञा प्राप्ति करते हैं]—

आगे होनेवाली सिद्धि [का कथन] प्ररोचना [कहलानी] है ।

निबंध्य सधिये आगे होनेवाले अर्थकी सिद्धि अर्थ या उसको सिद्ध हो मानकर कथन  
करना जिसके द्वारा स्वयंका विषय प्रकटसे प्रकाशित या दोष होना है [इस व्युत्पत्तिसे अनु-  
सार] ‘प्ररोचना’ [कहलानी] है । जैसे ‘देहीसहार’म—

पाञ्चालक —[मुझे देव चक्रपाणि वृक्ष ने यहमि सेवर] सिद्धि की कोई आवश्यकता  
नहीं है [इस लिए]—

रामे शातकुठारभासुरकरे चत्रहृमोच्छेदिनि  
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

अत्र युधिष्ठिरराज्याभिषेकस्य द्रोपदीकेशसंयमनस्य च भाविनोऽपि सिद्ध-  
त्वेन कल्पनम् ।

यथा वा राघवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

सीताया चदर्नं विकाशमयता रामस्य शोकानलः

शान्तिं यातु सगीतयश्च बभुजैर्नृत्यन्तु शाखामृगाः ।

सन्धानाय विभीषणः प्रयत्नां लंकाधिपत्यश्रियः

सौमित्रेर्देशकण्ठ-कण्ठविपिनं कालः किर्यांश्छिन्दतः ॥ इति ।

अन्ये तु सत्कारादेशनं प्ररोचनामाहुः । यथा वेणीसंहारे—

युधिष्ठिरः—[ पुरुषभवलोक्य ] भद्र उच्यतां सहदेवः क्रुद्धस्य वृकोदरस्या-  
पयुर्पितां दारुणां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्रणष्टस्य मानिनः कौरवनाथस्य पदवीमवेक्षितु-  
मतिनिपुणमतयः, तेषु तेषु स्थानेषु परात्मवेदिनश्चारा, मन्त्रिणः मन्त्रिणाश्च भक्तिमन्तः  
पटुपटुहव्यक्तघोषणाः दुर्योधनसञ्चारवेदिनः प्रतिश्रुतधन-पूजा-प्रत्युपक्रियाः सञ्चरन्तु  
समन्तपञ्चकमिति । धन-पूजाप्रतिश्रवणप्रचोदिताः प्रत्युपकारे वर्तिष्यन्ते दुर्योधन-  
प्रतिलम्भवार्तायै । इति ।

आप [अर्थात् युधिष्ठिर] अपने राज्याभियेके लिए आप रत्नोंके कलशोको जलसे  
भरवायें, और द्रोपदीके बहुत दिनोंसे खुले हुए केशपात्रको बाँधनेका उत्सव करे । क्योंकि तीक्ष्ण  
कुठारसे बीत करवाले क्षत्रिय रूप वृक्षोंको काटनेवाले परशुराम और क्रोधान्ध भीमके संग्राममें  
आ जाने पर [विजयमें] क्या सबेह है ?

इस [पाष्वात्तकके कथन] में आगे होनेवाले युधिष्ठिरके राज्याभियेक तथा द्रोपदीके  
केशबंधन रूप अर्थको सिद्ध-ता मान लिया गया है । [अतएव यह 'प्ररोचना' नामक अङ्कका  
उदाहरण है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयके सप्तम अङ्कमें—

सीताका मुख प्रसन्नतासे खिल उठे, रामचंद्रजीकी शोकानल शांत हो जाय, वानर  
सोग गीत गाते हुए और हाथ हिलाते हुए नाचें, और विभीषण लज्जाकी राज्यतक्ष्मीकी प्राप्त  
करने का प्रयत्न आरम्भ कर दे, क्योंकि लक्ष्मणकी रावणके कण्ठोंके बनको काटनेमें कितनी  
बेर लगनी है [तनिक बेरने काट डालेंगे] ।

इसमें आगे होनेवाली बातोंको मिथवन् वर्णन किया गया है । इसलिए यह 'प्ररोचना'  
अङ्कका उदाहरण है ।

अन्य लोग सरकारकी आज्ञाको 'प्ररोचना' कहते हैं । जैसे 'वेणीसंहार'में—

युधिष्ठिर—[पुरुषकी घोर देतकर] भद्र सहदेवसे कहो कि क्रुद्ध भीमकी माती में  
होनेवाली [अर्थात् आज ही पूरी होनेवाली दुर्योधनके धपकी] प्रतिज्ञाको मुनकर दिप गए हुए  
अभिमानो कौरवराजके स्थानका पता लगानेके लिए उन-उन स्थानोंपर अपने घोर दाम्पत्यके  
पहिचाननेवाले गुत्तचर, मंत्री और भक्तिमान् सखिय और तीव्र पटह बाघ द्वारा स्पष्ट रूपसे  
घोषणा पन पूजा आदि पुरस्कारकी सूचना प्राप्त, दुर्योधनके गमनागमन [के स्थानों] को

अन्ये त्वस्य स्थाने युक्तिं पठन्ति । युक्तिश्च सविच्छेदोक्तिः । यथा पुष्प-  
वृत्तिके—

“समुद्रदत्तः—

अर्था तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं,  
पुत्रस्तत्रैव कुत इत्यनुदारतैषा ।  
शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि हन्त,  
व्यक्तं विरोधि यदि साम्युपपत्त्यते माम्॥” इति ।

(१५) अधादानम्—

[सूत्र १०१]—फलसामीप्यमादानम् ।

मुख्यफलस्य दर्शनमादानम् । यथा नागानन्दे—

[नायकमुद्दिश्य] गरुडः—

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेव यथा मम ।

तथा सर्पाशनाकांक्षा व्यक्तमस्यापनेष्यति ॥

अत्र नागरक्षालक्षणस्य मुख्यफलस्य सामीप्यनिबन्ध इति ।

(१६) अथ व्यवसायः—

[सूत्र १०२]—व्यवसायोऽर्थहेतुयुक् ॥ ६० ॥

जाननेवाले लोगोको समस्त-पञ्चकके चारों ओर भेज दें । बदलेमे धन पूजा आदिके आशवाप्तन  
से प्रेरित होकर दुर्योधनको पकड़वानेके [लिए] समाचार देनेको तयार हो जायेंगे ।  
इसमें दुर्योधनका पता लगानेवालोंको सस्वार धन आदिका प्रलोभन देनेका जो वचन  
दिया गया है वही ‘प्ररोचना’ है ।

अग्य लोग तो इस [प्ररोचना] के स्थानपर युक्ति [अङ्ग] को पढ़ते हैं । जैसे पुष्पवृत्तिक  
मे समुद्रवत्स [कहता है]—

“मैं तुम्हारा स्वामी हूँ यह [कहना इस] कष्टदशाके विपरीत है । यह तुम्हारा पुत्र है  
[यह कहा जाय] तो फिर यह अनुदारता क्यों ? शस्त्रका प्रहार होनेवाला है धन क्या करे,  
यदि स्पष्ट रूपसे रोता-बिस्ताता हूँ तो वह मुझको जान लेगी ।”

(१२) अथ ‘अवदान’ [नामक विमर्शविधे के अन्तर्गत् अङ्गका साराण्य आदि करते हैं]—

[सूत्र १०१] उत्तरा समीप योग्यता ‘आदान’ कहलाता है ।

मुख्य फलका [समीप] बोलना ‘आदान’ कहलाता है । जैसे नागानन्दमे नायकको सद्य  
करके गरुड [करते हैं]—

“नागोंके रक्षक ये [जोमूतवाहन] मेरे मुझसे प्रतीत होते हैं इनलिए अब सर्पोंको लाने  
को [मिरी] इच्छा निश्चय ही समाप्त हो जायगी ।”

इसमे नागोंकी रक्षा रूप मुख्य कार्यके सामीप्यका वर्णन किया गया है । [यह एवं यह  
‘आदान’ नामक इस अङ्गका उदाहरण है] ।

(१३) अथ ‘व्यवसाय’ [ नामक विमर्शविधे के अन्तर्गत् अङ्गका साराण्य आदि करते  
हैं ]—

[सूत्र १०२]—अर्थनीय रूपसे हेतुका योग्य ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है । ६०।

‘युगिति’ योजन युक् । अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः । यथा रत्नावल्याम्—

“ऐन्द्रजालिकप्रवेशादारम्य—‘एको उण खेडओ तए अवस्स पेक्खिदध्वो’ [एक पुन खेलकस्त्वयावश्यं प्रेक्षितव्य] इति यावत् । अत्र हि यौगन्धरायणेन यदगोकृतं तन्निष्पादकहेतुसमागमः ।

अन्ये तु ‘व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति’ इति पठन्ति । यथा वेणीसहारे—

नून तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभगभीरणा ।

वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणक्षम ॥ इति ।

एतच्च ‘सरम्भ शक्तिकीर्तनम्’ इत्यनेनैव सगृहीतमिति ।

केचिदन्यतमाङ्गानङ्गीकारेण द्वादशाङ्गमेवैतं सार्धमिच्छन्ति । एव गर्भसन्धिमापीति ।

एतान्यधमर्शसन्धेरयोदशाङ्गानि ।

अथ निर्वहणसन्धेरङ्गानि लक्षयितुमुद्दिशति—

[सूत्र १०३]—सन्धि-निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।

उपास्तिः कृतिरानन्दः समयः परिगूहनम् ॥६१॥

‘युक्’ अर्थात् योजन । अर्थनीय फलका जो हेतु उसका योग ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—ऐन्द्रजालिकके प्रवेशसे लेकर मेरा एक खेल आपकी अवश्य देखना चाहिए’ यहाँ तक [अर्थनीय फलका योग होनेसे व्यवसाय अङ्गका उदाहरण है] । इसमें यौगन्धरायणने [उदयन तथा वासवदत्ताका सम्बन्ध करानेका] जो निश्चय किया था उसके सम्पादक हेतुका समागम हो रहा है [अत एव यह व्यवसाय नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो ‘अपनी शक्तिका कथन करना ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है’ ऐसा लक्षण करते हैं । जैसे वेणीसहारे—

‘प्रतिज्ञाका अङ्ग न होने पाये इस भयसे वह वीर [भीमसेन] निश्चय ही आज तुम्हारे केशपाशकी बाँधेगा और जिस [दुःशासन] ने इसको सौँचा था उसको मारेगा ।’

यहाँ ‘वध्यते’ यह पद अर्थात् तथा अर्थात् दोनों धातुओंसे समान रूपसे ही बनता है इसलिए उसका एक पक्षमें बाँधना और दूसरे पक्षमें मारना दोनों ही अर्थ होते हैं ।

[कुछ लोग व्यवसाय का ‘व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति’ ऐसा लक्षण करते हैं] कि तु यह ‘शक्तिका कथन करना सरम्भ [अङ्ग कहलाता] है’ इस [सरम्भ अङ्ग] के भीतर ही आ जाता है [अत व्यवसायका यह लक्षण उचित नहीं है] ।

बुद्ध लोग [विमर्शसंधिसे तेरह अङ्गोंमेंसे] किसी अङ्गको न मानकर इस संधिसे बारह अङ्ग ही मानते हैं । इसी प्रकार गर्भसंधिमें भी [बारह अङ्ग ही मानते हैं] ।

ये अष्टमर्शसंधिसे तेरह अङ्ग हैं ॥ ६० ॥

निर्वहण सन्धिषे चौदह अङ्ग —

यद्य निर्वहणसंधि के अङ्गोंसे लक्षण करनेकेलिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र १०३ ब]— (१) संधि (२) निरोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय (५) परिभाषण, (६) उपासना, (७) इति, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) परिगूहना ॥६१॥

भाषणं कान्यसहार-पूर्वाभाव-प्रशस्तय ।

चतुर्दशाङ्गो निर्वाहः,

विशेषानुपादानात् सर्वाण्यप्येतानि प्रवानानि ॥६१॥

(१) अथ सन्धिः—

[ सूत्र १०४ ]—सन्धिर्वीजफलागमः ॥६२॥

मुत्तसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्य उद्घाटीमुख्याद्यै-  
र्विकारैः फले फलागमावस्थायामागमनं ढीकनं सन्धिः । यथा रत्नावल्याम्—

वसुभूति —[ अग्निविद्वानन्तरं सागरिकां निर्वर्ण्य ] वाभ्रव्य ! सुसदृशीयं  
राजपुत्र्या ।

वाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव मनसि । इति ।

अत्र मुत्ते यदुप्तं बीजं तन्निकटीभूतमिति । इदमङ्गमवश्यं नियन्धनीयम् ॥६०॥

(२) अथ निरोधः—

[ सूत्र १०५ ]—निरोधः कार्यमीमांसा ।

नष्टस्य कार्यस्य युक्तये यदन्वेष्टव्यं तन्निरुद्धवस्तुविषयत्वाभिरोधः । यथा हस्तित-  
रामे लक्ष्मणेन यद्वा आनीतो लवो यज्ञार्थं सीताप्रतिकृतिमुपकल्पितां रामसदृशि-  
मृष्ट्वा स्वगतमाह—

[ सूत्र १०३ ख ]—(११) भाषण, (१२) कान्योपसंहार, (१३) पूर्वाभाव तथा (१४)  
प्रज्ञाता, निर्वहण [सन्धि] के ये बीवह अङ्ग होते हैं ।

[ अग्न्य संधिपक्षे समान इनमे गीए घोर मुख्यता ] भेद न किए जानेसे ये सभी मुख्य  
अङ्ग हैं [इनमे कोई भी अङ्ग गीए नहीं है] । ६१ ।

(१) अब 'सन्धि' [नामक निर्वहणसंधिपक्षे प्रथम अङ्गका सफल आदि करते हैं]—

[ सूत्र १०४ ]—बीजका कल रूप तक पहुँचना 'सन्धि' [नामक अङ्ग कहलाता] है । ६२ ।

मुत्तसन्धिमे आरोपित प्रारम्भावस्था बीजरूपका, उद्घाटन अंगमुख्य आदि विकारोंके  
द्वारा कल अर्थात् कल प्राप्तिकी अवस्थामें आ जाना अर्थात् पहुँच जाना 'सन्धि' [नामक अङ्ग  
कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

"वसुभूति—[अग्निवाहके उपसंहारके बाद सागरिकाको देखकर] हे वाभ्रव्य ! यह  
तो राजपुत्रीके समान मान्य होनी है ।

वाभ्रव्य—मेरे मन मे भी यही बात है ।

यहाँ मुत्तसन्धिमे जिस [सागरिका प्राप्ति रूप] बीजका वपन बिपा गया था वह  
[प्राप्तिपक्षे प्राप्त] निश्चय पहुँच गया है । इस अङ्गकी रचना अवश्य ही करनी चाहिए । ६२ ।

(२) अब 'निरोध' [नामक निर्वहणसंधिपक्षे द्वितीय अङ्गका सफल आदि करते हैं]

[ सूत्र १०५ ]—कार्यका विचार करना 'निरोध' [कहलाता] है ।

विनष्ट कार्यके बननेके लिए जो अनुमान करना वह निश्चय [विनष्ट] वस्तु-विषयक  
होनेसे 'निरोध' [कहलाता] है । जैसे हस्तितराममे [लक्ष्मणसेयमज्ञा कीड़ा पकटनेके कारण]  
समय द्वारा बाँधकर माया हुआ सब रामके तथा भवनमे यज्ञके लिए बनाई हुई सीताकी  
गुह्यमयी प्रतिमाकी देखकर अपने मनमे कहता है—

“लवः—अये कश्चमियमम्बा राजद्वारमागता । [वत्साय सहसोपसृत्याञ्जलि यद्धवा] अम्ब ! अभिवादेये । [निरूप्य] कश्चमियं काञ्चनमयी । [अपसृत्योपविशति, सर्वे परस्परमवलोकयन्ति] ।

रामः—[दृष्ट्वा] वत्स ! किमियं तव माता ।

लवः—राजन ! ज्ञायते मैत्रेयमस्मज्जननी, किन्त्वेषा देवी भूपणोज्ज्वला ।

[रामः सवाष्पं हस्ते गृहीत्वा समीपे उपवेशयति] ।

लक्ष्मणः—[सास्त्रम्] आयुष्मन् ! किन्नामधेया सा देवानां प्रियस्य जननी ।

लवः—तां खलु मातामहो अस्माकमभिघट्टे सीतेति ।

लक्ष्मणः—[सवाष्पं रामस्य पादयोर्निपत्य] आर्य ! दिष्ट्या वर्धसे, मनुष्या जीवत्पार्या ।”

अत्र नष्टय सीताजीवनकार्यस्य युक्त्या भीमांसेति ।

(३) अथ प्रथमम्—

[सूत्र १०६]—प्रथमं कार्यदर्शनम् ।

कार्यं मुख्यफलम् । प्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति प्रथनम् । यथा वेणीसंहारे—

“भीमसेनः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनदिलुलिता वेलिरात्मपाणिता । तिष्ठतु तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि ।” इति ।

“लव—भरे, ये माताजी राजाके द्वारपर कंसे भाई ? [उठकर भौर सहसा पास जाकर भौर हाथ जोड़कर—हे माताजी ! नमस्ते । [देखकर] भरे यह तो सोनेकी है । [हटकर बैठ जाता है । सब लोग एक-दूसरेको देखने लगते हैं ।

राम—[देखकर] हे वत्स ! क्या ये तुम्हारी माताजी हैं ।

लव—हे राजन् ! ऐसा मालूम होता है कि ये हमारी ये माता ही हैं । किन्तु यह बेबी तो भूपण पारण किए हुए है ।

[रामचंद्र रोते हुए हाथ पकड़कर सबको पास बिठातते हैं] ।

लक्ष्मण—[रोते हुए] आयुष्मन् ! तुम्हारी माताजीका क्या नाम है ?

लव—उनको हमारे मानाजी सीता कहते हैं ।

लक्ष्मण—[ रोते हुए रामचंद्रके पैरोंपर गिरकर ] आर्य, भाग्यसे आपकी वृद्धि है । आर्या [सीता] पुत्र सहित जीवित हैं ।”

यहां सीताके जीवनरूप विनष्ट हुए कार्यकी पुक्ति द्वारा भीमांसा की है । [प्रतः यह निरोध नामक प्रज्ञाका उदाहरण है] ।

(१) प्रथ ‘प्रथन’ [नामक निर्वहण संपिके तृतीय अङ्गका सलक्षण प्रादि करते हैं]—

[सूत्र १०६]—कार्यका दिखलाई देना ‘प्रथन’ [कहा जाता] है ।

कार्यं धर्यात् मुख्य फलः । जिस व्यापारके द्वारा मुख्य फल प्रथित धर्यात् सम्बद्ध होता है वह ‘प्रथन’ [प्रज्ञ] है । जैसे वेलीसंहारके—

“भीमसेन—हे पाञ्चालि ! भरे जीवित रहते दुःशासनके द्वारा खोचे गए बेमारों को अपने हाथसे मत बाँधना । ठहरो-ठहरो, मैं स्वयं अभी बाँधता हूँ ।”

अत्र द्रौपदीवेशसंयमनकार्यस्य व्यापारेण प्रथनमिति ।

(४) अथ निर्णय —

[सूत्र १०७]—निर्णयोऽनुभवख्यातिः ।

ज्ञेयेऽर्थे सन्दिग्धान् अप्रतिपत्त्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तन् ज्ञेयार्थनिर्णयात् निर्णयः । यथा यादवाभ्युदये समुद्रविजयं प्रति—

“वसुदेव —[सप्रमोदम्] देव । मया कमप्रतिभयेन कृष्णं गोकुले गोपयता यो महान् क्लेशोऽनुभूतस्तस्य फलमिदानीमभूत् । किन्तु लोकपरिज्ञानभयेन यन्मया देवपादानामपि न विज्ञातं तत्र देवेन क्षन्तव्यम् ।”

अत्र वसुदेवेन स्थानुभूतं कृष्णगोपनक्लेशं समुद्रविजयो बोधितः ।

यथा वा पुष्पदूतिके प्रकरणे—

‘किन्नामनक्षत्रोऽयं बालकः’ इति समुद्रवृत्तेन पृष्ठं सेनापतिः ‘विशाखानक्षत्रोऽयं बालकः’ इत्याह ।

समुद्रवृत्तं श्रुत्वा पूर्वानुभूतं नन्दयन्तीममागमः स्मरन्नाह—‘तदा किल नन्द-यन्त्या प्रपटेन मया कथितं यथा—

एनी तौ प्रतिदृश्येते चारुचन्द्रममप्रभौ ।

ख्यातौ कस्याणनामानौ उभौ तिर्यगुत्तरसू ॥

तदाधानाद् दशमं जन्मनक्षत्रमिति व्योतिः शाश्वतसमयविद्यो यद् द्रुचते तदुप-पन्नमेवेति ।

इतमे द्रौपदीके केन्द्रोके बांधनेक रूप कार्यका व्यापार द्वारा प्रथन किया है ।

(४) अथ निर्णय [नामक निर्णहणस्यैव चतुर्थं अङ्गं सप्तमं अति करते हैं]—

[सूत्र १०७]—अनुभवका कथन करना ‘निर्णय’ [बहलाता] है ।

ज्ञानने योग्य अर्थके विषयमे सदेहपुरुष या अज्ञानपुरुष व्यक्तिके प्रति जो निर्णयमे लिए अनुभूत प्रथन करना है यह, अर्थ अर्थका निर्णय करनेवाला होनेसे ‘निर्णय’ [बहलाता] है । जैसे यादवाभ्युदयमे समुद्रविजयके प्रति वसुदेव करते हैं—

‘वसुदेव—[प्रमोदके साथ] देव कसके भयव कारण कृष्णको गोकुलमे छिपाकर रखने मे मैने जो बट उठाए उनका फल आज प्राप्त हो गया । किन्तु लोगोंके मान्द हो जानेके भय मे जो मैने छिपावो भी महीं बतनाया उसके लिए छाप क्षमा करें ।”

यहाँ वसुदेवने अपने अनुभूत कृष्णके छिपानेके वनेशको समुद्रविजयको सूचना दी ।

अथवा जो पुष्पदूतिक [नामक] प्रकरणमे— ‘यह बालक जिस नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है’ इस प्रकार समुद्रवृत्तके द्वारा पूछे जानेपर सेनापति— ‘यह बालक विशाखा नक्षत्रमेका है’ यह कहते हैं । इसको सुनकर समुद्रवृत्त पूर्वानुभूत नन्दयनीक समागमको स्मरण करते हुए कहते हैं कि ‘उक्त समय नन्दयनीके द्वारा पूछे जानेपर मैने जगने कहा था कि—

अन्तर्मात्रे समान सुन्दर वांति जाने और प्रसिद्ध सुन्दर नामवाले मे दोनों निम्न और पुनर्वसूके समान दिगन्ताई देन हैं ।

उनको ध्यानमें रखनेसे व्योमिनाक्षत्रके पण्डित जो यह कहते हैं कि इनका जन्म-जन्म-राम है तो ठीक हो है ।”



(५) अथ परिभाषा—

[सूत्र १०८]—परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥

स्वापराधोद्धट्टन परिभाषा । यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तां प्रति—

“राजा—[ सास्त्रम् ] देवि ! किं ब्रवीषि—

यथा तथा धृतप्राण निस्तेह निरपत्रपम् ।

आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्टयाप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा नलविलासे दमयन्तीं प्रवि नल.—

“न प्रेम निहित चित्ते न चाचारः सता स्मृतः ।

त्यजता त्वां बने देवि ! मया दारुणमाहितम् ॥”

यथा वा राघवाभ्युदये रामः [ स्वगतम् ]

“वैदेही हृतवांस्तदेव भद्रतः सख्ये विपद्य क्लमान्,

चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः ।

प्राणान् यद्विरहेऽप्यह विधृतवांस्तेन त्रपापांसुरं,

यत्र दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्ष्य क्षम ॥”

एषु वत्सराज-नल-रामचन्द्राणां स्वापराधोद्धट्टनमिति । एतदङ्गं रञ्जयत्वा-  
दत्रावश्यं निबन्धनीयम् ।

(५) अथ ‘परिभाषण’ [नामक निर्वहण सधिके पञ्चम अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

अपनी निन्दा करना ‘परिभाषण’ [कहलाता] है । ६३ ।

[सूत्र १०८]—अपने अपराधको प्रकाशित करना ‘परिभाषा’ [अङ्ग कहलाता] है ।

जैसे तापसवत्सराज चरितमे वासवदत्ताके प्रति [राजा उदयन कहते हैं]—

“राजा—[रोते हुए] देवि ? क्या कहती हो—

स्नेहरहित और निलज्ज, जैसे-तैसे अपने प्राण धारण करनेवाले मुझको तुम अपनी  
प्राणवामृतको बरसानेवाली दृष्टिसे अनुगृहीत करो ।”

अथवा जैसे नलविलासेमे नल दमयन्तीके प्रति [कहते हैं]—

“मैंने [तुमको बनमे सोता छोड़कर जाते समय] न तुम्हारे प्रेमका मनमे विचार किया  
और न सज्जन-पुरुषोंके आचारका । हे देवि ! तुमको बनमे छोड़कर मैंने अत्यन्त निष्ठुरताका  
कार्य किया था ।”

अथवा जैसे रामाभ्युदयमे राम [स्वगत कहते हैं]—

“इस [रावण] ने वैदेहीका अपहरण किया था इसलिये मुझमे नाना प्रकारके बनेशोंके  
उठावर धक्के गले बाटकर उस रावणको यमराजका दास बना दिया । किन्तु तुम्हारे विदोष  
में भी जो मैं प्राण धारण किए रहा इस सज्जाके कारण मैं अपने मलिन मुखको तुम्हारे  
गामने दिसला नहीं पाता हूँ ।”

इन [तीनों उदाहरणों] में [क्रमशः] वत्सराज, नल और रामचन्द्र अपने अपने अपराधों  
को प्रकाशित करते हैं [इसलिये ये ‘परिभाषण’ नामक अङ्गका उदाहरण हैं] ।

मनोरञ्जक होने के कारण इस अङ्गको रचना अवश्य ही बननी चाहिए ।

कुछ लोग ‘आपसमे बातचीतको परिभाषण’ कहते हैं । इसमें भी यही [व्यवस्था]

०के तु 'परिभाषा मिथो जल्प' इति पठन्ति ।

अत्रापीदमेवोदाहरणमिति ॥६३॥

(६) अयोपास्ति —

[सूत्र १०६]—सेवोपास्तिः ।

सेवा पर-प्रमत्तिहेतुर्व्यापारः । यथा वेणीसंहारे—

"भीम —[द्रौपदीमपुस्त्य] देवि पाञ्चालतनये ! दिष्टया वर्धसे रिपुकुल-  
क्षयेण ।"

अनेन, भीमेन द्रौपद्याः प्रमादितत्वात् पर्युपास्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

"राम [सविनय सीता प्रति]—

प्राणान यद्विरहेऽप्यहं विवृतवान् देवि । प्रियप्राणित-  
स्तन् क्षन्तव्यमशेषमेव ममय स्मेराक्षि । नैव क्रुधाम् ।  
सौमित्रे कपिभर्तुरस्य च मन प्रीत्यै तदेहि प्रिये,  
हस्तिक्षन्धमलंकुरुष्व ननु ते पूर्णं प्रतिज्ञायधि ।"

अत्र रामस्य सीताप्रमत्तिहेतुर्व्यापारः ।

अन्ये स्वस्य स्थाने प्रियद्विषाचरणजनिता प्रसक्ति प्रसादमङ्गमाहुः । यथा  
तापमवत्तराजे गृहीतपाञ्चालाधिपति रुमएवन्त योगन्धरायण च प्रति—

नल तथा रामचन्द्र तीनोंकी उक्तियाँ उदाहरण हैं । ६३ ।

(६) अथ 'उपास्ति' [नामक निर्वर्त्यसन्धिके पठ्य अङ्गका तथालाभादि कहते हैं]—

[सूत्र १०६]—सेवा [का ही नाम] 'उपास्ति' [उपासना] है ।

सेवा अर्थात् दूसरेको प्रसन्न करनेवाला व्यापार [उपासना उपास्ति कहलाता है] जैसे  
वेणीसंहारमें—

'भीम—[द्रौपदीके पास जाकर] हे देवि पाञ्चालतनये ! तौभाग्यसे दाब्रुकुलके नाराते  
तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।'

इसके द्वारा भीमके द्रौपदीको प्रसन्न करनेसे यह पर्युपासन [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे रघुविलासमें—

"राम [विनयपूर्वक सीताके प्रति]—

हे देवि ! तुम्हारे विरहमें भी अपने जीवनका प्रभी में जो प्राण धारण किए रहा उस  
तथको समा करो । हे स्मेराक्षि ! यह समय क्रोधका नहीं है । सञ्चल छोड़ इस मानरराज  
[मुषीक] के मनको प्रसन्न करनेके लिए चाओ ह्याधीकी पीठको अलङ्कृत करो । तुम्हारी प्रतिज्ञा  
की अवधि समाप्त हो चुकी है ।"

यहाँ सीताको प्रसन्न करनेवाला रामका व्यापार है [अथ यह भी उपास्ति' नामक  
अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [उपास्ति] के स्थानपर प्रिय सदा हितके किए जानेके कारण  
[होनेवाली मनकी] प्रमत्तता रूप प्रसाद की अङ्ग कहते हैं । जैसे तापमवत्तराजमें पाञ्चाला-  
धिपतिने पण्डितों के जानेके बाद रुमएवन्त और योगपगयणके प्रति —

“राजा—साधु सचिवाग्रेसर ! साधुः—

श्लाघ्या धीर्धिषण्यस्य रावणवर्श यात. सुराणां पतिः,  
सर्वं वेत्त्युशना रसातलमहाकालान्धकारे बलि ।  
इत्यस्माननपेक्ष्य वैरिविजयप्राप्तौजसो के वयं,  
स्तोतार. स्वयमेव वेत्तु युवयोर्लोकस्तयोश्चान्तरम् ॥”

अत्र वत्सराजस्यामात्याभ्यां प्रियहिताचरणजनिता प्रसत्तिरिति ।

(७) अथ कृति —

[सूत्र ११०]—कृतिः क्षेमम् ।

लब्धस्य परिपालनं क्षेमः । यथा रत्नावल्याम्—

“वासवदत्ता—अद्यत्त दूरे से आदिउल्ल । ता तथा करेसि जधा बहुअणं  
न सुमरेदि । [आर्यपुत्र दूरेऽस्या ज्ञातिकुलम् । तत् तथा कुर्या यथा बन्धुजनं न  
स्मरति । इति संस्कृतम् ] ।”

अनेन लब्धाया रत्नावल्याः स्थिरीकरणम् ।

अन्ये पुनरस्य स्थाने प्राप्तस्य प्रातिकूल्यशमनं द्युतिमाहुः । यथा मुद्राराक्षसे—

“चाणक्यः—अमात्य राक्षसम् । अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राजा—साधु [शाबाश] सच्चिधोमे अग्रगण्य साधु [शाबाश]—

बृहस्पतिकी बुद्धि बड़ी श्लाघनीय मानी जाती है किन्तु [वे जिन इन्द्र के मन्त्री हैं यह]  
इन्द्र [अपने शत्रु] रावणके वशमे फँस गया । [लोग कहते हैं] शुकाचार्य सब-कुछ जानते हैं  
किन्तु [वे जिनके मन्त्री हैं यह] बलि पातालके महाअंधकारमे पड़ा है । इसलिए हमारी अपेक्षा  
के बिना ही वैरी [पाञ्चालराज] पर विजय प्राप्त कर देनेके कारण अपरिमित पराक्रमशील  
आप दोनोंकी प्रशंसा करनेवाला मैं कौन होता हूँ, सत्तर स्वयं ही बुद्धिवाला और उन दोनों  
[अर्थात् बृहस्पति तथा शुकाचार्य] के अंतरको समझते हैं । अर्थात् तुम दोनोंकी प्रतिभा बृहस्पति  
तथा उशना से कहीं अधिक है इसमे कोई सन्देह नहीं है ।”

इसमे [चम्पवान् तथा योगेश्वरामण] दोनों अमात्योके द्वारा किए गए [वैरिविजय  
तथा सागरिका समोजन रूप] प्रिय तथा हितके कारण वत्सराजकी प्रसन्नता [का वर्णन] है  
[अतः यह प्रसाद रूप अङ्गका उदाहरण है] ।

(७) अथ ‘कृति’ [नामक निर्वहणसंधिके सत्तम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ११०]—क्षेमकी कृति कहते हैं ।

प्राप्तकी रक्षा करना ‘क्षेम’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

“वामयदत्ता—आर्यपुत्र ! इस [सागरिका] के घरके लोग [माता पिता] बहुत दूर रहते  
हैं । इसलिए आप ऐसा यत्न करें जिससे इसको बन्धुजनोंकी याद न आवे ।”

इस [वचन] से प्राप्त रत्नावलीकी स्थिर किया जा रहा है । [अतः यह लब्ध-परि-  
पालन रूप ‘क्षेम’ अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [लब्ध-परिपालन रूप क्षेम] के स्थानपर प्राप्तके प्रतिदूषताके शमन  
रूप द्युतिको [अङ्ग] मानते हैं । जैसे मुद्राराक्षसमे—

“चाणक्य—अमात्य राक्षस ! क्या आप चन्दनदासके जीवित [की रक्षा] को चाहते हैं ?

राक्षस—भो विष्णुगुप्त ! कुत सन्देह ।

चाणक्य—अगृहीतशस्त्रेण भवता नानुगृह्यते वृषल इत्यत सन्देह । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते गृह्यतामिदं शास्त्रम् ।

राक्षस—विष्णुगुप्त ! मा भैवम् । अयोग्या वयमस्य । विज्ञेयस्तवया गृहीतस्य ग्रहणे ।

पुनर्नहु प्रशस्य राक्षस चाणक्य आह—

चाणक्य—किमनेन ? भवतः शास्त्रग्रहणमन्तरेण न चन्दनदासस्य जीवितमस्ति ।

राक्षस—नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्सनेहाय । तव गति । एष गृह्यतामि ।”

एतत्फलार्थस्य राक्षसस्य साचिन्त्यग्रहणवामताप्रशमनाद् युति ।

अपरे तु क्रोधादेः प्राप्तस्य शमनं युतिर्भावनन्ति । यथा वेणीसंहारे—

“भीमसेन—राजपुत्रि ! अलं मामवलोक्य त्रासेन—

कृपया येनासि राज्ञा मदसि नृपशुना तेन दुःशामनेन ।

स्त्यानान्येतानि तस्य स्पृश मम करयो पीतशेषाण्यसृज्जि ।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! [इसमें] क्या सन्देह है ?

चाणक्य—शास्त्रकी [मंत्रिपद को] ग्रहण करके आप युष्मत् [अद्विगुप्त] को अनुगृहीत नहीं कर रहे हैं इसलिए सन्देह है । इसलिए यदि सचमुच ही चन्दनदासके जीवनको [बचाना] चाहते हैं तो इस शास्त्र [मंत्रिपद] को स्वीकार करो ।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! न न, ऐसी बात मत करो । हम इसके योग्य नहीं हैं । और विशेषकर तुम्हारे द्वारा ग्रहण किए [शास्त्र या मंत्रिपद] के ग्रहणमें । [हम बिलकुल ही अयोग्य हैं] ।

किर अनेक प्रकारसे राक्षसकी अव्यय प्रशंसा करके चाणक्य कहता है—

चाणक्य—इस सबमें क्या लाभ ? [सीधी सी बात यह है कि] तुम्हारे शास्त्र ग्रहण [मंत्रिपदको स्वीकार] किए बिना चन्दनदासका जीवन नहीं [बच सकता] है ।

राक्षस—[मित्रकी रक्षाके लिए अनिष्ट कार्य भी स्वीकारही करना पड़ता है इसलिए] सब बायोंकी स्वीकार करनेके हेतुभूत मित्र-स्नेहको नमस्कार है । और कोई मार्ग नहीं है । इसलिए इस [मंत्रिपद] को स्वीकार करता हूँ ।

यह प्राप्त हुए राक्षसके सचिव पदके स्वीकार करनेमें विरोधका शमन है इसलिए युति [नामक घण्टा उदाहरण] है ।

अथ सोम तो प्राप्त होनेवाले शोध आदिसे शमनको ‘युति’ कहते हैं ।

जंते वेणीसंहारमें—

“भीमसेन—हे देवि ! मुझको वेगवर डरो मत ।

जिस नरपशु दुःशासनने राजाओंकी सभाके बीच मुझको [पास पकड़कर] खींचा था, उसके, पीनेमें बचे हुए और हाथोंमें जमे हुए इस रक्तको छुकर देखो । और हे प्रिये ! मेरी परास्ते जिसकी जघाएँ तोड़ डानी गई हैं उस प्रजापते की गोशक्ति राजा [दुर्गोप] ने

कान्ते राज्ञः कुरूणामतिसरसमिदं मद्गदाचूणितोरोः,  
अङ्गेऽङ्गेऽसृद् निपिस्त तव परिभवजस्यानलस्यास्तु शान्त्यै ॥”

अत्र भीमेन द्रौपद्याः क्रोधोपशमः ।

तथा रत्नावल्याम्—

“देव श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा । योऽस्या पाणिं  
ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति ।” इत्यादेरारभ्य—

परिज्ञाताया स्वभगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।” इति यावत् ।

अनेन स्वाजन्यावगमात् वासवदत्तायाः सागरिकां प्रति ईर्ष्या-कोपाद्य  
शमनमिति ।

(८) अथानन्द —

[सूत्र १११]—आनन्दो वाञ्छितागमः ।

प्रकारशतैर्वाञ्छितभ्यार्थस्य सामस्येन आगम प्राप्ति, आनन्दहेतुत्वात्  
आनन्दः ।

यथा रत्नावल्याम्—

“वासवदत्ता—[राजानमुपेत्य] अञ्जलत्त पङ्क्तिं पठ ।

[ आर्यपुत्र ! प्रतीच्छताम् । इति मस्कृतम् ] ।

राजा—[इत्थौ प्रमार्थ] को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ?

विदूषक —ही ही भो जयदु भव । य पुहवी इदाणि इत्थे भूद ज्येव पिय-

बिलकुल ताजे रक्तको मेने अपने प्रत्येक अंगमे मला हुआ है उससे तुम्हारे अपमानसे जन्म ताप  
की शांति होगी ।”

इसमे भीम के द्वारा द्रौपदीके क्रोधका शमन है [अतः छुति का उदाहरण है] ।

और रत्नावलीमे—

“हे देव ! सुनिए । इस सिंहलेश्वरकी पुत्रीके विषयमे सिद्धने कहा था कि जो कोई  
इसका पाणिग्रहण करेगा वह सार्वभौम राजा बनेगा ।” यहाँसे लेकर—

“अब पहिचानी हुई अपनी बहिनके विषयमे क्या करना चाहिए इस विषय मे आप  
ही प्रमाण है ।” यहाँ तक ।

इस [प्रसंग] से [रत्नावलीको] अपनी बहिन जानकर सागरिकाके प्रति वासवदत्ताकी  
ईर्ष्या तथा शोधका शमन पाया जाता है [इसलिए यह छुति का उदाहरण है] ।

(८) अब आनन्द [नामक निर्वहणसधिके अष्ट अंगका सक्षण प्रादि करते हैं]—

[सूत्र १११]—वाञ्छित अर्थकी प्राप्ति ‘आनन्द’ [नामक अंग कहलाता] है ।

संक्षेपों प्रकारसे वाञ्छित अर्थात् चाहे हुए अर्थका सम्पूर्ण रूपमे आगम अर्थात् प्राप्ति  
आनन्दका कारण होगेसे ‘आनन्द’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

“वासवदत्ता—[राजाके पास जाकर] आर्यपुत्र ! इस [रत्नावली] को ग्रहण कीजिए ।

राजा—[हाय पँसाकर] देवीके प्रसादका कौन आदर नहीं करता है ? [इसलिए मैं  
देवीका प्रसाद समझकर रत्नावलीको स्वीकार करता हूँ] ।

विदूषक —ही ही भरे आपको विजय हो । [ज्योतिषियोंके कथनके अनुसार रत्नावली

वयस्सस् इति ।

[ही ही भो । जयतु भवान् ननु पृथिवीदानीं हस्ते भूतैव प्रियवयस्यस्य ।

इति संस्कृतम् । ]”

(६) अथ समयः—

[सूत्र ११२]—समयो दुःखनिर्वासः ।

दुःखनिर्गमयुक्तः कालः समय । यथा मृच्छकटिकां चारुदत्तं, पालकस्य राज्ञः आज्ञया बध्यत्वेन चाण्डालगोचरगत, तत्क्षणप्राप्तराज्यस्य आर्यकस्याज्ञया शार्बलिक आह—

“शार्बलिक —अपयात अपयात जाल्माः । [रुद्रं वा सहर्षम्] ध्रियते चारुदत्तः । सह वसन्तसेनया । सम्पूर्णाः खल्वस्मत् स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो ! व्यसनमहार्णवादगाथा—

दुत्तीर्णे गुणवृत्तया सुशीलवत्वा ।

त्वामेव प्रियतमया युतं समीक्षे,

व्योत्सनाद्व्यं शशिनमिबोपरागमुत्तम ।”

अत्र चारुदत्तस्य दुःखापगम इति ।

(१०) अथ परिगृहणम्—

[सूत्र ११३]—अद्भुताप्तिः परिगृहणम् ॥६४॥

का पाणिग्रहण कर लेनेके कारण] अथ समझो कि सारी पृथिवी ही प्रिय वयस्कके हाथमें आ गई ।

इसमें सागरिका रूप धाञ्छित अर्थकी प्राप्ति हो जानेसे राजाको अत्यंत आनन्द हुआ । इस प्रकार यह आनन्द नामक अगका उदाहरण है ।

(६) अथ ‘समय’ [नामक निर्वहणसंधिके नवम अगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११२]—दुःख [के दिनों] का निकल जाना ‘समय’ [बहुलाता] है ।

दुःखके निकल जानेवाला काल ‘समय’ [नामक अग बहुलाता] है । जैसे मृच्छकटिकमें राजा पालककी आज्ञासे बंध जाते योग्य चारुदत्तके आण्डालोंके हाथमें पहुँच जानेपर [साहसा हुई राज्यव्रतिमें ‘पालक’ को हटाकर ‘आर्यक’ के राजा बन जाने पर] उसी समय राज्यके ऐश्वर्य [अर्थात् राजसिंहासन को] प्राप्त करनेवाले ‘आर्यक’ की आज्ञासे ‘शार्बलिक’ कहता है—

“शार्बलिक—हटो आण्डालो हटो । [द्विचर हर्षपूर्वक] शीभाग्यसे अस्तमेनाके सहित चारुदत्त जोधित हैं । अथ हमारे स्वामीके सब मनोरथ पूर्ण हो गए ।

शीभाग्यवश गुणों से परिपूर्ण तथा सुन्दर शील स्वभाववाली [अपनी प्रियतमा वसन्तसेना] के सहित [आर्य चारुदत्त] अपार दुःखसागरको पार कर चुके हैं अथ मैं घट्टाते मुक्त पत्रिकायुक्त चंद्रमाके समान तुमको [भो अपनो] प्रियतमासे युक्त देसना चाहता हूँ ।”

यहां चारुदत्तके दुःखकी समाप्ति हो जानेमें [यह ‘समय’ अगका उदाहरण है] ।

(१०) अथ ‘परिगृहण’ [नामक निर्वहणसंधिके दशम अगका लक्षण आदि करते हैं] ।

[सूत्र ११३]—अद्भुत अर्थकी प्राप्ति ‘परिगृहण’ [बहुलाता] है ।

विस्मयस्थायिभावात्मकस्य अद्भुतरसस्य प्राप्तिरुपगृह्यन्म् । यथा रामाभ्युदये  
रामेण प्रत्याख्याता सीता ज्वलनं प्रविष्टा । तदनन्तरं—

नेपथ्ये कलकलः—

धूमत्रात वितानीकृतमुपरि शिलादोर्भिरभ्रंलिहामैः,  
विभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामूरवं च ।  
भुयस्तेजः प्रवानैर्विरहमलिनतां चालयन्नङ्कुभाजो,  
देव्याः सप्तचिराविर्मवति विफलयन् वाञ्छितवान्यन्तकस्य ॥”

ततः प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय बह्वि । सर्वे द्रष्टुं वा मसम्भ्रममुत्थाय  
आश्चर्यं आश्चर्यम् । नमो भगवते हुताशनाय इति प्रणमन्ति ।”

अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनात् अद्भुतप्राप्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

“मध्येऽम्भोधि बभूव विंशतिभुजं रक्षो दशास्यं पुन-  
स्तत् पाताल-मही-त्रिविष्टपभट्टाश्चक्राम दौर्विक्रमैः ।  
मर्त्यग्नयः पुनर्मृणालतुलया चिच्छेद कण्ठाटवीं,  
वैराग्यस्य च विस्मयस्य च पदं रामायणं वर्तते ॥

विस्मय जिसका स्थायीभाव है इस प्रकारके अद्भुत रसकी प्राप्ति 'परिग्रह' [कह-  
लाता] है । जैसे रामाभ्युदये रामके द्वारा [प्रत्याख्यान अर्थात्] अस्वीकार कर दिए जानेके  
बाद सीता अग्निमें प्रविष्ट हो जाती है । उसके बाद—

“नेपथ्यमें कोलाहल [और उसके साथ निम्न वचन सुनाई देते हैं]—

आकाशकी धुम्बन करनेवाली ज्वालाएँ बाहुओंसे धूमसमूहकी वितान बनाकर,  
छाती पर चमकते हुए रत्नकी तथा मृगचर्मकी धारण किए हुए अपने तेज समुदायके द्वारा  
सीतादेवीके विरहकी मलिनताको दूर करते हुए से गोदमें बैठी हुई सीतादेवीकी विरहजय  
मलिनताको दूर करते हुए बह्मिदेव कालके मनोरथको विफल करके [सीता सहित] प्रकट हो  
रहे हैं ।

उसके बाद सीताको लिए हुए, पटाक्षेपसे बह्मिदेव प्रविष्ट होते हैं । सब लोग बेलकर  
आवरपूर्वक खड़े होकर—आश्चर्य है, आश्चर्य है । भगवान् अग्निदेवको नमस्कार है ! यह  
बह्मकर प्रणाम करते हैं ”

यहाँ अग्निमें प्रविष्ट हुई सीताके फिर जीवित हो जानेसे अद्भुत रसकी प्राप्ति है  
[अतः यह 'परिग्रह' नामक अगका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे रघुविलासेमें—

“यौत भुजाग्रौ और दश निरौं बाला राक्षस [रावण] समुद्रके बीचमें था किन्तु  
उसने भुजाग्रोंके बलसे पाताल, पृथिवी और स्वर्ग सबको धावात कर लिया था । फिर एक  
मनुष्यने उसके बन्धोंसे समुदाय को भृणालसे समान [अनायास ही] बाट डाला । इस प्रकार  
रामायण [सत्तरके बल वैभव आदि की धर्मताको विलसतानेके कारण] वैराग्य और विस्मय  
स्थान है ।”

[यहाँ भी अद्भुत रसका वर्णन होनेसे 'परिग्रह' अङ्ग माना जाता है] ।

पुष्पदूतिके तु निर्णयवर्जितानि सन्ध्यादीन्यंगानि परिगृह्णान्तानि पर्वरि-  
न्नेव श्लोकं दृश्यन्ते । तथाहि—

‘समुद्रदत्त — स्वप्नोऽयं ।

सेनापति — न हि !

समुद्रदत्त — विभ्रमो नु मनसः ? [१ सन्धि ]

सेनापति — शान्तम् ।

समुद्रदत्त — तदेवा त्रया । [२ निरोध ]

सेनापति — जाया ते । [ ३ प्रथमम् ]

समुद्रदत्त — रुथमङ्कुशालतनया ? [४ परिभाषणम् ]

सेनापति — पुत्रस्तवाय ।

समुद्रदत्त — मृषा । [५ श्रुति ]

सेनापति — आसम्बाय न एष वेत्ति नियतं सम्बन्धमेतद्गतम् । [६ प्रसाद ]

समुद्रदत्त — येनैतद् घटितं विमन्धि [७ आनन्द ]

सेनापति — विधिना । [८ समय ]

समुद्रदत्त — [सुतरूप दृष्ट्वा] सर्वं समायुज्यते । [९ परिगृह्यनम् ] इति । ६४।

पुष्पदूतिकमें तो [निर्वहणसधिके अथ तत्र वर्णित इन दस अङ्गोंमेंसे] एक निर्णय  
को छोड़कर सधिसे लेकर परिगृह्यन पर्यंत [ नौ अङ्ग ] एक ही श्लोकमें लिखताई मिले हैं ।  
जैसे—

‘समुद्रदत्त—क्या यह स्वप्न है ?

सेनापति—नहीं ।

समुद्रदत्त—तो क्या मनका भ्रम है ? [यहाँ तब सधि नामक प्रथम अङ्ग हुआ]

सेनापति—नहीं-नहीं [सातम्] ।

समुद्रदत्त—तो क्या यह सज्जा है ? [यह निरोध नामक द्वितीय अङ्ग हुआ]

सेनापति—यह घापकी स्त्री है । [यह प्रथम नामक तृतीय अङ्ग हुआ]

समुद्रदत्त—तो इसकी गोदम छोटा धक्का कैसे है ?

[यह परिभाषण नामक चतुर्थ अङ्ग हुआ]

सेनापति — यह घापका पुत्र है ।

समुद्रदत्त — भूठ ! [यह पाँचवाँ श्रुति नामक अङ्ग हुआ]

सेनापति — [इस पुत्रके] ग्रहण करनेके लिए यह निश्चय ही इसके साथ अपने सम्बन्ध  
को नहीं जानता है । [यह छठा प्रसाद अङ्ग हुआ]

समुद्रदत्त — इस दूटे सम्बन्धको किसने जोड़ दिया ? [यह सातवाँ आनन्द अङ्ग है]

सेनापति — देखने । [यह आठवाँ धन समय हुआ]

समुद्रदत्त — [पुत्रके रूपको देखकर] सब कुछ हो सक्ता है ।

[यह परिगृह्यन नामक नवम धन हुआ]

इस प्रकार एक ही श्लोकमें निर्वहण सधिसे नौ अंगोंका इकट्ठा समावेश इस श्लोकमें  
लिखताया गया है । इसीरूपसे इन सबकादको इस प्रकार लिखा जायगा—



(११) अथ भाषणम्—

[सूत्र ११४]—भाषणं सामदानोक्तिः ।

साम्नो वचनं ददतश्च वचनम् । आभ्यामुपलक्षणपरस्वात् प्रियं हित च गृह्यते ।

“यथा मृच्छकटिक्याम्—आर्यकराजाज्ञया शार्वलिकश्चारुदत्तमाह—

त्वद्यानय समारुह्य गतस्ते शरणं पुरा ।

पशुवद् वितते यज्ञे इतस्तेनाद्य पालक ॥

चारुदत्त—शार्वलिक ! किं योऽसौ राज्ञा पालकेन घोषाढानीय निष्कारण कूटागारे बन्धने बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ?

शार्वलिक—सत्यम् । सिंहासनाधिरोहे अनुष्ठितमात्रे च तेन तव सुहृदा राज्ञा आर्यकेण उज्जयिन्या च वेलावटे तुभ्य राज्यमतिस्तृप्तम् । तत् प्रतिभान्यतां प्रथमं सुहृत्प्रणय । [पुनर्वसन्तसेनामाह] आर्ये वसन्तसेने ! राजा तवोपरि तुष्टो भवती बधूशब्देन अनुगृह्णाति ।

वसन्तसेना—अज्ज सत्त्वलिय कयत्थ म्हि ।

[आर्य शार्वलिक ! कृतार्थारिम । इति संस्कृतम् ] ।

[पुनश्चारुदत्तमाह—आर्य ! किमस्य भिक्षो क्रियताम् ?

स्वप्नोऽयं, न हि, विभ्रमो नु मनसः, शान्त, तद्देवा व्रपा

जाया ते, कथमरुबालसनया, पुत्रस्तवाय, मृषा ।

आलम्बाय न एष वेत्ति नित्यं सम्यन्धमेतद्गतम्

केनैतद् घटितं विसन्धि, विधिना, सर्वं समायुज्यते ॥६४॥

(११) अथ ‘भाषणं’ [नामक निर्वहणसधिके ग्यारहवें अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११४] साम-दानके वचन ‘भाषणं’ [कहलाते] हैं ।

सामका वचन और वेते हुए [दान] का वचन [भाषण कहलाता है] । इनके उपलक्षणमात्र होनेसे इनसे प्रिय तथा हित [वचनका ग्रहण होता है] । जैसे मृच्छकटिकमें आर्यक राजाकी आज्ञासे शार्वलिक चारुदत्तसे कहता है—

‘जो तुम्हारे रूपपर चढ़कर [राजा बननेसे पहिले छिपनेके लिये] तुम्हारी शरणमें आया था उस [आर्यक] ने [पहिले राजा] पालकको विस्तृत यज्ञमें पशुके समान मार डाला ।

चारुदत्त—शार्वलिक ! क्या जिसको राजा पालकने शहीदों की बस्ती में लाकर बिना कारण ही तहखानेमें बंद कर दिया था उस आर्यकको तुमने छुड़ा दिया ।

शार्वलिक—हाँ [ठीक है] । और सिंहासन पर बैठनेके साथ ही तुम्हारे उस मित्र राजा आर्यकने उज्जयिनीमें वेलाके किनारे तुम्हें राज्य प्रदान किया है । इसलिए मित्रकी इस प्रथम इच्छाको स्वीकार करो ।

[फिर वसन्तसेनासे कहता है] आर्ये वसन्तसेने ! राजा तुम्हारे ऊपर प्रमन होकर तुमको बधू पद [अर्थात् चारुदत्तकी बधू पद] से सम्बोधित करते हैं ।

वसन्तसेना—आर्ये शार्वलिक ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

चारुदत्तः—भिक्षो ! किं तव बहुमतम् ?

भिक्षु—अणिञ्चत्तणं पेक्किय पन्वजा बहुमाणे मंभुत्ते ।

[अनित्यत्वं प्रेक्ष्य प्रश्नज्यावद्दुमानः संवृत्तः] ।

चारुदत्तः—सखे वृष्टोऽस्य निश्चयः । तन् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपति-

क्रियताम् ।

शार्चलिकः—एवमेतम् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः ।

वसन्तसेना—मंपदं जीविद् म्हि ।

[साम्प्रतं जीवितारिम् । इति संकृतम्] ।

शार्चलिकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारुदत्तः—मुभृत्योऽयमदासोऽभु ।

शार्चलिकः—एवं, यथा आह आर्यः ।"

अत्र माम्ना दानेन अन्यैश्च प्रियद्वितैरुक्ति । अनयोः पृथगप्युक्तिनिवृत्त्येते ।

इदमप्यङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।

(१२) अथ पूर्वभावः—

[यत्र ११५]—प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।

यथा रत्नायक्याम्—

"योगन्धरायणु—एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवा प्रमाणम् ।

[शार्चलिकः]—[किं चारुदत्तगे कृता है] सार्व ! इम भिक्षुवा क्या किया जाय ?

चारुदत्त—हे भिक्षो ! कहिए आप क्या चाहते हैं ?

भिक्षु—[संतारकी] अनित्यताको देखकर मुझे खराब हो गया है ।

चारुदत्त—हे मित्र ! इसका यह निश्चय हट्ट है । इसलिये पृथिवीके सब विहारोंका

इसको कुलपति बना दो ।

शार्चलिक—यह ठीक है ऐसा ही होगा ।

चारुदत्त—यही हूँ प्रिय है ।

वसन्तसेना—अब मैं जीवित हूँ [अब मेरी जानमें जान आई] ।

शार्चलिक—स्थावरकका क्या किया जाय ?

चारुदत्त—इस उत्तम मेवकको शमताने मुक्त कर दो ।

शार्चलिक—जैसा धार्य करते हैं वेंगा ही होगा ।

इसमे सामने, दानमे और धर्म्य प्रचारमे प्रिय उत्पत्ति है । इन दोनोंका धर्म्य धर्म्य कथन भी किया जाता है । इस धर्मको भी धर्म्य ही निबद्ध करना चाहिए ।

(१२) अब "पूर्वभाव" [नामक निबन्धनादिसे चारुदत्त व्यङ्ग्य लक्षण धारि करने है]—

[यत्र ११५]—सार्व [धर्म्य मुक्त कथ] का दर्शन [करना या करना] प्राग्भाव

[या पूर्वभाव कहनाता] है । जैसे रत्नायकी में

"योगंधरायणु—इस सबको जानकर अब इसको अतिरिक्त क्या करना चाहिए इसमे धार्य ही प्रमाण है ।

वासवदत्ता—फुडं य्येव किन्न भणसि पडिवाहेदि से रयणमालं ति ।

[स्फुटमेव किन्न भणसि प्रतिपादयाम्भै रत्नावलीमिति ।

इति संस्कृतम् ।]

अत्र 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये—

"युधिष्ठिरः—देव ! कृष्णोऽयं भारतार्धचक्रवर्ती नवमो वासुदेव इति मुन्मः शंसन्ति ।

समुद्रविजयः—जाने भारतार्धराज्ये कृष्णमभिषेक्तुं मामुत्साहयति महाराजः ।

युधिष्ठिरः—एतदेव देवस्य जरासन्धचधप्रयासफलम् ।" इति ।

अत्र युधिष्ठिराभिमतं कृष्णराज्याभिषेककार्यं समुद्रविजयेन दर्शितम् ।

मुखसन्ध्याद्युक्तवाक्यसदृशवाक्यदर्शनम् पूर्ववाक्यं अगमस्य स्थाने केचिदामनन्ति ।

यथा मुद्राराक्षसे—

"चाणक्यः [पुरुषं प्रति]—इदं च चक्रवर्त्यो विजयो दुर्गपालः । अमात्यराक्षसदर्शनप्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापति, विना हस्तिभ्यः क्रियतां सर्वधन्धनमोक्ष इति । अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्तिभिः प्रयोजनम् ?

वासवदत्ता—स्पष्ट रूपसे क्यों नहीं कहते हो कि रत्नावली इन [उपवन] को दे दो ।"

यहाँ यौगन्धरायणके अभिप्रायके भीतर अनुप्रविष्ट 'रत्नावलीको वत्सराजको दे दो' इस [मुद्ध्य] कार्यका वासवदत्ताके द्वारा वर्णन है [अतः यह पूर्वभावका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—

"युधिष्ठिर—देव ! मुनि लोग कहते हैं कि वसुदेवके नवम पुत्र यह कृष्ण भारतके आधे भागके चक्रवर्ती राजा होंगे ।

समुद्रविजय—जान पड़ता है कि कृष्णको आधे भारतके राज्यपर अभिविक्त करनेके लिए महाराज मुझको उत्साहित कर रहे हैं ।

युधिष्ठिर—यही आपके जरासन्धके वध करानेके प्रयासका फल है ।"

यहाँ युधिष्ठिरके अभिमत कृष्णके राज्याभिषेक कार्यको समुद्रविजयने दिलाया है [इसलिए यह पूर्वभाव अङ्गका उदाहरण है] ।

कुछ लोग इस [पूर्वभाव अङ्ग] के स्थानपर मुखसन्धि आदिमे कहे गए वाक्यके सदृश वाक्यके [पुनः] दर्शन रूप पूर्ववाक्य नामक अङ्गको मानते हैं ।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

"चाणक्य—[पुरुषके प्रति] और दुर्गपाल विजयसे यह भी कहो कि अमात्य राक्षसके दर्शनसे प्रसन्न हुए देव चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथियोंको छोड़कर शेष सभी बंधन वालों को मुक्त कर दो । अबवा अमात्य-राक्षसके नेता हो जाने पर अब हाथियोंकी भी क्या आवश्यकता है ?

विना बाह्यनपोताभ्यां मुच्यतां सर्ववन्धनम् ।

पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिरसा ॥”

अत्र मुखे यदुपक्षिप्तम्—“बध्य. को नेच्छति शिरसां मे” इति तदेव भव्यन्तरेण उपन्यास्यतामिति ।

उद्देशोक्तसङ्गातः संज्ञान्तरेण यत्प्रवृत्तविधानं सर्वत्र तच्छब्दोपनिरोधादिति ।  
(१३) अथ काव्यसंहारः—

[सूत्र ११५]—वरेच्छा काव्यसंहारः ।

ईप्सितं दातुमभिलाषो वरेच्छा । तज्जनितो भूयः किं ते प्रियमुपकरोमि’ इति प्रश्न इत्यर्थः । स च प्रहीतरि अप्रतीच्छति, प्रतीच्छति च सम्पादयितुं भूयः सीमिच्छां दर्शयितुं निबध्यते । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्राप्नुतं बाध्यमेव सद्बध्यते इति ‘काव्यसंहारः’ ।

यथा ‘कृत्याशयणे’ सीतारक्षणे रामस्य प्रिये हिते च महति कर्मणि कृतंऽपि अमनुष्यन् अग्निराह—

बाह्य तया पोत [जहाज] को छोड़कर अन्य सबके बंधनोंको तोल दिया जाय । प्रतिष्ठापूर्ण हो जानेके कारण केवल मे घब अपनी चोटी को बाँधता हूँ ।”

इसमें मुलसंधिमें जो यह जो कहा था कि ‘बधने योग्य बोन धरित मेरी शिराको बधने नहीं देना चाहता है’ उसीको प्रकारांतरसे फिर कहा गया है [इसलिए यह पूर्वबाध्य रूप धृक्का उदाहरण है] ।

निर्वहण-सन्निवे चौदह श्रगोवे नाम गिनाते समय पूर्वभाव नामसे बारहवें श्रगवा निर्देश दिया गया था । ‘प्राग्भाव’ नामसे बिसी श्रगवा उत्प्रेग उद्देग-नारिकाश्रीम नहीं किया गया था । किन्तु यहाँ सशण करने समय ‘पूर्वभाव’ का सशण न करने ‘प्राग्भाव’ का सशण किया गया है । यह ‘प्राग्भाव’ ‘पूर्वभाव’ का ही दूसरा नाम है । इसीसे ‘पूर्वभाव’ शब्दका प्रयोग छद्मकी दृष्टिसे ठीक नहीं बैठता था इसलिये प्रयत्नकरने उनसे स्थानपर ‘प्राग्भाव’ शब्दका प्रयोग कर दिया है । इसी बातको प्रयत्नकर श्रगमी पक्षिमें निगने ?—

उद्देश [बास] की मत्ताको छोड़कर अन्य नामसे सशणका कथन करना सर्वत्र उद्देशे अनुरोपते दिया गया है ।

(१३) अब ‘काव्यसंहार’ नामक निर्वहणसंधिके तैरहवें धृक्का सशण धारि करते हैं—

[सूत्र ११५] वर [प्रदान करने] की इच्छा काव्यका उपगृह [बहसना] है ।

अभीष्ट करने प्रदान करनेका अभिलाष वरेच्छा [बहसना] है । उससे उत्पन्न ‘गुहारा प्रीर कोनता प्रिय बायें बह’ इस प्रकारका प्रश्न [काव्यसंहार बहसना है] यह अभिप्राय है । वह (१) गृहीतारे द्वारा ग्रहण न करनेपर प्रीर (२) प्रपञ्चा रबीकार करने पर देनेवानेकी प्रीर अधिष्ठ इच्छाकी दित्तमानेके लिए [को बहसनामें] निबद्ध किया जाता है । उस [वर प्रदानके] होनेके बाद समस्त कामनाओंके पूर्ण हो जानेके बाध्य हो समाप्त हो जाना है इसलिये [इसको] ‘काव्यसंहार’ [कहा जाता] है ।

जैसे कृत्याशयमें रामके प्रिय तथा हिन सीतारक्षण रूप मरान् बायेंके वर बुद्धनेपर

“अग्निः—वत्स ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

रामः—भगवन् ! अतः परमपि प्रियमस्ति ? इति ।”

यथा वा ‘यादवाभ्युदये’—

“युधिष्ठिर—देव ! किमतः परं प्रार्थ्यते यदनाम ?

समुद्रविजयः—[ साश्चर्यम् ] किमतः परमपि प्रार्थनीयमस्ति ?

त्रातो घोषभुवां विधृत्य मधुजित्, कंसः क्षयं लम्बितः,

सम्प्रत्येव विनिर्मितं मगधभूमर्तुः कबन्धं वपुः ।

पादाक्रान्तमजायतार्धभरत् तद् ब्रूहि नः किं परं ?

श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुनरप्याशास्महे यद्वयम् ॥”

अनयोरप्रतिगृहीते वरे काव्यसंहारः ।

तथा इन्दुलेखायां नाटिकायां राक्षी नायिकाभिन्दुलेखामाह—

“ईदिसीए तुह इमाए कुलागुसरिसीए शीलसंपत्तीए संमुहीऊदरस मे ह्रिद-  
यस उववन्नो य्येव समुचिदाए पडिबत्तीए अय अवसरो, ता मम य्येव पिय वरिती  
वरेसु जं ते समी ह्रिदं ।

[ ईदृश्या तवानया कुलानुसदृश्या शीलसम्पत्त्या सम्मुखीकृतस्य मे हृदयस्य  
उपपन्न एव समुचितया प्रतिपत्त्या अयमवसरस्तत् समैव प्रियं कुर्वन्ती वृणुष्व यन्ते  
समीहितम् । इति संस्कृतम् ] ।

नायिका—ईदिसस देवीपसायस न दाव अधियं सरिसं कि पि भविसदि,  
जं वरइरसं । तथा वि को देवीए पसादाए पञ्जतकामो ? ता पियदंसण मे  
पसादीकरेदु देवी ।

भी सतुष्ट न होकर अग्नि [रामसे] कहता है—

“अग्नि—वत्स ! कहो तुम्हारा और क्या प्रिय कहे ?

राम—भगवन् ! क्या इससे भी अधिक प्रिय हो सकता है ।”

[यह वरको स्वीकार न करनेके रूपमें ‘काव्यसंहार’की रचना की गई है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—

“युधिष्ठिर—देव ! यदुवशिष्योकेलिए इससे अधिक और क्या चाहते हैं ?

समुद्रविजय—[ आश्चर्य-सहित ] क्या इससे भी अधिक प्रार्थनीय हो सकता है ?

अहीरोके यहाँ रखकर कृष्णकी रक्षा कर लो, कसका नाश कर दिया और अभी  
भगधराज [जरासभ] के शरीरको [सिर काटकर] कबध [घडमात्र] बना दिया, प्राधा भारत  
देश अपने अधीन हो गया, तो हे पाण्डवराज ! बतलाइए कि इससे अधिक और क्या कल्याण  
हो सकता है जिसकी हम कामना करें ?”

इन दोनों [उदाहरणों] में वरके स्वीकार न करनेमें ‘काव्यसंहार’ हुआ है ।

और इन्दुलेखा नाटकमें रानी नायिका इन्दुलेखासे कहती है—

“रानी—तुम्हारी अपने कुलके अनुरूप इस प्रकारकी शील सम्पत्तिसे प्रसन्न हुए मेरे  
हृदयमें उपयुक्त विश्वाससे यह अवसर प्राप्त हुआ है इसलिए मेरे ही प्रिय कायोंकी करती हुई  
जो तुम्हारी इच्छा हो वह वर माँग लो ।

[ ईदृशस्य देवीप्रसादस्य न तावदधिकं सदृशं किमपि भविष्यति यद्वरिष्यामि । तथापि को देव्याः प्रसादानां पर्याप्तममः ? तत् प्रियदर्शनां मे प्रसादीव रोतु देवी । इति संस्कृतम् ] ।

राज्ञी—घाटं पडिवादिदा ।

[ घाटं प्रतिपादिता । इति संस्कृतम् ] ।

नायिका—महंसो पसादो । [स्वगतम्] सपत्नं पमज्जय भुजिस्सभावं पिय-  
दंसणाए इच्छा-गुरुच-नेहस्स अणुसरिस्सं चवहरिस्सं ।

[ महान प्रसादः । साम्प्रतं प्रमार्ज्य भुजिष्यभार्थं प्रियदर्शनाया इच्छा-गौरव-  
स्नेहस्यानुमदशो घ्यचहरिष्ये । इति संस्कृतम् ] ।

अत्र घरम्य प्रतिग्रहः । इति ।

इदमङ्गमवश्यं नियन्धनीयं प्रशस्तिनान्तरीयकत्वादिति ।

(१४) अथ प्रशस्तिः—

[ सूत्र ११६ ]—प्रशस्तिः शुभशंसना ॥ ६५ ॥

. जगतः कल्याणशंसना प्रशस्तिः । तच्च नायकस्तद्व्यो वा पठति । यथा  
कृत्यारावणे—

“रामः—तथापीदमस्तु—

यथार्यं मम सम्पूर्णं श्रित्तिताथो मनोरथः ।

एवमभ्यागतो रङ्गः सर्वपापैः प्रमुच्यताम् ॥

अपि च—

नायिका—इस प्रकारके देवीके प्रसादसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता है जिसका मैं बरण करूँ । फिर भी देवीके प्रसादसे किसीकी तृप्ति होती है इसलिये [ मैं यह बर माँगती हूँ कि ] देवी प्रियदर्शनाकी मुझे प्रसाद रूपसे प्रदान करें ।

राज्ञी—अच्छा दे बी ।

नायिका—बड़ी कृपा है । [ अपने मनमें ] अब प्रियदर्शनावे दासीभावको दूर करके [ उससे साथ उत्तरी ] इच्छा, गौरव और स्नेहके अनुत्प [ इसके साथ ] व्यवहार करूँगी । ”

इसमें बरकी स्वीकार किया गया है ।

इम [ काव्यसंहार रूप ] अङ्गकी [ अगले ] प्रशस्ति [ नामक अङ्ग ] में अविनाभूत होनेके कारण अवश्य पठित करना चाहिए ।

(१४) अथ ‘प्रशस्ति’ [ नामक निबंहुलसमिचे चौदहवें अङ्गका लक्षण आदि करते हैं ]—

[ सूत्र ११६ ]—कल्याणकी कामना प्रशस्ति [ कल्याणो ] है ।

सत्कारके कल्याणकी कामना ‘प्रशस्ति’ [ कहलाती ] है । उसको नायक अवका कोई अन्य [ पात्र ] पढ़ता है । जैसे कृत्यारावणमे—

“राम—फिर भी यह हो कि

जित प्रकार विचारित अर्थके विषयमे मेरा यह मनोरथ पूर्ण हुआ इसी प्रकार [ नाट्यावलीकथार्थ ] आए हुए सब सामाजिक सब प्रकारके दुर्गों [ पापों ] मे मुक्त हो जाये ।

और भी—

निरीत्यः प्रजाः सन्तु सन्तः सन्तु चिरायुषः ।

प्रथन्तां स्वयः काव्यैः सम्यग् नन्दन्तु मातरः ।”

यथा वा यादवाभ्युदये—

“युधिष्ठिरः—तथापि किमपि ब्रूमो वयम्—

कल्याण भूर्भुवः स्वः प्रसरतु, विषदः प्रक्षयं यान्तु सर्वाः,

सन्त श्लाघा भजन्तामपचयमयतां दुर्मतिदुर्जनानाम् ।

धर्मं पुष्पातु वृद्धिं सख्ययदुमन कौरवा रामचन्द्र,

प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मुदमथ बहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः ॥”

इयं यावश्यं निबन्धनीया । तथा इतिवृत्तान्तभूता चेयम् । तेनारया पृथग्-  
गणने चतुःपट्टिरपि अङ्गसंख्या भवति ।

सन्धि-निरोध मथन - पूर्वभाव - काव्यसंहार - प्रशस्तिभ्योऽन्यांगानां शेष-  
सन्धिष्वपि कार्यवशतो निबन्धः । अत्रापि च स्वेच्छया नियोगः । एतानि निर्वहण-  
सन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि ।

सर्वसन्धीनां चाङ्गानि इतिवृत्ताविच्छेदार्थमुपादीयन्ते । इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च  
रसपुष्ट्यर्थः । विच्छेदे हि स्थाव्यादेश्चाटितस्त्वान् कुतस्त्यो रसाम्बादः ? ततो रस-  
विधानैकतानचेनम कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदंगमुज्जृम्भते, तदेवोपनिबद्धं स्वरूपानां

प्रज्ञागण [अतिवृष्टिरनावृष्टिः मूषका शलभाः शुभाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः पडेता  
ईतयः स्मृताः ॥ इन छः प्रकार की] इतियोसे रहित हो, सज्जन लोग चिरायु हों और कवि-  
गणोंके काव्योंकी अभिवृद्धि हो, तथा माताएँ पूर्णरूपसे भ्रान्तित हो । [यह जगतकी कल्याण  
कामना प्रशस्ति कहलाती है] ।”

अथवा जैसे यादवाभ्युदये—

“युधिष्ठिर—फिर भी हम कुछ कहते हैं कि—

भू भुव स्व [सब लोको] में कल्याणका प्रसार हो, सारी विपत्तियोंका विनाश हो,  
सज्जन पुत्रोंकी प्रशंसा हो, और दुर्जनोंकी दुर्मतिका ह्रास हो, धर्म वृद्धिको प्राप्त हो, सब  
यादवोंके मनोरूप कौरवोंकी आत्मादित बरनेवाले चन्द्रके समान यादवेन्द्र स्वातन्त्र्य लक्ष्मीकी  
प्राप्त कर चिरस्थायी भ्रान्तिको प्राप्त हो ।”

इस [प्रशस्ति नामक अङ्ग] की रचना अवश्य ही करनी चाहिए । और यह कथावस्तु  
के अन्तर्गत भी होनी है इसलिए इसकी गणना न करनेपर [ पूर्वोक्त ६५ अङ्गोंके स्थानपर  
केवल ] अङ्गों की संख्या केवल चौंसठ रह जाती है ।

[निर्वहणसधिके] १ सधि, २ निरोध, ३ मथन, ४ पूर्वभाव, ५ काव्यसंहार और  
६ प्रशस्ति, इन [छ] अङ्गोंको छोड़कर अन्य अङ्गोंका कार्यवशसे शेष सधियोंमें भी प्रयोग हो  
सकता है । और यहाँ [अर्थात् निर्वहण सधिये] भी अपनी इच्छाके अनुसार प्रयोग हो सकता  
है । ये चौदह निर्वहणसधिके अङ्ग हैं ।

सभी सधियोंके अङ्ग कथाभागके अविच्छेदके लिए हो निबद्ध किए जाते हैं । और  
कथावस्तुका अविच्छेद रसकी परिपुष्टिके लिए होता है । [कथावस्तुका] विच्छेद हो जानेपर  
तो स्वाभिभाव आदिका भी विच्छेद हो जानेसे रसका आस्वादन कैसे हो सकेगा ? इसलिए

हृदयमानन्दयति । अङ्गानि च स्वाधि-विभावानुभाव व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि । अमीषा च स्वमन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्ध । योग्यता च रसनिवेशक-व्यवसायिन प्रबन्धकत्रयो विदन्ति, न पुन शब्दार्थप्रयनवैचित्र्यमात्रोन्मिद्विषयो मुक्तकवय ।

तेन एकमप्यङ्ग रसपोषकत्वादेकस्मिन्नपि सन्धौ द्विरित्रां निबध्यते । यथा वेणीसहारे सम्फट-चित्रां पुन-पुनर्दर्शितौ वीर-रौद्ररसावुदीपयत । रत्नावल्या च विलास पुन-पुनरुक्त शृङ्गारमुल्लासयति । अत परमपि निबन्धस्तु वैरस्यमा-यद्गतीति ।

तथागद्वयेन माध्य यथा एकनैव सिद्धयति तदेकमेव निबध्यते । यथा श्री-भीमदेवसूतो वसुनागस्य कृनौ प्रतिमानिरुद्धे परिकरार्थस्य उपक्षेपेणैव गतत्वान् न तन्निबन्ध ।

एवमगत्रेणापि । यथा भेज्जलविरचिते राधाविमलम्भे रासकाये परिकर-परिन्यासयोरुपक्षेपेणैव गतत्वान्न तन्निबन्ध । एव परस्परान्तर्भावे चतुर्गद्गोऽपि क्वापि मन्थिर्भवति ।

रसके विधानमे ही सर्वात्मना संगे हुए कविये अन्य प्रयत्नकी अपेक्षाके बिना [स्वाभाविक रूप से] जो अङ्ग उद्भूत होना है उसकी रचना ही सहृदयोंको आनन्द प्रदान करती है [कृत्रिम रूपसे प्रयत्नपूर्वक सन्निविष्ट अङ्गोंकी रचना उस प्रकार आह्लाददायिनी नहीं होती है] । अङ्ग स्वाधिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि रूप होते हैं । इनका अपनी सन्धिमे [अर्थात् जित जित सन्धिमे उनके नाम गिनाए गए हैं उस-उस सन्धिमे] तथा अन्य सन्धियोंमे योग्यताके कारण ही सन्निवेश किया जाता है, और उनकी योग्यताको बेचल रसका सन्निवेश करनेमे सत्पर प्रबन्ध काव्योक्ति निर्माता कवि ही समझते हैं । केवल शब्द और अर्थकी रचना वैचित्र्यसे ही उत्पन्न हो जानेवाले मुक्तक [निर्गता] कवि नहीं समझ सकते हैं ।

इसलिए [अर्थात् योग्यता के आधारपर ही] रसका परिपोषण होनेपर एक ही अङ्ग एक ही सन्धिमें दो या तीन बार भी निबद्ध किया जाता है । जैसे बेणिसहारेमें सम्फट तथा विद्रव अङ्गोंके बार बार प्रदर्शित किए जाकर और तथा रौद्र रसको पुष्ट कर रहे हैं । और रत्नावलीमे विलास नामक अङ्ग बार बार निबद्ध होकर शृङ्गाररसको परिपुष्ट करता है । इससे अर्थ [अर्थात् जहाँ तक इससे रसका परिपोषण होता है इससे अर्थ या शै-लीन बार से अधिक] रसनेपर तो विरसताकी प्रकट करनेवाला हो जाता है [इसलिए किसी अङ्गका आर्षाधिक सन्निवेश नहीं करना चाहिए] ।

[इससे विपरीत] जब दो अङ्गोंके द्वारा साध्य कार्य एक ही अङ्ग द्वारा हो सकता हो तब एक हीकी रचना की जानी है । जैसे श्री भीमदेवके पुत्र वसुनागकी प्रतिमानिरुद्ध रचनामे [मुगलविजे] परिकर [अंगके] के अङ्गकी उपभोग [अंग] के द्वारा ही मिटि हो जाने से उस [परिकर] की असंग रचना नहीं की गई है ।

इसी प्रकार तीन अंगोंके द्वारा साध्य कार्य जब एक ही अंग द्वारा मिट हो सकता है तब उस अंगके अनिवार्य दो अंगोंकी रचना नहीं की जानी है । अने भोजन विरचित राधाविमलम्भ नामक शालांशमे परिकर तथा परिणाम [इन दो अंगों] के उपभोगके द्वारा



अत्रान्तरे च केचिदेकविंशतिं सन्त्यन्तराणि स्मरन्ति—

साम भेदस्तथा दण्डो दान च वध एव च ।

प्रत्युत्पन्नमतिर्वं च गोत्रस्तलितमेव च ॥

साहसं च भयं चैव भी र्माया क्रोध एव च ।

श्रोज सवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्वधारणम् ॥

दूतो लेखस्तथा स्वप्नश्चित्रं मद इति स्मृत । इति ।

एषु च केषाचित् सामादीना स्वयमंगरूपत्वात्, केषाचिन्मत्यादीना व्यभिचारिरूपत्वात्, दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपत्वात्, अन्येषामुपलक्षेपाद्यन्तर्भावान्न त पृथग् लक्षण-प्रयासः । तथाहि गर्भसन्धौ साम-दानादिरूपसंग्रहोऽङ्गम् । मत्यादयो व्यभिचारिषु लक्ष्यिष्यन्ते । दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपता दृश्यते । तथा उदात्त राघवे हेत्वधारणात्मा उपलक्षेप । प्रतिभानिरुद्धे स्वप्नरूप । रामाभ्युदये मयात्मा । बेणीसहारे क्रोधात्मा । एवमन्येष्वप्यनेष्वन्तर्भाव कीर्तनीय इति ॥६५॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिताया

स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविधृतौ नाटकनिर्णय प्रथमो विवेक ॥ १ ॥

गताथ हो जानेसे उन दोनोंकी रचना नहीं की गई है । इस प्रकार एक दूसरेके भीतर प्रश्नोका समावेश हो जानेपर [ कभी कभी ] केवल चार प्रश्नोंका भी [ कोई ] सन्धि हो जाता है ।

अथ प्राचार्योंके मतका लण्डन—

इस प्रसंगमें [हमारे प्रतिपादित पाँच सधियोंके अतिरिक्त] कुछ लोग २१ सधियाँ और मानते हैं । [उनके नाम निम्न प्रकार हैं]—

१ साम, २ भेद, ३ वध, ४ दान, ५ क्रोध, ६ प्रत्युत्पन्नमतिस्व, ७ गोत्रस्तलित  
८ साहस, ९ भय, १० भी र्माया, ११ क्रोध, १२ श्रोज, १३ सवरण, १४ भ्रान्ति, १५ हेत्वधारण, १६ दूत, १७ लेख, १८ स्वप्न, १९ चित्र  
तथा २१ मद ।

[इन २१ सधियोंको भी कुछ लोग मानते हैं] किन्तु इनमेंसे साम आदि कुछके स्वयं भग रूप होनेसे, मति आदि कि-हुँके व्यभिचारिभावस्वरूप होनेसे दूत लेख आदिके कथावस्तु रूप होनेसे और अयोके उपलक्षेप आदि रूप होनेसे उनके अलग लक्षण करनेका प्रयत्न हमने नहीं किया है । जैसेकि गर्भसन्धिमें साम, दान रूप संग्रह नामक भग आया है । मति आदिके लक्षण व्यभिचारिभावमें किए जावेंगे । दूत लेख आदि कथा भाग रूप ही होते हैं । और उदात्त राघवमें उपलक्षेप [भग] हेत्वधारण रूप है । प्रतिभानिरुद्धमें [उपलक्षेप भग] स्वप्न रूप है । रामाभ्युदयमें [उपलक्षेप] भय रूप है । और बेणीसहारमें क्रोधरूप [उपलक्षेप] है । [अतएव इन अनेक सधियोंके उपलक्षेपमें अतर्भूत हो जानेसे उनको भी अलग कहनेको आवश्यकता नहीं है] इसी प्रकार अथ अयोमें जो [इन २१ सधियोंका] अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए । [अत इन सधियोंको मानना उचित नहीं है] ।

श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रविरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पण नी  
विधृतिय नाटक निर्णय नामक प्रथम विवेक पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयो विवेकः

## अथ द्वितीयो विवेकः

अथ 'नाटक प्रकरणं च' इत्यतो नाटकं सत्त्वयिरस्य प्रकरणं लक्ष्यते—

अथ नाट्यदर्पण-दीपिकाया द्वितीयो विवेकः ।

विवेक-सङ्गति

प्रथम विवेकके आरम्भमे तीसरी तथा चौथी बारिकामे ग्रन्थकारने चारह प्रकार के रूपकोका उद्देश्य धर्मात् नाममात्रेण बयन किया था । उनमें सबसे पहिला स्थान 'नाटक' का और उसके बाद दूसरा स्थान 'प्रकरण' का था । इसलिए प्रथम विवेकके दोप भागमें नाटकके लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया था । मुख्यरूपसे नाटकका ही विवेचन होनेसे प्रथम विवेकका नाम ग्रन्थकारने 'नाटक निर्णय' रखा है । रूपकोमें नाटक ही सबसे मुख्य है इसलिए उसका लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन करनेमें एक पूरा विवेक (अध्याय) लगाया गया है । अब इस द्वितीय विवेकमें प्रकरण आदि दोप ग्यारह प्रकारके रूपक-भेदोंका विवेचन किया जाएगा । इसलिए ग्रन्थकारने इस 'विवेक' का नाम 'प्रकरणाद्येकादशरूपकनिर्णय' रखा है । इन दोप एकादश रूपकोमें प्रथम और सबसे मुख्य स्थान 'प्रकरण' का है । इसलिए इस विवेकका आरम्भ प्रकरणके निरूपणसे ही करते हैं ।

[सूत्र ११७] 'नाटक प्रकरणं च' इस [रूपक भेदोंका उद्देश्य धर्मात् नाममात्रेण करने वाली बारिकामे गिनाए हुए रूपकभेदों] मेंसे [प्रथम विवेकमें प्रथम रूपक भेद] नाटकका लक्षण करने [द्वितीय रूपक भेद] अथ 'प्रकरण' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र ११७] प्रकरणां वणिग्-विप्र-सचिवस्वाम्यसङ्करात् ।

मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम् ॥ १[६६]॥

दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तं वलेशाढ्यं तच्च सप्तधा ।

कल्प्येन - फल-वस्तुनामेक-द्वि-त्रि-विधानतः ॥ २ [६७]॥

होता है। वणिक्, विप्र अथवा सचिवमेंसे कोई भी 'प्रकरण' का नायक हो सकता है। किन्तु एक 'प्रकरण' में इनमेंसे एक ही नायक होगा। इन तीनोंमेंसे 'सचिव' पदका अर्थ 'राज्यचिन्तक' किया गया है। राज्यचिन्तकमें मुख्य रूपसे 'अमात्य' आता है किन्तु मुख्य अमात्यके अधीन ही सेनाविभाग भी रहता है और सेनापति भी राज्यकी चिन्ता करने वाला प्रमुख अधिकारी है इसलिए उसका भी ग्रहण इस पदसे किया जा सकता है। इस प्रकार सेनापति तथा अमात्य दोनोंका ग्रहण 'सचिव' पदसे होता है। इनमेंसे सेनापति तथा अमात्य ये दोनों धीरोदात्त नायक माने जाते हैं। और विप्र तथा वणिक् ये दोनों धीरप्रशान्त नायक माने जाते हैं। अर्थात् 'प्रकरण' में मुख्य रूपसे धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त नायक ही होते हैं। धीरोदात्त आदि नहीं। कोई-कोई प्राचीन प्राचार्य अमात्यको धीर-प्रशान्त नायक मानते हैं। और 'प्रकरण' को धीरप्रशान्त-नायक वाला रूपक मानते हैं। किन्तु ग्रन्थकार इस सिद्धान्तसे सहमत नहीं है। उनके मतमें अमात्य धीरोदात्तनायक होता है। विप्र और वणिक् धीरप्रशान्त नायक होते हैं। इसलिए 'प्रकरण' का नायक धीरोदात्त भी हो सकता है और धीरप्रशान्त भी।

'नाटक' और 'प्रकरण' का तीसरा भेद यह है कि 'नाटक' में दिव्य पात्र भी नायकके सहायक-रूपमें उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु 'प्रकरण' में दिव्य पात्रोंका प्रवेश नहीं हो सकता है। नाटक 'दिव्याङ्गम्' और 'प्रकरण' 'दिव्यानाश्रितम्' है। अर्थात् 'नाटक' में भग-रूपमें, नायकके सहायक रूपमें, दिव्य पात्रोंका उपयोग हो सकता है। 'प्रकरण' में नहीं। इसका मुख्य कारण 'प्रकरण' का 'वनेनादयम्' वने-प्रधान होना है। दिव्य पात्र मुख्य-प्रधान होते हैं। और 'प्रकरण' के पात्र दुःखादय होते हैं। इसलिए 'प्रकरण' में दिव्य पात्रोंका प्रवेश उचित नहीं माना गया है। 'नाटक' और 'प्रकरण' के इन मुख्य भेदोंको ध्यानमें रखते हुए ही ग्रन्थकार दो बारिवाचोमें 'प्रकरण' का सङ्क्षण इस प्रकार प्रस्तुत करत है—

वणिक्, विप्र तथा सचिव इनमेंमें अलग अलग किसी एक नायकसे युक्त, मध्य [मध्यम] कुलकी नायिका आता, दिव्य पात्रोंका आश्रय न लेनेवाला, मन्द चेष्टाप्रोते युक्त—॥ १[६६]॥

दास, श्रेष्ठी और विटोंसे परिपूर्ण, एवं वलेश-प्रधान [रूपक] 'प्रकरण' [बहुताता] है। और यह नेता, पत्न, तथा वस्तुओंमेंसे एक-दो अथवा तीनके वृत्तित होनेके विधान के अनुसार सात प्रकारका होता है ॥ २ [६७]॥

इस ६४ वीं बारिवाचके अन्तमें ग्रन्थकारने नेता, पत्न तथा वस्तुके वृत्तित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के सात भेद दिग्गताएँ हैं। नायक, फल तथा वस्तु इन तीनोंके वृत्तित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के जो सात भेद बनाए गए हैं वे, जामे एक, दो, या तीनोंकी वृत्तितके कारण बन जाते हैं। तीनोंमेंमें किसी एकके वृत्तित होनेके कारण तीन भेद होते हैं। फिर दो-दो के वृत्तित होनेपर भी तीन भेद बनेंगे। इस प्रकार छ भेद हुए। और

प्रकरणे क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा समस्त-व्यस्ततयाऽत्रेति 'प्रकरणम्' । प्रसिद्धत्वान् लक्ष्यमनूय लक्षणं विधीयते । वालिजः क्रय-विक्रयकृतः । विप्राः पद-कर्माणः । सचिवो राज्यचिन्तकः । अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीर-प्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवत इति-प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः । यस्त्वमात्यं नेतारमभ्युपगम्य धीरप्रशान्तनायकमिति 'प्रकरणं' विशेषयति स शृद्धसम्प्रदाय-वन्ध्यः ।

सातवां भेद उन तीनोंके कल्पित होनेपर बनेगा । इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं । इसको और अधिक स्पष्ट करनेकेलिए इन भेदोंको निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है :

एकके कल्पित होनेपर तीन भेद :

१. केवल नायकके कल्पित होनेपर प्रथम भेद ।

२. केवल फलके कल्पित होनेपर द्वितीय भेद ।

३. केवल धारयान-वस्तुके कल्पित होनेपर तृतीय भेद ।

दो-दो के कल्पित होनेपर तीन भेद :

४. नायक और फलके कल्पित होनेपर चतुर्थ भेद ।

५. नायक और वस्तुके कल्पित होनेपर पञ्चम भेद ।

६. फल और वस्तुके कल्पित होनेपर षष्ठ भेद ।

तीनोंके कल्पित होनेपर एक भेद :

नायक, फल, तथा वस्तु तीनोंके कल्पित होनेपर सप्तम भेद ।

इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद दिखाए जाते हैं । इनमेंसे जहाँ नायक, फल, तथा धारयान-वस्तु तीनों कल्पित होते हैं वह 'प्रकरण' सर्वथा कल्पित होता है । जहाँ एक या दोके कल्पना की जाती है वहाँ दोष दो या एक भाग इतिहासाश्रित होते हैं यह समझना चाहिए । कवि जिस भागकी कल्पना करता है वही 'प्रकरण' का मुख्य भाग होता है । 'प्रकरण' का चमत्कार उसी भागमें निहित होता है । 'प्रकरण' की इसी कल्पनाकी प्रधानताको दिखानेकेलिए ग्रन्थकार 'प्रकरण' पदका निर्वचन करते हुए इन कारिकाओंकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

जिसमें नायक, फल, अथवा धारयानवस्तु अलग अलग [एक-एक अथवा दो-दो] अथवा सब [अर्थात् तीनों] प्रकृष्ट रूपसे किए जाते अर्थात् कल्पित किए जाते हैं वह 'प्रकरण' [कहलाता] है । [यह 'प्रकरण' शब्दका निर्वचन होता है । उससे ही 'प्रकरण' की कल्पना-प्रधानता सूचित होती है] । सद्य [अर्थात् 'प्रकरण'] के प्रतिष्ठ होनेसे [कारिकाओंके धारण में सबमें पहले प्रयुक्त 'प्रकरण' इस परसे] उसका अनुवाद करके [कारिकाओंके दोष भाग में] लक्षण किया गया है । [जाने लक्षणभागमें आए हुए बलिष्, प्रादि पदोंकी व्याख्या करते हैं] अथ-विक्रय करने वाले वालिज् [कहलाते] हैं । [१ अथयन २ अथयन, ३ यजन, ४ याजन, ५ दान देना और ६ प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना इन] ॥ कर्मोंकी करने वाले 'विप्र' [कहलाते] हैं । राज्यकी विन्ता करने वाला 'सचिव' [कहलाता] है । यह [सचिव] बलिष् तथा विप्रके अन्तर्गत हो जानेपर भी [अर्थात् क्षत्रिय राजा होना है और दूध सेवक । ये दोनों सचिव नहीं होते हैं । इसलिए बलिष् या विप्रमें ही सचिव होना है अतः उन दोनोंके मध्यपाती होनेपर भी] । धीरोदात्त [सचिव] अथवा धीरप्रशान्त [विप्र]

यदाहु —

‘सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ’ इति ।

‘असंकरात्’ इति व्यक्तिभेदेन वणिगादयो नेवार । न पुनरेकस्यामेव प्रकरणव्यक्तौ समवकारादिवत् त्रयोऽपि ।

‘प्रकरण’ के नेता होते हैं इस बातके प्रतिपादनकेलिए अलग कहा गया है । जो ‘अमात्य’ को नायक मानकर धीरप्रशात-नायक वाला रूपक ‘प्रकरण’ होता है इस प्रकार [‘प्रकरण’ को] विशेषित करते हैं वे बृह-सम्प्रदायको नहीं समझते हैं । [अर्थात् वे प्राचीन आचार्योंकी परम्पराके विपरीत बात करते हैं । क्योंकि प्राचीन आचार्योंके मतानुसार अमात्य या सचिव धीरप्रशात नहीं अपितु धीरोदात्त नायक होता] है ।”

जैसा कि कहा भी है—

सेनापति और अमात्य धीरोदात्त [नायक] माने जाते हैं ।

इस अनुच्छेदमें ‘विप्रा पट्कर्माण’ । यह जो लिखा गया है वह मनु आदि स्मृति-कारोंकी व्यवस्थाके आधारपर लिखा गया है । ‘मनु स्मृति’ में ब्राह्मणोंके छ वर्ग निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु

प्रागे कारिकामें आए हुए ‘असंकरात्’ पदकी व्याख्या करते हैं । उसका आशय यह है कि यद्यपि ‘प्रकरण’ में विप्र, अमात्य तथा वणिक् तीनों नायक हो सकते हैं किन्तु उनका संकर नहीं होना चाहिए । अर्थात् एक ‘प्रकरण’ में इनमेंसे एक ही नायक होना चाहिए । एक ही ‘प्रकरण’ में तीनों नायक नहीं हो सकते हैं । ‘समवकार’ आदिमें तो एक ही ‘समवकार’ में अनेक नायक भी हो सकते हैं । किन्तु एक ‘प्रकरण’ में अनेक नायक नहीं हो सकते हैं । यह बात प्रत्यक्षकारने ‘असंकरात्’ पदसे सूचित की है । इसी वानकी प्रगती पक्षमें लिखते हैं—

‘असंकरात्’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि ‘प्रकरण’ में] व्यक्तिभेदसे [अर्थात् अलग-अलग ‘प्रकरण’ में अलग-अलग] वणिक् आदि नायक हो सकते हैं । ‘समवकार’ के समान एक ही ‘प्रकरण’ [रूप व्यक्ति] में तीनों [नायक] नहीं [हो सकते हैं] ।

प्रागे कारिकाके ‘मन्द्गोत्राङ्गनम्’ पदका अर्थ करते हैं । इस पदकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई है । पहली व्याख्यामें ‘मन्द’ पदकी ‘गोत्र’ पदका विशेषण मान कर ‘मन्द गोत्रा’ अर्थात् नीचकुलोत्पन्ना वेश्यादि ‘प्रकरण’ की नायिका होती है यह अर्थ किया है । और दूसरी व्याख्यामें पहले ‘गोत्र’ पदका ‘अंगना’ पदके साथ समास करने, फिर ‘मन्द’ पद की ‘गोत्रांगना’ पदका विशेषण बनाया है । इस प्रक्रियासे ‘मन्दा’ अर्थात् निम्नष्ट आचरण वाली ‘गोत्रांगना’ अर्थात् ‘स्ववशोत्पन्ना’ अर्थात् नायकके समान गोत्रही नायिका ‘प्रकरण’ में होती है यह अर्थ किया है । अर्थात् ‘प्रकरण’ में वही नीचकुलजा वेश्या आदि और वही स्वकुलोत्पन्ना, और वही दोनों प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं । इसीलिए नाट्यदर्पणकार ने ‘प्रकरण’ के लक्षणमें लिखा है

‘नायिका कुलजा वयापि, वेश्या वयापि, द्वय वयापि’ । मा० ६० ६-२०६ ।

‘मन्दगोत्रा’ मन्दकुला, अगना नायिका यत्र । यद्वा ‘मन्दा’ मन्दवृत्ता, गोत्रागना यत्र । अत एवात्र नायिकैचित्स्थेन नायकोऽपि मन्दगोत्र एव । एवं च पुष्प-वृत्तिके अशोभत्तादिशब्दार्थनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्यां या व्यलीकशकोपनिबद्धा, मा न दोषाय । परपुष्पसम्भाषनाया निर्वहणं यावद्रूपयोगान् । अपरथा उत्तम-प्रवृत्तीना अशुरेण यद्वा, पुत्रे दूरे स्थिते निर्वासनं, निर्वासितायाश्च शत्रुरसेनापतिगृह-स्थानमनुचितमेव ।

‘मन्दगोत्रा’ अर्थात् मध्यम कुलकी ‘अगना’ अर्थात् नायिका जिसमें हो । अथवा ‘मन्दा’ अर्थात् मध्यम आचरण वाली गोत्राङ्गना अर्थात् कुलजा नायिका जिसमें हो [बहु ‘प्रकरण’ कहलाता है] । इसीलिए नायिकाकी अनुरूपताके कारण नायक भी मध्यम कुल का ही होता है । इसलिए ‘पुष्पवृत्तिक’ में ‘अशोकदत्त’ आदिके दम्पत्यो सुन कर ‘समुद्रदत्त’की ‘नन्दयन्ती’ के चरित्रके विषयमें जो शका वर्णित की गई है वह दोषापादक नहीं है । क्योंकि यहाँ निर्वहण सम्धि पर्यन्त परपुरुष [के साथ ‘नन्दयन्ती’ के सम्बन्ध] की सम्भावनाका उपयोग [दिखाई देता] है । अन्यथा उत्तमप्रवृत्ति वाले लोगोंने पुत्रके बाहर दूर गए होने पर शत्रुरके द्वारा पुत्रवधूका घरसे निष्कासन, और निजाल दिए जानेपर [पुत्रवधू का] शत्रु-सेनापतिके घरमें रहना [जो कि इस ‘पुष्पवृत्तिक’ प्रकरण’ में दिखाया गया है वह] अनुचित ही हो जाएगा [उसकी सगति तब ही लगती है जब उसके नायक तथा नायिका मादिको उत्तम प्रवृत्तिका न मान कर मध्यम-प्रवृत्ति माना जाए] ॥

इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम प्रवृत्तिकी नायिकाके प्रति कभी परपुष्प-सम्बन्ध की शका आदि नहीं की जा सकती है । ‘पुष्पवृत्तिक’ की नायिका ‘नन्दयन्ती’ के प्रति उसके शत्रुरको परपुरुष सम्बन्धकी शका उत्पन्न हो गई थी इसलिए उसने पुत्रवधूके घर से निजाल दिया था । इसपर यह शका होती है कि जैसे ‘पुष्पवृत्तिक’ की नायिकाके चरित्र के विषयमें शका हो गई थी इसी प्रकार ‘वेणीसहार’ में दुर्योधनको भी अपनी पत्नी भानुमती के चरित्रके विषयमें शका हो गई थी । तो क्या भानुमती और दुर्योधनकी गणना भी मध्यम प्रवृत्तिके नायक नायिकाम की जानी चाहिए ? अथवा उनको उत्तम वर्गके नायक-नायिकामें ही गिनना चाहिए । इन शकाका शङ्काकार यह समाधान करते हैं कि ‘वेणीसहार’ में जो भानुमतीके प्रति शकाका वर्णन किया गया है वह अनुचित है । वे दोनों उत्तम प्रवृत्तिके नायक-नायिका हैं । अत एव भानुमतीके चरित्रके प्रति शकाका वर्णन नाटक-कारको नहीं करना चाहिए था ।

वेणीसहारके द्वितीय अंकमें इस घटनाका उल्लेख किया गया है । दुर्योधनकी रानी भानुमतीने युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व एक दिन रातको एक बहुत बुरा स्वप्न देखा था । उसकी शान्तिकी व्यवस्था करानेकेलिए वह एकान्तमें अपनी सखियोंको उस स्वप्न को सुना रही है । इसी बीचमें दुर्योधन उस स्थानपर पहुँच जाता है और छिपकर उनकी बात सुनने लगता है । स्वप्नमें भानुमतीने यह देखा था कि किसी नेवलेने सो सोंपो को मार डाला है । यह सौ सत्या कौरवोंके साथ सम्बद्ध हो जाती है इसलिए उसे सौ भाइयों सहित दुर्योधनके अनिष्टकी शका हो गई थी । इसी स्वप्नको वह सखियोंको सुना रही है । उसमें नेवलेके लिए ‘नकुल’ शब्दका प्रयोग किया गया है । इसको सुन कर दुर्योधनको माद्रीपुत्र

उत्तमप्रकृतीनां राज्ञां तु कुलसित्रयां व्यलीकसम्भावना दुर्योधनस्येव भानुमत्या-  
मनुचितैव ।

यणिगमात्यविप्राश्च खवर्गीपक्षयैवोत्तमाः, न राजापेक्षया । एतदर्थमेव च  
मन्दशब्देन गोत्रं विशेषितम् । प्रकरणे हि नायको व्युत्पाद्यश्च मध्यमप्रकृतिरेव ।

नकुलके साथ भानुमतीके अनुचित सम्बन्धकी आशंका हो गई है । उस प्रसंगके शब्द जिन्होंने  
दुर्योधनके मनमें इस प्रकारकी शंकाकी उत्पन्न किया निम्न प्रकार है—

“भानुमती—ततोऽहं तस्यातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता  
हतहृदया च । तदुज्जित्वा तदासनस्थानं लतामण्डपं प्रवेष्टुमारब्धा ।

दुर्योधनः—[सवैलक्ष्यमात्मगतम्] किं नामातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य  
दर्शनेनोत्सुका जाता हतहृदया च । तत्किमनया पापया माद्रीसुतानुरक्तया वयमेवं  
विप्रलब्धाः । [सोत्प्रेक्षम् इयमस्मन् २-१० इति पठित्वा] मूढ दुर्योधन ! कुलटाविप्र-  
लभ्यमात्मानं बहुमन्यमानोऽधुना किं वक्ष्यसि । [किं कण्ठे २-६ इति पठित्वा दिशोऽ-  
वलोक्य] अहो एतदर्थमेवास्याः प्रातरेव विविक्तस्थानाभिलापः सखीजनकथासु च  
पक्षपातः । दुर्योधनस्तु मोहादविज्ञातयन्त्रकीदृदयसारः क्वापि परिभ्रान्तः । आः पापे !  
मत्परिग्रहपांसुले—

तद् भीरुत्वं तव मम पुरः साहसानीदृशानि,

श्लाघा सारमद्वयुपि विनयव्युत्क्रमेऽप्येव रागः ।

तच्चौदार्यं मयि जडमती चापले कोऽपि पन्थाः,

स्यते तस्मिन् वितमसि कुलेऽजन्मकीलीनमेतन् ॥ २-११

सखी—ततस्ततः ?

भानुमती—ततः सोऽपि मामनुसरन्नेव लतागृहं प्रविष्टः ।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—ततस्तेन सप्रगल्भप्रसारितकरेणापहृतं मे स्तनांशुकम् ।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—तत आर्यपुत्रस्य प्रभातमंगलनूर्वरमिश्रेण वारविलासिनीजन-  
मंगलारवेण प्रतिव्योम्भितमिम् ।

इस प्रकरणमें भानुमतीके स्वप्न-दर्शनके वृत्तान्तका जो वर्णन किया गया है  
उससे दुर्योधनकी भानुमतीके चरित्रके विषयमें शंका हो जाना स्वाभाविक था । किन्तु  
अन्तमें जब उसकी यह मालूम हुआ कि यह स्वप्नका वर्णन है तब स्वयं ही उसकी शंका  
का निवारण भी हो गया । किन्तु श्रम्यकारका कहना यह है कि उस उत्तम प्रकृतिके नायक-  
नायिकाके विषयमें इस प्रकारकी शंकाका होना भी उचित नहीं है । इसलिये बतिया यह  
वर्णन अनुचित है । इसी बातकी वे भागे लिखते हैं—

उत्तम प्रकृतिके राजाघोमें तो, कुलरत्नीके प्रति भानुमतीके विषयमें दुर्योधन द्वाराकी  
गई शंकाके समान, दुश्चरित्रताकी सम्भावना [का वर्णन] भी अनुचित ही है । [एत एव  
'येणोसंहार' का यह प्रसंग अनुचित ही है] ।

यणिगु भमात्य धीर विप्र अपने-अपने वर्गी दृष्टिसे ही उत्तम हो सकते हैं । राजाही



‘दिव्यानाश्रितम्’ इति दिव्यैरनाश्रितम् । नाटके हि अंगत्वेन दिव्यो भवति । प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नेष्टः । तस्य सुप्रवाहुर्येनाल्पदुःखत्वान् । अपरथा दिव्यत्वमेव हीयते ।

मध्यं सर्वोत्तम-हीनप्रकृत्ययोग्यं चेष्टितं विहार-व्याहार-वेष-सम्भोगादिको व्यापारो यत्र । तेन कल्पितवृत्तत्वेऽप्यस्य न राजोचितान्त पुरादिसम्भोग । कञ्चुकि-प्रभृतिभृत्यवर्गो या । न चाधमपात्रसम्भोगादिर्वा निवन्धनीयः । तथा च वेश्यायां नायिकायां यिनयरहितमपि चेष्टितं निवन्ध्यते । यथा विशागदेवकृते ‘देवीचन्द्रगुप्तं’ माययसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तगयोक्तिः—

आनन्दाश्रुजलं सितोत्पलरुचोराश्रध्वना नेत्रयोः,  
प्रत्यंगेषु वरानने पुलकिपु म्वेदं समावन्वता ।  
कुर्वाणेन नितम्ययोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ,  
केनाप्यगृशताऽप्यधोनिग्रसनम्रन्थित्वोन्मथ्यासितः ॥ इति ॥

अपेक्षासे नहीं । इसके लिए भी ‘मन्द’ शब्दसे ‘गोत्र’को विशेषित किया है । अर्थात् ‘मन्दगोत्राङ्गनं’ पदमें जो ‘मन्द’ पदको ‘गोत्र’ पदका विशेषण बनाया गया है उसका यह भी अभिप्राय है कि बलिक् अमात्य विप्र आदि, राजाको अपेक्षासे मन्द गोत्र वाले ही होते हैं । ‘प्रकरण’में नायक और [स्युत्पाद्य, अर्थात् जिनकी शिक्षाके लिए ‘प्रकरण’ की रचना की गई है वे] सामाजिक दोनों मध्यम श्रेणीके ही होते हैं ।

आगे कारिकामे आए हुए ‘दिव्यानाश्रित’ पदकी व्याख्या करते हैं—

‘दिव्यानाश्रितम्’ इसका यह अर्थ है कि दिव्यपात्रोंसे रहित । ‘नाटक’में तो अग रूपसे [अर्थात् नायकके सहायक रूपमें] दिव्य पात्र [उपस्थित] होता है किन्तु ‘प्रकरण’में तो उस प्रकारकी [अर्थात् नायकके अग्ररूपमें] स्थिति भी इष्ट नहीं है । उस [दिव्यपात्र] के मुख्यप्रधान होनेके और अल्पदुःखयुक्त होनेके कारण [ब्रह्मज्ञात अर्थात् मुख्यप्रधान ‘प्रकरण’में उनकी स्थिति सगत नहीं बनती है] । अन्यथा [अर्थात् यदि दिव्य पात्रोंको मुख्यप्रधान और अल्प दुःखवाला न माना जाय तो उनकी] दिव्यता ही नष्ट हो जावेगी ।

आगे कारिकामे आए हुए ‘मन्दचेष्टितम्’ पदकी व्याख्या करते हैं—

मध्य अर्थात् सर्वोत्तम अथवा सबसे निकट प्रकृतिके अयोग्य, चेष्टित अर्थात् विहार, [व्याहार अर्थात्] भाषण, वेष और सम्भोगादि व्यापार जिसमें हो [यह मध्यचेष्टित ‘प्रकरण’ होता है] । इसलिए आख्यान-वस्तुके कल्पित होनेपर भी इतने राजाओंके समान अन्तःपुर आदिका भोग, कञ्चुकी प्रभृति भृत्यवर्ग, अथवा अधमपात्रोंका-सा सम्भोगादिका वर्णन नहीं करना चाहिए । [अर्थात् सब कुछ मध्य स्थितिके अनुरूप ही होना चाहिए] । इसीलिए वेश्या के नायिका होनेपर शिष्टता-रहित बातेंका भी वर्णन हो जाता है । जैसे विद्यालदेवके बनाए हुए ‘देवीचन्द्रगुप्त’में माययसेना [वेदया] को लक्ष्यमें रखकर कुमार चन्द्रगुप्तको [शिष्टतासे रहित निम्नलिखित] उचित है—

शुभ्र-वमलके समान बान्ति वाली आँखोंमें, आनन्दाश्रुओंकी उत्सर्जन करने वाले, और हे वराङ्गने ! तुम्हारे रोमाञ्ज युक्त सारे अंगोंमें स्वेवोत्पादन करदेनेवाले, एव भरे हुए नितम्बोंकी वृद्धि करा देने वाले, किसी [प्रेमी] ने स्पर्श किए बिना ही तुम्हारे नीचे पहननेके यस्त्रकी नारेकी गाँठको छुसवा डाला है ।

व्युत्पाद्योऽपि च प्रकरणे मध्यमप्रकृतिरेव । नेतृचरितस्यापि तथाभूतत्वादिति ।

‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ इति । ‘दासो’ जीवितावधि वेतनग्रीतो, वाल्यान् प्रभृति पोषितो वा । ‘श्रेष्ठी’ वणिक्प्रधानम् । ‘विटो’ धूर्त । तत्र कञ्चुकिस्थाने दासः । अमात्य-स्थाने श्रेष्ठी । विद्रूपकस्थाने विट । उपलक्षणं चैतत्, तेनापरमपि चाटुकार-सहाया-दिकं<sup>१</sup> वणिगाद्यौचित्येन निबन्धनीयम् ।<sup>२</sup> ‘क्लेशाज्यम्’ इति दुःखदीप्तम् । अपाय-शतान्तरितफलत्वादिति एतावल्लक्षणम् ।

तच्चेति, उक्तलक्षणं ‘प्रकरणं’ सप्तभेदम् । ‘इनो’ नायक । ‘फलं’ मुख्यसाध्यम् । ‘वस्तु’ फलसाधका उपाया । एतेषां एक-द्वि-त्रिविधानेन सप्तभेदं ‘प्रकरणम्’ । तत्र नेतु प्रकल्पने तदितरयोश्चाकल्पने एको भंगः । एवं फल-वस्तुनोरपि । एवमेककल्पविधाने त्रयो भंगाः । तथा नायक-फलयो, नायक-वस्तुनो, फलवस्तुनोर्वा कल्पने शेषरसैकस्य चाकल्पने त्रयो द्विकभंगाः । नायक-फल-वस्तूनां त्रयाणामपि समुदितानामपि कल्पने एको भंगः । एवं सर्वमेलनेन<sup>३</sup> सप्तया प्रकरणमिति ॥ १-२ (६६-६७) ॥

यह कुमारचन्द्रगुप्तका वचन विनय-रहित या शिष्टता-रहित है । उत्तम प्रकृतिके पात्रो में इस प्रकारके वचनोका प्रयोग उपयुक्त नहीं होता है । किन्तु यहाँ वेश्या माधवसेनाके नायिका होनेके कारण ही इस प्रकारके वचनके प्रयोगकी सगति रागाई जा सकती है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

नायकके चरित्रके भी [उस प्रकारके अर्थात्] मध्यम-प्रकृतिका होनेके कारण ‘प्रकरण’में [ध्रुत्पाद्य अर्थात्] सामाजिक भी मध्यम प्रकृतिके ही होते हैं ।

आगे कारिकामें आए हुए ‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ की व्याख्या करते हैं—

‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ [इसका यह अभिप्राय है कि] जीवन-पर्यन्तके लिए वेतनसे कय किया हुआ ग्रथवा बचपनसे पाला हुआ ‘दास’ होता है । वणिक्कोका प्रधान, ग्रथवा प्रधान वणिक् ‘श्रेष्ठी’ कहलाता है । ‘विट’ [का अर्थ] धूर्त है । उनमेंसे [नाटकके] कञ्चुकीके स्थानपर [प्रकरणमें] ‘दास’ [को समझना चाहिए] । अमात्यके स्थानपर श्रेष्ठी और विद्रूपकके स्थानपर विट [का उपयोग] होता है । [दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्त] यह [वचन] उपलक्षण रूप है । इसलिए वणिक् आदि [नायकों] के औचित्यके अनुसार चाटुकार [चापसूत] सहायक आदि अन्य [पात्रों] का भी वर्णन करना चाहिए । ‘क्लेशाज्यम्’ इसका ‘दुःख-प्रधान’ यह अर्थ है । क्योंकि उसका फल संकटो कष्ट भोगनेके बाद प्राप्त होता है । [इसलिए ‘प्रकरण’ दुःख-प्रधान रूपक होता है] । यहाँ तक [अर्थात् ६७वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध] भाग तक प्रकरणका] लक्षण कहा है [आगे उसके भेद दिखलाते हैं] ।

आगे ६७वीं कारिकाके उत्तरार्ध भागकी व्याख्या करते हैं । इसमें ‘क्लेशेन-फल-वस्तूना’ इस पदमें ‘क्लेशेन’ का पदच्छेद ‘क्लेश+इन’ यह किया जाना चाहिए । इस प्रकार का पदच्छेद करके ही उसका अर्थ आगे दिखलाते हैं—

और ‘यह’ अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाला ‘प्रकरण’ सात प्रकारका होता है । ‘इन’ [शब्दका अर्थ] नायक है । फल [शब्दका अर्थ] मुख्य साध्य है । और फलके साधक उपाय ‘वस्तु’ [कहलाते] हैं । इनमेंसे एक, दो, या तीनके [क्लेशित होनेके] विधानसे ‘प्रकरण’के सात

१. वणिगाद्यौ विधव प्र० । २. क्लेशाद्यं प्र० । ३. सर्वमेलनेन ।

अथ नायिकायोगद्वारेण भेदसंख्यानमप्याह—

[सूत्र ११८]—कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये ।

विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकात्रिशतिधाऽप्यदः ॥ ॥ [३] ६८ ॥

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीना निवन्धनीया । यथा 'पुष्पदूतिके' । विपर्यये तु गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थवर्णने वेश्यैव नायिकात्वेन निवन्धनीया यथा 'तरङ्गदत्ते' । उभययोगस्य विट एव विधाना-  
दनयोरप्यवधारणम् । विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचक्षणो द्यूत-पान-वेरयादिषु प्रसक्ते कला-  
कुशले मूलदेवान्त्री पत्यौ नायकत्वेन विवक्षिते वेरया कुलस्त्री चेति द्वयं तदुचितगार्ह-  
स्थ्यपुरुषार्थपेक्षया निवन्धनीयम् । अस्य तु विटत्वादेव पण्यस्त्रीप्रधानम् । कुलस्त्री  
तु पितृ-पितामहाद्यनुरोधाद् गौणम् । विटस्य पतित्वानुवादाद् वणिगाद्यन्तर्भूतोऽपि  
'प्रकरणे' विटो नेता लभ्यते । वेरया-कुलजाभ्यां संकीर्णत्वादयं भेदोऽशुद्धः । पूर्वं तु  
शुद्धौ स्त्रीसंकराभावान् । शुद्धभेदयोरपि विटः सहाय एकः । संकीर्णं तु बह्व्यः ।  
केचित् तु वणिगेनेतृरूपमपि धूर्तसंकुलत्वान्मृच्छकटिकादिकं संकीर्णं मन्यन्ते ।

भेद हो जाते हैं । उनमेंसे नायकके कल्पित, और शेष दोनों [अर्थात् फल और वस्तु] के  
कल्पित न होनेपर एक भेद होता है । इसी प्रकार फल और वस्तुमें भी [एकके कल्पित और  
शेष बोके कल्पित न होनेपर एक एक भेद होता है] । इस प्रकार एककी कल्पनाके विधानसे  
तीन भेद बनते हैं । इसी प्रकार (१) नायक और फल, (२) नायक और वस्तु तथा (३) फल  
और वस्तु इन दो-दो के कल्पित, और शेष एकके अकल्पित होनेपर दो-दो वाले तीन भेद होते  
हैं । नायक, फल और वस्तु तीनोंके एक साथ कल्पित होनेपर एक भेद बनता है । इस प्रकार  
सबको मिलाकर 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं ॥ [१-२] ६६-६७ ॥

इस प्रकार ६७ वीं कारिकाके उत्तरार्द्धमें नायक आदिके कल्पित होनेके आधारपर  
'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए हैं । आगे कुलस्त्री, वेश्या तथा दोनों प्रकारकी नायिकाओं  
के वर्णित होनेपर इन सातों प्रकारके 'प्रकरणों' के तीन-तीन भेद और भी बन सकते हैं ।  
इसलिए 'प्रकरण' के २१ भेद हो जाते हैं । इन भेदोंकी अगली कारिकामें दिखलाते हैं—

अथ नायिकाके भेदोंके द्वारा 'प्रकरण' के भेदोंकी सख्याकी भी कहते हैं—

[सूत्र ११८]—गृहस्थोचित वृत्तमे कुलस्त्री, इसके विपरीत वृत्तमे वेश्या और विट  
[पुर्त] के, पति [रूपमें वर्णित] होनेपर [कुलस्त्री और वेश्या] दोनों [नायिकाएँ हो सकती  
हैं ।] इसलिए 'प्रकरण' के पूर्वोक्त सात भेदोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हो जानेसे सब  
मिलकर यह इक्कीस प्रकारका भी हो सकता है [३] ६८ ।

गृहवार्तामें अर्थात् गृहस्थोचित पुरुषार्थके साधक वृत्त [अर्थात्] में वणिग् आदि  
[नायकों] की कुलजा स्त्री ही नायिका रूपमें रखनी चाहिए । जैसे 'पुष्पदूतिक' में । इसके  
विपरीत अर्थात् गृहस्थ धर्मके उचित पुरुषार्थका वर्णन न होनेपर वेश्याकी ही नायिका  
रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए । जैसे 'तरङ्गदत्त' में । [कुलजा और वेश्या] दोनोंके योग  
का विटके साथ ही [अर्थात् विटके पति होनेपर] ही विधान होनेसे इन [कुलजा तथा

एषु च भेदेषु नायकवृत्तानुरूप एव व्युत्पाद्यः । अत्र हि वणिगमात्यविप्रावृ-  
चिता त्रिवर्गप्राप्तिः, तदर्जने स्थैर्य-धैर्यादि, व्यापदि मूढता, कुलस्त्रीवृत्तं, वेश्यासुसम्भोग-  
चातुर्यं, विट-वृत्तयो स्वरूपं, नायिकारागापरागलिगानि, हृदयप्रदणुप्रयोगश्च, नायक-  
योरपरागकारणानि, चतुरोत्तममध्यमप्रकृतेर्नायकस्य, उत्तममध्यमप्रकृतेर्नायिका-  
याश्च स्वरूपम्, सामाद्युपायप्रयोगश्च व्युत्पाद्यानामुपदिश्यते । 'तस्मादिति' यतः शुद्ध-  
संकीर्णाभेदत्रयरूपं सप्तभेदं 'प्रकरणं', 'तस्मादेकविंशतिधाप्यद' एतत् 'प्रकरणम्' ।  
चतुर्दश शुद्धाः, सप्त संकीर्णा प्रकरणभेदा । नायिकायाः कल्पिताकल्पितत्वेनान्येऽपि  
भेदाः संभवन्ति । परमदृष्ट्वादुपेक्षिताः ॥ [३] ६८ ॥

वेद्या] दोनोका भी अथधारण [अर्थात् गृहवासीमें केवल कुलजा ही, और उससे भिन्नमें  
केवल वेद्या ही नायिका हो सकती है इस प्रकारका नियम] है । 'विट' अर्थात् गीत-नृत्य  
और वाद्यमें निपुण छूत, पान और वेद्यादिके सेवनमें तत्पर कला-कुशल मूलदेवादि जैसे  
पतियोंके नायक रूपमें विपक्षित होनेपर वेद्या और कुलजा दोनों अपने-अपने योग्य गृह-  
स्थोचित पुरपार्थकी [और उससे भिन्न पुरुषार्थकी] अपेक्षासे [नायिका रूपमें] वेद्या  
और कुलजा दोनोकी रचना करनी चाहिए । इस [विट रूप पति] के धूर्त होनेके कारण  
ही वेद्या प्रधान है और कुलस्त्री तो पिता पितामह आदिसे अनुरोधसे [रखी हुई होनेके  
कारण] गौण होती है । विटके पति रूपमें कथन करनेसे वणिग् आदिके अन्तर्गत होने  
पर भी विट नायक हो सकता है यह बात निकलती है । [अर्थात् विट 'प्रकरण' का नेता तो  
हो सकता है किन्तु वह पूर्वोक्त वणिग् अमात्य या बिप्रोमेंसे ही कोई होगा । उनसे अलग  
नहीं] । वेद्या तथा कुलजा [दोनों प्रकारकी नायिकाओं] से संकीर्ण होनेके कारण यह भेद  
अशुद्ध भेद है । पहले दोनों [अर्थात् जिसमें केवल कुलजा अथवा केवल वेद्या ही नायिका हो  
वे] स्त्रीके सकार न होनेके कारण शुद्ध भेद हैं । शुद्ध भेदोंमें भी सहायकोंके सहित एक  
विट होता है । संकीर्णमें तो अनेक होते हैं । कोई लोग वणिक् जिसका नायक है इस  
प्रकार के 'प्रकरण' को भी धूर्तसे व्याप्त होनेके कारण संकीर्ण मानते हैं । जैसे मृच्छकटिक  
आदि ।

इन भेदोंमें नायकके वृत्तके अनुसार ही सामाजिक [व्युत्पाद्य] होते हैं । इसमें  
वणिक्, अमात्य, बिप्र आदिके उचित [धर्म अर्थ काम रूप] १ त्रिवर्गकी प्राप्ति, २ उसके प्राप्त  
करनेकेलिए अपेक्षित स्थिरता, धैर्य आदि, ३ प्रापतिकालमें मूढता, ४ कुल-रिप्योका  
आचार, ५ वेद्याओंके भली प्रकार सम्भोगका चातुर्य, ६ विट तथा बिदूषकके स्वरूप  
७ नायिकाके अनुराग तथा अपरागके लिंग, ८ हृदयको वशमें करनेके प्रयोग, १० नायक-  
नायिका दोनों के परस्पर अपरागके कारण, ११ चतुर उत्तम मध्यम प्रकृतिके नायक, तथा  
उत्तम मध्यम अथवा प्रकृतिकी नायिकाके स्वरूपोंका और १२ सामादि उपायोंके प्रयोग  
का उपदेश सामाजिकोंको दिया जाता है । 'तस्मात्' इससे [यह अभिप्राय है कि] क्योंकि  
[पूर्वोक्त] सात भेदोंसे युक्त 'प्रकरण' के [एक केवल कुल स्त्रीके नायिका] होनेपर और  
दूसरा वेद्यत पण्यस्त्रीके नायिका होनेपर] दो शुद्ध और एक संकीर्ण [अर्थात् जिसमें दोनों  
प्रकारकी नायिकाएँ हों इस प्रकार] तीन भेद हो सकते हैं । इसलिए यह 'प्रकरण' ७ × ३ =  
२१ प्रकारका भी हो सकता है । उनमेंसे चौदह शुद्ध और सात संकीर्ण भेद होंगे । नायि-

अथाकल्प्यरूपम्' निरूपयति—

[सूत्र ११६]—अत्राकल्प्यं पुरा क्लृप्तं यद्वाञ्छनार्थमसद्गुणम् ।

अत्र 'प्रकरणे' अकल्प्यं अनुत्पाद्यं यत् तत् पूर्वकविकृतकाव्यादौ क्लृप्तं सन् समुद्रदत्ततच्चेष्टितादिवद् माह्वम् । अथवा यदत्राकल्प्यं तत् पूर्वविप्रणीतशास्त्रव्यतिरिक्त-बृहत्कथाशुपनिषद्वं मूलदेव-तच्चरितार्थादिवदुपादेयम् । 'असद्गुणम्' इति । यदत्रा-कल्प्यं पूर्वकविकल्पितं बृहत्कथाशुपनिषद्वं वा चरित्रमपि तदसद्गुणं, पूर्वकविकाव्ये बृहत्कथानौ चासन्तो गुणा, रसपुष्टिहेतवो भणितिविशेषानयो यत्र । यदप्यत्र प्राप्तं निरुद्धयतं तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेय इत्यर्थः । अत एवार्थस्य वर्जनम् । तत्र ह्यभूतगुणावापे आद्वलोकस्य जुगुप्सा स्यादिति ॥

अपवादभूतं कृत्यमुक्त्या उत्सर्गमितिदिशति—

कामोके कल्पित श्रीर अकल्पित होनेसे श्रीर भी अधिक भेद हो सकते हैं । परन्तु [लक्ष्यग्रन्थोमे] न पाए जानेसे उनका यहाँ वर्णन नहीं किया है [उनकी उपेक्षा कर दी है] ॥ [३]६८ ॥

अथ 'अकल्प्य' [अर्थात् जिसमें नायिकादिकी कल्पना नहीं की जाती है उन] का स्वरूपको कहते हैं—

[सूत्र ११६]—जिसकी कल्पना पहिले [अन्य काव्योंमें] की जा चुकी है अथवा अनार्य ग्रन्थोमे वर्णित किन्तु [असद्गुणम् अर्थात्] नवीन गुणोसे युक्त [नायिकादि यहाँ 'प्रकरण' में] अकल्पित हो सकते हैं ।

यहाँ अर्थात् 'प्रकरण' में जो अकल्पित अर्थात् [कविके द्वारा स्वयं] अनुत्पादित होता है वह पूर्व कवियोंके बनाए काव्योंमे कल्पित समुद्रदत्तादिके चरित्रके समान [यहाँ 'प्रकरण' में] ग्रहण किया जाता है । अथवा जो यहाँ अकल्पित होता है वह पूर्ववर्ती ऋषि-प्रणीत शास्त्रादिके भिन्न बृहत्कथादि [अनार्य ग्रन्थों] में उपनिषद् मूलदेवचरित्र आदिके समान उपादेय होता है । [किन्तु विशेषता यह होती है कि वह] 'असद्गुण' अर्थात् पूर्वकवि-कल्पित अथवा बृहत्कथादिमे वर्णित, जो चरित्र यहाँ [प्रकरणमे] अकल्पित रूपमें लिया जाता है वह भी, उसमे जो गुण यहाँ [पूर्व कविके पात्रमे] नहीं होते हैं उस प्रकारके अपूर्व गुणों से युक्त होता है । अर्थात् पूर्व कवियोंके काव्योंमें और बृहत्कथादिमे जो गुण उसमे नहीं मिललाए गए हैं इस प्रकारके रसके परिपोषक अपूर्व वचन-विशेषादि रूप गुण जिसमे हों इस प्रकारका ['प्रकरण' होना चाहिए] इसमे जो कुछ पुरानी बात कही जाए उसमे भी रस की परिपुष्टिके लिए कविकों नई बात और थड़ा देनी चाहिए । यह अभिप्राय है । इसी-लिए यहाँ [अनार्य पदसे] आर्य [चरित्रों] का निषेध किया गया है । क्योंकि उन [आर्य चरित्रों] में नवीन गुणोंका वर्णन होनेपर थडालु लोगोको घृणा हो जाएगी ॥

[इस प्रकार 'प्रकरण' के लक्षणमे नाटकसे भिन्न] अपवादभूत कार्योंको कह कर अथ [नाटकके समान ही जो-जो बातें 'प्रकरण' में भी पाई जाती है उन] उत्सर्गभूत [सामान्य बातों] का ['प्रकरण' में] प्रतिवेश करते हैं—

[सूत्र १२०]—शेषं नाटकवत् सर्वं कैशिकीपूर्णतां विना ॥ [४] ६६॥

उक्ताद् वणिक्-विप्र-सचिव-स्वाम्यादिकाल्लक्षणच्छेषं अपरमभिनेयप्रबन्धो-  
चितं फल-अङ्क-उपाय-दशा-सन्धि-संध्यंग-प्रवेशक-विष्कम्भक-अंकावतार-अंकमुख-चूलि-  
कावृत्तिभेद-रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथात्रापि सर्वमौचित्यानतिप्रमेणाप्यम् ।  
वृत्तिचतुष्टयस्यातिदेशेऽपि कैशिकीवाहुल्यं न निबन्धनीयम् । क्लेशप्राचुर्येण शृङ्गार-  
हास्ययोरल्पत्वात् । यथा मृच्छकटिक-पुष्पद्विक्-तरंगदत्तादिषु । यत्पुनर्भवभूतिना  
मालतीमाधवे कैशिकीवाहुल्यमुपनिबद्धं, 'तन्न वृद्धाभिप्रायमनुरणद्धीति ।

तदयं संक्षेपः—यस्य पूर्वप्रसिद्ध एवार्थं कुतूहलं असौ मुनिप्रणीतरास्त्रप्रसिद्ध-  
चरितेन नाटकेन राजादिरुक्तमप्रकृतित्व्युत्पाद्यते<sup>१</sup> । यस्य पुनरुत्पाद्येऽर्थं कुतूहलमसौ  
यणिगादिभिर्मध्यमप्रकृतिः 'प्रकरणेन' । दुर्मेधसां हि न्याय्ये वर्त्मनि प्रवृत्त्यर्थं कवयोऽ-  
भिनेयप्रबन्धान् ग्रन्थन्तीति ॥ [४] ६६ ॥

अथ प्रकरणानन्तरोदिष्टां नाटिकां लक्षयितुमाह—

[सूत्र १२०]—कैशिकीकी पूर्णताको छोड़कर शेष सब नाटकके समान 'प्रकरण' में  
भी होता है । [४] ६६ ।

[प्रकरणके लक्षणमें विशेष रूपसे कहे हुए] वणिक् विप्र, अथवा अमात्यके  
नायकत्वादि रूप विशेष लक्षणके अतिरिक्त अभिनेय प्रबन्धके योग्य अन्य १ फल, २ अंक, ३  
उपाय, ४ दशा, ५ सन्धि, ६ सन्ध्यंग, ७ प्रवेशक, ८ विष्कम्भक, ९ अंकावतार, १० अंकमुख,  
११ चूलिका, १२ वृत्तिभेद और १३ रसादिक सब जैसे नाटकोंमें कहे गए हैं उसी प्रकार  
औचित्यका अतिक्रमण न करते हुए यहाँ ['प्रकरण' में] भी प्रयुक्त करने चाहिए । [इस  
सामान्य नियमसे सान्त्वनी आरभती कैशिकी भारती आदि] चारों वृत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर  
भी ['प्रकरण' में] कैशिकीके बाहुल्यका प्रयोग नहीं करना चाहिए । क्योंकि उसमें क्लेशका  
आधिपत्य होनेसे शृङ्गार और हास्यका अवसर कम होता है [इसलिए 'प्रकरण' में कैशिकी  
वृत्तिका अधिक प्रयोग उचित नहीं होता है] । जैसे मृच्छकटिक, पुष्पद्विक् और तरंगदत्त  
आदि [प्रकरणों] में [कैशिकी वृत्तिका अधिक प्रयोग नहीं किया गया है] । भवभूतिने  
जो अपने मालती माधव ['प्रकरण'] में कैशिकीका प्रचुर प्रयोग किया है वह वृद्ध-सम्प्रदाय  
[अर्थात् पूर्व आचार्योंके मत] के अनुकूल नहीं है ।

इसका सारांश यह हुआ कि—जिनकी पूर्वप्रसिद्ध चरित आविर्भूत होती है उन राजादि उत्तम प्रकृतिके लोगोको मुनियोंके बनाए हुए शास्त्रादिसे प्रतिष्ठ  
चरित वाले नाटकादिके द्वारा ही ध्युत्पत्ति कराई जाती है । और जिनको बलिष्ठ ग्रन्थमें  
अभिरुचि होती है उन मध्यम प्रकृति वाले वणिक् आदिको 'प्रकरण' के द्वारा [ध्युत्पत्ति कराई  
जाती है] । क्योंकि मन्दबुद्धियोंको उचित मार्गमें प्रवृत्त करानेकेलिए ही बलिष्ठ अभिनेय  
[नाटकादि] प्रबन्धोंकी रचना करते हैं ॥ [४] ६६ ॥

३. तृतीय रूपक भेद 'नाटिका' का लक्षण

अथ 'प्रकरण' में अन्तर नहीं हुई 'नाटिका' का लक्षण करनेकेलिए कहते हैं—

[सूत्र १२१]—चतुरङ्का बहुस्त्रीका नृपेशा स्त्री-मही-फला ।

कल्प्यार्था कैशिकीमुख्या पूर्वरूपद्वयोत्थिता ॥ [५] ७०॥

अख्याति-ख्यातितः कन्या-देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।

‘चतुरङ्क’ इति अवगथात्रयसमाप्तिपरिच्छिन्नाग्रयोऽङ्काः । कार्याश्चिदवस्थायाः प्रभूतरसेऽवस्थान्तरे समावेशेन युगपदवस्थाद्वयसमाप्त्या अङ्कविच्छेदे चत्वारोऽङ्काः । अल्पं हि वृत्तं नाटिकायामतो वृत्तसंक्षेपार्थमवस्थायाः समावेशः ।

बहुस्त्रीकता च कैशिकीमुख्यत्वेन शृङ्गाररसबाहुल्यात् । अत एव ललिताभिन्न-यात्मिकाः । स्त्रियश्च देवी-दूती-सखी-चेटी-कन्यकादयः । नृपः कैशिकीप्रधानत्वाद् धीर-ललितो राजा ईशो नेता यस्याम् । अत एवात्र प्रकरणोद्भवत्वेऽपि सर्वो राजोचितो व्यवहारः । नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहारस्य । ‘स्त्री-महीफला’ इति स्त्रीलाभपुरः-सरराज्यप्राप्तिफला । ‘कल्प्यार्था’ इति कर्म-करणव्युत्पत्तिभ्यां ‘अर्थः’ फलमुपायाश्च ।

[सूत्र १२१ क]—चार अङ्कों वाली, अनेक स्त्री पात्रों, राजा रूप नायक, धीर स्त्री अथवा वृथिवी [की प्राप्ति रूप] फल वाली, कल्पित अर्थ प्रदान, कैशिकी बहुल, पूर्वकथित दोनों रूपको [अर्थात् ‘नाटक’ और ‘प्रकरण’] से उत्पन्न, ‘नाटिका’ होती है । [यह ‘नाटिका’ का लक्षण हुआ] । [५] ७० ॥

[सूत्र १२१ ख]—कन्या और देवी [दो प्रकारकी इसकी नायिकाएँ होती हैं उन दोनों] के [भी] असंख्य तथा संख्य होनेसे [दो-दो भेद हो जाते हैं] । इस प्रकार कुल मिला-कर] ‘नाटिका’ के चार भेद होते हैं ।

‘[‘नाटक’ में साधारणतः ‘कार्य’ की पाँच ‘अवस्थाएँ’ बतलाई गई हैं और उनमेंसे प्रत्येक ‘अवस्था’ का वर्णन एक-एक अङ्क में पूरा होनेके कारण ‘नाटक’ में कम-से-कम पाँच अङ्क आवश्यक माने गए हैं किन्तु ‘नाटिका’ में चार ही अङ्क बतलाए हैं] । इसका उपपादन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

‘चतुरङ्क’ इससे तीन अवस्थाओंकी समाप्तिसे युक्त तीन अङ्क और किसी एक अवस्था का प्रधानभूत अथ अवस्थामें समावेश कर एक साथ दो अवस्थाओंकी समाप्ति वाला एक [घोषा] अङ्क, इस प्रकार चार अङ्क होते हैं । ‘नाटिका’ में कथावस्तु कम होनेके कारण कथा-वस्तुके सक्षेपकेलिए ही एक अवस्थाका [किसी दूसरी अवस्थामें] समावेश कहा गया है ।

[नाटिकामें] कैशिकीकी प्रधानताके कारण शृङ्गाररसकी प्रमुखता होनेसे बहुत स्त्रियाँ [प्रावश्यक] होती हैं । इसी कारण [वे स्त्रियाँ] ललित अभिनय वाली होती हैं । [नाटिकाकी] स्त्रियाँ देवी, दूती, सखी, चेटी, धीर कन्या आदि होती हैं । [‘नृपेशा’ में] नृप [राज] हैं धीरललित राजा, [का ग्रहण होता है] वह जिसमें स्वामी अर्थात् नायक हो [वह ‘नृपेशा’ नाटिका होती है] । इसीलिए [नाटिकाके] ‘प्रकरण’ से उद्भूत होनेपर भी उसमें सारा व्यवहार राजाके योग्य ही होता है । क्योंकि सारा व्यवहार नायकके अनुरूप ही उचित होता है । ‘स्त्री-महीफला’ इससे [यह बात सूचित की है कि] स्त्रीलाभ पुर सर राज्यप्राप्ति [नाटिकाका] फल होता है । ‘कल्प्यार्था’ इसमें [‘अर्प्यते इति अर्थः’ इस प्रकारकी कर्मपरक

तेन द्वावप्यत्रोत्पाद्यौ ।

‘कैशिकी’ वक्ष्यमाणलक्षणा, सा ‘मुख्या’ प्रधान यस्याम् । मुख्यत्वं च गोप-  
वृत्त्यपेक्षया बाहुल्यम् । तत एव गीत-नृत्त-नाय-हाम्यादीनां शृङ्गाराङ्गानां प्राचुर्यम् ।  
पूर्वरूपद्वयं ‘नाटकं’ ‘प्रकरणं’ च । तस्मादुत्थितमुत्थानं यस्याम् । कैशिकीप्राधान्याच्च यत्  
स्त्रीप्रायं कामफलं ‘नाटकं’, ‘प्रकरणं’ च किञ्चिन्, तदिह ग्राह्यम् । अन्येषामनुरूपत्वा-  
भावान् । एतद्व्योत्थितत्वेन चावस्था-सन्धि-सन्ध्यंग-बीज-विन्दु-पताका-प्रकरी-पताका-  
स्थानक-अंक-प्रवेशक-विष्कम्भक-इतिवृत्तभेदादीनि, उभयभेदसाधारणानि लभ्यन्ते । तत्र  
‘नृपेशा’ इति नाटकधर्मः । तत एव नायकोऽकल्पितः । ‘कल्प्यार्था’ इति प्रकरणधर्मः ।  
एतावल्लक्षणम् ॥ [ ५ ] ७० ॥

‘अव्यति-व्यति’ इति । इह नाटिकाया नायिकाया द्वयं कन्या देवी चेति  
युगपत् । अपरिणीता कन्या । अन्तःपुरसंगीतरुभेदभिन्ना । परिणीता तु देवी । तयो-  
व्युत्पत्तिस्तथा ‘अव्यति-व्यति’ इति प्रकारकी करणपरकव्युत्पत्ति हो सकती है ।  
इसलिए कर्म और करण-परक [द्विविध] व्युत्पत्तियोंके कारण फल और उपाय दोनों ‘अव्य-  
ति’ होते हैं [अर्थात् कर्म व्युत्पत्तिके अनुसार फलको ‘अव्यति’ कहा जाता है और करण व्युत्पत्तिके  
अनुसार ‘उपाय’ को ‘अव्यति’ कहा जा सकता है ।

इसलिए [नाटिकामे फल और उपाय] ये दोनों कल्पित होते हैं । [यह अभिप्राय है] ।

‘कैशिकी’ का लक्षण अग्ने क्रिया जायगा । वह जिसमें मुख्य अर्थात् प्रधान हो [यह  
‘कैशिकीमुख्या’ का अर्थ है] । अन्य [भारती धारभट्टी और सात्वती] इतियोंकी अपेक्षा  
[कैशिकीका] बाहुल्य हो [उसकी] मुख्यता है । इसीलिए [नाटिकामे] गीत, नृत्त वाद्य और  
हास्य आदि शृंगारके प्रयोगकी प्रचुरता रहती है । पहिले कहे हुए जो दो रूपभेद अर्थात्  
नाटक और प्रकरण उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह नाटिका होती है यह ‘पूर्वरूप-  
द्वयोत्पत्ता’ पदका अर्थ है] । कैशिकीकी प्रधानता होनेके कारण जो कोई नाटक अथवा प्रक-  
रण स्त्री बहुल और कामफल वाता हो उसका ही [नाटिकाकी प्रकृतिके रूपमे] ग्रहण करना  
चाहिए । अग्य [नाटक या प्रकरण] के [नाटिकाके स्वरूपके] अनुकूल न होनेसे [अग्य प्रकार  
के नाटकादिको नाटिकाकी प्रकृति नहीं माना जा सकता है] । इन [नाटक तथा प्रकरण]  
दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण अवस्था, सन्धि सम्प्यग, बीज, विन्दु पताका, प्रकरी, पताका-  
स्थानक, अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक, और कथावस्तुका भेद आदि ‘नाटक’ तथा ‘प्रकरण’  
दोनोंसे मिलते-जुलते ही [नाटिकामे] लिए जाते हैं । नाटिकामे ‘नृपेशा’ [अर्थात् राजा नायक  
होता है] यह नाटकका धर्म है । इसीलिए नायक कल्पित नहीं होता है । और ‘कल्प्यार्था’  
यह ‘प्रकरण’ का धर्म है । [‘अव्यति’ शब्दसे व्युत्पत्तिभेद द्वारा फल और उपाय दोनोंका ग्रहण  
होता है यह बात अभी कह चुके हैं । इस कारण नाटिकामे फल और उपाय दोनों कल्पित  
होते हैं । यह ‘कल्प्यार्था’ पदका अभिप्राय है । इस प्रकार नाटिकामे ‘नाटक’ तथा ‘प्रकरण’  
दोनोंके धर्म पाए जाते हैं इसलिए नाटिकाको ‘पूर्वरूपद्वयोत्पत्तिता’ कहा है] इतना ही [नाटिका-  
का] लक्षण है [अग्ने उसके भेद कहे हैं । लक्षणभाग यहाँ समाप्त हो गया है ] ॥ [ ५ ] ७० ॥

‘अव्यति-व्यति’ इसका यह अभिप्राय है कि—इस नाटिकामे कन्या और देवी  
दोनों एक साथ नायिकाएँ होती हैं । अपरिणीता [स्त्री] ‘कन्या’ होती है । और वह अतः पुरे



प्रत्येकं प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिभ्यां चतुर्भेदत्वान्नाटिकापि चतुर्विधा। सप्त<sup>१</sup> 'देव्यप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा इत्येक । देव्यप्रसिद्धा कन्याकाप्यप्रसिद्धेति द्वितीयः । देवी प्रसिद्धा कन्या त्व-प्रसिद्धेति तृतीयः । देवी प्रसिद्धा कन्यापि प्रसिद्धेति चतुर्थः । उभयोः प्रसिद्धत्वेऽपि च कल्पिनार्थत्वं नाटिकायाः । अन्यथासंविधानस्वरचनात् । नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य-मनांसीति अचि, गौरादेराकृतिगणत्वान्च इयां 'नाटी' । अल्पवृत्तत्वादल्पार्थे 'रूपि' नाटिका इत्यपीति । स्त्रीप्रधानत्वान् मुकुमारातिशयत्वान्च<sup>२</sup> स्त्रीलिङ्गसंज्ञानिर्देशः । गद्यं प्रकरण्यामपीति ॥

अथ 'नाटिकागतं कर्तव्यमुपदिशति—

[सूत्र १२२]—अथ मुख्याकृतो योगः पर्यन्ते नेतुरन्यथा ॥ [६] ७१॥

प्रेमादौ चतस्रेऽन्यस्यां नेता मुख्याभिज्ञांकितः ।

संगीत आदि भेषोंके कारण अनेक प्रकारकी होती है । विवाहिता [स्त्री] 'देवी' होती है । उन दोनोंकी प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धिके कारण [नायिकाके] चार भेद हो जानेसे नाटिका भी चार प्रकारकी होती है । उनमेंसे (१) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या प्रसिद्ध हो यह पहला भेद हुआ । (२) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या भी अप्रसिद्ध हो यह दूसरा भेद हुआ । (३) देवी प्रसिद्ध हो किन्तु कन्या अप्रसिद्ध हो यह तीसरा भेद हुआ । (४) देवी प्रसिद्ध हो और कन्या भी प्रसिद्ध हो यह चौथा भेद हुआ । [देवी और कन्या] दोनोंकी प्रसिद्ध होनेपर भी [नाटिकामें उनमें से कौन सा आदि रूप] संविधानकी रचना [प्रसिद्ध कथाकी अपेक्षा] कुछ अन्य हो प्रकार में कर देनेसे नाटिका 'वर्ण्यार्था' हो जाती है । [आगे नाटिका शब्दकी व्युत्पत्ति बिल्लताते हैं । यह शब्द मट मर्तमें पातुसे बना है । उसके अनुसार] जो भामाजिकों [व्युत्पादों] के मर्तोंको मचाती है [आह्लादित करती है] इस विग्रहमें अच्-प्रत्यय करने [विद्गौरादिभ्यश्च सूत्रमें] गौरादि गलके आह्लाति गल होनेसे डीप् प्रत्यय होनेपर 'नाटी' [यह पद सिद्ध] होता है । [यह नाटी पद नाटिकारा पर्यायवाचक शब्द ही है । नाटी पदसे अल्पार्थमे बच्-प्रत्यय करने 'नाटिका' पद बन जाता है । इस बातकी आगे कहते हैं] अल्प कथावरतु होनेके कारण अल्पार्थमे बच्-प्रत्यय होकर 'नाटिका' यह भी [रूप बनता है] । [नाटिका और नाटी पक्षोंमें जो स्त्रीलिङ्गका प्रयोग किया गया है उसका उपपादन करते हैं] स्त्री-प्रपाद होनेके कारण और तीव्रमापेका प्रतिपाद होनेके कारण स्त्रीलिङ्गकी सत्ताके द्वारा निर्देश किया गया है । इसी प्रकार 'प्रवरत्ती' [इस पद] में भी [स्त्रीलिङ्गके पदका प्रयोग सामक सेना चाहिए] ।

अथ नाटिकामें [आख्यात-वस्तुकी रचना किम प्रकार करनी चाहिए इस] कर्तव्यका उपदेश करते हैं—

[सूत्र १२२]—उम [नाटिका] में अन्तमें [अर्थात् निर्वर्त्य तर्पण] नायिका मुख्य नायिका द्वारा अन्य [कन्या] के साथ योग कराया जाना चाहिए । [और उसके पूर्व] नायक प्रेमागत होकर भी मुख्य नायिकामें डरता हुआ या अथ [कन्याके साथ प्रत्यय-व्यापार] में प्रवृत्त होता है ।

‘अत्र’ नाटिकायां ‘मुख्या’ नृपवंशजत्व-गम्भीरत्व-परिणीतत्वादिभिः प्रधानं नायिका, तद्वशादन्तःपुरसंगीतकसम्बन्धेन श्रुति-दर्शनाभ्यामासन्नया ‘अन्यया’ ‘कन्यया’ ‘योगा’ सम्बन्धो नायकस्य ‘पर्यन्ते’ निर्वहणसन्धौ दर्शयितव्यः ॥ [ ६ ] ७१ ॥

नेता च तल्लाभादर्वाक् प्रवर्धमानानुरागो मुख्यातश्चकितहृदयः कन्यायामुप-  
वनादिषु संकेतस्थानेषु संघटते ।

कृत्यान्तरमपि दर्शयति—

[सूत्र १२३]—देवी दक्षाऽपरा मुग्धा समा धर्मा द्वयोः पुनः ॥[७] ७२ ॥

क्रोध-प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छायादि भूरिशः ।

देवी दक्षा चतुरा निबन्धनीया । अपरा तु कन्या मुग्धा चातुर्यवर्जिता । धर्मा  
पुनः क्षत्रियवंशजत्व-नय-विनय-लज्जा-महत्त्व-गाम्भीर्यादयः, तुल्या द्वयोः देवी-कन्य-  
योर्निबन्धनीया ॥ [७] ७२ ॥

तथा कन्यानुरागपरिज्ञाने देव्या राजनि क्रोधः । राज्ञा च तस्याः प्रसादतम् ।  
देव्या च राज्ञः कन्यासमागमे विघ्नः । राज-कन्ययोः परस्परं रतिः । सर्वेषामान्योन्यं  
वञ्चनम् । आदि शब्दादन्यदपि शृंगारांगं भूयो भूयो निबन्धनीयमिति ।

इस नाटिकामें राजवंशमें उत्पन्न होनेके कारण, गम्भीरत्वके कारण और परिणीता  
होनेके कारण, मुख्या नायिका ही प्रधान होती है । उसके द्वारा अन्तःपुरके संगीत आदिके  
सम्बन्धसे भवण या दर्शन द्वारा प्राप्त दूसरी कन्याके साथ नायकका सम्बन्ध अन्तमें अथवा  
निर्वहण सन्धिमें दिखलाना चाहिए । ॥ [ ६ ] ७१ ॥

और उसके [अर्थात् निर्वहण सन्धिके] पहिले तो नायक [अथ कन्याके प्रति क्रमशः]  
अनुरागकी वृद्धि होनेपर भी मुख्य नायिकासे डरता हुआ-सा ही उपवन आदिमें कन्यासे  
मिलता है ।

अथ [नाटिकामें] करने योग्य अन्य बात भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १२३]—देवीको चतुरा रूपमें, और [अन्य अर्थात्] कन्याको मुग्धा रूपमें  
[दिखलाना चाहिए] । दोनोंके [कुलजत्वादि] धर्म समान [दिखलाने चाहिए] । ७ [७२] ॥

[और नाटिकाकी आख्यानवस्तुके बीचमें] क्रोध, प्रसाद, विघ्न, रति और छल आदि-  
का प्रचुर-प्रयोग दिखलाना चाहिए ।

देवी दक्षा अर्थात् चतुरा रूपमें प्रदर्शित करनी चाहिए । और दूसरी कन्या तो मुग्धा  
अर्थात् चातुर्यरहित [दिखलानी चाहिए] । क्षत्रियवंशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व, गाम्भीर्य  
आदि धर्म दोनों अर्थात् देवी तथा कन्यामें समान रूपसे दिखलाने चाहिए ।

कन्याके [प्रति राजाके] अनुरागका ज्ञान होनेपर राजाके प्रति देवीका क्रोध,  
और राजाके द्वारा उस [देवी] को प्रसन्न करनेका यत्न [दिखलाना चाहिए] । देवीके द्वारा  
राजाके बन्धके साथ समागममें विघ्न उपस्थित करना, राजा और कन्याका परस्पर  
अनुराग, और सबका एक दूसरेकी ओर [देकर कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न नाटिकामें  
दिखलाना चाहिए] । आदि शब्दोंसे शृंगारके अंगभूत अन्य धर्मोंको भी बार-बार प्रयत्न  
करना चाहिए ।

अथ नाटिकालक्षणातिदेशेन 'प्रकरणी' लक्षयति—

[सूत्र १२४]—एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः ॥ [८] ७३ ॥

एवं नाटिकोक्त-चतुरङ्कत्वादिलक्षणासारेण 'प्रकरणी' ग्रथनीया । किन्तु नेता प्रकरणोक्तो वणिगादिः । तेन वणिगाद्युचित एव वेष-संभोगादि सर्वोऽप्यत्र व्यवहारः । न्यपि तज्जात्यनुरूपैव । फलमपि महीलामभ्य वणिगादेरनुचितत्वान् रत्नीप्राप्तिपुर-सरं द्रव्यलाभादिकं द्रष्टव्यम् ।

कैशिकीवहुलत्वं च नाटकधर्मः । प्रकरणस्यान्पकेशिकीत्वान् । नृत्प्यार्थत्वं वणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्मः । तथा नाट्यप्रकरणोत्थितत्वेऽपि नाटिका-प्रकरणयो नाटकोक्तनायकानुसारेण नायिकान्यपदेशः । नायकानुसारित्वान् सर्वव्यवहारानाम् । प्रकरणेण क्रियते कल्प्यते अस्यामर्थ इति 'प्रकरणी' । अल्पार्थे कपि 'प्रकरणीका' । एते च द्वे अपि मुख्यरूपकद्वयसकरनिष्पन्नत्वान् संकीर्णभेदरूपे । एवमन्येऽपि संकरभेदा रूपकद्वय-त्रयादि-सांकर्येण सम्भवन्ति परमदृष्ट्यादरवञ्जरुत्वान् च न ते लक्षयन्ते इति । नाटिकाया च राक्षा, प्रकरणिकायान्तु वणिगादीना धिलासप्रधान धर्मार्थाविरोधि घृत्तं नाटक-प्रकरणयोरिव व्युत्पागम् ॥ ८७३ ॥

#### ४. चतुर्थ रूपक भेद 'प्रकरणी' का निरूपण

इस प्रकार यहाँ तक नाटिकाके लक्षणका निरूपण कर अब आगे प्रश्नकार 'प्रकरणी' के लक्षणका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

अथ 'नाटिका' के लक्षणके 'अतिदेश' द्वारा [अन्यके धर्मका अन्यके साथ सम्बन्ध दिखलाना 'अतिदेश' कहलाता है] 'प्रकरणी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १२४]—इसी प्रकार [अर्थात् नाटिकाकी रचनाके समान ही] 'प्रकरणी' [की रचना करनी चाहिए] किन्तु उसमें, 'प्रकरण' में कवित्त [वणिक आदि ही] नायक होना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

इसी प्रकार अर्थात् नाटिकामें कहे चतुरङ्कत्वादि लक्षणोंके अनुसार 'प्रकरणी' की रचना करनी चाहिए । किन्तु [इस ध्यानका ध्यान रखना चाहिए कि प्रकरणमें] 'प्रकरण' में कहे हुए वणिक आदिमेंसे ही [कोई] नायक होना चाहिए । इसलिए वणिक आदिके योग्य ही वेष और संभोग आदि सारा व्यवहार यहाँ दिखलाना चाहिए । स्त्री नायिका भी उसी जातिके अनुरूप होनी चाहिए । धृतिवीरता एव फलके वणिक आदिके लिए अनुचित होनेसे स्त्रीप्राप्ति सहित द्रव्यलाभादि फल भी ['प्रकरण' के समान ही] होना चाहिए ।

['नाटिका' के समान प्रकरणी' में भी नाटक और 'प्रकरण' दोनोंके धर्मोंका समावेश होता है जिनमेंसे] कैशिकीका बाहुल्य नाटकका धर्म है । क्योंकि 'प्रकरण' में कैशिकी की गूढता होती है । ['प्रकरणी में कैशिकी-बाहुल्य रहता है वह धर्म नाटकसे लिया जाता है 'प्रकरण' से नहीं] कल्पित अर्थका होना और वणिगादिका नायकत्व ये दोनों 'प्रकरण' के धर्म [प्रकरणोंमें आते] हैं । नाटक और 'प्रकरण' से उत्पन्न होनेपर भी 'नाटिका' और 'प्रकरणी' दोनोंमें, नाटक [और प्रकरण] में कहे हुए नायकों के अनुसार ही नायिकाका व्यवहार होना चाहिए । क्योंकि सारे व्यवहार नायक के अनुसार ही उचित होते हैं ।

१ नायिकानुसारमें नायक व्यपदेश

अथ पूर्णदशा-संचीनि रूपकाणि लक्षयित्वा न्यूनदशा-सचीनि निरूप्यन्ते ।  
तत्रापि मनुष्यनायकप्रत्यासत्त्या प्रथमं 'व्यायोगं' लक्षयति—

[सूत्र १२५]—एकाहचरितैकांको गर्भमिश्रविर्वाजितः ।

अस्त्रोनिमित्तसंग्रामो नियुद्धस्पर्धनोद्धतः ॥ [६] ७४ ॥

स्वल्पयोषिज्जनः ख्यातवस्तुर्दीप्तरसाश्रयः ।

अदिव्यभूपतिस्वामी व्यायोगो नायिकां विना ॥ [१०] ७५ ॥

एकदिवसनिवर्तनीयकार्य एक एव अङ्को यत्र । एकाहचरितत्वाच्चैकाङ्कत्व-

['प्रकरण' के समान ही 'प्रकरणो' का निर्वचन आगे विललाते हैं] जिसमें [आषट्पान-वस्तुरूप] अर्थ भली प्रकारसे किया अर्थात् कल्पित किया जाता है वह 'प्रकरणो' कहलाती है [यह 'प्रकरणो' शब्दका अवयवार्थ हुआ] । अल्पार्थमें कप-प्रत्यय करके 'प्रकरणिका' [पद भी बन जाता है] । [नाटिका और प्रकरणो] ये दोनों ही [नाटक तथा प्रकरण रूप] मुख्य दो रूपकों के सकारसे उत्पन्न होनेके कारण सकीर्णभेद रूप हैं । इसी प्रकार दो रूपको या तीन रूपकों के सकारसे उत्पन्न अन्य सकार भेद भी हो सकते हैं । किन्तु [लक्ष्य ग्रन्थोके रूपमें] न पाए जायें और मनोरञ्जक न होनेसे हमने उनके लक्षण नहीं किए हैं । 'नाटक' और 'प्रकरण' के समान ही नाटिकामे राजाओंके और 'प्रकरणिका' में वणिगादिके, धर्म एव धर्मके अवरोधी विलास-प्रधान वृत्तका वर्णन करना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

५. पञ्चम रूपकभेद 'व्यायोग' का निरूपण

इस प्रकार नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणो इन चार रूपकभेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब पञ्चम भेद 'व्यायोग' के लक्षणका अवसर आता है । यहाँ तक जिन चार रूपका भेदोंका निरूपण किया गया है उन सबमें सम्पूर्ण दशाओं और सन्धियों का वर्णन था । किन्तु यहाँसे आगे जिन रूपकभेदोंका वर्णन किया जाएगा उनमें दशा तथा सन्धि दोनों न्यून स्थायी रहेगी । इसी भेदको दिखलाते हुए ग्रन्थकार आगे 'व्यायोग'-का लक्षण आदि करने हैं ।

पूर्ण दशाओं और पूर्ण सन्धियोंसे युक्त [१ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणो इन चार] रूपकोंके लक्षण कर चुकनेके बाद अब न्यून दशा और सन्धियोंसे युक्त [रूपक भेदों] का निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं । उनमें से भी ['व्यायोग' में नाटकादि पूर्वोक्त चार रूपकभेदोंके समान] मनुष्य नायकका सम्बन्ध होनेसे पहले 'व्यायोग'का निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२५ ब]—एक दिवसे वृत्तान्तको दिखलाने वाले और एक ही अर्थ से युक्त, गर्भ तथा विमिश्र सन्धियोंसे रहित स्त्रोसे भिन्न निमित्तसे संग्राम जिसमें दिखलाया गया हो, मत्स्युद्ध और स्पर्धामे दीप्तः—[६] ७४ ।

[सूत्र १२५ ग]—युद्ध भ्रम स्त्री पात्रो वाला प्रसिद्ध कथा-वस्तु तथा दीप्त रसोंसे सम्पन्न, अदिव्य [देवता तथा राजा आदिसे भिन्न सेनापति सम्राट् आदि रूप] नायकसे युक्त रूपक 'व्यायोग' [बहलाना] है । किन्तु उसमें नायिका नहीं होती है । [१०] ७५ ।

एक दिनमें ही कार्यको समाप्तको प्रदर्शित करने वाला, एक ही अर्थ जिनमें हो [वह रूपकभेद 'व्यायोग' कहलाता है । यह व्यायोगका मुख्य लक्षण है] । एक ही दिनमें

मस्य । दीप्तरस-नायकयुक्तत्वान् गर्भविमर्शविचर्जनम् । दीप्तरसो हि कालक्षेपास-  
हिष्णुतया विनिपातानां शक्या च प्रारम्भ-प्रयत्नानन्तरं फलागम एव यतते ।

एवमीहामृगनायका अपि । हिम-समवकारनायकास्तु बहुतरफलार्थित्वेन  
प्राण्याशायुक्ता दीप्तरसत्वेन च विनिपाताशङ्कितो निर्विमर्शकाः । भाण-प्रहसनयो-  
र्नायकस्याधमत्वाद्, उत्सृष्टिकाङ्क्षे शोकार्थत्वाद्, वीथ्यां चासहायत्वान्, सर्वेषामल्प-  
श्रुतत्वान् च प्रारम्भानन्तरं फलागमनिवन्ध । नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वे-  
नार्तिसहत्वान्, हित-यद्गुफलकर्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणान् च मर्त्रानस्था-  
सम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव ।

श्रुतान्तका वर्णन होनेसे इसमें केवल एक ही भ्रक होता है । दीप्तरस [रीढ़ वीर आदि  
रसप्रधान] नायकसे युक्त होनेके कारण [हो] गर्भ तथा अवमर्श सन्धियोंका निषेध किया गया  
है । दीप्तरस वाला [नायक] कालक्षेपको [अर्थात् कार्यसिद्धिमें विलम्बको] सहन नहीं कर  
सकता है [जल्दबाज होता है] और काम बिगड़ जानेके डरसे [कालक्षेप किए बिना] प्रारम्भ  
और प्रयत्न [रूप दो अवस्थाओं] के अनन्तर ही फलको प्राप्त करनेका यत्न करता है ।  
[इसलिए इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंका अवसर नहीं आता है] ।

सन्धि तथा अवस्थाओंकी न्यूनताका उपपादन

इसी प्रकार 'ईहामृग' [नामक रूपकभेद] के नायक भी [कालक्षेपको सहन नहीं कर  
सकते हैं इसलिए उसमें भी गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती हैं] । 'हिम' और 'समवकार'  
के नायक तो प्रचुर फलकी कामना वाले होनेसे 'प्राप्यप्राप्ता' [अवस्थावाली 'गर्भ सन्धि'] से  
युक्त तो होते हैं किन्तु दीप्तरस [जल्दबाज] होनेसे विनिपात [कार्य बिनाश] की शकासे  
युक्त होनेके कारण विमर्श रहित होते हैं । [इसलिए 'हिम', 'समवकार' आदि रूपकभेदों में  
'गर्भसन्धि' होता है किन्तु 'विमर्शसन्धि' नहीं होता है] । 'भाण' और 'प्रहसन' [नामक रूपक-  
भेदों] के नायकोंके अधम होनेसे, और 'उत्सृष्टिकाक' में शोकका प्राधान्य होनेसे, तथा  
'वीथी' आदि [रूपकभेदोंमें नायकोंके] सहायक-विहीन होनेसे, और इन सभीके स्वल्प-  
श्रुतताला होनेसे प्रारम्भ [अवस्था] के बाद ही [बीच की यत्न, प्राप्यप्राप्ता आदि तीन  
अवस्थाओं को छोड़कर] फलप्राप्ति [रूप पञ्चमावस्था] का वर्णन किया जाता है । नाट-  
कादिके नायक तो विचारपूर्वक कार्य करने वाले, कष्टसहिष्णु, हितकर और बहुफल वाले  
कार्यके प्रारम्भ होनेसे, और विनिपातके कारणों [अर्थात् वाधाओं] के निराकरणमें समर्थ  
होनेसे [नाटकादिमें] सारी अवस्थाओंका सम्भव होनेसे पाँचों सन्धि होते ही हैं ।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने विभिन्न रूपक भेदोंके नायकोंकी मनोवृत्ति  
का विश्लेषण करते हुए दीप्त स्वभाव वाले नायक जल्दबाज होते हैं और कार्यमें कोई बिघ्न  
न आ जाय इस दृष्टिमें तुरन्त ही फल प्राप्तिका यत्न करते हैं इसलिए उम प्रकारके नायकों  
से युक्त 'व्यायोग' आदि रूपकभेदोंमें एक, दो या तीन अवस्थाओंको छोड़कर शेष दो  
तीन या चार अवस्थाओं और उसीसे अनुगार दो, तीन या चार सन्धियोंका प्रयोग किया  
जाता है । नाटकादि प्रारम्भिक चार रूपकभेदोंमें ही पाँचों अवस्थाओं तथा पाँचों सन्धियों  
का उपयोग होता है । अन्तर्मे शेष रूपकभेदों में सारे सन्धियों और सारी अवस्थाओंका

१. नायिका ।

अत्र च गर्भावमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव । एवमपरेष्वपि<sup>१</sup> रूपकेषु तत्तत्सन्धिनिषेधे तत्तत्सन्धि-परिच्छेदिकावस्थापि निषिद्धैव द्रष्टव्येति ।

अस्तीति अस्यार्थसंप्रामसंयुक्तरच । यथा जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्रा-र्जुनवध कृतः । निघुद्धं बाहुयुद्धम् । स्पर्धनं शौर्य-विद्या-कुल-धन-रूपादिकृतः संहर्ष । ताम्यामुद्धतो दीप्तः ।

प्रयोग नहीं होता है । इनमेसे 'व्यायोग'मे 'गर्भ' और 'विमर्श' को छोड़कर केवल तीन सन्धियों और तीन अवस्थाओंका ही प्रयोग होता है । 'डिम', 'समवकार' आदिमे विमर्श सन्धिको छोड़कर दोष चार सन्धियों और चार अवस्थाओंका उपयोग होता है । 'भाण' तथा 'प्रहसन' 'उत्सृष्टिका' तथा 'बीषी' इन चारोमे केवल आदि और अन्तकी दो अवस्थाओं और दो सन्धियोंका ही उपयोग होता है । बीच की तीन अवस्थाओं तथा तीन सन्धियोंका उपयोग नहीं होता है । इन बारह प्रकारके रूपक भेदोंकी सन्धि तथा अवस्था आदिके प्रयोगकी दृष्टिसे स्थिति निम्न प्रकार बनती है—

| रूपक भेद       | प्रयुक्त अवस्था सन्धि       | वर्जित अवस्था सन्धि         |
|----------------|-----------------------------|-----------------------------|
| १ नाटक         | पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ   |                             |
| २. प्रकरण      | पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ   |                             |
| ३ नाटिका       | पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ   | केवल चार अंकों मे           |
| ४. प्रकरणी     | पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ   | केवल चार अंको मे            |
| ५ व्यायोग      | तीन अवस्था तथा सन्धियाँ     | गर्भ, विमर्श रहित           |
| ६ ईहामृग       | तीन अवस्था तथा सन्धियाँ     | गर्भ, विमर्श रहित           |
| ७ समवकार       | चार अवस्था तथा सन्धियाँ     | विमर्श वर्जित               |
| ८ डिम          | चार अवस्था तथा सन्धियाँ     | विमर्श वर्जित               |
| ९. भाण         | आदि अन्त की दो सन्धि-अवस्था | प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श रहित |
| १० प्रहसन      | भाणवत्                      | भाणवत्                      |
| ११ उत्सृष्टिका | भाणवत्                      | भाणवत्                      |
| १२ बीषी        | भाणवत्                      | भाणवत्                      |

यहाँ [अर्थात् व्यायोगमे] गर्भ तथा विमर्श सन्धिका निषेध होनेसे इन सन्धियों को स्थापित करने वाली 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' रूप अवस्थाओंका भी निषेध समझना चाहिए । इसी प्रकार अन्य रूपकोंमे भी उस उस सन्धिका निषेध होनेपर उस उस सन्धि को स्थापित करने वाली अवस्थाओं भी निषिद्ध हो समझना चाहिए ।

'घटोत्री' इत्यादिसे स्त्रीको छोड़कर अन्य निमित्तसे सपामयुक्त हो [यह सूचित किया है] जंमे 'जामदग्न्यजय' [नामक व्यायोगमे] परशुरामने सहस्रार्जुनका वध किया है । 'निघुड' का अर्थ बाहुयुद्ध है । शौर्य, विद्या, कुल, धन और इत्यादिसे बारण होनेवाला सहर्ष 'स्पर्धा' [स्पर्धा-ताता] है । उन दोनों [अर्थात् निघुड तथा स्पर्धा] से उद्भूत अर्थात् दीप्त [व्यायोग होता है] ।

१. मुरारवपि ।

स्वल्पग्रीपास्तं च वैशिर्कीरहितत्वान् । एतेन पुरुषपात्रादुल्लेख्य लभ्यते ।  
ख्यात प्रसिद्धं वस्तु नायकोपायलक्षणं यस्य । दीप्तानां वीर-रौद्रादीनां रसानामाश्रयः ।  
अत-ग्यात्र गद्य पद्य चोच्चोक्तम् । तथा दिव्यभूषितनिर्जित सेनापत्यमात्यादि-  
दीप्तरसानायकसम्पन्नः । केचिदस्य द्वादशनेत्र-रमाम्नासिषु । विशेषेण आ समन्ताद्  
युज्यन्ते कार्यार्थं सरभन्तेऽप्रेति 'व्यायोगः' । 'नायिका विना' इत्यनेन नायिकाया-  
स्तदुचितस्य च दृष्ट्यादेः परिजनस्य निषेधः । तेन नायकपरिच्छेदभूतारचेद्व्याघयो  
भजन्त्येव । अत्र च मन्त्रि-सेनापत्यादीनां युद्धादिवहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यमिति ॥ [६-१०]  
७४-७५ ॥

अथ क्रमप्राप्तं समकारं लक्षयति—

[सूत्र १२६]—विज्ञेयः समवकारः ख्यातायोर्निर्विमर्शकः ।

उदात्तदेव-दंत्येशो वीर-रौद्रवान् ॥ [११] ७६ ॥

सगतिरयकीर्णार्थं त्रिगोपायं पूर्वप्रसिद्धेरेव क्रियते निरन्ध्रत इति 'सम-  
वकारः' । ख्यातार्थं इति बृहत्त्रयादिप्रसिद्धनायक-उपाय-त्रिगोपकलो निमर्शसन्धि-  
निर्जितश्च ।

[व्यायोगम्] स्त्री पात्रोंकी स्तपना कंसिकी रहित होनेके कारण होती है । इससे  
पुरुष पात्रोंका आधिक्य सूचित होता है । जिसमें नायक तथा उपाय रूप वस्तु ख्यात अर्थात्  
प्रसिद्ध हो । वीर रौद्र आदि दीप्त रसोंका आश्रय हो । इसीलिए इसमें गद्य और पद्य दोनों  
भोज गुणसे युक्त होने चाहिए । और [व्यायोग] दिव्य [अर्थात् देवता रूप नायक] और  
राजाओं [रूप नायकों] से भिन्न, दीप्त रसोंके अनु रूप सेनापति अमात्यादि नायकोंसे युक्त  
होना चाहिए । कोई लोग इसमें बारह प्रकारके नायक बतलाते हैं । [माने व्यायोग शब्द  
का निबन्धन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं] जिसमें विदोय रूपसे आ समन्ताद् अर्थात्  
सब ओरसे युक्त होते हैं अर्थात् कार्यकेलिए प्रयत्न करते हैं । वह 'व्यायोग' [बहलाता]  
है [यह 'व्यायोग' पदका अवयवार्थ या निर्वचन है] । 'नायिका विना' इस पदमे नायिका  
और उसके योग्य दूती आदि परिजनोंका निषेध किया गया है । इसीलिए नायकके सेवकादि  
के रूपमें चेटी आदि होती ही हैं [उनका निषेध नहीं समझना चाहिए] । इस सबका फलि-  
ताप यह हुआ कि इसमें [अर्थात् व्यायोगमें] सेनापति अमात्य आदिका युद्ध-प्रपन्न चरित्र  
प्रदर्शित करना चाहिए ॥ [६-१०] ७४-७५ ॥

६ पण्ट रूपकभेद 'समकार' का निरूपण

[व्यायोग नामक पञ्चम रूपकभेदके निरूपणक बाद] अब समवकार नामक  
पण्ट रूपकभेद का अवसर प्राप्त होनेसे उसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२६]—प्रसिद्ध आर्यान् वस्तुके आधारपर स्थित, विमर्श सन्धिमे रहित  
उदात्त प्रकृतिके देव दंत्य आदि नायकों वाता वीर या रौद्ररस प्रधान, वीर्योक्त अर्थात्  
युक्त [रूपकभेदको] समवकार समझना चाहिए । [अर्थात् समवकार के लक्षणमे इन  
सब बातोंका समावेश होता है] ॥ [११] ७६ ॥

[कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हुए अन्यकार सबसे पहले 'समवकार' पदका  
निर्वचन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं] । कहीं मिले हुए और कहीं बिखरे हुए त्रिवर्ग

‘उदात्त’ इति उदात्तत्वं महत्त्व-गाम्भीर्यादि । देव-दैत्यानां हि धीरोद्धतत्वं मर्त्यपेक्षयैव, स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि ।

अत्र च तत्तदेव-दैत्यमक्षताना इष्टदेवतादि-कर्मप्रभावादिकीर्तनान् महती प्रीति-र्यात्राजागरादि-प्रेक्षाकरण-तदनुष्ठितोपायादियु प्रवृत्तिश्च भवतीति देव-दैत्यौ नेतारौ । एवमन्येष्वपि अमनुष्यनेतृकेषु वाच्यम् । वीथ्वङ्गानि व्याहारादीनि वक्ष्यमाणानि । तद्वान् । वीर-रौद्रवान् इत्यतिशायने मतु । तेनात्र\* त्रिशृङ्गारत्वेऽपि वीर-रौद्रौ प्रधानम् । देव-दैत्यानामुद्धतत्वेन शृङ्गारस्य च्छायाभात्रत्वेन निबन्धनादिति ॥ [११] ७६ ॥

के पूर्व-प्रसिद्ध उपायोके द्वारा जिसको किया अर्थात् बनाया जाता है वह ‘समवकार’ कहलाता है । [अर्थात् समवकार शब्द सम अथ उपसर्ग पूर्वक कृ-धातु से निष्पन्न होता है] । ‘एपातार्थ’ से [यह अभिप्राय है कि] बृहत्कथा आदिमें प्रसिद्ध नायक, उपाय तथा त्रिवर्ग रूप फलसे युक्त, तथा विमर्श-सन्धिसे रहित होना चाहिए ।

[‘उदात्तदेव दैत्येशो’ मे] ‘उदात्त’ इससे महत्त्व गाम्भीर्यादिको उदात्तत्व समझना चाहिए । देवों और दैत्योंका धीरोद्धतत्व मनुष्योंकी अपेक्षासे होता है । अपनी अपनी जाति की अपेक्षासे तो [देवो तथा दैत्यों दोनोंमें] धीरोदात्तत्व भी होता है । यहाँ [सप्तारमे या समवकारमें] उन-उन देवो तथा दैत्योके भक्तोमें अपने-अपने इष्टदेव आदि, उनके कर्म तथा प्रभाव आदिके कीर्तनसे अत्यन्त आनन्द [प्रीति] यात्रा, जागरण, [प्रेक्षाकरण अर्थात्] दर्शन या भाँकी बनाना आदि और उनके द्वारा किए गए उपायोके अनुष्ठान आदिमें प्रवृत्ति होती है इसलिए देव और दैत्योंको यहाँ [अर्थात् समवकारमें] नायक माना गया है । इस प्रकार मनुष्योंसे भिन्न नायकों वाले अथ रूपकभेदोंमेंके विषयमें भी समझना चाहिए । [‘वीथ्वङ्ग-वान्’ इस पदमें निर्दिष्ट] ‘वीथी’ के ‘व्याहारादि’ अंग जो आगे कहे जाने वाले हैं उनसे युक्त [होना चाहिए] । ‘वीर-रौद्रवान्’ इसमें प्रतिशायन अर्थमें मतु-प्रत्यय है । इसलिए [समव-कारमें] अगली ७७ वीं कारिकामें बहे हुए (१) धर्मफलक, (२) अर्थफलक, तथा (३) कामफलक तीनों प्रकारके शृङ्गारके होनेपर भी, वीर और रौद्र प्रधान [रस] होते हैं । क्योंकि देव और दैत्योके उद्धत होनेके कारण उनके शृङ्गारका [समवकारमें] छायाभात्र रूपसे ही वर्णन होता है । [इसलिए शृङ्गाररस उसमें प्रधान नहीं होता है । वीर या रौद्ररस ही समवकारमें प्रधान रस होते हैं] ॥ [११] ७६ ॥

इस प्रकार ‘समवकार’का सामान्य लक्षण इस कारिकामें दिया है । ७७ से ८० तक अगली चार कारिकाओंमें उसके सम्बन्धमें अन्य अनेक बातोंका वर्णन करेगे । इसमें ‘समव-कार’के द्वादश नायक और तीन अथ यत्साए गए हैं । द्वादश नायकोंकी संख्याका उपादान दो प्रकारसे किया गया है । एक मत तो यह है कि समवकारके जो तीन अङ्ग होते हैं इनमें से प्रत्येकमें चार-चार नायक होते हैं । इस प्रकार तीनों अङ्गोंमें मिलाकर बारह नायक हो जाते हैं । प्रत्येक अङ्ग में जो चार-चार नायक बहे गए हैं उनमें नायक-प्रतिनायक और उन दोनोंमें महायक ये चारों नायक माने जाते हैं । सभी चार नायक बनते हैं । दूसरा मतमें ‘समवकार’के प्रत्येक अङ्गमें बारह-बारह नायक होते हैं । यह बारह संख्या भी दूमी प्रकार नायक-प्रतिनायक और उनके अनुरूप महायक।की मितावर पूरी होगी ।

१ शृङ्गारत्वेऽपि ।



अथ कृत्यान्तरमुपदिशति—

[सूत्र १२७]—अत्र द्वादश नेतारः फलं तेषां पृथक् पृथक् ।

अंकास्त्रयः त्रिशृंगाराः त्रिकपटा त्रिविद्रवाः ॥ [१२] ७७ ॥

षड्-युग्मैकमुहूर्ताः स्युः निष्ठितार्थाः स्वकार्यतः ।

महावाक्ये च सम्बद्धाः क्रमाद् द्वि-एकैकसन्वयः ॥ [१३] ७८ ॥

‘अत्र’ समवकारे नायका द्वादश । सत्र’ प्रत्यङ्क द्वादश । यदि वा’ प्रत्यङ्क नायक-

‘समवकार’को प्रगल्भी कारिकायाम् ‘त्रिशृंगार’ तीन प्रकारके शृंगारोंमें युक्त कहा गया है । जैसे तो उनके प्रसंगमें शृंगारके सम्मोहशृंगार और विप्रलम्भशृंगार केवल ये दोनों ही भेद किए गए हैं । किन्तु यहाँ तीन प्रकारके शृंगाररसोंकी चर्चा की गई है । यहाँ शृंगार के ये तीन भेद फनकी दृष्टिसे किए गए हैं । (१) घर्मप्रधान शृंगार (२) घर्मप्रधान शृंगार और (३) कामप्रधान शृंगार । इस प्रकार शृंगारके तीन भेद करके ‘समवकार’को ‘त्रिशृंगार’ कहा गया है । शृंगारके ये तीनों भेद ‘समवकार’के तीनों अंकोंमेंसे प्रत्येक अंकमें होने चाहिए । एक एक अंकमें एक-एक भेदका निबन्धन नहीं करना चाहिए यह बात भी प्रागे कहेंगे ।

‘समवकार’के तीनों अंकोंकी रचनाके विषयमें भी यह बात विशेष रूपसे निदिष्ट की गई है कि उनकी रचना इस प्रकारसे होनी चाहिए कि उनमेंसे प्रत्येक अंक अपनेमें परिपूर्ण हो । उसी अपने अर्थकी पूर्णताके लिए दूसरे अंकके सहारेकी आवश्यकता न हो । इसके साथ ही अन्तमें तीनों अंकोंकी एकवाक्यता या परस्पर सम्बन्ध भी प्रतीत हो सके । इसके लिए यह मार्ग बतलाया गया है कि प्रथम अंकके आरम्भमें आमुखके बाद तीनों अंकोंके उपक्षेप दीजना निबन्धन करना चाहिए । उसके बाद तीनों अंकोंको इस प्रकारसे बनावें कि उनका आख्यानवस्तु उसी अंकमें समाप्त हो जाय । किन्तु अन्तमें तृतीय अंकमें फिर इस प्रकारकी रचना करनी चाहिए कि जिससे उसका आख्यानभाग अपनेमें परिपूर्ण हो किन्तु साथ ही तीनों अंकोंका अर्थका परस्पर सम्बन्ध बन सके । इन्हीं सब बातोंको ७७ ७८ प्रगल्भी दो कारिकाओंमें इस प्रकार कहा गया है—

अथ प्रागे [समवकारम्] किए जान वाले अन्य कार्योंका उपदेश करत हैं—

[सूत्र १२७ फ]—इस [समवकार] में बारह नायक होते हैं । उनका फल असंग-अलग होता है । तीन प्रकारके शृंगार, तीन प्रकारके कपट और तीन प्रकारके मिश्रित युक्त तीन अङ्क होते हैं । [१२] ७७ ॥

[सूत्र १२७ ख]—[समवकारके तीनों अंक क्रमशः] छ मुहूर्त, दो मुहूर्त और एक मुहूर्त वाले [अर्थात् इतने समयमें जिनका अभिनय हो सके इस प्रकारके] । स्वयंमें परिपूर्ण अर्थवाले, और महावाक्य [अर्थात् स्वयंमें परिपूर्ण होनेपर भी एकवाक्यनायकता अर्थात् परस्पर] में सम्बद्ध, तथा क्रमशः दो एक और एक सन्धि वाले होने चाहिए [अर्थात् प्रथम अंकमें मुख प्रतिमुख रूप दो सन्धियाँ, द्वितीय अंकमें केवल एक गन्धसन्धि तथा तृतीय अंकमें केवल एक निबन्धन सन्धिकी रचना होनी चाहिए] । [१३] ७८ ।

इस ‘समवकार’में बारह नायक होते हैं । उनमेंसे प्रत्येक अंकमें बारह [नायक] होते

प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वारश्चत्वार । तत सर्वसंख्यया द्वादश द्वादश इति मध्यमा वृत्ति । तेन कचिन्न्यूनाधिक्येऽपि न दोष । 'तेषाम्' इति द्वादशाना नायकाना पृथग्भूतानि फलानि वक्ष्यन्ते । यथा 'पयोधिमन्थने' हरि-वलिप्रभृतीना लक्ष्म्यादि-लाभा । अत एव सहायका अपि सुग्रीवादिबन्धनायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते । 'त्रय' इति त्रयोऽङ्का भवन्ति शृङ्गारत्रयादिविशिष्टा न त्वेकैक एकस्मिन्नके शृङ्गारादीनामेकैक-भावादिति । मुहूर्तो घटिकाद्वयम् । तत्र प्रथम पण्मुहूर्त । द्वितीयो द्विमुहूर्त । तृतीय पण्मुहूर्त । एके तु प्रत्येक यथोदितद्विगुण कालमानमाह ।

'निष्ठितार्था' प्रकार्थसाध्यफलस्य अकान्तरार्थासम्बद्धत्वेन त्वस्मिन्नेव परि-समाप्तार्था । महावाक्ये च परिपूर्णप्रत्ययार्थसाध्ये फले सम्बद्धा । सकलप्रत्ययसाध्य-फलोपायभूतार्थस्त्रयोऽङ्का इत्यर्थः ।

इह तावदामुत्तमान्तर सत्तेपेणाकत्रयार्थोपत्तेरक वीज निबन्धनीयम् । तद-  
न्तरसकद्वय अवान्तरसाध्यार्थेन परस्परनिच्छिन्नमायोज्यम् । तृतीयस्त्वस्तथा  
है [यह एक मत है] । अथवा प्रत्येक अङ्के १ नायक २ प्रतिनायक, और उन दोनों के सहायक इस प्रकार चार-चार, और फिर [तीनों अङ्कों के चार चार नायकों को] सब मिलाकर बारह [नायक] होते हैं यह मध्यम भाग है । इसलिए किसी अङ्के कम और अधिक [नायकों की संख्या] होनेपर भी दोष नहीं होता है । 'तेषाम्' अर्थात् उन बारहों नायकों के फल अलग अलग वर्णित होते हैं । जैसे 'पयोधिमन्थन' में विष्णु और बलि आदि [नायकों] के लक्ष्मी आदिकी प्राप्ति आदि रूप [अलग अलग] फल [विलक्षण गए] हैं । इसलिए [सब नायकों के अलग अलग फलोका निबन्धन होनेसे] सुग्रीव आदिके समान सहायक भी नायक रूपसे बड़े जाते हैं । 'त्रय' तीन, इससे तीनों प्रकारके शृङ्गारोसे विशिष्ट तीन अङ्क होते हैं यह अभिप्राय है । न कि एक एक अङ्के एक-एक शृङ्गारादि होता है [इसका अर्थ यह हुआ कि 'समवकार' के प्रत्येक अङ्के तीना प्रकारके शृङ्गार, तीनों प्रकारके कपट, और तीनों प्रकारके विद्रव दिख साए जाने चाहिए] । एक-एक अङ्के एक एक प्रकारके शृङ्गार, कपट और विद्रवका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए] । मुहूर्तसे दो घड़ी [कालका ग्रहण होता] है । उन [समवकार के तीन अङ्कों]मेंसे प्रथम [अङ्क] छ मुहूर्तका, द्वितीय [अङ्क] दो मुहूर्तका और तृतीय [अङ्क] एक मुहूर्तका होना चाहिए [यह कारिकासे प्रष्ट हुए प्रष्ट एकमुहूर्त 'त्रय' इसका अर्थ है] । इसका अभिप्राय यह है कि इतने कालमें तीनों अङ्कोका अभिनयादि रूप अर्थ समाप्त हो जाना चाहिए । कोई व्याख्याकार तो प्रत्येक अङ्क इस कालसे दुगुना कालका परिमाण मानते हैं ।

[कारिकासे आए हुए] निष्ठितार्था 'इतसे उस अङ्क की कथामें साध्य फलका दूसरे अङ्के सम्पूर्ण न होनेसे अनेक ही अर्थोंकी समाप्ति हो जाय यह अभिप्राय है । [अर्थात् 'समवकार' के तीना अङ्कोंमेंसे प्रत्येक अङ्के कथाभागकी समाप्ति उसमें हो जानी चाहिए] फिर भी महा-वाक्यमें [अर्थात् सम्पूर्ण समवकारमें] पूर्ण प्रवचने कथासे साध्य फलमें परस्पर सम्बद्ध होने चाहिए । अर्थात् सम्पूर्ण प्रवचने साध्य फलक उपायभूत अथवा तैत्तिरीय तीनों अङ्क होने चाहिए यह अभिप्राय है ।

[इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए समवकारके अङ्कोंकी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि] सबसे पहले आमुखके अनन्तर सक्षेपमें तीनों अङ्कोंमें अथवा उपर्युक्त करने

निबन्धनीयो यथा अवान्तरवाक्यार्थविच्छिन्नः सर्वाङ्गार्थसम्बद्धार्यश्च भवति । एव हि पूर्वपरानुसन्धानावधेयधियो व्यवहितार्थानुसन्धानावहितबुद्ध्यश्च त्रिगर्गसिद्धयुपाय-  
व्युत्पत्त्याऽनुगृहीता भवन्ति ।

अङ्गान्तरार्थानुसन्धायी च परस्परासम्बद्धाङ्गत्वादत्र न विन्दुर्निगध्यते ।  
'प्रमाद' इति प्रथम-द्वितीय-तृतीयक्रमेण अङ्गा द्वि-एक-एकसन्धयः । तत्र प्रथमेऽङ्के मुर-  
प्रतिमुने, द्वितीये गर्भः, तृतीये निर्वहणमिति ॥ [ १०-१३ ] ७७-७८ ॥

अथ शृङ्गारादीनि व्याख्यातुमाह—

[सूत्र १२८]—शृङ्गारस्त्रिविधो धर्मकामार्थफलहेतुकः ।

वञ्च्य-वञ्चक-दैवेभ्यः, सम्भवी कपटस्त्रिधा ॥ [१४] ७९॥

जीवाजीवोभयोत्थः स्याद् विद्रवस्त्रिरमीषु तु ।

प्रत्येकमंकेष्वेकैकः पद्यं च खण्डरादिकम् ॥ [१५] ८०॥

वाले बीजकी रचना करनी चाहिए । उसके बाद [प्रथम तथा द्वितीय] दोनों अङ्गोंको [स्वयमे  
समाप्त हो जाने वाले] अवान्तर वाक्यार्थके रूपमें एष दूसरेसे विच्छिन्न रूपमें प्रथित करना  
चाहिए । [उसके बाद] तृतीय अङ्गकी रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि [प्रथम और  
द्वितीय अङ्ग एव] अवान्तर वाक्योके अर्थमें विच्छिन्न होनेपर भी सब अङ्गोंने अर्थसे सम्बद्ध  
अर्थ वाला हो जाय । इस प्रकार पूर्वापर अर्थरूपको ग्रहण करनेसे और व्यवहित अर्थके  
अनुमग्यान करनेसे समर्थ बुद्धिवाले [सामाजिक, धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी सिद्धिके उपायोंके  
परिज्ञानके द्वारा अनुगृहीत होते हैं ।

यहाँ [समवकारमें अङ्गोंके] परस्पर असम्बद्ध होनेके कारण, दूसरे अङ्गके अर्थोंको  
जोड़नेवाले 'विन्दु' की रचना इसमें नहीं की जाती है । 'प्रमाद' [द्वि एक एकसन्धय इस  
कारिका भागमें] क्रमसे, इससे प्रथम द्वितीय तृतीयके क्रमसे अङ्ग क्रमशः दो एव और एक  
सन्धि वाले होते हैं । उनमेंसे प्रथम अङ्गमें मुख और प्रतिमुख [दो सन्धि], द्वितीयमें गर्भसन्धि,  
और तृतीय [अङ्ग] में निर्वहण सन्धि होता है । [इस प्रकार तीनों अङ्गोंमें क्रमशः दो एव  
तथा फिर एक सन्धि होता है । विमर्श सन्धि समवकारमें नहीं होता है यह बात ७६वाँ  
कारिकामें ही 'निविमर्श' पदसे कहा जा चुकी है ॥ [१२ १३] ७७-७८ ॥

इन दोनों कारिकाओंमेंसे ७७वीं कारिकामें समवकारके तीनों अङ्गोंको त्रिशृङ्गार,  
त्रिकपट और त्रिविद्रवसे युक्त कहा गया था । विन्दु इन पदोंका अर्थ वहाँ स्पष्ट नहीं किया  
गया था । इसलिए अगली दो कारिकाओंमें इन तीनों शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करनका प्रयत्न  
किया गया है । इसमें 'त्रिशृङ्गार' पदसंघम, अर्थ और काम हेतुक तथा तत्पत्न्य तीन प्रकारके  
शृङ्गारोंका, त्रिकपट पदसे वञ्च्योत्थ, वञ्चकोत्थ तथा दैवोत्थ तीन प्रकारके कपटोंका, तथा  
जीव अजीव और उभयसे उत्पन्न तीन प्रकारके विद्रवोंका ग्रहण होता है इसी बातको ग्रन्थ-  
कार अगली दोनो कारिकाओंमें दिसलाता है—

[सूत्र १२९ क]—धर्म काम और अर्थ जिसके (१) फल तथा (२) हेतु हैं वह  
[त्रिशृङ्गार] तीन प्रकारका शृङ्गार होता है । [इसी प्रकार] वञ्च्य, वञ्चक तथा दैवसे उत्पन्न  
होने वाला कपट [भी] तीन प्रकारका होता है । [१४] ७९ ।

धर्म-काम-अर्थो फल हेतवश्च यस्य । तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदार-वर्जनादिको धर्म फलम् । दानादिकस्तु धर्म स्यादिलाभस्य हेतु । काम-शृङ्गार-शब्दाभ्यां स्त्री-पुंसयो रति, तद्धेतुश्च स्त्री-पुंसादिरूपं । तत्र स्त्री-पुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूप काम फलम् । रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्री-पुंसादिरूप कामो हेतु । अत्र च कामशृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या । न पुन स्वदारा वेश्या वा । यथा शक्रया-हृत्या । स्वदाराऽऽदौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात् ।

अर्थो राज्य-सुवर्ण-धन-धान्य-वस्त्रादि । तत्र पण्यादियोपिता, वेपाचिन् सुभ-गाना पुंसा चार्थफल शृङ्गार । वेश्याविपु च पुंसामर्थहेतुक शृङ्गार । देवादीना-मपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणा राज्याद्यर्थसमोहा भवत्येव । तदाराधकाना चार्थप्राप्ति । अत्र च पक्षे कारणे कार्योपचाराद् देवानामर्थशृङ्गारो द्रष्टव्य । अथवा अर्थो अर्थनीय परोपकार-भ्रतिज्ञानिर्वाहादिकम् । तच्च देवादीनामपि भवत्येवेति ।

[सूत्र १२६ ख]—जीव अजीव और [जीवाजीव] उनमेसे उत्पन्न होने वाला विद्वद् [भी] तीन प्रकारका होता है । इनमेसे प्रत्येक अङ्गुल एक एक [अर्थात् एक शृङ्गार, एक कपट और एक विद्वद्] की रचना करनी चाहिए । और [समवकारमे] लघ्वरादिक घृत होना चाहिए । [१५] ८० ।

धर्म, काम और अर्थ जिसके फल [अर्थात् साध्य] तथा हेतु [अर्थात् साधक] हैं [बह धर्म कामार्थफलहेतुक दृष्टा] । उनमेसे पत्नी-संयोग रूप शृङ्गारका परदारवर्जन रूप धर्म-फल होता है । और दानादि रूप धर्म उस स्त्री [स्वपत्नी] के लाभका हेतु होता है । [इस प्रकार स्वपत्नी-संयोग रूप शृङ्गारका फल भी धर्म होता है, और उसका हेतु भी धर्म होता है] । काम और शृङ्गार शब्दोंसे स्त्री-पुरुषकी रति [रूप फल] और उसके हेतु स्त्री और पुरुष दोनोंका ग्रहण होता है । उनमेसे स्त्री-पुरुष रूप शृङ्गारका रति रूप काम फल है । और रति रूप शृङ्गारका स्त्री-पुरुषादि रूप काम हेतु है । और इस काम-शृङ्गारमे 'स्त्री' पक्ष पर स्त्री अथवा कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए । अपनी पत्नी अथवा वेश्याका ग्रहण नहीं करना चाहिए । जैसे इन्द्र की गृहत्या । अपनी स्त्री आदिमे तो धर्मका भी सम्भव होनेमे केवल धर्मका फलभाव या हेतुभाव नहीं बन सकता है । [इसलिए काम शृङ्गारमे स्त्रीते परस्त्री या कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए यह अभिप्राय है] ।

[अर्थ-शृङ्गार शब्दमे] 'अर्थ' से राज्य, सुवर्ण, धन, धान्य वस्त्रादि [का ग्रहण होता है] । यहाँ वेश्याओं और जिन्होंने सुन्दर पुरुषोंका अर्थफलक शृङ्गार होता है । और वेश्याविके विषयमे पुरुषोंका अर्थहेतुक शृङ्गार होता है । [अर्थात् वेश्याविके शृङ्गारके द्वारा अर्थ-रूप फलकी प्राप्ति होती है इसलिए उनका शृङ्गार अर्थफलक होता है । और पुरुषोंको अर्थ द्वारा शृङ्गारकी प्राप्ति होती है अतः उनका वेश्या विषयक शृङ्गार अर्थहेतुक शृङ्गार होता है] गन्धर्व पक्षादि रूप देवताओंकी भी राज्य आदि अर्थकी इच्छा होती है । और उनके द्वारा धर्मोंकी अपकी प्राप्ति होती है । इस पक्षमे कारणमे कार्यका उपचार मानकर देवताओंका अर्थ-शृङ्गार समझना चाहिए । अथवा परोपकार प्रतिष्ठा निर्वाह आदि अर्थनीय 'अर्थ' कहलाता है । और यह देवादिकी भी होता है । [इसलिए उनका शृङ्गार अर्थ शृङ्गार कहलाता है] ।

राज्य-सा प्रतीत होने वाला मिथ्या प्रकल्पित प्रपञ्च कपट [कहलाता] है । वर

मिथ्याप्रकल्पित. सत्यानुकारी प्रपञ्च. कपट. । स च यत्र वञ्चनीय. सापराध. स वञ्च्योत्थो वञ्चकस्य वञ्चनेच्छायां स्मर्यां कपट. । वञ्चकबुद्धयभावे सापराधेऽपि वञ्चये वञ्चनाया. सम्पत्त्ययोगान्<sup>१</sup>. । तेन वञ्च्येत्य. कपटो वञ्चकाविनाभाव्येव । अत एव उभयजञ्चतुर्यो न भवति ।

यत्र तु वञ्च्यापरार्थं विना वञ्चकबुद्धयैव केवलया कपटो भवति स वञ्चक-सम्भवी । यत्र तु द्वयोगानुन्यफलाभिधानयतोः काकनालीयन्यायेन एक उपचीयते ऽपरोऽपचीयते स वञ्च्यापराधाभावेन वञ्चकस्य च वञ्चनाबुद्धययोगेन च द्वयसम्भवीति ।

विद्वद्वन्ति ग्रस्यन्ति जना यस्मादिति विद्वदोऽनर्थः । 'त्रि' इति प्रकारत्रय-युक्तः । तत्र जीरोत्थो हस्त्यादिजः । अजीवोत्थः शास्त्रादिज । जीवाजीवोत्थो नगरो-परोधज । तत्र हस्त्यादेः शास्त्रादेरच व्यापारादिति ।

अमीषु तु शृङ्गार-कपट-विद्वदाणां त्रिषु भेदेषु मध्ये एकैको भेदोऽद्वेषु पृथक् पृथक् निबन्धनीयः । तत्र प्रथमेऽद्वेऽन्यतमः कपट उपाये, विद्वदो व्यापत्तिसम्भावनाया, शृङ्गार फलाशे । एवं द्वितीये तृतीये च । प्रथमे चाद्वे शृङ्गार कामशृङ्गार एव । रञ्जनायां साधकमस्य<sup>२</sup> प्रथममुपादानान् । अत एव प्रहासोऽप्यत्र निरभ्यते । 'पञ्च'

(१) जहाँ वञ्चनीय [पुरुष] अपराधी होता है और वञ्चकको धोला देने की इच्छा होती है वहाँ वञ्च्योत्थ कपट कहलाता है । (२) वञ्च्य [पुरुष] के अपराधी होनेपर भी वञ्चक को उस प्रकारका लाभ न होनेपर वञ्चना बन ही नहीं सकती है इसलिए वञ्च्योत्थ कपट वञ्चक [जि वञ्चन करनेकी बुद्धि] का अविनाभावो है । इस कारण [वञ्च्य-वञ्चक] दोनों में उत्पन्न चतुर्य भेद नहीं होता है ।

यहाँ तब वञ्च्योत्थ कपटका वर्णन किया । अब आगे वञ्चकोत्थ कपटका वर्णन करते हैं—

जहाँ वञ्च्य [जिसको धोला दिया जा रहा है उस] के अपराधके बिना ही केवल वचककी [वञ्चना] बुद्धिसे ही कपट होता है वह वञ्चकोत्थ कपट कहलाता है । [आगे बंधोत्थ कपटका संक्षेप करते हैं] जहाँ तुल्य फल और तुल्य कारण [अभिधान] होनेपर भी काक-नालीय-न्यायने एकस्मात् एककी वृद्धि हो जाती है और एकका ह्रास होता है वहाँ वञ्च्य [ह्रास पाले] का अपराध न होने और वञ्चक [वृद्धि पाले] में वञ्चनाबुद्धि न होनेके कारण वह बंधोत्थ कपट होता है ।

[आगे कारिकामें आए हुए तीन प्रकारके विद्वदोका वर्णन करते हैं] । जिससे लोग विद्वत् होते हैं अर्थात् भयभीत होते हैं उस अनर्थको 'विद्वत्' कहते हैं । वह तीन प्रकारका होता है । [१ जीवोत्थ, २ अजीवोत्थ और ३ जीवाजीवोत्थ] । उनमेंसे हस्ती आदिके द्वारा उत्पन्न होने वाला [अनर्थ] जीवोत्थ है । शास्त्रादिसे होने वाला अजीवोत्थ है । और नगरो-परोध आदिके उत्पन्न जीवाजीवोत्थ है । उस [नगरोपरोधज-य अनर्थ] में हस्ती आदि और शास्त्रादि दोनोका व्यापार होनेसे [उस प्रकारके अनर्थको जीवाजीवोत्थ अनर्थ कहा जाता है ।

[अमीषु तु] इससे शृङ्गार, कपट और विद्वदोंके तीन-तीन भेदोमेंसे एक-एक भेद अङ्गोंमें प्रलग्न अलग निबद्ध करना चाहिए । उनमेंसे प्रथम अङ्गमें [तीनों प्रकारके कपटोमेंसे]

च स्त्रगंधरादिकम्' । आदिशब्दाद् वह्नचरं शार्दूलाद्योजोगुणयुक्तं गृह्यते, न पुनर्गायत्र्यादि । तेन हि वह्नर्थाभिधाने क्लृप्ता स्यात् । केचित् पुनरल्पाक्षरं गायत्र्यादिकं अर्धसम-विपमादिकं चात्र परं मन्यन्ते । अनेन च गद्यस्यात्र न निषेधः । पद्यवैशिष्ट्य-विधानार्थत्वादिति ।

समवकारे च संक्षिप्तः सहास्यः शृङ्गारः, कपटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं, सम्प्र-हारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यम् । लौकिकीभिरूपपत्तिभिर्हीनं माया-इन्द्रजाल-प्लुत-लंघन-उच्छेद्य-पुस्तावपातादिवहुलया आरभट-या वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्र-वादि क्षुब्धलिनां परा तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते । यदाहुः—

शरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।

बाला मूर्खा स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयदिषु ॥

परितुप्यन्तीति वाक्यशेष इति ॥ [१४-१५] ७६-८० ॥

कोई एक कपट उपाय [के रूप] में, [कार्यमें] आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक विद्रव, और फल रूपमें [कोई एक] शृङ्गार विलसना चाहिए । इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अङ्कमें [भी एक कपट उपाय रूपमें, आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक-एक प्रकारका विद्रव, और फल रूपमें एक-एक प्रकारके शृङ्गारका वर्णन करना चाहिए । किन्तु इस बातका विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिए कि] प्रथम अङ्कमें काम-शृङ्गार ही रखा जाय । मनोरञ्जनमें उस [काम-शृङ्गार] के साथकतम होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया जाता है । इसी कारण इसमें प्रहासकी रचना भी की जाती है । पद्यमें स्त्रगंधरा आदि [सम्बन्धे पद्य ही समवकारमें प्रयुक्त करने चाहिए] आदि शब्दसे अधिक अक्षरों वाले और ओजो गुणयुक्त शार्दूलतन्त्रिभूषित आदि [वृत्तों] का ग्रहण होता है । [मत्स्य अक्षरोंवाले] गायत्री आदि [छन्दों] का ग्रहण नहीं होता है । उस [गायत्री आदि अल्पाक्षर छन्दों] के ग्रहण करनेसे तन्मये अर्थका वर्णन करनेमें कठिनाई होगी । [इसलिए स्वल्पाक्षर छन्दोंका ग्रहण समवकारमें नहीं करना चाहिए] । कोई लोग स्वल्पाक्षर गायत्री आदि और अर्धसम तथा विषम आदि छन्दोंका इसमें ग्रहण मानते हैं । इस [पद्योंका विशेष रूपसे नाम लेने] से यहाँ गद्यका निषेध [अभिप्रेत] नहीं है । पद्योंके प्राधिक्यका विधान करनेके लिए ही [स्त्रगंधरादिका] विधान होनेसे ।

समवकारमें हास्य सहित संक्षिप्त शृङ्गार, और देवो तथा असुरोंके घोरके कारण होने वाला कपट, विद्रव तथा दिव्य प्रभावसे साध्य मुद्रादिषु [का वर्णन पाया जाता] है । लौकिक वृत्तिपोंसे रहित [अर्थात् लौकिक उपायोंसे सिद्ध न होने वाला] माया, इन्द्रजाल, उद्दलना बूदना [उच्छेद्य अर्थात् नष्ट करने योग्य] द्रव्यसे युक्त आदिषु गिराना आदि, जिसमें मुख्य रूपसे किया जाता है इस प्रकारकी आरभटो वृत्तिसे सम्पादित प्रहसन, कपट, विद्रव आदि सभी कुछ बोद्धव्योत्सुख जनताकी अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हैं [इसलिए उनका वर्णन किया जाता है] । जैसा कि कहा भी है कि—

धूर लोग घोर रौद्र रसोंमें, मत्स्यपुट घोर मुद्राओं [आनन्द अनुभव करते हैं] घोर बानस भूतं तथा स्त्रियाँ हास्य, शोक, भय आदिमें [आनन्दका अनुभव करते हैं] ।

'प्रमत्त होते हैं' यह वाक्य लेय है [अर्थात् इस वाक्यको ऊपरमें जोड़ लेना चाहिए]

॥ [१४-१५] ७६-८० ॥

अथ भाणस्य क्रमप्राप्तो लक्षणवसर.—

[सूत्र १२६]—भाणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुख-निर्वहवान् ।

एकाङ्को दशलास्याङ्गः प्रायो लोकानुरञ्जकः ॥ [१६] ८१॥

भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाशयतेऽनेति 'भाण' । शौर्य-सौभाग्य-वर्णना चाहृत्येनात्र वीरशृङ्गारयोः प्राधान्यम् । शृङ्गाराङ्गत्वाद् हास्योऽप्यत्राङ्गतया वर्णनीय । तथा मुख-निर्वहणसन्धिसम्पूर्ण एकाहनिवर्तनीयत्वादेकाङ्क । दश चात्र लास्याङ्गानि नियध्यन्ते । तानि चैतानि यथा च—

गेयपदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।

प्रच्छेदकं<sup>१</sup> त्रिमूढं च सैन्धवाख्यं<sup>२</sup> द्विमूढकम् ॥

उत्तमोत्तमकं वैषमुक्त-प्रत्युक्तमेव च । इति ।

प्रायेण लोकरम्य पृथग्जनस्य विट-वेश्यादिवृत्तात्मकत्वाद् रञ्जनात्मकः । विट-धूर्त-कुट्टिन्यादिचेष्टितं राजपुत्रादीनामपि चातुर्यार्थं ज्ञेयमेवेति प्रायोऽग्रहणमिति ॥

[१६] ८१ ॥

७. सप्तम रूपक भेद 'भाण' का लक्षण—

प्रथममेतं भाणका लक्षण करनेका अवसर आता है [इसलिए भाणका लक्षण करते हैं ।

[सूत्र १२६] शृङ्गार या वीर रस प्रधान, मुख सन्धि तथा निर्वहण [दो ही सन्धियों] से युक्त, दश लास्याङ्गोंसे पूर्ण, एक अङ्क वाला, और प्राय साधारण जनोंका मनोरञ्जन करनेवाला [रूपकभेद] 'भाण' [कहलाता] है ॥ [१६] ८१॥

जिसमे नायक [अथ किसी पात्रके रङ्गभूमिमे उपस्थित न होनेसे] आकाशोक्ति द्वारा अपने और दूसरेके घृत्तको कहता या प्रकाशित करता है । वह [‘भण्यते यनेति भाण’ इस पुरातिवे अनुसार] ‘भाण’ कहलाता है । इसमे शौर्य या सौभाग्यका अधिक वर्णन होनेके कारण वीर तथा शृङ्गारका प्राधान्य होता है । शृङ्गारका अङ्ग, होनेसे हास्यरसका भी इसमे अङ्ग रूपसे वर्णन होना चाहिए । और एक ही दिनमे पूर्ण [होनेवाले कथाभागसे युक्त] होनेसे एक अङ्क वाला, तथा मुख और निर्वहण [दो ही] सन्धियोंसे युक्त [‘भाण’ होता है] । इसमे दश लास्याङ्गोंका भी वर्णन होता है । वे [दश लास्याङ्ग] निम्न प्रकार बहे गए हैं—

१ गेयपद, २ स्थित, ३ पाठ्य, ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक, ६ त्रिमूढ, ७ सैन्धव नामक द्विमूढक, ८ उत्तमोत्तमक, ९ उक्त और १० प्रत्युक्त [ये दश लास्याङ्ग बहे गए हैं । इन सबका प्रयोग भाणमें होता है] ।

[कारिकामे आए हुए ‘प्रायो लोकानुरञ्जक’ इस भागकी व्याख्या करते हैं] प्रायः लोकका अर्थान् विट धूर्त, और वेश्या आदिके वृत्तमे युक्त साधारण लोगोंके मनोरञ्जनका कारण होता है [उच्च कोटिके लोगोंके मनोरञ्जनका कारण नहीं होता है] । विट, धूर्त कुट्टिनी आदिका चरित्र चातुर्यकी शिक्षाके लिए राजपुत्रादिको भी जानना चाहिए इसलिए [कारिकामे] ‘प्राय’ पदका ग्रहण किया गया है ॥ [१६] ८१ ॥

१. एष त्रिमूढ । २. द्विमूढक ।

अथ कर्तव्योपदेशेन नायकमुद्दिशति—

[सूत्र १३०]—एको विटो वा घूर्तो वा वेश्यादेः स्वस्य वा स्थितिम् ।

व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र वृत्तिर्मुल्या च भारती ॥ [१७] ८२ ॥

एको द्वितीयपात्ररहितः । विटः पल्लवकः, घूर्तश्चौरः घृतकारादिः, वेश्यादेः पण्यस्त्री-कुलटा-शम्भल्यादेः । स्वस्यात्मनो वा स्थितिं चरितं व्योमोक्त्या रङ्गाप्रविष्ट-द्वितीयपात्रसम्बन्धवचनानुवादेन वर्णयेदङ्गविकारैः सामाजिकानुवगमयेत् । अत्र भाणे । भारती चात्र वृत्तिः प्रभूततया प्रधानम् । वीर-शृङ्गारयोः प्रधानत्वेऽपि व्योमोक्त्या वाचिक एवात्राभिनयो न सात्त्विकाङ्गकाविति, न सात्त्वती कैशिकी वा प्रधानम् । अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति । अत्र केचित् विटाकल्पितं वृत्तं, नायकं च विटमेव मन्यन्ते ॥ [१७] ८२ ॥

अथ प्रहसनस्य समयः—

[सू० १३१]—वैमुख्यकार्यं वीथ्यङ्गि स्यात्कौलीनदम्भवत् ।

हास्याङ्गि भागसन्ध्यङ्क-वृत्ति प्रहसनं द्विधा ॥ [१८] ८३ ॥

अत्र [नायकके] कर्तव्यके प्रदर्शनं द्वारा नायकका वर्णन करते हैं—

[सूत्र १३०]—एक विट या घूर्त [नायक] वेश्यादिकी अथवा अपना स्थितिको 'आकाशभाषित' के द्वारा इसमें वर्णन करता है और इसमें भारती वृत्तिकी प्रधानता होती है ॥ [१६] ८२ ॥

एक अर्थात् दूसरे पात्रसे रहित विट अर्थात् [पल्लवक अर्थात्] वेश्यासक्त और घूर्त चोर जुमारी आदि [भाग्यका नायक होता है] । वेश्यादि अर्थात् बाजारू औरत, कुलटा [धिनाल, प्यभिचारिणी स्त्री] और [शम्भली अर्थात्] कुट्टिनी, दूती आदिके [चरितको], अथवा अपनी स्थितिको या चरितको रंगमें प्रविष्ट न होने वाले द्वितीय पात्रके बचनोंवा अनुवाद करके [अर्थात् रंगमें अनुपस्थित किसी अन्य पात्रके साथ घातलापके रूपमें किए जाने वाले] आकाशभाषितके द्वारा वर्णन करे, और अङ्ग विकारोंके द्वारा सामाजिको उक्त समभावे । 'अत्र' इसमें अर्थात् भागमें । और प्रवृत्तमात्रमें होनेसे इस [भाग] में भारती वृत्ति प्रधान होती है । वीर और शृङ्गार रसोंकी प्रधानता होनेपर भी आकाश-भाषित [के रूपमें प्रयुक्त] होनेसे वाचिक ही अभिनय होता है । सात्त्विक या प्राङ्गिक नहीं । इसलिए सात्त्वती अथवा कंशिकी वृत्तिकी प्रधानता [भागमें] नहीं होती है । इसमें विट आदि का दूसरोंको ठगने वाला चरित्र भी, प्रेक्षक ठगे न जा सकें इस प्रकारकी शिक्षा देनेकेलिए, दिलाया जाता है । कुछ लोग इस [भाग] में क्याभागकी [सर्वथा] विट द्वारा कल्पित तथा नायक [गदा] विट हो होना चाहिए ऐसा मानते हैं ॥ [१७] ८२ ॥

अष्टम रूपक भेद—प्रहसनका लक्षण—

अथ प्रहसनं वा [संलक्षण करनेका] अवसर आता है—

[सूत्र १३१]—[पालण्डियों आदिके प्रति] उदासीनताको उत्पन्न करनेवाला, वीथीके अङ्गोसे युक्त, प्रसिद्ध जनापवाद और मिथ्या दम्भसे युक्त, और भाणके सामान [युक्त निर्वहण]

१. रतिः ।



चैमुग्यं बहुमानाभावः कार्यं प्रयोजनं यम्य । प्रहसनेन हि पाण्डित्यप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वच्यकानुपमर्षति । वीथ्यङ्गैर्ध्याद्वारादिभिर्यथायोगं संयुक्तं च विधेयम् । कौलीनं जनवादः तन् ग्यातं प्रसिद्धम् । दम्भश्च आत्मन्यतथ्यसाधुत्वारोपणम् । रथातोऽत्र विधेयः । यथा शास्त्रानां स्त्रीसम्पर्को<sup>१</sup> गर्हणीयो न चौर्यम् । एवं दम्भोऽपि । हास्यो रसो अङ्गी मुरयो यत्र । भाष्यवच्च सन्धी मुरनिर्वहणे । एकोऽङ्कः भारती वृत्तिश्च निबन्धनीया । हास्यरसप्राधान्येऽप्यत्र न कैशिकी वृत्तिः । निन्द्यापाण्डित्यप्रभृतीनां शृङ्गारस्थानीचित्येनाभावान् केवलहास्यविषयत्वमेव । अत एव तास्याङ्गान्यत्र अल्पान्येवेति । 'द्विधा' द्विप्रकारकं शुद्धं सङ्कीर्णं चेति ॥ {१८} ८३ ॥

अथ नायकवचनद्वारेण शुद्धमाह—

[सूत्र १३२]—निन्द्यापाण्डित्य-विप्रादेरश्लीलासम्भवजितम् ।

परिहासवचःप्रायं शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥ {१९} ८४ ॥

निन्द्याः शीलादिना गर्हणीया, पाण्डित्येन शाक्य-भगवत्तापसाद्यः, विप्रा रूप दो] सधियों [एक] अङ्क, तथा [भारती] वृत्ति वाला हास्यप्रधान [रूपकभेद] 'प्रहसन' [शुद्ध तथा संकीर्ण भेदते] दो प्रकारका होता है । [१८] ८३ ।

[पाण्डित्य] आदिके प्रति] वैमुग्य अर्थात् आदरका अभाव [उसका उत्पादन] जिसका कार्य अर्थात् प्रयोजन है । प्रहसनके द्वारा पाण्डित्य आदिके चरितको समझकर, मनुष्य उन ठगोंके पास फिर नहीं जाता है [इसलिए प्रहसनको पाण्डित्योंके प्रति वैमुग्यकारी कहा गया है] । व्यवहारादि वीथ्यङ्गैरेति युक्त [प्रहसनको] बनाना चाहिए । कौलीन अर्थात् लोकापवाद । वह जिसने एमात अर्थात् प्रसिद्ध हो । और अपनेमे भूठे साधुत्वके प्रदर्शन रूप दम्भको इसमे प्रकाशित करना चाहिए । जैसे बौद्धोंमें स्त्री-सम्पर्क निम्ननीय है चोरी नहीं [इस प्रकार का जनापवाद रूप कौलीन प्रसिद्ध है] । इस प्रकार [अतप्य सामुद्र्य प्रदर्शन रूप] दम्भ भी [प्रसिद्ध करना चाहिए] । हास्यरस जिसमे अङ्गी अर्थात् मुख्य हो [इस प्रकारका प्रहसन होता है] । भाणके समान मुख तथा निबन्धन नामक दो ही सधि [इस प्रहसनमे भी होते हैं] । एक ही अंक, और भारती वृत्ति [भी भाणके समान ही] निबद्ध करनी चाहिए । हास्य रसकी प्रधानता होनेपर भी इसमे कैशिकी वृत्ति नहीं होती है । क्योंकि निम्ननीय पाण्डित्य आदिमे शृङ्गाररसका अनौचित्य होनेसे उनमे केवल हास्य विषयत्व ही होता है । इसीलिए [प्रहसनमे शृङ्गारकी प्रधानता न होनेके कारण] इसमे थोड़े ही तास्यागोंका वर्णन होता है । वह दो प्रकारका अर्थात् शुद्ध और सङ्कीर्ण दो प्रकारका होता है ॥ {१८} ८३ ॥

अथ नायकके वचन द्वारा शुद्ध [प्रहसन] को कहते हैं—

[सूत्र १३२]—निन्द्या योग्य पाण्डित्य ब्राह्मण आदि किसी एकका अश्लीलता तथा असम्पत्तासे रहित परिहास वचनसे पूर्ण चेष्टित [जिसमे ही वह] शुद्ध प्रहसन कहलाता है । [१९] ८४ ।

निन्दनीय अर्थात् गहित आचार वाले, पाण्डित्य अर्थात् बौद्ध और ब्राह्मण तपस्वी आदि [प्रकार जैन हैं] इसलिए उन्होंने बौद्ध तथा भगवत्तापस अर्थात् ब्राह्मण तपस आदि १. म्पको ।

जातिमात्रोपजीविनो द्विजन्मान । आदिशब्दादन्यस्याप्येवविधस्य दुष्टस्यैकस्यैव  
कस्यचिन्चेष्टितं वृत्त, अश्लीलेन ग्राम्येण जुगुप्सा-अमङ्गलहेतुना च, असभ्येन<sup>१</sup> च  
घ्रीडाकारिणा रहितम् । परिहासप्रधानवचनबहुलं च । एतदभिधायि रूपक्रमपि  
चोपचाराद्<sup>२</sup> शुद्धं प्रहसनम् । द्वितीयवेश्या<sup>३</sup>दिचरितसाङ्ख्यैरहितत्वादिति ॥ [१६] ८४॥

अथ सङ्कीर्णम्—

[सूत्र १३३]—सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाचार-परिच्छदम् ।

बहूनां बन्धकी-चेष्ट-वेश्यादीनां विचेष्टितम् ॥ [२०] ८५॥

बहूनां चरितैः सङ्कीर्णत्वान् सङ्कीर्णम् । अत्युत्पन्नवेषपण्यवहाराचारपरिजनम् ।  
उद्धतत्वं च सतामनुचितत्वात् । बन्धकी स्वैरिणी, चेष्टो दास, वेश्या पण्यवहारी ।  
आदिशब्दान् शम्भली-धूर्त-वृद्ध-परुष-पारुण्डि-विप्र-भुजग-चार-भटादयो विकृतवेष-  
भाषाचारा गृह्यन्ते । विगर्हणीयं हास्यजनकं चेष्टितमनुष्ठानम् । एकस्य बन्धक्यादे-  
कस्यचिन् द्वारेण यत्रानेक एवंविध एव प्रकर्षेण हस्यते तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वान्  
सङ्कीर्णम् । शुद्धे तु पाण्ड्यादेरेकस्यैव चरितं प्रहस्यते इति पूर्वस्माद् भेदः ।

दोनोंकी निम्न पाण्डी कहा है] विप्र [विद्यावि ब्राह्मणोचित गुणोसे रहित होनेपर भी]  
केवल जातिसे जीविका-निर्वाह करने वाले द्विज । 'आदि' शब्दसे इस प्रकारके किसी प्राय  
एक ही वृष्टके जुगुप्सा और अमङ्गल जनक अश्लीलता अर्थात् ग्राम्यतासे और घ्रीडाजनक  
असभ्यता [रूप अश्लीलता] से रहित व्यापारका वर्णन [प्रहसनमे होना चाहिए] । परिहास  
प्रधान वचन अधिक मात्रामे पाए जाते हैं । इस लिए इस [इस परिहास प्रधानवचन] को  
बहने वाला रूपक भी उपचारसे 'शुद्ध' 'प्रहसन' कहलाता है । वेश्यावि किसी द्वितीयके चरित  
का सङ्कर न होनेसे [इस प्रकारका प्रहसन 'शुद्ध' कहलाता है ॥ [१६] ८४॥

अथ सङ्कीर्णं प्रहसनका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १३३]—अत्यन्त उद्धत वेष, भाषा, भाषाचार और परिजनोसे युक्त, वेश्या तथा  
स्वैरिणी [व्यभिचारिणी स्त्री] आदि बहुतोंके चरितसे युक्त [प्रहसन] सङ्कीर्णं [प्रहसन  
कहलाता] है । [२०] ८५ ।

बहुतोंके चरितसे व्याप्त होनेके कारण [इस प्रकारका प्रहसन] सङ्कीर्ण कहलाता  
है । [वेष, भाषा, भाषाचार आदिका] उद्धतत्व [उस प्रकारके वेष आदिसे] सज्जनोचित न होनेके  
कारण [कहा जाता] है । बन्धकी अर्थात् स्वैरिणी चेष्ट अर्थात् दास, वेश्या, बाजार स्त्री ।  
'आदि' शब्दसे शम्भली [छिन्नाल], धूर्त, वृद्ध, हिजडा, पालण्डी, ब्राह्मण, भुजग, [विद्याप्रति  
सेवक], चार तथा भट आदि विकृत वेष, भाषा और भाषाचार वात्सोका ग्रहण होता है ।  
[प्रागे विचेष्टित शब्दका अर्थ करते हैं] विद्रोय रूपसे गृहणीय अर्थात् हास्यजनक चेष्टित  
अर्थात् व्यापार [अनुष्ठान] । बन्धकी आदिमेसे किसी एकके द्वारा जहाँ इस प्रकारके प्राय  
घनक लोगोका उपहास किया जाता है यह सङ्कीर्ण चरितोंका विषय होनेसे सङ्कीर्ण  
[प्रहसन कहलाता] है । शुद्ध [प्रहसन] मे तो पाण्ड्यो आदि किसी एकके ही चरितका उपहास  
किया जाता है यह विद्रोय [शुद्ध प्रहसन] से [सङ्कीर्णरूप प्रहसनका] भेद है ।

अन्ये तु—स्वभावशुद्ध-पाखण्ड्यादेश्वरित प्रहस्यते तन् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णमित्याहुः । सङ्कीर्णमनेकाङ्कं केचिदनुस्मरन्ति । अत्र च प्रथमेन श्लोकेन सामान्यलक्षणम् । द्वितीयेन शुद्धस्य, तृतीयेन च सङ्कीर्णस्य लक्षणम् । उभयत्र तु विट-चेष्टागदे परिजनस्य भूयस्त्वमिति । प्रहसनेन च बालम्रीमूर्खाणां हास्य-प्रदर्शनेन नाट्ये प्ररोचना क्रियते । ततः सञ्ज्ञातनाट्यरचय शेषरूपकैर्धर्मार्थकामेषु व्युत्पाद्यन्ते । तथा धृत्तन्युतस्य पाखण्डिप्रभृतेर्वृत्त शुद्ध, बन्धक्यादेश्च धूर्तादिमकुलं सङ्कीर्णं वृत्तं त्याज्यतया व्युत्पाद्यते इति ॥ [२०] ८५ ॥

अथ डिमस्य लक्षणम् —

[सूत्र १३४]—अशान्त-हास्य-शृङ्गार-विमर्शः ख्यातवस्तुकः ।

रौद्रमुख्यश्चतुरङ्गः सैन्द्रजाल रणो डिमः ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त हास्य शृङ्गाररूपरमरयेण विमर्शाद्यचतुर्यसन्धिना च रहितत्वात् शेषरसैरन्यसन्धिभिश्च युक्तः । शान्तस्य कर्णहन्तुनस्त्वैनोपलक्षणत्वात् कर्णोऽपि निषिध्यते दुःखप्रसर्पात्मकत्वात् ।

सङ्कीर्णं प्रहसनका दूसरा लक्षण—

अथ लोकोत्तमं—स्वभावशुद्ध [अर्थात् पवित्र आचारवाले होनेपर भी पाखण्डी आदि [अर्थात् अन्य धर्मोंके अनुयायी ब्राह्मणादि] के चरितका जिसमें उपहास किया जाता है वह चरितका सङ्कर [शुद्ध चरितमें अशुद्धता] का विषय होनेसे सङ्कीर्ण [प्रहसन] होता है यह कहते हैं । कुछ लोगोंका कहना यह है कि सङ्कीर्ण [प्रहसन] अनेक अङ्कों वाला होता है । और शुद्ध प्रहसनमें केवल एक अङ्क होता है यह उन दोनोंका भेद है । प्रहसनके लक्षणमें ८३-८५ तक तीन श्लोक आए हैं इनमेंसे प्रथम श्लोकसे [प्रहसनका] सामान्य लक्षण, द्वितीयसे शुद्धका लक्षण, तथा तृतीय श्लोकसे सङ्कीर्ण [प्रहसन] का लक्षण किया गया है । [शुद्ध तथा सङ्कीर्ण] दोनोंमें विट, चेष्ट आदि परिजनोंका बाहुल्य रहता है । प्रहसनके द्वारा हास्य प्रदर्शित करके मूर्खों और स्त्रियोंकी नाट्यके विषयमें अभिवृत्ति उत्पन्न की जाती है । उससे नाटकके विषयमें रुचि हो जानेपर शेष रूपकभेदोंके द्वारा उनको धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा प्रदान की जाती है । और साथ ही आचारहीन पाखण्डी आदि [किसी एक] का शुद्ध वृत्त तथा धूर्तादिसे व्याप्त बन्धकी आदिका सङ्कीर्ण चरित त्याज्य रूपसे दिखलाया जाता है । [यह प्रहसनकी उपयोगिता है] ॥ [२०] ८५ ॥

६ नवम रूपक भेद 'डिम' का लक्षण—

[प्रहसनके लक्षणके बाद आगे] अब 'डिम' के लक्षणका अथवा प्राप्त है—[अतः 'डिम' का लक्षण करते हैं]

[सूत्र १३४]—शान्त, शृङ्गार और हास्य रसों सहित विमर्श सर्षि बिहोत, प्रसिद्ध आख्यात-वस्तु वाला, तथा रौद्ररस प्रधान, इन्द्रजाल एवं युद्धादिसे परिपूर्ण चार अङ्कों वाला [रूपकभेद] 'डिम' [कहलाता] है ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त, शृङ्गार और हास्य रूप तीन रसोंसे तथा विमर्शनामक चतुर्थ सन्धिसे रहित होनेसे अर्थात् रसों तथा सन्धियोंमें युक्त [डिम होता है] । शान्त रससे [यहाँ] कथल नव

इह च कर्ण-रौद्र-भयानक-वीभत्सरचत्वारो रसा दुःखात्मान । शृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ता षष्ठं सुखात्मका । दिव्यानां च सुखपाहुल्येनाल्पदुःखादन्यथा दिव्यत्वमेव न स्यादित्येषा तत्प्रभावानानुगृहीतानामन्येषां च दुःखात्मानो रसा अप्रयोज्या एव । समवकारादौ तु यद् रौद्रादिवर्णनं तद् दिव्यहेतुकत्वाभाविकसुखावाधकत्वादुपमेव । मर्त्याद्यवज्ञादिसमुत्थो हि रौद्र । स्वाधिकक्रोधादिसम्भवो भयानक । मर्त्याद्यशुचिशरीराश्वलोकनाद् वीभत्सरश्च दिव्यानामागन्तुक एव । कर्ण पुनरिष्ट-प्रियोगप्रभवशोकप्रकर्षरूपत्वात् स्वाभाविकसुखपरिपन्थी सर्वदैवामवर्णनीय एव । शान्तोऽपि विषयासन्तिमत्त्वादसम्भव्येव ।

अत्र च डिमे हास्य-शृङ्गारवर्जनमिन्द्रजालादिवहुलत्वादुचितमेवेति । स्यात् रूपते उपलक्षण होनेके कारण [ज्ञात पदसे ही] कर्णरसका भी निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए] । [कर्णरसके] दुःखप्रकर्षात्मक होनेसे ।

रसोंकी सुख दुःखात्मकता—

कर्णरसकी दुःखात्मकताके बचनके प्रसंगसे रसोंके सुखारमक तथा दुःखात्मक द्विविध विभागको दिखलाते हैं—

यहाँ कर्ण, रौद्र, भयानक और वीभत्स ये चार रस दुःखात्मक रस हैं । शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक रस हैं । दिव्य पात्रोंमें सुखप्रधान होनेके कारण उनमें दुःखकी ग्यूनता होनेसे, अन्यथा [अर्थात् यदि उनमें सुखकी प्रधानता न मानी जाय तो] उनमें दिव्यता ही नहीं बनेगी । इसलिए इन [देवताओं] और उनके प्रभावसे अनुगृहीत ग्रन्थों [अर्थात् उनके भक्तग्रन्थों] के साथ दुःखात्मक रसोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए । इसपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि [यदि दिव्य पात्रोंके साथ दुःखप्रधान रसोंके प्रयोगका निषेध किया जाता है तो रौद्ररस-प्रधान समवकारमें दिव्य पात्रोंकी तगति कैसे लगेगी इस शकाका उत्तर आगे बते हैं कि] समवकारादिमें [दिव्य पात्रोंके होते हुए भी] जो रौद्ररसका वर्णन कहा गया है वह [उन पात्रोंके] दिव्यता अन्य स्वाभाविक सुखका घायक न होनेसे बोधापायक नहीं है । [आगे विभिन्न रसोंके कारण तथा स्वरूपका उपपादन प्रसंग करते हैं] मनुष्य आदिके द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ता आदिके रौद्र [रसका स्थायिभाव क्रोध] उत्पन्न होता है । अपनेसे अधिक [अग्निशाली पुरुष] के क्रोधादिसे भयानक [रसके स्थायि भाव भय] की उत्पत्ति होती है । और मनुष्यादिके अपवित्र शरीर आदिके प्रवलोकनसे वीभत्स [रसका स्थायिभाव जुगुप्सा] दिव्य पात्रोंमें [वास्तविक नहीं] आगतुक ही होता है । [अर्थात् दुःखात्मक रौद्र भयानक और वीभत्सरसोंका देवताओंके साथ वर्णन आगतुक रूपमें ही किया जा सकता है । वास्तविक रूपसे नहीं । कर्णरसका वर्णन तो उनके साथ किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिए इस बातको आगे कहते हैं] किन्तु प्रियजनके विशेषसे उत्पन्न शोषके प्रचर्य रूप होनेके कारण स्वाभाविक सुखके विरोधी कर्ण रसका इन [देवताओं] के साथ कभी भी वर्णन नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार [देवताओंके] विशेषासक्ति प्रधान होनेके कारण उनमें शान्तरस भी असम्भव ही है [अर्थात् देवताओंके चरितमें शान्तरसका भी वर्णन नहीं करना चाहिए] ।

यहाँ 'डिम' में इन्द्रजानाविका बाहुल्य होनेसे हास्य तथा शृङ्गारका वर्णन उचित ही

पूर्वप्रसिद्धं वस्तुविवृत्तं नायकोपायफललक्षणम् । रौद्रो मुरयोऽङ्गी यत्र । शेषा रसा पुनरङ्गानि । अवस्थाचतुष्टयविशिष्टं चतुसन्धित्वेन चतुर्दिननिवर्तनीयेतिवृत्तत्वेन च चतुरङ्गवान् । अङ्गावताररूपारचात्र अङ्गा विधेया । चूलिकाङ्गमुखयोरपि युद्धादिवर्णने निबन्धो भवत्येव । 'सेन्द्र' इति सेन्द्रजाल-रणाभ्या वर्तते । विद्यमानता चात्र सहायः । इन्द्रजालमनां शब्द-रूपादेना प्रकाशनम् । अन्यथापादनं वा । रण सग्राम, बाहुयुद्ध-प्रलात्कारपराभवादिरूप । डिमो डिम्नो विप्लव इत्यर्थः । तयोगादयं डिम । डिमे सघातार्थत्वादिति ॥ [२१] ८६ ।

अथ कृत्यान्तरं नायकं चोपदिशति—

[सूत्र १३५]—अत्रोल्कापात-निर्घाताश्चन्द्रसूर्योपरक्तयः ।

सुरासुरपिशाचाद्याः प्रायः षोडश नायकाः ॥ [२२] ८७ ॥

है । [लक्षणमे घ्राए हुए एयातवस्तुक 'पदका अर्थ करते हैं कि] जिसमे नायक, फल, तथा उपाय रूप अर्थ 'वस्तु' अर्थात् इतिवृत्त एयात अर्थात् पूर्व-प्रसिद्ध है । [इस प्रकारका डिम होना चाहिए] । रौद्ररस जिसमे अङ्गी अर्थात् प्रधानरस है । शेष रस अङ्ग अर्थात् अप्रधान होते हैं । [विमर्शसन्धि-रहित कहनेसे शेष] चार सन्धियों वाला होनेके कारण चार अवस्थाओंसे युक्त, तथा चार दिनोंमे सम्पादित कथा-भाग वाला होनेसे चार अंकोसे पुस्त [डिम को कहा गया है] । इसमे अङ्गीकी रचना अङ्गावतारके रूपमें करनी चाहिए [अङ्गावतारका लक्षण 'सोऽङ्गावतारो यत् पार्श्वरङ्गास्तरमसूचनम्' यह २७वीं कारिकामे किया जा चुका है । इसके अनुसार पूर्व अङ्गके पात्रों द्वारा ही बिना किसी अन्य सूचनाके नवीन अङ्गका आरम्भ होता है उसको अङ्गावतार कहते हैं । डिमके अङ्गीकी रचना इसी प्रकारसे करनी चाहिए यह अन्यकारका अभिप्राय है । अर्थात् डिमके अङ्गोमे प्रथम अङ्गके पात्रों द्वारा ही द्वितीय अङ्ग आदिका आरम्भ होना चाहिए । और उसमे 'विष्कम्भक प्रवेशक' आदि अर्थोपलक्षकोका प्रयोग नहीं करना चाहिए] । किन्तु युद्धादिके वर्णनमे चूलिका तथा अङ्गमुख दोनों [अर्थोपलक्षकों] का प्रयोग होता ही है । [विष्कम्भक प्रवेशक आदिका प्रयोग नहीं होता है] । 'सेन्द्रजालरणी डिम' इसका अर्थ यह है कि इन्द्रजाल और युद्धसे युक्त ही । यहाँ 'सह' पदका अर्थ विद्यमानता है । [अर्थात् सेन्द्रजालमे सहायक 'स' आया है उससे इन्द्रजाल और युद्धकी डिममे विद्यमानता सूचित होती है] । विद्यमान शब्द और ह्वादिक्को प्रकाशित करना 'इन्द्रजाल' [कहलाता] है । बाहुयुद्ध, प्रलात्कार पराभवादि रूप सग्राम रण [शब्दका अर्थ] है । डिम अर्थात् डिम्ब या विप्लव डिम' शब्दका मुख्य अर्थ है उसके योगसे [रूपकभेदका नाम] डिम है । 'डिम' घातुके सघातायका होनेसे [विप्लवादिप्रधान रूपकभेद डिम कहलाता है । यह डिम शब्दका निर्वचन है । यह अन्यकारका अभिप्राय है] ॥ [२१] ८६ ॥

अथ [डिममें] करने योग्य अन्य बातोंका, और नायकका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३५]—इस [डिम] मे उल्कापात, भूकम्प चन्द्रमा और सूर्यके उपराग [अर्थात् ग्रहण मयथा परिवेष्ट] दिखलाए जाने चाहिए । [सूर्य तथा चन्द्रमाके चारों ओर कभी-कभी एक गोल घेरा मिललाई देता है इसीको परिवेष्ट कहते हैं] गुर, भगुर, पिशाच आदि प्रायः सोलह

‘अत्र’ डिमे उल्कापात-निर्घात-चन्द्रसूर्यपरिवेपाः । उपलक्षणपरत्वान्चास्य लेख्य-  
किलिञ्ज-चर्म-चम्र-काष्ठकृतानि रूपाणि च प्रदर्शयन्ते । ‘सुरासुर’ इत्याद्यशब्दाद् यक्ष-  
राक्षसभुजगेन्द्रादिग्रहः । प्रायोग्रहणात् न्यूनाधिकत्वेऽपि न दोषः । दिव्यानामुद्धतत्वाद्  
धीरोद्धता एते द्रष्टव्याः । स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि न विरुध्यते । एषां च  
परस्परविभिन्ना भावाः स्थायि-व्यभिचार्यादयोऽपि वर्णनीयाः । समवकारवत् तत्तद्  
देवताभक्तप्रीतिकार्यत्वाद् दिव्यनायकत्वं दिव्यचरितानुष्ठानव्युत्पत्तिश्च द्रष्टव्या ।  
एवमीहामृगेऽपि ॥ [२८] ८७ ॥

अथ क्रमप्राप्तमुत्सृष्टिकाङ्कं निरूपयति—

[सूत्र १३६]—उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी ख्यातपुद्धोत्थवृत्तवान् ।

भाणोक्तवृत्तिसन्ध्यङ्को चाग्युद्धः करुणाङ्गिकः ॥ [२३] ८८ ॥

प्रकारके नायक होते हैं । [२२] ८७ ।

इस [डिममे] उल्कापात, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रोपराग और इनके उपलक्षणमात्र होनेसे  
[इनके सहस्र] लेख्य [अर्थात् स्लास्टर करने योग्य द्रव्यसे बनी हुई] अथवा किलिञ्ज [अर्थात्  
हरी चटाई अथवा पत्ते तहतेसे बनी हुई] चर्मसे, वस्त्रसे तथा काष्ठसे बनी हुई प्रतिमाओं आदि  
[रूपों] को दिखलाया जाता है । [कारिकामें आए हुए सुरासुरपिशाचाद्या पदमें] ‘आद्य’  
शब्दसे यक्ष, राक्षस, भुजगेन्द्र, आदिका ग्रहण करना चाहिए । [‘प्रायः योऽज्ञानायक’ में]  
‘प्रायः’ पदसे यह सूचित होता है कि कभी-कभी इससे अधिक या कम होनेपर भी दोष नहीं  
है । [अर्थात् साधारणतः डिममें सोलह नायक होते हैं, किन्तु कभी-कभी इस सख्यामें न्यूना  
धिक्य हो जानेपर भी कोई दोष नहीं होता है] । दिव्यजनोंके उद्धत होनेसे ये [डिमके  
सोलहों नायक] धीरोद्धत समझने चाहिए । [मनुष्योंकी अपेक्षासे ही ये धीरोद्धत कहे गए हैं]  
अपनी जातिकी अपेक्षासे तो इनका धीरोदात्तत्व भी विरुद्ध नहीं है [अर्थात् अपनी जातिकी  
अपेक्षासे तो ये धीरोदात्त भी कहे जा सकते हैं] । इन [सोलहों नायकोंके] के स्थायिभाव  
व्यभिचारिभाव आदि भी परस्पर पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए । समवकारके समान  
उन-उन देवताओंके भक्तोंके प्रति उपकारी [आनन्ददायक] होनेसे [डिममें भी] दिव्य  
नायक होते हैं और दिव्य चरितके अनुष्ठानका परिज्ञान [रूप उसका फल] सम्भूत चाहिए ।  
इसी प्रकार ‘ईहामृग’ में भी [दिव्य नायकोंकी स्थितिका समर्थन सम्भूत चाहिए] ।

समवकारमें तीन अङ्गोंमें बारह नायक दिखलाए थे । प्रत्येक अङ्गमें नायक, प्रति-  
नायक और उनके दो सहायक इस प्रकार चार नायकोंके होने से तीन अङ्गोंके समवकारमें  
कुल मिलाकर बारह नायक माने थे । इसी प्रकार चार अङ्गों वाले डिमके प्रत्येक अङ्गमें  
चार-चार नायक होनेसे कुल मिलाकर सोलह नायक माने गए हैं । इन सबके विभाव अनुभाव  
और फल आदि पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए ।

१०. दशम रूपक भेद ‘उत्सृष्टिकाङ्क’ का लक्षण—

अथ क्रमसे प्राप्त उत्सृष्टिकाङ्कका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १३६] [‘डिम’ और ‘समवकार’ में दिव्य नायक कहे गए थे उनके विपरीत]  
पुरुष नायक वाला, प्रसिद्ध युद्धसे जन्य [अर्थात् प्रसिद्ध युद्धोपाख्यानपर आधारित] कथावस्तु

उत्तमगुणोन्मुख सृष्टिर्जीवित यासा ता उत्सृष्टिका, शोचन्त्य स्त्रिय । ताभिरङ्गितत्वाद् 'उत्सृष्टिकाङ्क' । पुमासो मर्त्या अत्र स्वामिनो, न दिव्या दुःखात्मक्य कर्णरसस्यात्र प्राधान्यात् । दिव्याना च सुखमाहुल्येन तत्सम्बन्धायोगात् । ग्यात भारतादी प्रसिद्ध यद् युद्ध तत्र सम्भवि, कर्णरसपटुल यद् वृत्त तन्, स्वय प्रसिद्ध वाऽऽनत्र निबन्धनीयम् । भाणप्रतिपादित मुख-निर्वहणस्त्यसन्निवद्यम् । परिदेयिताहुल्यान्मुखया भारती वृत्ति । एकाहनिवर्तनीयचरितत्वादेकाङ्कश्चात्र कर्तव्य । शौर्यादिमदाजलिप्ताना परस्पर दोषोद्धट्टन वाग्युद्ध, तद्गुल । मत्वर्थीयिनो भूम्यत्र नियानात् । वाग्युद्ध चानुशोचनपरायणानामिति रौद्राप्रवेगेन न कर्णम्याङ्गित्यव्याधात् । कर्णो रसोऽङ्गी प्रधान वाहुल्यनिबन्धनादत्र विधेय । ग्यातयुद्धोत्थवृत्ते ध-नन्वाविमद्भावेनेष्ट्रियोगादिप्राचुर्यादिति ॥ [२३] ८८ ॥

बाला भाणमे बहे हुए [मुख तथा निर्वहण रूप दो] सन्धियों [भारती] वृत्ति तथा [एक] अङ्कसे युक्त, कर्णरस प्रधान वाग्युद्ध प्रदर्शक, [रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [बहलाता] है ॥ [२३] ८८ ॥

इस किरिकाकी व्याख्या आरम्भ करनेसे पहले प्रत्यक्ष 'उत्सृष्टिकाङ्क' पदका निर्वाचन दिखलात है—

जिनकी सृष्टि अर्थात् जीवन उत्तमगुणोन्मुख है इस प्रकारकी शोकप्रस्त स्त्रियों 'उत्सृष्टिका' [बहलाती है] उनसे अङ्कित [अर्थात् उनकी चर्चा करन बाला रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [बहलाता] है । पुस्वामी' कहनेसे इसमें पुरुष अर्थात् मर्त्य ही नायक होते हैं । दुःखात्मक कर्णरसकी प्रधानता होनेके कारण [उत्सृष्टिकाङ्कमें] दिव्य नायक नहीं होते हैं । क्योंकि दिव्यजनोंके सुखप्रधान होनेसे उनके साथ उस [दुःखात्मक कर्णरस] का सम्बन्ध नहीं होता है [अतः इसमें दिव्य नायक नहीं होते हैं] । अतः अर्थात् महाभारत आदिमें प्रसिद्ध जो युद्ध, उसमें होन वाले कर्णरससे परिपूर्ण जो आत्मान वस्तु अथवा [महाभारतादिके आधारके बिना] स्वयं प्रसिद्ध जो विद्यमान या अविद्यमान आत्मान-वस्तु, उसकी रचना इसमें करनी चाहिए । भाणमें प्रतिपादित मुख तथा निर्वहण नामक दो संधि मिलाप आदिका बाहुल्य होनेसे भारती मुख्य वृत्ति, तथा एक दिनमें समाप्त चरित बाला होनेमें एक अङ्क इसमें रखना चाहिए । शीर्ष आदिके मध्ये मत्त जनोका एक दूसरेपर दोषारोपण वाग्युद्ध [बहलाता] है । उसका बाहुल्य [इस उत्सृष्टिकाङ्कमें] होना है । यहाँ मत्वर्थीय प्रत्ययके बाहुल्यार्थमें विहित होनेसे [वाग्युद्ध का अथ वाग्युद्धवर्तन करना चाहिए] । और यह वाग्युद्ध अनुशोचनपरायण जनोका है इसलिए [वाग्युद्ध में युद्ध पदके होनेसे] रौद्र का प्रवेश नहीं होता है इसलिए कर्णरसकी प्रधानताका व्याधात भी नहीं होता है [अर्थात् उत्सृष्टिकाङ्कमें अनुशोचनपरायण स्त्रियोंका वाग्युद्ध होनेपर भी उसमें रौद्ररस नहीं अपितु कर्णरस ही प्रधान रहता है] । इसमें अधिकांशमें वर्णित करके कर्णरस ही प्रधान रूपसे निबद्ध करना चाहिए । प्रसिद्ध युद्धात्मक इतिवृत्तमें यथ-यथदिके होनेसे इष्ट विषयादिवा प्राचुर्य होनेके कारण [कर्णरस ही उत्सृष्टिकाङ्कका प्रधानरस होता है] ॥ [२३] ८८ ॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३७]—निर्वेदवाचो भूम्नात्र योषितां परिदेवितम् ।

नरा निवृत्तसंग्रामाश्चेष्टाश्चित्रा विसंस्थुताः ॥ [२४] ८६ ॥

अत्र उत्सृष्टिकाङ्क्षे यामु श्रुतासु निर्वेदो जायते, ता निर्वेदवाचो बाहुल्येन निबन्धनीयाः । देवोपालम्भ आत्मनिन्दादिरूपानुशोचनात्मकं परिदेवितं च योषितां बहुधा वर्णनीयम् । पुमांसश्चोपरबोद्धतप्रहार-बन्ध-ताडनादिरूपसंग्रामाः पात्रत्वेन नियोज्याः । भूमिनिपात विवर्तितोरः शिरस्ताडन स्ववेशत्रोटनादिका नानाप्रकाराश्चेष्टा विसंस्थुता वर्णनीयाः ।

अत्र चोत्सृष्टिकाङ्क्षे उत्तमानां मध्यमानां च चतुर्विधव्यसनपातेन वैरस्यादितानां महाविपद्यपि अविपादिनां स्थिराणां च पुनश्चनतिष्ठत्यते इत्यविपार्ध चित्तसंयर्थं च विधातुं स्त्रीपरिदेवितवहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यत इति ॥ [२४] ८६ ॥

अधेहामृगस्य लक्षणप्रपञ्चे पर्यायः—

[सूत्र १३८]—ईहामृगः सवीर्यज्ज्ञो दिव्येशो दृप्तमानवः ।

एकाङ्कुश्चतुरङ्गो वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् ॥ [२५] ८७ ॥

अथ [उत्सृष्टिकाङ्क्षे] करने योग्य क्रम्य बातोंका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३७]—इत्थमे मुख्य रूपसे स्त्रियोंके विताप तथा [सत्तारकी अनित्यता दुःखमयत्वादिके प्रतिपादन द्वारा] वैराग्यकी जनक बातोंका वर्णन करना चाहिए । पुरुषों की संग्रामसे निवृत्ति और [भूषतन उरस्ताडन केशत्रोटनादि रूप] नाना प्रकारकी विशृङ्खल चेष्टाएँ प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ [२४] ८६ ॥

उत्सृष्टिकाङ्क्षे जिन [बातों] के सुननेसे वैराग्य उत्पन्न होता है इस प्रकारकी वैराग्यजनक बातें नियत करनी चाहिए । देवकी उपात्मम देना, आत्मनिन्दा, और अनुशोचन रूप स्त्रियोंका विताप, प्रचुर मात्रामे वर्णन करना चाहिए । और पुरुषोंकी उद्धत प्रहार बन्ध, बन्ध, ताडन आदि रूप संग्राम व्यापारोंसे उपरत पात्रके रूपसे दिखलाना चाहिए । भूमिपर लोटना, छाती पीटना, शिर फोड़ना, बाल नोचना, आदि नाना प्रकारकी विशृङ्खल चेष्टाएँ [स्त्रियोंकी] दिखलानी चाहिए ।

इस उत्सृष्टिकाङ्क्षे नाना प्रकारकी आपत्तियोंके आ पड़नेसे, दुःखसे पीड़ित, किन्तु महान् विपत्तिकालमें भी न घबडाते वाते, एव स्थिर रहने वाले, उत्तम तथा मध्यम-लोगोंकी फिर दुबारा उन्नति होती है इसलिए [मनुष्यको दुःखमें पड़ जानेपर भी] घबडाना नहीं चाहिए तथा चित्तको स्थिर रखना चाहिए इस बातकी शिक्षा देनेके लिए [प्रथमा विपत्तिग्रस्त पुरुषोंको पर्यं तथा उत्साह प्रदान करनेके लिए] स्त्रियोंके वितापादिसे पूर्ण कथा प्रस्तुत की जाती है ॥ [२४] ८६ ॥

११ एकादश रूपक भेद 'ईहामृग' का लक्षण—

अथ 'ईहामृग' के लक्षण आदि करनेका प्रथम [प्राक्ष] है—

[सू० १३८]—वीर्यज्ज्ञो युक्त, दिव्य नायक, तथा दृप्त मानवपात्रो वाला, एक भङ्ग प्रथमा चार भङ्गो वाला प्रतिद्वन्द्व प्रथमा प्रसिद्ध कथापर आधित—[२५] ८७ ।



दिव्यस्त्रीहेतुसंग्रामो निविश्वासः सविड्वरः ।

स्वयंपहार-भेद-दण्डः प्रायो द्वादशनायकः ॥ [२६] ६१ ॥

ईहा चेष्टा मृगम्येय स्त्रीमात्रार्थो अत्र इति ईहामृग । सद्यः वीथ्यङ्गेर्व्याहारा-  
दिभिर्बन्तं । दिव्येष्टो दिव्यनायक । द्वा उद्धता मानसा मर्त्यपुष्पपात्राण्यत्र । एकाङ्क-  
म्यसुरद्वो वेति । अत्र च वृत्तमन्त्रेय-गिनारानुरोधिनी यजिष्येन्द्रा प्रमाणम् । एकाङ्क-  
म्यादनिर्त्यमेय चरितम् । चतुरद्वये तु चतुर्दिननिर्त्यम् । ग्याताग्यातं प्रसिद्धा-  
प्रसिद्धं यद्वितितृप्तं तद्वान । प्रसमायां च मनुमन्त्रे चतुरद्वये परस्परान्तरसम्बद्धमिति-  
वृत्तम् न तु समवकारवत्सम्यग्बद्धम् ।

दिव्यस्त्रीहेतु संग्रामो यत्र । अत्र हि दिव्या नायकप्रियमनिच्छन्ती प्रति-  
नायकोऽपहरति । ततस्तन्निमित्ततो नायक-प्रतिनायकयोः संग्रामो निजन्धनीय ।  
निर्गतो ज्ञानात् परस्मिन् प्रत्ययो यस्मान् । आयेगानर्थपरस्परमर्धादयो विड्वर,  
तन्वृत्त । स्त्रीनिमित्तमपहार-भेद-दण्डा यत्र । त च यथासम्भव स्त्रीविषया अन्य-  
विषया वा । भेद सामदानादिना विरलेपोपपादम् । दण्डो बन्धादि । प्रायोऽग्रहणं  
नायिका-न्यूनाधिक्यव्यापनार्थम् ॥ [२४-२६] ६०-६१ ॥

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमें संग्रामका प्रवर्तन किया जाय, परस्पर विश्वास रहित,  
परस्पर स्पर्धादि रूप [विड्वर] से युक्त, स्त्रियोंके अपहरण, भेद अपवाद दण्डका प्रवर्तक,  
और प्राय पारह नायको वाला [स्वयंपहार] ईहामृग होता है ॥ [२६] ६१ ॥

जिसमें 'मृग' के समान केवल स्त्रीके लिए 'ईहा' अर्थात् चेष्टा होती है वह 'ईहामृग'  
[कहलाता] है [यह 'ईहामृग' द्वादशा निर्वचन हुआ] । यह व्याहारादि रूप वीथ्यङ्गोंसे  
युक्त होता है । दिव्य नायक तथा इस अर्थात् उद्धत मानवपात्र जिसमें हैं । एक अथवा चार  
अङ्क वाला हो । इस विषयमें [अर्थात् अङ्कोंकी संख्याके विषयमें] कथाभागके सक्षेप अथवा  
विस्तारका अनुसरण करनेवाली यविकी इच्छा ही प्रमाण है [कवि आशयान् मनुके सक्षेप  
विस्तारका अनुसार अङ्कोंकी संख्या रखनेमें स्वतन्त्र है] । एक अङ्क होनेपर एक दिनमें  
समाप्त होने वाला ही चरित्र रचना चाहिए । और चार अङ्क होनेपर चार दिनमें समाप्त  
होने वाली कथा होनी चाहिए । प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध जो कथा, उसपर आधारित । इसमें  
प्रशंसा अर्थम मनुष्य प्रत्यय है । इसलिए चार अङ्क होनेपर उनकी कथा परस्पर सम्बद्ध होनी  
चाहिए, समयकारके समान असम्बद्ध नहीं । ['समवकार' के सक्षेप में उसका अङ्काकी स्वय  
'निष्ठितार्थ' कहा था । 'ईहामृग' के अङ्क उससे भिन्न परस्पर सम्बद्ध होते हैं] ।

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमें संग्राम हो । इसमें नायककी [प्रतिनायककी] न चाहने  
वाली दिव्य स्त्रीकी प्रतिनायक [बलात्] अपहरण करता है । और उसके कारण नायक  
तथा प्रतिनायकमें संग्राम दिखलाया जाता है । जिसमें दूसरेपर विश्वास न रहा हो । आयेग,  
अनर्थ, परस्पर स्पर्धा आदि 'विड्वर' [कहलाते] हैं । उनसे युक्त स्त्रीके कारण जिसमें  
अपहरण भेद और दण्ड होते हैं । वे यथासम्भव स्त्री के विषयमें अथवा अन्यके विषयमें  
[होते हैं] । भेद अर्थात् साम या दानादिके द्वारा कूट डालना । दण्ड अर्थात् बन्ध आदि ।  
प्राय 'पदका ग्रहण [संख्याके] न्यूनत्व और अधिकत्वके सूचित करनेके लिए है ॥ [२५-२६]

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३६]—व्याजेनात्र रणाभावो ब्रधासन्ने शरीरिणि ।

व्यायोगोक्ता रसाः सन्धि-वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ [२७] ६२ ॥

ब्रधासन्ने समरानन्तरं भाविबधयोग्ये शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना रणाभावो विधेयः । आस्तां साक्षान्, नेपथ्येऽपि बधो न वर्णनीयः । रसा वीर-रौद्राद्या दीप्ताः । सन्धयो गर्भावमर्शवर्जितास्त्रयः । वृत्तयश्च कैशिकीहीना तिस्र एव । 'सन्धि-वृत्तयः' इतीतरेतरयोगो द्वन्द्वः । अनुचिता रति रत्याभासः । स च प्रतिनायकस्य निप्रे-मस्त्रीविषयत्वादिति ॥ [२७] ६२ ॥

अथ क्रमप्राप्तां वीथीं लक्षयति—

[सूत्र १४०]—सर्वस्वामि-रसा वीथी त्वेकाङ्का द्व्येकपात्रिका ।

मुखनिर्वहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ [२८] ६३ ॥

नाटकादिसर्वरूपकाणामेतदुक्तम् । चक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीय वीथी ।

प्रथम [उत्सृष्टिकाङ्कमे] करने योग्य शेष बातोंको कहते हैं—

[सूत्र १३६]—इसमें ब्रधासन्न व्यक्तिके [पलायन आदिके] ब्रह्मानेसे युद्धकी समाप्ति तथा व्यायोगमें कहे हुए [वीर रौद्रादि बीस] रस सन्धि एव [कैशिकीको छोड़कर भारती, सात्वती, आरभटी तीन] वृत्ति [होनी चाहिए], तथा एवं अनुचित रतिका वर्णन होना चाहिए ॥ [२७] ६२ ॥

ब्रधासन्न अर्थात् बादमें शीघ्र ही जिसका बध होने वाला हो इस प्रकारके शरीरी अर्थात् व्यक्तिके पलायन आदिके ब्रह्मानेसे इसमें युद्धकी समाप्ति दिखलानी चाहिए । अर्थात् साक्षात् [बध दिखलाए जानेकी] की बात तो दूर रही नेपथ्यमें भी बधका वर्णन नहीं करना चाहिए । [व्यायोगोक्त] रस अर्थात् वीर रौद्रादि बीस रस [होने चाहिए] । गर्भ और अव-मर्श सन्धिषोकी छोड़कर [मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण रूप तीन] सन्धि [होने चाहिए] । और कैशिकीको छोड़कर [भारती, सात्वती, आरभटी आदि] तीन ही वृत्तियाँ होनी चाहिए । 'सन्धि-वृत्तयः' इस पदमें इतरेतरयोगमें द्वन्द्व समास है अनुचित रति अर्थात् रत्याभासका वर्णन होना चाहिए और वह प्रतिनायकके अनभिरुक्त स्त्री-विषयक [रति प्रदर्शन] होनेसे होता है ॥ [२७] ६२ ॥

द्वादश रूपक भेद 'वीथी'का लक्षण—

प्रथम क्रमप्राप्त 'वीथी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १४०]—[उत्तम, मध्यम अवधम] सब प्रकारके नायकोंसे और समस्त रसोंसे युक्त, एक अङ्क और एक या दो पात्रों वाली, मुख तथा निर्वहण [रूप दो] सन्धिषोसे युक्त, [अपने त्रयोवक्ष अङ्को द्वारा नाटक आदि] समस्त रूपकोंकी उपकारिणी 'वीथी' [कहाती] है ॥ [२८] ६३ ॥

[सर्वरूपोपयोगिनी] यह बात नाटकादि सभी रूपकोंके विषयमें कही गई है । [अर्थात् वीथीमें कहे जानेवाले तेरह अङ्क नाटक सहित सभी रूपकोंमें होते हैं] । चक्रोक्तिमार्गेसे

१. वीथीति ।

सर्वे स्वामिन उत्तम-मध्यम-अधमरूपाः । सर्वे रसारच शृङ्गारादयः पर्यायेणात्र विधात-  
व्याः । यदाह कोट्टलः—

उत्तमाधममध्याभि-युक्ता प्रकृतिभिस्त्रिधा ।

एकद्वयां द्विद्वयां वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥ इति ॥

शंकुकस्त्वयमप्रवृत्तेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाण्डौ हास्यरसप्रधाने विटा-  
देर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति ?

‘एकांकां’ इत्यनेन एकदिवसप्रयोज्यमितिवृत्तमत्रेति दर्शयति । द्वाभ्यां पात्राभ्यां  
उक्ति-प्रत्युक्तिवैचित्र्यविशिष्टाभ्यां, एकेन वा पात्रेण आकाशभाषितसमन्वितेन युक्ता  
वीथी कविना स्वेच्छया विधेया । मुग्ध-निर्वाहाभ्यां मन्वी यस्याम् । सर्वेषां रूपकाणां  
नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसंकुल-त्रयोदशाङ्गप्रवेशेन उपयोगिनी वैचित्र्यकारिका । अत  
एवान्ते लक्षिता । वक्रोक्तिसहस्रसंकुलत्वेन शृङ्गार-हास्ययोः सूचनामात्रत्वान् कैशिकी-  
वृत्तिहीनत्वम् । अत्र च बहुविधा वक्रोक्तिविशेषा उत्तम-मध्यम-अधमनायकानां  
व्युत्पाद्यन्ते इति ॥ [२८] ६३ ॥

[इसमें कहे हुए त्रयोदश अङ्गोंके नाटकादि सारे रूपकोंमें] जानेसे वीथीके समान होनेके कारण  
यह ‘वीथी’ कहलाती है । उत्तम, मध्यम, अधम रूप सारे स्वामी अर्थात् नायक [इसमें होते  
हैं] । और शृङ्गार आदि सारे रस एक-एक करके पर्यायेने इसमें वर्णन किए जाते हैं । जंसा  
कि कहलाने कहा है—

उत्तम, अधम और मध्यम तीनों प्रकारके पात्रोंसे युक्त एक पात्रके द्वारा अधवा बो  
पात्रोंके द्वारा सम्पादित [रूपक भेद] ‘वीथी’ कहलाती है ।

शंकुक जो अधम प्रकृतिको नायक नहीं मानना चाहते हैं । वे भाण, प्रहसन आदि  
हास्यरसप्रधान [रूपकों] में विट आदि [अधम पात्रों] को नायक [बनाने] का प्रतिपादन  
करके कैसे भ्रष्टेय यचन हो सकते हैं ? [अर्थात् शंकुक एक ओर तो यह कहते हैं कि अधम  
प्रकृतिका नायक नहीं होना चाहिए । दूसरी ओर भाण प्रहसन आदिमें अधम प्रकृतिके  
विटाविको ही नायक बनानेका विधान करते हैं । ये दोनों बातें परस्पर विपरीत हैं इसलिये  
उनका कथन उपादेय नहीं हो सकता है । इसलिये वहाँ वीथीमें जो अधम प्रकृतिके भी नायक  
होने की बात कही गई है यह अनुचित नहीं है] ।

‘एकांका’ इस पदसे एक दिनमें समाप्त होनेवाले आख्यान-भागका ही इसमें वर्णन  
होना चाहिए यह दिखलाया है । उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा वैचित्र्य युक्त दो पात्रोंसे, अथवा  
आकाशभाषितका अवलम्ब करने वाले एक ही पात्रसे युक्त ‘वीथी’ कवि अपनी इच्छाके अनु-  
सार बना सकता है । मुक्त तथा निर्वहण नामक दो ही सन्धि इसमें होते हैं । वक्रोक्ति आदिसे  
युक्त त्रयोदश शीर्षकोके नाटकादि [समस्त] रूपकोंमें उपयुक्त होनेसे उन सबकी उपयोगिनी  
अर्थात् वैचित्र्यसम्पादिका [वीथी] होती है । इसीलिये सबके अन्तमें उसका लक्षण किया गया  
है । सहस्रों प्रकारकी वक्रोक्तियोंसे युक्त होनेके कारण हास्य तथा शृङ्गारको सूचनामात्र  
होनेसे इसको कैशिकीवृत्तिहीन कहा जा सकता है । इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम नायकों  
के [अपनी अपनी] उचित अनुकूल] अनेक प्रकारके वक्रोक्ति-भेदोंका [सामाजिक] ज्ञान

अथास्या अङ्गान्यभिधीयन्ते—

[सूत्र १४१]—व्याहारोऽधिवलं गण्डः प्रपञ्चास्त्रिगतं छलम् ।

असत्प्रलापो वाक्केली नालिका मुदवं मतम् ॥ [२६] ६४ ॥

उद्धात्यकावलगिते अथावस्पन्दितं स्मृतम् ।

भारतीवृत्तिचर्तौनि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ [३०] ६५ ॥

एतानि त्रयोदश वीथ्यङ्गानि विविधवक्रोक्त्यादिरूपत्वाद् भारत्यां वृत्तौ वर्तनशीलानि । अत एव वीथ्यप्येषामङ्गानां अङ्गीभूता भारतीवृत्त्येकदेशः ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) तत्र प्रथमं व्याहारः—

[सूत्र १४२]—अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा व्याहारो हास्यलेशगोः ।

अन्योऽर्थः प्रयोजनं यस्याः, भाविनी वा भविष्यन्ती दृष्टिर्वाशितविषयोऽर्थो यस्याः सा । हास्ये लेशप्रधाना गो-र्वाणो । विविचोऽर्थ आद्वियतंजनयेति व्याहारः ।

तत्रान्यार्थो यथा मालविकाग्निमित्रे तास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तु-  
मिच्छति ।

कराया जाता है ॥ [२८] ६३ ॥

अब इस [बीथी] के [तेरह] अङ्ग कहते हैं—

[सूत्र १४१]—१. व्याहार, २. अधिवल, ३. गण्ड, ४. प्रपञ्च, ५. त्रिगत, ६ छल, ७. असत्प्रलाप, ८. वाक्केलि, ९. नालिका, १०. मृदवं, ११ उद्धात्यक, १२. अवलगित, १३. अवस्पन्दित भारती-वृत्तिमें होने वाले ये तेरह बीथीके अङ्ग हैं ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

ये तेरहों अङ्ग विविध प्रकारकी वक्रोक्ति रूप होनेसे । [वागव्यापार रूप] भारती वृत्तिमें रहने वाले होते हैं । इसीलिए इन बीथ्यङ्गोंकी अङ्गीभूत 'बीथी' भी भारती-वृत्तिका ही एक भाग है । ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) व्याहार नामक प्रथम वीथ्यङ्ग—

उन [तेरह वीथ्यङ्गों] मेंसे पहला 'व्याहार' है [उसका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं]—

[सूत्र १४२]—[कथित प्रयोजनसे] अन्य प्रयोजन वाली अथवा आगे होने वाले [किसी विशेष] प्रयोजनसे हास्यके लेशसे युक्त कही गई वाणी 'व्याहार' [कहलाती] है ।

[सामान्य कथित प्रयोजनसे] अन्य अर्थ, अर्थात् प्रयोजन जिसका हो अथवा भाविनी अर्थात् आगे होने वाली दृष्टि अर्थात् दिखलाए जाने वाला अर्थ जिसका विषय हो, इस प्रकार की, हास्यके सम्पर्कसे युक्त वाणी, [व्याहार कहलाती] है । [व्याहार शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं]—जिस [वाणी] के द्वारा विविध अर्थोंका आहरण किया जाता है वह व्याहार [कहलाती] है ।

उनमेंसे अर्थार्थ विषयक व्याहारका उदाहरण जैसे मालविकाग्निमित्रमें नृत्यप्रयोगके समाप्त होनेपर मालविका बाहर जाना चाहती है । [उस समय विद्वयक उसको रोकता हुआ कहता है कि—

“विदूषक — भोदि ! चिट्ठ दाव, विस्मरिदं खु वो किंचि तं ताव पुन्छिस्सं ।

[भवति ! तिष्ठ तावद् विस्मृतं खलु च किञ्चिन् तन् तावन् प्रद्यामि] ।

गणदास — चत्से ! तिष्ठ तावदुपेशविशुद्धौ गमिष्यसि । [मालविका स्थिता] ।

धारणी — गोदमवयसं पि अज्जो हियण पमाणीकरोदि ।

[गोदमवचनमपि आर्यो हृदये प्रमाणीकरोति] ।

गणदास — देवि मा मैवम । देवप्रत्ययान् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शी गोतम ।

पश्य—

मन्दोऽप्यमन्दतां याति संसर्गेण विपश्चित ।

पङ्कच्छिदः फलस्येव निरुपेणाविलं पय ॥

[विदूषकं विलोक्य] किं विवक्षितमार्यस्य ?

विदूषक — पढमं दाव पेक्खगे पुन्छ । पच्छा जो मए कम्मभेदो लक्खिदो तं भणिस्सं । [प्रथमं तावन् प्रेक्षकान् पृच्छ, परचाद् यो मया क्रमभेदो लक्षितस्तं भणिष्यामि] ।

गणदास — भगवति ! गुणो वा दोषो वा यथादृष्टमभिधीयताम् ।

परित्राजिका — यथा मे दर्शनं तथा सर्वमनवद्यम् ।

गणदास — देव कथं मन्यते ?

विदूषक — आप जरा ठहरिए । आप कुछ भूल गई हैं उसके विषय में पूछता हूँ ।

गणदास — [मालविका का नृत्य-शिक्षक गुप्त है, वह कहता है] वरसे । ठहर जाओ ।

[विदूषक जो कुछ पूछना चाहता है उसका उत्तर देकर] उपदेशकी शुद्धता हो जानेपर जाना ।

[मालविका रुक जाती है] ।

धारणी — [राजाकी प्रधान रानी है वह मालविकाका अधिक देर राजाके सामने रहना पसन्द नहीं करती है इसलिए कहती है कि] क्या इस [गोतम] मूर्ख [विदूषक] के वचनको भी आर्य अपने हृदयमें प्रमाण मानेंगे । [अर्थात् इस मूर्खकी बात ध्यान देने योग्य नहीं है] ।

गणदास — देवि ! ऐसा मत कहिए । महाराजके सम्बन्धसे [गोतम विदूषकमें भी नृत्यकी बारीकियोंको समझ सकनेकी क्षमता हो सकती है । इसलिए] गोतम सूक्ष्मदर्शी हो सकता है । देखिए—

विद्वान्के ससर्गसे भूल भी विद्वत्ताको प्राप्त कर सकता है । [जलकी] मलिनताको दूर करने वाले [कतकवृक्षके] फलके ससर्गसे जंसे मलिन जल भी शुद्ध हो जाता है ।

[विदूषकको देखकर] आप क्या कहना चाहते हैं ?

विदूषक — पहिले [जिसको इस नृत्यकी परीक्षामें निर्णायक नियत किया गया है उन] प्रेक्षक-महोदयसे पूछो, उसके बाद मैंने जो कमी देखी है उसको बतलाऊँगा ।

गणदास — [परित्राजिकासे] भगवति ! [इस मालविकाके नृत्यमें] गुण वा दोष जो आपने देखा हो उसे कहिए ।

परित्राजिका — जहाँ तक मैं समझती हूँ सब कुछ ठीक है ।

गणदास — [राजासे] महाराजकी क्या सम्मति है ?

राजा—धयमपि स्वपक्षं प्रति शिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—देव ! अद्य नर्तयिताऽस्मि ।

धारणी—दिदृक्ष्या पेक्षलगाराधरणेण [गणदासमवलोक्य] अञ्जो बद्धदि ।  
[दिष्ट्या भेक्षकाराधनेन आर्यो वर्धते ।

गणदासः—देवीपरिमहो मे वृद्धिहेतुः । [विदूषकं विलोक्य] वदेदानीं, यत् ते मनः कर्षति ।

विदूषकः—पठमोवदेसदंसणे पठमं धंभणस्त पूया इच्छिदन्वा, सा तप लंघिदा ।

[प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा गृह्यन्वा, सा त्वया लंघिता ।]

परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रसन्न !

[सर्वे प्रहसन्ति मालती स्मितं करोति ।]

इत्ययं नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनार्थं प्रयुक्तो हास्यलेशकारित्वाद् व्याहारः ।

भाविदृष्टिर्वथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—

राजा—हमारा भी अपने पक्षमें [अर्थात् मालविकाकी प्रसिद्धिनीके विषयमें] अभिमान नहीं रहा [मालविकाकी जीत हुई] ।

गणदास—देव ! आज मैं नर्तयिता [सत्त्वा मुख्य-शिक्षक कहलानेका अधिकारी] हूँ ।  
[व्यक्ति आप मेरे कार्य से सन्तुष्ट हुए हैं] ।

धारणी—सौभाग्यसे प्रेक्षक [अर्थात् निरापेक्ष] को प्रसन्न करके आपकी [वृद्धि] विजय हो रही है ।

गणदास—आपका सेवक होना ही मेरी वृद्धिका कारण है । [विदूषककी ओर देखकर], प्रच्छा, अब तुम्हारा मन क्या कहता है सो बताओ ?

विदूषक—पहिली बार उपदेशका प्रदर्शन करते समय [अर्थात् अपनी कलाकी परीक्षा देते समय] पहिले ब्राह्मणदेवताकी पूजा करना चाहिए सो आपने नहीं की है ।

परिव्राजिका—अरे ! प्रयोगकी बड़ी बारीकीका प्रश्न है ।

[सब लोग जोरसे हँसने लगते हैं । मालविका मुस्कराती है ।]

यह नायक [राजा] को विश्रब्ध रूपसे [अधिक काल तक] नायिका को दिखलाने [रूप प्रग्यार्थ] के लिए [विदूषक द्वारा] तनिक हास्यकारी [वचन कहा गया है इसलिए यह] व्याहार [का उदाहरण] है ।

भाविदृष्टि [रूप द्वितीय प्रकारके व्याहारका उदाहरण] जैसे रत्नावलीके द्वितीय अङ्क में राजा [कहते हैं]—

यह श्लोक श्लेषयुक्त है । इसमें दिए गए विशेषण लता और नारी दोनों पक्षोंमें लगते हैं । राजा समदना नारी-सी दीखनेवाली लताको देखकर कह रहे हैं कि इसकी ओर देखनेसे महारानी समदना नारीका प्रवलोकन मानकर अवश्य नाराज होगी । ओर प्रागे चलकर इसी प्रसंगमें समदना सागरिकाके साथ राजाको देखकर महारानीका मुख क्रोधसे लाल हो जाता है । इसलिए इस श्लोकमें जो 'कोपविपाटसञ्चुति मुख देव्याः करिष्याम्यहम्' कहा है वह भाविदृष्टि विषयक हास्यलेशोक्ति होनेसे व्याहार नामक वीध्यङ्गका उदाहरण है । श्लोक

राजा—उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचि प्रारब्धजृम्भां क्षणा-  
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीभात्मन ।

“अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं  
पश्यन् कोपविपाटलस्युति मुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥”

अत्र राजा वासवदत्तां प्रति भाव्यर्थदर्शनं ह्याभ्येनोक्तम् ।

अन्ये तु वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति ।  
यथा मृच्छकटिका विदूषको गणिकाया वसतसेनाया गृहं प्रविशन् वसंतसेनाया मातरं  
दृष्ट्वा पृच्छति ।

“विदूषक — का एसा बंधुला ?

[ का एसा बंधुला ? ]

चेटी—एसा अज्जुआण जणणी अत्तिया ।

[ एसा आर्याया जननी अत्तिका ] ।

विदूषक — जदि मरे ता सीयालसहस्रस पज्जत्तिका । अथ कि एद पवेसिय,  
दुयारसोहा निम्मविदा ? आदु उक्खं देवेण पवेसिदा ?

का अर्थ निम्न प्रकार है—

“प्रचुर उत्कलिकाओ [नारी पक्षमें प्रियमिलनकी उत्कण्ठाओ और लतापक्षमें कलियों]  
से परिपूर्ण, [नारी पक्षमें प्रियविद्योगके कारण और लतापक्षमें कूलोंसे लदी होनेके कारण]  
पवलकान्तिवाली, जृम्भायुक्त [और ‘प्रारब्धजृम्भा’ मे ‘जृम्भा’ पदसे नारी पक्षमें जृम्भाई तथा  
लतापक्षमें कुसुमोंका विकास अर्थ लेना चाहिए] और निरन्तर होनेवाले बापुके भोंकोंसे  
[नारी पक्षमें ‘वसतनोद्गमै’ का अर्थ दीर्घ निश्वास और लतापक्षमें इसका अर्थ बापुके भोंके  
लेना चाहिए] से अपने आयास [नारी पक्षमें अपने दुःख तथा लतापक्षमें अपने कष्ट] को  
प्रकाशित करती हुई अन्य नारीके समान [मुख्य विशेषणवाली] इस उद्यानलताको देखता  
हुआ आज मैं निश्चय ही बेबी [महारानी] के मुलकी कोपसे अरतत्वरस कर दूंगा ।”

इसमे राजाने वासवदत्ताके प्रति भावी अर्थका दर्शन [अर्थात् आने होनेवाली घटना]  
को हास्यके रूपमें कहा है । [इसलिए यह भाविदृष्टि रूप ‘व्याहार’ नामक वीध्यङ्गका उदा-  
हरण है] ।

अन्य लोग तो वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थके बोधक हास्यमय वचनको व्याहार कहते हैं ।  
जैसे मृच्छकटिकमें वसन्तसेना वैद्याके घरमें प्रविष्ट होते समय वसन्तसेनाकी माताको देख-  
कर विदूषक पूछता है—

‘विदूषक — यह [बंधुला] रडी कौन है ?

चेटी—यह आर्या [वसन्तसेना] की माता अत्तिका है ।

विदूषक — यदि [यह] मरे तो हजारो मृङ्गालोंके लिए [भोजनार्थ] पर्याप्त है । और  
[यह तो बतनाओ कि] क्या इसको [मकानके भीतर] प्रविष्ट करनेके बाद द्वारकी सोमाका  
निर्माण करवाया या अथवा ऊपरसे उठाकर भीतर लाये थे [योंकि वह इतनी अधिक मोटी  
है कि द्वारमेंसे तो यह भीतर आ नहीं सकती] ।

१. पवित्रि ।

[यदि प्रियेत तदा शृंगालसहस्रस्य पयोप्ता । अथ किमेतां प्रवेश्य द्वारशोभा निर्मापिता ? अथवावस्कन्देन प्रवेशिता ?]

चेटी—अय्य ! मा एतित्वं अनेकरसु । अत्तिका चाउत्थिएण 'वाधीयदि ।

[आर्य ! मा ग्तावदन्वीक्षस्व । अत्तिका चातुर्थिकेन वाध्यते]

विदूषकः—भयवं चाउत्थिय मं पि वंमणं अशुकपेहि । इति

[भगवन् चातुर्थिक ! मामपि ब्राह्मणमनुरुम्पस्व ।]

यथा वा नलविलासे लम्बस्तनीकापालिकीं प्रति विदूषकः—

“एकं दाब मे संसयं भंजेहि । महं बंभलीण माया 'स्थूलकुट्टिणी जा पाडलिपुत्ते वसदि सा किं तुमं, आदु अन्ना का वि । इत्यादीति ।

[एकं तावन्मे संशयं भङ्ग्य । मम ब्राह्मण्या माता स्थूलकुट्टिनी या पाडलिपुत्ते वसति, सा किं त्वम् ? उतान्या कापि ?]

(२) अथाधिबलम्—

[सूत्र १४३]—मिथो जल्पे स्वपक्षस्य स्थापनाधिबलं बलात् ॥

॥ [३१] ६६ ॥

मिथः परस्परं जल्पे उक्ति-प्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे स्वपक्षस्य स्वाभ्युपगमस्य परस्परप्रक्षोपजीवनचलान् स्थापना सुघटितत्वं क्रियते यत्र तदधिकबलसन्बन्धाधिबलम् ।

चेटी—आर्य ! इतना ही [मोटा इनको] मत समझो । माताजी [ब्राजकल] चातुर्थिक [बाधे दिन आनेवाले पक्ष] से धोड़ित है [इसलिए झुबकी हो गई है] ।

विदूषक—हे भगवन् चातुर्थिक ! [यदि आपकी कृपासे वह इतनी मोटी है तो फिर] मुझ ब्राह्मणके ऊपरभी कृपा कीजिए ।”

यह वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थका बोधक हास्यकर बचन है ।

[अथवा] जैसे नलविलासमे लम्बस्तनी कापालिकाके प्रति विदूषक [कहता है]—

‘विदूषक—मेरे एक सज्जको दूर करो । [यह बताओ कि] मेरी ब्राह्मणीकी [अर्थात् मेरी पत्नीकी] स्थूलकुट्टिनी नामकी माता जो बटनामे रहती है वह क्या तुम हो हो, अथवा कोई और है ? इत्यदि [भी वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थ विषयक हास्यकर बचन होनेसे इस प्रकारके व्याहारका उदाहरण है ।]

(२) ‘अधिबल’ नामक द्वितीय धीव्यङ्ग—

अथ अधिबलं [नामक द्वितीय विष्यङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४३]—परस्पर वार्तानामयं बलपूर्वकं अपने पक्षकी स्थापना करना ‘अधिबल’ [कहालाता] है । [३१] ६६ ।

‘मिथः’ अर्थात् परस्पर, ‘जल्पे’ अर्थात् उक्ति प्रत्युक्तिके क्रमसे [कपनोपकथनके करनेसे] अपने पक्ष अर्थात् अपने सिद्धान्तका परस्पर बुद्धिका अवलम्बन कर जो स्थापन अर्थात् उक्ति-पुस्ततत्वं सिद्ध किया जाता है वह अधिक बलका सम्बन्ध होनेसे ‘अधिबल’ [कहालाता] है ।

१. बाणी ।

२. मूल ।



यथा कृत्यारात्रणे प्रथमेऽङ्के भीतावेपधारिण्या शूर्पणख्या सह मन्त्रादे  
[नेपथ्ये]—

“हा भ्रातर्लक्ष्मण ! परित्रायस्व मा परित्रायम् ।

[इति श्रुत्वा शूर्पणखा मोहमुपगता । तस्या च मृढाया]

लक्ष्मण—आर्ये ! ममाश्वसिद्धि समाश्वसिद्धि ।

शूर्पणखा—[अक्षिणी उन्मील्य सन्नेध] आ अणञ्ज ! अञ्ज नि तुम चिट्ठमि  
न्येव । अहो ! दाणि सि तुम निम्ससो निग्घिणो य चिट्ठदु दाप भादुयसिणेहो, कय  
णाम इकराउकुलसम्भवेण महारात्तिण्ण भविय ण्व तण पयसिय ? ए भणामि ण्ण-  
मक्कवंतो सत्तु रि न उवेक्करीयदि सि पुण्ण अञ्जउत्तो ?

[आ अनार्य ! अद्यापि त्व लिट्ठस्येव । अहो इदानीमसि त्व नृशसो निघृणश्च  
विण्ठतु तावद् भ्रातृग्नेह, कथं नाम इद्वाम्कुलसम्भवेन महारत्तिनेण भूत्वेव त्वया  
व्यवसितम् ? ननु भणामि ण्णमाक्कन्दन् शत्रुरपि नोपेक्ष्यत सि पुनरार्यपुत्र ।

इति संमृतम् ] ।

लक्ष्मण—आर्ये ! ननु त्वदर्थं ण्ण आर्येण स्थापितोऽग्निम् ।

शूर्पणखा—कुमार ! ण्ण मम अत्थो कत्रो होदि । ण्व व अह् परिरेक्किज्जग  
होमि । ता सत्तथा अत्र न्येव दे अणिट्ठ अभिप्पाय लक्खेमि । इत्यादि ।

[कुमार ! ण्ण ममार्थं कृतो भवति । ण्व चाह परिरेक्षिता भवामि ? तत्सर्व-  
थान्यमेव तेऽनिष्टमसिप्रार्थं लक्ष्यामि । इति संमृतम् ] ।”

यथा वा रघुविलासे—

जैसे कृत्यारात्रणे प्रथम अङ्कमे सीताका घेव धारण किए हुए शूर्पणखारु साथ  
सपादमे [अर्थात् सबादके बावसरपर] नेपथ्यमे—

“हे भाई लक्ष्मण ! मुझे बचाओ बचाओ ।

[ऐसा मुनकर शूर्पणखा भूच्छित हो जाती है]

और उसक भूच्छित हो जानेपर लक्ष्मण [कहते हैं]—आर्ये ! धध धारण करो ।

शूर्पणखा—[आखें खोलकर क्रोधपूर्वक कहती है] भरे दुष्ट अनाथ ! तुम अभी खड  
हुए हो हो । भरे ! तब तो तुम बड़ कूर और निलज्ज [प्रतीत होते] हो । भाईके स्नहकी  
यात जाने भी दो, तो भी इद्वाम्कुलसमे उत्पन्न महाम् क्षत्रिय हाकर तुममे यह कैसे किया ?  
[अथ तब तुम गए क्यों नहीं ?] मैं कहती हूँ कि इस प्रकार पुकारनेपर शत्रुकी भी उपेक्षा  
नहीं की जा सकती है [शत्रुकी रक्षाके लिए भी तुरन्त जाना चाहिए या] फिर आपपुत्रकी तो  
यात ही क्या है ?

लक्ष्मण—आर्ये ! आपकी ही रक्षाकेलिए मुझ आप [रामचन्द्र]ने नियुक्त किया है ।

शूर्पणखा—कुमार ! क्या इस प्रकार मेरा काम होगा । और क्या इस प्रकार मेरी  
रक्षा होगी । इसलिये मैं तुम्हारा कुछ और ही अनिष्ट अभिप्राय देखती हूँ । [जितके कारण  
तुम अभी तक नहीं गए] ।

अथवा जमे रघुविलासे—

१ भूव ।

“मय — देव ! सीतापहारमतितरा जुगुप्सते लङ्कालोक ।

रावण — [ मात्सेपम् ] सीतापहारमतितरां जुगुप्सते लङ्कालोक ?

मय — [ मभयम् ] अथ निम् ।

रावण — [ सावहेलम् ] —

अविदितपथ प्रेम्णा वाह्यानुरागराजो जडो,  
चटतु दायितामैत्रीवन्धो यथाप्रतिभं जन ।  
मम पुनरिय सीता राज्य सुगं विमय प्रिय,  
हृदयमस्यो मित्रं मन्त्री रतिर्धृतिस्तस्य ॥

[ पुन सरोदम् ] आर्य ! किमेकमस्य पामरप्रकृतेर्लङ्कालोकस्य विचारचातुरी-  
वैमुख्यमुद्गाधयामि—

अस्या प्रेम ममेव याङ्मनसयोः स्तीर्णमन्यस्य चेद्,  
वैदेह्या नयनैरुल्लेखलवणप्रारोद्भूमौ भवेत् ।  
कापेय परिरभ्य स प्रमदयन्नुल्लेखभूयं दृष्टान्,  
किञ्चिन् कामितमादधीत, कृतवान् वैधास्तु मा रावणम् ॥  
अपरथा पुनराये ।

अहयुनिस्त्राप्रणीरवगणय्य धर्मगङ्गा,  
प्रमह्य यदि जानकीमभिरमेत लङ्कापति ।

‘मय—[ रावणसे ] देव । लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी श्रुत्य त निन्दा करते हैं ।

रावण—[ क्रोधपूर्वक ] आर्य ! क्या लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी श्रुत्य त निन्दा करते हैं ?

मय—[ डरता हुआ ] और क्या ।

रावण [ अनादर पूर्वक ]—

प्रममार्गकी न समझनेवाले, अनुरागकी धीडाका अनुभव करनेमे अक्षम और प्रियजन की मैत्रीसे रहित, मूर्ख लोग अपनी समझके अनुसार चाहे जो कहें । पर मेरे लिए तो यह सीता ही राज्य, सुख, वैभव प्रिय, हृदय, प्राण, मित्र, मन्त्री, धर्म और आनन्द सब कुछ है ।

[ फिर खेदपूर्वक कहता है ] आर्य ! इन पामर-प्रकृति वाले लङ्कावासियोंकी अविचार-शीलताको क्या कहें—

यदि वाली और मनकी सीमाको पार कर जाने वाले मेरे [ प्रेमके ] समान किसी औरका केवल नेत्रोंसे आनन्दवादन करने योग्य लावण्यके अकुरकी जन्मभूमि सीतामे [ मेरा जैसा ] प्रेम हो जाय तो वह निश्चय ही [ उसको ] जबरदस्ती पकड़कर आनन्दतिरेक पूर्वक बानरता [ बानरके समान काम-प्रवृत्ति ] को प्रकट करता हुआ कुछ [ अद्भुत ] काम व्यापार करने लगता । यह तो कहा कि विघाताने मुझे [ अत्यन्त धैर्यशाली ] रावण बनाया है [ कि मैंने अपने हाथमे होने और उसके लिए इतना कष्ट उठानेपर भी अभी तक उसके साथ बलात्कार नहीं किया है ] ।

नहीं तो हे आर्य !—

अभिमानियोंका अग्रणी लङ्कापति, धर्ममर्यादाका परित्याग करके जानकीके साथ

अमुष्य ननु रोदसीत्रिजयनिष्णोष्य समि-  
न्मग्न्यरसिन्सदा क इव नाम वैतण्डिम् । ॥

मय — [अपराधं मन्दोदरीं प्रति] वत्से । यथाप्रतिवतमभिधाने लङ्कापत्तो  
किमतं परं विद्वापयामि । इति ।”

केचित्तु ‘अन्योऽन्यत्राख्याविकयोमिन् गपर्याऽधिबल भवेन्’ इति पठन्ति ।  
एतदप्यर्थाभेदादनेन मगद्गीतमिति ॥ [२१] ६६ ॥

(३) अथ गण्ड —

[सूत्र १४४]—गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं प्रस्तुतानुगतं वचः ।

अन्याभिप्रायेणास्मान् प्रत्युक्तं प्रतिप्रचनतयानुच्चारितमपि प्रतिप्रचनरूपतया  
प्रान्तेन यन् सम्यग् वचनं, तद् दुष्टार्थगर्भरत्नाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव ‘गण्ड’ ।  
यथोत्तरचरिते—

“राम — [सीतामवलोक्य]—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतमर्तिर्नयनयो—

रमाग्रम्या रपशो घपुषि बहुलश्चन्द्रनरम् ।

अथ बाहु कण्ठे शिशिरमग्नगो मीम्तिरमर

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यन्तु निरद्व ॥

बलान् रमण करने लगे तो छाया-वृषिबीको विजय करनेमें समर्थ भुजदण्ड वाले, उसके साथ  
पुष्ट भृगुपाका रसिक कोन बाधक बन सकता है ?

मय—[श्रीर कोई न सुन सके इस प्रकार—अपराधं—मन्दोदरीके प्रति वत्से । [यह  
वात तो] लङ्कापति ठीक ही कह रहे हैं तब मैं श्रीर क्या कहूँ ?”

यहां परस्पर सवादमें रावणने युतिपोंके बलसे प्रबलताके साथ अपने पक्षकी स्थापना  
की है । अतः यह ‘अधिबल’ नामक द्वितीय बोध्यङ्गका उदाहरण है ।

कोई लोग स्वर्षाके कारण एक दूसरेमें घटकर वाक्योंके वचनको ‘अधिबल’ कहते हैं ।  
अपने भेद ॥ होनेमें [अर्थात् अर्थतः इसी पूर्व लक्षण वाले अधिबलके समान होनेसे] उसका  
भी अन्तर्भाव इसी [पूर्वोक्त लक्षणमें] हो जाता है ॥ [२१] ६६ ॥

(३) गण्ड नामक तृतीय बोध्यङ्ग

वे—अथ गण्ड [नामक तृतीय बोध्यङ्गका लक्षणदि करते हैं]—

[सूत्र १४४] अन्यार्थक होनेपर भी प्रस्तुतसे सम्यग् हो जाने वाला जो वचन  
अकस्मात् कहा जाय वह ‘गण्ड’ कहलाता है ।

अन्य अभिप्रायसे अकस्मान् वाला गया जो वचन प्रत्युत्तरके रूपमें उच्चारित न  
होनेपर भी, प्रकृतके साथ प्रत्युत्तर रूपमें सद्गत हो जाता है वह, अनिष्ट अर्थको अपने भीतर  
लिए हुए होनेसे गन्दे खूनसे गरे हुए फोड़के समान गण्ड’ कहलाता है । जैसे उत्तर-  
रामचरितमें—

“राम [सीताको देखकर]—

यह [सीता] घरमें लक्ष्मीके समान है यह नेत्रोंके लिए अमृतकी जनावाके समान  
[मुसव] है । इसका यह [सीतल] स्वर्षा शरीरमें प्रचुर घनन रसके लेपके समान है । इसका

प्रविश्य—[प्रतीहारी] देव उपस्थितो

[देव उपस्थितः ।]

रामः—अयि ! क. ?

प्रतीहारी—देवस्य आसन्नपरिचारओ दुम्मुहो इति

[देवस्य आसन्नपरिचारको दुर्मुखः] इति ॥”

अत्राकरमात् प्रतीहारवचनमन्याभिप्रायप्रयुक्तं प्रस्तुतरामवचसा संयुज्यमानत्वाद्

‘गण्डः’ ।

यथा वा बालिकावञ्चितके—

कंस.—रिष्टस्तावदुदग्रशृंगविकट. शैलेन्द्रकल्पो वृषः,

सप्रद्वीपसमुद्रजस्य पयस. शोषक्षमा पृतना ।

केशी वाजितनुः खुरैर्विघटयेदापन्नगान्मेदिनी,

साधं बन्धुभिरेवमूर्जितवर्लं कः कंसमास्कन्दति ।

[नेपथ्ये]

जो अन्नओ पसूओ अन्नेण य वडिदओ बहुप्पहवो ।

कण्हो सो परउट्ठो मारेइ न कोइ धारेइ ॥

[योऽन्यतः प्रसृतोऽन्येन च वर्धितो मधुप्रभवः ।

कृष्ण. स परपुष्टो मारयति न कोऽपि न धारयति ।]”

यह बाहु गलेमे शीतल और चिकना हार है । इसका कौनसा भाग प्रिय नहीं है ? [सब कुछ ही प्रिय है] । किन्तु यदि कुछ असह्य है तो यह इसका वियोग है ।

[प्रविष्ट होकर] प्रतीहारी—देव ! उपस्थित है ।

राम—अरे कौन ? [उपस्थित है] ।

प्रतीहारी—आपका आसन्न परिचारक दुर्मुख ।”

इस [संवाद] मे अन्य अभिप्रायसे प्रयुक्त [अर्थात् दुर्मुखके आगमनकी सूचना देनेके अभिप्रायसे कहा गया] भी प्रतीहारीका वचन [‘यदि परमसह्यस्तु विरह.’ इस] प्रस्तुत राम वचनके साथके-साथ मिल जानेसे ‘गण्ड’ [नामक बोध्यङ्गका उदाहरण बन गया है] ।

अथवा जैसे ‘बालिकावञ्चितके’ मे —

“कस—बड़े बड़े सींगोंसे भयङ्कर रिष्ट, महान् पर्वतके समान वृष, तातों द्वीपोंके समुद्रोंमे होनेवाले सारे जलको सोख जानेमे समर्थ पृतना, [ये सब मेरे सहायक हैं] । और अश्व-रूपधारी केशी अपने खुरोंसे पाताल तक भूमिको खोद डाल सकता है इस प्रकारके बन्धुओ [सहायको] के कारण अत्यन्त शक्तिशाली कसको कौन पराजित कर सकता है ?

[नेपथ्यमे]

जो किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ और किसी दूसरेसे पाता गया [अर्थात् देवकी-बसुदेव का पुत्र और नन्दके द्वार पाता गया कृष्ण] वह अत्यन्त बलशाली [परिपुष्ट, मधुसे उत्पन्न] माधव कृष्ण भार रहा है और कोई बचानेवाला नहीं है ।”

रामभूमिमे प्रविष्ट [कस रूप] पात्रके द्वारा पठित वचनके साथ मिल जाने वाला यह नेपथ्य-पठित अनिष्टार्थ सूचक वचन गण्ड [का उदाहरण बन गया] है ।

इदं रंगमध्यप्रविष्टपात्रपठितेन वचसा नेपथ्यपठितमनिष्टार्थसूचकं संयुज्यमानं  
चूलिकागण्डः ।

यथा वा सत्यहरिचन्द्रे—

“राजा—कपिञ्जल ! पुरो गत्वा विलोकय, आश्रमः कियति दूरे ?

[‘यदादिशति देव इत्यभिधाय कपिञ्जलो निष्क्रान्तः]

राजा ! [सखेदम्]—

विद् मां भ्रूणविधातिनं सकलपुं धिग् जीवितं मेऽपिल—

क्षोणीलोककरोपतापजनिता बिग् धिग् भमेता श्रिय ।

पुण्यास्ते कल्याणमृताद्र मनसो ये नाम वाच्यमा ,

हस्तारोपितशर्मणि प्रतिकलं वृत्ता शुभे कर्मणि ॥

कुन्तल ! वयमिदानीं सर्वस्वपरित्यागमीहामहे ।

[प्रविश्य] कपिञ्जल—देव प्रत्यासन्नं परय—

राजा—किं सर्वस्वपरित्यागम् ?

कपिञ्जल—नहि, मुनीनामाश्रमम् ।” इति ।

इस दलोकमें मुख्य रूपसे वसन्तमे होनेवाले कोकिलके वियोगियों को मार डालनेवाले मर्षात् प्रत्यन्त सन्तापदायक वसरधका वणन है । परन्तु प्रकृतमें वसको मारनेवाले कृष्ण ने साथ ही उसका सम्बन्ध है । ‘अन्यत प्रभूत’, ‘अन्येन वर्धित’, ‘परपुष्ट’ आदि सब पद कोकिलके वाचक भी होते हैं और कृष्णपरक भी । कोकिलका नाम ‘परभूत’ भी है । क्योंकि कोकिल अपने बच्चोंका पालन कौप्रोके द्वारा कराता है । कृष्ण भी परभूत दूसरेके द्वारा पाले हुए हैं । ‘कृष्ण’ तथा ‘मधुप्रभव’ पद भी कोकिल पक्ष तथा कृष्ण दोनोंमें लगते हैं । यह कोकिल वियोगी जनो को सन्तापदायक होता है । मुख्य रूपसे यहाँ उसका ही उल्लेख है । किन्तु अन्यायार्थ होनेपर भी वह वाक्य प्रस्तुत वसके वचनके साथ मिल गया है । इसलिए यह गण्डका उदाहरण बन गया है ।

अथवा जैसे सत्य हरिचन्द्रमें—

“राजा—कपिञ्जल जरा आगे बढ़कर देखो कि आश्रम कितनी दूर है ?

[जो आज्ञा, कहकर कपिञ्जल बाहर चला जाता है] ।

राजा—[स्वपूर्वक]—

भ्रूणहत्या करने वाले मुझको धिक्कार है । मेरे पापी जीवनको धिक्कार है । तारों भ्रमण्डलके सोंगोंकी क्यों द्वारा सन्ताप देकर प्राप्त की गई मेरी इस लक्ष्मीकी धिक्कार है । कल्याणसे प्राद्व हृदय वाले और मौन धारण करने वाले जो [मुनिगण] अनायास सुख प्रदान करनेवाले [हस्तारोपितशर्मणि] शुभ कामोंमें प्रतिक्षण लगे रहते हैं वे धन्य हैं ।

कुन्तल ! अब हम सर्वस्व परित्याग कर [मुनिव्रत ग्रहण करना] चाहते हैं ।

कपिञ्जल—[प्रविष्ट होकर] देव ! समीप आ गया है उसको देखिए ।

राजा—क्या ! सर्वस्व परित्यागको [देखो] ?

कपिञ्जल—जी नहीं, मुनियोंके आश्रमको ।”

इतने अन्य अभिप्रायसे कहा गया कपिञ्जनका वचन, प्रस्तुत राजाके वचनके साथ

(४) अथ प्रपञ्च —

[सूत्र १४५]—प्रपञ्च. सस्तव हास्य मिथो मित्यैकलाभकृत् ॥ [३२] ६७॥

यथा रत्नावल्या राजा कदलीगृहे चित्रगता सागरिका पश्यन् सुसङ्गताया दर्शने पलकं प्रच्छाद्य तामाह—

“राजा—सुसङ्गत कथमिहस्थो भवत्या ज्ञात ?

सुसङ्गता—भट्टा न येनलं तुवं, समं चित्तफलण्य सज्जो वृत्ततो मण जाणिदो, ता गडुय देवीण निवेदइसं । [भर्त । न येनलं त्वं, समं चित्रफलणेन सर्वो वृत्तान्तो मया ज्ञात, तद् गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि । इति संस्कृतम्] ।

वसन्तर—(अप्रचार्य) भो ! सर्व्व संभवीयस्मि । मुहुरा खु एसा गर्भदासी, ता किंचि दड्य परिदोसेहि ए । [भो । सर्व्व सम्भाव्यते । मुहुरा खलु एसा गर्भदासी, तन् किंचिद् न्या परितोष्य एनाम् ] ।

राजा—[सुसङ्गताया अलम्बन् प्रभार्चयन्] सुसंगत । त्रीडामात्रकमेवैतन् । तथापि नाकारणे त्वया देवी खेदयितव्या । इदं च त् पारितोषिस्म । [इति कर्णाभरण ददाति] ।

सुसङ्गता—[प्रणम्य सविभक्तम्] भट्टा पसादो मे कर्णाभरणेण ।

भर्त । प्रसादो मे कर्णाभरणेन ।” इत्यादि ।

“अत्र राज-सुसङ्गतयोर्मिथो ‘देव्यै निवेदयिष्यामि’ इति हास्यम् । ‘भट्टा पसादो’ इति स्तनसहितमेकस्य राज्ञ सागरिकासङ्गमलाभकारण प्रपञ्चोऽसद्व्युत्पत्त्यान् । सुसङ्गताकर्णाभरणलाभस्तु मुख्यसाध्य प्रत्यनुपयोगित्वान्न विवक्षित ।

मिलकर भावी अनिष्टका मूचक हो गया है । इसलिए यह भी गण्वा उदाहरण है । इसने पूव पताका त्यागके रूपम भी इसका यगन आ चुका है ।

४ अथ प्रपञ्च [नामक चतुष धीव्यङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४५]—किसी एकको लाभ प्रदान करने वाला, स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च [कहलाता] है ॥ [३२] ६७ ॥

जैसे रत्नावलीमे कदलीगृहमे सागरिकाके चित्रको देखते हुए राजा सुसङ्गताको देख कर चित्रफलकको टककर [उससे कहते हैं]—

राजा—सुसङ्गते ! हम यहाँ बैठ हैं यह तुमको कैसे मालूम हुआ ?

सुसङ्गता—हे स्वामिन् ! न केवल आप अपितु चित्रफलकके सहित समस्त वृत्तांत मुझको मालूम हो गया है । सो मैं जाकर देवीसे कहूँगी ।

वस तक —[द्वतरा ॥ सुन पाए इस प्रकार—अपवाय—राजासे कहता है] भरे ! सब कुछ हो सकता है । यह गर्भदासी बड़ी वाचाल है इसलिए इसे कुछ देकर स तुष्ट करो ।

राजा—[सुसङ्गताके बालोंको सवारता हुआ] सुसङ्गते ! यह सब तो केवल खेल मात्र है फिर भी तुम देवीको व्यथ हो कष्ट मत देना । लो यह तुम्हारा पारितोषिक है । [यह कहकर फानोका आभूषण देता है] ।

सुसङ्गता—[मुस्कराती हुई प्रणाम करके] हे स्वामिन् ! यह कर्णाभरण मुझ पुरस्कार मे दे रहे हैं । इत्यादि ।

इसमे देवीसे जाकर निवेदन करूँगी [यहसि लेकर] मत ! यह [कर्णाभरण मेरा]

केचित् त्वसद्भूतेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योऽन्यस्तवो हास्यहेतुस्तं प्रपञ्चमाहुः । यथा—

“रंढा चंढा दिक्खिदा धम्मदारा

मज्जं मंसं राज्जण पिज्जण वा ।

भिक्खता भोज्जं चम्मखण्डं च सेब्बा

कोलो धम्मो कस नो भादि रम्मो ।

[रंढा चंढा दीक्षिता धर्मदारा, मद्यं मांसं राज्ञस्तं पीयते वा ।

भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या, कोलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ॥”

इति संस्कृतम्]

अन्ये तु द्वयोर्लाभं विना मिथ्यास्वप्नं हास्यं मन्तव्यमुक्तं प्रपञ्चत्वेन मन्यन्ते ।

यथा प्रयोगाम्युदये—

“तरङ्गदत्तकचेटी—अम्मो अयं खु मसो संचारिमं उवहामपट्टणं अय्यभंडीरयो  
इदो व्येवा गच्छति ।

[अहो अयं स्वल्पेन संचरिष्य उपहासपत्तनं आर्यभण्डोरक इति ग्यागच्छति ।

इति संस्कृतम् ।

विदूषक—उपसृत्य भोदी ! सागदं ते ।

[भयति ! स्वागतं ते] ।

चेटी—[भ्रगतम्] परिहासहृस्मं दास्यं । [प्रकाशम्] को दासि ममो अम्हाणं

पुरस्कार है' [यहाँ तक] यह स्तुति सहित, राजा और सुसगताका परस्पर हास्य है । एक भयति राजाको सागरिकाकी प्राप्ति रूप लाभका कारण है । और मिथ्या व्यवहार रूप होनेसे प्रपञ्च है । सुसगताको कर्णभरणकी प्राप्ति [प्रपञ्चके लक्षणमें रहे हुए 'एकलाभवृत्' पदसे यहाँ] मुख्य साध्यके प्रति अनुपपुक्त होनेसे निवक्षित नहीं है ।

कुछ लोग असद्भूत परदार्याभिगमन आदिके मनुष्यके द्वारा जो एक-दूसरेकी स्तुति हास्यका कारण है उसको प्रपञ्च कहते हैं । जैसे—

उत्कट [कामवेग वाली] रडियाँ [जिस धर्ममें] दीक्षाप्राप्त धर्मदारा [समझी जाती] हैं, मद्य और मांस [स्वेच्छा-पूर्वक] खाया-पिया जाता है । [जिस धर्ममें] भिक्षा ही भोजन है, और धर्मका टुकड़ा ही शय्या है ऐसा कौल [वाममार्गी सम्प्रदायका] धर्म किसको सुन्दर [आकर्षण करने वाला] नहीं लगता है ।

इसमें कौल धर्ममें अनुयायी किमी माथीवा उपहास करते हुए उनमें परदार्याभिगमन आदि दिखलाकर उसकी हास्यवर स्तुति की गई है उगमिण यह दूसरा “क्षण्य अनुसार प्रपञ्चवा उदाहरण है ।

अग्य लोग तो दोनों [मेसे किसी] के लाभके विना ही प्रशंसायुक्त मिथ्या हास्यको प्रपञ्च कहते हैं । जैसे प्रयोगाम्युदयमें—

“तरंगदत्तकी दासी—अरे सञ्चरणशील उपहास-नगर रूप यह आर्य भण्डोरक इधर हो पा रहे हैं ।

विदूषक—[पास आकर] आपका स्वागत है ।

पेसण्यारओ चेडउ त्ति ।

[परिहामयिप्यामि ताउदेनम् । क इदानीमेपोऽग्माकं प्रेपण्यारकचेटक इति ।  
विदूषक —अहं घटदासीण सामिगो ।

[अहं घटदासीना स्वामिक ] ।

चेटी—कि चेडउ त्ति भणिदे कुविदो तुम ।

[कि चेटकःइति भणित कुपितस्त्वम्]

विदूषक —को दाणि विसेसो घटदासीण कुमदासीणं च ?

[क इदानीं विशेषो घटदासीना कुमदासीना च] ?

चेटी—मा कुप्प भट्टउत्तो त्ति भणिम्स ।

[मा कुप्य, भर्तु पुत्र इति]भणिप्यामि ] ।

विदूषक —भोदी ! तुवं पि मा कुप्प अज्जा इति भणिम्स ।

[भवति ! त्वमपि मा कुप्य, आर्या इति भणिप्यामि] ।

चेटी—अहो, भट्टउत्तस्स गदी ।

[अहो भर्तु पुत्रस्य गति ] ।

विदूषक —अहो अतिरूआ अज्जया ।

[अहो अतिरूपा आर्यका]” इति ॥ [३२] ६७ ॥

(५) अथ त्रिगतम्—

[सूत्र १४६]—त्रिगत शब्दसाम्येन भिन्नस्यार्थस्य योजनम् ।

भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य । त्रिगतमनेकार्थगत शब्दत्यानेकार्थत्वात् । तेन द्वयर्थ-

चेटी—[स्वगत] इससे तनिक भडाक कर लूं । [प्रकाश] यह हमारा प्रपण कराने वाला कौन दास है ।

विदूषक—मैं घटदासियोका स्वामी हूं । [घटदासोका अथ ज मसे दासी है] ।

चेटी—कया चेद कहनेसे आप नाराज हो गए ?

विदूषक—घटदासी और कुम्भदासीमे क्या भेद है ?

चेटी—नाराज मैं हों अब भर्तु पुत्र कहूंगी ।

विदूषक—आप भी नाराज न हो अब आर्या कहा कहूंगा ।

चेटी—ओहो भट्टपुत्रकी चाल [कसी सुंदर है] ।

विदूषक—अहो आर्यका रूप कसा सुंदर है ।

दोनोंमेंसे किसीके भी लाभके बिना यह मिथ्या सस्तवयुक्त हास्य वचन है । यह दूसरे मतसे प्रपञ्च नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है ॥ [३२] ६७॥

५ त्रिगतनामक पञ्चम वीथ्यङ्ग—

अब त्रिगत [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—शब्दको समानताके कारण [अनेकायक शब्दको प्रस्तुत अथसे] भिन्न अर्थ निकलना त्रिगत [कहाता] है ।

शब्दोंकी समानताके कारण [अनेकायक शब्दोंसे] अथ अर्थकी योजना त्रिगत [कहाता] है । जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' के द्वितीय अक्षमे प्रजाप्राप्तके आशवासनके लिए राजा राम



मपि । यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाख्यामनाय शशङ्ग ध्रुवदेवीमम्प्रदाने  
अभ्युपगते राजा रामगुप्तेनारियार्थं वियामु, प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यं कुमारचन्द्रगुप्तो  
विमपयन्नुच्यते—

यथा—

“राजा—प्रतिष्ठोक्तिषु ॥ गन्धर्वैः स्त्र्यां परित्यक्तमुत्सहे ।

प्रत्यग्रयौवनत्रिभूषणमङ्गमेनद्,

रूपप्रियं च तत्र यौवनयोग्यरूपम् ।

मनितं च मय्यनुपमामनुगन्ध्यमानो

देवीं त्यजामि यत्नान्स्वयं मेऽनुराग ॥

अन्यग्रीशक्या ध्रुवदेवी—यदि भक्तिं अवेक्यमि ततो म मन्दभाङ्गि परि-  
च्ययमि ।

[यदि भक्तिमपेक्षते ततो मां मन्दभागिनीं परित्यजामि] ।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं वृणुन् स्वदन्तरे ।

ध्रुवदेवी—अहं पि जीविदं परिच्ययती अञ्जजत पदमयं व्येष परिचयडामं ।

[अहमपि जीवितं परित्यजन्ती आर्यपुत्रं प्रथमतः परित्यक्ष्यामि ।]

राजा—न्यया निना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।

ध्रुवदेवी—ममात्रि मपद निष्पलो जीवलाओ सुहपरिषयणीओ भद्रिसदि ।

[ममापि माम्प्रतं निष्पलो जीवलो न मुग्धपरित्यजनीयो भविष्यति ।]

गुप्तके द्वारा ध्रुवदेवीको शाहराजको दे देना स्वीकार कर लेनेपर ॥ ध्रुवदेवीका वैष धारण  
करके शात्रुके वपके लिए जाने वाले कुमार चन्द्रगुप्तकी लक्ष्य करके रहते हैं—

राजा—प्रतिष्ठा-वचनोंके अवसरपर मैं तुमको भुला नहीं सकता हूँ ।

मैं [यद्यपि] देवीका परित्याग करने जा रहा हूँ किन्तु अभिनव यौवनसे रमणीय  
तुम्हारी यह देह, यौवनके अनु रूप इस रूप सो-दर्य और अपने प्रति अनुपम प्रेमको देखकर  
तुम्हारे प्रति मेरा प्रवल अनुराग है ।

ध्रुवदेवी—[चन्द्रगुप्तको दूसरी स्त्री समझ कर] यदि इसके प्रेमकी अपेक्षा है तो  
[इसका अर्थ यह है कि अपने प्रति अनन्य अनुराग रखने वाली] मुझ मन्दभागिनीका परि-  
त्याग कर रहे हैं ।

राजा—और तुम्हारे कारण [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा कर ही सोभे ऐसा मानकर  
दूसरे पक्षमें तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर] मैं तुम्हारे समान देवीका परित्याग कर रहा हूँ ।  
[अर्थात् शाहराजको देवीके दे देनेकी स्वीकार कर रहा हूँ] ।

ध्रुवदेवी—[आपके इस परित्यागमें लिन्न होकर] मैं भी अपने जीवनका परित्याग  
करके आर्यपुत्रको पहिसे ही छोड़ दूंगी ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] तुम्हारे बिना मेरा यह राज्य ध्वंश है ।

ध्रुवदेवी—मेरे लिए भी अब यह जीवत्वीक निष्फल है । उसे मैं सरलतासे परित्याग  
कर सकूंगी ।

राजा—कि तु देवी मेरी विवाहिता पत्नी है इसलिए उनके प्रति मुझे दया आती है ।

राजा—उठेति देवीं प्रति मे दयालुता ।

ध्रुवदेवी—इय अज्जउत्त । ईदिसी दयालुदा, जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एव परिच्चइयादि ।

[इयमार्यपुत्र । ईदृशी दयालुता यदनपरद्धो जनोऽनुगत एवं परित्यज्यते] ।

राजा—त्वयि स्थित स्नेहनिमन्धन मन ॥

ध्रुवदेवी—अदो प्येव मदभागा परिच्चइयामि ।

[अत एव मन्दभागा परित्यज्ये] ।

राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशमा सह ।

परित्यक्ता मया देवी जनोऽय जन एव मे ॥

ध्रुवदेवी—हजे । इय सा अप्यउत्तस करणदा ।

[हजे । इय सा आर्यपुत्रस्य कम्पणा] ।

सूत्रधारी—देवि । पडति चदमडलाउ चुडुलीओ, कि एत्थ करीयदि ।

[देवि । पतन्ति चन्द्रमण्डलादप्युलका, किमत्र त्रियते] ?

राजा—देवीवियोगदुःखार्तास्त्वमस्मान् रमयिष्यसि ।

ध्रुवदेवी—वियोगदुःखस्य पि दे अकरुणस्स अस्थि प्येव ?

[वियोगदुःखमपि तेऽकरुणस्यास्त्येव] ?

राजा—त्वद्दुःखस्यापनेतु सा शताशेनापि न क्षमा ॥” इति ॥

एतत् स्त्रीवेषधारिचन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसान्ध्येन देव्या स्त्रीविषय प्रतिपन्नमिति भिन्नार्थयोजनम् । एव त्वर्थमपि श्लेषादिघशादुदाहार्यम् ।

ध्रुवदेवी—हे आर्यपुत्र । यह [आपको] ऐसी दयालुता है कि अपने प्रति अनुरक्त और अनपराधी सेविका [मुझ] को छोड़ रहे हैं ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] किन्तु तुम्हारे प्रेमके कारण मेरा मन तुमसे लगा हुआ है ।

ध्रुवदेवी—इसीलिए मुझ मन्वभागिनीया परित्याग कर रहे हैं ?

राजा—तुम्हारे ऊपर प्रेम [विश्वास] करके तुम्हारे लिए [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा दात्रवध करके अवश्य कर सकोगे ऐसा मानकर, देवीपरित्यागका वचन देकर] यशके साथ साथ मेने देवीका परित्याग कर दिया और यह प्रजाजन तो मेरे प्रजाजन ही ठहरे ।

ध्रुवदेवी—हजे । यह आर्यपुत्रकी यह कसण्ठा है [जो मेरे प्रति रखते हैं] ।

सूत्रधारी—देवि । चन्द्रमण्डलसे भी यह उल्कापात हो रहा है अब इसमें क्या किया जा सकता है ।

राजा—देवीके वियोगके दुःखने दुःखी हमको अब [शत्रुका वध करने देवीकी रक्षा द्वारा] तुम ही सुखी बनाओगे ।

ध्रुवदेवी—कण्ठा-रहित आपको वियोग दुःख बना ही है ?

राजा—तुम्हारे दुःखने दूर कर रखनेमें यह तनिक भी समर्थ नहीं है ।”

स्त्री वेषधारी चन्द्रगुप्तकी बोधित करनेके लिए बड़े हुए भी ये सब वचन विशेषणोंकी समानताके कारण ध्रुवदेवीने अग्य स्त्री परक समझ लिए हैं इसलिये यह भिन्नापने उनकी योजना [होनेसे विगत नायक बौध्यङ्ग्या उदाहरण] है । इसी प्रकार श्लेषादिघे द्वारा तीन

अथवा श्रुतिसामर्थ्येणैकस्यैव प्रजनरूपतया सत प्रतिवचनतया भिन्नार्थस्य योजनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

सर्वक्षितिभृतां नाथ ! दृष्टा सर्वाङ्गमुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽग्निम् त्वया विरहिता मया ॥

अत्र प्रश्ने महीभृत प्रतिशब्देनैतदेवोत्तरम् ।

यद्वा शब्दोऽन्यक्तध्वनिमात्रं, तत्सामर्थ्येनानेकार्थयोजनं 'त्रिगतम्' । यथा इन्दु-  
लेखायां वीथ्याम्—

“राजा—वयस्य—

किं नु कलहसनादो मधुरो ? मधुपायिना नु रुद्धारः ?

हृदयगृहदेवतायाम्भ्या नु सनपुरञ्चरण ? ॥ इति ॥”

(६) अथ छलम्—

[सूत्र १४७]—वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोपकारणम् ॥ [३३] ६८ ॥

अर्थोत्ते सम्बद्ध [त्रिगत] का उदाहरण समझ लेना चाहिए ।

अथवा प्रश्न रूपसे स्थित एक ही वचनको शब्दकी समानतासे उत्तरके रूपमें लगानेसे भिन्नार्थमे योजना [‘त्रिगत’ कहलाती] है । जैसे विक्रमोर्वशी में—

[‘उर्वशीके’ बसे जानेपर उसके विधोय हुआ उसे पागल हुआ राजा इधर-उधर उसके खोजता फिरता है और वह हिमालय पर्वतसे उर्वशीके विषयमें प्रश्न करता हुआ कहता है] हे समस्त पर्वतोंके स्वामिन् ! इस सुन्दर वन-भागमें मुझमें अलग हुई सर्वाङ्ग-मुन्दरी स्त्री [अर्थात् उर्वशी] को क्या आपने देखा है ?

इस प्रश्नके करनेपर प्रतिपत्ति द्वारा पर्वतका यही उत्तर है ।

पर्वतकी ओरसे उत्तरके रूपमें इन शब्दोंका अर्थ यह होगा कि—हे समस्त राजाश्राव्ये अधिपति [महाराज] ! ‘त्वया विरहिता’ तुमसे वियुक्त हुई सर्वाङ्ग-मुन्दरी स्त्रीको ‘मया’ मैंने इस सुन्दर वन-भागमें देखा है । इसमें प्रश्न वाचक मया विरहिता स्वया दृष्टा यह अन्वय होता है । और उत्तर-पक्ष में ‘त्वया विरहिता मया दृष्टा’ यह अन्वय होता है । इसी प्रकार ‘गर्वक्षितिभृता नाथ’ का अर्थ दोनों पक्षोंमें भिन्न हो जाता है । प्रश्न पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ पर्वत और उत्तर पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ राजा होता है ।

अथवा शब्दसे अन्यक्त ध्वनिमात्र [लेना चाहिए], उसकी समानतासे अनेकार्थकी योजना ‘त्रिगत’ [नामक बोध्यज्ञ कहलाता] है । जैसे इन्दुलेखा [नामक] बोधोमे—

राजा—हे मित्र !

क्या कलहसोंका नाद या मधुषोंका रुद्धार मधुर है अथवा मेरे हृदयमन्दिरकी उस देवताके नूपुर [की ध्वनिसे मुक्त] चरण [अधिक मधुर हैं] ?

(६) छल नामक छठा वीथ्यंग—

अथ ‘छल’ [नामक अन्य पष्ठ बोध्यज्ञका लक्षण करते हैं] ।

[सूत्र १४७]—दूसरेके लिए प्रयुक्त, हास्य वञ्चना या रोपके जनक वचनका प्रयोग ‘छल’ [कहलाता] है । [३३] ६८ ।

प्रयोजनान्तरेण प्रयुक्तं यद्वचनमन्यस्य, अन्यस्य हास्य-वञ्चना-रोपकारणं तद्व-  
ञ्चनाहेतुत्वाच्छ्रलम् । यथा—

“कम्स व न होइ रोसो दट्टूण पिपाए सव्वणं अहरं

सभमरपउमग्घाइरि वारियवामे सहसु इण्हिं ॥

[कस्य वा न भवति रोपो दट्टु प्रियायाः सुव्रणमधरम् ।

सभ्रमरपद्माद्यायिणि वारित्वामे सहस्वेदानीम् ॥

इति संस्कृतम् ॥”

एतद्वचः सख्या भर्तृप्रत्यायनप्रयोजनेनोक्तं विदग्धजनस्य हास्यं श्वशुरा-  
देर्वञ्चनां सपत्न्या रोपं जनयतीति ॥ [३३] ६८ ॥

(७) अथासत्प्रलापः—

[सूत्र १४८]—असत्प्रलापस्तत्त्वेन हितं यन्नावगम्यते ।

परमार्थतो हितमुपकारपर्यवसायि यद्वचनं अविवेचकत्व-मौल्याभ्यां तत्त्वेन  
हितत्वेन नैयाययुज्यते अविवेचकैर्मूर्खैश्च, तन् तौ प्रति असतो असाधुभूतस्य  
प्रलपनमसत्प्रलापः ।

तत्राविवेचकं प्रति यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

“रावण—प्रायशः श्रुतमेव भवद्विर्यथा कलत्रमात्रसाधनोऽसौ तापसगतपहार  
एव तावन्निरूप्यताम् । न च कलत्रापहरणादृते पुरुषाभ्यापरं परिभवाथानमस्ति ।  
तत्र मारीचेन साहाय्यकं क्रियमाणमिच्छामि ।

अन्य प्रयोजनसे प्रयुक्त किया गया दूसरे व्यक्तिका जो वचन दूसरेके लिए हास्य वञ्चना  
प्रथवा रोपका कारण हो वह वञ्चनाका हेतु होनेसे ‘छल’ कहलाता है । जैसे—

अपनी प्रियाके अधरमे [ दन्तक्षतका ] घाव देसकर किसको कोध नहीं आता है ?  
इसलिए मवा फरनेपर भी न मानने वालो, और भ्रमर-युक्त कमलको सूँघने वाली प्रब  
[ भ्रमरके काट लेनेसे बने अघरयणके कारण अपने बतिके कोध को ] भोग ।

यह वचन सखीने [ नायिकाकी रक्षाके लिए उसके ] स्वामीको [ यह ] विश्वास दिताने  
के लिए [ कि इसके परपुरुष-द्वारा अघरयण नहीं हुआ है अपितु भ्रमरके काट लेनेसे ब्रण  
हुआ है ] कहा जानेपर भी विदग्ध लोगोमे हास्य, श्वशुरादिको वञ्चना तथा सपत्नीमे रोप  
उत्पन्न करता है ॥ [ ३३ ] ६८ ॥

(७) असत्प्रलाप नामक सातवां वीर्यगः—

अथ असत्प्रलाप [ नामक सप्तम वीर्यगःका लक्षणादि बहते हैं ] ।

[ सूत्र १४८ ]—जिस हितकारी वचनको यथार्थ रूपमे ग्रहण नहीं किया जाता है वह  
‘असत्प्रलाप’ है ।

वास्तवमे हितकारी अर्थात् लाभ पहुँचने वाला होनेपर भी [ सुनने वालेके ] अवि-  
वेकत्व प्रथवा भूलताने कारण हितकारी रूपसे ग्रहण नहीं किया जाता है वर उन दोनोंके  
प्रति असत् अर्थात् अहितकर प्रलापके समान होनेमे ‘असत्प्रलाप’ [ कहलाता ] है ।

उनमेंसे अविवेचकके प्रति [ असत्प्रलापका उदाहरण ] जैसे रामाभ्युदयके द्वितीयांशमे-  
रावण—तुमने यह तो नायद सुना हो है कि उस तापसके वात बेचल एव एवो

मारीचः—स्वामिन ! जीवतो रामस्य परिभव इत्यशक्यमेतन् । न ग्लु तापस इति तमवज्ञानुमर्हति देवः । अन्यदेव वस्त्वन्तरं किमपि तन् ।

रावणः—[सक्रोधम्] आः किं नाम वस्त्वन्तरं तन् ? मूढ !

युक्त्येव च्छत्रबन्धोः परिभवमममं जीवतः कर्तुमिच्छन्,  
मायासाहायके त्वं निपुणतर इति प्रार्थये नासमर्थः ।

‘यच्चान्यत् तत्र यच्चप्रहृतिमसृणितम्फारकेयूरभाजः,  
मञ्जास्त्रैलोक्यलक्ष्मीदृढहरणामहा बाहवो रावणस्य ॥”

अत्र मारीचचचनं परमार्थतो हितमपि रावणेन नावगतम् ।

मूर्खं प्रति, यथा भीमद्विरचिते ‘मनोरमावन्मराजे’ वत्सराजाभ्युदयशीली  
रमणान् पांचालमुच्छेत्तुकामस्तस्य कृतकभृत्यतां श्रितो विग्यासोत्पादनार्थं वत्सराजा-  
न्तरपुरमादीप्य योगन्धरायणप्रमुखानाह—

“कौशाम्बी मम हस्त एव परया शक्त्या मया म्बीकृत,  
पंचालाधिपतिः प्रभु स भवतां न ज्ञायते क्वाधुना ।  
नन्वादीपित एष मोहितपरानीकेन लायाणको,  
देवी सम्प्रति रक्ष्यतामयमहं प्राप्तो रमणवान् स्वयम् ॥”

ही है । इसलिए उसका अपहरण ही सबसे पहले करना चाहिए । स्त्रीके अपहरणसे अधिक  
पुरुषके लिए अपमानका दूसरा स्थान नहीं है । इसमें मारीच सहायता करे ऐसा मैं चाहता हूँ ।

मारीच—स्वामिन् ! रामके जीते रहते उसका अपमान हो सके यह असम्भव है ।  
वह कोई साधारण तापस है वह समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए । वह कुछ  
घोर हो चीज है ।

रावण—[सक्रोध होकर] अरे वह कीनती दूसरी चीज है ? मूर्ख—

उस नीच क्षत्रियके जीते रहते ही मुझसे उसका अपमान करनेके लिए हो, तू धोखा  
देनेमें अधिक चतुर है ऐसा समझकर तुमसे कहा था, मैं असमर्थ हूँ ऐसा मत समझना । और  
वह जो कुछ घोर है उसके लिए वज्रके प्रहारसे बिखने हुए बाजूबन्दोको धारण करने वाले  
घोर तीनों लोकोंकी लक्ष्मीको बलान् हरणकर सङ्गनेमें समर्थ, मेरे [रावणके] बाहु सँवार हूँ ।

यहाँ मारीचका वचन वास्तवमें हितकर होनेपर भी रावणने [हितकर] नहीं  
समझा ।

मूर्खके प्रति—जैसे भीमट [कवि] विरचित मनोरमावत्सराजने वत्सराजकी उन्नति  
की कामना करने वाले [मन्त्री] रमणान् पाञ्चालराजको नाश करनेकेलिए उसके बनावटी  
भूप वनकर उसको विश्वास दिलानेके लिए वत्सराजने [सावाणक वनमें स्थित होनेके समय]  
अन्त पुरमें प्राण लगाकर योगन्धरायण आदिते कहते हैं—

कौशाम्बीकी मेरे हाथमें ही समझे । अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण [उसपर  
नीतिमें ही विजय प्राप्त करनी होगी ऐसा मानकर] मैंने पाञ्चालराजको [बनावटी रूपमें]  
अपने स्वाधी रूपमें स्वीकार दिया है । आपने वे प्रभु [उदयन] न मानुम कहीं हैं । रामकी  
नेताकी भ्रममें डालने वाले मैंने इस सावाणक [वन] को प्राण लगा दी है, अब [इस सावा-  
णक] महंति ।

एतच्च परमार्थतः पांचालोच्छेदपरं यौगन्धरायणेनावबुद्धम् । वासवदत्तया सम्भ्रमकनाम्ना यौगन्धरायणानुचरेण च मौल्यान्नावगतम् ।

यथा वा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे मन्त्रिपुत्रेणोन्यते—

“सर्वदा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्परः ।

तस्यार्थानां सुखानां च समृद्धिः करगामिनी ॥”

एतदपि मूर्खत्वात् प्रियांशे पाराकविजय-मद्यपानरूपे गृह्यते, न त्विन्द्रियविजय-देवताराधनरूपे हितांशे इति ।

अन्ये तु बालोत्कण्ठितादीनामसम्बद्धकथाप्रायमसत्प्रलापमिच्छन्ति । यथा—

“एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त पडिति व्यालुप्तसंख्याक्रमा,

वाचः क्रौंचरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्पन्तु वः ॥”

यथा वा रघुविलासे सीताविरहितो रामः—

“अरण्ये मां त्यक्त्वा हरिण ! हरिणाक्षी क्व नु गता,

पराभूतो दृष्ट्वा कथयसि न चेन्मा स्म कथय ।

अरे क्रीडाकीर ! त्वमपि वहसे कामपि रुपं,

यदेवं तूष्णीकामनुसरसि वाचंयम इय ॥” इति ।

एकके शिविरमे स्थित] देवीको आप लोग बचा लो [इस बातका समाचार देने के लिए मैं] हमेशा स्वयं प्राया हूँ ।

पाञ्चालराजके नाशके लिए यह [रुमणवान्का प्रयोग है] इस बातको यौगन्धरायणने समझ लिया किन्तु वासवदत्ता तथा यौगन्धरायणके सम्भ्रम नामक अनुचरने मूर्खतावश नहीं समझा ।

अथवा [उसी मनोरमावतराजने] व्यसनी राजपुत्रके द्वारा सुप्त क्या है यह पूछे जाने पर मन्त्रिपुत्र कहता है—

जो सर्वदा अपनी इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करने वाला है और देवताओंकी सेवामें तत्पर रहता है उसके लिए अर्थ और सुखकी समृद्धि हस्तगत रहती है ।

[यह इस श्लोकका विवक्षित अर्थ है किन्तु व्यसनी राजपुत्र] अपनी मूर्खताके कारण अपने प्रिय अशमें [अक्षविजयी पदसे] छूतकी विजय, तथा [सुरासेवन पदसे] मद्य-सेवन अर्थ की लेता है । इन्द्रियविजय और देवताराधन रूप हिताशकी नहीं ।

दूसरे लोग तो असम्बद्ध कथायुक्त बालकोंकी उत्कण्ठा आदिके वर्णनको अतःप्रताप मानते हैं । जैसे—

क्रीडाचारि कार्तिकेयकी शिशुत्वके कारण असम्बद्ध एक, तीन, नौ, आठ, सात, दस आदि संख्या के क्रमसे रहित वाणी तुम्हारा कल्याण करें ।

अथवा जैसे रघुविलासेने सीतासे विरहित राम [कहते] हैं—

हे हरिण ! हरिणाक्षी [सीता] वनमें मुझको छोड़कर कहाँ चली गई है ? क्या तुम मुझको देखकर डर जानेसे नहीं कह रहे हो, यदि ऐसी बात हो तो डरो मत, बतला दो । अरे क्रीडाके तोते ! क्या तुम भी नाराज हो गए हो कि मौनियोंके समान इस प्रकार चुपची पारण किए हुए हो ।

(८) अथ वाक्केली—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली हास्या वाक्-प्रतिवागपि ॥

[३४] ६६॥

प्रश्नस्य प्रश्नयोः प्रश्नानां वोत्तरं प्रश्नोत्तरम् । सहासा छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्वा ।  
द्वयमप्येतद् वचनग्रीडारूपत्वाद् वाक्केली । यथा—

“नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते ? ।

वाह्यान्तरा विजितव्या के नाम कृतिनाऽरयः ? ॥”

अत्र ‘अरय’ इति एकत्र रयाभावो, अपरत्र शत्रय इति एकं प्रतीयचनम् ।

एवं बहुनामपि द्रष्टव्यम् । अतः प्रश्नोत्तरम् ।

छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्यथा—

“कोऽयं द्वारि ? हरिः, प्रयाह्युपवनं शारामृगम्यात्र किं,

कृष्णोऽहं दयिते, विभेमि सुसरां कृष्णात् पुनर्वानरान् ।

मुग्धेऽहं मधुसूदनो, व्रज लतां तामेव तन्धीमलं,

मिथ्या सूचयसीत्युपेत्य धनिकां ह्यतो हरिं पालु व ॥”

(८) वाक्केली नामक अष्टम वीर्यद्वय—

अथ ‘वाक्केली’ [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तर अथवा हास्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर ‘वाक्केली’ कहलाती है  
[३४] ६६ ।

एक प्रश्नका, दो प्रश्नका, अथवा बहुत प्रश्नोंका उत्तर [यहाँ पर] प्रश्नोत्तर [कह-  
लाता] है । अथवा हास्ययुक्त, चातुर्यपूर्ण, उक्ति-प्रत्युक्ति [ये दोनोंही वचनोंकी क्रीडा रूप  
होने से वाक्केली है] । जैसे—

बरसातके बाद नदियोंकी कंसरी शोभा होती है ? और किन बाह्य तथा आन्तरिकों  
विजय करना चाहिए ? [ये दो प्रश्न हैं । इन दोनों प्रश्नोका एक ही उत्तर देते हैं कि]  
‘अरय’ ।

इसमें एक पक्षमें [अर्थात् प्रथम प्रश्नके उत्तरमें] ‘अरय’ का अर्थ रयका अभाव  
अर्थात् बेवाभाव और दूसरे पक्षमें ‘शत्रु’ यह [दोनों प्रश्नोंका] एक ही उत्तर है । इसी प्रकार  
बहुत प्रश्नोंका भी [एक ही उत्तर] हो सकता है । यह प्रश्नोत्तर [रूप वाक्केलीका उदाहरण है] ।

चातुर्यपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्ति [का उदाहरण] जैसे—

अरे दरवाजेपर यह कौन है ? [यह धनिका राधिकाका प्रश्न है । इसका उत्तर  
कृष्ण देते हैं] हरि [अर्थात् मैं कृष्ण हूँ । ‘हरि’ शब्दका अर्थ कृष्ण भी होता है और वानर  
भी । कृष्णने तो हरि शब्दसे कृष्ण अर्थ लेकर अपना परिचय दिया था । किन्तु राधाने  
उसका वानर अर्थ लेकर कृष्णकी उत्तर दिया कि यदि तुम वानर होतो] उपवनमें घते  
जाओ । यही बन्दरका क्या काम ? [इस पर कृष्ण फिर] हे प्रिये ! मैं [बन्दर नहीं धनिक]  
कृष्ण हूँ । [इस पर राधा उसका कात्त बन्दर अर्थात् सगुर अर्थ लेकर कहती है कि] जाने  
बादलोंमें तो मैं बहुत बरतो हूँ । [इस पर कृष्ण फिर मधुसूदन नाममें अपना परिचय देते  
हुए कहते हैं] अरी भोती प्रिये ! मैं [सगुर नहीं] मधुसूदन हूँ । [राधा मधुसूदनका अमर

केचित्तु साकाक्षस्य वाक्यस्य विनिवर्तनं वाक्केलीमधीयते । यथोत्तरचरिते—

“त्वं जीवितं त्वमसि मे दृढ्यं द्वितीयं,

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्ग ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुबध्य मुग्धां,

तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥” [३४] ६६ ॥

(६) अथ नालिका—

[सूत्र १५०]—हास्याय वञ्चना नाली—

परविप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हास्यनिमित्तं निगूढार्थत्वाद् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका । यथा रत्नावल्यां सागरिका चित्रफलकार्यमागता कदलीगृहे वत्सराजं दृष्ट्वा बहिः स्थिता मुसङ्गतयोन्यते—

“सुलङ्गता—सहि जस्स कए तुवं आगदा सो एत्थ यूयेव चिट्ठदि ।

[सखि याय कृते स्वमागता सोऽत्रैव तिष्ठति । इति संस्कृतम् ।]

सागरिका—[सकोपमिय] सहि कस्स ?

[सखि कस्य] ?

मुसङ्गता—[सहासम्] अयि अप्पसंकिदे णं पडत्तमद्दुसवे चित्तफलह्यस्स ।

अर्थ लगाकर कहती है कि] तो फिर उसी कोमल सतारके पास जाओ मुझे क्यों घोला देते हो इस प्रकार धनिका] राधा के पास जाकर सज्जित हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

कोई लोग साकाक्ष [अपरितमप्राप्त] वाक्य पापित कर लेने [अर्थात् कहते-कहते] को रोक लेनेको बाधकेली कहते हैं । जैसे उत्तरचरितमे—

तुम [अर्थात् सीता] मेरी प्राणस्वरूप हो, तुम ही मेरा दूसरा हृदय हो, तुम नेयोके लिए कौमुदीरूप और अंगोंके लिए प्रभृतरूप हो । इस प्रकारके सैकड़ों प्रिय वचनोंसे उत भोली [सीता] को प्राणवासन देकर अब उसको [तुमने घरसे निकाल दिया । इस बातको वासन्ती आगे कहना चाहती है, किन्तु उसको बीचमे ही रोक देती है] प्रयया छुप रहो इसके आगे कहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६६ ॥ [३४]

(६) नालिका नामक नवम धीव्यङ्ग—

अथ ‘नालिका’ [नामक नवम धीव्यङ्गका संक्षेप करते हैं]—

(सूत्र १५०) मञ्जाद करनेके लिए घोला देना ‘नाली’ [कहाता] है ।

घोला देने वाला जो उत्तर हास्यके लिए अर्थात् शूदाय्य होनेमे हास्यका जनक होता है वह नाली अर्थात् बहाना रूप [हास्यरी] प्रणालिका [होनेमे ‘नाली’ कहाता है] । जैसे रत्नावल्यामे चित्रफलरुके लेनेके लिए आई हुई सागरिका बटलीगृहमें वत्सराज उदयनको बंठा देपकर बाहर रक जाती है । तब मुसङ्गता उससे कहती है—

मुसङ्गता—हे सखि ! जिसके लिए तुम आई थी यही स्थित है ।

सागरिका—[कुट होती हुई सी] हे सखि ! जिसके लिए [मैं आई थी] ?

मुसङ्गता—[हंसकर] घरी घपने आप मञ्जा कर लेने वाली ! इस प्रानन्दके अन्तर पर चित्र-फलरुके लिए ।



[अथि आत्मशक्तिं ननु प्रवृत्तमभूत्सवे चित्रफलकम्] ।

केचिन् तु हारयद्देतुनोपेतां<sup>१</sup> निगूढार्थरूपा प्रहेलिकां नालीं मन्यन्ते । यथा 'वालिकावञ्चितके' पारिषादिके —

"तपनीयोज्ज्वलकरकं कुवलयारुचि भासमानमाकाशे ।

तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम् ॥"

अत्र निगूढो नारदलक्षणोऽर्थः सूत्रधारेणास्मिन्नेव श्लोके 'द्वितीयमेतं मुनि पश्य' इति चतुर्थपादान्वाक्येन व्याख्यात इति ।

(१०) अथ मृदवम् —

[सूत्र १५१]—व्यत्ययो गुण-दोषयोः । मृदवम्

गुणानां दोषत्व, दोषाणां च गुणत्वं येनोत्तरेण व्यत्ययो निरर्थात् क्रियते, तन्मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमयति रक्षतीति मृदवम् ।

गुणस्य दोषीकरणं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के—

"जयद्रथमाता—जाड । ते गु वधुधामरिसुहीन्द्रिकोवा समरे अणवेकिरय-  
सरीरा परिकमिम्भति ।

[जात । ते रत्न नन्धुधामर्पोद्दीपितकोपा समरेऽनपेक्षितशरीरा परित्रमिभ्यन्ति ।

इति सङ्कृतम्]

बृद्ध लोग हाथके हेतु रूपमे प्राप्त होने वाली निगूढार्थ वाली 'प्रहेलिका' को 'नाली' बतलाते हैं । जैसे वालिकावञ्चितके पारिषादिके [कहता है] ।

सोनेके समान चमकते हुए करों [किरणों और दूसरे पक्षमे हाथों] वाले, आकाशमे चमकते हुए और पृथिवी-मण्डलपर रत्न न रखने वाले, सूर्यको छोड़कर तेजोमय किसी अन्य भूत [प्राणी] को मुझे बतलाओ ।

यहाँ नारद रूप अर्थ छिपा हुआ है । सूत्रधारने [सूर्यसे भिन्न तेजोमय] 'इन मुनिको देखो' इस प्रकार चतुर्थ पादको बदलकर [अर्थात् 'द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम्' के स्थानपर द्वितीय-मेन मुनि पश्य' ऐसा पाठ करके] बतलाया है ।

(१०) मृदव नामक दशम बौध्यङ्ग—

यव मृदव [नामक दशम बौध्यङ्गका लक्षणादि कहते हैं]—

[सूत्र १५१]—गुण और दोषको बदल देना [अर्थात् गुणको दोष, और दोषको गुण बना देना] 'मृदव' कहलाता है ।

जिस उद्धारसे गुणोंका दोषत्व और दोषोंका गुणत्व इस प्रकारका परिवर्तन हो जाता है यह मृदा अर्थात् दूसरे पक्षके मर्दन द्वारा अपने पक्षकी रक्षा [अवन] करनेके कारण 'मृदव' कहलाता है ।

गुणको दोष बना देने [रूप 'मृदव' का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारके द्वितीय अक्षमें—

जयद्रथकी माता—अरे बेटा ! वधु [अभिमन्यु] के बधके कारण अत्यंत क्रुद्ध हुए थे [पाण्डव लोग] अपने शरीरका भी मोह छोड़कर [युद्धभूमिमे] विचरते करते [इसलिए उनसे सावधान होकर लड़ना चाहिए] ।

१ पेशा ।

राजा—[ सोपहासम् ] एवमेतन् । सर्वजनप्रसिद्धमेवामर्पित्वं पाण्डवानाम् ।

पश्य—

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनैनाज्ञया,  
पांचाली मम राजचक्रपुरतो गौगौरिति व्याहृता ।  
तस्मिन्मम्व स किं न गाण्डिववरो<sup>१</sup> नासीत् पृथानन्दनो,  
यून क्षत्रियवशजस्य कृतिन क्रोधास्पदं किं न तन् ।<sup>२</sup>”

अत्र धनुर्धरत्वादयो गुणा दोषीकृता ।

यथा नलविलासे—

“राजा—देवि ! उपालभ्यसे आभ्यन्तर परिजनापराधेन ।

दमयन्ती—कह विय ?

[कथमिव] ?

राजा—यक्त्रेन्दु रिमत्तमातनोदधिगते दृष्टी विकासश्रियं,  
वाह् कण्टककोरकाण्यधिभृतां प्राप्ता गिरो गौरवम् ।  
किं नाङ्गानि तनातिथेयमसृजन् स्वस्यापतेयोचितं,  
सम्प्राप्ते मयि नैतदुभक्ति कुचद्वन्द्वं पुन स्तब्धताम् ॥”

अत्र स्तब्धता स्तनगुणो दोषीकृत ।

राजा—[उपहास करता हुआ] अच्छा यह बात । [पाण्डवोंके कोपसे हमें डरना चाहिए] किन्तु पाण्डवोंका कोप तो सब लोग जानते हैं [कि ये कोप बरके भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं] । देखो—

मेरी आज्ञासे तु शासनके द्वारा राजाओंकी सभाके बीचमें द्रौपदीके वेश और वस्त्रोंके हाथसे खींचे जानेपर [मैं तुम्हारी गो हूँ मेरी रक्षा करो इस प्रकार अनेक बार] द्रौपदीसे गो-गो [ये दोनतापूर्ण शब्द] कहलवा लिए । [द्रौपदी गो-गो कहकर चिहलती रही] उस समय क्या गाण्डीवधारी अर्जुन नहीं था ? अथवा क्षत्रियवशमे उत्पन्न हुए मनस्वी युवकके लिए क्या वह [अपनी पत्नीका ऐसा घोर अपमान] लज्जा जनक नहीं था ?

यहाँ[अर्जुनके] धनुर्धरत्व आदि गुणोंको दोष बना दिया है ।

अथवा जैसे नलविलासेमें—

राजा—अपने भीतरी परिजनोके अपराधके कारण तुमको उलाहना मिल रहा है ।

दमयन्ती—कैसे ?

राजा—[मेरे आनेपर तुम्हारा] मुत्तचन्द्र मुस्कराने लगा, दोनों नेत्र [विश्रामको प्राप्त हो गए] गिल उठे, बाहुओंमें रोमाञ्च हो आया और बाणों भारी हो गई । इस प्रकार क्या तुम्हारे अङ्गोंने अपनी अपनी क्षमताके अनुसार मेरा आतिथ्य या स्वागत नहीं किया ? [अर्थात् मेरे आनेपर तुम्हारे अंग्य सारे अङ्गोंने मेरा स्वागत किया] किन्तु मेरे आने पर भी यह तुम्हारा स्तन घुगल अपनी स्तब्धता [अर्थात् बठोरता [और दूसरे पक्षमें जड़ता] की नहीं दोष रहा है ।

यहाँ स्तब्धता [बठोरता] स्तनोंका गुण है किन्तु उसको दोष बना दिया है ।

१ गाण्डिववरो ।

अपि चास्मदुपश्ले 'सुधाकलशे'—

“लच्छो गिहीण भूसा अपत्तविज्जाण सा पुणो गम्हं ।

तत्तो पढेज्ज विज्ज आजम्मदुहंकर सकन्तो ॥

[लक्ष्मीगृहिणा भूषा, अप्राप्तविद्याना सा पुनर्गुर्ती ।

तत् पठेद् विद्यामानन्मदु स्फुरा सकर्ण । इति मस्कृतम् ॥”

अत्र निर्वेदाद् विपुधैरिद्या गुणोऽपि दोषीकृत ।

दोषस्य गुणीकरणं यथा वेणीसंहार कञ्चुकिना सह विवादे—

‘दुरोधन—सूतमिदं कस्यापि—

गुण साक्षान् महानरूपं स्वयमन्येन वा कृत ।

करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिणाम् ॥

येनाद्यद्रोण-कर्णं जयद्रथादिनिहतमभिमन्युमुपश्रुत्योच्छ्वसितमिव ‘मरचेतसा ॥’

अत्र क्षत्रधर्मं त्यक्त्वा अभिमन्युनिहत इत्ययं दोष, स्वप्रीतिहेतुत्वेन गुणीकृत ।

यथा वा नलविलासे—

“सर्वेषामपि सन्ति वेगमसु कुत कान्ता कुरङ्गीशो,

न्यायार्थी परदारविप्लवश्च राजा जन धाधत ।

आज्ञा कारितवान् प्रजापतिमपि स्या पञ्चनायस्ततः,

कामार्तं कथं जनो प्रजेत् परहिता पण्याङ्गना स्युर्न चेत् ॥”

श्रीर जैसे हमारे बनाये हुए सुधाकलशमे भी—

लक्ष्मी गृहस्थोंका भूषण है और विद्या न पढ़ हुक्का बह और भी बड़ा भूषण है ।

इसलिए आज्ञा न दुष्ट देने वाली विद्याको [सकल बड़ कानोंवाला मदहा] मूल ही पढ़गा ।

यहाँ विद्या रूप गुणोंको भी देवोंन निर्वेदके बन्नीभूत होकर दोष बना दिया है ।

दोषको गुण बना देना जैसे वेणीसंहारक कञ्चुकीके साथ विवादमे—

दुरोधन—यह किसीका कथन बड़ा सुन्दर है कि—

अपन [अपकारियों अर्थात्] गन्धर्वोंके प्रति गुप्त रूपसे अथवा साक्षात् रूपसे छोटा या

बड़ा स्वयं या दूसरेके द्वारा किया जाने वाला अपकार भी अत्यन्त आनन्ददायक होता है ।

इसीलिए आज्ञा द्रोण कल जयद्रथ आदि [सात महारथियों] के द्वारा अभिमन्युके

मार जानेका समाचार सुनकर हमारा चित्त प्रसन्न हो उठा है ।

यह क्षात्र धर्मका परित्यागकरके [सात महारथियोंने मिलकर] अभिमन्युको मार दिया

यह [धर्मविरुद्ध होनेसे] दोष होनेपर भी अपनेलिए आनन्ददायक होनेसे गुण बना दिया गया है ।

अथवा जैसे नलविलासेमे—

सब लोगोंके घरमे तो मृगनयनी [सुन्दरी] स्त्रियों कहाँसे हो सकती हैं और व्यापकारी

राजा दूसरोंकी स्त्रियोंको विगाड़नेवाले लोगोंको दण्ड देता है । और कामदेवने स्वयं प्रजापतिसे

भी अपनी आज्ञा पालन करवा ली [अर्थात् प्रजापति सहज भी जब कामपर विजय प्राप्त

न कर सके तब सामान्य मनुष्य कामपर विजय प्राप्त कर सकगा यह तो असम्भव ही है ।

ऐसी दशाँमे यदि बड़याए न हों तो कामात-जन [अपनी तृप्ति के लिए] कहाँ जाय ?

१ उपसृतेऽसितमिव ।

अत्र पण्यस्त्रीत्वं दोष. शृङ्गारपुष्ट्यर्थं गुणीकृतः ।

अपि च यथा 'सुधाकलशे'—

ताण नमो निर्गुणसेह्वराण गुणिसलहिज्जजम्माणं ।

निअगुणविहलत्तभवा सिविणे वि न जाण अरईउ ॥

[ तेभ्यो नमो निर्गुणशेखरेभ्यो गुणिश्लाघ्यमानजन्मभ्यः ।

निजगुणविफलत्वभवाः स्वप्नेऽपि न येषामरतयः ॥ इति संस्कृतम् ]”

अत्र निर्वेदाद् गुणिभिर्निर्गुणत्वं दोषोऽपि गुणीकृतः ।

उभयमेकत्र यथा—

“मन्तः सच्चरितोदयव्यसनिन. प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः,

सर्वत्रैव जनापवादचकितास्तिष्ठन्ति दुःखं सदा ।

. अद्युत्पन्नमति. कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो,

युक्तयुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

अत्र सत्त्वं गुणोऽपि दोषीकृतः । प्राकृतत्वं तु दोषोऽपि गुणीकृत इति । .

(११) अथोद्घात्यकम्—

[ सूत्र १५१ ]—परस्परं स्यादुद्घात्यं गूढभाषणम् ॥ [ ३५ ] १०० ॥

प्रच्छन्न-प्रतिषक्त्रोरन्योन्यं गूढार्थमुक्ति-प्रत्युक्त्यात्मकं भाषणं उद्घाते प्ररनात्मके साधु उद्घात्यम् । यदा प्रष्टा विवक्षितोत्तरदानसमर्थः किन्तु यन्ममाभिप्रेतं तद् युक्तमयुक्तं वेत्यभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्ता चोचितमभिधत्ते तदा उद्घात्य-मित्यर्थः ।

यहाँ वेश्यात्व रूप दोष भी शृङ्गारकी पुष्टिके लिए गुण बना दिया गया है ।

और भी जैसे सुधाकलशमे—

गुणिजन भी जिनके जन्मकी प्रशंसा करते हैं उन निर्गुण-शिरोमणियोंको नमस्कार है । क्योंकि अपने गुणके विफल हो जानेका दुःख उनको स्वप्नमे भी नहीं होता है ।

यहाँ गुणिधोने बराम्भके कारण निर्गुणत्व रूप दोषको भी गुण बना दिया है ।

[ दोषको गुण बना देना और गुणको दोष बना देना इन ] दोनोंका एकसाथ उदाहरण जैसे—

उत्तम कार्योंके करनेके अभ्यासी सज्जन पुरुष लोकापवादके भयसे घन्मरणप्रस्त और सदा कष्टमे रहते हैं । किन्तु उचित-अनुचितके विचारसे रहित, इसलिये भी हुई भलाई-बुराईसे श्याकुल न होने वाले मूर्ख साधारण लोग धन्य हैं ।

यहाँ सज्जनता रूप गुणको भी दोष बना दिया गया है और मूर्खता रूप दोषको भी गुण बना दिया गया है ।

(११) उद्घात्यक नामक ग्यारहवाँ वीट्यङ्ग—

जब 'उद्घात्यक' का [ का लक्षण आदि करते हैं ]—

[ सूत्र १५१ ]—परस्परं गूढभाषणको 'उद्घात्यक' कहते हैं । १०० ॥

प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाले दोनोंके बीच परस्पर गूढार्थयुक्त उत्तर-प्राप्त्युत्तर रूप भाषण प्रशंसात्मक उद्घातमे साधु होनेसे 'उद्घात्यक' कहा जाता है । जब पूछने वाला स्वयं विवक्षित उत्तर देनेमे समर्थ होनेपर भी, जो मेरा अभिप्रेत अर्थ है वह उचित है या अनु-

यथा 'पाण्डवानन्दे' सूत्रधार-पारिपाश्विकयोरुक्ति-प्रत्युक्ती—

“का भूषा वलिनां क्षमा परिभव. को यः भवकुल्यैः कृतः,  
किं दुखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।  
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः,  
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरच्छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥”

इति ॥ [३५] १०० ॥

(१२) अथालगितम्—

[सूत्र १५२]—तच्चावलगितं सिद्धिः कार्यस्यान्यमिषेण या ।

विवक्षितप्रयोजनस्यान्यकार्यकरणव्याजेन सम्पत्तिर्यत्र तदन्यकार्यावलगनादवल-  
गितम् । यथोत्तरचरितं समुत्पन्नवनविहारदोहदायाः सीताया दोहदकार्यमिषेण  
जनापवादादरण्ये त्यागः ।

केचिन् तु पात्रान्तरे स्वव्यापारं निक्षिप्य यन् कार्यान्तरकरणं तदवलगित-  
मित्याहुः । यथा कृत्यारावणस्यासुरे—

“सूत्रधार.—[ नि.श्वस्य ] आर्ये ! ननु अवीमि—

वित इत अभिप्रायसे [ दूसरेमे ] पूछना है, और उत्तर देने वाला उचित उत्तर देता है यह  
'उत्पासक' होता है ।

जैसे पाण्डवानन्दमें सूत्रधार और पारिपाश्विकके उक्ति-प्रत्युक्तिका [निम्न प्रकार] है—  
बतावानीका भूषण क्या है ? [यह सूत्रधारका प्रश्न है] । क्षमा [बलवानोंका भूषण है  
यह उत्तर] । अपमान कौनसा है ? [यह प्रश्न है] ओ अपने कुलके लोगों द्वारा किया जाय वही  
अपमान है [यह उत्तर हुआ] दुःख क्या है ? [यह प्रश्न है] दूसरोंका आसरा लेना [दुःख  
है यह उत्तर हुआ] । संसारमे प्रशंसनीय कौन है ? [यह प्रश्न है] जिसका लोग आश्रय लेते  
हैं [यही श्लाघ्य है यह उत्तर हुआ] मृत्यु क्या है ? [यह प्रश्न है] व्यसन [ही मृत्यु है यह  
उत्तर हुआ] । शोकसे कौन ध्वत्ता है ? [यह प्रश्न है] जिन्होंने शत्रुघोषर विजय प्राप्त  
कर ली [वे ही दुःखके पार हो जाते हैं यह उत्तर हुआ] । इत सबको किसने समझ लिया  
है ? [यह प्रश्न है] विराटके नगरमे द्विपक्ष रहने वाले पाण्डवोंने [इन सब बातोंको शोक  
तरहसे समझ लिया है यह उत्तर है] ।

(१२) अवलगित नामक वारहवाँ अध्याय—

अथ अवलगित [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १५२]—जहां अन्यके बहानेमे कार्यकी सिद्धि हो उसको 'अवलगित' कहते हैं ।

जहां अन्य कार्यके करनेके बहानेसे विवक्षित प्रयोजनकी सिद्धि हो जाय वह अन्य  
कार्यका अवलम्बन करनेसे 'अवलगित' कहलाता है । जैसे उत्तररामचरितमे सीताके मनमें  
वनविहारकी इच्छा उत्पन्न होनेपर सीताके इच्छा [दोहद] रूप कार्यके बहानेसे जनापवादके  
परण सीताको वनमे छोड़ देना [अवलगितका उदाहरण है] ।

कुछ लोग अपने कार्यको दूसरे पात्रके ऊपर डालकर अन्य कार्यमें लग जानेको  
'अवलगित' कहते हैं । जैसे कृत्यारावणके आमुसमे—

सूत्रधार—[निश्वास लेकर] भरे आर्ये ! मैं तो यह कहता हूं कि

वाक्प्रपञ्चैकसारेण निर्विशेषाल्पवृत्तिना ।

स्वामिनेव नटत्वेन निर्विण्णाः सर्वथा वयम् ॥

तद् गच्छतु भवती पुत्रं मित्रं वा कमपि पुरस्कृत्य क्रमागतामिमां कुजीविका-  
मनुवर्तयितुम् ।”

ततः क्रमादाह—

“परिमहोरुमाहोघाद् गृहसंसारसागरान् ।

बन्धुस्नेहमहावर्तादिदमुत्तीर्य गम्यते ॥”

अत्र स्वजीविकां दारेषु निक्षिप्य परलोकहेतुकार्यकरणं स्वयमाश्रितम् ।

अपरे तु प्रस्तुतेऽन्यस्मिन् कार्ये यदन्यत् स्वयमेव सिद्धयति तदवलगितम् ।

यथा छलितरामे—

“रामः—लक्ष्मण ! तावद्विप्रयुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि ।

तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।

जटावानक्ष्वलयी चामरीव विराजते ॥

अत्र भरतदर्शनकार्यान्तरस्थैवमेव सिद्धिरिति ।

(१३) अथावस्पन्दितम्—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छोक्तस्यान्यथास्यानं यदवस्पन्दितं तु तत् ॥[३६]

१०१॥

बात बनाना हो जिसका सार है इस प्रकारके, और साधारण सी अल्प वृत्तिवाले  
स्वामी जैसे नट-व्यापारसे हम सर्वथा खिन्न हो गए हैं ।

इसलिए पुत्र या किसी मित्रको लेकर तुम कुलक्रमागत इस कुजीविकाका अनुसरण  
करनेके लिए जाओ [मैं तो नहीं जाऊंगा] ।

उसके बाद फिर क्रमसे [आगे चलकर] कहता है—

परिवार रूप महान् प्राणोंसे भरे हुए और बन्धुस्नेह रूप भयंकर भवरों वाले का  
गृहस्थ रूप संसार सागरको पार करके मैं तो जाता हूँ ।

यहाँ अपनी जीविकाकी त्रीके ऊपर छोड़कर [नट] स्वयं परलोकके हेतुभूत कार्योंके  
करनेमे लग जाता है ।

बूझते लोग तो जहाँ अन्य कार्योंके प्रस्तुत होनेपर अन्य कार्य स्वयं ही सिद्ध हो जाय  
उसको ‘अवलगित’ कहते हैं । जैसे छलितराममे—

राम—हे लक्ष्मण ! विनाजीसे शून्य अयोध्यामे, मैं विमानपर बैठा हुआ नहीं जा  
सकता हूँ इसलिए उतरकर चलूंगा ।

[भरे यहाँ तो] सिंहासनके नीचे पादुकाओंके सामने जटाधारण किए हुए, अशमाता-  
युक्त, और घमर-युक्त-सा कोई बैठा हुआ है ।

(१३) अवस्पन्दित नामक तैरहणों वीथ्यङ्ग—

अथ ‘अवस्पन्दित’ [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छासे [अर्थात् उस विशेष घनिप्रायसे न] बटे हुए [यवन] का

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेण उत्तम्यान्यथारयानं यदवस्पन्दितं अन्यार्थकथन-  
रूपं यन् तदवस्पन्दितम् । चक्षुःस्पन्दनादिवत् अन्तर्गतसूचनीयसम्भवान् । यथा वेणी-  
संहारे—

“सत्पत्न्या मधुरगिरः प्रमाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥”

अत्र स्वेच्छया शरद्वर्णनाथ हंसवर्णनं सूत्रधारणोक्तम् । गतं पारिपाश्विकेन  
धृतराष्ट्रसुतानां दुर्योधनादीनाममङ्गलार्थकथनेन अन्यथास्यात् ।

यथा या छलितरामे—

“मीता—जाद ! पन्थाय तुन्मेहि अउझाण गंतव्वं । सो अ राया विणएण  
पणमिदव्वो ।

[जात ! प्रभाते युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यम् । स च राजा विनयेन प्रणन्तव्य ]  
लव.—अम्ह ! किमावाभ्यां राजोपजीविकाभ्यां भाव्यम् ?

अन्य प्रकारसे कथन करना ‘अवस्पन्दित’ कहलाता है । [३६]१०१ ।

स्वेच्छासे अर्थात् साधारण वर्णनके अभिप्रायसे कहे हुएका अन्य प्रकारसे कथन करना  
अर्थात् अन्य अर्थका कथन जो होता है वह अलंकारके फटकनेसे अन्तर्गत अभिप्रायके सूचनके  
समान होनेसे ‘अवस्पन्दित’ कहलाता है । जैसे वेणीसंहारमें—

शरद्वर्णनके अभिप्रायसे सूत्रधारने ‘सत्पत्न्या’ आदि श्लोक पढ़ा है । उसमें ‘धार्तराष्ट्रा-  
पद हंसोंके लिए आया है । किन्तु उससे कौरवोंके पतन रूप अन्य अर्थको भी प्रतीति होती है ।  
यद्यपि सूत्रधारने इस अभिप्रायसे नहीं कहा है किन्तु पारिपाश्विकने कौरवोंके नाश-रूप  
अमङ्गलार्थमें उसकी व्याख्या कर ली है । अतः यह ‘अवस्पन्दित’ नामक बोध्यङ्गका उदाहरण  
है । श्लोकका अर्थ दोनों पक्षोंमें निम्न प्रकार लगता है —

सुन्दर पक्ष वाले [हस और दुर्योधनके पक्षमें ‘सत्पत्न्या’का अर्थ भीष्म, द्रोण आदि  
उत्तम पुरुष जिसके पक्षमें हैं इस प्रकारके कौरव यह होगा] जिन [हसों] ने [अपनी स्थिति  
से] दिशाप्रको अलंकृत कर दिया है [और कौरवोंके पक्षमें जिन्होंने सारी दिशाप्रको अपने  
पक्षमें कर लिया है ।] मरके कारणही उद्भूत आरम्भ [व्यापार] करने वाले धार्तराष्ट्र [अर्थात्  
हस और कौरव दोनों] काल [हसपक्षमें शरद्वर्णन रूप काल, तथा कौरव पक्षमें मृत्यु रूपकाल]  
के वशीभूत होकर पृथिवीपर गिर रहे हैं [‘पतन्ति’का अर्थ हस पक्षमें उतरना और कौरव  
पक्षमें गिरना है । हस शरद्वर्णनमें पृथिवीपर उतरते हैं] ।

यहाँ सूत्रधारने शरद्वर्णनके वर्णनके लिए स्वेच्छासे हसका वर्णन किया है । इसको पारि-  
पाश्विकने दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अमङ्गल-परक अर्थमें अन्य प्रकारसे समझ लिया  
है । [इसलिए यह ‘अवस्पन्दित’ का उदाहरण है] ।

अथवा जैसे छलितराममें—

सीता—हे पुत्रो ! कत सवेरे तुम दोनों छोड़कर जाना, और उस राजाको विनय-  
पूर्वक प्रणाम करना ।

लव—माताजी ! क्या हम दोनोंको राजाका सेवक बन जाना चाहिए ? [किर हम  
उसको विनयपूर्वक नमस्कार क्यों करें ?]

सीता—सो खु तुम्हाण पिता ।

[स सन्तु युवयो पिता] ।

लव —किमावयो रघुपति पिता ?

सीता—[साशङ्कम्] न खु तुम्हाण सयलाइ ज्येव पुह्वीण ।

[न सन्तु युवयो, सकलाया पव पृथिव्या ] ।” इति ।

एतानि च त्रयोदश वीथ्यङ्गानि सर्वरूपकाणां सर्वसन्धिषु निबन्धनीयानि । सर्वसन्धिसाधारण्यादामुपि भावान्च सन्ध्यङ्गेभ्यः पृथगुक्तानीति ॥[३६]१०१॥

अथ व्यायोगादौ रूपकान्तरे सामान्यनाटकलक्षणातिदेशामाह—

[सूत्र १५४]—स्वां स्वां वैशेषिकी हित्वा सन्धि-वृत्त्यादिकां स्थितिम् ।

सामान्या नाटकस्यान्या विज्ञेया रूपकान्तरे ॥[३७]१०२॥

वैशेषिकीमसाधारणी सन्धि-वृत्त्यादका इति आदिशब्दादङ्कपरिमाण-रस-नायकादिपरिग्रहः । ‘अन्या’ इति पात्रोक्तिवैचित्र्य-अङ्कोपाय-दशा-सन्ध्यङ्गलक्षणनायकादिप्रकृत्यौचित्यादिका स्थितिर्व्यायोगादौ रूपकान्तरे नाटकप्रतिपादिता-ज्ञातव्या । प्रकरणे तु नाटकसमानत्वमुक्तमेव । नाटिका-प्रकरणयोः पुनर्नाटक-प्रकरणान्तेभूतत्वाच्च किञ्चिन् पृथग् वाच्यमिति सर्वं समञ्जसम् ॥ [३७] १०२ ॥

इति रामचन्द्र-गुणचन्द्रनिरचिताया रघोपज्ञ-नाट्यदर्पणविधृतौ

प्रकरणाशेकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो निम्नक समाप्तः ॥

सीता—बह तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुपति हम दोनोंके पिता हैं ?

सीता—[साशङ्क] केवल तुम्हारे ही नहीं सारी श्रव्यबोके [बह पिता हैं] ।

इन तेरह बोध्यङ्गोको सारे रूपकोके सब सन्धिषोमे बिल्ललाना चाहिए । सब सन्धिषों मे साधारण होनेसे, और प्रामुलमें भी निबड होनेसे इनको सन्ध्यङ्गोसे अलग कहा गया है ॥[३६]१०१॥

अब व्यायोग आदि अन्य रूपकोमे सामान्य, नाटक लक्षणका अतिवेश करते हुए [प-धकार] कहते हैं—

[सूत्र १५४]—अपनी अपनी सधि तथा वृत्ति आदि विषयक विशेष स्थितिको छोड़ कर नाटककी शेष स्थिति अन्य रूपकोमे भी समान रूपसे समझ लेनी चाहिए ॥[३७]१०२॥

‘वैशेषिकी’ अर्थात् असाधारण । ‘सन्धि-वृत्त्यादिनाम्’ इसमे आदि शब्दसे अङ्क-परिमाण, रस और नायक आदिका ग्रहण करना चाहिए । ‘अन्या’ इस पदसे पात्रोक्तिवैचित्र्य, अङ्क उपाय, दशा, सन्ध्यङ्ग, लक्षण तथा नायकादि प्रकृति, औचित्य आदि रूप स्थिति व्यायोगादि अन्य रूपकोमे भी नाटकमे प्रतिपादित [स्थितिके समान] समझ लेनी चाहिए । प्रकरणमे तो नाटककी समानता बही ही जा चुकी है । और नाटिका तथा प्रकरणोमे अतर्पत होनेमे [उन दोनोंके विषयोमे] अलग कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है । इस प्रकार सब विषय स्पष्ट हो जाता है ॥[३७]१०२॥

धो रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचित स्वप्रणीत नाट्यदर्पणकी विवृतिम प्रकरणादि,

पृथग्दश रूपकनिरूपण नामक द्वितीय विवेक समाप्त हुआ ।



अथ तृतीयो विवेकः

## अथ तृतीयो विवेकः

अथ रूपकोद्देशोकोद्दिष्टा. क्रमप्राप्ता वृत्तयः. प्रपञ्च्यन्ते—

[सूत्र १५५]—भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।

रस-भावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥[१]१०३॥

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः । रस-भावाभिनया षड्यमाणा । तात्-मयत्वेन गच्छन्ति । रस-भावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये व्यापारः । 'चतस्र' इति चतुर्भेदत्वमन्यनमचेष्टांशप्राधान्यवियक्त्या, अपरथाऽनेकव्यापारमवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम् । न नाम प्रयत्नेषु व्यापारान्तरासंवलित कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते । कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते । शब्दोऽस्मिन्नितं मनः प्रत्यय विना रक्षकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दम्याभावान् । वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविनाभाविन्य एव । शब्दादिव्यापाराभावे

अथ नाट्यदर्पणदीपिकायां तृतीयो विवेकः

वृत्तिनिरूपण—

[प्रथम द्वितीय विवेकमे रूपके समस्त भेदके लक्षण आदि कर चुकनेके बाद] अब रूपकोंका उद्देश [अर्थात् नाम-परिगणन] करानेवाले [अर्थात् ३४] श्लोकोंमें [ 'सर्ववृत्तय ' तथा 'त्रिवृत्तय शब्दोंके प्रयोग द्वारा] कही हुई वृत्तियों [को व्याख्या] का अवसर प्राप्त होनेसे वृत्तिर्णको निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं ।

[सूत्र १५५]—रस, भाव, अभिनय विषयक भारती, [सात्त्वती, कैशिकी और आर-भटी चार प्रकारकी वृत्तियां नाट्यकी माता [के सदृश] होती हैं । [१] १०३ ।

पुरुषार्थके साधक नाना प्रकारके व्यापारको 'वृत्ति' कहते हैं । रस, भाव और अभि-नय [का लक्षणादि] आगे कहेंगे । [भारती आदि वृत्तियां] तन्मय [अर्थात् रसभावाभिनय] होनेसे उनका अनुगमन करती है [इसलिए इस कारिकामे उनके विशेषणके रूपमें 'रसभावा-भिनयगा ' इस विशेषणपदका प्रयोग किया गया है । इसका यह अभिप्राय है कि] नाट्यमे सारा ही व्यापार रस, भाव और अभिनयसे युक्त होता है । [कारिकामे आए हुए] 'चतस्र ' इस पदसे कहा हुआ चतुर्भेदत्व किसी एक व्यापाराशकी प्रधानताकी विवक्षासे कहा गया है प्रत्यया [वास्तवमे तो] अनेक व्यापारोंसे मिलत हुआ वृत्ति-तत्त्व [अर्थात् व्यापार] एक ही होता है । क्योंकि नाटकादि [रूप प्रबन्धों] मे [कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंमेसे] कोई भी व्यापार अन्य व्यापारोंके योगके बिना नहीं होता है । कायिक व्यापार मानसिक तथा वाचिक व्यापारोंसे मिश्रित होते हैं । क्योंकि शब्द द्वारा निदिष्ट मानसिक ज्ञानके बिना कोई सुन्दर कायिक व्यापार सम्भव नहीं है और मानसिक तथा वाचिक व्यापार तो वाचिक व्यापारके बिना हो ही नहीं सकते हैं । क्योंकि तात्तु आदिके व्यापारके बिना शब्दका

वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे मनोव्यापृत्यनुपलक्षणाच्च । मन-  
शून्यश्च व्यापारः कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादनिबन्धनीय एव । त्रिदूषकोऽपि  
हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते । अतः संकीर्णत्वेऽपि अंशप्राधान्यापेक्षया  
वृत्तयश्चतस्रः ।

नाट्यस्य अभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातर । आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कवि-  
हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते । 'नाट्य' इति च प्रस्तावापेक्षम् । तेनानभिनेयेऽपि  
काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव । न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । रङ्गानन्तरं च  
नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न कश्चिद् दोषः । मूर्च्छादी तु  
व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानिः । बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्व-  
स्याभिमतत्वादिति ॥ [१] १०३ ॥

उच्चारण नहीं हो सकता है । और प्राणादि रूप कायिक व्यापारके अभावमे मनोव्यापारोंका  
भी परिज्ञान नहीं हो सकता है । [इसलिए मानसिक तथा वाचिक व्यापार दोनों कायिक  
व्यापारके साथ निहित होते हैं । अकेले नहीं हो सकते हैं । इसी प्रकार] मनोव्यापारसे  
रहित कायिक वा वाचिक व्यापार नीरस [अरञ्जक] होनेसे [नाटकादिमें] वर्णन करनेके योग्य  
नहीं होता है । विदूषक भी हास्यके लिए बुद्धिपूर्वक ही अटपटी चेष्टाएँ करता है । इसलिए  
[कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप भारतीय आदि चारों वृत्तियोंके परस्पर] सजीएँ  
होनेपर भी [उस उस] प्रशकी प्रधानताकी दृष्टिसे चार प्रकारकी वृत्तियाँ [कही गई] हैं ।

[आगे कारिकामें आए हुए 'नाट्यमातर' पदका अर्थ करते हैं] नाट्यकी अर्थात् अभिनेय  
काव्यकी माताके समान [जननी] होनेसे [वृत्तियाँ नाट्यकी] माता [कहलाती] है । क्योंकि  
कविके हृदयमे वर्णनीय रूपसे स्थित [कायिक-वाचिक-मानसिक व्यापार रूप] इन [भारती  
आदि चारों वृत्तियों] से ही काव्यकी उत्पत्ति होती है [अर्थात् कवि अपने काव्यमे कायिक,  
वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन करता है । वह त्रिविध व्यापार ही काव्यका  
जनक होता है और भारतीय आदि वृत्तियाँ कायिक वाचिक, मानसिक व्यापार रूप ही  
हैं । इसलिए काव्यकी जननी होनेसे उनको काव्यकी माता कहा गया है । 'नाट्यमातर'  
इसमे] 'नाट्य' यह पद प्रकरणकी दृष्टिसे आया है । [अर्थात् इस समय नाटकका निरूपण  
किया जा रहा है इसलिए यहाँ 'नाट्यमातर' कहा गया है । वैसे ये वृत्तियाँ केवल नाट्य  
अर्थात् अभिनेय काव्यकी ही नहीं अपितु अनभिनेय ध्व्यकाव्यकी भी माता हैं । क्योंकि ध्व्य-  
काव्यमे भी कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन होता है] इसलिए अन-  
भिनेय [अर्थात् ध्व्य] काव्यमे भी [भारती आदि] वृत्तियाँ होती ही हैं । क्योंकि व्यापार-  
रहित किसी अर्थका वर्णन नहीं होता है । मुख्य नाटकका आरम्भ पूर्व [नाट्योपाठ आदि  
रूप] पूर्ववर्णके बाद होता है इसलिए पूर्ववर्णके [नाट्यमे वर्णनीय] व्यापारोंसे रहित होने  
पर भी कोई दोष नहीं है [क्योंकि वह पूर्ववर्ण वाला भाग वास्तवमे नाटकका अन्त नहीं है ।  
इसी प्रकार मुख्य नाटकके बीचमे आने वाले] मूर्च्छा आदि [कि प्रसंगों] में व्यापारादि न होने  
से वृत्तियोंका अभाव होनेपर भी नाट्यके वृत्तिमयत्वकी हानि नहीं होती है । क्योंकि [वृत्तियों  
के] बाहुल्यकी दृष्टिसे वृत्तिमयत्वका अवन किया गया होनेसे [कहीं थोड़ेसे भागमें व्यापार-  
शून्यता होनेसे कोई हानि नहीं होती है । मूर्च्छादि प्रसंगोंमें वृत्त्यभाव होनेपर भी नाट्य

अथ भारत्या लक्षणमाह—

[सूत्र १५६]—सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।

प्रायः संस्कृतनिःशेषरसाढ्या वाचि भारती ॥ [२] १०४ ॥

सर्वरूपकेषु अभिनेयानभिनेयेषु गमनशीला प्रायस्तन्मयत्वाद् वर्णनायाः ।  
आमुखप्ररोचनयोः स्थितः सम्भवो यत् । प्रायो बाहुन्येन संस्कृतेन सर्वरसैरथ दीप्ताः ।

वृत्तिमय ही माना जाता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥ [१] १०३ ॥

(१) भारतीवृत्तिका निरूपण—

इस प्रकार पिछली कारिकामें वृत्तियोंका सामान्य लक्षण करनेके बाद अब आगे भारती आदि चारों वृत्तियोंमेंसे एक एक वृत्तिका लक्षण करेंगे । पिछली कारिकामें यह कहा था कि चारों वृत्तियाँ नायिक, नाचिक तथा मानसिक व्यापार-रूप हैं इसी दृष्टिसे आगे इन चारोंके लक्षण करेंगे । इस इनमेंसे भारती वृत्ति नाचिक व्यापार-रूप और सात्वती वृत्ति मानसिक व्यापार रूप होती है । दोष कंक्षिणी तथा धारभट्टी दोनों वृत्तियाँ नायिक व्यापार-रूप होती हैं । नाट्य और नाट्यमें नाचिक व्यापारकी प्रधानता होनेके कारण सबसे पहले नाचिक-व्यापार रूप भारती-वृत्तिना लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

अथ भारती [वृत्ति] का लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १५६]—समस्त रूपकोंमें रहने वाली, आमुख तथा प्ररोचनासे उत्पन्न [अर्थात् नाट्य के प्रारम्भिक भागोंमें विशेष रूपसे उपस्थित] सम्पूर्ण रसोंसे परिपूर्ण, तथा प्रायः संस्कृत [भाषा] का अवसान्वन करने वाली, नाट्यव्यापार-प्रधान वृत्ति 'भारती' [वृत्ति कहलाती] है । [२] १०४

[कारिकामें आए हुए 'सर्वरूपकगामिनी' पदका अभिप्राय यह है कि यह भारती वृत्ति अभिनेय और अभिनेय [अर्थात् हृदय-काव्य और शब्द-काव्य] सब रूपकोंमें जाने वाली [सब प्रकारके काव्योंमें विद्यमान रहने वाली] है । क्योंकि सारा वर्णन प्रायः उससे युक्त [भारतीवृत्तिमय] होता है । ['आमुख प्ररोचनोत्थिता' का अर्थ करते हैं कि] आमुख तथा प्ररोचना [रूप काव्य या नाट्य भागों] का उदय जिससे होता है । [आमुख और प्ररोचना जिसको कहते हैं वह प्रदन यहाँ उपस्थित होता है । इसका लक्षण अगली दो कारिकाओंमें करेंगे] । प्रायः अर्थात् अधिकतर संस्कृत भाषा और सब रसोंमें युक्त [भारती वृत्ति होती है] ।

भारतीवृत्तिके इस लक्षणमें मुख्यरूपसे आमुख तथा प्ररोचना भागोंमें भारतीवृत्ति का निर्देश किया गया है और उसको प्रायः मञ्चतभाषा तथा सब रसोंमें युक्त कहा गया है । यही 'प्रायः' शब्दका जो प्रयोग किया गया है उसकी ग्रन्थकार यह व्याख्या करते हैं कि यद्यपि भारतीवृत्ति का मुख्य स्थान आमुख तथा प्ररोचना भागोंको माना गया है किन्तु इनमें भिन्न स्थानापर भी इसका स्थान पाया जाता है । इसी प्रकार मुख्य रूपसे भारतीवृत्तिमें मञ्चत-भाषाका ही प्रयोग होता है किन्तु वह एकदम अनिवार्य नहीं है । कभी-कभी मञ्चतमें भिन्न भाषाभाषाका भी भारतीवृत्तिमें अवलम्बन किया जा सकता है । इसी बातको ग्रन्थकार अपनी पवित्रमें निम्न प्रकार कहते हैं

प्ररोचना-आमुखयोरन्यत्रापि च रूपकैकदेशे प्राकृतादिपाठेन भारतीदर्शनान् प्रायोग्रहणं अर्थयत् । सर्वरूपकभावित्वाद् रसानां च वाग्न्यन्वत्त्वाद् सर्वरसात्मकत्वम् । ये तु भारत्यां बीभत्स-कण्णौ प्रपन्नास्तैः सर्वरसप्रधानवीथी-शृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि ।

‘प्ररोचना’ और ‘आमुख’ [भागों] से अन्यत्र भी रूपकोंके किसी एकदेशमें [भारती वृत्तिके देखेजानेसे] और [सरकृतभाषाको छोड़ कर] प्रकृत आदि [भाषा] के पाठसे भी भारती-वृत्तिके देखे जानेसे [कारिकामें किया गया] ‘प्रायः’ शब्दका ग्रहण सार्यक है । रसोंके सब रूपकोंमें व्यापक होने और वाणी द्वारा व्यवस होनेसे [वाग्व्यापारप्रधाना भारती वृत्ति] सर्व-रसात्मक होती है । जो [दशरूपककार घनञ्जय] भारतीवृत्तिमें [सब रस न मान कर] केवल बीभत्स और कण्ण रस मानते हैं उन्हींने स्वयं [अपने भाष] ही भारतीवृत्तिमें नियन्त्रित सर्व-रसप्रधान [बीथी] शृङ्गार और वीररस प्रधान [भाण], तथा हास्यरस-प्रधान [प्रहसन कणश] बीथी भाण तथा प्रहसनो की ओर ध्यान नहीं दिया है [इसीलिए वे भारतीवृत्तिमें केवल बीभत्स और कण्णरसको ही मानते हैं । किन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है] ।

इसका अभिप्राय यह है कि घनञ्जय जो केवल बीभत्स तथा कण्णरसमें भारतीवृत्तिका प्रयोग मानते हैं उन्हींने भी ‘बीथी’, भाण तथा प्रहसनके लक्षणों में भारतीवृत्ति का समावेश माना है । सूत्र १४० में ‘बीथी’ का लक्षण करते हुए ‘सर्वस्वानिरसा बीथीत्वं लिखकर प्रकृत ग्रन्थकारने बीथीमें समस्त रसोंके रखनेका विधान किया है । १४१ वें सूत्रमें बीथीके तरह अणोका वर्णन करते हुए फिर ‘भारतीवृत्तिवर्तीनि बीथ्यगनि त्रयोदश’ लिखकर बीथीमें ‘भारती’ वृत्तिका समावेश किया है । इस प्रकार बीथीमें समस्त रसोंके साथ भारतीवृत्तिका प्रयोग माना जाता है । इसके प्रतिरिक्त ११६वें सूत्रमें ‘भाण-प्रधानशृङ्गार-वीरी’ लिखकर भाणमें शृङ्गार तथा वीररसकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है । और उसके साथ ही १३०वें सूत्रमें ‘वृत्तिं मुं श्या च भारती’ लिखकर भाणमें भारतीवृत्तिकी मुख्यता प्रतिपादन की है । इसलिये वीर तथा शृङ्गारके साथ भारतीवृत्तिका सम्बन्ध भाणके लक्षणमें प्रतिपादन किया है । फिर सूत्र १३१ में ‘हास्याङ्गि भाणसम्यङ्गवृत्ति प्रहसन द्विधा’ इस प्रहसनके लक्षणमें हास्यरसको प्रहसनका प्रधानरस तथा भाणके समान सम्य, अर्थात् तथा वृत्तियोंका प्रतिपादन कर प्रहसनमें भी भारतीवृत्तिकी प्रधानता निविष्टकी है । इसलिये हास्यरसके साथ भी भारतीवृत्तिका समावेश पाया जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध प्रहसनके लक्षणके अनुसार हास्यरसके साथ, भाणके लक्षणके अनुसार वीर और शृङ्गार रसोंके साथ, और बीथीके लक्षणके अनुसार सभी रसोंके साथ होता है । बीथी, भाण और प्रहसनके ये लक्षण सर्वसम्मत लक्षण हैं । जो दशरूपककार घनञ्जय आदि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और कण्ण रससे बतलाते हैं, वे भी बीथी भाण और प्रहसनके इतने प्रकारसे लक्षण करते हैं । इन लक्षणोंके अनुसार उन्हींने भी बीथी, भाण तथा प्रहसनोको भारती वृत्तिमें नियन्त्रित कर दिया है । फिर भी वे भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और कण्ण रससे बतलाते हैं । यह बात उनके अपनेही कथनके विपरीत हो जाती है । इसी बातको ग्रन्थकारने यहाँ ‘तै’ बीथी, भाण, प्रहसनानि स्वयमेव भारत्यां वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि’ इस रूपमें लिखा है ।

‘वाचि’ वाग्व्यापारविषये वाग्व्यापारात्मिकेत्यर्थः । भारती वाग्व्यापारविषय एवेत्ययोगव्यवच्छेदः । तेन वाचिकाभिनयात्मिका सात्त्वत्यपि भवति । वृत्त्यन्तराणि तु सर्वथाभिनयविषयाणि । भारतीरूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति ॥ [२] १०४ ॥  
अथ भारतीसम्भवमामुखं लक्षयति—

[सूत्र १५७]—विदूषक-नटी-मार्गैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।

सूत्रधारस्य वक्तोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ॥ [३] १०५ ॥

पारिपाश्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः ।

इस स्थलका पाठ कुछ अस्पष्टता है । पूर्व सस्करणोमे ‘सर्वबोधीप्रधानभृङ्गारवीर भाणप्रधानहास्यप्रहसनानि’ इस प्रकारका पाठ छपा था । उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है । इसमें ‘सर्वरसप्रधानबोधीभृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि’ इस प्रकार पाठ होना चाहिए था, अतः हमने यही पाठ मूल में दिया है ।

‘वाचि’ अर्थात् वाग्व्यापारके विषयमें होने वाली अर्थात् वाग्व्यापारात्मक वृत्ति ‘भारती’ ही होती है । भारती वाग्व्यापारके विषयमें ही होती है वह अयोग-व्यवच्छेद [का नियम] है । [इसका अभिप्राय यह है कि भारती वृत्ति वाग्व्यापारके विषयमें ही होती है । अन्यत्र नहीं । इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल भारती वृत्ति ही वाग्व्यापार-विषयक होती है, अन्य वृत्तियोंका वाग्व्यापारसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।] इसलिए सात्त्वती वृत्ति भी वाग्व्यापारात्मिका होती है । भारती तथा सात्त्वती वृत्तिको छोड़कर अन्य वृत्तियाँ तो सर्वथा [काविक] अभिनय रूप ही होती हैं । [भारतीवृत्तिमें] व्यापारके [पूर्णतया] भारती रूप [अर्थात् वाचिकरूप] होनेसे [इस वृत्तिको नाम] ‘भारती’ [रखा गया] है ।

इस कारिकाकी व्याख्यामें ‘भारती वाग्व्यापारविषय एव इत्ययोगव्यवच्छेदः’ यह वाक्य आया है । इसे विशेष रूपसे समझनेकी आवश्यकता है । ‘एव’ पदके अयोग-व्यवच्छेद, अयोग-व्यवच्छेद और अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद ये तीन अर्थ माने गए हैं । ‘पार्थ एव धनुर्धरः’ आदि वाक्योंमें जब ‘एव’ पद विशेष्यके साथ सगत होता है तब वह ‘विशेष्यसगतस्त्वेवकार अयोगव्यवच्छेदकः’ इस नियमके अनुसार अयोगका व्यवच्छेदक होता है । ‘पार्थ एव धनुर्धरः, नान्य’ यह उसका अर्थ होता है । इसके विपरीत जब ‘पार्थो धनुर्धर एव’ इस रूपमें उसका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है तो ‘विशेषणसगतस्त्वेवकारो अयोग-व्यवच्छेदकः’ इस नियमके अनुसार उसका अर्थ अयोग-व्यवच्छेद होता है । अर्थात् पार्थमे धनुर्धरत्व अवश्य है । उसमें धनुर्धरत्वाका अयोग-प्रभाव-नही है । इसी प्रकार यहाँ ‘भारती वाग्व्यापारविषय एव’ में विशेषणके साथ सगत होनेसे एवकार अयोग व्यवच्छेदक है ॥ [२] १०४ ॥

भारती वृत्तिसे सम्बद्ध आमुखाका लक्षण—

अथ भारती [ वृत्ति ] निमित्त [ अथवा भारती वृत्तिके निर्माता ] आमुखाका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १५७]—सूत्रधारका विदूषक, नटी अथवा पारिपाश्विकके साथ स्पष्ट रूपमें अथवा वक्त मार्गसे, प्रस्तुत [अर्थात् नायकावि मुख्यपात्रके प्रवेश] का सम्पादन करनेवाला जो वार्तालाप होता है वह ‘आमुखा’ [कहलाता] है ॥ [३] १०५ ॥

[ नटका मुख्य सहायक ] पारिपाश्विक ही विदूषकका वेष धारण कर लेनेसे यहाँ

मार्प. पारिपाश्विकः । विदूषक-नटी-मार्पैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रङ्गसूत्रणाकर्तुः, सूत्रधारगुणानुकारस्य वा नाट्यस्थापनाकर्तुः स्थापकस्य, प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्याक्षेपि उपस्थापकं भाषणं वक्तव्यम् । साक्षाद् विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकैः, स्पष्टोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्य प्रतिपादकैश्च यत् स्वस्याभिप्रायोत्कीर्तनं तदामुखम् । 'आड् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धिं प्राप्य निवर्तते । 'ईपदर्थे वा' तत् ईपन्मुखं मुखसन्धिमुखकत्वादारम्भ । प्रस्तावनाशब्दे नाप्येतदुच्यते ।

इदं तावदामुखं नाट्यात् पृथग्भूतम् । तत्र कदाचित् रङ्गसूत्रयितैव आमुखार्थमनुतिष्ठति, तथा च दृश्यते—'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' । 'नान्द्यन्ते' इत्यवयवे समुदायोप-

विदूषक कहा गया है । [जैसे नायक राजा आदिका सहायक विदूषक होता है उस विदूषकका यहाँ ग्रहण नहीं समझना चाहिए । अपितु सूत्रधारका सहायक, जो पारिपाश्विक भी कहलाता है वही नाटकविके प्रारम्भमें मुख्यपात्रका रङ्गमञ्चपर प्रवेश करानेके लिए विदूषकका शेष धारण करके सूत्रधारके साथ वार्तालाप करता है । उसी पारिपाश्विककेलिए यहाँ विदूषक शब्दका प्रयोग हुआ है यह ग्रंथकारका अभिप्राय है । मार्पका अर्थ भी] पारिपाश्विक [अर्थात् सूत्रधार या नाटकका मुख्य सहायक] है । [यहाँ पारिपाश्विक अपने मुख्य रूपमें अभिप्रेत है । पहिले उसीकी विदूषक रूपमें उपस्थिति बतलाई थी] विदूषक, नटी और पारिपाश्विकके साथ अलग-अलग अथवा एक साथ सूत्रधार अर्थात् रङ्गकी आयोजना करनेवाले [प्रधाननाट] का, अथवा नाट्यार्थकी स्थापना करने वाले और सूत्रधारके मुखोका अनुकरण करने वाले [किन्तु सूत्रधारसे भिन्न] 'स्थापक'का प्रस्तुत काव्यार्थको उपस्थित करानेवाला जो भाषण, वक्तोक्तियोंसे अर्थात् साक्षात् रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन न करनेवाले [बचनोक्ते], अथवा स्पष्टोक्तियोंसे अर्थात् साक्षात् रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करने वाले वाक्योक्ते जो [भाषण अर्थात्] अपने अभिप्रायका कथन करता है वह 'आमुख' कहलाता है । [आमुख शब्दमें आड् उपसर्ग है । उसके दो अर्थ होते हैं—एक मर्यादा और दूसरा अभिविधि । ये दोनों शब्द सीमा अर्थके वाचक हैं । उनमें भेद यह है कि जो सीमा बतलाई जाती है वह यदि सीमित होने वाले भागके अन्दर ही समाविष्ट होती है तो उसे 'अभिविधि' कहते हैं । और यदि उस तक ही, अर्थात् उसको बाहर छोड़कर उसके पहिले-पहिले सीमा मानो जाती है तो उसको 'मर्यादा' कहते हैं । जैसे यहाँ आमुखकी सीमा मुखसन्धि पर्यन्त कही है । उसमें मुखसन्धिको भी आमुखके भीतर माना जाय तो आड् अभिविध्यर्थक और यदि मुखसन्धिको आमुखमें प्रलग रखना अभिप्रेत है तो 'आड्' का अर्थ मर्यादा होगा । यहाँ आड् मर्यादा अर्थमें है इसलिए [आमुख] मुखसन्धि तक पहुँचकर [अर्थात् मुखसन्धिसे प्रारम्भ होनेसे पहिले] समाप्त हो जाता है । अथवा [यहाँ आड्, 'ईपत्' अर्थमें है इसलिए ईपन्मुख [अर्थात् छोटा मुख अर्थात्] मुखसन्धिका सूचक होनेसे प्रारम्भ [आमुख कहलाता है] । इसीकी 'प्रस्तावना' नामसे भी कहा जाता है ।

यह आमुख [मुख] नाट्यमें अलग होता है [मुख नाटकका भाग नहीं होता है] । उसमें कभी [रङ्गसूत्रयिता अर्थात्] सूत्रधार ही स्वयं आमुखमें किए जाने वाले [वार्तालाप आदि रूप] कार्यको करता है । जैसा कि [भास आदिके नाटकोंमें प्रारम्भमें] 'नाट्योप-  
घन्तमे सूत्रधार' [प्रविष्ट होकर आमुखका प्रारम्भ करता है यह लिखा हुआ] दितलाई देता

चारान् पूर्वज्ञान्ते इति द्रष्टव्यम् । नान्दी हि पूर्वज्ञस्याङ्गम् । अत्र च पक्षे आमुखा-  
र्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुत्पसन्धेः प्रभृति कवेर्व्यापारः ।

है । यहाँ 'नान्दन्ते' इस पदमे अययवमे समुदायका उपचार होनेसे [नान्दी पद समस्त पूर्व-  
रङ्गका बोधक है यह समझना चाहिए] । क्योंकि नान्दी पूर्वरङ्गका अङ्ग है । [किन्तु यहाँ  
उस अङ्ग या अययववाचक 'नान्दी' पदमे जिसका यह अङ्ग या अययव है उस अङ्गी-रूप  
समस्त पूर्वरङ्गका ग्रहण होता है । अर्थात् समस्त पूर्वरङ्गका विधान समाप्त हो जानेपर  
सूत्रधार प्रविष्ट होकर मुख्य नाटकके पात्रके प्रवेशकी प्रस्तावना आरम्भ करता है] इस पक्षमें  
आमुखा [प्रतिपाद्य] अर्थ सूत्रधारसे सम्बन्ध रखता है, इसलिए मुखसन्धिसे पहिले-पहिले  
[अथवा मुखसन्धिके आरम्भ होनेसे पूर्व तक जो कुछ वर्णन होता है वह सब] कविका  
व्यापार होता है ।

इसका अन्विष्टा यह है कि मुखसन्धि, मुख्य नाटकका अङ्ग है, इसलिए मुखसन्धिसे  
मुख्य नाटकका आरम्भ होता है । उन मुख्य नाटक वाले भागमे जितना व्यापार होता है  
वह कविके द्वारा वर्णित होनेपर भी कविका व्यापार नहीं होता है अपितु जिन पात्रोंके द्वारा  
उसका कथन होता है उन पात्रोंका व्यापार होता है । कवि केवल उस व्यापारको सुनानेका  
निमित्त बनता है । किन्तु मुखसन्धि या मुख्य नाटकका आरम्भ होनेसे पहिले 'आमुखा' तब  
का जो व्यापार होता है वह सब कविका अपना व्यापार होता है । वाच्यसाधनेके लक्षण-  
ग्रन्थोंमे ध्वनि-भेदोंके निरूपणके प्रसङ्गमे 'कविप्रोक्तिसिद्ध' और 'कविनिबद्धवक्तृप्रोक्तिसि-  
द्ध' दोनों व्यङ्ग्योंको अलग-अलग माना है । यद्यपि कविनिबद्ध वक्ताकी उक्ति कविके द्वारा  
ही निबद्ध होनेसे कविप्रोक्तिसिद्धे भा सकती है किन्तु स्वयं कविनी उक्तिमे कविनिबद्ध वक्ता  
की उक्तिही अलग माना गया है । इसी प्रकार यह कविव्यापार और कविनिबद्ध-वक्तृ-  
व्यापारको अलग अलग मानकर ग्रन्थकारने 'आमुखा' तबके व्यापारको कवि व्यापार कहा  
है । उसके भागे मुख्य नाटकके भीतर होनेवाला सारा व्यापार कविके द्वारा वर्णित होनेपर  
भी कवि-व्यापार नहीं अपितु कवि-निबद्ध पात्रों या वक्ताओंका व्यापार है, यह ग्रन्थकारका  
अन्विष्टा है ।

'आमुखा' के इस प्रसङ्गमे ग्रन्थकारने सूत्रधार नया स्थापक, नटी, विदूषक, पारिपाटिक  
मार्ग आदि घनेत्र पक्षोंका प्रयोग किया है । नाटकका अभिनय करनेवाले नटवर्गका प्रधान  
तथा नाट्यके मार [सूत्र]का कार्य सम्पादन करता है इसलिये उगकी 'सूत्रधार' कहा जाता  
है । इस कार्यमे सूत्रधारने दो प्रधान सहायक होने हैं । एक नटी और दूसरा पारिपाटिक ।  
नटी सूत्रधारकी स्त्री है जो उसके कार्यमे उगकी प्रमुख सहायिका होती है । दोन नटीमेंसे  
जो सूत्रधारका प्रधान सहायक होता है वह 'पारिपाटिक' कहलाता है । सूत्रधार बार्तालाप  
करते समय नटीको 'माया' कहकर और पारिपाटिकको 'माप' कहकर सम्बोधन करता  
है । यह सूत्रधार, नटी तथा पारिपाटिक तथा 'माप' पक्षोंका व्याख्या हो गई । इसी पारि-  
पाटिकके लिए 'विदूषक' पदका प्रयोग भी किया गया है । जैसा नाटकमे राजा आदि मुख्य  
नायकका प्रधान सहायक विदूषक होता है । उसका कार्य राजाके गुप्त प्रत्येक व्यापार आदिमे  
उगकी सहायता करना, और हर समय राजाका मनोरञ्जन करना होता है । यहाँ आमुखाके  
प्रथम जो विदूषकका नाम दिया गया है वह उस मुख्य विदूषकका आह्वान नहीं है । किन्तु



कदाचित् तु सनान्दीकं रङ्गमनुष्ठाय विश्रान्ते सूत्रधारे, तत्तुल्यगुणाकृति स्थापक आमुत्पन्नमुतिष्ठति । तथा चानङ्गवत्यां नाटिकायां दृश्यते—‘पूर्वरगस्यान्ते स्थापक’ । अत्र च पक्षे आमुत्पन्नमुष्ठानेऽपि कवेर्व्योपारः । स्थापकस्य सूत्रधारानुकारिणो रामानुकारिणो नटस्येव कविर्नैव प्रवेशात् । ‘वक्रोक्त’ इति च वीथ्यङ्गानामेवं विधिरूपाणां व्याहारादीनां सद्भाषमाहेति । स्पष्टोक्तस्त्वेवं यथा—‘नागानन्दे नाटयितव्ये किमित्यकारणमेव स्यते ?’ इति ॥[३]१०४॥

सूत्रधारका मुख्य सहायक या पारिपाश्विक भी कभी विदूषकवा सा वेप धारण करने उसीके समान कार्य करता हुआ सामने आता है इसके लिए ही यहाँ विदूषक शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अब एव शब्द और रह जाता है ‘स्थापक’ । सूत्रधारके समान ही वेप तथा कार्यको करने वाला उसका कोई सहायक स्थापकके रूपमें नाटककी प्रस्तावना करता है उसको ‘स्थापक’ कहते हैं । मुख्य नाटकके प्रारम्भ होनेसे पहिले अनेक प्रकारकी तैयारी करनी होती है । उसको पूर्वरङ्ग कहा गया है । पूर्वरङ्गके १५ अङ्ग भरतनाट्यशास्त्रमें कह गए हैं । इन्हींमें नान्दी पाठ भी एक अङ्ग है । प्रायः नाटकोरे प्रारम्भमें सबसे पहल ‘नान्दी’ के श्लोक लिखे मिलते हैं । भामकविके नाटकोमें उन नान्दी श्लोकोका उल्लेख नहीं रहता है । नान्दी वाले श्लोक नाटवमें लिखे गए हो अथवा न लिखे गए हो किन्तु उनका पाठ किया अवश्य जाता है । नान्दी पाठ तबका साग पूर्वरङ्गका कार्य निश्चित रूपसे सूत्रधार ही करता है । उसके बाद आमुख या प्रस्तावनाका अवसर आता है । इस प्रस्तावनाके विषयमें दो प्रकारकी व्यवस्था पाई जाती है । कभी तो सूत्रधार स्वयं ही प्रस्तावनाका कार्य करता है । अर्थात् प्रस्तावना या आमुख द्वारा स्वयं ही मुख्य पात्रोंका प्रवेश करवाकर सूत्रधार रङ्गमञ्चसे बाहर जाता है । किन्तु दूसरे प्रकारकी यह व्यवस्था भी पाई जाती है कि नान्दीपाठ तकका कार्य सूत्रधार स्वयं करता है । नान्दीपाठके समय सारा नटवग उपस्थित रहता है । अभिनय करनेवाले सारे नट मिलकर प्रार्थना आदि करते हैं । उसमें सूत्रधार भी अवश्य उपस्थित रहता है । किन्तु उसके बाद सूत्रधार स्वयं निवृत्त हो जाता है । उसके स्थानपर उसके सहस्र दूसरा व्यक्ति आकर प्रस्तावना या आमुखका कार्य करता है उसका ‘स्थापक’ कहते हैं । इसी बातको ग्रन्थकार प्रागे लिखते हैं—

कभी तो नान्दी सहित पूर्वरङ्गको समाप्त करके सूत्रधारके विधायक कर लेनेपर उसके तुल्य गुणो और आकृतिवाला स्थापक [आकर] ‘आमुख’का सम्पादन करता है । जैसे कि ‘अनङ्गवती’ नाटिकामें पूर्वरङ्गके बाद स्थापक [प्रविष्ट होता है यह लिखा है] । इस पक्षमें आमुखके अनुष्ठानमें भी कविका व्यापार होता है । रामका अनुकरण करनेवाले नटके [प्रवेशके] समान सूत्रधारका अनुकरण करनेवाले स्थापकका भी प्रवेश कविके द्वारा हो कराए जानेके कारण [‘आमुख’ भी कविका व्यापार होता है, लक्षणमें दिए हुए] ‘वक्रोक्त’ इस पदसे इस प्रकारके [अर्थात् अभी द्वितीय विवेकके अन्तमें कहे हुए] व्यवहारावि रूप वीथ्यङ्गों की सत्ता [आमुखमें] सूचित की है । स्पष्टोक्ति तो इस प्रकार होती है जैसे कि ‘नागानन्दका अभिनय करते समय बिना बातके क्यों रोते हो’ ॥ [३]१०५]

अथामुराङ्गभूत नोऽन्यपात्रप्रवेशविधिमाह—

[सूत्र १५८]—वाक्यार्थसमयाह्वानं भविष्यतः पात्रसंक्रमः ।

समय काल । आह्वान सज्ञा । एते सूत्रधार-स्थापनाभ्यामुक्तेर्हेतुभूते पात्रस्य मुख्यनायकादिभूमिकाधारिणो नटादिलोकस्य सज्जम प्रवेश । वाक्यार्थयोरन्यमानतया पात्रप्रवेशहेतुत्वम् । समयाह्वनयोस्तु सूचकत्वेनेति ।

याम्येन यथा हरिश्चन्द्रे—

“सत्त्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।

प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुनः प्राकृतो जनः ॥”

एतदेव पठन् हरिश्चन्द्र प्रविशति ।

अर्थेन यथा वेणीसंहारे—

“निर्वाणैर्वैरवहना प्रशमादरीणा,

नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितभुज स्तयिप्रहाराद्य

स्वस्था भवन्तु कुन्जराजमुता सभृत्या ॥”

आमुराङ्गे अङ्गभूत पात्रप्रवेशार्थे नियम—

अथ आमुराङ्गे अङ्गभूत नोऽन्यके पात्रोंके प्रदेशके विधिको कहते हैं—

[सूत्र १५८]—[भाव अर्थात्] सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे हुए वाक्य [अथवा उसके] अर्थ, [अथवा] काल, [अथवा] नामके द्वारा [नाट्यके मुख्य] पात्रका प्रवेश होता है [या करना चाहिये] ।

समय अर्थात् काल । आह्वान अर्थात् सज्ञा [नाम] । सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे गए इन [वाक्य, अर्थ, समय तथा नाम] के द्वारा पात्र अर्थात् मुख्य नायक आदिके प्रवेश को धारण करनेवाले नटादिवा सबके अर्थात् प्रवेश होता है । वाक्य तथा अर्थका अनुपाद द्वारा पात्रप्रवेशके प्रति हेतुत्व होता है और काल तथा नामका, सूचक होनेसे ।

वाक्यके द्वारा [प्रवेश] जैसे हरिश्चन्द्रमे—

‘एकमात्र सात्त्विक वृत्तिवालों, और प्रतिज्ञात अर्थको पूर्ण करनेवालों [क वाक्य] का भगवान भी बाधक नहीं हो सकता है, तब साधारण मनुष्यों [के वाक्य बन मङ्गले] की तो बात ही क्या है ।’

[आमुराङ्गमे सूत्रधार पठित] इतो वाक्यको घोलत हुए [प्रधान पात्र] हरिश्चन्द्र प्रवेश करता है ।

अर्थके द्वारा [प्रवेशका उदाहरण] अतो वेणीसंहारमे—

“जानुअरे मठ हो जानेसे जिनका घर रूप अग्नि नाश हो गया है इस प्रकारके पांडव लोग दुष्टोंके साथ घानगद मनाएँ । और रक्तमे भूमिको मुग्धोभित करनेवाले [अथवा रक्तमे प्रिय करनेवाले प्रमाधिता इला भूर्व, ते रक्तप्रसाधितभुज] अपने प्रिय सेवकोंको भूमि प्रदान करनेवाले, तथा जिनके विग्रह अर्थात् शरीर घायल हो गये हैं [अथवा जिन्होंने विग्रह अर्थात् मुष्ट समाप्त कर दिया है] इस प्रकारके औरव लोग अपने भृगुओंके महिम्न स्वर्गमे स्थित [अथवा स्वर्ग शरीर] हों ।”

इत्यस्य चाक्यस्य छन्दसा प्रथितस्य चतुर्थपादेन 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इत्यनेनार्थं गृहीत्वा भीमः ।

समयेन यथा छलितरामे—

“आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः,  
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।  
उत्त्वाय गाढतमसं धनकालमुग्रं,  
रामो दशास्यामिव भम्भृतबन्धुजीवः ॥”

अत्र समानविशेषणै रामशब्दकीर्तनाच्च रामप्रवेशसूचना ।

आह्वानेन यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

“तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रमथं हृतः ।  
एष राजेव दुष्यन्त सारंगेणातिरहसा ॥”

छन्द रूपमें प्रथित इस वाक्यके चतुर्थ चरणके अर्थको लेकर 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' मेरे जीते रहते कौरवगण कभी स्वस्थ बंट सकते हैं ? यह कहते हुए भीमका प्रवेश होता है ।

समय [के वर्णन] से [मुह्यपात्रका प्रवेश] जैसे छलितराममें—

इस श्लोकमें शरत्कालके वर्णनके द्वारा रामचन्द्रका प्रवेश कराया गया है । श्लोकमें कहे हुए विशेषण शरत्काल और रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें सचेये । प्रथम चरणमें 'चन्द्रहास' शब्द द्रिष्ट है । शरत्काल पक्षमें उसका अर्थ चन्द्रमाका हास यह होता है । और रामचन्द्र के पक्षमें चन्द्रहासका अर्थ तलवार होता है । चतुर्थ चरणमें 'सम्भृतबन्धुजीव' में शरत्पक्षमें 'बन्धुजीव' पुष्पविशेषका नाम है, और रामचन्द्रपक्षमें उसका अर्थ बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनको बचा लेनेवाला है । तृतीय चरणमें 'धनकालमुग्र' में शरत्पक्षमें धनकालका अर्थ वर्षाकाल है और रामचन्द्र-पक्षमें उसका अर्थ रावण है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

“[मेघोंके बाहर] प्रकाशित निर्मल चन्द्रमाके हासको प्राप्त करने वाला, [रामपक्षमें नंगी तलवारकी हाथमें लिए हुए] विमुद्ध कान्ति वाला, यह शरत्समय, गाढ अन्धकारपुस्त [रामपक्षमें रहने अमानागम्यकारसे युक्त] भयंकर अर्थकाल [रामपक्षमें वर्षाकालके समान उग्र] को विनष्ट करके बन्धुजीव पुष्पकी धारण करता हुआ इस प्रकार आ गया है जैसे निर्मल नङ्गी तलवारको लिए हुए विमुद्धकान्ति और बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनकी रक्षा कर लेने वाले रामचन्द्र भयंकर रावणको मारकर आए हो ।”

इसमें [शरत्समय तथा रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें लगने वाले] समान विशेषणोंसे और राम शब्दका कथन करनेसे रामचन्द्रके प्रवेशकी सूचना मिलती है ।

[आह्वान अर्थात्] नामसे [पात्रप्रवेशकी सूचनाका उदाहरण] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल, में—

“[आमुखमें सूत्रधार नटीसे कहता है] तुम्हारे मनोहर मोतरामसे यह मैं ऐसे हरणकर लिया गया हूँ जैसे मनोहर और अत्यंत वेगवान् इस भृगुके द्वारा यह राजा दुष्यन्त [हरणकर लिया गया है] ।”

अत्र नाट्य-आमुख्योः सम्बन्धनार्थं कविना भाविप्रवेशस्य पात्रस्य युक्त्या नामग्रहणम् । पूर्वत्र समानविशेषणबलान्नामागतमित्यनयोर्विशेष इति ।

एषां च नाट्यपात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतम एवैकरचमत्कारी निबन्धनीयः । अन्यथा पात्रप्रवेशग्रन्थबाहुल्येन प्रस्तुतार्थविधातः स्यादिति । शब्दव्यापारबाहुल्याच्च भारत्यंशभूतत्वमस्य ।

एवं प्ररोचनायाः पूर्वैरङ्गाङ्गभूताया अपीति । पात्रप्रवेशस्य पूर्वो भाग आमुखम् । उत्तरं पुनर्नाट्यमिति ॥

अथ प्ररोचनां व्याचष्टे—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या सम्यौमुख्यं प्ररोचना ॥[४]१०६॥

पूर्वं नाट्यात् प्रथमं, गीत-नाल-वाद्य-नृत्तानि नाट्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं च प्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जनाहेतौ नाट्यशालायां स पूर्वैरङ्गः । अस्य च पूर्व-रङ्गस्य प्रत्याहारादीनि आसारितान्तानि नव अन्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकं अङ्गानि प्रयोज्यानि पर्याचार्यैर्लक्षितानि । अस्माभिस्तु स्वतो लो-  
क-

इस [उदाहरण] में नाट्य तथा आमुखका सम्बन्ध जोड़नेके लिए कविने प्रागे होने वाले पात्रके प्रवेशके लिए युक्तिपूर्वक [दृश्य-तके] नामका ग्रहण किया है [अतः यह आह्वान द्वारा पात्रप्रवेशका उदाहरण है] पहिले [‘आसारित प्रकट निर्मलचन्द्रहास’ आदि उदाहरण में] तो समान विशेषणोंके बलसे नाम प्राप्त हो जाता है [मुख्यरूपसे उसमें समयका ही वर्णन है] । किन्तु इसमें मुख्य रूपसे दृश्यतके नाम ही कथन है] यह इन दोनों उदाहरणोंका भेद है ।

पात्रप्रवेशके इन [चार] प्रकारोंमें से किसी एक ही चमत्कार-जनक प्रकारका अवलम्बन करना चाहिए । अन्यथा [सब प्रकारोंका अवलम्बन करनेपर तो] पात्रप्रवेश विषमक रसिका विस्तार हो जानैसे प्रस्तुत विषयमें विघ्न पड़ेगा । इस [आमुख] में शब्द-व्यापारकी प्रचुरता होनेके कारण यह भारती वृत्तिका अक्षभूत है ।

इसी प्रकार पूर्वैरङ्गकी अङ्गभूत प्ररोचनामें भी [शब्द-व्यापारके बहुल होनेसे भारतीय वृत्तिका अंगस्थ] है । [मुख्य] पात्रके प्रवेशके पहिलेका भाग ‘आमुख’ [कहलाता] है और [पात्रप्रवेशके] बादका भाग नाट्य [कहलाता] है ।

प्ररोचना निरूपण—

अथ [भारतीय वृत्तिसे सम्बद्ध] ‘प्ररोचना’ की व्याख्या करते हैं—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गमें [कवि, नाट्य, सूत्रधार आदि] गुणोंकी स्तुति द्वारा सम्यो को [नाट्य दर्शनकेलिए] उन्मुख करना ‘प्ररोचना’ [कहलाती] है । [४] १०६ ।

[पहिले कारिणामे आए हुए पूर्वैरङ्ग शब्दका निबन्धन दिखलाते हैं] नाट्यके पहिले गीत, वाद्य, नृत्य नाट्यादि और पाठ्यका अलग अलग अथवा मिलाकर त्रिम [भाग] में रंग प्रर्पित रञ्जनाके कारणभूत नाट्यशालामें प्रयोग किया जाता है वह पूर्वैरङ्ग कहलाता है । इस पूर्वैरङ्गके ‘प्रत्याहार’से लेकर ‘आसारित’ पर्यन्त नौ जवनिकाके भीतर, और गीतकादिके लेकर प्ररोचना पर्यन्त दश जवनिकाके बाहर किए जानेवाले अगोके लक्षण पूर्व आचार्यों ने किए हैं । हमने तो उनके १ स्वतः लोकसिद्ध होनेका कारण, २ उनके वर्णनक्रमके

प्रसिद्धत्वात्, तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वाद्, विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि । प्ररोचना तु पूर्वरङ्गांगभूतापि नाट्ये प्रयुतौ प्रधानमिति लक्ष्यते ।

तत्र पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनं प्रकृतोऽर्थः प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ग्रियतेऽनयेति प्ररोचना । यथा क्षीरस्वामिविरचिते अभिनवराधवे—

“स्थापकः—[सहर्षम्] आर्ये ! चिरस्य स्मृतम् ।

अस्त्येव राघवमहीनकथापवित्रं,

कार्ग्यं प्रबन्धघटनाप्रयितप्रधिम्न ।

भट्टेन्दुराजचरणान्जमधुम्रतस्य,

क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम् ॥”

यथा वा रघुविलासे—

“सीतां काननतो जहार विहितव्याज पुरा रावण—

स्तं व्यापाध रणेन तां पुनरयो राम. समानीतवान् ।

निष्फल होनेके कारण, और ३ विविध देवताओंकी प्रस्तन करने रूप उनके फलके केवल; अद्यावुओंकी धोला देने मात्र जाता होनेसे, उनकी उपेक्षा कर दी है । [पूर्वरङ्गके उन १६ अर्गोंमेंसे] प्ररोचना' तो पूर्वरङ्गका अंग होनेपर भी नाट्यमें प्रवृत्ति करानेमें मुख्य है इसलिए उसका लक्षण [हम भी] कर रहे हैं ।

उस पूर्वरङ्ग [के १६ अंगों] में, गुणोंकी स्तुति द्वारा प्रस्तुत प्रबन्धके अर्थकी आगव आदिके जनक रूपमें प्रशंसा करके सामाजिकोंमें उसके देखनेका उत्साह उत्पन्न करनेकेलिए प्रकृत अर्थ जिसके द्वारा [प्रकर्षेण रोच्यते] अत्यन्त रोचक बनाया जाता है अर्थात् उपादेय सिद्ध किया जाता है वह 'प्ररोचना' [कहलाती] है ।

जैसे क्षीरस्वामी विरचित अभिनवराधवे—

“स्थापक—[सहर्षं] आर्ये ! बड़ी देर बाद याद आई—

रामचन्द्रकी परमोत्कृष्ट कथासे पवित्र, और नाटक रचनानामे प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले, भट्ट इन्दुराजके चरणकमलोंके शङ्खचरीक, क्षीरस्वामीका अद्वितीय महत्त्व वाला [अभिनव राघव नामक काव्य अर्थात्] नाटक तो विद्यमान है ही [फिर चिन्ता किस बातकी है । सामाजिकोंकी प्रस्तन करनेके लिए आज हम लोग उसी अद्वितीय नाटकका अभिनय प्रस्तुत कर सकते हैं] ।”

इसमें रामचन्द्रके चरित्र और क्षीरस्वामीकी नाटक रचना-सामर्थ्यादिकी प्रशंसा द्वारा सामाजिकोंमें नाटक-दर्शनका उत्साह उत्पन्न करनेका यत्न किया गया है इसलिए यह पूर्वरङ्ग की अंगभूत 'प्ररोचना' का उदाहरण है ।

अथवा जैसे रघुविलासे—

“पूर्वकालमें छल करके रावण सीताकी वनसे हरण कर ले गया था, उसको मारकर रामचन्द्र फिर उसको छुड़ाकर लाए थे । कवियोंकी सूचित रूप भोजितक मणियोंके [उत्पादक के लिए स्वाति जलके समान तथा भू, भुव, स्व तीनों लोकोंको मोहित करने वाले मोहन-

एतस्मै कविसूक्तिमौक्तिकमणिस्वात्मभसे भूमिः—

स्वर्णामोहनकर्मणाय सुकथारत्नाय नित्यं नमः ॥

यथा वा नलविलासे—

“कविः काव्ये रामःसरसवचसामेकयसति—

नलस्येदं हृद्यं किमपि चरितं धीरललितम् ।

समादिश्रो नाट्ये निखिलनटमुद्रापदुरहं,

प्रसन्नः सभ्यानां कटरि ! भगवानद्य स विधिः ॥” इति ।

इयं प्ररोचना पूर्ववद्वात् प्रथमं परचाक्ष्य निवध्यते । नियन्धे चास्या नावर्य-  
म्भावनियम इति ॥ [४] । १०६ ॥

अथोद्देशप्राप्तां सात्त्वतीं लक्षयति—

[सूत्र १६०]—सात्त्वती सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं कर्म मानसम् ।

साजंवाधर्प-मुद्-धैर्य-रौद्र-वीर-शमाद्भुतम् ॥[५] १०७॥

कर्मके समान [रामायणकी] इस सुन्दर कथारत्नकी ममस्कार है ।

इसमें कथा भागकी प्रशंसा द्वारा उस कथाके आधारपर विरचित ‘रघुविलास’ नाटकके  
बैलनेके लिए सामाजिकोंको प्रोत्साहित करनेका यत्न किया गया है ।

अथवा जैसे नलविलासमें—

“[इस नलविलास नामक नाटकका निर्माता] सरस वचनोंका निधान रामधन्व इस  
काव्यका [निर्माता] कवि है, नलका मनोहर धीरललित और श्रद्धाभूत चरित्र [इस काव्यका  
वर्ण्य विषय] है, और समस्त नाट्यकलाप्रोमे विपुल मुष्करी नाट्य करनेकी प्राप्ता मिली  
है, [इससे सिद्ध होता है कि] हे सुन्दर कटि वाली [आर्य] ! आज भगवान् सन्त्योके ऊपर  
प्रसन्न हो रहे हैं ।”

इसमें प्रत्यक्षरूपे अपने बनाए हुए नलविलासकी ‘प्ररोचना’को उद्धृत किया है । इस  
प्ररोचना भागमें कविजी भी प्रशंसा की गई है । नाटकके आधारभूत आधारान-वस्तु, और  
उसका अभिनय करने वाले नटकी भी प्रशंसा की गई है । इन सबकी प्रशंसा द्वारा सामा-  
जिकों में इस नाटकके बैलनेके लिए उत्साह एवं अभिरुचि उत्पन्न करनेका यत्न किया गया  
है । इसलिए यह भी प्ररोचनाका उदाहरण है ।

यह प्ररोचना पुर्यरंगके पहिले और पीछे [दोनों रूपोंमें] निबद्ध की जा सकती है ।  
और इसके रखे जानेका कोई आवश्यक नियम नहीं है । [अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि  
प्रत्येक नाटकमें प्ररोचना अवश्य ही रखी जाए । कवि इस विषयमें स्वतन्त्र है । यह चाहे  
तो प्ररोचना रखे चाहे न रखे । यह प्रत्यक्षरूपे अभिप्राय है फिर भी अविकांश नाटकोंमें  
‘प्ररोचना’ पाई ही जाती है ॥ १०६ ॥ [४] ।

२. सात्त्वती वृत्तिका निरूपण—

अब उद्देशकममे प्राप्त सात्त्वती [वृत्ति] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६०]—मानसिक, वाचिक तथा कायिक अभिनयोसि सूचित, प्राजंघ, डाट-  
पटकार, [प्रापध] हर्ष और धैर्ये युक्त, तथा रौद्र, वीर, शान्त एवं श्रद्धाभूत रसोसि सम्बद्ध  
मानस व्यापार ‘सात्त्वती’ वृत्ति कहलाता है । [५] १०७ ।

सन् सत्त्व प्रकाश, तद्यत्रास्ति तत् सत्त्वं मन, तत्र भवा सात्त्वती । सद्वा-  
शब्दत्वेन बाहुल्यकात् स्वीत्वम् । सत्त्व-वागङ्गाभिनेय सत्त्व-वागङ्गाभिनयैर्ज्ञाप्यम् । सत्त्वा-  
भिनयवागभिनय-अङ्गाभिनययुक्तं मानस कर्म सात्त्वतीत्यर्थ । अभिनयत्रयाभिधानेऽपि  
मानसव्यापारस्य सत्त्वप्रधानत्वान् सत्त्वाभिनय एवात्र प्रधानमितरी गौणी । अत एव  
सत्त्वैशान्द्र प्रथममुपात्त । आर्जवमकौटिल्यम् । आघर्षो वाचा न्यकार । मुदु हर्ष ।  
धैर्य व्यसनेऽप्यकातर्यम् । एतै रौद्रादिभिश्च सह वर्तमानो मनोव्यापार सात्त्वती ।  
आर्जवस्योपादानादत्र कपटाभाव । आघर्परयापनादुद्धतपुरुषसद्भावे । मुत्प्रतिपादना  
-अशोक-करुण-निर्वेदाभाव । धैर्याभिधानात् रत्यादिसङ्गमौत्सुस्वाभावश्चाभिहितो भवति ।

रौद्ररसयोगेऽपि केषाञ्चिन् सत्त्व प्रकाशरूप दृश्यत एवेति रौद्रोपादानम् । वीर-  
रसश्चात्र युद्ध-दान-दयावीरादिरूप, सत्त्वनाहुल्याद् गृह्यते । 'शम' इति च शम-स्थायि-  
भाव शान्तो रसो द्रष्टव्य । अरिपङ्चवर्गजयस्य सत्त्वैकनिबन्धनत्वान् । अद्भुतोऽप्यन्य-  
सत्त्वानलोकनात् सात्त्विकाना दृश्यत एवेति । इदं च मानस कर्म विचित्राभिर्गम्भीरो-  
क्तिभि प्रारब्धकार्यापरित्यागान्, कार्यान्तरपरिग्रहेण, सप्रामाव परोत्साहनेन, सामादि-  
प्रयोग-दैवादिना अरिसघातभेदजननेनान्यैश्च यहुभि प्रकारैर्लक्ष्यते इति ॥ [५] १०७॥

सन् अर्थात् सत्त्व या प्रकाश [का नाम है] वह जिसमे रहता है वह मन सत्त्व हुआ ।  
उसमें रहनेवाली [मानस व्यापार रूप] सात्त्वती वृत्ति होती है । सत्रा शब्द होनेसे बहुत करके  
[सात्त्वती शब्दसेमें] स्त्रीलिङ्ग [वाचक डोप प्रत्यय हुआ] है । 'सत्त्ववागगाभिनेय' [का अर्थ]  
मानस वाचिक तथा कायिक अभिनयोके द्वारा ज्ञाप्य [व्यापार है] । मानसिक अभिनय  
वाचिक अभिनय और कायिक अभिनयसे युक्त मानसिक व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति [कहलाता]  
है, यह अभिप्राय है । [ मानसिक, वाचिक तथा कायिक ] तीनों प्रकारके अभिनयोंके कहे  
जानेपर भी मानस व्यापारके ही सत्त्व-प्रधान होनेसे इन [तीनों] में सत्त्वाभिनय ही प्रधान  
है और शेष दोनों गौणी हैं । इसीलिए सत्त्व शब्दका सबसे पहले ग्रहण किया गया है ।  
[कारिकामें आए हुए 'आजघ' आदि शब्दोंका अर्थ करते हैं] 'आर्जव' अर्थात् कुटिलताका अभाव  
आघर्ष' अर्थात् वाणीके द्वारा तिरस्कार [डाँट फटकार] । मुत्' अर्थात् हर्ष । 'धैर्य' अर्थात्  
विपत्तिकालमें भी न घबराना । इनसे और रौद्रादिसे युक्त मानस व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति  
[कहलाता] है । आर्जवके ग्रहणसे इसमें कपटका अभाव [ सूचित होता है ] । 'आघर्ष'के  
कथनसे उद्धत पुरुषोंका सद्भाव [सूचित होता है] । हर्षका प्रतिपादन होनेसे शोक, करुण  
निर्वेदका अभाव [सूचित होता है] । 'धैर्य' के कथनसे स्त्री आदिके सङ्गमके प्रति श्रोतुव्यका  
अभाव सूचित होता है ।

रौद्ररसका योग होनेपर भी किन्हीं किन्हींमें प्रकाश रूप सत्त्व दिखलाई देता है । इस  
लिए रौद्रका ग्रहण किया है । और इस [ सात्त्वती वृत्ति ] में वीररससे युद्धवीर दानवीर  
दयावीर आदिका ग्रहण सत्त्व प्रधान होनेसे होता है । 'शम' पदसे शम जिसका स्थायिभाव है  
उस शातरसका ग्रहण होता है । क्योंकि [शातरसमें किए जानेवाले काम क्रोधादि] छ मानस  
शत्रुओंके सत्त्व प्रधान होनेसे [शमका ग्रहण किया है] । अन्योक्ति सत्त्वको देखनेसे सात्त्विक  
वृत्तियोंके लोगोंमें अद्भुत भी पाया जाता है । [इसलिए इसका भी ग्रहण किया गया है] ।  
यह मानस-व्यापार नाना प्रकारकी गम्भीर उत्तियों द्वारा, प्रारब्धकार्यके [संकटों विघ्न पड़ने

अथ कैशिकी—

[सूत्र १६१]—कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-नर्मभिदात्मिका ।

अतिशायिन केशा सन्त्यासामिति केशिका स्त्रियः । 'स्तनवेशयतीत्यं हि स्त्रीणां लक्षणम्' । तत्प्रधानत्वान् तासामियं कैशिकी । हास्य-शृङ्गाराभ्यां स्त्रीबाहुल्य-विधिप्रकारेणैवपथ्य-कामव्यवहाराणां सद्भावमाह । नाट्यं नृत्त-गीत-वादित्राणि । अग्रान्य इष्टजनार्जनरूपो वाग्-वेष चेष्टाभि परिहासो नर्म । वाचा यथा—

"पत्यु शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सरथा परिहासपूर्वम् ।

सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्मान्येन तां निर्वचनं जघान ॥"

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

"राजा—[ विहस्य ] विहङ्गराज ! नि शेषवेश्याचक्रवर्तिनीमेतां लम्बस्तनीमुप-  
रलोकय ।

शुक—पुण्यप्रागल्भ्यलभ्याय वेश्यापण्याय भङ्गलम् ।

यत्र प्रतीपा शास्त्रस्य, कामादर्थप्रसूतयः ॥"

पर भी] न छोड़नेसे, नए कार्योंका [भी] स्वीकार कर लेनेसे, सप्रापादिके लिए दूसरोंको उत्साहित करनेसे, साम आदिके प्रयोग अथवा बँदाबिबश शत्रु-समुदायमें भेद डालनेसे और इसी प्रकारके अन्य बहुतसे प्रकारोंसे लक्षित हो सकता है ॥[५]१०७॥

३ कैशिकी वृत्तिका निरूपण—

अथ कैशिकी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—हास्य, शृङ्गार [ नृत्य, गीत आदि रूप ] नाट्य तथा [ नर्म अर्थात् शिष्ट परिहास आदिके भेदोंसे युक्त कैशिकी [वृत्ति] होती है ।

प्रतिपाद्य युक्त केशा जिनके हो वे स्त्रियाँ कैशिका हुईं [ अर्थात् कैशिकी वृत्तिकी उत्पत्ति केश शब्दसे हुई है । सम्बन्ध केशोंसे युक्त होनेके कारण स्त्रीको 'केशिका' कहा जाता है ] क्योंकि 'स्तनवेशयती स्त्री' यह स्त्रीका लक्षण है । उनका प्राधान्य होनेसे उनकी यह वृत्ति 'कैशिकी' कहलाती है । उसमें हास्य और शृङ्गार शब्दोंसे स्त्रीजनोंकी अधिकता, नाना प्रकारके वेष विन्यास, तथा कामव्यवहारोंकी उपास्थिति सूचित की है । 'नाट्य' से नृत्य, गीत, वाद्यका ग्रहण होता है । इष्टजनोंको आकर्षित करनेवाला, बाली, वेप तथा चेष्टा आदिकेद्वारा किया जानेवाला शिष्ट [अग्रान्य] परिहास नर्म [कहलाता] है । वाणीके द्वारा [नर्मका उदाहरण] जैसे—

"पैरोंमें महावर लगा चुनेपर सखीके द्वारा परिहासपूर्वक इस [चरण] में पति [दिश] के सिरपर स्थिति [सपत्नी रूप] चन्द्रकलाका स्पर्श करना इस प्रकार आशीर्वाद बिट्टाने पर बिना उत्तर दिए हुए ही उसने [अर्थात् पार्वतीने] उस [सखी] को मात्तासे मार दिया ।"

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्रमें [वाचिक नर्मका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

'राजा—[हँसकर] हे विहङ्गराज ! [मन्त्रिन् शुकदेव] समस्त वेश्याओंकी चक्रवर्तिनी इस सम्भरतनीकी प्रशंसा तो करो ।

शुक—पुण्य सम्भारसे प्राप्त होनेवाले वेश्या-व्यापारका भला हो जिसमें शास्त्रीय विधानके विपरीत, कामसे अर्थकी प्राप्ति होती है [ शास्त्रमें तो अर्थमें कामकी प्राप्ति



वेपेण यथा—नागानन्दे विदूषक-शेखरव्यतिकरे ।

चेष्टानर्म यथा मालविकाम्निमित्रे—

निपुणिका विदूषकस्योपरि सर्पविभ्रमकारि दण्डकाष्ठं पातयति । इति ।

एतच्च कचिन्मानान्, कचिद्धाम्यान्, कचित् शृङ्गार-हास्यात्, कचिद् भय-हास्यात्, कचित् सापराधप्रिय-प्रतिभेदनात्, कचित् पूर्वनायिका-प्रतिभयात्, इत्याद्य-नेकधा द्रष्टव्यम् ।

अत्र शृङ्गाररसेन रत्याख्यो मानसो, हाम्येन नर्मभेदैश्च वाचिको, नाट्येन कायिकश्च व्यापारः सगृहीत इति व्यापारत्रयसङ्करात्मिकेयमिति ।

अथारभटी—

[सूत्र १६२]—आरभट्यनृत-द्वन्द्व-छन्द-दीप्तरसान्विता ॥ [६] १०८ ॥

आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धता पुरपा आरभटा । ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्यादयि' आरभटी । अनृतमसत्यम् । द्वन्द्वयुद्धमनेकप्रकारम् । छन्द यश्चाना-हेतु प्रयोगः । अनेन इन्द्रजाल-पुस्तप्रयोग-न्द्वेय-भेदादिग्रहः । दीप्ता रसा रौद्रादयः कही गई है किन्तु वेदया-व्यापारमे इसके विपरीत कामसे अर्थकी प्राप्ति वेदयाप्रोको होती है ।

वेपके द्वारा [ परिहास रूप नर्मका उदाहरण ] जैसे नागानन्दमें विदूषक श्रीर शेखर के सम्पर्कमें [दृष्टा है] ।

चेष्टाके द्वारा परिहासका [उदाहरण] जैसे मालविकाम्निमित्रमें—

निपुणिका विदूषकके ऊपर सर्पकी आति उत्पन्न करने वाले लकड़ीके [ छेद में ] डण्डेको डाल देती है ।

यह [परिहास या नर्म] कहीं मानके कारण, कहीं हास्यके कारण, कहीं भृङ्गारजनक हास्यके लिए कहीं भयजनक हास्यके लिए, कहीं अपराधी प्रियके प्रतिभेदनेके कारण, और कहीं पूर्व नायिकाके भयके कारण, इस प्रकार अनेक तरहका होता है ।

यहाँ [कारिकामे आए हुए] शृङ्गाररसे रति रूप मानस-व्यापारका, हास्य [पद] से और परिहासके [पूर्वोक्त] भेदोंसे वाचिक-व्यापारका, तथा 'नाट्य' [पद] से कायिक व्यापार का सग्रह होता है । इसलिए यह [कंशिकी वृत्ति] तीनों प्रकारके व्यापारोंके सङ्कर रूप है । [अर्थात् कंशिकी वृत्तिमें तीनों प्रकारके व्यापारोंका समावेश रहता है] ।

४ आरभटी वृत्तिका निरूपण—

प्रथम आरभटी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६२]—अनृतभाषण, छन्द-अपञ्च, द्वन्द्वयुद्ध, तथा [रौद्र आदि] दीप्तरसोत्त-युक्त [वृत्ति] आरभटी [वृत्ति कहलाती] है । [६] १०८ ।

'आर' अर्थात् चाबुकके समान, जो भट अर्थात् उद्धत पुरुष, वे 'आरभट' हुए । वे जितने प्रचुर मात्रामे हो वह [आरभट शब्दको] ज्योत्स्नादि गणपठित मानकर धण्-प्रत्यय करनेपर आरभटी [वृत्ति कहलाती] है । [लक्षणमें आए हुए अनृतादि शब्दोंका अर्थ करते हैं] अनृत अर्थात् असत्य भाषण । द्वन्द्वयुद्ध अनेक प्रकारका हो सकता है । छोटा देनेकेलिए किए जाने वाला प्रयोग छद्म कहलाता है । इसके द्वारा इन्द्रजाल [पुस्त लेप्यादि निर्मित] पुतली आदिका

श्रौद्धत्यावेगादिहेतवः । अत्रानृतादिभिर्विचित्रनेपथ्य किलिञ्जहस्तिप्रयोग-मायाशिरो-दर्शनादिकं, भय-हर्षातिशयाकुलितपात्रप्रवेशः, पूर्वनायकावस्थायाः परित्यागेन नायकावस्थान्तरग्रहो अवस्कन्द-अग्न्यादिकृतविद्रवादिकं, विविधस्थावि-व्याभिचारि-भावयुक्तं प्रसंगागतकार्यादिकं बाहुयुद्ध-शस्त्रप्रहारादिकं च संगृह्यते । अत एवेयं सर्वा-भिनयारम्भिका सर्वव्यापारारम्भिका च ।

तत्र विचित्र नेपथ्यं वेणीसंहारे अश्वस्थान् । उदयनचरितं किलिञ्जहस्ति-प्रयोग । मायाशिरोदर्शनं रामाभ्युदये । बलीमुखेन पात्रप्रवेशो रत्नावल्याम् । हर्षेण वामनचेष्टयाः प्रवेशः सत्यहरिचन्द्रे । बालिनेतृत्वागेन सुग्रीवनेत्रन्तरग्रहणम् । परशु-रामस्यौद्धत्यावस्थात्यागेन शान्तावस्थान्तरग्रहणम् । विचित्रभावं कार्यान्तरं कृत्यारावणे । तथा हि अंगदेनाऽभिद्रूयमाणया मन्दोदया भयम् । अंगदस्योत्साहः । अस्यैव रावणदर्शनेन 'पतेनापि मुराजिताः' इत्यादि वदतो हासः । 'यस्तातेन निगूह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' इति च जल्पतो जुगुप्सा-हास-विस्मयाः । रावणस्य रति-क्रोधौ । नियुद्धादि तु रामायणीयेषु इन्द्रजित्त्वदभरणयोरिति ॥६॥१०८॥

प्रयोग तथा वेद्य-भेद्य आदिका ग्रहण होता है । श्रौद्धत्य, आवेगादिके कारणभूत रौद्रादिरस कोप्तरस [कहलाते] हैं । इसमें अनृताविसे, नाना प्रकारके वेद्य विन्यास, [किलिञ्जहस्तिप्रयोग पर्यन्त] बटाई आदिसे बने हुए [बनावटी] हाथीका प्रयोग, तथा [मायाशिरोदर्शन पर्यन्त] बनावटी शिर आदिका बिल्लाना [गृहीत होता है], भय तथा हर्षके अतिशयसे व्याकुल पात्रका प्रवेश, नायककी पूर्वावस्थाको छोड़कर नायककी दूसरी अवस्थाका ग्रहण, आक्रमण या अग्नि आदिके द्वारा किए जानेवाली भगदड, आदि रूप नाना प्रकारके स्थावि-व्याभिचारि-भावसे युक्त प्रासंगिक कार्यादि, बाहुयुद्ध और शस्त्रप्रहारादिका संग्रह हो जाता है । इसलिए यह [भारभटी युक्ति काविक, वाचिक तथा भासितिक] सब प्रकारके अभिनयोंसे युक्त और सब प्रकारके व्यापारों वाली [वृत्ति] है ।

उनमें विचित्र वेद्य-विन्यास [का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें अश्वरथामाका [विचित्र वेद्य-विन्यास वर्णित है] । उदयनके चरित्रमें बनावटी हाथीका प्रयोग पाया जाता है । बनावटी शिरका दर्शन जैसे रामाभ्युदयमें [रामके बनावटी बटे हुए सिरका दर्शन सीता को कराया गया] है । [बलीमुख पर्यन्त] बन्दरके भयसे प्रवेश [का उदाहरण] जैसे रत्नावली में [पाया जाता है] । हर्षसे जैसे सत्यहरिचन्द्रे वामनचेष्टीका प्रवेश [वर्णित है] । बालीके नेतृत्वकी छोड़कर सुग्रीवके नेतृत्वको स्वीकार करना । परशुरामकी उद्धतावस्थाकी छोड़कर दूसरी शान्तावस्थाका वर्णन [ये दोनों नायकान्तर और अवस्थान्तरके ग्रहणके उदाहरण हैं] । विचित्र प्रकारके [प्रासङ्गिक] अन्य कार्य [का उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है] अङ्गदके द्वारा पीछा किए जानेपर मन्दोदरीका भय, अङ्गदका उत्साह, इस [अङ्गदके द्वारा ही रावणको देखनेपर 'घच्छा इस [रावण] ने भी देवताओं को जीता था' इस प्रकार कहते हुए [रावणका] हास्य बनाना, और 'जिसको [रावण] पिताजी [पर्यन्त] अङ्गदके पितर बाली] ने बालकके समान पकड़कर कोठरीमें [बन्द कर दिया था]' इस प्रकार कहते हुए [रावणके प्रति अङ्गदकी] घृणा, हास्य और विस्मय [का वर्णन] तथा रावणके रति, क्रोध [ये सब प्रसङ्गोचित कार्यादि उदाहरण हैं] । रामायणके व्यापारपर

अथ 'रसभावाभिनयगाः' इत्यतो वृत्तिलक्षणात् प्रथमं रसमाचष्टे—

[सूत्र १६३]—स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः ।

स्पष्टानुभावनश्चेयः सुख-दुःखात्मको रसः ॥[७]१०६॥

प्रतिक्षणमुदय-व्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयावश्यं तिष्ठतीति स्थायी । यद्वा तद्भाव एव भावान् अभावे चाभावात् रत्यादिर्व्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्ययश्यं स्थायी । उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीति भावः । विभावैर्ललितो-  
द्यानादिभिरालम्ब्यनोद्दीपनरूपैर्वाह्यैर्हंतुभिः सत एवाविर्भावाद्, व्यभिचारिभिर्ग्लान्या-  
दिभी रसिकमनः-शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्षः । स्वीकृतसाक्षात्कारित्वात्-  
भूयमानावस्थो, यथासम्भवं सुख-दुःखरसभावो रस्यते आस्याद्यते इति रसः ।

तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः  
सुखात्मानः । अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-वीभत्स भयानकारव-  
त्वारो दुःखात्मानः ।

इने तादृकादिने लक्षणे और मेघनादके निपुट आदि [के उदाहरण हैं] ॥[६] १०६ ॥

रस निरूपण—

[इस प्रकार भारती आदि चारों वृत्तियोंके लक्षण हो जानेके बाद] अब वृत्तिके [सामान्य] लक्षणमें आए हुए 'रस-भावाभिनयगाः' इस पदमेंसे सबसे पहिले रसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र १६३]—विभाव तथा व्यभिचारिभाव आदिके द्वारा परिपोषको प्राप्त होने वाला, स्पष्ट अनुभावोंके द्वारा प्रतीत होनेवाला, स्थायिभाव [रूप ही] सुख दुःखात्मक [अर्थात् केवल सुखात्मक अथवा केवल दुःखात्मक न होकर उभयात्मक] रस होता है । [७] १०६ ।

[यह ग्रन्थकारने रसका लक्षण किया है । अब उसमें आए हुए स्थायिभावादिका स्वरूप दिखलाते हैं] प्रतिक्षण उदय तथा अस्त होने वाले अनेक व्यभिचारिभावोंमें जो अनु-  
गतहृत्से अवश्य विद्यमान रहता है वह 'स्थायिभाव' [कहलाता] है । अथवा उस [स्थायि-  
भाव] की विद्यमानतामें ही होने और उसकी अविद्यमानतामें [व्यभिचारिभावोंके] न होनेसे,  
व्यभिचारिभाव ग्लानि आदिके प्रति, रत्यादि अवश्य स्थायिभाव होता है । [यह स्थायी  
शब्दका अर्थ हुआ अब आगे स्थायीके आगे जुड़े हुए भाव शब्दका अर्थ करते हैं । [व्यभिचारि-  
भाव आदि सामग्रीके द्वारा] परिपोषको प्राप्त करके रत्यादि, रसरूप हो जाता है इसलिए  
[भवतीति भाव इस व्युत्पत्तिके अनुसार रत्यादि] 'भाव' [कहलाता] है । विभावों अर्थात्  
ललना और उद्यान आदि [रूप] आलम्बन तथा उद्दीपन विभावरूप बाह्य हेतुओंके द्वारा  
पूर्वसे ही विद्यमान [रत्यादि स्थायिभाव] का आविर्भाव होनेसे, और रसिकोंके मनमें विद्यमान  
ग्लानि आदि व्यभिचारिभावोंके द्वारा परिपुष्ट होनेके कारण, उत्कर्षको प्राप्त [अर्थात्]  
साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्थाको प्राप्त होनेवाला, यथासम्भव सुख-दुःखोभयात्मक [स्थायि-  
भाव 'रस्यते इति रस' इस व्युत्पत्तिसे] आत्माद्यमान होनेसे रसपदसे वाच्य [बोधित] होता है ।

[रसके इस लक्षणमें रसको सुख-दुःखात्मक अर्थात् उभयात्मक माना है । उन दोनों प्रकारके रसोंका विभाग आगे दिखलाते हैं] उनमेंसे इष्ट विभागादिके द्वारा स्वरूपसम्पत्तिको

यन् पुनः सर्वरसानां सुख-दुःखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिवाधितम् । आस्तां नाम मुख्यविभावोपचिताः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको धीमत्सः करणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनारयेयां कामपि क्लेशदशामुपनयति । अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाज । न नाम सुखाम्वादादुद्वेगो घटते ।

यन् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसाम्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तु-प्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन । विग्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः । अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि कृष्णादिषु सुमेधसः प्रतिजानन्ते । पतद्वास्यादलौल्येन प्रेक्षका अपि गतेषु प्रवर्तन्ते । कथयन्तु मुख-दुःखात्मकमंसारानु-रूप्येण रामादिचरितं निधनन्तः मुख-दुःखात्मकमानुषिद्वमेव ग्रथन्ति । पानकमा-धुर्यमिव च तीक्ष्णाम्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि त्वदन्ते इति । अपि च मीतायाः हरणं, द्रौपद्या-कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं,

प्रकाशित करने वाले शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत [ये पाँच] सुखप्रदान रस हैं । और अनिष्ट विभाषादिके द्वारा स्वल्प लाभ करने वाले कण्ठ, रौद्र, धीमत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं ।

[कुछ आचार्योंके द्वारा] जो सब रसोंको सुखरसक बतलाया जाता है वह प्रतीति के विपरीत [होनेसे भ्रमान्ध असंगत] है । मुख्य [अर्थात् वास्तविक] विभावोंसे उत्पन्न [करण आदिकी दुःखरसवृत्ताकी तो घात ही जाने दो, काव्यके अभिनयमें प्राप्त [यनावटी] विभाव आदिसे उत्पन्न हुआ भी भयानक, धीमत्स, कण्ठ अथवा रौद्ररस आस्वादन करने वालोंकी कुछ अवर्णनीयसो क्लेशदशाको उत्पन्न कर देता है । इसी लिए भयानक आदि [दृश्यों] से सामाजिकोंको घबराहट होती है । [यदि सब रस सुखात्मक ही होते तो] सुखास्वादसे तो किसीको उद्वेग नहीं होता है । [इसलिए कण्ठादि रस दुःखात्मक ही होते हैं] ।

और जो इन [कण्ठादिरसों] से भी सहृदयोंमें चमत्कार दिखलाई देता है वह रसास्वादेके समाप्त होनेके बाद मयास्थित जैसे-तैसे पदार्थोंको दिखलाने वाले कवि और नटजनोंके कौशलके कारण होता है । क्योंकि वीरताके अभिमानी जन भी [एक ही प्रहारमें] तिरको काट डालने वाले, प्रहार-कुशल वरी [के कौशलको देखकर, उस] से भी विस्मय [और तज्जग्य चमत्कार] को अनुभव करते हैं । सम्पूर्ण अङ्गोंको आनन्द प्रदान करने वाले [सब इन्द्रियोंके आह्लादक], कवि और नटजनोंकी शक्ति [कौशल] से उत्पन्न चमत्कारके द्वारा थोड़ेसे आकर बुद्धिमान लोग भी दुःखात्मक कण्ठादि रसोंमें भी परमानन्द रूपता समझने लगते हैं । और इनका आस्वादन करनेके लोभका सबरण न कर सबनेके कारण प्रेक्षक सामाजिक भी इन [के आस्वादन]में प्रवृत्त होते हैं । कविगण तो सुख-दुःखात्मक ससारके अनुदय ही रामादिके चरित्रकी रचना करते समय सुख-दुःखात्मक रसोंसे युक्त ही [काव्य नाटक आदि की] रचना करते हैं । पने का माधुर्य जैसे [उसमें पड़ो हुई मिचंके] सीसे आस्वादमें और अधिक अच्छा प्रतीत होता है इसी प्रकार [कण्ठादि दुःखप्रदान रसोंमें] दुःखके [सीसे] आस्वादसे मिलकर सुखोंकी अनुभूति और भी अधिक आनन्ददायिनी बन जाती है । और [नाटकादिमें] सीतके हरण, द्रौपदीके वेश एवं वस्त्रोंके खींचे जाने, हरिदचन्द्रकी चाण्डालके

लक्ष्मणस्य शक्तिभेदन, भालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वाद ?

तथानुसार्यगताश्च कृष्णादयः परिदेयितानुकार्यत्वात्<sup>१</sup> तावद् दुःखात्मका एव । यदि चानुकरणे सुखात्मानं स्युर्न सम्यगनुकरणं स्यात् । विपरीतत्वेन भासनादिति । योऽपीष्टादिदिनाशदुःखतां कर्णे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव । दुःखी हि दुःखितवार्तया सुखमभिमन्यते । प्रमोदवार्तया तु ताम्यतीति कर्णादयो दुःखात्मानं एवेति ।

विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोगसम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मकः ।

यहां हासता, रोहिताशब्दे मरण, लक्ष्मणके शक्तिभेदन, भालतीके मारनेके उपपन्न आदिके अभिनयको देखने वाले सहृदयोंको सुखवा आस्वाद बंसे हो सकता है ? [इसलिए कदणादि रसोंको सुखात्मक मानना उचित नहीं है । इसी बातके समर्थनकेलिए आगे और भी युक्ति देते हैं] ।

और अनुकार्यगत [अर्थात् रामचन्द्र आदिके वास्तविक जीवनमें सीतायुगोके समय] कदणादि विलापादियुक्त होनेके कारण निश्चित रूपसे दुःखरसक ही होते हैं । यदि उनको अनुकरण [रूप नाटकादि] में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं हो सकता है । [वास्तविक दुःखरसक प्रतीतिसे] विपरीत रूपमें [नाटकादिमें] प्रतीत होनेसे [नाटकादिमें रामके वृत्तका अर्थात् अनुकरण नहीं बनेगा । इस कारण भी कदणादिको दुःखरसक ही मानना पड़ेगा] ।

कभी कभी किसी इष्टजनके विनाशके समय उसको सान्त्वना देनेकेलिए लोग किसी अन्यके इसी प्रकारके दुःखका वर्णन आदि करते हैं । और उस प्रकारके दूसरेके दुःखको सुनकर या देखकर दुःखित व्यक्तिको कुछ सान्त्वना और अपने कष्टको सहनेका बल मिलता है परन्तु वह सुख नहीं है । वह दुःखास्वाद ही है । दुःखी व्यक्तिके सामने दूसरोंके उसी प्रकारके दुःखके वर्णनसे तो उसको सान्त्वना मिलती है किन्तु यदि उस दुःखके समय उसके सामने नाच-रंग आदि आनन्द वार्ताकी वर्षा की जाय तो वह उसको बुरी मालूम होती है । इसलिए कदणादि रस दुःखात्मक ही है इस बातको आगे ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं—

और इष्टजनके विनाशसे दुःखियोंके सामने कदणादिका वर्णन किए जाने अथवा अभिनय किए जानेपर जो सुखास्वाद होता है वह ही वास्तवमें दुःखास्वाद ही होता है । दुःखी व्यक्ति दूसरे दुःखी व्यक्तिको दुःख वार्तासे सुख सा [सान्त्वना सी] अनुभव करता है । और प्रमोदकी वार्तासे [उस समय] उद्विग्न होता है । इसलिए भी कदण आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं [उनको सुखात्मक रस नहीं माना जा सकता है] ।

विप्रलम्भ शृङ्गार तो [इष्टजनके] दाहादि [द्वारा विनाशकी प्रतीति] से जन्म होनेके कारण ॥ स्वरूप होनेपर भी उसमें पुनर्मिलन [सम्भोग] की सम्भावना बनी रहनेसे सुखात्मक [बहा गया] है ।

इस पवित्रमें ग्रन्थकारने कदण तथा विप्रलम्भ शृङ्गारका भेद दिखलाया है । कदण

रसरच मुख्यलोकगत प्रेक्षरगत काव्यस्य श्रोतृ-अनुसन्धायकद्वयगतो वेति ।  
'स्पष्टा' इति स्पष्टा सम्यङ् निर्णीता । असन्दिग्धं हि लिङ्गं भवति । अनुभावयन्ति

रसको दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गारको सुखात्मक रस माना है । इस भेदका कारण यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गारमे पुनर्मिलनको सम्भावना बनी रहती है । किन्तु कष्टमे पुनर्मिलनकी सम्भावना नहीं रहती है । रामचन्द्रने जीवनमे सीता हरणके बादका प्रसंग विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रसंग है और सीतानिष्कासनके बादका प्रसंग कष्टरसका प्रसंग है । इसी भेदको महाकवि भवभूतिने उत्तर रामचरितमे इस प्रकार दिखलाया है—

उपायाना भावाविरलचिनोदव्यक्तिकरै,  
विमर्दैर्वीराणां जनितजगत्पदमुत्तरस ।  
वियोगो मुग्धाद्या स रज्जु रिपुघातावधिरभूत्,  
कटुस्तूष्णी सहो निरवधिरयं तु प्रविलय ॥

कष्टा तथा विप्रलम्भ दोनोंमे प्रियजनका वियोग होता है । उस वियोगमे दोनों जगह दुःखी व्यक्ति रदन विलाप आदि करता है । पर इन दोनोंका भेद कराने वाली सीमा रेखा मृत्यु है । मृत्युके पहले वाला वियोग विप्रलम्भका क्षेत्र है और मृत्युके बादका वियोग कष्ट का क्षेत्र है । विप्रलम्भशृङ्गारमे पति-पत्नीका वियोग होता है, पर किसीका मरण नहीं होता है । इसलिए उस वियोगकी अवस्थामे किया जाने वाला रदन और विलापादि सब विप्रलम्भशृङ्गारकी सीमामे आता है । किन्तु जहाँ किसी एककी मृत्यु हो जानेके बाद उसा प्रकारका रदन और विलाप पाया जाता है वह सब कष्टकी सीमामे आता है । कष्टरसकी सीमाका निर्धारण करने वाला यह मृत्यु सभी वास्तविक भी होता है और सभी भवास्तविक भी हो सकता है । भवास्तविक मृत्युका अभिप्राय यह है कि वास्तवमे मृत्यु तो नहीं हुई है किन्तु किसी कारणसे पति पत्नी दोनोंमेंसे किसी एकने अपने दूसरे साथी की मृत्यु समझ ली है । जैसे रामचन्द्रने सीताको वनमे भिजवा देनेके बाद यह समझ लिया है कि 'कव्याङ्गिरङ्गलतिका नियत विमुक्ता' सीताके शरीरको निश्चय ही जगलके मांसमक्षी सिंहादि प्राणी खा गए हैं । यद्यपि सीता मरी नहीं है किन्तु रामचन्द्रने उसको मरा हुआ समझ लिया है । फलत उत्तररामचरितमे किया गया रामचन्द्रका सारा विलाप कष्टरसका विषय, और उत्तररामचरितको कष्टरस प्रधान नाटक माना जाता है । इसीलिए उत्तररामचरितमे सीताके इस वियोगको 'निरवधिरयं तु प्रविलय' कहा गया है ।

रसका आश्रय—

इस प्रकार ग्रथवारने यहाँ तक रसोको सुखात्मक और दुःखात्मक दो वर्गोंमे विभक्त करते हुए सारे रसोको सुखात्मक माने जानेके सिद्धांतका विस्तारपूर्वक सन्धन किया है । अब आगे और व्याख्या आरम्भ करते हैं । इसमे भी पहिली पंक्तिमे रसोके आश्रयका निरूपण करते हुए निखते हैं कि—

और रस [मुख्य लोकगत अर्थात्] अनुकार्यगत [अर्थात् रागादिगत] होता है अथवा समाजिकगत होता है [अर्थात् मुख्य रूपसे नटके रस नहीं रहता है] और काव्यमे [काव्यके] धोता अथवा निर्माता [अनुसन्धायक] इन दोमे रहता है । [आगे चारिकामे आए हुए 'स्पष्टानुभावनिश्चेय' पदकी व्याख्या करते हैं] 'स्पष्टा' इससे स्पष्ट अर्थात् भली प्रकारसे निर्णीत

परम्थानपि रसानवबोधयन्तीति अनुभावा । स्तम्भ-स्वेद-अश्रु-रोमान्ध-भ्रूक्षेप-आदयः । तैर्यथासम्भवं सत्तया निश्चयः ।

इह तावत् सर्वलोफप्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः । सा च न प्रत्यक्षा चेतो-धर्माणामतीन्द्रियत्वात् । तस्मात् परोक्षैव । परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वरत्वन्तरान् । अत्र च रसेऽन्यस्य वस्तुन्तरस्यासम्भवात् कार्यमेवाविनाश्रुतम् ।

[अनुभावोके द्वारा रसका निश्चय होता है] । क्योंकि असंदिग्ध ही लिङ्ग [अनुभाषक] होता है । [आगे इस पदमे आए हुए 'अनुभाव' पदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अनुभव कराते हैं अर्थात् दूसरेमे रहने वाले रसोंको लक्षित करते हैं इसलिए ['अनुभावयन्ति इति अनुभावा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, रोमाञ्च, भ्रूक्षेप आदि 'अनुभाव' [कहाते] हैं । उनके द्वारा यथासम्भव सङ्गमे निश्चय किया जानेवाला [रस्यादि स्थायिभाव रस कहलाता है] ।

यहाँ [काव्य नाटक आदिमे] दूसरे [रामादि] मे रहने वाले रसकी प्रतीति सारे लोक मे प्रसिद्ध है । [यह अन्त करणवर्तिनी होती है] और अन्तःकरणके धर्मके इन्द्रियग्राह्य न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती है । इसलिए परोक्ष रूप ही है । और परोक्ष प्रतीति उससे अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना वह प्रतीति नहीं बन सकती है इस प्रकारके] शब्द या लिङ्ग आदि रूप] अन्य वस्तुके द्वारा होती है । और रसमें [इस प्रकारकी] अन्य वस्तुका सम्भव न होनेसे उसका कार्य [अर्थात् अनुभाषादि] ही [रसके] अविनाभूत है । इसलिए जहाँके द्वारा रसकी प्रतीति होती है ।

इस पक्षिमे अथकारने यह कहा था कि अनुभावादि कार्य ही रसके अविनाभूत या नान्तरीयक होते हैं इसलिए उनके द्वारा ही रसकी प्रतीति होती है । इसपर यह शका उपस्थित की जा सकती है कि अनुभावादिको रसका नान्तरीयक या अविनाभूत नहीं कहा जा सकता है । इसका कारण यह है कि रसका अविनाभूत केवल उनको कहा जा सकता है जो रसके बिना हो ही न सकें । स्तम्भ स्वेदादि अनुभावोकी वह स्थिति नहीं है । वे तो रसके बिना भी हो सकते हैं । जैसे अभी ऊपर कहा जा चुका है कि रस या तो मुख्य लोक अर्थात् रामादिमे रहता है अथवा प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकमे रहता है नटमे रस मुख्य रूपसे नहीं रहता है । किन्तु रसका अभाव होनेपर भी नटमे स्तम्भ-स्वेदादि अनुभाव पाए जाते हैं । इसलिए वे रसके अविनाभूत या नान्तरीयक नहीं है । तब उनके रसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

इस शकाका समाधान अन्यकार दो प्रकारसे करते हैं । पहिला समाधान तो यह है कि हम नटगत स्वेदादि अनुभावोके द्वारा रसकी अनुभूति नहीं मानते हैं । क्योंकि हमने 'कार्य-मेवाविनाभूत' कहा है । हम रसके कार्यरूप अनुभावोको रसका अविनाभूत कहते हैं । नटगत स्तम्भादि रसके कार्य नहीं अपितु कारण है । नटगत स्तम्भ-स्वेदादिको देखकर प्रेक्षक या सामाजिकमे रसानुभूति होती है । इसलिए नटगत स्तम्भ स्वेद अश्रु आदि सामाजिकगत रसके कारण हैं, कार्य नहीं । प्रेक्षकगत अश्रु आदि उसके कार्य हैं । उन प्रेक्षकगत अनुभावादिको देखकर दूसरोको परस्थ रसकी प्रतीति होती है । यह अन्यकारके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रथम समाधानका अभिप्राय है ।

इस समाधानके विषयमे एक बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी यह है कि यहाँ अन्यकार ने प्रेक्षकगत अनुभावादिको कार्यरूप कहा है, और उनके द्वारा 'परस्थ' रसकी प्रतीतिका

परगतविभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रमाभावेऽपि स्तम्भ-  
स्वेदादयो भवन्तीति, तेषां रसनान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम् । तेषां परगतरसजनकत्वेना-  
कार्यत्वान् । नटगता हि स्तम्भादयः प्रेक्षकगतरसानां कारणम् । प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि ।

परोक्षं चार्थं बुभुक्षुना परोक्षार्थ-नान्तरीयके लिङ्गस्वरूपे निपुणेन प्रतिपत्त्रा  
भाष्यम् ।

उपपादन किया है । यह सिद्धांत अन्य सिद्धांतोंसे विलक्षण है । अन्य सिद्धांतोंमें रसको  
साक्षात्कारात्मक ग्रहणानन्द सहोदर माना गया है । परन्तु यहाँ रसकी परोक्षात्मक प्रौर  
परस्पर प्रतीति का उपपादन किया गया है ।

पक्षियों का अर्थ निम्न प्रकार है—

दूसरोंके मनोरञ्जनकेलिए, दूसरोंमें [अर्थात् अनुकार्य राम आदिमें] रहनेवाले  
विभावके अनुकरणमें प्रवृत्त होनेवाले नटमें रसका अभाव होनेपरभी स्तम्भ स्वेदादि [अनुभाव]  
होते हैं इससे उनके रसके अविनाश्रुत न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए । क्योंकि ये  
[अर्थात् नटगत स्तम्भ स्वेदादि अनुभाव] परगत [अर्थात् सामाजिकमें रहनेवाले] रसके  
जनक होनेसे [रसके] कार्य नहीं [अपितु कारण] होते हैं । नटगत स्तम्भ आदि सामाजिकगत  
रसोंके कारण होते हैं । सामाजिकगत [स्तम्भ आदि] के [रस के] कार्य होते हैं ।

अनुमितिवाद—

ग्रन्थकारने यहाँ यद्यपि नामत किसीके मतका उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके  
इस लेखसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विषयमें शकुन्तलेके अनुमितिवादका अनुसरण कर रहे  
हैं । परन्तु इनका अनुमितिवाद भी भरत सूत्रके व्याख्याता आचार्य शकुन्तलेके अनुमितिवादसे कुछ  
भिन्न-सा है । शकुन्तलेके मतमें नटगत अनुभावादसे रसकी अनुमति मानी गई है । परन्तु यहाँ  
सामाजिकगत अनुभावादिके द्वारा उसकी अनुमति का प्रतिपादन किया गया है ।

परोक्ष अर्थकी जाननेकी इच्छा रखने वालेकी परोक्ष अर्थके अविनाश्रुत लिंगके स्वदृष्टके  
समझनेमें निपुण साक्षात् होना चाहिए ।।

इस पक्षिका अभिप्राय यह है कि परस्पर रसका अनुमान करने वाला व्यक्ति इस  
विषयकी भली प्रकार समझता हो कि अमुक प्रकारके अनुभाव अमुक प्रकारकी मन स्थिति  
में होते हैं । तभी वह सामाजिक या प्रेक्षकगत विशेष प्रकारके अनुभावोंको देखकर उसमें  
शृङ्गार वीर आदि विशेष रसोंका अनुमान कर सकता है । इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ  
परगत रसके अनुमानका प्रकार तो दिखला दिया । किन्तु प्रेक्षकगत अनुभावादिके रसकी  
प्रतीति किसकी होती है यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है । सभी प्रेक्षकोंको एक-दूसरेमें रहने  
वाले रसकी परोक्ष प्रतीति होती है यही एक समाधान इस प्रश्नका हो सकता है किन्तु वह  
कुछ उचित प्रतीत नहीं होता है । रसकी प्रतीति सामाजिकको साक्षात्कारात्मक होती है तभी  
उसका आस्वादन बन सकता है । परोक्ष ज्ञानको आस्वादन नहीं कहा जा सकता है । अतः  
यह सिद्धांत युक्तिसंगत नहीं है ।

दूसरा समाधान, नटमें अनुभावोंकी स्थिति—

अनुभावोंके द्वारा रसकी प्रतीति होती है इस सिद्धांतके विषयमें यह कहा उठाई गई  
थी कि अनुभावोंको रसोंका अविनाश्रुत या नान्तरीयक नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि



नटोऽपि च रसं गमयन्त्येव यदा रसकार्या भवन्ति । न च नटस्य रसो न भवतीत्येकान्तः । पण्यस्त्रियो हि धनलोभेन पररत्यर्थं रतादि विपञ्चयन्त्य कदाचित् स्वयमपि परा रतिमनुभवन्ति । गायनाश्च परं रञ्जयन्तः कदाचित् स्वयमपि रञ्जयन्ते । एवं नटोऽपि रामादिगत विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाण कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्येवेति तद्गता अपि रोमाञ्चादयस्तत्र रसं गमयेयुरेव । अत एव 'स्पष्टानुभाव' इत्युक्तम् ।

रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वाद् विभाव-मध्यवर्तिनः । प्रेक्षक-श्रोतृ-अनुसन्धात्रादिस्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापकाः ।

यत्र विभावा परमार्थेन सन्तः प्रतिनियतविषयमेव स्थायिन रसत्वमापादयन्ति, तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्ययः । युवा हि रागवती युवतिमवलम्ब्य तद्विषय-मेव रतिं शृङ्गारतयास्वादयति ।

नटमे रसके न होनेपर भी अनुभाव उत्पन्न होते हैं । तब जिन अनुभावोंकी रसके साथ व्याप्ति या अविनाभाव ही नहीं है उनसे रसकी प्रतीति या अनुमिति कैसे हो सकती है ? इस शकाका एक समाधान ग्रन्थकारने यह दिया कि नटगत अनुभावोंसे रसकी प्रतीति नहीं होती है अपितु प्रेक्षकगत कार्यभूत अनुभावोंसे रसकी प्रतीति होती है । अब इसी विषयमें दूसरा समाधान यह दे रहे हैं कि नटमे रस नहीं होता है यह बात भी नहीं है । नटमे भी रस हो सकता है । इसलिए नटगत अनुभाव भी रसके अविनाभूत है । इसी बातको ग्रन्थकार अगनी पक्षियोम निम्न प्रकार लिखते हैं—

[नटमे रहने वाले अनुभावादि] जब [नटगत] रसके कार्य [अर्थात् नटगत रससे उत्पन्न] होते हैं तब ये नटमे भी रसका अनुमान कराते हैं । और नटमे रस होता ही नहीं है यह कोई नियम नहीं है । वेध्याएँ जो धनके लोभसे दूसरोंको [भोगके लिए] रति आदिका प्रवसर देती हैं कभी स्वयं भी अत्यन्त आनन्दका अनुभव करती हैं । और गाने वाले दूसरोंके मनोरजनके लिए गाते हुए कभी स्वयं भी आनन्द भञ्ज हो जाते हैं । इसी प्रकार नट भी रामादिगत विप्रलम्भशृङ्गारका अनुकरण करते हुए कभी स्वयं भी तन्मयीभावकी प्राप्ति हो जाता है । इसलिए उसमे रहने वाले रोमाञ्च आदि [अनुभाव] भी [उसके भीतर रहने वाले] रसका अनुमान कराते हैं । इसीलिए [कारिका]में 'स्पष्टानुभावतिश्चेय' यह कहा गया है । [अर्थात् प्रेक्षकमे या नटमे जहाँ भी रसके कार्यभूत अनुभव स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो वहाँ ये रसका अनुमान करा सकते हैं] ।

[लोकमे] स्त्री, पुरुष, नट, तथा काव्यमे स्थित जो रोमाञ्च आदि [अनुभाव] होते हैं वे प्रयोगे [स्थित] रसके जनक होनेसे [रसके कारणभूत] विभावोंमे [गिने जाते] हैं । [इसके विपरीत नाटकादि दृश्य-वाक्यके] प्रेक्षक [ध्वज-वाक्यके] श्रोता तथा [उन दोनोंके] अनुसंग्याता [अर्थात् निर्माता वदि]मे स्थित [रोमाञ्चादि] तो रसके कार्य रूप होनेसे [रसके व्यवस्थापक अर्थात्] निश्चायक होते हैं ।

जहाँ [अर्थात् लोकमें] वास्तविक रूपसे स्थित विभाव [सीता राम आदि] निश्चित व्यक्ति-विशेषमें [रति आदि रूप] स्थायिभावकी रसकृतताकी प्राप्ति कराते हैं वहाँ रसका आस्वाद नियत व्यक्ति-विशेषमे होता है । जैसे कि [लोकमें कोई] युवक किसी युवतीको लेकर

यत्र तु परानुक्तां ज्वन्तितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति, तत्र न नियतविषय शृङ्गाररसास्वादः । विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात् । वन्द्युशोकार्ता च रुदती स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव कहररसास्वादः । एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष-सामान्य-विषयत्वं द्रष्टव्यम् ।

उसके विषयमें अपने रतिको शृङ्गाररसके रूपमें आस्वादन करता है । [इसी प्रकार लोकमें वास्तविक रूपसे विद्यमान सीता-रामादि रूप विभावमें नियत विशेषसे सम्बद्ध रूपमें ही रसास्वादको अनुभूति होती है । यहाँ रसकी प्रतीति विशेष-विषयक और लौकिकी हुई । आगे सामान्य-विषयक रसकी प्रतीतिकी अलौकिकता का उपपादन करते हैं] ।

जहाँ [लोकमें वास्तविक रूपमें स्थित, पर] अन्यमें अनुभवत धनिताको [अर्थात् परकीया नायिका] को लेकर [अनेक व्यक्तियोंमें] सामान्य विषयक रति परिधोषण होता है यहाँ नियत व्यक्तिविशेषसे सम्बद्ध रूपमें शृङ्गाररसका आस्वाद नहीं होता है [अर्थात् एक स्त्रीसे अनेक व्यक्तिवर्गोंको सामान्यरूपसे शृङ्गारानुभूति होती है] क्योंकि [ऐसे उदाहरणोंमें स्त्री प्रादि रूप] विभावसे सामान्य रूपसे [अनेक व्यक्ति विषयक रतिका प्रादि] स्थायिभाव का प्राविर्भाव होनेसे [सामान्य-विषयक ही रसास्वाद होता है] । इसी प्रकार अपने किसी प्रिय वस्तुके प्रियोगसे पीडित युवतिकी रोते हुए देखकर [देखने वाले अनेक व्यक्तियोंको] सामान्य विषयक ही कहररसका आस्वाद होता है । [इस प्रकार इन दो उदाहरणोंके द्वारा ग्रन्थकारने यह विललाया है कि शृङ्गार और कहर दोनों रसोंकी सामान्य-विषयक तथा विशेष-विषयक दोनों प्रकारकी स्थिति होती है । यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिए । इसी बातकी अगली पंक्ति में लिखते हैं] । इसी प्रकार अन्य रसोंमें भी सामान्य-विषयत्व और विशेष-विषयत्व समझ लेना चाहिए ।

यह जो रसोंका सामान्य-विषयत्व तथा विशेष-विषयत्व दिखलाया है वह वास्तविक रूपसे विद्यमान 'परमार्थेन सन्त' विभावादिके द्वारा उत्पन्न रसोंके विषयमें कहा गया है । 'परमार्थसत्ता' वास्तविक रूपमें विद्यमान विभावादिकी स्थिति लोकमें ही होती है, नाट्य नाटक प्रादिमें नहीं । इसलिए यह सामान्य और विशेषगत द्विविध रसोंकी स्थिति भी लोक में ही हो सकती है । काव्य या नाटकमें नहीं । काव्य और नाटकमें साधारणीकरण व्यापार द्वारा सामान्य रूपसे अनेक व्यक्तियोंमें रसकी अनुभूति होती है । इस बातको अगले प्रकरणमें दिखला रहे हैं । किन्तु यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है और वह यह बात है कि अन्य प्राचार्योंने रसको अलौकिक माना है । लोकमें होने वाली स्त्री-पुरुषकी परस्पर रतिको अन्य प्राचार्योंने रस नहीं माना है । नाट्य नाटकमें होने वाले विभावादिको ही उन लोगोंने विभावादि शब्दसे कहा है । उनके मतमें विभावादि शब्द भी लोकमें नहीं नाट्य नाटकके क्षेत्रमें ही सीमित शब्द है । यहाँ ग्रन्थकारने लौकिक स्त्री-पुरुष प्रादिको भी 'विभावादि' शब्दोंसे और उनकी रति प्रादिको भी 'रस' शब्दसे निर्दिष्ट किया है । इसीलिए उन्होंने सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसोंकी स्थिति मानी है । उनका यह सिद्धान्त अन्य प्राचार्योंसे विनिरास है ।

इस प्रकार लौकिक रसादि-विषयक विवेचना करनेके बाद अब ग्रन्थकार अगले प्रकरणमें नाट्य-नाटकगत रसोंकी विवेचना करते हुए लिखते हैं—

ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृ-  
अनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति । अत्र च विषय-  
विभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः । न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य  
सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति । अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः । नियतविषयस्मरणा  
दिना स्थायिनः । प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः ।

तथा अपरमार्थसतां,<sup>१</sup> अभिनय-काव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारण-  
त्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा, इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-  
व्यवच्छेदेन ।

घोर वास्तविक रूपमें न होनेपर भी काव्य या अभिनय [नाटक] के द्वारा विद्यमानसे  
प्रतीत होनेवाले जो विभावादि हैं वे [काव्यके] अंशों, अनुसन्धाता [अर्थात् निर्माता] तथा  
प्रेक्षक [तीनोंमें] सामान्य विषयक स्थायिभावको ही रसरूपताको प्राप्त कराते हैं । यहाँ  
[अर्थात् काव्यनाटकमें] विषय-विभागकी अपेक्षा न करने वाला रसास्वाद होता है । [अर्थात्  
काव्य नाटक आदिमें सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक दो प्रकारका रसोद्बोध नहीं होता  
है ] । रामके सीता-विषयक शृङ्गारका अनुकरण होनेपर सामाजिकमें सीता विषयक [अर्थात्  
व्यक्ति विशेषसे सम्बद्ध] शृङ्गारानुभूति नहीं होती है अपितु सामान्य स्त्री-विषयक [शृङ्गारकी  
ही अनुभूति होती है । लोकमें नियत विषयके विद्यमान न होनेपर भी] नियत विषयके स्मरणदि-  
से नियत-विषयक [अर्थात् उस स्मर्यमाण व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध] ही रसास्वाद होता है ।

अर्थात् लोकमें भी विभावादिकी वास्तविक रूपसे विद्यमान घोर वास्तविक रूपसे  
अविद्यमान होनेपर भी स्मर्यमाण, दो रूपोंमें स्थिति हो सकती है । घोर उनसे विशेष-विषयक  
अर्थात् विशेष-व्यक्तिसे सम्बद्ध रूपमें भी रसानुभूति हो सकती है । किन्तु काव्य और नाट्य  
में विभावादि वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं । केवल काव्य तथा अभिनयके द्वारा  
समर्पित होते हैं । इसलिये उनसे विशेष-विषयक रसानुभूति न होकर सामान्य-विषयक रसा-  
नुभूति ही होती है । इस बातको भगली पक्षियोंको इस प्रकार सिखते हैं—

घोर वास्तवमें अविद्यमान किन्तु [केवल] काव्य तथा अभिनयकेद्वारा समर्पित विभावोंके  
अनेक पुष्टियों लिए समान होनेसे [बहुसाधारणत्वात्] जो [उन बहुतसे सामाजिकोंमेंसे] किसी  
एकका रसास्वाद है वह अन्यका प्रतिक्षेपक रूप [अर्थात् अन्योकी रसानुभूतिमें बाधक] न होने  
से [उस विशेष सामाजिकमें] अयोगव्यवच्छेदसे [अर्थात् अवश्य] रहता है, अन्ययोग-व्यवच्छेदक  
[अर्थात् अन्योमें उसकी स्थितिमें बाधक बनकर] नहीं रहता है ।

यहाँ 'य एकस्य रसास्वाद' सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-  
व्यवच्छेदेन' यह सारी पक्षि तनिक विलग्न पक्षि है । पक्षिने आरम्भमें 'तथा परमार्थसता'  
पद भी सदिग्ध-सा या भ्रमजनक हो सकता है । उसमें 'तथा' के आगे 'परमार्थसता' पदच्छेद  
न करके 'तथा अपरमार्थसता' इस प्रकारका पदच्छेद करना चाहिए । क्योंकि काव्य नाटक  
आदिमें जो विभावादि होते हैं वे 'परमार्थसत्' वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं । इस-  
लिये यहाँ 'तथा अपरमार्थसता' यही पदच्छेद करना उचित है । इसके बाद 'य एकस्य रसा-  
स्वादः सोऽन्यान् प्रति क्षेपात्मा' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणमें दया था । पूर्व पाठमें समान

अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव  
प्राप्ताः । यदा हि विभावैः रत्यादिभिः, काव्यनाट्यगतैर्वा अन्यस्य रत्यादयो रसोन्मुख-  
त्वेनोन्मील्यन्ते, तदा यथायोगं व्यभिचारिणोऽपि तत्र प्रादुर्पन्ति । न हि रत्यादिचिन्तां  
शृङ्गारो, धृति हास्यो, विपादं करुणो, अमर्षं रौद्रो, हर्षं वीरः, त्रासं भयानकः, शंकां  
वीभत्सः, औत्सुक्यमद्भुतो, निर्वेदं शान्तः सहचारिणं विना प्रादुर्भवति ।

अन्यगतचेतसो विरक्तचेतसो वा, वाक्यार्थावबोधे वनितादिदर्शनेऽपि वा  
चिन्ताशभावे रसाभावात् । सौन्दर्यादाशुभावाच्च क्वचिदनुपलक्ष्येऽपि न दोषः ।  
प्रादुर्भूतारथ व्यभिचारिणो रसोन्मुखं स्थायिनं पोषयन्तो रसत्वमापादयन्ति । अत एव  
रसत्वोन्मुखानां स्थायिनां व्यभिचारिणः सहचारिणो, विभावास्तु प्राग्भाविनः ।

है । जिसकी चितवृत्ति हो वह व्यक्ति उस चितवृत्तिका आधार हुआ । चितवृत्ति-विशेष ही  
रस है । [इसलिए इस प्रतीतिमें उसके आधारभूत रसिकता सम्बन्ध प्रबल रहता है । यह  
प्रत्यकारका अभिप्राय है] ।

और यहाँ विभावोंसे आविर्भूत होने वाले रति आदि [स्यापिभाव] को पुष्ट करने  
वाले व्यभिचारिभाव रसिकगत ही लेने चाहिए । [नटगत या अनुकार्यगत व्यभिचारिप्रति  
सामाजिकगत रत्यादिकी पुष्टि नहीं होती है यह अभिप्राय है] । जब [लोकमें] स्त्री आदि  
विभावोंसे, अथवा काव्य नाट्यगत विभावोंसे दूसरोंको रत्यादिका रसोन्मुख रूपसे उन्मीलन  
होता है तब [उन सामाजिकों] के भीतर प्रयोजित व्यभिचारिभावोंका भी आविर्भाव होता  
है । क्योंकि स्त्री आदिकी चिन्ता [रूप व्यभिचारिभाव] के बिना शृङ्गाररस, धृति [रूप  
व्यभिचारिभाव] के बिना हास्य, विपाद [रूप व्यभिचारिभाव] के बिना करुण, अमर्षके  
बिना रौद्र, हर्षके बिना वीर, त्रास [रूप सहचारी] के बिना भयानक, शंका [रूप सहचारी]  
के बिना वीभत्स, औत्सुक्य [रूप सहचारी] के बिना अद्भुत, और निर्वेद [रूप सहचारी]  
के बिना शान्तका आविर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि चितके दूसरी ओर लगे होनेपर  
अथवा विरक्तचित्तको चिन्तादि [सहचारियों] के अभावमें [काव्य नाट्यके] वाक्योंके प्रपञ्च  
ज्ञान होने अथवा [साक्षात् रूपमें] स्त्री आदिके दर्शन होनेपर भी शृङ्गार रसकी अनुभूति या  
उत्पत्ति नहीं होती है । [कहाँ यदि चित्तारिके बिना भी रसकी प्रतीति अनुभव हो तो वहाँ  
यह समझना चाहिए कि] सूक्ष्म होनेके कारण अथवा अत्यन्त क्षीप्रताके कारण [उन सह-  
चारियोंकी स्थिति होनेपर भी] उनके न दिखलाई देनेके कारण उसमें कोई दोष नहीं आता  
है । [इस प्रकार लौकिक स्त्री आदि विभावों अथवा काव्य नाट्यगत विभावोंसे रसिकोंमें]  
प्रादुर्भूत होने वाले व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्यापिभावको पुष्ट करते हुए [उसको] रसावकी  
प्राप्त कराते हैं । इसीलिए व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्यापिभावोंके सहचारी [बहसादे] हैं ।  
और विभाव तो [स्यापिभावोंके] पूर्ववर्ती [प्रणीत कारण बहसाते] हैं ।

रसके सहायकी कारिकामें ग्रंथकारने 'चित्तोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः' यह कहा  
या । इनमें व्यभिचारिभावसे प्रवृत्त रसिकगत व्यभिचारिभावोंका ग्रहण करना चाहते हैं ।  
यद्यपि व्यभिचारिभाव नटादिमें भी हो सकते हैं किन्तु उन सबको वे केवल विभाव मानते हैं ।  
नटगत अनुभाव व्यभिचारिभाव ग्रन्थकारकी दृष्टिमें विभावकीटिके ही अन्तर्गत होते हैं ।  
इसलिए यहाँ व्यभिचारिभाव सामाजिकगत ही लेने चाहिए । इसी बातको और अधिक स्पष्ट

ये पुनः स्यादिगताः काव्याभिनयोपदर्शितारश्च व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसोन्मुखत्वेन स्थायिनमुन्मीलयन्ति । ते विभावा एव जनकत्वात् । व्यभिचारि-अनुभावव्यपदेशः पुनरेतेषां स्याद्यपेक्षया, वर्णनीयानुकायपेक्षया च ।

यद्युच्यते—‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः’ इति तत्राप्यनुभावा व्यभिचारिणश्च स्यादिवर्णनीयानुकायपेक्षयैव द्रष्टव्याः ।

तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गमः सुख-दुःखात्मा (१) लोकस्य (२) नटस्य (३-४) काव्य-श्रोतृ-अनुसन्धात्रोः (५) प्रेक्षकस्य च रसः । केवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो, विभावानां परमार्थसत्त्वात् । अत एव व्याभिचारिणोऽनुभावाश्च

एव प्रागे लिखते हैं—

श्रीर [लोकमे] जो स्त्री आदिमे रहने वाले अथवा [काव्य तथा नाटकमे] काव्य तथा अभिनयके द्वारा स्थापित व्यभिचारिभाव अथवा अनुभाव होते हैं वे दूसरोंके भीतर [अर्थात् सामाजिकोंके हृदयमे] स्थायिभावको रसोन्मुख बनाते हैं । इसलिये [रसानुभूतिके] कारण रूप होनेसे विभाव ही कहलाते हैं । उनके लिए व्यभिचारिभाव या अनुभाव शब्दका प्रयोग [सामाजिकोंकी दृष्टिसे नहीं होता है अपितु लोकमे केवल] स्त्री आदिकी अपेक्षासे श्रीर [काव्य नाटकमे] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे हो होता है । [अर्थात् अनुकार्य रामादिमे अथवा नटमे अथवा लोकमें स्त्री आदि निष्ठ जो अनुभाव या व्यभिचारिभाव होते हैं वे उन लोगोंकी दृष्टिसे तो अनुभाव या व्यभिचारिभाव कहे जा सकते हैं किन्तु सामाजिकोंकी दृष्टिसे वे सब रसके कारण रूप होनेसे विभाव ही कहे जाते हैं । स्थायिभावोंकी पुष्टिके लिए यहाँ जिन अनुभावों तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण किया गया है वे रसिकगत अर्थात् सामाजिकगत अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव ही हो सकते हैं ।

श्रीर [भारतमुनिमे] जो “विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है” यह कहा है यहाँ भी अनुभाव श्रीर व्यभिचारिभाव [लोकमे] स्त्री आदि [श्रीर काव्य नाटकमे] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे ही समझने चाहिए ।

इस प्रकार अन्यकारके मध्यमे रसकी प्रतीति या रसानुभूतिके आधार वार होते हैं । लोकमे (१) स्त्री आदि विभावोमे भी रसकी प्रतीति होती है और (२) उनको देखने वाले प्रेक्षकोंको भी । स्त्री आदिकी रसानुभूति स्वगत और प्रत्यक्षरूपमे होती है । प्रेक्षकोंकी रस-प्रतीति परगत और परोक्षरूपमे होती है । नाटकमे (३) नटकी स्वगत प्रत्यक्षरूपमे, रसप्रतीति श्रीर (४) प्रेक्षकोंके उस नटगत या परगत रसकी परोक्षरूपमे प्रतीति होती है । इसी बात की धुने अनुच्छेद मे निम्न प्रकार कहते हैं—

इस प्रकार (१) [लोकस्य] लोककी [अर्थात् लौकिक रूपमे स्थित पुरुषको], (२) [नटस्य अर्थात्] नटकी, (३) काव्य [तथा नाटक दोनों] के श्रोता, तथा (४) अनुसन्धाता [अर्थात् कर्ता] को एवं (५) प्रेक्षक [सामाजिक] को [इन पाँचोंको दो भागोंमें विभक्त करने पर पहिले चारको एक कोटिमें रखनेसे उन चारोंके एक समको स्वतः प्रत्यक्ष रूपमे तथा पाँचवों प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकको परगत और परोक्ष रूपमे रसकी प्रतीति होती है । इसी बातको यहाँ ‘स्व परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां’ शब्दसे कहा है] स्व तथा परकी [अमशः] प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूपसे सुख-दुःखरूप रस प्रतीत होता है । इसमेंसे भी [लोकमें] केवल पुरुष स्त्री-

रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः । अन्यत्र तु प्रेक्षकादीं ध्यामहेनैव रूपेण । विभावानाम-  
परमार्थसत्तामेव काव्यादिना दर्शनात् । अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानु-  
सारेणास्पृष्टा एव । अत एव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते ।

काव्यस्य च रसाविर्भावकविभाववत्त्वात् सरसत्वम् । न पुन. काव्यमेव रस,  
काव्ये आधारे वा रसः । श्रितोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूपः स्थायी भावो रसः । चचे-  
तनस्य काव्यस्यात्मा आधेयो वा कथं स्यात् ? सत. काव्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्त्यां  
रसाविर्भावः ।

प्रतिपत्तारचात्मस्य सुखमिव रसमास्वादयन्ति । न पुनर्वहिरर्थं रसं मोदक-  
मिव प्रतिपन्ति । अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य । न हि यद्विस्थस्य  
रसस्य प्रत्ययमात्रेण रसास्वादश्चर्चणात्मकः संगच्छते । भवानक-कहणविभावादि  
काव्यार्थात् प्रतिपत्तश्चेतोधर्मतया स्थितौ भय-शोकौ भवानक-कहणनया परिणमतः ।  
यदि च प्रतिपत्तुः स्थायी एव न रसतया भवति तदा वहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययोऽपि न

पुरुषमे विभावोके वास्तविक होनेसे रसकी स्पष्टरूपसे प्रतीति होती है । इसलिये उनमे रससे  
उत्पन्न होने वाले [रसके कार्यभूत] अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्पष्टरूप होते हैं । अग्यत्र  
प्रेक्षक आदिमे [ध्यामल अर्थसु] अस्पष्ट रूपमे हो [अनुभाव व्यभिचारिभाव होते हैं] काव्या-  
दिके द्वारा वास्तवमे अविद्यमान विभावादिके ही उपस्थित किए जानेसे [उनके द्वारा होनेवाली  
रसप्रतीति भी अस्पष्ट हो जाती है] । इसीलिए [प्रेक्षकादिमे] व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव  
भी रसके अनुसार अस्पष्ट हो होते हैं । अत एव प्रेक्षक आदिमे रहने वाला रस [अतए  
विभावोसे उत्पन्न और अस्पष्ट अनुभाव व्यभिचारिभाव युक्त होनेसे] लोकोत्तर कहलाता है ।

रसके आविर्भाव करानेवाले विभावादिके युक्त होनेसे काव्यको सरस माना जाता है ।  
न तो काव्य ही रस है और न काव्य रूप आधारमे रस रहता है । [इसलिए काव्यकी सर-  
सताका उपपादन रसके आविर्भावक विभावादिके उत्तम विद्यमान होनेके कारण ही किया जा  
सकता है] । परिपुष्ट हृत्ता विलयुक्ति रूप स्थायिभाव ही रस [कहलाता] है । वह प्रवेतन  
काव्यका आरम्भ वा आधेय नहीं हो सकता है । इसलिये काव्यके अर्थको समझ लेनेके बाद  
समझने वाले [प्रेक्षक या श्रोता] के भीतर रसका अविर्भाव होता है ।

और अनुभव करने वाले [प्रेक्षकादि] अपने भीतर रहने वाले सुखमे समान, रसका  
आस्वादन करते हैं । मोदक आदिके समान बाहर रहने वाले रसका ग्रहण नहीं करते ।  
मोदक आदिका आस्वादन अग्य प्रकारका होता है और रसका ज्ञान और तरहका । बाहर  
रहने वाले रसके ज्ञानमात्रसे चर्चणात्मक रसास्वादका उपपादन नहीं हो सकता है [अर्थात्  
यदि मोदकादिके समान रसको यद्विस्थ बाहर रहनेवाला मान लिया जाय तो उसकी चर्चणात्मा  
उपपादन नहीं हो सकता है] । इसलिये बाहर रसका अनुभव नहीं होता है अथिषु अनुभव करने  
वालेके हृदयमे भीतर रहने वाले सुखादिके समान ही रसका आस्वादन होता है] । क्योंकि  
भवानक तथा कहण विभावोका वर्णन करने वाले काव्यके अर्थसे ज्ञाता [सामाजिक] ने  
विस परमे रूपमे स्थित भय तथा शोक [स्थायिभाव] भवानक तथा कहण रसके रूपमे परि-  
णत हो जाते हैं । यदि सामाजिकका स्थायिभाव ही रस रूप न माना जाय तो फिर बाहर  
रहनेवाले रसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती है । क्योंकि काव्य या नटने या नहीं अग्यत्र रस

प्राप्नोति । काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्यासत्त्वात् । असत्तरचापि प्रत्यये अहृदयस्यापि प्रतीति स्यात् । ततो विभावप्रतिपादककाव्यप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तुरेव स्थायी रसो भवति । वद्वेतुत्याच्च काव्यं रसवदिति ॥ [७] १०६ ॥

अथ रसभेदकथनावसरेऽपि प्रस्तावगतानामनुभावादिसंज्ञानां विपर्य लक्ष्यति—

[सूत्र १६४]—कार्य-हेतुः सहचारी स्याद्यादेः काव्यवर्त्मनि ।

अनुभावो विभावश्च व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥ [८] ११० ॥

स्थायिना आदिशब्दाद् रसभावानां च यथासम्भवं ये लोकसिद्धा कार्य-हेतु-सहचारिण, ते काव्यवर्त्मनि अभिनेयानभिनेयभेदभिन्ने यथासंग्य अनुभाव-विभाव-व्यभिचारिसंज्ञाभि कीर्त्यन्ते । काव्यसंस्कारविरस्कृतात्मभि कदाचिद्लोकेऽप्येवं व्यय-द्वियन्ते । तत्र अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भात्रयन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः, स्तम्भादयः । वासनात्मतया स्थितं स्थायिन रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आधिर्भावना-विशेषण प्रयोजयन्ति इति आलम्ब्य-उद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः । रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिणः । आभिमुख्यं

रहता ही नहीं है । [तो फिर उसकी प्रतीति हो कैसे हो सकेगी ? और [सामाजिकके भीतर] प्रविष्टमान [रस]की प्रतीति माननेपर तो असहृदयोंकी भी होने लगेगी । इसलिये विभावविके प्रतिपादक काव्यको समझनेके बाद प्रतिपत्ता सामाजिकके भीतर रहने वाला स्वाधिभाव ही रस बन जाता है । और उसका कारण होनेसे काव्य रसबत् कहलाता है ॥ [७] १०६ ॥

अब रसके भेदोंके कथनका अवसर होनेपर भी प्रकरणमें आए हुए अनुभाव आदि सत्ताश्रोका विषय बतलाते हैं [अर्थात् अनुभाव आदिका लक्षण करते हैं] ।

स्वाधिभाव आदिके [ लोकसिद्ध ] कार्य, कारण और सहचारियोंको काव्यमार्गमें समझ अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव कहा जाता है ॥ [८] ११० ॥

स्वाधिभावोंके, और आदि-शब्दसे रस तथा [रसिद्धेवादिविषय भाव आदि लक्षणके अनुसार देवादि-विषयक रति-रूप] भावोंके जो लोकसिद्ध यथासम्भव कार्य, कारण और सहकारी होते हैं वे अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकारके काव्यमार्गमें समझ अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव नामोंसे कहे जाते हैं, और काव्यसंस्कारसे प्रभावित लोगोंके द्वारा सभी सभी लोकमें भी इसी प्रकार [अर्थात् अनुभाव आदि नामोंसे] कहे जाते हैं । [आगे इन तीन शब्दों का अर्थवचन दिलाते हैं] उनमेंसे अनु' अर्थात् लिङ्गके निश्चयके बाद [रसको] भावित अर्थात् घोषित करने वाले होनेसे [कार्य रूप] स्तम्भ आदि [रसके कार्य] 'अनुभाव' कहलाते हैं । [यह अनुभाव शब्दका अर्थवचन हुआ । आगे विभाव शब्दका निश्चय करते हैं] । वासना रूपसे स्थित, रसरूपताको प्राप्त होनेवाले, [ रथादि ] स्वाधिभावको विशेष रूपसे भावित करते हैं अर्थात् विशेष रूपसे आविर्भूत करते हैं वे ललना और उद्यानादिरूप [रसके समझ] आलम्ब्य तथा उद्दीपन रूप [कारण] 'विभाव' कहलाते हैं । [आगे व्यभिचारिभाव शब्दका निश्चय करते हैं] । रसोन्मुख स्वाधिभावके प्रति विशेष प्रकारके आभिमुख्यसे चरण करनेवाले अर्थात् चित्तमान होनेवाले होनेसे 'व्यभिचारिभाव' कहलाते हैं । [ 'आभिमुख्येन चरन्ति'में ] 'आभिमुख्य'का अर्थ वोधकत्व है । [आगे व्यभिचारिभाव शब्दका दूसरे प्रकारका

च पोपकत्वम् । यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः, स्वविभाव्यव्यभिचारिणः भावे भावात्, अभावेऽभावाच्च । रसायनमुप-युक्तवतो हि ग्लानि-श्रालस्य-श्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव ।

तत्र स्थायिनो रत्यादयः संविदात्मकत्वादजडा एव । धैर्यादीनां स्वेदादीनां चानुभावानां वनितादीनां पर्वतादीनां च विभावानां, निर्वेदादीनां व्याध्यादीनां च व्यभिचारिणां यथासंख्यं संविन्मयत्व-शरीरधर्मत्वादिना जडाजडात्मकत्वम् ।

एते चानुभावादयः स्थायिनं प्रति कार्य-कारण-सहचारिरूपत्वादेवाप्रधानम् । स्थायी तु प्रकर्षप्राप्त्या एषां प्रच्छादकत्वात् प्रधानम् । तथा व्याघ्रादेर्विभावस्य मोघ-

निर्वचन करते हैं] स्थायिभावके विद्यमान होनेपर भी कभी कोई [व्यभिचारिभाव] नहीं होता है इसलिए [स्थायिभावके साथ अनियत अर्थात्] व्यभिचारी होनेसे व्यभिचारिभाव [कहलाते हैं] अर्थात् अपने विभावके होनेपर भी न होनेसे और [अपने विभावादि रूप कारणोंके] न होनेपर भी होनेसे [ये] अपने विभावोंके व्यभिचारिभाव [कहलाते] हैं । क्योंकि रसायनका उपयोग करनेवालोंको ग्लानि, श्रालस्य, यकावट आदि नहीं होते हैं [इसलिए जो अपने कारण के होनेपर अवश्य होता है और उसके न होनेपर नहीं हो होता है वह 'अव्यभिचारी' कहलाता है । और जो कारणके न होनेपर भी हो या कारणके होनेपर भी न हो वह 'व्यभिचारी' कहलाता है ।

उनमेंसे रत्यादिरूप स्थायिभाव ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतनात्मक ही होते हैं । धैर्यादि [रूप मानस] अनुभाव ज्ञानरूप होनेसे अजड तथा स्वेदादि [रूप शारीरिक] अनुभाव जडात्मक [होते] हैं । वनितादि [विभाव चेतन रूप] तथा पर्वतादि विभाव [अचेतन रूप होते हैं] और निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव ज्ञान रूप होनेसे अजड] तथा व्याध्यादि रूप व्यभिचारिभाव [शरीरधर्म होनेसे जडात्मक होते हैं] अतः ये क्रमशः [ज्ञानरूप [अजड] तथा शरीरधर्मादि रूप [जड इस प्रकार] जड और चेतन उभयरूप होते हैं ।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने स्थायिभावोंको केवल चेतनस्वरूप तथा अनुभाव, विभाव एव व्यभिचारिभावोंकी चेतन अचेतन उभयविध माना है । स्थायिभावोंको चेतनस्वरूप मानने का यह हेतु दिया है कि वे ज्ञानात्मक होते हैं । वेदान्तादि शास्त्रोंके अनुसार ज्ञानात्मकता ही चेतनका स्वरूप है । स्थायिभाव ज्ञानात्मक 'संविन्मय' होनेसे चेतन स्वरूप ही है यह ग्रन्थ कारका धाराय है । न्याय सिद्धान्तमें ज्ञान चेतन आत्माका गुण है । स्वयं चेतन नहीं है । नैमायिक गुण और गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्माका भेद मानते हैं । किन्तु वेदान्ती गुण-गुणीका भेद नहीं मानते हैं । इसलिए उनके मतमें ज्ञान चेतनका गुण नहीं अपितु चेतन-स्वरूप ही है । इस सिद्धान्तको लेकर ग्रन्थकारने यहाँ स्थायिभावोंको ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन ही माना है । और अनुभाव, विभाव व व्यभिचारिभावोंमेंसे कुछ ज्ञानरूप भी होते हैं और कुछ ज्ञानसे भिन्न शरीरधर्मभूत भी होते हैं इसलिए उनको जड अजडात्मक अर्थात् उभयरूप माना है । अग्ने स्थायिभावोंकी प्रधानता तथा अनुभाव विभाव आदिको अप्रधानताका हेतु दिखलाते हुए उनके गुण-प्रधानभावका निरूपण करते हैं—

ये अनुभावादि स्थायिभावके प्रति कार्य, कारण तथा सहचारी रूप होनेसे अप्रधान माने जाते हैं । स्थायिभाव प्रकर्षको प्राप्त होकर इन [अनुभावादि] का प्रच्छादन होने जानेने



भयाविर्भावत्वात् श्रम-चिन्तादेश्च व्यभिचारिणो भयोत्साहादिपोषकत्वान्, स्तम्भ-  
वेषथु-खेदादेश्चानुभावस्य शृङ्गार भयानकदिज्जत्वात् क्वचिदपि न पार्थक्ये नियमः ।  
सामग्रीपतितस्य तु नियम इति सामग्री एवैषामाविर्भाविका पोषिका ह्यापिका  
चेति ॥[८]११०॥

अथ प्रस्तुतानेव रसभेदानाह—

[सू० १६५]—शृङ्गार-हास्य-करुणाः रौद्र-वीर-भयानकाः ।

धीमत्साद्भुत-शान्ताश्च रसाः सद्भिन्नव स्मृताः ॥

॥[६]१११॥

तत्र कामस्य सर्वजातिसुलभतया अत्यन्तपरिचिततया च मर्यान् प्रति दृश्येतेति  
पूर्वं शृङ्गार । तत् शृङ्गारानुगामित्वद् हास्य । ततो हास्यविरोधित्वान् करुण । कामस्य  
चार्यजत्वात् ततोऽर्थप्रधानो रौद्रः । कामार्थयोश्च धर्मजन्यत्वान् ततो धर्मप्रधानो वीर ।  
अस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् ततो भयानक । भीतस्य च मास्त्विकैर्जुगुप्सनीय-

प्रधान मामा जाता है । (१) व्याघ्रादि विभावोके [ रौद्र रसके स्थायिभाव ] क्रोध, तथा  
[ भयानक रसके स्थायिभाव ] भयके आविर्भावक होनेसे, (२) धम तथा चिन्तादि व्यभिचारि-  
भावोंके [ भयानकके स्थायिभाव ] भय और [ वीररसके स्थायिभाव ] उत्साहादि दोनोंका  
पोषक होनेके कारण, (३) [इसी प्रकार] स्तम्भ, वेपथु आदि अनुभावोंके शृङ्गार तथा भया-  
नक होनेसे जग्य होनेके कारण अलग-अलग [रसोंके विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों  
के निश्चित रूपसे अलग] होनेका कोई नियम नहीं है । [चित्ती बिंदीय रसकी] सामग्रीमें आ  
जानेपर तो नियम है । इसलिए सामग्री ही इनकी उत्पन्न करनेवाली, पोषण करनेवाली और  
साधन करनेवाली होती है [यह समझना चाहिए] ॥[८]११०॥

अथ [प्रारंभ] प्रस्तुत रसभेदोंका ही वर्णन [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६५]—१ शृङ्गार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक,

७ धीमत्, ८ सद्भुत और ९ शान्त ये नौ रस सहृदयोंमें माने हैं ॥[६]१११॥

उनमेंसे कामके साथ जातिधर्म सुलभ, और अत्यन्त परिचित होनेसे तथा सबके प्रति  
उसकी मनोहरता होती है इस कारण सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है । शृङ्गारका  
अनुगामी होनेके कारण उसने बाद हास्य [कहा] है । हास्यका विरोधी होनेसे उस [हास्य]  
के बाद करुण रखा गया है । [इस प्रकार हास्य और करुणका कामसे सम्बन्ध दिखताकर  
अब रौद्रका भी कामसे सम्बन्ध दिखताते हैं] । कामके अयंज होनेसे उस [करुण] के बाद  
धर्मप्रधान रौद्र [रखा गया है] काम और धर्म दोनोंके धर्मजन्य होनेके कारण उस [रौद्ररस]  
के बाद धर्मप्रधान वीररस रखा गया है । यह वीर रस मुख्य रूपसे भयभीतोंको प्रमय प्रदान  
करनेवाला होता है इसलिए [अपने साथ सम्बद्ध होनेसे] उसने बाद भयानकका ग्रहण किया  
गया है । सात्त्विक भुक्तिके लोग अयंजी निन्दा करते हैं इसलिए [अपका जुगुप्सासे साथ  
सम्बन्ध होनेसे उसने बाद [जुगुप्सा स्थायिभाव वाला] धीमत् रस रखा गया है । धीमत्  
का विस्मयके द्वारा नाश हो जाता है इसलिए [धीमत्का विस्मयके साथ सम्बन्ध होनेसे]  
उसने बाद [विस्मय स्थायिभाव वाला] सद्भुत रस रखा गया है । धर्मका मूल कारण धम

त्वात् ततो वीभत्सः । वीभत्सस्य च विस्मयेनापनीयमानत्वात् ततोऽद्भुतः । धर्मस्य च शममूलत्वात् तदन्ते शमः । इति । एते शृङ्गारादयो नवैव रसा रक्षनाविशेषेण पुरुषार्थोपयोगाधिक्येन च सद्भिः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टाः । सम्भवन्ति त्वपरेऽपि । यथा—  
गर्द्वस्थायी लौल्यः । आर्द्रतास्थायी स्नेहः । आसक्तिस्थायि व्यसनम् । अरतिस्थायि दुःखम् । सन्तोषस्थायि सुखामित्यादि । केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति ॥६॥११२॥  
अथ सभेदं शृंगारं निरूपयति—

[सूत्र १६६]—सम्भोग-विप्रलम्भात्मा शृङ्गारः प्रथमो बहुः ।

मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥[१०]११२॥

विलासिनोरन्योन्यानुकूलवर्तिनो प्रेमपरयोर्वद् दर्शन-स्पर्शनादिः, स सम्भोगः । परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारसन्त्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः । एतौ द्वावप्यवस्थाविशेषौ आत्मा स्वभावो यस्य अवस्थातु-दर्शाद्व्यानुयायिनः आत्मा-वन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृंगारस्य । तं शृंगारस्य नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शावलेय-बाहुलेयौ, अपितु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसम्भावनासद्भावात्, विप्रलम्भेऽपि मनसा सम्भोगानुवेधाद् उभयसंवलितस्वभावः शृंगारः । उत्कटत्वाच्चैकदेशेऽपि सम्भोग-शृंगारो विप्रलम्भशृंगार इति चोपचारेणोच्यते । अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयरचमत्कारः । यथा—

हे इसलिय सबसे अन्तमें शम [ स्थायिभाव वाला शान्तरस ] रखा गया है । विशेषरूपसे मनोरञ्जक तथा पुरुषार्थकी सिद्धिमें उपयोगी होनेके कारण शृंगार आदि ये नौ रस ही पूर्ववर्ती सहृदय आचार्योंने निर्दिष्ट किए हैं । किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं । जैसे तुल्ला रूप स्थायिभाववाला लौल्य, आर्द्रतारूप स्थायिभाववाला स्नेह, आसक्तिरूप स्थायिभाववाला व्यसन, अरति रूप स्थायिभाववाला दुःख और सन्तोष रूप स्थायिभाव वाला सुख इत्यादि [अन्य रस भी हो सकते हैं] । कुछ लोग [इनको रस तो मानते हैं किन्तु] इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसोंमें ही कर लेते हैं ॥६॥१११॥

अथ आगे भेदों सहित शृंगार रसका निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६६]—सम्भोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकारका शृंगाररस होता है । उनमेंसे पहिला [प्रपञ्च सम्भोग शृंगार] जनन्त प्रकारका [बहुः] होता है । दूसरा [विप्रलम्भ शृंगार] १. मान, २. प्रवास, ३. शाप, ४. ईर्ष्या तथा ५. विरह रूप पाँच प्रकारका होता है । [१०]१११ ।

एक-दूसरेके अनुकूल बड़बोलेवाले और एक-दूसरेको प्रेम करने वाले [स्त्री-पुरुष रूप] दो विलासियोंका जो परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि है वह सम्भोग [शृंगार कहलाता] है । परस्पर अनुरक्त होनेपर भी परतन्त्रता आदिके कारण [स्त्री-पुरुष रूप] दोनों विलासियोंका परस्पर मिलन न हो सकना अथवा चित्तका विलग हो जाना विप्रलम्भ शृंगार [कहलाता] है । ये दोनों अवस्था विशेष जिस अवस्थावान् प्रेमबन्ध रूप रतिके उरकर्म रूप शृंगारका आत्मा अर्थात् स्वभावभूत है वह [सम्भोग-विप्रलम्भात्मा] है । यह इस शब्दका अर्थ है । इसलिये गोप्रीति चितकबरी और बाली [शावलेयत्व और बाहुलेयत्व] भेदोंके समान ये [सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनों चलन-अलग भेद नहीं हैं । अपितु सम्भोगमें भी विप्रलम्भ

“एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर तान्यतो—  
रन्योन्य हृदयस्थितेऽप्यनुनये सरत्ततोर्गौरवम् ।  
दम्पत्यो शनकैरपागप्रलनामिश्रीभवञ्चक्षुषो—  
भ्रमो मानकलि सहासरभसव्याघृत्तकण्ठग्रहम् ॥”

अत्र ईर्ष्याविप्रलम्भ-सम्भोगयोर्विर्भावादिकृता सातिशया चमत्कृति । प्रथम सम्भोगाख्यो यह । परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रप्रकोक्त्यादिभेदतोऽनन्तप्रकारः । यथा—

“किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा—  
दधिरलितरूपोलं जल्पतोरग्रमेण ।  
अशिशिलपरिरम्भव्याघृतैकैरुद्रोष्णो—  
रविदितगतयामा रत्रिरेव व्यरंसीत् ॥”

अपरो विप्रलम्भ । ईर्ष्या-प्रणयभगाभ्या चैकनस्य मान । यथा—

“यातं द्वारवती तदा मधुरिपौ तद्वत्तम्पानता,  
कालिन्दीतटरुदवजुललितामालिग्य सौत्कण्ठया ।

सम्भावना बने रहने और विप्रलम्भमें भी मनमें सम्भोगका [इच्छात्मक] सम्बन्ध विद्यमान रहनेसे शृंगाररस उभयात्मक होता है । किन्तु [किन्नी एक शशकी] प्रधानताके कारण सम्भोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार इस प्रकार कहा जाता है । दोनों अवस्थाओंके सम्मिश्रणका यहाँ होनेपर विशेष चमत्कार होता है ।

जैसे—

“बड़े होनेके कारण एक ही पसगपर सेट्टे होनेपर भी चुपचाप दु ली होते हुए और मनमें एक दूसरेके मनानेकी इच्छा होते हुए भी अपने अपने गौरवकी रक्षा करनेमें लगे हुए दम्पतियोंके धीरेसे धीरेसे घुमाकर देखते समय आलसे धीरेसे धीरेसे जानेपर उनका प्रणय-वत्तह स्वयं ही समाप्त हो गया और [दोनों] हँसते हुए वेगसे एक-दूसरेका [कण्ठग्रह] धामिगन कर लिया ।”

इसमें ईर्ष्याविप्रलम्भ और सम्भोग दोनोंकी [एक साथ मिश्रित रूपमें] विभावादिके कारण अत्यन्त चमत्कारयुक्त प्रतीति होती है ।

पहिला सम्भोग नामक शृंगार बहुत प्रकारका होता है । अर्थात् एक दूसरेके अवलोकन, चुम्बन और नाना प्रकारके सुन्दर वार्तालाप आदि भेदसे अनन्त प्रकारका होता है । जैसे—

अत्यन्त प्रेमके कारण गालसे गाल मिलाए हुए, गाँठ घातिगनमें जिनकी एक एक भुजा लगी हुई है इस प्रकारके [हम दोनों सीता और रामचन्द्रके] बिना कभी [सगत असगत सभी प्रकारकी] बात करते हुए ही सारी रात बीत गई ।”

यह उत्तररामचरितनाम्नीक है । इसमें सम्भोग शृंगारके अनन्य रूपोंका प्रदर्शन करामा गया है ।

दूसरा विप्रलम्भ शृंगार [पाँच प्रकारका होता है यह बात बही जा चुकी है । उन पाँच भेदोंमें] ईर्ष्या प्रणय प्रणय वत्तहके कारण होनेवाला चैकनस्य मान कहलाता है । [मनका उदाहरण] जैसे—

तद् गीतं गुरुवाष्पगादृग्दगलत्तारस्वरं राधया,  
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥”

सन्निहितदेशस्यापि रूपान्तरापादनं शाप । यथा कादम्बर्या महाश्वेतया  
वशम्पायनस्य शुकरूपापादनम् ।

मातापित्रादिपारतंत्र्याद् भाविनवसंगमयोः संगमामिलाप इच्छा । यथा—

“उद्धच्छो पियइ जलंजह जह विरलंगुली चिरं पडिओ ।

पावालिया वि तह तह धारं तगुअं पि तगुएइ ॥

[ऊर्ध्वाच्च पिबति जलं यथा यथा विरलांगुलिश्चिरं पथिकः ।

प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनयति ॥”

इति संस्कृतम् ।]

यथा वास्त्राकं सुधाकलशे—

“रथाइ संचरंतं नियच्छिउं पाडिवेसियजुयाए ।

कम्मयरीकम्म पि हुं धणवइधूआ सयं फुणइ ॥

[रथ्यायां संचरन्तं दृष्ट्वा प्रतिवेशिमकयुवानम् ।

कर्मकरीकर्मापि खलु धनपतिदुहिता स्वयं कुरते ॥”

इति संस्कृतम् ।]

“तय कृष्णजीके द्वारका घने जानेपर विरहाकुल हुई राधाने उन [कृष्ण] के द्वार  
भोका दिए जानेके कारण भुकी हुई यमुनाके किनारेकी बेतसलताको पकड़कर बड़े-बड़े आँसू  
ढरकाते हुए धीरे धीरे गलेसे उच्च स्वरसे इस प्रकार वदन किया कि जिसको सुनकर  
[यमुनाके] जलके भीतर रहनेवाले जलजन्तु भी गर्दन उठाकर रोने लगे ।

यह [प्रणयभंगजन्य मानरूप विप्रलम्भ-भृंगारका उदाहरण है] ।

[ विप्रलम्भका दूसरा भेद या कारण शाप है । उसका लक्षण करते हैं ] समीप  
रहनेवालेका भी अग्न्य रूप करा देना शाप कहलाता है । जैसे कादम्बर्यो महाश्वेतके द्वारा  
वशम्पायनको शुक्र-रूपमें बना देना [शापका उदाहरण है] ।

माता-पिता आदिके परतन्त्र होनेके कारण [इस समय जिनका मिलन नहीं हो पा  
रहा है बिन्दु] आगे जिनका प्रयम मिलन होनेवाला है उनकी परस्पर मिलनकी इच्छा अभि-  
साय (बहलाती) है [उसके कारण दो प्रेमियोंका जो मिलनका अभाव है वह अभिसापजन्य  
विप्रलम्भ कहलाता है] । जैसे—

“[पानी पितानेवासीके पास देर तक रहनेके लिए] ऊपर देखते हुए पथिक धनत्रयी  
अगुनियोंको विरस अर्थात् शोषकरके जैसे-जैसे पानी पी रहा है उसी प्रकार व्याजवासी  
पहलेमे ही पतनी धाराको धीरे धीरे अथिष पतली करती जाती है [अर्थात् पानी पीनेवाले  
पथिक धीरे पितानेवासी प्रपापालिका दोनों ही अथिषने अधिक वास्तव्य एव-दूसरेके पास  
रहना चाहते हैं] ।”

अथवा जैसे हमारे [बनाये हुए] सुधाकलशमे [अभिसापका उदाहरण]—

‘पड़ोसी पुवचको गलोमे धूमता हुआ देखकर धनपतिनी पुत्री मोहरानीके करने योग्य  
कामोंको भी अपने-आप कर रही है [जिसने उस पुवचको देखनेका अवसर मिल लगे] ।”

सम्भूतभोगयोर्माताद्यभावेऽपि कार्यान्तरव्यापृततया अननुसर्पणं विरह ।  
यथा—

“अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुदृढ,  
यो मा नेच्छति नागतश्च ह हा कोऽयं विधेः प्रकम ?  
इत्यल्पेतरकल्पना-कवलितस्वान्ता निरान्तान्तरे,  
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रा निशि ॥”

इति ॥ [१०] ११२ ॥

अथोभयात्मनोऽपि शृंगारस्य विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

[सूत्र १६७]—स्त्री-पुंस-काव्य-गीततु-माल्य-वेपेष्ट-केलिजः ।

अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाशु-मन्युभिः ॥

[११] ११३ ॥

इह शृङ्गारे स्त्री-पुंसौ परस्परं मुख्यविभावौ । सयोश्चोत्तमप्रकृतिकयोरुपयोगी  
काव्यादि । काव्यं च सरसमभिनेयानभिनेयभेदभिन्नम् । गीतेन वाद्यनृत्ताद्यपि  
गृह्यते । श्रुतयो यसन्ताद्या । माल्येन विलेपन-साम्मूल-विशिष्टभवनानादि लक्ष्यते । वेपे

जितका सम्मिलन पहिले हो चुका है इस प्रकारके प्रेमियोंका भाता पिता आदिके प्रति-  
कायके बिना भी अन्य कार्योंके कारण परस्पर मिलन न हो सकना विरह [ बहलाता ] है ।  
जैसे—

“[मिरे पति] कहीं और चला जाय ऐसा तो सोचना भी असंभव है, और उरका कोई  
ऐसा मित्र भी नहीं है जो मुझे न चाहता हो [अर्थात् किसी मित्रने उनको रोक्कर मुझे बच  
रिया हो ऐसी बातभी नहीं हो सकती है] किन्तु फिरभी अभीतक आए नहीं, हाय, भगवन् !  
यह क्या खेल कर रहे हैं [जो वे अबतक नहीं आए] इस प्रकारकी अनेक भीषण कल्पनाओंमें  
हूँकी हुई बाला रातको बरबट बंदसती हुई पड़ी है और उससे नौब नहीं आ रही है ।”

यह [विरह-रूप विप्रलम्भका उदाहरण है] ॥[१०] ११२]

अथ [सम्भोग और विप्रलम्भ रूप] दोनों प्रकारके शृंगारके विभाव तथा अनुभावोंका  
वर्णन करते हैं ।

[सूत्र १६७]—स्त्री पुरुष [शृंगारके मुख्य विभाव हैं] बाध्य, शीत, श्रुत, मास्य, वेप  
काय इष्ट यस्तु तथा [वन-विहार जलकीड़ा आदि रूप] केलियोगे [शृंगार] उत्पन्न होता है ।  
ये सब शृंगारके कारण विभाव हैं । नाटकमें उत्साह [एक-दूसरेको] चाटुहारिता, सताप,  
रदन तथा मान आदिसे द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । [११] ११३]

इनमेंसे स्त्री-पुरुष एक-दूसरेके प्रति मुख्य विभाव हैं । उत्तम प्रकृतियाने उन दोनोंके  
उपयोगी बाध्यादि [भी भोग कारण होनेसे भोग विभाव बड़े जा सकते हैं] । बाध्य पहले  
अभिनेय और अभिनेय [ अर्थात् हृदयकाय तथा बाध्यकाय ] भेदसे मुख्य सरस बाध्यका  
ग्रहण करना चाहिए । ‘शीत’ पहले [उसके सहचारी] बाध और मृग्य आदि भी ग्रहण होता  
है । ‘श्रुत’ पहले वस्तुतादि [अभिप्रेत हैं] । मास्य पहले विलेपन, साम्मूल और विशेष भवन  
आदि भी ग्रहण सम्भव है चाहिए । ‘वेप’ पहले विशेष प्रकारके वस्त्र धनकारादि रूप

विशिष्टवस्त्राभरणादि नेपथ्यम् । इष्टो विदूषक-चन्द्रोदय-चक्रवाक-हंसालेरयादि । यद्वा नयन-उदन-प्रसाद-स्मित-मनोज्ञागविकार-यत्रोक्त्यादयो ग्लान्यालस्य-श्रमादयश्चेष्टा । एवविधा हि विकारा परस्पर स्त्री पुं सयोरिष्टा भवन्ति । केलय पुष्पावचय-उपवन-गमन-जलक्रीडादयश्चेष्टाविशेषा । एवमन्येऽप्युपलक्षणादेवविधा विभावा द्रष्टव्या । एभ्यो यथायोगमुभयात्मापि जायते रतिस्थायी शृंगार ।

स च शृंगारो लब्धसत्ताक सन्नभिनेयो वाचिक-सात्त्विक-आगिक-आहार्या-भितर्यैर्नटेन सामाजिकाना साक्षाच्चर्यणागोचर उत्साहादिभि कर्तव्य ।

उत्साहो नयन-उदनप्रसादकारी चित्तोल्लास । अयं च स्थाय्यपि वीरस्य अत्रा-गन्तुकत्वाद् अनुभावात् । एव रसान्तर प्रति व्यभिचारित्वमपि स्थायिना सहचारितया भवत्येव । अस्य च स्थाय्यनुभावाभिनय-द्वारेणात्राभिनयहेतुत्वम् । एव रत्यादावपि वाच्यम् । तापोऽभिमताप्राप्ते काय-मन-पीडा । मन्युरीर्ष्याप्रणयभगाभ्या चित्तोद्वेग । उत्साह-चाटुभ्या नयनचातुर्य-भ्रूक्षेप-परस्यागविकारादि सम्भोगशृंगारस्यानुभाव सूचित । ताप-अश्रु-मन्युभि पुन पुन परिदेवनादिर्विप्रलम्भशृंगारस्यनुभावो लक्षित । तत्र सम्भोगे सुरमया धृत्यादयो व्यभिचारिण । विप्रलम्भे त्वालस्यौग्य-जुगुप्सावर्जा निर्वेदादयो दुःखप्राया इति ॥[११]११३॥

नेपथ्यका ग्रहण करना चाहिए । 'इष्ट' पदसे विदूषक चन्द्रोदय, चक्रवाक, हंस और घ्रातेस्य [ चित्र ] आदिको भी लेना चाहिए । अथवा [ इष्ट पदसे ] नेत्रो और चेहरेकी प्रसन्नता मुत्कराहट, मुग्ध अगविकार, सुमनोहर वक्तोक्तियाँ आदि और ग्लानि, आलस्य अथ घ्राति चेष्टा लेनी चाहिए । [ वयोकि ] इस प्रकारके विकार स्त्री-पुरुषोंको परस्पर इष्ट होते हैं । वेषियों से पुष्पावचय, वनविहार, जलक्रीडा आदि चेष्टाप्रोका ग्रहण होता है । [ इन सबके ] उपलक्षण रूप होनेसे इसी प्रकारके अयं विभाव भी ले लेने चाहिए । इनके द्वारा यथायोग्य [ सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप ] दोनों प्रकारका रतिरूप स्थायिभाववाला शृंगार उत्पन्न होता है ।

उस उत्पन्न शृंगारको उत्साह आदिके द्वारा अभिनय करना चाहिए अर्थात् वाचिक सात्त्विक [ मानसिक ], आगिक तथा वेयादिपियक [ आहार्य ] अभिनयसे नटके द्वारा सामाजिकोंके साक्षात् चर्यलावा विषय बनाया जाना चाहिए ।

नेत्रों और चेहरेको प्रफुल्लित करनेवाली विलम्बी प्रसन्नता उत्साह [ कहलाता ] है । यह [ उत्साह ] वीररसका स्थायिभाव होनेपर भी यहाँ शृंगाररसमें आगतुक गीला होनेसे [ स्थायिभाव न होकर ] अनुभाव होता है । इसी प्रकार [ अयं ] स्थायिभावोंका भी दूसरे रसोंमें सहकारी होनेके कारण व्यभिचारित्व भी होता ही है । इस [ वीररसके ] स्थायिभाव और [ शृंगाररसके ] अनुभावका अभिनय [ ये प्रति प्रवर्तकत्व ] द्वारा यहाँ [ शृंगाररसमें ] अभिनयसे प्रति हेतुत्व होता है । इसी प्रकार रत्यादिमें भी [ अयं रसोंके प्रति ध्वनिचार भावय आदि ] समझना चाहिए । [ 'ताप' शब्दकी व्याख्या करते हैं ] : प्रियजन [ अभिमत ] के प्राप्त न होनेपर होने वाली शारीरिक और मानसिक पीडा 'ताप' कहलाती है । 'मगु' पदसे ईर्ष्या तथा प्रणय बलहृके द्वारा होनेवाला विलम्बी उद्वेग [ गृहीत होता है । चारित्र्यमें घाए हुए ] उत्साह तथा 'चाटु' शब्दोंसे नयनचातुर्य और भ्रूक्षेप करने वाले [ शत्रु पुरुष रूप विभाव ] के अगविकारादि रूप सम्भोगशृंगारके अनुभावोंको सूचित किया गया है । और

अथ हास्यः—

[सूत्र १६८]—विकृताचार-जल्पांगाकल्पविस्मापनोद्भवः ।

हास्योऽस्याभिनयो नासास्पन्दाश्रुजठरग्रहैः ॥ [१२] ११४ ॥

विकृतः प्रकृति-देश-काल-वयोऽवस्थादिविपरीत । अंगस्य च विकृतत्वं विरूपो व्यापारः, खल्ल-कुण्टत्वादि वा । उपलक्षणाच्च धाष्ट्य-लौल्यादीनामनुचितानां मर्मोद्घाटन-अन्यहसनावलोकनादेश्च ग्रहः । विस्मापनं कक्षानासावादन-मीवा-कर्ण-चूडा-भ्रून्तन-परभाषाचतुर्करणादिकं च विटचेष्टितम् । एभ्यः स्वपरस्थेभ्यो हास्यस्थायी हास्यरसः प्रादुरस्ति । नासया गण्डोष्ठादयो, अश्रुणा चाकुञ्चन-श्रसारणादयो नेत्र-यिकाराः, जठरग्रहेण पार्वग्रह-करताडन-मुखरागादयः संगृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य अग्रहित्वा-हर्षोत्साह-विम्बयादय इति ॥ [१२] ११४ ॥

[कारिकामे आए हुए आते] ताप, अथु सया मय्यु पदोंके द्वारा विप्रलम्भशृंगारके परिदेवन आदि रूप अनुभावोंको सूचित किया गया है । उनमेंसे सम्भोग-शृंगारमे सुप्त रूप धृष्टादि व्यभिचारिभाव होते हैं और विप्रलम्भशृंगारमे आसत्य, उग्रता और कुपुष्ताकी छोड़कर दुःख-प्रधान निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव होते हैं] ॥११३॥

हास्यरस—

अब आगे हास्यरसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १६८]—विकृत आचरण, बातचीत, वेप-विन्यास और [नाक बजाना, बगल बजाना आदि रूप विस्मापन अर्थात् आश्चर्यजनक चेष्टाओंसे हास्यरस उत्पन्न होता है । नाक सिकोड़ने प्रथु और पेट पकड़ने आदिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१२] ११४ ।

विकृत अर्थात् प्रकृति [ स्वभाव ] देश, काल, आयु और अवस्था आदिके विपरीत [ आचार हास्यजनक होता है ] । अंगोंका विकृतत्व [बो प्रचारका हो सक्ता है । एक तो] विरूप व्यापार [का किया जाना], अर्थात् [दूसरा] लज्जितत्व [संगड़ापन] या निर्दलता आदि रूप होता है । [कारिकामे गिनाए गए विकृताचार आदिके] उपलक्षण रूप होनेसे [उनसे भिन्न] अनुचित छटता लासल आदि और मर्म भागोंको दिखलाना, दूसरोंका सजाक बनाना, और [विशेष प्रकारसे] देखने आदिका भी ग्रहण होता है । [कारिकामें आए हुए] 'विस्मापन' पदमे बगल और माथका बजाना, गर्दन, बाल, सिर या भौंहोंका घटबाना और दूसरोंकी बोलीका अनुकरण करना आदि रूप व्यापारका ग्रहण होता है । अपनेमे प्रपक्वा किंती दूसरेमे स्थित इन [विकृताचार आदिके देखने] से हास्यस्थायिभाव आते हास्यरसको उत्पत्ति होती है । [कारिकामे आए हुए नासास्पन्दके 'नासा' शब्दमे गान और छोठ आदि [के ससने] का भी ग्रहण होता है । अथु' पदमे [ नेत्रोंके ] सिकोड़ने और फंसाने आदि रूप नेत्रविकारोंका भी ग्रहण समझना चाहिए । [कारिकामें] 'जठरग्रह' शब्दसे [पेट पकड़नेके साथ ही] पार्वग्रह हास्य घोटना, मुखराग आदिका भी गपह होता है । 'अग्रहित्वा' [अर्थात् आचरणोपेन] हर्ष, उत्साह, विरम्य आदि इस [हास्यरस] के व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ [१२] ११४ ॥

अथास्य भेदानुपदिशति—

[सूत्र १६६]—विहासश्चोपहासश्च मध्ये ज्येष्ठे स्मितं हसः ।

अपहासोऽतिहासश्च नीचे प्रायोऽधमे रसः ॥ [१३] ११५ ॥

तत्र हसनं मधुरस्वरम् । सास्यराग-समयप्राप्तं च विहसितम् । सांसशिर कम्प-  
मुपहसितम् । एतौ भेदौ मध्यमप्रकृतौ । अलक्षितद्विजं स्मितम् । किञ्चिद्विद्यदन्तं  
हसितम् । इमौ भेदौ उत्तमप्रकृतौ । अनवसरप्राप्तं साश्रुनेत्रमुत्कम्पितांस-शिरश्चाप-  
हसितम् । करोपगृहपार्वं विकुप्प्रस्वरमुद्धतं चातिहसितम् । अमू भेदावधमप्रकृतौ ।

एवं पठेते हास्यभेदाः । अयं च हास्यो रसः प्रायो बाहुल्येनाधमप्रकृतौ पामर-  
प्राये भवति । स्ववर्गापेक्षया च स्त्रियाः प्राधान्येऽपि पुरुषापेक्षयाधमतैवेति तस्यामपि ।  
एवं करुण-भयानक-वीभत्स-अद्भुता अप्यधमप्रकृतौ भूयस्त्वमनुभवन्ति । पामरप्रायः  
सर्वः प्रकर्षेण हसति, शोचति, विभेति, परनिन्दामाद्रियते, स्वरूपेनापि सुभाषितेन  
सर्वत्र विस्मयते इति ॥ [१३] ११५ ॥

अब आगे इस [हास्यरसके] भेदोंको दिखलाते हैं—

[सूत्र १६६]—मध्यम [प्रकृतिके पात्रों] में [हास्यरसके] विहास और उपहास [रूप  
दो भेद पाए जाते हैं], उत्तम [ज्येष्ठ प्रकृतिके पात्रों] में स्मित और हास [रूप दो हास्य भेद  
पाए जाते हैं] और नीच [प्रकृतिके पात्रों] में अपहास तथा अतिहास [रूप दो हास्य-भेद पाए  
जाते हैं] । और यह हास्यरस प्रायः अधम पात्रोंमें पाया जाता है ॥ [१३] ११५ ॥

[ हास्यके जो छः भेद कारिकामें दिखलाए हैं ] उनमेंसे समुचित अवसरपर जिसमें  
गाल लाल हो जाएँ इस प्रकारका मधुर स्वरसे हँसना 'विहसित' [कहलाता] है । कम्पे और  
तिर जिसमें हिलने लगे [इस प्रकारका हँसना 'उपहसित' कहलाता है । ये [विहसित  
और उपहसित रूप] दोनों भेद मध्यम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । जिसमें दाँत दिखलाई  
न दें इस प्रकारका हास्य 'स्मित' [ मुस्कराना ] कहलाता है । और जिसमें दाँत थोड़े-थोड़े  
दिखलाई देने लगे [इस प्रकारका हास्य] 'हसित' [कहलाता] है । [स्मित और हसित] ये  
दोनों भेद उत्तम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । बिना अवसरके जिसमें आँखोंमें आँसू आ जाएँ  
कम्पे और तिर हिलने लगे, इस प्रकारका हँसना 'अपहसित' कहलाता है । और हाथोंसे  
धगलोंकी धामकर जोर-जोरसे उड़ततापूर्वक हँसना 'अतिहास' कहलाता है । [अपहसित और  
अतिहसित] ये दोनों भेद अधम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं ।

इस प्रकार हास्यके छः भेद हो जाते हैं । यह हास्यरस अधिकतर अधम प्रकृतिके  
नीच पुरुषोंमें होता है । अपने वर्गकी अपेक्षासे [किसी विशेष] स्त्रीकी उत्तमता [प्रधानता]  
होनेपर भी पुरुषोंकी अपेक्षा उस [ उत्तम स्त्री ] में भी अधमता ही होती है इसलिए उन  
[स्त्रियों] में भी हास्यरस अधिकतर पाया जाता है । इसी प्रकार करुण, भयानक, अद्भुत  
तथा योभस रस भी अधिकतर अधम प्रकृति [अर्थात् नीच पात्रों]में होते हैं । इसलिए नीच  
प्रकृति वाले सभी लोग प्रायः जोरसे हँसते, अधिक शोक करते, अधिक डरते और अधिकतर  
दूसरों की निन्दा करते हैं तथा तनिक-से भी सुभाषितको सुनकर आश्चर्य करने लगते हैं ।  
॥ [ १३ ] ११५ ॥



अथ करण —

[सूत्र १७०]—मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।

करुणोऽभिनयस्तस्य वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनः ॥ [१४] ११६ ॥

शापोऽभिमतवियोगहेतुर्द्वि-यप्रभावकत आक्रोश । व्यसनमनर्थ । अनेन देशो-  
च्चाटनादेर्जात रिप्लवजात संगृह्यते । धर्म्यो विभावेभ्य शोकस्थायी करुणो रस  
सम्भवति । वाष्प-वैवर्ण्याभ्या निश्वास-मुत्परोप-स्मृतिलोप-स्रस्तगात्रतादयोऽनुभावा  
सूचिता । निन्दनमात्मनो वैवस्यान्यस्य चोपालम्भ । अनेन रुदित-प्रलपिता-उरस्ता-  
डनादि गृह्यते । व्यभिचारिणस्तस्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता औत्सुक्य मोह श्रम भय  
निपाद दैन्य-व्याधि जडता उन्माद अपममार आलस्य मरण-स्तम्भ वेपथु वैवर्ण्य अश्रु  
स्वरभेदादय इति ॥ [१४] ११६ ॥

अथ रौद्र —

[सूत्र १७१]—प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोहाधर्षापनीतिजः ।

रौद्र-स चाभिनेतव्यो घातदन्तोष्ठपीडनः ॥ [१५] ॥ ११७ ॥

परमरिदारयतो निदारयतश्च शस्त्रादिन्यापारणं प्रहार । अनेन गृहभृत्या-  
शुपमर्दनस्य प्रह । असत्येन घ-वन्धाग-भिधायकवाक्-पाण्ड्यस्य प्रह । गुणेष्वसूया  
मात्सर्यम् । द्रोहो जिघासा । गारादिपलीकार-विद्या-कर्म-देश-जत्यादिनिन्दा-राज्य-

अथ प्रागे कण [रसवा निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७०]—[किसी प्रियजनके] मृत्यु यथन, धननाश, शाप तथा विपत्ति आदि  
[को देखने]से बहुरस उत्पन्न होता है । आसुष्यो, [बिहरेको] विवर्णता तथा [भाग्यको]  
निन्दा आदिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१३] ११६ ।

प्रियजनके वियोगको कराने वाली दिव्य प्रभाव वाले स्थितिकी अप्रसन्नता 'शाप'  
कहा जाता है । धनघ्न [का नाम] 'व्यसन' है । इससे वेग-नागसे होने वाले विप्लव-वामुदायरा  
ग्रहण होता है । इन विभावोंके द्वारा शोक रूप स्वादिभाव वाला बहुरस उत्पन्न होता है ।  
आसु [बिहरेको] शिखलता निश्वास, मुल मूलना स्मृतिवा सोप, शरीरकी निद्रियता आदि  
प्रनुभाव नी सूचित होते हैं । निन्दासे अपनी निन्दा भाग्यको घबरा घ-घोंरो उलाहना देना  
[अभिप्रेत है] । इससे रौने प्रलाप करने और दासी पीटनेका भी सप्रह होता है । निर्वेद, ग्लानि,  
बिन्ता, शीतुस्य मोह, श्रम भय विषाद दैन्य, व्याधि जडता, उन्माद अपममार आलस्य,  
मरण, स्तम्भ वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु स्वरभेद आदि इससे व्यभिचारभाव होते हैं ॥ [१४] ११६ ॥

अथ प्रागे रौद्रस्य [का सत्तात्वादिक करते हैं]—

[सूत्र १७१]—प्रहार, असत्य, मात्सर्य द्रोह आषण्ड तथा धवनीतिमे रौद्रस्य होना  
है और मारने, बात तथा छोड़ने अमानेके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१५] ११७ ।

द्रोहको बाट देने वाला या न बाटने वाला गतिरका ध्यानार 'प्रहार' कहा जाता है ।  
इसमे पर और मृत्यु आदिके उपमर्दनका भी दर्शन होता है । असत्य परमे वध, वध  
पारित कहने वाले कठोर वाक्यों आदिका सप्रह होता है । गुणोंके प्रशंसा [वाच्यिकरणा]  
'मात्सर्य' कहा जाता है । मारनेको इच्छा 'द्रोह' [कहा जाता है] है । निजों आदिवा अपमान,

सर्वस्वापहरणादिराधर्षः । अन्यायोऽपनीतिः । अनेनौद्धत्यं सूचितम् । एतेभ्यो विभावैभ्यः क्रोधस्थायी रौद्रो रसो जायते । घातेन छेदन-भेदन-रुधिराकर्षणादिरनुभावो गृह्यते । दन्तौष्ठपीडनेन गण्डौष्ठस्फुरण-हस्ताग्रनिष्पेषाद्यनुभाववृन्दं सूच्यते । व्यभिचारिणश्चास्य मोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चापल-अग्न्य-स्वेद-वेपथु-रोमान्वाद्य इति । स्थायिनोऽपि चोत्साहादयो रसान्तरं प्रति व्याभिचारितां स्वीकुर्वन्ति । स्तम्भ-स्वेदादयश्च न रसकार्या व्यभिचारिणः, किन्तु स्थायिकावा इति ॥ [१५] ११७ ॥

अथ वीर.—

[सूत्र १७२]—पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयः ।

वीरोऽभिनयनं तस्य धैर्य-रोमाञ्च-दानतः ॥ [१६] ११८ ॥

पराक्रम-परकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम् । बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन-धान्य-मन्त्र्यादिसम्पत् । शारीरिकी शक्तिर्वा । न्याय-सामादीनां सम्यक् प्रयोग । अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते । यशः सार्वत्रिकी शौर्यादिगुणरयातिः । अनेन शत्रुविषये सन्ताप-कर्तृत्वप्रसिद्धिरूपः प्रतापो गृह्यते । तत्त्वं याथात्म्यं तस्य विनिश्चयः । एवमादिभिर्विभावैरुत्साहस्थायी वीररसः सम्भवति । स चानेकधा, युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जन-

विद्या, कर्म, वेद्य, जाति आदिकी निन्दा और राज्य या सर्वस्वका अपहरण आदि आधर्ष' [कहलाता] है । अन्यायका नाम 'अपनीति' है । इसके द्वारा औद्धत्यको भी सूचित किया है । इन विभावोंसे क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्ररस उत्पन्न होता है 'घात' पदसे छेदन-भेदन और रक्त बहाने आदि अनुभावोका प्रहण होता है । बाँतोके पीसने और घोंठ धवानेसे गालों और ओष्ठोंके फटकने, हाथके अप्रभागे मलने, आदि अनुभाव-समुदायका प्रहण होता है । इस [रौद्ररस] के व्यभिचारभाव मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चापलता, उग्रता, स्वेद, वेपथु और रोमाञ्चादि होते हैं । उत्साहादि [वीररसमें] स्थायिभाव होनेपर भी [रौद्रादि] दूसरे रसों में व्यभिचारी बन जाते हैं । स्तम्भ और स्वेदादि रसके कार्यरूप होनेसे [यहाँ] व्यभिचारिभाव नहीं कहलाते हैं अतः स्थायिभावके कार्य होनेसे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ॥ [१५] ११७ ॥

यय वीररस [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १७२]—पराक्रम, बल, न्याय, यश, और तत्त्वविनिश्चय आदिसे वीररस होता है, और धैर्य, रोमाञ्च तथा दानके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [१६] ११८ ।

दूसरेके राज्य आदिपर आक्रमणकी सामर्थ्य पराक्रम [कहलाता] है । हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, धन-धान्य और मन्त्री आदिकी सम्पत्ति बल [पदसे अभिप्रेत] है । अथवा शारीरिक शक्ति [बल कहलाती है] । सामादि [उपायों] का समुचित प्रयोग 'न्याय' [कहलाता] है । इसके द्वारा इन्द्रिय-जयका प्रहण होता है । शौर्यादि गुणोंकी सर्वत्र प्रसिद्धि 'यश' [कहलाता] है । इसके द्वारा शत्रुओंके भीतर सन्ताप करनेकी प्रसिद्धि रूप प्रतापका [भी] प्रहण होता है । तत्त्व अर्थात् यथायुक्तता, उग्रता विनिश्चय [तत्त्वविनिश्चय कहलाता है] । इस प्रकारके विभावोंसे उत्साह रूप स्थायिभाववाला वीररस उत्पन्न होता है । और युद्ध, धर्म, दान, आदि गुणों तथा प्रतापावर्ण्य आदि उपायोंसे भेदसे [युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर आदि रूपसे] अनेक प्रकारका होता है । महान् शत्रु-संघ अथवा महान् विपत्तिके उपस्थित

आद्युपाधिभेदात् । धैर्यं महत्पि परसैन्ये विपदि वा अकार्तर्यम् । अनेन सैन्यो-  
त्तेजन-परात्परादेरनुभावस्य ग्रहः । दानेन प्रमोद-माध्यस्थ-शान्तचेष्टादेः । व्यभिचा-  
रिणश्चास्य धृति-मति-गर्व-आवेग-औग्र्य-अमर्ष-मृति-रोमाञ्चादयः । वीररसे च युद्धा-  
दिभावेऽपि न रौद्रत्वम्, उत्साह-न्यायप्रधानत्वात् । रौद्रे तु मोह-अहङ्कार-अपन्याय-  
प्राधान्यमित्यनयो न साङ्ख्यमिति ॥ [१६] ११८ ॥

अथ भयानकः —

[सूत्र १७३]—पताका-कीर्ति-रौद्रआजि-शून्य-तस्कर-बोपजः ।

भयानकोऽभिनेतव्यः स्तम्भ-रोमाञ्च-कम्पनैः ॥

[१७] ११९ ॥

रौद्रा स्वरकारवैकृत्येन भीषणा पिशाचोलूकादयः । आजि शस्त्राघातः । अथ  
चोपलक्षणं वध-बन्धयोः । शून्यं निर्जनं गेहाख्यादि । बोपो गुम्फादेरपराधः । एभ्यो  
रप्युत्तेज्यश्चिन्त्यमानेभ्यो वा विभावेभ्यो भयस्थायी भयानको रसो जायते ।  
गात्रस्याचलनं स्तम्भः । कम्पनं करचरणादीनां प्रवेपनम् । गर्भगात्र-मुख-प्रविकार-  
गलशोष-वैवर्ण्य-मूर्च्छादयोऽनुभावाः संगृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चाम्यः शङ्का-मोह-  
दैन्य-आवेग-चपलता-ग्रास-अपस्मार-मरण-स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्च-वेपथु-स्वरभेद-  
वैवर्ण्यादय इति ॥ [१७] ११९ ॥

होनेपर भी न पयडाना 'धैर्यं' कहलाता है । इसके द्वारा [धपनी] सेनाको उत्तेजित करने  
और दूसरेपर घालेंप आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है । 'दान' पक्षे प्रमोद मध्यस्थता  
और शांत चेष्टादिका ग्रहण होता है । इत [वीररस]के व्यभिचारभाव धृति, मति, गर्व, आवेग,  
अमर्ष, उग्रता, स्मृति तथा रोमाञ्च आदि होते हैं । वीररसमें युद्धादिके होनेपर भी रौद्रत्व  
नहीं आता है । क्योंकि उसमें उत्साह तथा न्यायकी प्रधानता रहती है । रौद्ररसमें तो मोह  
अहङ्कार और अन्याय आदिकी प्रधानता रहती है इसलिए [वीर और रौद्र] वे दोनों एक  
साथ नहीं रह सकते हैं ॥ [१६] ११८ ॥

अथ भयानक [रसका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र १७३]—पताका, कीर्ति, भयोत्पादक [पिशाच उलूकादि], मुद [आजि], निर्जन  
स्थान, और और आङ्ग आदि तथा [गुह आदिके] बोधोत्ते भयानकरस उत्पन्न होता है । स्तम्भ-  
रोमाञ्च तथा कम्पनके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । [१७] ११९ ।

स्वर तथा आकारकी विकृति द्वारा भयोत्पादक पिशाच उलूकादि रौद्र [पक्षे गृहीत]  
होते हैं । यह [रौद्रपद] वध तथा बन्धनका भी उपलक्षण [प्राप्त] है । निर्जन घर या अरण्यादि  
'शून्य' पक्षे लिया जाता है । शोष अर्थात् गुह अथवा राजा आदिवा अपराध । इन विभावोंके  
बलसे या सुननेसे भयरूप स्थाविभाव बाले भयानक रसकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् हिंसने-  
इसनेका अभाव 'स्तम्भ' कहलाता है । तप-भर आदिवा हिंसना कम्पन कहलाता है । इसके  
द्वारा शरीर, मुख या दृष्टिका विचार, गलेका सूख जाना, विवर्णता और घृष्टा आदि अनुभावों-  
का [भी] ग्रहण होता है । शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग चपलता, ग्रास, अपस्मार, मरण, स्तम्भ,  
स्वेद, रोमाञ्च, कम्पन, स्वरभेद, वैवर्ण्य आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं ॥ [१७] ११९ ॥

अथ वीभत्स. —

[सूत्र १७४]—जुगुप्सनीयरूपादि-परश्लाघासमुद्भवः ।

वीभत्सोऽभिनयश्चास्य निष्ठेवोद्वेग-निन्दनः ॥ [१८] १२० ॥

जुगुप्सनीया मालिन्य-कुथितत्व-दुर्गन्धित्व-कर्कशत्वादिभिरमनोहाः । रूपादयो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दलक्षणा विषया । परस्य विषयस्य श्लाघा त्रुति । एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्यो विभावेभ्यो जुगुप्सास्थायी वीभत्सो रसः समुद्भवति । परश्लाघायां हि विशेषतो दोषदर्शनेन जुगुप्सते । निष्ठेवः कफनिरसनम् । उद्वेगो गात्रधूननम् । निन्दनं दोषोद्धनम् । य भिर्गात्रसङ्कोचन-मुखविकृण्णन-नासाकर्णप्रच्छादन-दृष्टलेखादिरनुभावः सूच्यते । व्यभिचारिणश्चास्य व्याधि-मोह-आवेग-अपस्मार-मरणदयः इति ॥ [१८] १२० ॥

अथाद्भुतः—

[सूत्र १७५]—दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।

अद्भुतः, सोऽभिनेतव्यः श्लाघा-रोमाञ्च-हर्षतः ॥

[१६] १२१ ॥

दिव्याः शक्रादयः । इन्द्रजालं मन्त्र-दिव्य-हस्तयुक्त्यादिना असंभवद्वारु-प्रदर्शनम् । रम्यः सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः शिल्पकर्म-रूप-वाक्य-गन्ध-रस-स्पर्श-नृत्त-गीतादिकः, तस्य दर्शनं साक्षात्कारः । अनेन स्वयं कीर्तनं श्रवणं च गृह्यते । अभीष्टमत्य-

अथ वीभत्स [रसका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र १७४]—पृणित रूप आदि तथा शत्रुकी प्रशंसा आदिते उत्पन्न वीभत्सरस होता है । यूकने, नाक-भीं सिकोड़ने और निन्दाके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ॥ [१८] १२० ॥

मलिनता लड़ाव, दुर्गन्ध अथवा कर्कशता आदिके कारण प्रसङ्गिकर [अर्थ] 'जुगुप्सनीय' [अर्थ] कहलाते हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि रूप विषय 'पर' अर्थात् विषय [शत्रु] की प्रशंसा ['परश्लाघा' पदसे अभिप्रेत है] । इन विभावोंके देखने या सुननेसे जुगुप्सा रूप स्थाविभाव वाला वीभत्सरस उत्पन्न होता है । शत्रुकी प्रशंसामे विशेष रूपसे दोषोंको बेल-कर उससे घृणा करता है । 'निष्ठेव' पदका अर्थ कफका निकलना [अर्थात् यूकना] है । हाय-पेर आदिका चलाना उद्वेग [का सूचक] है । निन्दा अर्थात् दोष निवारण । इनसे शत्रुओं के सिकोड़ने, मुँहके बिचकाने नाक-कान आदिके बन्द करते और जो निश्चलाने, आवि अनुभावोंका ग्रहण होता है । व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार, मरण आदि इसके व्यभिचारि-भाव है ॥ [१८] १२० ॥

अथ अद्भुत [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७५]—देवताओं, अथवा इन्द्रजाल, सुन्दर वस्तु आदिके देखने तथा अभीष्ट अर्थों [प्राकस्मिक] सिद्धिते उत्पन्न होने वाला अद्भुत रस होता है । प्रशंसा रोमाञ्च तथा हर्षके द्वारा उत्पन्न अभिनय करना चाहिए ॥ [१८] १२१ ॥

विषय अर्थात् इन्द्रादि देवता । मन्त्र अथवा किसी द्रव्य अथवा हायपरी पातारी आदिके द्वारा असंभव वस्तुको दिसता देना 'इन्द्रजाल' कहलाता है । रम्य अर्थात् प्राप्यत सुन्दर लगने वाला अर्थ जैसे शिल्प-रचना, अथवा रूप या वाक्यरचना, अथवा गन्ध, रस,

न्तमीप्सितम् । तस्य सिद्धिः प्राप्तिर्निष्पत्तिर्वा । एवमादिभ्यो विभावेभ्यो विस्मय-  
स्थायी श्रद्दभुतो रसो भवति । हर्षेण स्वानुभावाः सूच्यन्ते । अभिनयनविस्तार-गात्रोल्लु-  
कसन-अनिमिषप्रेक्षण-चेलोऽङ्गुलिभ्रमण-गद्गद्-वचन-वेपथु-स्वेदादेरनुभावस्य ग्रहः ।  
व्यभिचारिणश्चास्य आवेग-जडता-सम्भ्रम-स्तम्भ-अश्रु-गद्गद्-रोमाञ्चादय इति ॥  
[१६] १२१ ॥

अथ शान्तः —

[सूत्र १७६]—संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्र-विमर्शनः ।

शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा-ध्यानोपकारतः ॥ [२०] १२२ ॥

देव-मनुष्य-नारक-तिर्यग्भूषेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् भयम् । वैराग्यं  
विषयचैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्य-पापादिरूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतुप्रतिपाद-  
कस्य विमर्शनं पुनः पुनरचेतसि न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः, काम-क्रोध-लोभ-मान-  
मायाद्यनुपरक्त-परोन्मुखताविषयजिताविलष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति ।  
तर्जन-व्यध-यन्धादिसहनं क्षमा । ध्यानं जीवाजीवादितत्त्वभाषनम् । अनेन स्वानुभावा

स्पर्श, गृह, गीतादि, उत्तका दर्शनं अर्थात् मात्सर्यकार करमा । इससे स्पर्श कहना या सुनना  
भी गृहीत होता है । अभीष्ट पदसे अदन्त चाहने योग्य अत्यन्त प्रिय अर्थ गृहीत होता  
है । उत्तकी सिद्धि अर्थात् प्राप्ति भयवा उत्पत्ति । इस प्रकारके विभावोंसे विस्मय रूप स्थायि-  
भाववाला श्रद्दभुत रस उत्पन्न होता है । [कारिकामें आए हुए] 'हर्ष' पदसे अपने अनुभाव  
सूचित होते हैं, इनसे नेत्रोंका विस्तार, अंगोंको तोड़ना-मोड़ना टकटकी लगाकर देखना,  
कपड़ा धरवा अंगुलियोंका घुमाना, गद्गद् वचन, कम्पन और स्वेदादि अनुभावोंका ग्रहण  
होता है । आवेग, जडता, स्तम्भ, अश्रु, गद्गद् और रोमाञ्चादि इसके व्यभिचारिभाव  
होते हैं ॥ [१६] १२१ ॥

अथ शान्तं [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७६]—जन्म-मरण [रूप संसार] से भय, वैराग्य, [आत्मा-परमात्मा आदि]  
तत्त्वों और शास्त्रादिके विवर्तनसे उत्पन्न होने वाला शान्तरस होता है । और क्षमा, ध्यान  
तथा उपकार के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [२०] १२२ ॥

देव मनुष्य नारक या तिर्यक् [पशु-पक्षी] आदि रूपमें भ्रमना [अर्थात् बार-बार जन्म  
मरण करना] 'संसार' कहलाता है । उससे भय [शान्तरसका कारण होता है] । विषयोंसे  
विमुक्तता 'वैराग्य' कहलाता है । तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव अथवा पाप और पुण्य आदि  
रूप, तथा मोक्षके उपायोंके प्रतिपादक शास्त्रका विचार करना, चित्तमें बार-बार लाना ।  
इस प्रकारके विभावोंसे काम, क्रोध, मोह, अभिमान, माया आदिके सम्बन्धसे रहित विषयोन्मु-  
क्ततासे रहित अविलष्ट चित्तवृत्ति रूप शमस्थायिभाव वाला शान्तरस उत्पन्न होता है । टक-  
टकवार [तर्जन], व्यध, कम्पन आदिको सह लेना 'क्षमा' कहलाता है । जीव-अजीव आदि  
तत्त्वोंका विचार करना 'ध्यान' कहलाता है । इससे अपने निदबलदृष्टिता आदि अनुभाव  
सूचित होते हैं । 'उपकार' पदसे भेद, मुक्ति, प्रमोद [प्रमोद] कल्याण, और उपेक्षा [माप्सरस्य]  
आदि अनुभाव सूचित होते हैं । निर्वै, मति, स्मृति, एति आदि इनके व्यभिचारिभाव हैं ।  
[पनञ्जय आदि जेते] विष्णो [आचार्यों] ने इस [शान्तरस] को नहीं माना है । उनके मतसे

निश्चलदृष्टिादयः सूचिता । उपकारेण मैत्री प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यादयोऽनुभावा  
गृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयः । अयं च कैश्चिन्नोक्तः,  
तेषां सकलक्लेशविमोक्षलक्षणमोक्षपुरुषार्थपराङ्मुखत्वमेव दूषणमिति ॥ [२०] १२२॥

अथ काव्येषु रसनिबन्धनेऽवहितैर्भाव्यमिति उपदिशति—

[सूत्र १७७]—अर्थ-शब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।

अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ॥ [२१] १२३॥

शब्दाद्यौ अभिनेयानभिनेयभेदस्य काव्यस्य वपुः शरीरम् । रसा पुनः प्राणा ।  
तैर्विभावोपनिबन्धनकरणोपनीतैः सहृदयहृदयेषु काव्यं विसर्पति । तेन हेतुना कवि-  
मम्मन्यानां अञ्जसा मुख्यतो रसेषु सौहार्दं प्रीतिः । रसाविर्भाविना प्रयत्नेनैवोपनीतस्य,  
अलंकारस्यापि नियन्धः । स चेतश्चमत्कारोत्प्रेष इति अञ्जसा इत्युक्तम् । यथा—

“कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,

निपीतो निश्वासैरयममृतद्वयोऽधररसः ।

सकल फलेशोक्ति छुड़ाने वाले मोक्ष रूप पुरुषार्थसे पराङ्मुख होना ही दूषण है । [इसलिए उन  
का मत उचित नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिए शास्त्ररसकी स्थिति  
आवश्यक है । जो लोग शास्त्ररसको नहीं मानना चाहते हैं उनके मतमें मोक्षकी सिद्धिका मार्ग  
ही धुन्ध हो जाता है । फिर मोक्षकी सिद्धि किस प्रकार होगी । इसलिए सकल पुरुषार्थके  
विरोधिभूत मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके एकमात्र हेतुभूत शास्त्ररसका मानना अनिवार्य है । यह  
पण्यकारका अभिप्राय है ।] ॥ [२०] १२२ ॥

अथ काव्यो [की रचना] में [कवियोंकी] रसका समावेश करनेमें विशेष रूपसे  
सावधान रहना चाहिए इस बातकी [अगली कारिकामें] कहते हैं—

[सूत्र १७७]—शब्द और अर्थ रूप शरीर वाला काव्य, रस रूप प्राणोंसेही चलता है  
इसलिए अपनेकी कवि समझने वाले [सुकवियों] का रसोंके प्रति अनायास प्रेम होता  
है । [२१] १२३ ।

अभिनेय तथा अनभिनेय भेद वाले काव्यका शरीर शब्द और अर्थ है । और रस  
उनका प्राण है । विभावोंके सम्प्रेष रूप साधनोंमें प्रवृत्त जब [रसों] के द्वारा काव्य सहृदयों  
के हृदयमें प्रवेश पाता है [विसर्पति] । इस कारण अपनेकी कवि समझने वाले सुकवियोंका  
रसोंमें प्रपात रूपसे प्रेम होता है । [मुख्य रूपसे] रसको आविर्भूत करने वाले प्रयत्नसे ही  
प्राप्त होने वाले अलंकारकी भी रचना करनी चाहिए । [अलंकारोंकी रचनाके लिए अलगसे  
प्रयत्न सुकवि नहीं करते हैं । रसके सन्निवेशमें जो यत्न करते हैं उसीसे स्वाभाविक रूपसे  
अलङ्कार भी उनके काव्योंमें आ जाते हैं] और वे चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं । इस  
बातके सूचन करनेके लिए [कारिकामें] ‘अञ्जसा’ पदका ग्रहण किया है ।

जैसे—

हे मानिनि प्रिये ! तुम्हारे गालोंपरकी पत्राली [चन्द्रनादिके द्वारा घनाई गई  
सोन्दर्यापायर देखाएँ, नाराज हो जानेके कारण गालोंके ऊपर रसे गए] हाथोंकी रगड़  
से मिट गई [किन्तु तुमने हमें उनके छोका अग्रसर नहीं दिया] अमृतके समान गुग्गर तुम्हारे

मुहुः कष्टे लग्नस्तरलयति वाप्यः स्तनतटं,  
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न ॥ वयम् ॥”

यथा राघवाभ्युदये—

“तल्लावण्यमनन्यवृत्तिवचसां तत् कौशलं पेशलं,  
तत् सौभाग्यमभाग्यमर्त्यविमुखं सद् यौवनं पावनम् ।  
एकेन प्रियसङ्गमेन मनसो विश्रामधाम्ना विना,  
व्यर्थं सा हृदि सर्वमेव मनुते व्यालोलनेत्रोत्पला ॥”

यथा वास्मदुपश्ले मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे मकरन्दः—

“आस्यं हास्यकरं शशाङ्क्यशसां विम्याधरः सोदरः,  
पीयूषस्य, यत्नांमि मन्मथमहाराजस्य तैजांसि च ।  
दृष्टिर्विष्टपचन्द्रिका स्तनतटी लदमीनटीनाट्यभूः,  
औचित्याचरण विलासकरणं तस्या प्रशस्यावधे ॥”

यथा वास्मदुपश्लेयां वनमालाया नाटिकायाम्—

“राजा—[दमयन्ती प्रति]—

“दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलेयं कम्पः किमेव पदमोष्ठदले वयन्य ।  
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य वक्त्रस्य कुङ्कुममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम् ॥”  
एषु रसप्रयत्नेनैव शब्दार्थालंकारलाभः ॥ [२१] १२३ ॥

इन अक्षरोंके रसको उल्लेख निःश्वासोत्तेज्यो आता [पर हमें न मिल सका] धीरे मुंहारे धाँसू  
गलेमें निपटते हुए स्तनोंके [ऊपर गिरकर उनके] तटकी चम्बित कर रहे हैं [पर हम  
उसके छूनेके लिए तरस रहे हैं] जान पड़ता है कि [आज] कोय ही मुंहारा प्रिय बन गया  
है, हम नहीं ।”

अथवा जैसे ‘राघवाभ्युदय’ में—

“वह खञ्जल नेत्रों वाली [व्यालोलनेत्रोत्पला, अपने] उस [सीबीत्तर] लावण्यकी,  
अप्य न पाए जाने वाले वक्त्रोंके उस सुन्दर बीजलकी, अभाग्यशाली पुरखोंको प्राप्त न हो  
सकने वाले उस सौभाग्यकी, धीरे उस ववित्र [अपने] यौवनकी, हृदयकी विधाम देने वाले  
एकमात्र प्रियसङ्गमके विना इस सबको व्यर्थ ही समझती है ।”

अथवा जैसे हमारे बनाए हुए ‘मल्लिकामकरन्द’ नामक प्रकरणमें मकरन्द—

“सौन्दर्यकी चरम सीमा [प्रशस्यावधे] रूप उस [नायिका] का मुल बहामाकी कीर्ति  
का उपहास करने आता है, विम्याधर अमृतका सहोदर है, बाणो मन्मथ महाराजके तेजके  
समान है, दृष्टि स्वर्गकी आँखों सी है, स्तनतटी सदाभी रूप नटीकी ओझाभूमि है धीरे उचित  
आचरण विलासकी उत्पन्न करने आता है ।”

अथवा जैसे हमारी बनाई हुई ‘वनमाला’ नाटिकामें—

“राजा [दमयन्तीके प्रति]—

[हे प्रिये ! मुंहारी] दृष्टि पुराने लोभ [पाटल वृक्ष विशेष] के समान सात बरों हो  
रही है ? मुंहारे ओठके कम्प क्यों हो रहा है ? धीरे बिना हो कुङ्कुमके लगाए मुंहारे  
मुँहपर नारंगीके रंगकी भी पराजित करने आती वह सातिमा क्यों हो रही है ?

अमुमेवार्थं द्रष्टव्यम्—

[सूत्र १७८]—न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।

विपाककम्रमप्याम्रं उद्वेजयति नीरसम् ॥ [२२] १२४ ॥

न हि नयनवार्थव्युत्पन्नशब्दग्रथनमेव काव्यं, तर्क-व्याकरणयोरपि तथाभाव-  
प्रसंगात् । किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः । विपाककमनीयमपि सहकारफलं  
विरसमुद्वेगमावहति । अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमकश्लेषादीनामेव  
नियन्धमर्हन्ति । न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ॥ १२४ ॥

अथ विरुद्धरसानां विरोधे व्यवस्थामाह—

[सूत्र १७९]—एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योयोगे विरुद्धता ।

एकस्मिन्नाश्रये नायकादौ तस्मिन्नेव प्रक्रमे परस्परविरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता,  
न तु भिन्ने । यथाऽर्जुनचरिते—

इनमें रसके लिए किसे गए प्रयत्नसे ही [स्वाभाविक रूपसे] शब्दालङ्कार तथा अर्था-  
लङ्कारोका समावेश हो गया है [उनके लानेके लिए कविने धृक् प्रयत्न नहीं किया है ।]

इसी बातको पुष्ट करते [हुए आगे कहते] हैं—

[सूत्र १७८]—काव्यमें शब्द तथा अर्थकी कल्पना उत्तमी प्रशसनीय नहीं होती है  
जितनी रसकी स्थिति । जैसे एक जानेके कारण सुन्दर लगने वाला आमका फलभी रस-रहित  
होनेपर बुरा मान्य होता है ॥ [२२] १२४ ।

नए-नए अर्थोंको प्रकाशित करने वाले शब्दोंकी रचना कर देना मात्र ही काव्य नहीं  
कहलाता है । क्योंकि न्याय तथा व्याकरणादिमें भी यह [नए-नए अर्थोंके प्रकाशक शब्दोंकी  
रचना] हो सकता है । किन्तु [विचित्र] चमत्कारजनक, रससे पवित्र शब्द और अर्थका समि-  
वेश [ही काव्य कहलाने योग्य होता है] । जैसे परिपाक हो जानेके कारण सुन्दर दिखलाई  
देने वाला भी आमका फल रसशून्य होने पर बुरा लगता है । इसलिए केवल शब्द तथा अर्थ  
का अवलम्बन करने वाले शुष्क कवि यमक अनुप्रास आदिकी ही रचना कर सकते हैं, रस-  
प्रधान नाटककी [रचना] नहीं कर सकते हैं ॥ [२२] १२४ ॥

अब विरुद्ध रसोंका विरोध [अपस्थित] होनेपर उसके परिहारके मार्ग [व्यवस्था]  
की धतलारते हैं—

[सूत्र १७९]—एक ही स्थानपर दो स्वतन्त्र और तुल्यशक्ति वाले रसोंमें विरोध होता  
है । [अर्थात् (१) भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले अथवा (२) स्वतन्त्र ॥ रहने वाले, अथवा (३)  
तुल्य बल न रहने वाले रसोंमें विरोध नहीं होता है । अत एव (१) दो विरोधी रसोंमें आश्रय-  
भेदसे, (२) एकको दूसरेके अंग बना देनेपर, अथवा (३) दोनोंको किसी तीसरे अविरोधी  
रसका अंग बना देनेसे और गौण रूपसे वर्णन करनेपर विरोध नहीं रहता है । यही उनके  
विरोध-परिहारके मार्ग हैं ।]

एक ही आश्रय अर्थात् नायकादिमें और उसी प्रसंगमें परस्पर विरोधी रसोंका विरोध  
होता है । भिन्न आश्रयोंमें अथवा भिन्न प्रसंगोंमें [उसी नाटकमें विरुद्ध रसका वर्णन] होने  
पर विरोध नहीं होता है । जैसे अर्जुनचरितमें—



समुत्थिते धनुर्ध्वनी भयावहे किरीटिनः ।

महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विपाम् ॥”

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानकः ।

यथा वा—

“दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,

प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा

जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥”

अत्र तस्मिन्नेव प्रक्रमे मुनि-कामुकयोर्भिन्नयोर्न शृङ्गार शान्तौ विरुद्धाविति ।

तथा स्वैरिणोः स्वतन्त्रयोः मत्तोर्यिरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु परतन्त्र-  
गततन्त्रयोः, मुख्यस्यावत्तयोर्वा यथा—

“कुरवक ! कुचाघातश्रीडामुखेन वियुज्यसे,

यकुलविटपिन् ! स्मर्तव्यं ते मुलासवसेचनम् ।

चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक ! मशोकतां,

इति निजपुरत्यागे यस्य द्विपां जगदुः स्त्रियः ॥”

यत्पुंनके भयावह धनुषके ध्वनिके उदय होनेपर इन्द्रके शत्रुधर्मके नगरमें घड़ी घबराहट फैल गई ।

इसमें [वीर तथा भयानक दो रसोंका वर्णन है । ये दोनों रस एकाधपमे होनेपर विरोधी माने जाते हैं । यहाँ उन दोनोंके आश्रयका भेद कर दिया गया है । इसलिए उनमें विरोध नहीं रहता है] । नायक [यत्पुंन] ने वीर रस है और शत्रुधर्म भयानक रस है [इस-  
लिए आश्रयभेद हो जानेसे उनमें विरोध नहीं रहा] ।

अथवा जैसे—

रक्तपानकी इच्छा करने वाली [दूसरे पक्षमें अनुरागपूर्ण मन वाली] मृगराजकी यष्टु  
[सिंहनी दूसरे पक्षमें किसी राजाकी पत्नी] ने आपके रोमाञ्चयुक्त शरीरके ऊपर जो दन्त-  
प्रहार और मल्लोत्ते विपाटनके छिह्न बनाए हैं उनको मुनिधर्म भी सत्पुरुष होकर [अर्थात्  
हम भी इन दन्तक्षत मलाक्षतोत्ते विमुग्धित होते इस इच्छासे] देखा ।

यहाँ उसी प्रसङ्गमें मुनि और कामुक दो भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले क्षांत और  
शृङ्गार रसोंका विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार [दो विरोधी रसोंके] स्वतन्त्र रूपसे [वर्णित] होनेपर ही विरोध होता है  
एकके परतन्त्र और दूसरेके स्वतन्त्र होनेपर अथवा दोनोंके किसी तीसरे मुख्य रसके अधीन  
होनेपर [उनका विरोध] नहीं होता है । जैसे—

हे कुरवक ! [कृष्ण विधोष, हमारे यहाँसे चले जानेपर] तुम [हमारे द्वारा प्राप्त होने  
वाले] कुचाघातके सुखसे वञ्चित हो जाओगे । हे बभ्रु ! [मीतधर्मके कृष्ण] तुम्हें [हमारे द्वारा  
प्राप्त होने वाले] मद्यके मुत्ते द्वारा सेवनकी याद द्राप्य करेगी । हे मशोक ! हमारे चरण  
प्रहारसे वञ्चित हो जानेपर तुम शोकयुक्त हो जाओगे । जिसके [अथवा] चरण उतने]  
शत्रुधर्मो स्त्रियां इस प्रकार [इन वृत्तोंको सम्बोधित करके] बहती थी ।

अत्रोद्दीपनविभावेः कुरवकादिभिर्गृहीप्यमानः शृङ्गारो विशेषतः करुणं स्वतन्त्र-  
मङ्गिनं द्विपत्नीणां पोषयति ।

यथा वा—

“अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्युरुज्ज्वनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः ॥

अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि पतितबाहुदर्शनेन तत्प्रियाणां शृङ्गारः स्मर्यमाण-  
करुणं पोषयति ।

मुख्यस्यायत्तौ यथा—

“क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानांऽशुकांतं,

गृहन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,

कामीवाद्रांपराधः स दहत्तु दुरितं शान्भवो वः शराग्निः ॥”

अत्र त्रिपुररिपप्रभावातिशय कर्ण-शृङ्गारावद्भूतौ । परस्परविरोधेऽपि चान्य-  
मुखप्रेक्षितपारतन्त्र्यदुःखाभिधातेन स्वात्मपुष्टिमलभमानयो-नृपसमीपस्थित-आतता-  
यिद्वयवत् कुतः कर्ण-शृंगारयोर्घात-घातकभावः इति ?

इसमें कुवचक आदि रूप उद्दीपन विभावोंके द्वारा उद्दीप्त किया जाने वाला शत्रु  
स्त्रियोंका शृङ्गार रस उनके भीतर रहनेवाले प्रधान और स्वतन्त्र कर्णरसको पुष्ट करता है ।

अथवा जैसे—

[हमारी रशना अर्थात् तगड़ीको हटाने वाला, पीन स्तनोंका मर्दन करने वाला तथा  
नाभि जंघाओं और नितम्बोंका स्पर्श करने वाला तथा नारेको खोसने वाला [हमारे प्रियतम  
भूरिश्रवाका] यह वही [आनन्ददायक] हाथ है ।

इसमें समरभूमिमें पड़े हुए भूरिश्रवाके हाथको देखकर उसको स्त्रियोंका स्मर्यमाण  
शृङ्गार रस [भूरिश्रवाकी मृत्युके बाद वर्तमान] कर्ण रसका परिपोषण कर रहा है । [इस-  
लिए शृंगार कर्ण रसका अंग होनेसे उसका विरोधी नहीं है] ।

[किसी तीसरे] मुख्य रसके अधीन रहने वाले [दो विरोधी रसोंके अविरोधका  
उदाहरण] । जैसे—

शिवजीके द्वारा किए गए त्रिपुरदाहके समय त्रिपुरकी स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन  
करते हुए कविने इस श्लोकमें अग्निका कामीके साथ सादृश्य इस प्रकार दिखलाया है—

[आर्द्रांपराध कामीके समान स्त्रियोंका] हाथ पकड़नेपर भटक दिया गया, बलात्  
हटाए जानेपर भी वस्त्रोंको ग्रहण करनेवाला, केशोंको छूते समय दूर हटाया गया, पैरोंमें  
गिरनेपर भी [अग्नि यक्षमें] भयके कारण [और कामी पक्षमें सम्भ्रम अर्थात् आदरपूर्वक]  
न देखा गया, और [परस्त्री गमन आदि रूप नुरत किए हुए अपराधके कारण] ताजे अपराध  
वाले कामीके समान आँखोंमें आँसू भरे हुए त्रिपुरकी युवतियोंने आलिगन करते हुए जिस  
[अग्नि] को भटक दिया है इस प्रकारका शिवजीके बाणोंका अग्नि तुम्हारे दुःखों या पापों  
को नाश करे ।

इसमें कर्ण और शृंगार [दोनों परस्पर विरोधी रस] त्रिपुरारि [शिवजी] के प्रतापा-

तथा एकाश्रययोरपि तुल्यबलयोर्विरोधो, न तु हीनाधिकबलयोः । यथा पुरु-  
रवाः प्राह—

“क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,  
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।  
किं वक्ष्यत्यपकल्मषाः कृतधियः म्यप्नेऽपि सा दुर्लभा,  
चेतः ! स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा घन्योऽघरं धास्यति ॥”

अत्र शृङ्गार-शांतयोर्न परस्परमङ्गाङ्गिभावो अपोष्य-पोषकत्वान् । तृतीयम्या-  
भावात् अङ्गभावोऽपि नास्ति, किन्तु स्वतन्त्रौ । तथापि न विरोधः, शांतस्यागन्तुकत्वेन  
अल्पबलत्वान् । अत एवात्र पर्यन्ते शृङ्गारे विथान्तिः । मयमन्यप्राप्नुदाहार्यम् ।

तथा एकाश्रययोः स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्विबुद्धयोर्योगे नैरन्तर्ये विरोधो न त्य-

तिशयके अंग हैं । इसलिये परस्पर विरोधी होनेपर भी दूसरे [प्रधानभूत शिष्यके प्रतापाति-  
दाय] का मुख देखने वाले होनेसे परतन्त्रताके दुष्टसे आक्रांत होकर स्वयं अपने परिपोषणको  
न प्राप्त कर सकने वाले कल्ल और शृंगारमे, राजाके समीपमें स्थित दो आततायियोंके  
समान एक दूसरेके लिए घातक-घातक भाव नहीं हो सक्ता है । [इसलिये यहाँ इन दोनों रसों  
का परस्पर विरोध नहीं है] ।

इसी प्रकार एक ही [नायक आदि क्व] आधयमें रहने पर भी दोनोंके तुल्य बल  
होनेपर ही विरोध होता है । दुर्बल और प्रबल होनेपर नहीं । जैसे [विक्रमोर्वशीयमें] पुष्-  
रवा कहता है—

(१) कहीं यह अनुचित कार्य और कहीं [हमारा उज्ज्वल] चन्द्रवंश [तर्क] ।

(२) क्या वह फिर कभी देवनेकी मिलेगी [प्रोत्सुष्य] ।

(३) [घरे] मैंने तो दोषोंपर विजय प्राप्तके लिए ही दान्त्रोंका अप्ययन किया है  
[फिर इस पुनर्गर्ण क्यों जा रहा हूँ] [यति] ।

(४) [प्रोहो] प्रोषमे [नाराज होनेपर] भी उसका [लास-लास] मुल कितना सुन्दर  
लगता है । [स्मरण] ।

(५) [घरे मेरे इस व्यवहारको देखकर] विद्वान् अब धर्मिमा लोग मुझको क्या  
कहेंगे [शंका] ।

(६) यह तो । अब स्वप्नमे भी दुर्लभ हो गई । [देय]

(७) मेरे मन तनिक घोरज रत्तो । [धर्म]

(८) न जाने कौन सी भाग्यदात्री पुनः उसके अपराधतृप्त पान करेगा [विन्ता] ।

इसमें शांत और शृंगार रसोंका पोष्य-पोषकभाव न होनेसे अंगानिभाव [धर्मात् नृण-  
प्रधानभाव] नहीं है । और बिम्बे तीसरे [रस] के न होनेसे [दोनोंका तीसरेके प्रति] प्रणमाय  
भी नहीं है । किन्तु दोनों स्वतन्त्र रस हैं । फिर भी यहाँ शांत रसके आगन्तुव होनेसे दुर्बल  
[तथा शृंगारके प्रवृत्त होनेके कारण] होनेसे [उन दोनोंका] विरोध नहीं है । इसलिये  
यहाँ अन्तमे शृंगार रसमें ही विथान्ति होती है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने  
आहि ।

और एकाधयमें रहने वाले दो स्वतन्त्र तथा तुल्य बल रसोंका भी नैरन्तर्य [धर्मात्

विरुद्धेन रसान्तरेण व्यवधाने । यथा नागानन्दे—

“रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः ।”

इत्यादिनोपक्षेपात् प्रभृति शांते रसस्तस्य विरुद्धो मलययतीविषयः शृङ्गारः—

‘अहो गीतमहो वादित्रम्’ इत्यादिना अद्भुतमन्तरे कृत्वा निवद्धः । एवमन्ये-  
ष्वप्युदाहार्यमिति ।

विभाव-व्यभिचारिणां तु रसानुरोधेन विरोधः परिहारश्च द्रष्टव्यः ।

अथ रसदोषानाह—

[सूत्र १८०]—दोषोऽनौचित्यमङ्गप्रचं अपोषोऽत्युक्तिरङ्गिभित्

॥ [२३] १२५ ॥

(अ) सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यं तत्त्वानेकधा ।

(फ १) तत्र क्वचित् प्रतिकूलविभाव-मात्रनियन्धो यथा—

“त्यजत मानमलं यत विग्रहेर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।

परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥”

अप्यवधानसे वर्णन होवेपर ही विरोध होता है । [दोनोंके] अविरोधी अन्य रसके व्यवधान होनेपर विरोध नहीं होता है । जैसे नागानन्दमें—

[हे मित्र प्राप्ये ! यह यौवन] विषय-वासनाका घर है यह बात मैं जानता हूँ और यह सब रहने वाला नहीं है यह बात भी मुझे मालूम है [प्रथमांक श्लोक संख्या ४] ।

इत्यादि [मुख्यसन्धि] उपक्षेप [नामक अंग] ॥ लेकर शांत रस [प्रारम्भ हो गया] है । उसका विरोधी मानती विषयक अनुराग [प्रथमांकके १४ वें श्लोकके पूर्व कहे गए] ‘अहो गीतमहो वादित्रम्’ इत्यादि [वाक्य] से बीचमें अद्भुत रसका समावेश करके [व्यवधानसे] वर्णन किया गया है । [इसलिए यहाँ शांत तथा शृंगार रसोंका विरोध नहीं रहता है] । इसी प्रकार अग्रे रसोंमें भी समझ लेना चाहिए ।

[विरोधी रसों] के विभावों तथा व्यभिचारिभावोंमें रसके [विरोध-अविरोधकी] व्यवस्थाके अनुसार ही विरोध तथा उसका परिहार समझ लेना चाहिए ।

अथ रसके दोषोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र १८०]—(क) [रसोंका] अनौचित्य, (ख) अंगोंकी उपरता [अर्थात् अप्रधानभूत रसका प्रधानरसकी अपेक्षा विस्तारपूर्वक वर्णन] (ग) [मुख्य रसकी] पुष्टिका अभाव, (घ) [मुख्य रसका भी आवश्यकतासे] अधिक विस्तार (ङ) [अंगिभित् अर्थात्] प्रधान रसकी भुला देना [ये पाँच प्रकारके रसके] दोष होते हैं । [३३] १२५ ।

(क) सहृदयोंके [मनमें] अज्ञा या संदेह [उत्पन्न] करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है । और वह अनेक प्रकारका हो सकता है । [रसका अनौचित्य] कहीं (क १) प्रतिकूल विभावादिके वर्णन रूप होता है । जैसे—

इस मानको छोड़ दो, [अधिक काल तक] प्रणय-कलह करना उचित नहीं है । यह [यौवनकी] सुन्दर अवस्था [एक बार समाप्त हो जानेपर] फिर लौटकर नहीं आती है । फोकिन्नोंके [रूढ़ शब्द द्वारा] मानो इस प्रकारकी सूचना देनेपर वधूजन का मोत्सुक पतियोंके

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शातस्यानित्यताप्रकाशरूपो विभावो निरुद्धः ।

(क २) क्वचिदकाण्डे प्रथनम् । यथा चेणीसहारे धीरोद्धतप्रस्ननेरपि दुर्योधनस्य भीष्म-प्रमुखमहावीरलक्ष्म्यकारिणि प्रवृत्ते समरसंरम्भे भानुमती प्रति शृङ्गारवर्णनम् ।

(क ३) क्वचिदकाण्डे विच्छेदो यथा वीररचिते राघव-भार्गवयोर्धाराविरुद्धे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तः ।

(क ४) क्वचिदुत्तमाधम-मध्यमाना प्रकृतीनामन्यथा वर्णनम् । यथा—  
उत्तमाना हास्य-धीमत्स-कण-भयानक-अद्भुतप्रवर्णः ।

(क ५) मध्यमाऽधमाना तु अप्राप्य शृंगार, वीर-रौद्र-शातप्रकर्षश्च ।

(क ६) उत्तमेष्वपि द्विव्येषु सम्भोगशृंगारवर्णनं पित्रो सम्भोगवर्णनमपि यथा कुमारसम्भवे उमा-महेश्वरयोः ।

(क ७) अद्विव्येषुत्तमेष्वपि सद्यः फलदप्रोदन-पातालगमन-समुद्रलघनाद्युत्साह-वर्णनम् ।

साध रसण करने लगीं ।

(क १) इसमें शृंगार रसके प्रतिकूल अनित्यता प्रकाशन रूप शात रसके विभावों का वर्णन [प्रकृत शृंगार रसके] विपरीत है ।

(क २) वहाँ वेंनीके विस्तार कर देना [भी रस बोध होता है] जैसे चेणीसहारे [के द्वितीयाङ्क] में धीरोद्धत प्रकृतिके [नायक] होनेपर भी भीष्म आदि साखों वीरों का नाश कर डालने वाले [भयङ्कर] युद्धके आरम्भ होनेपर भी भानुमतीके प्रति शृंगारका वर्णन [अकाण्ड प्रथम रूप रसबोधका उदाहरण है] ।

(क ३) वहाँ अक्षररसके बिना ही रसका विच्छेद [कर देना भी रसबोध होता है] जैसे—महावीरचरित्रमें रामचन्द्र तथा परशुरामजीके बोध वीररसके पूर्ण प्रवाहपर आ जानेपर [अच्छा अक्षर में] 'बगन खोलनेके लिए जा रहा हूँ' यह रामचन्द्रका कथन [अकाण्डमें रसका विच्छेदक होनेसे रसबोध है] ।

(क ४) वहाँ उत्तम अथवा तथा मध्यम प्रकृतियों [वाले पात्रों] का विपरीत रूपसे वर्णन [प्रकृति विषयों नामक रसबोध है] जैसे उत्तम [प्रकृति वाले पात्रों] के वर्णन हास्य बीभत्स कण भयानक और अद्भुत रसोंका अत्यधिक वर्णन [अनुचित है]

(क ५) मध्यम तथा अधम [प्रकृतिके नायक] के [साध प्रपञ्च वर्णन] युद्ध शृंगार वीर, रौद्र और शातरसके प्रकर्षका वर्णन [अनुचित होनेसे ये दोनों प्रकारके वर्णन प्रकृति विषयों नामक रस दोनोंमें पाते हैं] ।

(क ६) उत्तम [प्रकृतियों] में भी दिव्य [पात्रों] के शृंगारका वर्णन [अपने] माना-पिताके शृंगार रसके वर्णनके समान [होनेसे अनुचित] है । जैसे कुमारसम्भवे पार्वती और शिवके [शृंगारका वर्णन] ।

(क ७) देवताओंके रौद्रर उत्तम प्रकृतियोंमें भी सुरत फल देने वाले बोध, स्वर्ग या पातालमें गमन, समुद्रलघनादिके उत्साहका वर्णन [भी अनुचित होनेसे इसी प्रकृति विषयों रूप रसबोधकी धरणीमें पाता है] ।

(क ८) धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशांतेषूत्तमेषु वीर-रौद्र-शृंगार-शांतानामवर्णनं, विपरीतवर्णनं वा । मध्यमाधमेषु त्रैषु वीरादिरसप्रकर्षवर्णनम् ।

(क ९) क्वचिद्वर्ण-समासान्यथाप्रथनम् । तत्र दीप्तेषु रसेषु संयुक्तैर्मूर्धन्यैश्च वर्णैः समासदैर्ध्येण च प्रायः प्रसन्नो मस्त्रणश्च बन्धः । अदीप्तेषु तु शृंगार-हास्य-करुण-शान्तेषु मूर्धस्थवर्गापञ्चमैर्ह्रस्वैश्च वर्णैः असमासेन मध्यमसमासेन च प्रायः प्रसन्नो बन्धः । सर्वेषु च प्रसिद्धैरक्लिष्टैरग्रान्यैः पुष्टैः पदैर्न्यासः ।

(क १०) क्वचिदुत्तमस्य उत्तमनायिकायां व्यलोकसम्भावना ।

(क ११) क्वचिन्नायिकापादप्रहारादिना नायकस्य कोपः ।

(क १२) क्वचिद् वयो-वेष-देश-काला-अवस्था-व्यवहारादीनामन्यथा वर्णनम् ।

(क १३) एवमन्यदपि यमक-रत्नेष-चित्रादिकं ऋतु-समुद्रादि-चन्द्रार्कोदया-स्तादिप्रकर्षवर्णनं च रसानङ्गमनोचित्यं द्रष्टव्यमिति ।

(ख) अथाङ्गोपग्रहम् । अंगस्य मुख्यरसोपपन्नतया अवयवभूतस्य औपग्रहं विस्तरितोक्तदृष्टं दोषः । यथा कृत्यारावणे जटायुवध-लक्ष्मणशक्तिभेद-सीताविपत्ति-

(क ८) धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशांत रूप उत्तम प्रकृतियोंमें भी वीर, रौद्र, शृंगार तथा शांत रसोंका वर्णन न करना अथवा विपरीत वर्णन [प्रकृति-विपर्यय नामक रस दोष होता है] और मध्यम तथा अधम प्रकृतियोंमें तो इन [धीरोदात्तादि] में वीरादि रसोंके प्रकर्षका वर्णन [भी अनुचित होनेसे प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोषमें घाता है] ।

(क ९) कहीं वर्णों तथा समासोंका [रसके विपरीत रूपमें] अग्रग्या प्रयोग [भी रसदोष में गिना जाता है] । जैसे [वीर रौद्रादि] दीप्त रसोंमें समुक्त और मूर्धन्य [अर्थात् ऋतुदृषाणां मूर्धा-र, प, तथा दृषणं] वर्णों तथा लम्बे-लम्बे समासोंसे सुन्दर और मनोहारिणी रचना बनती है । और शृङ्गार, हास्य, करुण, तथा शांत जैसे अदीप्त रसोंमें लो वर्णोंके पञ्चम अक्षर से युक्त ह्रस्व वर्णों और समास-रहित अथवा अल्प समासके द्वारा सुन्दर तथा मनोहारिणी रचना होती है । और सभी रसोंमें प्रतिष्ठ अलितष्ट घाम्यता-रहित तथा पुष्टार्थक पदोंका विन्यास होना चाहिए । [इसके विपरीत होनेपर दोष हो जाता है] ।

(क १०) कहीं उत्तम [प्रकृति] के [नायक] की उत्तम नायिकाके प्रति व्यभिचार-सम्भावना [भी अनौचित्य मानी जाती है क्योंकि उत्तम प्रकृतिकी नायिकामें इत प्रकारके दोषकी सम्भावना भी नहीं करनी चाहिए] ।

(क ११) कहीं नायिकाके पादप्रहारादिसे नायकके कोपका वर्णन [अनौचित्यके है] ।

(क १२) कहीं आयु, वेष, देश, काल, अवस्था तथा व्यवहारादिका अग्रग्या-वर्णन [भी अनौचित्य माना जाता है] ।

(क १३) यमक, इसी प्रकार [अनुचित रूपसे प्रयुक्त] श्लेष, चित्र, ऋतु, समुद्रादि, सूर्य तथा चन्द्रके उदयास्तादिके जो कि रसके अंग नहीं हैं उन [रसके अनङ्ग] के प्रकर्षका वर्णन [अर्थात् अत्यधिक विस्तारके साथ वर्णन] अनौचित्य समझना चाहिए ।

(ख) अथ [अङ्गोंकी] उग्रता [दोषका निरूपण करते हैं] अङ्ग अर्थात् मुख्य रसके पोषक होनेसे अवयव रूपकी उग्रता अर्थात् अत्यन्त विस्तारके कारण उत्पन्न हो जाना भी दोष है । जैसे कृत्यारावणमें जटायुके वध, लक्ष्मणके शक्ति सगने, और सीताकी विपत्तिकी सुन्दर

श्रवणेषु रामस्य सुदुर्मुहु कृष्णाधिक्यम् । अगभूतो हि रसो न धाराधिरोहमर्हति,  
अन्यथाऽङ्गिन वीररस तिरोदधीत् ।

केचिदत्र ह्यग्रीववधे ह्यग्रीववर्णनमुदाहरन्ति । स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायक  
स्यात्पवर्णनात् । तत्र हि वीरो रसः स विशेषतो ध्वन्यस्य शौर्य-विभूत्यतिशयवर्णनेन  
भूष्यत इति ।

(ग) 'अपोप' इति धाराधरोहण अपोपो दोष । यथा—

“धीमत्सा त्रिपया, जुगुप्सिततम कायो, वयो गद्वर,  
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो त्रियोगावह ।  
हातव्योऽयमसम्भवाय विरस मंसार इत्यान्तिक,  
सर्वस्यापि हि याचि, चेतसि पुन कस्यापि पुण्यात्मन ॥”

अत्र कविना 'याचि' इत्युपनिषन्ता विषयग्रीवसत्त्वानीना शान्तजनन प्रति  
मन्दत्वमुक्तम् । अन्यथा सर्वस्य चेतस्यपि स्यात् । अपोपरचागिनो अगागिभानगनि  
तस्य वा मुक्तकोपात्तस्य । अगभूतस्यापोप पुनरदोष एवति ।

(घ) 'अत्युक्ति' इति धाराधिरूढस्यापि रसस्य नेरन्तर्येण पुन पुन उद्दीप्ति

पर रामचन्द्रके बार बार कृष्ण [बिलापादि] का अधिक्य [इस औग्रय नामक रसदोषका उदा  
हरण है] । अङ्गभूत [अप्रधान] रसका अत्य त विस्तार नहीं होना चाहिए । अथवा वह  
प्रधान भूत वीररसको दबा देगा ।

कुछ लोग हयग्रीव ग्रथ में हयग्रीवके यरणको इसका उदाहरण बतलाते हैं । किंतु  
[हमारी सम्मतिमें तो] यह वृत्तदोष है [रसदोष नहीं है] । क्योंकि उसमें वृत्त [अर्थात् कथा  
भाग] के नायकका यरण कम [और प्रतिनायक हयग्रीवका यरण अधिक हो गया है] । अतः यह  
वृत्तदोष है रसदोषमें उसका उदाहरण नहीं देना चाहिए । उसमें वीररस [मुख्य रस] है और  
बध्य [हयग्रीव] के गीय तथा विभूति आदिके अतिशय यरणसे वह गोभित [परिपुष्ट] ही होता  
है [अतः उसमें रसदोष नहीं माना जा सकता है] । यह वृत्तदोष अर्थात् कथाभागका दोष है ।

(ग) अपोप अर्थात् [मुख्य रसका] प्रवाहपर न आना [अपोप नामक रसदोष होता  
है] । जैसे—

विषय अत्यन्त श्रीमत्स है यह शरीर [मल-मूत्र आदिकी खान होनेसे] अत्यन्त पण्डित  
है प्रायु विनष्ट होने वाली है और अथु बाघवर्षि नाम मिलन रातेमें मिलने बाल पथिका  
समान अत्यन्त शिथिल पथवसित होनेवाला ही होता है [असम्भवाय अर्थात्] पुनरुपसे घबनेके  
लिए [मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए] इस वीररस सत्तारको त्याग देना चाहिए इत्यादि [अराग्यपूर्ण  
वाच] सब लोगके केवल वचनधि रहती है मनमें तो किसी पुण्यात्माकी ही धाई जाती है ।

इसमें याचि [वाणीमें ही होती है मनमें नहीं] ऐसा कहकर कविने विषयकी  
धीमत्सता आदिकी नांतरसकी उपस्थिति प्रति मन्दता सूचित की है । अथवा [यदि इनमें  
प्रबलता होती तो] सबके मनमें भी [उनकी स्थिति] होती [इसलिए यही रसका अपरिपोप  
रूप रसदोष है] । यह अपरिपोप (१) प्रधान रसका अथवा (२) मुख्यकोमें रस या रसका  
वर्णितका होता है । अगभूत [अप्रधान रस] का अपरिपोप दोष नहीं होता है ।

(घ) अत्युक्ति अर्थात् रसके प्रवाहपर बहुत जानेपर भी उसका बार-बार उद्दी

दोषो यथा कुमारसम्भवे रतिप्रलापेषु । लब्धपरिपोषो हि रसः पुनः पुनः परामृश्यमानो मालती-माल्यमिव म्लायति । अत एव प्रकर्षप्राप्त्यरसविशिष्टानां कवीनामल्पीयानेव वाग्विलास इति ।

(ङ) 'अग्निभित्' इति बहुरसे प्रबन्धे अवयवभूतरसापेक्षया अग्नितोऽवयवविभूतस्य रसस्य 'भिद्' अनुसन्धानं दोषः । अनुसन्धिर्हि सर्वस्वं रसपोषस्य । स्मृत्यभावे पुनरपोष एव । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रव्यागमनान् सागरिकाविस्मृतिरिति ।

अंगीग्यादयरच दोषाः परमार्थतो अनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः ।

केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थाधिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तद्युक्तम् । व्यभिचार्यादीनां स्वयाचकपदप्रयोगोऽपि विभावपुष्टिं—

“दूरादुत्सुकमागते विचलितं सम्भाषिणि स्फारितं,  
संरिज्यत्यरुणं गृहीतयसने किञ्चाञ्चित्प्रलूतम् ।

पन [करनेका प्रयत्न] करना [प्रधान रसका अति-विस्तार 'आयुषित' नामक रसदोष कहलाता है] । जैसे कुमारसम्भवे रतिके विलासोंमें [बार-बार कहण रसको उद्दीप्त करनेका प्रयत्न किया गया है] । इसलिए यह दोष है । क्योंकि रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद उसको बारम्बार स्पर्श करनेसे यह [बार-बार हुई गई] मालतीकी मालाके समान काँतिहीन हो जाता है । इसलिए प्रकर्ष-प्राप्त रसविशिष्ट कवियोंका वाग्विलास थोड़ा ही होता है । [अर्थात् उत्तम कवि रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद रसका घनावश्यक विस्तार नहीं करते हैं] ।

(ङ) 'अङ्गिभित्' अर्थात् अनेक रसों वाले प्रबन्ध [काव्य नाटकादि] में अवयवभूत [अप्रधान] रसकी अपेक्षासे अङ्गी [अर्थात् प्रधान] अवयवविभूत [प्रधान] रसका भेदन अर्थात् विस्मरण [अनुसन्धान, अङ्गिभित् नामक रस] दोष होता है । क्योंकि [हर समय मुख्य] रसका ध्यान रखना ही उसके परिपोषणका प्राण है । उसको भुला देनेपर तो उसका परिपोष ही नहीं बनता है । [इसलिए प्रधान रसको भुला देना रसका अपरिपोष-जनक 'अङ्गिभित्' नामक दोष कहलाता है] जैसे रत्नावलीके चतुर्थ अङ्कमें बाभ्रव्यके आ जानेपर [नाटककी प्रधान नायिका] सागरिकाकी विस्मृति [होनेसे मुख्य रसको ही विस्मृति हो गई है] । अतः उस में 'अङ्गिभित्' नामक रसदोष माना जाता है ।

[उक्त ५ रस दोषोंमें से प्रथम अनौचित्यको छोड़कर] अङ्गोंकी उन्नता आदि [शेष चारों] दोष वास्तवमें तो अनौचित्य [रूप प्रथम दोष] के भीतर ही आ जाते हैं फिर भी सहृद्योंको अनौचित्य [के विविध प्रकारों] का परिचय करनेकेलिए ही यहाँ दिखलाए गए हैं ।

कुछ लोग व्यभिचारिभाव, रस, तथा स्थायिभावोंके नामतः ग्रहण [स्वशब्दवाच्यत्व] को भी रसदोष मानते हैं । [हमारी अर्थात् ग्रन्थकार रामचन्द्र गुणचन्द्रकी सम्मतिमें] यह उचित नहीं है । व्यभिचारिभाव आदिके वाचक अपने पदों [नामों] का प्रयोग होनेपर भी विभाव आदिकी पुष्टि होनेपर [रसकी अनुभूति होती ही है] । उसमें कोई बाधा नहीं होती है । इसलिए व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्द-वाच्यता कोई दोष नहीं है । जैसे इस प्रकारके उदाहरणके रूपमें ग्रन्थकार अग्रता श्लोक उद्धृत करते हैं]—

[नायकके] दूर रहनेसे [उसके दर्शनके लिए] उत्सुक, [पास] आनेपर नीचे झुक



मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णक्षणां,  
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥”

इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम् । तस्मादव्युत्पन्नोक्तित्वादवक्रोक्तिरेवेयम् ।

एयमुभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधि-  
गमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव । यथा—

“परिहरति रति मति लुनीते स्फुरलतितरा परिवर्तते च भूय ।

इति यत् विपमा दशा स्वदेहं परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्म ॥”

अत्र मतिपरिहारादीनां विभावानां कस्यादावपि सम्भवान् शृंगारं प्रति भाव-  
त्यसन्देह इति ॥ [२३] १२५ ॥

अथ वृत्तिलक्षणे रसानन्तरमुद्दिष्टानां भावानामवसरस्तत्रापि रसानुरोधेन प्रथमं  
स्थायिन उच्यन्ते ।

[सूत्र १८१]—रति-ह्रासश्च-शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा ।

जुगुप्सा-विस्मय-शमा रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥

[२४] १२६ ॥

जाने वाले, उसके घात करनेपर [प्रसन्नतासे] फटे हुए, आतिथन करने लगनेपर [क्रोधसे]  
लाल हुए, और बपडा पकड़नेपर जोहों टँढ़ी किए तथा चरणोंमें प्रणाम करने लगनेपर  
आँसुओंसे भरे, मानिनीके नेत्र प्रियतमके [परस्त्री-सम्भोग रूप अपराधके] अपराधी होनेपर  
नाना प्रकारकी प्रपञ्च-रचनामें घतुर हो गए हैं यह आश्चर्यकी बात है ।

इत्यादिमें [उत्सुकता आदि रूप व्यभिचारिभावोंके स्वभाववाच्य अर्थात् मानसः  
पूरीत होनेपर भी] रसकी उत्पत्ति होनेसे यह [व्यभिचारिभावादिकी स्वभाववाच्यता] दोष  
नहीं होता है । इसलिए भविष्यानोंके द्वारा कथित होनेसे यह [स्थायिभावादिकी स्वभाववा-  
च्यताको दोष ठहराने वाली] उक्ति ठीक उक्ति नहीं है [अर्थात् व्यभिचारिभावादिकी स्व-  
भाववाच्यताको दोष नहीं मानना चाहिए] ।

इसी प्रकार दो रसोंमें समान रूपसे पाए जाने वाले विभावार्थि वाचक पदोंसे किसी  
एक निपतरसके विभावादिकी कठिनतासे प्रतीति भी [कितेकि सम्मट आदिने रसदोषोंमें  
गिनाया है वह रसदोष न होकर] सन्दिग्धत्वरूप वाचकदोष ही है । जैसे—

[इस नायिकाकी] बड़ी बेचनी हो रही है, इसकी बुद्धि ठिपाने नहीं है, बार-बार  
गिर पड़ती है, और निरी करवटे बदल रही है । इस प्रकार इससे देहकी बड़ी विषम अवस्था  
ही रही है इसका क्या उपाय करना चाहिए ।

इसमें रतिरा परिहरण आदि रूप विभाव[शृंगारमें तो होते ही हैं उससे प्रतिरिक्त]  
बहलादिमें भी हो सकते हैं इसलिए उनसे शृंगारसे प्रति भाव होनेमें सम्येह है [इसे धन्य लोग  
रगदोष मानते हैं । परन्तु प्रयत्नारसे यत्ने यह वाचकदोष है रसदोष नहीं] ॥ [२३] १२५ ॥

अब वृत्तियोंके लक्षणमें रसोंके बाद कहे हुए भावोंके प्रतिपादनका यद्यपि अवसर है  
किन्तु रसोंके प्रत्यक्षमें पहिले स्थायिभावोंको कहने हैं ।

[सूत्र १८१]—रति, हास, मोह, शोष, उन्माह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और दम [ये  
नौ शृंगारार्थि वृत्तौक्त भी] रसोंके सम्मट स्थायिभाव हैं । [२४] १२६ ।

स्त्री-पुंसयोरास्थावन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वंगो 'रतिः' । एषा च कामावस्थानुवर्तिन्या अभिलाषमात्रसाराया व्यभिचारिण्याः, देवतादिषु बन्धुषु मनोहरवस्तुषु च प्रीतिरूपायाश्च रतेर्विलक्षणैव । रञ्जनोन्मादानुविद्धश्चित्तस्य विकासो 'हासः' । निर्वेदानुविद्धं दुःखं 'शोकः' । अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापवेशः 'क्रोधः' । धर्म-दान-युद्धादिकर्मण्यनालस्यं 'उत्साहः' । वैक्लव्यं 'भयम्' । कुत्सितत्वाध्यवसायो 'जुगुप्सा' । उत्कृष्टत्वाध्यवसायो 'विस्मयः' । निःस्पृहत्वं 'शमः' । रसानां शृंगारादीनां स्थायिन परिणामिकारणानि । 'क्रमात्' इति रसोद्देशक्रमेण । तेनामी रसान्तराणां व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च भवन्ति । तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् । सहभावित्वेन पोषकत्वे व्यभिचारिता । कार्यत्वे त्वनुभावता । तथैषां विभावा अनुभावाश्च ये शृंगारादिषु रसेषूक्तास्त एवेति न पृथक् उच्यन्ते ॥ [२४] १२६ ॥

[सू० १८२]—निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्का-ऽसूया-मद-श्रमाः ।

चिन्ता-चापलमावेगो मति-व्याधिःस्मृति-धृतिः ॥

॥ [२५] १२७ ॥

स्त्री और पुरुषका एक-दूसरेके प्रति प्रेम, जिसको दूसरे शब्दोंमें 'प्रात्यावर्त्य' भी कहते हैं, 'रति' कहलाता है । यह [रति] कामावस्थामें रहनेवाली अभिलाषामात्र रूप व्यभिचारिभावात्मक रतिसे, तथा देवतादिके प्रति [प्रेम], बन्धुओंके प्रति प्रेम, और मनोहर वस्तुओंके प्रति प्रीति रूप रतिसे भिन्न प्रकारकी होती है । मनकी प्रसन्नता और उन्माव प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तका विकास 'हास' कहलाता है । निर्वेदसे युक्त दुःख 'शोक' कहा जाता है । [दूसरेके] अपकार करने तथा [दूसरेसे] घृणा करनेका हेतुभूत सन्तापका आवेश 'क्रोध' कहलाता है । धर्म, दान और युद्धादि कार्योंके प्रति आलस्यका अभाव 'उत्साह' कहलाता है । घबराहटका नाम 'भय' है । कुत्सित होनेका निश्चय 'जुगुप्सा' कहलाता है । उत्कृष्ट होनेका निश्चय 'विस्मय' कहा जाता है । [किसी वस्तुकी प्राप्ति आदिकी] इच्छाका अभाव 'शम' कहलाता है । रसोंके अर्थात् शृङ्गारादिके प्रति स्थायिभावे [अर्थात् रस्यादि परिणामके जनक] परिणामिकारण होते हैं । 'क्रमसे' [यह जो कारिकामें कहा है] इससे रसोंके नाम कीर्तनके क्रमसे इन [स्थायिभावों]की समझना चाहिए । इसलिए [ये रस्यादि जिस रसके स्थायिभाव माने गए हैं] उससे भिन्न रसोंमें ये व्यभिचारिभाव नथा अनुभाव रूप भी हो सकते हैं । उन [दूसरे रसों] में इन [रस्यादि] के आगन्तुक होनेसे स्थायिभावत्व [इनमें] नहीं बनता है । [रस्यादिके] सहचारी रूपसे रस-पोषक होनेपर उनको व्यभिचारिभाव कहा जाता है । और कार्यरूप होनेपर उनको अनुभाव कहा जाता है । इन [रस्यादि] के विभाव और अनुभाव जो शृंगारादि रसोंमें कहे हैं वे ही [यहां स्थायिभावोंमें] होते हैं इसलिए अलग नहीं कहे गए हैं । [अर्थात् शृंगारादि रसोंमें जो विभाव अनुभाव कहे जा चुके हैं वे ही रस्यादि स्थायिभावोंके भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव होते हैं इसलिए यहां उनको दुबारा नहीं कहा है] ॥ [२४] १२६ ॥

स्थायिभावोंके बाद अगली तीन कारिकाओंमें व्यभिचारिभाव दिखलाते हैं—

[सूत्र १८२]—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. अपस्मार, ४. शङ्का, ५. असूया, ६. मद, ७. धम, ८. चिन्ता, ९. चापलता, १०. आवेग, ११. व्याधि, १२. मति, १३. स्मृति, १४. धृति ।

अमर्षो मरणं मोहो निद्रा सुप्तौग्य-हृष्टयः ।

विषादोन्माद-दैन्यानि व्रीडा त्रासो वितर्कणम् ॥

॥ [२६] १२८ ॥

गर्वोत्सुक्यावहित्यानि जाड्यालस्य-विबोधनम् ।

अर्थस्त्रिशद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः ॥

॥ [२७] १२९ ॥

‘अर्थस्त्रिशद्’ इति द्वन्द्वानुवादमात्रम् । अन्येऽपि पुन सम्भवन्ति । यथा क्षुत्-  
कृष्णा मैत्री मुदिता भ्रष्टा-दया-उपेक्षा रति सन्तोष क्षमा मार्दव - आर्जव - दाक्षिण्यादयः,  
तथा म्हायिनोऽनुभावश्चेति । ‘यथायोगम्’ इति रसोचित्यानतिप्रमेण । तेन केचित्  
साधारणा, केचित् पुनरसाधारणा । एतच्च यथारसं निर्णयितुमेवेति ।

॥ [२४ २७] १२७ १२९ ॥

(१) अर्थेषां प्रत्येकशः स्वरूपप्रतिपादकं लक्षणमुच्यते—

[सूत्र १८३]—निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्यं श्वासतापकृत् ।

क्लेशा दारिद्र्य-ध्याध्यपमानेर्ष्या भ्रमाभ्रेश ताडनेष्टप्रियोग परविभूतिदर्श-

१५ अमर्ष, १६ मरण, १७ मोह, १८ निद्रा, १९ सुप्ति, २० हर्ष, २१ उग्रता,  
२२ विषाद, २३ उन्माद, २४ दैन्य, २५ व्रीडा, २६ त्रास, २७ वितर्क ।

२८ गर्व, २९ औत्सुक्य, ३० अवहित्या [ आचार-नोपन ], ३१ जडता, ३२  
आलस्य, और ३३ विबोध—ये संतीत औचित्यके अनुसार [यथायोग] रसोंके व्यभिचारि-  
भाव होने हैं । [२४-२७] १२७-१२९ ।

संतीत कहनेसे इस [ तीस और तीन ] द्वंद्व [समाससे संतीत सत्यावा] अनुवादमात्र  
किया गया है । किन्तु इनके प्रतिरिक्त अर्थ [व्यभिचारिभाव] भी हो सकते हैं । जैसे—भूल,  
प्यास, मैत्री, मुदिता, थका, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, श्रुता, सरलता, दाक्षिण्य  
आदि । और स्याविभाव तथा अनुभाव [भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं । ये सब इन ३३  
से मिलते हैं । इसलिये ३३ सत्या केवल पूर्ववर्तित सत्यावा अनुवादमात्र है] । ‘यथायोगम्’  
इसका अभिप्राय यह है कि रसके औचित्यके अनुसार [इनमेंसे कौन कहां किस रसमें व्यभि-  
चारिभाव है इसका निर्णय करना चाहिए] । इसलिये कुछ [व्यभिचारिभाव अनेक रसोंमें  
तमान रूपसे विद्यमान रहनेके कारण] साधारण होते हैं और कुछ [निश्चय रूपसे किसी  
विशेष रसमें ही रहनेके कारण] असाधारण होते हैं । इस बातका निर्णय रसोंके प्रसङ्गमें कर  
ही चुके हैं ॥ [२४-२७] १२७-१२९ ॥

(१) अर्थ समझ इनके स्वरूपके प्रतिपादक सज्जल करते हैं—

[सूत्र १८३]—सहस्रान्न [ परक वित्तवृत्ति ] रा नाम निर्वेद है । यह क्लेशांति  
उत्पन्न विरक्तान्ते कारण होता है और श्वास तथा तापका कारण होता है ।

क्लेश अर्थात् दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भय, पटकार [आक्रोश], मार,  
दृष्टिविषय, दूसरोंके देखव्य दर्शन आदि । सहस्रान्नादि अर्थ विभावोंमें जो संरस्य का निर्वेद

नादयः । तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैर्यद् वैरस्यं स निर्वेदः । स च निःश्वास-सन्तापयो-  
रुपलक्षणत्वादन्वेषां च चिन्ताश्रु-वैवर्त्य-दैन्यादीनामनुभावानां कारक इति । अयं च  
रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी न स्थायी । एवमन्येष्वपि वाच्यम् ।

मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूल-  
विभावादिपरिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन  
प्रतिदत्त इति ।

(२) अथ ग्लानिः—

[सूत्र० १८४]—ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः काश्यं—

कम्पभाक् ॥ [२८] १३० ॥

'पीडा' व्याधि-यमन-विरेक-क्षुत्-पिपासादिभिरनेकधा काय-मनोदुःखम् । 'आ-  
यासो' व्यायामाध्वगति-सुरतादिभिः कायक्लेशः । पीडा-जराऽऽयासैरुपलक्षणादन्वैश्व  
निश्रेष्ठेदमनस्तापादिभिर्विभावैर्याऽशक्तिः सामर्थ्याभावः सा 'ग्लानिः' । काश्यं काय-  
क्षामता । काश्यं-कम्पावुपलक्षणत्वात् क्षामवाक्य-मन्दपदोत्त्पे-वैवर्त्य-अनुत्साहा-  
दीन्वानुभावान् भजत इति ॥ [२८] १३० ॥

कहलाता है । और वह निश्वास और सन्तापका, तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे विन्ता,  
अश्रु-विषर्जता दैन्यादि आद्य अनुभावोका भी जनक होता है । यह [निर्वेद] रसोंमें नियत न  
होनेसे और कादाचित्क होनेसे व्यभिचारिभाव होता है । इसी प्रकार अन्य [व्यभिचारिभावों]  
में भी [अनियतत्व और कादाचित्कत्व होनेके कारण ही उनका व्यभिचारिभावत्व] समझना  
चाहिए ।

[ काव्यप्रकाशकार ] मम्मटने जो व्यभिचारिभावोंके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको  
शान्तरसका स्थायिभाव कहा है और 'प्रतिकूलविभावादिग्रहे' रूप रस बोधके प्रसंगमें उसी  
[शान्तरस] के प्रति [निर्वेद] के व्यभिचारिभावत्वका प्रतिपादन करके स्वयं ही अपने कथनका  
लक्षण कर लिया है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि निर्वेद स्थायिभाव नहीं होता है । सदा व्यभिचारिभाव  
ही होता है । मम्मटने जो व्यभिचारिभावोंके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको स्थायिभाव माना  
है वह अनुचित है । और आगे स्वयं उनके कथनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि निर्वेद शान्-  
तरसका स्थायिभाव नहीं अपितु केवल व्यभिचारिभाव है । उस दशमे शान्तरसका स्थायिभाव  
'शम' होगा । इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने शमको ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है ॥

(२) [सूत्र १३४]—अथ ग्लानि [का लक्षण करते हैं]—

पीडाका नाम ग्लानि है । वह यादृश्य और थम आदि विभावों [कारणों] से उत्पन्न  
होती है और क्लृप्ता तथा कम्प आदि [अनुभावों]को उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ [२८] १३० ॥

व्याधि, यमन, विरेचन, भूख, प्यास आदिके द्वारा अनेक प्रकारसे शारीरिक, मान-  
सिक दुःखका नाम 'पीडा' है । व्यायाम, मार्गगमन और सुरतादिसे होनेवाला शारीरिक क्लेश  
'आयास' [कहलाता] है । पीडा, यादृश्य और आयासादिसे तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे  
निद्रा न घाने, मानसिक सन्ताप आदि अन्य विभावोंसे जो अशक्ति होती है वह 'ग्लानि'  
कहलाती है । क्लृप्ता अर्थात् शारीरिक दुर्बलता । [और वह कम्पको जनक होती है] ।

(३) अथापस्मार —

[सू० १८५]—वैकल्यं ग्रह-दोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः ।

‘ग्रहा’ परग्रहणशीला पिशाचाद्या । धातुवैषम्य दोष । बहुवचनादुच्छिष्ट-  
शून्यस्थानसेवनाशुचिसम्पर्कादेर्यद् वैकल्यं कृत्याकृत्याविवेकत्व सोऽपस्मार । निन्द्य  
विगदितं सहसा भूमिपतन-फेनमोक्ष नि श्वसन धावन प्रवेपन स्तम्भ स्वेदादिक चेष्टि  
तममेति ॥

(४) अथ शका—

[सू० १८६]—शङ्का स्व-परदौरात्म्याद् बोलनं श्यामतादियुक्

॥ [२६] १३१ ॥

दौरात्म्यमकार्यकरणम् । उपलक्षणत्वाच्चास्य सादृश्यादयोऽपि विभावा प्राह्या ।  
बोलनं बोध-सन्देहाभ्यामनवस्थित्व चेतस । आदिशब्दान् मुहुरयलोकन-अवगुण्ठन-  
मुखौष्ठ-कण्ठशोष-जिह्वापरिलेहन-वेपथु चलष्टित्यादयोऽनुभावा गृह्यन्ते इति ।  
॥ [२६] १३१ ॥

(५) अधासूया—

काश्यं तथा कम्पके उपलक्षणरूप होनेसे आवाज न निकलना, पैर धीरे उठना, विषण्णता और  
अनुत्साह आदि अनुभावोंको भी बोधित करते हैं ॥ १३० ॥

(१) अथ अपस्मार का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८५] [ पिशाचादि रूप ] ग्रहों तथा [वात-पित्तादि रूप] दोषोंकी विषमतासे  
उत्पन्न वेचने ‘अपस्मार’ कहलाता है और वह [ भूमिपतन आदि रूप ] गहिल व्यापारोंसे  
युक्त होता है ।

दूतारोंकी पकड़ सेनेवाले पिशाचादि ‘ग्रह’ कहलाते हैं । वात, पित्त, कफ रूप धातुघर्ष-  
की विषमता ‘दोष’ कहलाती है । [दोषेभ्यो इत्य] बहुवचनसे उच्छिष्ट खाने, निर्जन स्थानमें  
रहने, और गन्धे पदार्थोंसे सम्पर्क रखनेसे जो विकलता अर्थात् कतंभ और अतंभका निश्चय  
न कर सकना वह ‘अपस्मार’ कहलाता है । ‘निन्द्य’ अर्थात् गहिल सहसा भूमिपर गिर पड़ना,  
फेन गिराने लगना, जोरसे इबास सेने लगना, दौड़ना, काँपना, कड़ा पड़ जाना और पसीना  
पाने लगना आदि चेष्टाएँ इसमें होती हैं ॥

(४) अथ ‘शङ्का’ [रूप अन्निवारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—अपने या दूसरेके दुष्टमते [अनर्था] अध्यन शङ्का कहलाती है । और  
वह श्यामता आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ [२६] १३१ ॥

‘दौरात्म्य’ अर्थात् अनुचित कार्योंका करना [दौरात्म्य पदसे] उपलक्षण रूप होनेसे  
[सर्पादिसे उत्पन्न शङ्कामें रज्जु आदि रूप] सादृश्य आदि विभावोंका भी ग्रहण करना  
आहिये । दुःख तथा गन्धेहरे कारण मनकी अस्थिरता ‘दोषन’ कहलाती है । आदि शब्दसे  
बार-बार देहना, मुँह ढक सेना, मुख, छोष्ट बचकन गुल जाना, जोभ खलाना, काँपना,  
पचल दृष्टि आदि अर्थ अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [२६] १३१ ॥

(५) अथ ‘अधसूया’ [का लक्षण करते हैं]—

[सू० १८७]—द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिरसूया दोषदर्शनी ।

आदिशब्दादपराध-गर्व-परसौभाग्य-पेश्वर्य-विद्या-लीलादर्शनादिग्रहः । सद्गुणा ज्ञान-क्रियादयो विशिष्टधर्माः । एषा च दोषान् बन्धकत्वादीनस्ततः स्तो वा दर्शयति । उपलक्षणात् भ्रूंसंग-अवज्ञा-गुणनिहव-मन्यु-क्रोधादयोऽनुभावा गृह्यन्ते इति ॥

(६) अथ मदः—

[सू० १८८]—ज्येष्ठौ मुग्धौ मद्यात्, निद्रा-हास्याश्रुत् क्रमात्

॥ [३०] १३२ ॥

ज्येष्ठ उत्तमः । आदिशब्दान्मध्यमाधमौ गृह्येते । निद्रया रिमत-मधुरास्वराग-रोमहर्ष-ईषद्व-याकुलवचन-सुकुमारगत्यादयः, हास्येन स्थलन-धूर्णन-बाहुसं-सन-कुटिल-गमनादयः, अश्रुणा च निष्ठीवन-जिह्वास्थलन-स्मृतिनाश-मतिभ्रंश-छर्दित-हिक्का-कफादयो गृह्यन्ते । 'क्रमात्' इति उत्तमादौ यथासंख्यं निद्रादयोऽनुभावाः । नाट्ये च रञ्जनानिमित्तमापानमपि क्वचिदभिनीयते । तत्र च मदो व्यभिचारी सम्भवति । यत्र पुनः पात्रं पीतमद्यमेव प्रविशति, तस्य त्रासादिना मदोऽपनेयोऽन्यथा कार्यव्याघातः स्यादिति ॥ [३०] १३२ ॥

[सूत्र १८७]—द्वेषादिके कारणे [किसी दूसरेके] सद्गुणोंको सहन न कर सकना 'असूया' कहलाता है और यह [सदा दूसरेके] दोषोंको देखने वाली होती है ।

आदि शब्दसे अपराध, गर्व, दूसरेके सौभाग्य, या विद्या, या लीला आदिके दर्शनका ग्रहण होता है । सद्गुण अर्थात् ज्ञान, क्रिया आदि विशिष्ट धर्म । यह [असूया] विद्यमान या अविद्यमान बन्धकत्वादि दोषोंको देखने वाली होती है । [दोषदर्शनी पदके] उपलक्षण रूप होनेसे भ्रूभङ्ग, अवमान, गुणोंका छिपाना, मन्यु तथा क्रोध, आदि [असूयाके] अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(६) अब मद व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८८]—ज्येष्ठ आदि [अर्थात् उत्तम, मध्यम या अधम प्राप्ति] में मद्य-जग्य और निद्रा, हास्य तथा रोदनको उत्पन्न करनेवाला आनन्द 'मद' कहलाता है ॥ [३०] १३२ ॥

ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम । आदि शब्दसे मध्यम तथा अधमका भी ग्रहण होता है । निद्रा पदसे मुस्कराहट, चेहरेपर हलकी लातिमा, रोमांच हो आना, अस्त-व्यस्त वचन और सुकुमार गति आदिका, 'हास्य' पदसे गिरना चक्कर खाना, हाथ ढीले हो जाना और लड़खड़ाना आदि, तथा 'अभ्र' पदसे यूकना, जीम चटकारना, स्मृतिनाश, मतिभ्रंश, वसन, हिक्की, कफ आदिका ग्रहण भी होता है । 'क्रमात्' इससे यह अभिप्राय है कि उत्तम आदि में क्रमशः निद्रा आदि अनुभाव होते हैं । [अर्थात् मदसे उत्तममें निद्रा, मध्यममें हास्य तथा अधममें रोदन होता है] । स्वामीके मनोरंजनके लिए कभी मद्यपानका भी अभिनय किया जाता है । उनमें मद व्यभिचारिभाव होता है । जो पात्र मद्यपान किए हुए हो अभिनेय करने के लिए आता है उसका मद तो जयादि द्वारा दूर कर देना चाहिए नहीं तो [अभिनय] कार्य में बिग्न पड़ेगा ॥ [३०] १३२ ॥

(७) अथ श्रमः—

[सूत्र १८६]—थमो रत्तादिभिः सादः स्वेद-श्वासादिकारणम् ।

आदिशब्दादध्वगति-व्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः । सादोऽङ्गादीनां शोषः । द्वितीयादिशब्दान्मुखविकृण्ण-विजृम्भण-अंगमर्दन-मन्दपदोत्तेपादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(८) अथ चिन्ता—

[१६०]—प्राधिश्चिन्ता प्रियानाप्लेः शून्यता-श्वास-काश्ययुक्

. ॥ [३१] १३३ ॥

आधिर्मानसी पीडा । प्रियस्येष्टस्याप्राप्तिः अप्रियाप्राप्तिर्वै प्रियानाप्लिः । शून्यता यिरुलेन्द्रियता । उपलक्षणस्वादेकाग्रदृष्टिच-स्मृत्यादयोऽप्यनुभावा इति ॥ [३१] १३३ ॥

(९) अथ चापलम्—

[सूत्र १६१]—चापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वरित्तादिमत् ।

साहसमविमूरयकारिता । आदिशब्दाज्जाड्यादेर्महः । स्वरित्वं स्यच्छब्दा-धारः । आदिशब्दाद् धाकपारप्य-साडन-व्यध-व्यन्धादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

(७) अथ श्रम [रूप व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—रमण करने प्रादिके कारण उत्पन्न यकावट 'अथ' कहलाता है ।

घोर यह स्वेद तथा श्वासादिका कारण होता है ।

[रत्तादिमें] 'प्रादि' शब्दसे मार्गगमन और व्यायाम आदि विभावोंका ग्रहण होता है । 'सादः' अर्थात् शरीरादिका शोष । [श्वासादिकारणम् में आए हुए] दूसरे 'प्रादि' शब्दसे पुष्ट सिक्कना, जन्माई, झङ्गोंकी मलिनता, घीरे-घीरे पैर उठाना प्रादि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(८) अथ चिन्ता [रूप व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६०]—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होने [अथवा अनिष्टकी प्राप्ति होने] में उत्पन्न मानसी पीडाकी 'चिन्ता' कहते हैं । यह इन्द्रियोंकी विकसता श्वास और कुराता प्रादिकी जननी होती है । [३१] १३३ ॥

'प्राधि' अर्थात् मानसिक पीडा । प्रिय अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति अथवा अप्रियकी प्राप्ति [हीनोत्ते ही चिन्ता उत्पन्न होती है] । शून्यताका अर्थ इन्द्रियोंकी विकसता है । घोर उप-संभ्रमभूत होनेसे यह उत्तरे टकटकी लगाना, याद आना प्रादि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [३१] १३३ ॥

(९) अथ चापलता [नामक व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—रागद्वेषादिके [अतिरेकसे] कारण बिना विचारे जो कार्य करने लगना है वह [अविमृश्यकारिता रूप साहस] 'चापलता' कहलाता है । घोर यह स्वेदप्राचरिता प्रादिकी जननी होती है ।

'साहस' अर्थात् बिना सोचे-समझे कार्य करना । [ग्रहणे] 'प्राधि' शब्दसे जडता प्रादिका ग्रहण होता है । स्वच्छन्द प्राचरता 'स्वरितता' है । [दुसरे] 'प्रादि' शब्दसे बड़ी

(१०) अथावेगः—

[सूत्र १६२]—आवेगः सभ्रम्भोऽतर्क्यात् विकर्ताऽङ्ग-मनो-गिराम् ॥

[३२] १३४ ॥

सम्भ्रमः संक्षोभः । अतर्क्यं अचिन्तितोपनतमिष्टमनिष्टं वा । तत्रेष्टं देवता-गुरु-मान्य-वल्लभ-सम्पच्छवण-दृष्ट्यादि । अनिष्टमग्नि-भूकम्पाद्युत्पात-वात-वर्ष-कुक्षर-चोर-सर्पामनोऽश्रवणदर्शनादि । तत्राभ्युत्थान-पुलकालिंगनवस्त्रादिप्रदानादयः प्रियाः, सयागस्ततामुखवैद्य-पिण्डीभाव-प्रघावन-आकुलनेत्रता-त्वरितापसरण-परचादव-लोकन-शस्त्रादिग्रहण-उर्ध्वोपतन-कम्प-स्वेद-स्तम्भादयो अप्रियाश्चांगिकाः । हर्ष-विस्मया-दयः प्रियाः, शंका-विपाद-भयादयोऽप्रियाश्च मानसाः । स्मृति-चाटुकारांशावाक्या-दयः प्रियाः, क्रन्दन-परिदेवन-असम्बन्धवचनादयश्चाप्रिया वाचिका विकारा यथा-योगं प्रियाप्रियातर्क्यवस्तुजावेगस्यानुभावाः । सर्वेऽप्येते विकारा उत्तमस्य स्थैर्यानु-विद्धाः, नीचस्य तु चापलानुविद्धा इति ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अथ मतिः—

[सूत्र १६३]—प्रतिभानं मतिः शास्त्र-तर्काद् भ्रांतिच्छिदाविकृत् ।

वचन, मार-पीट करने और बध-बध्मन आदिका ग्रहण होता है ।

(१०) अब आवेग [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६२]—अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाले [इष्ट या अनिष्ट] से उत्पन्न क्षोभ 'आवेग' कहलाता है । और शरीर, मन तथा वाणीमें विकारका जनक होता है । [३२] १३४ 'सम्भ्रम' अर्थात् संक्षोभ । 'अतर्क्य' अर्थात् जिसको सोचा भी नहीं या इस प्रकारके इष्ट या अनिष्टका अकस्मात् उपस्थित हो जाना । उसमें [अतर्क्योपनत] 'इष्ट' से देवता, गुरु, मान्य, प्रिय अथवा सम्पत्तिकी प्राप्तिका सुनना आदि [गृहीत होता है] । 'अनिष्ट' से प्राप लग जाना, भूकम्प आदिका उत्पात, घाँधी-पानी, हाथी, खोर, साँप और अरविकर आदिका सुनना या [अरविकर दृश्यका] देखना आदि [गृहीत होता है] । उनमें भी अभ्युत्थान रोमान्ध, आलिङ्गन और वस्त्र-प्रदान आदि प्रिय, और सारे अङ्गोंका क्षिब्ध हो जाना, मूल पीला हो जाना, पिण्डीभाव, दीङ्गना, नेत्रोंमें धवराहट बीखना, जलदोसे हट जाना, लौट-सोटकर खींचे बैठना, शस्त्रादि उठाना शृंगिणीपर गिर जाना, कम्पन, स्वेद और शरीरकी निष्क्रियता आदि अप्रिय अङ्गिक [अनुभव] होते हैं । हर्ष-विस्मय आदि प्रिय, शंका, विपाद, भय आदि अप्रिय मानसिक [अनुभव] होते हैं । प्रशंसा, चापलुसी शुभांकांक्षाके वाक्य आदि प्रिय, तथा और असम्बद्ध प्रसाप करना आदि वाचिक विकार, यथायोग्य प्रिय-अप्रिय रूप [अतर्क्य रोना-विलाप करना अर्थात्] अकस्मात् उपस्थित होने वाले वस्तुओंसे उत्पन्न आवेगके अनुभाव होते हैं । ये सभी विकार उत्तम पुरुषोंमें धैर्यसे युक्त और नीच [पात्रों] में चपलतासे युक्त रहते हैं ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अब मति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६३]—शास्त्र [के चिन्तन] तथा तर्कसे उत्पन्न होने वाली नयनवीक्षण-आलिनी प्रजा 'मति' कहलाती है । और वह अभोच्छेदन आदिकी जननी होती है ।



नवनयोल्लेखशालिनी प्रज्ञा प्रतिभानम । शास्त्रं शास्त्रविषयं चिन्तनम् । तर्को  
विधि-निषेधविषयो सम्भावनाप्रत्ययो अन्वय-व्यतिरेकप्रत्ययो वा । भ्रान्तिः मशयो  
विषययो वा । आदिशब्दादुपदेशादिग्रहः इति ॥

(१२) अथ व्याधिः—

[सूत्र १६४]—दोषेभ्योऽङ्ग-मनःवलेपो व्याधिः स्तनित-कम्पवान्

॥ [३३] १३५ ॥

दोषाः कफ-पित्त-सन्निपातादयः । स्तनितमर्तस्वरः । उपलक्षणान्मुग्धशोष-  
वन्तरीणायादन-शीताभिलाप-विक्षिप्तांगता-संतापादयोऽप्यनुभावा गृह्यन्ते इति ॥  
[३३] १३५ ॥

(१३) अथ स्मृतिः—

[सूत्र १६५]—दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्यदृष्ट्यादेर्भ्रान्तिक्रिया ।

दृष्टाभासः पूर्वं दृष्टमिति ज्ञानम् । तुल्यदृष्टिः सदृशदर्शनम् । आदिशब्दान्  
सदृशप्रयण-चिन्ता-संस्कार-रात्रिपञ्चाद्भागनिद्रोच्छेद-प्रणिधान-पुनःपुनः परिशीलन-  
पूर्वं दर्शनपादवादेर्यिभाषस्य ग्रहः । भ्रान्तैर्ध्रुव उर्ध्वक्षेपस्य । उपलक्षणान्निद्र-कम्पना-  
यलोरुनादेश्चान्भावस्य क्रिया निष्पत्तिर्यस्याः, सा तथेति ॥

(१४) अथ धृतिः —

[सूत्र १६६]—धृतिर्ज्ञानिष्टलाभादेः सन्तुष्टिर्देहपुष्टिक्त्वा ॥ [३४]

१३६ ॥

ज्ञानं विवेकज्ञानं ब्राह्मश्रुत्यं वा । इष्टस्येप्सितस्य लाभः प्राप्तिः । आदिशब्दान् शौचाचरण-क्रीडा-देवतादिभक्ति-विशिष्टशक्त्यादेर्विभावस्य ग्रहः । देहपुष्टिरुपलक्षणं गतानुशोचनादीनामनुभावानामिति ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) अथामर्षः —

[सूत्र १६७]—क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः ।

क्षेपस्तिरस्कारः । आदिशब्दादपमानादेर्विभावस्य ग्रहः । अपकारिणि स्वयमपकरणाभिलाषः प्रतिकारेच्छा । परस्यापकाराभावेऽपि परानर्थकरणाभिप्रायरूपः क्रोध इत्यनयोर्भेदः । अस्मिन्नमर्षे । आदिशब्दाद्धोमुखचिन्तन-प्रत्वेद-उत्साह-ध्यानोपायान्वेषण-तर्जन-ताडनादीनामनुभावानां ग्रह इति ॥

(१६) अथ मरणम्—

[सूत्र १६८]—व्याध्यादेर्मृत्युसङ्कल्पो मरणं विकलेन्द्रियम् ॥ [३५]

१३७ ॥

(१४) ग्रह एति [रूपव्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४६]—ज्ञानं अथवा इष्टप्राप्तिं प्राप्तिं उत्पन्नं सन्तोष 'धृति' है । और वह शरीरकी पुष्टि आदिका करने वाला होता है । [३४] १३६ ।

ज्ञानं अर्थात् विवेकज्ञान अथवा बहुभुतता । इष्ट अर्थात् मनचाही वस्तुका लाभ अर्थात् प्राप्त होना । आदि शब्दसे शुद्धाचरण क्रीडा [मनोरंजन], देवताओंकी भक्ति, विशेष भावित आदि कारणों [विभाव] का ग्रहण होता है । देहपुष्टि शब्द, बीती बातका लोका न करने भावि अनुभावोंका भी उपलक्षण है ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) ग्रह अमर्ष [रूपव्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४७]—तिरस्कार आदिके कारण उत्पन्न बदला सेनेकी इच्छा 'अमर्ष' है । इससे कम्पन आदि [अनुभाव] होते हैं ।

क्षेप अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे अपमानादि विभावोंका ग्रहण होता है । अपकारोंके प्रति स्वयं उसका अपकार करनेकी इच्छा 'प्रतिकारेच्छा' कहलाती है । दूसरेके द्वारा अपकार का किए जानेपर भी दूसरेकी हानि पहुँचानेका अभिप्राय 'क्रोध' कहलाता है । ग्रह इन दोनोंका भेद है । इसमें अर्थात् अमर्षमें । आदि शब्दसे तिर नीचा करके सोचना, पसीना पाना, उत्साह, ध्यान, उपायोंके खोजने, फटकारने, पीटने आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(१६) ग्रह मरण [रूपव्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४८]—व्याधि आदिके कारण मरनेकी इच्छा करना 'मरण' कहलाता है [अर्थात् यहाँ मरण शब्दसे प्राण निकल जाने रूप वास्तविक मरणका ग्रहण नहीं होता है । क्योंकि नाटकोंमें वास्तविक मरणका दिखलाना निषिद्ध माना गया है ] । और वह इन्द्रियोंको विकल करने वाला होता है । [३५] १३७ ।

व्याध्यादयो वात-पित्त-श्लेष्मैषम्य-ज्वर-विचर्चिका-पिटकादयः । आदि-  
शब्दात् शस्त्राभिघात-विपपान-अहिदंश-श्वापद-गज-नुरगाद्याक्रमण-वाह्नेनोच्चस्थान-  
पतनादेर्विभावस्य ग्रहः ।

‘मृत्युसंकल्पो’ दुष्प्रतिकारोऽयमनर्थस्तस्मादवश्यं मरिष्यामीत्यध्यवसायः ।  
विकलानि स्वविषयग्रहणं प्रत्यममर्थानीन्द्रियाणि यस्मिन् । उपलक्षणाद् विह्वलचेष्टित-  
हिक्का-निःश्वास-परिजनानवेक्षण - अव्यक्ताक्षरभाषण - वदनदन्य-सहसामूमिपतन-  
कम्पन - स्फुरण-कार्य - फेन-जाड्य - हस्तम्बभङ्गानपेक्षितगात्रसञ्चारादयोऽनुभावा  
गृह्यन्ते । प्राणनिरोधरूपं तु मरणं न नाट्ये प्रयोज्यमिति, न तस्य विभावानुभावस्य-  
रूपाणि प्रतिपाद्यन्ते इति ॥ १३७ ॥

(१७) अथ मोहः —

[ सूत्र १६६ ]—अचैतन्यं प्रहारादेर्मोहोऽप्राधूर्णनादयः ।

‘अचैतन्यं’ प्रवृत्ति-निवृत्तिज्ञानाभावो न तु सर्वथा मनचेतनत्वम् । ‘प्रहारो’ मर्म-  
प्यभिघातः । आदिशब्दात् तीव्रवेदना-अशक्यप्रतिकार-चौर-राजा-अहि-व्याघ्राणा-  
क्रमण-देशविप्लव-अग्न्युदकाशुपघात-चैरिदर्शन-अवणादेर्विभावस्य ग्रहः । अत्र मोहे ।  
आदि शब्दाद् अमरण-पतनेन्द्रियाव्यापारादेरनुभावस्य ग्रहः ।

व्यापि अर्थात् वात, पित्त कफके वृत्त्यपेक्षे उत्पन्न ज्वर विचर्चिका छाज घोर फोडा-  
कुन्ती आदि । आदि शब्दसे वास्तवप्रहार, विपपान, साँपके काटने, हिरण्य जन्तुओं, हाथी, घोडे  
आदिके आक्रमण, सवारों अथवा ऊँचे स्थानसे गिरने आदि विभावोंका ग्रहण होता है ।

[ वास्तवमें तो मरनेकी इच्छा भी कोई नहीं करता है इसलिए ] मृत्युसंकल्पसे यह, यह  
प्रापति ऐसी है जिसका प्रतिकार असम्भव है इसलिए अवश्य ही मर जाऊँगा इस  
प्रकारका निश्चय [मृत्युसंकल्प वदसे गृहीत होता है] । विकल अर्थात् अपने विषयको ग्रहण  
करनेमें असमर्थ इन्द्रियाँ जिसमें हो जाती हैं [वह मृत्युसंकल्प विकलेन्द्रिय मरण रूप हुआ] ।  
उसके उपलक्षण रूप होनेसे विह्वल चेष्टाओं, हिक्की, निश्वास, परिजनोंको न देखने, अस्फुट  
शब्दोंका उच्चारण, चेहरेकी रीनता, सहसा घृबिबीपर गिर पड़ने, काँपने लगने, पड़ने, कृशता,  
फेन डालने, जडता, हाथ काँपे आदिके दृढ-कूटनेकी चिन्ता न करके झट्टकों संचालन आदि  
अनुभावोंका ग्रहण होता है । प्राण बन्द हो जाना रूप [वास्तविक] मरण तो नाटकमें नहीं  
दिससना चाहिए । इसलिए उसके विभाव और अनुभावोंके स्वस्वको यहाँ प्रतिपादन नहीं  
किया है ॥ [३४] १३७ ॥

(१७) अथ मोह [रूप व्यवधारिभाव का संकलन करते हैं]—

[ सूत्र १६६ ]—प्रहार आदितो उत्पन्न अचैतन्य ‘मोह’ कहलाता है । इसमें घबराह  
माना आदि होता है ।

अचैतन्यका अर्थ [चैतन्य व अचैतन्यमें] प्रवृत्ति निवृत्तिके ज्ञानका न रहना है । सर्वथा  
चेतनका अभाव [ अचैतन्य शब्दसे विवक्षित नहीं है ] प्रहार अर्थात् मर्मस्थलपर घाघात ।  
आदि शब्दसे तीव्र वेदना, जिनका प्रतिकार सम्भव न हो इस प्रकारके घोर, राजा, गर्द, व्याघ्र  
आदिके आक्रमण, देश-विप्लव, आग-पानी आदिके उपद्रव, शत्रुके हितसाईं देने अथवा मुनाई  
देने आदि विभावोंका ग्रहण होता है । इसमें अर्थात् मोहमें । आदि शब्दसे घबराह माने

(१८) अथ निद्रा —

[सूत्र २००]—इन्द्रियाव्यापृतिनिद्रा, खेदादेर्मूर्द्धकम्पनी ॥

[३६] १३८ ॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, न तु मनः, तस्य निद्रायामपि व्यापारात् । 'अव्यापृति'-विषयग्रहणोपरतिः । आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरण-अत्याहार-मद-श्रम-क्लम-चिन्ता-शयालतादेर्विभावस्य ग्रहः । मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनविकास-निःश्वास-नेत्रघूर्णन-अङ्गभङ्ग-अक्षिमीलन-सर्वक्रियामम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्ते इति ॥ [३८] १३८ ॥

(१९) अथ सुप्तम्—

[सूत्र २०१]—सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायित-खमोहने ।

'प्रकर्षो' गाढतमावस्था । स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आयितं प्रतीतिर्यतस्तत् 'स्वप्नायितं' प्रलपितम् । खानां मनःपष्ठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैमुख्यम् । निद्रायां मनसोऽवधानमस्ति । अत्र तु तदपि मनागुपकृत्य इति भेदः । विभायास्तु निद्रागता गवात्र प्राह्याः ॥

गिरने और इन्द्रियोंके व्यापारके अभाव आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(१८) अब निद्रा [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २००] यकावट आदिसे उत्पन्न इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव 'निद्रा' कहलाता है । उससे सिर हिलने लगता है । [३६] १३८ ।

इन्द्रियोंसे स्वप्ना आदि [ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण करना चाहिए] मनका नहीं । क्योंकि उसका व्यापार तो निद्राकालमें भी होता रहता है । व्यापारका अभाव अर्थात् [इन्द्रियोंका] विषयोंके ग्रहणसे हट जाना । आदि शब्दसे आलस्य, दौर्बल्य, रातमें जगने, अधिक भोजन, सबके सेवन, परिश्रम, यकावट, चिन्ता, सोनेके स्वभाव आदि [निद्राके विभाषी अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है । सिर हिलानेसे जम्हाई घाने, लम्बी निःश्वास छोड़ने, आँखें घुमाने, अंगड़ाई घाने, आँखें भपकने और सारी क्रियाओंको भुल जाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ॥ [३६] १३८ ॥

(१९) अब सुप्त [नाम व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०१]—प्रबल निद्राका अना 'सुप्त' [नामक व्यभिचारिभाव] कहलाता है । इस में बराना-[स्वप्नायित] और मन सहित सब इन्द्रियोंका विषयोंसे अत्यन्त वैमुख्य [मोहन] हो जाता है ।

[निद्राका] प्रकर्ष अर्थात् गाढतम अवस्था । स्वप्नकी अर्थात् उस समय [स्वप्नमे होने वाले] ज्ञानकी 'आयित' अर्थात् प्रतीति जिसमे ही उस बरानेकी 'स्वप्नायित' कहते हैं । 'ल' अर्थात् मनके सहित [पाँचों कुल मिलाकर] छहों इन्द्रियोंका 'मोहन' अर्थात् विषयोंसे अत्यन्त विमुखता । निद्रामें मनकी वृत्ति रहती है यहाँ [सुप्तिमें] तो वह भी बिल्कुल निहट हो जाती है । यह [निद्रा और सुप्ति इन दोनोंका] भेद है । निद्रामे कहे हुए विभाव ही यहाँ [सुप्तिके भी कारण] समझने चाहिए ॥

(२०) अर्थोपग्रह —

[सूत्र २०२]—दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यं औग्र्यं बन्ध-वधादिभिः

॥ [३७] १३६ ॥

‘दुष्टे’ हिंस्रत्वानृतवादित्व-वञ्चकत्वादियुक्ते । अपराधादकार्यकारित्वाद्  
दौर्मुग्य-चौर्यादिरूपाद् विभावाद् यद् राजादेर्नैर्घृण्यं निर्दयत्वं तदौपग्रहम् । तन्व्य  
बंध-वधाभ्याम् । आदिशब्दान् ताडन-निर्भर्त्सन-म्बेद-शिरःकम्पादिभिरनुभावरभि-  
नेतव्यमिति ॥ [३७] १३६ ॥

(२१) अर्थ हर्ष —

[सूत्र २०३]—हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेरत्र स्वेदाश्रु-गद्गदाः ।

‘प्रसत्ति’ ज्येष्ठोपेक्षाम् । ‘दुष्ट’ प्रियमंयोगाप्रियमंयोगनिवृत्ति-देव-गुरु-राज-  
भर्तृ प्रसाद-भोजनान्छादन धन पुत्रादिलाभ पुत्रादित्यतः हर्ष विषयोपभोगोन्मथान्ति ।  
‘गद्गदौ’ वाक्पट्टक-एठम्य चान् । उपलक्षणान् पुलक प्रियभाषण नेत्रमुग्धप्रसादादेर-  
नुभावस्य ग्रह इति ।

(२२) अर्थ विषाद —

[सूत्र २०४]—विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेर्निश्वासचिन्तनैः ॥

[३८] १४० ॥

(२०) अर्थ उपगता [अर्थ व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०२]—अपराधके कारण दुष्ट पुरुषके प्रति वध-वन्धादि द्वारा जो निर्दयता  
[वा प्रकाशन है] वह ‘उपगता’ कहलाती है । [३७] १३६ ।

दुष्ट अर्थात् हिंसा करने वाले, भ्रष्ट बोलने वाले, अथवा धोखा देने वाले [के प्रति]  
अपराधके कारण अर्थात् अनुचित कार्य करने, अटपटाई बान करने, चोरी, चारि रूप  
चारणोंसे जो राजा आदि की मित्रता अर्थात् निर्दयता, उसको ‘उपगता’ कहा जाता है  
उसका अभिनय वध तथा वन्धनके द्वारा किया जाता है । आदि शब्दोंसे मारने-कटकारने  
पगीना घोर सिर हिलाने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय होता है ॥ [३७] १३६ ॥

(२१) अर्थ ‘हर्ष’ [अर्थ व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०३]—इष्टकी प्राप्तिके कारण [मनकी] प्रसन्नता हर्ष होता है । इससे स्वेद,  
पपु घोर गद्गदता हो जाती है ।

प्रसन्नता अर्थात् विलसता विकास । इष्ट अर्थात् प्रियका मयोग अथवा अप्रियके मयोग  
की निवृत्ति, देवता, गुरु, राजा अथवा स्वामीकी कृपाकी प्राप्ति, भोजन, दत्तदान, वस्त्र, धन,  
पुत्रादिकी प्राप्ति, पुत्रादिकी प्रसन्नता विषयोंके उपयोग घोर उत्सव चारि [वा उत्पन्न होता  
है] । चांगुलोंसे तथा भरे हुएकी खाली ‘गद्गद’ कहलाती है । उसके उपलक्षण रूप होनेसे  
रोमांच, प्रिय भाषण, क्षीणो घोर मुनकी प्रसन्नता आदि अनुभावोंका उत्पन्न भी होता है ।

(२२) अर्थ विषाद [वा लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०४]—इष्ट वस्तुके न मिलनेसे [विलसता] अनुभाव ‘विषाद’ कहलाता है ।  
निश्वास तथा चिन्ताके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है] ॥ [३८] १४० ॥

(१८) अथ निद्रा —

[सूत्र २००]—इन्द्रियाव्यापृतिनिद्रा, सेदादेभूंर्द्धकम्पिनी ॥

[३६] १३८ ॥

इन्द्रियाणि ग्पर्शनादीनि, न तु मनः, तस्य निद्रायामपि व्यापारात् । 'अव्यापृति' विषयग्रहणोपरति । आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरण-अत्याहार-मद-श्रम-क्लम-चिन्ता-शयालतादेर्विभावस्य ग्रहः । मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनप्रिकास-निश्वास-नेत्रवर्णन-अङ्गभङ्ग-आत्मीलन-सर्वक्रियासम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्त इति ॥ [३८] १३८ ॥

(१९) अथ सुप्तम्—

[सूत्र २०१]—सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायित-समोहनः ।

'प्रकर्षो' गाढतमावस्था । स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आश्रित प्रतीति-र्यतस्तन् 'स्वप्नायित' प्रलपितम् । खाना मनःपठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैसुरयम् । निद्राया मनसोऽवधानमस्ति । अत्र तु तदपि मनागुपस्थित इति भेदः । विभावास्तु निद्रागता एवात्र प्राप्या ॥

गिरने और इन्द्रियोंके व्यापारके अभाव आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(१८) अब निद्रा [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २००] यकावट आदिसे उत्पन्न इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव 'निद्रा' कहलाता है । उसमें सिर हिलने लगता है । [३६] १३८ ॥

इन्द्रियोंसे स्वप्ना आदि [ ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण करना चाहिए ] मनका नहीं । क्योंकि उसका व्यापार तो निद्राकालमें भी होता रहता है । व्यापारका अभाव अर्थात् [इन्द्रियोंका] विषयोंके ग्रहणसे हट जाना । आदि शब्दसे आलस्य, दौर्बल्य, रातमें जगने, अधिक भोजन, मदके सेवन, परिश्रम, यकावट, विगता, सोनेके स्वभाव आदि [निद्राके विभावों अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है । सिर हिलानेसे जम्हाई आने, लम्बी निश्वास छोड़ने, आँखें घुमाने, अगड़ाई आने, आँखें भ्रमकने और सारी क्रियाओंको भूल जाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ॥ [३६] १३८ ॥

(१९) अब सुप्त [नाम व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०१]—प्रबल निद्राका आना 'सुप्त' [नामक व्यभिचारिभाव] कहलाता है । इस में बर्रना [स्वप्नायित] और मन सहित सब इन्द्रियोंका विषयोंसे प्रत्यन्त वसुरय [मोहन] हो जाता है ।

[निद्राका] प्रकर्ष अर्थात् गाढतम अवस्था । स्वप्नकी अर्थात् उस समय [स्वप्नमें होने वाले] ज्ञानकी 'प्रायित' अर्थात् प्रतीति जिसमें हो उस बर्रनेको 'स्वप्नायित' कहते हैं । 'स्व' अर्थात् मनके सहित [पाँचों कुल बिलाकर] एही इन्द्रियोंका 'मोहन' अर्थात् विषयोंसे प्रत्यन्त विमुक्तता । निद्रामें मनकी वृत्ति रहती है यहाँ [सुप्तिमें] तो वह भी बिल्कुल निरुद्ध हो जाती है । यह [निद्रा और सुप्ति इन दोनोंका] भेद है । निद्रामें कहे हुए विभाव ही यहाँ [सुप्तिके भी कारण] समझने चाहिए ॥

‘आपदो’ दौर्गत्य-न्यकारादेः । स्वान्तनीचत्वं मन क्लेश्यम् । काष्पर्थं धदन-  
श्यामता । अवगुण्ठनं शिरो-भात्रवरणम् । बहुवचनान्द्विरीरासंस्कार-गौरवपरिहार-  
यस्त्रमालिन्याद्यैश्चानुभावैरभिनेतव्यमिति ॥ [३६] १४१ ॥

(२४) अथ व्रीडा—

[सूत्र २०७]—व्रीडाऽनुताप-गुवदिरघाष्ट्यं गात्रगोपकम् ।

अकृत्यकरणादनु पश्चात् तापो मानसो विवेकः । गुरुर्मातापित्रादि । आदि-  
शब्दान् प्रतिष्ठातानिर्वहण-गुरुव्यतिक्रम-अवज्ञान-असंस्तवादेर्विभावस्य ग्रहः । अघा-  
ष्ट्यमवैयात्यम् । गात्रगोपनेनोपलक्षणाद् अधोमुखचिन्तन-नग्ननिस्तोदन-भूविलेखन-  
यन्त्रांगुलीयस्पर्शनादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(२६) अथ त्रासः—

[सूत्र २०८]—घोराञ्चकितता त्रासः काय-सङ्कोच-कम्पितैः ।

॥ [४०] १४२ ॥

‘घोरं’ भीषणं निर्धातारानिपात-महाभैरवनाद-महारीद्रमत्त्व-शवदर्शनादि ।  
‘चकितता’ उद्वेगकारी चमत्कारः । अनर्थमम्भावनात् मत्त्वभ्रंशो भयमित्यन्तयोर्भेदः ।  
बहुवचनान् स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्च्छा-गादगद्वचनादिभिरचायमनुभावैरभिनीयते इति ॥

॥ [४०] १४२ ॥

आपत्तिसे अर्थात् दुर्गति या अपमान आदिके कारण, अपने मनकी नीचता अर्थात्  
बिबलता । कृपणता अर्थात् मुलका बाला पड़ जाना । अवगुण्ठन अर्थात् सिर घोर शरीरका  
ढक सेना । बहुवचनसे शरीरका [शुद्धि आदि रूप] सत्कारका अभाव, गौरवको भुला देना और  
बस्त्रोंकी मलिनता आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय होता है ॥ [३६] १४१ ॥

(२५) अथ व्रीडा [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०७]—पश्चात्ताप अथवा माता-पिता आदि गुदजनो [की उपस्थिति]के कारण  
पश्चात्ताका न करना ‘व्रीडा’ कहलाती है घोर उससे मुल शरीरादिको छिपाता है ।

अनुचित कार्यके करनेके कारण बादको होनेवाला ताप अर्थात् मानसतान [अनुताप  
कहलाता है] । माता-पिता आदि गुद हैं । आदि शब्दसे प्रतिष्ठाको पूरा न कर सकने, गुदघो  
की मर्यादाका उल्लंघन, अपमान और अपरिचय आदि विभावोंका ग्रहण होता है । अघाष्ट्यं  
अर्थात् उद्वेगइत्यादि अभाव । गात्रगोपनके उपलक्षण होनेसे, उससे सिर झुकाकर सीधे, नाखून  
बसाने, भूमि कुदेदने, बपड़े या धंगूठा आदिके छूने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(२६) अथ त्रास [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०८]—भयकर वस्तुको देखकर खिन्न हो जाना ‘त्रास’ कहलाता है । शरीर  
के तिकोड़ने घोर बर्षानेके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है] ॥ [४०] १४२ ॥

भयकर गर्जन, बिजली गिरना, घटामयकर दण्ड अत्यन्त भीषण प्रणोका शक्ति  
आदि ‘घोर’ पदसे लिए जाते हैं । भयको उत्पन्न करनेवाला घटदण्ड ‘चकितता’ कहलाता है ।  
[उस घोर शक्तिशालिने त्रास होता है । घोर] धनधनी होनेको सम्भावनासे धानसिक् बसका  
मान ‘भय’ होता है । यह भय घोर त्रासका भेद है । बहुवचनसे स्तम्भ, रोमांच, मूर्च्छा,

'तान्ति'रनुत्साहाग्रन्तश्चित्तसन्तापः । 'इष्टं' प्रारब्धनिर्वहणं दैवाप्रतिकूल-  
त्वादि । तस्यानापितरलाभो विपरीतलाभो वा । चिन्तनमुपायानाम् । बहुवचनान्  
सहायान्वेषण-वैमनस्यादिभिर्मध्यमोत्तमगतैर्मुखशोष-निद्रा-ध्यान जिह्वापरितेह्यादिभि  
स्त्वधमगतैरनुभावैरभिनीयत इति ॥ [३८] १४० ॥

(२३) अथोन्मादः—

[सूत्र २०५]—मनोविप्लुतिरुन्मादो ग्रहदोषैरयुक्तकृत् ।

विप्लुतिर्विस्तृलता, क्यचिदप्यविश्रान्तिरिति यावत् । ग्रह-दोषौ अपरस्मारं  
व्याख्यातौ । अयुक्तमनुचितं गीत-नृत्त-पठितोत्थित-शायित-ग्रहावित-रुदित-आक्रुष्ट-  
असम्बद्धप्रलापन-अनिमित्तहसित-भस्मपांस्त्रवधूलन-निर्माल्य-वीरघटवक्त्रशरावा-  
भरणोपभोगादि । अयं चोत्तमस्य विप्रलम्भे, अधमस्य कर्ण्ये व्यभिचारी । अपरस्मारस्तु  
बीभत्स-भयानकयोः । म च मनोवैकल्यम्, अयन्तु मनोजनवस्थितिरिति भेद इति ।

(२४) अथ दैन्यम्—

[सूत्र २०६]—आपदः स्वान्तनीचत्वं दैन्यं कार्ण्यविगुण्ठनैः ॥

॥ [३६] १४१ ॥

तान्ति अर्थात् अनुत्साहसे युक्त चित्तका सन्ताप । इष्ट अर्थात् प्रारम्भ किए हुए कार्यकी  
समाप्ति भाग्यकी अप्रतिफलता आदि । उसका प्राप्त न होना अथवा विपरीत [अर्थात् अनिष्ट]  
की प्राप्ति । चिन्तन अर्थात् उपायोंके चिन्तनद्वारा [उसका अभिनय होता है] । 'चित्तनैः पदमै'  
बहुवचनके प्रयोगसे सहायकोंकी खोज और वैमनस्य आदि मध्यम तथा उत्तम पात्रगत [अनुभावों  
के द्वारा तथा] और नुल सुलने, नींद, ध्यान, जीभ फेरने आदि अयमपात्रगत अनुभावोंकेद्वारा  
उसका अभिनय किया जाता है ॥ [३८] १४० ॥

(२३) अब उन्मादका [लक्षण करते हैं]—

[भूत-पिशाचादि रूप] ग्रह तथा [वात पित्तादि रूप] दोषोंके कारण मनका पण्डित  
हो जाना 'उन्माद' कहलाता है और उसमें अनुचित कार्य करने लगता है ।

[सूत्र २०५]—'विप्लुति' अर्थात् अस्थिरता, कहीं भी चित्तका न लगना । ग्रह तथा  
दोष दोनोंकी व्याख्या अपरस्मारमें की जा चुकी है । अयुक्त अर्थात् अनुचित गाना, नाचना,  
पढ़ना, उठना, भागना, रोना, चिह्नलाना, असम्बद्ध वक्त्रवाद करना, बिना बातके हँसना,  
राक्षस या दूल फेंकना, देवताओंकी वस्तुओं [निर्माल्य] पोपल आदिके वृक्षोपर दण्टी हुए घड़ो,  
[वीरघट] कारवा, सफोरे आदि और आभरणादिका उपभोगादि । यह [उन्माद] उत्तममें  
विप्रलम्भमें और अधमके कर्णमें व्यभिचारिभाव होता है । और अपरस्मार बीभत्स तथा  
भयानक रसोंमें [व्यभिचारिभाव] होता है । [यह उन्माद तथा अपरस्मारका एक भेद है] ।  
उनका दूसरा भेद यह भी है कि वह [अर्थात् अपरस्मार]मनकी विकलतामय होता है और यह  
[उन्माद] मनकी अस्थिरतामय होता है यह इन [उन्माद तथा अपरस्मार] का [दूसरा] भेद है ।

(२४) अब दैन्य [नामक व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—आपत्तिषोके कारण मनकी विकलता 'दैन्य' कहलाती है । [बेहरेकी]  
कृष्णता और दबनेके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [३६] १४१ ॥



‘आभिमुख्यमौत्सुक्यम् । स्मरणमिष्टस्य । आद्यशब्दान्मनोवृत्तिद्विधा-अभिप्लव-  
लोभादेर्विभावस्य ग्रहः । त्वरा मनो-याक्-कायदृष्टि चापलम् । आदिशब्दान् कृत्य-  
विस्मरण दीर्घनिश्वास-असम्बद्धवचन-भेद-वृत्तापादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

(३०) अथावहित्या—

[सूत्र २१२]—धाष्टचर्दिविक्रियारोधोऽवहित्याऽत्र क्रियान्तरम् ॥

॥ [४२] १४४ ॥

‘घाट्य’ प्रागल्भ्यम् । आदिशब्दाद् भय-सज्जा-गौरव-कुटिलाशयत्वादेर्वि-  
भावस्य ग्रहः । मर्त्यानुगतत्वख्यापनार्थं धाष्ट्यं प्रथममुपात्तम् । मभयादिरपि ह्यप्रागल्भ्यो  
न शक्नोत्याकारं संवरीतुम् । ‘विक्रिया’ भ्रुविकार - मुखरामादिका, तस्या रोधः  
संवरणम् । रोधकारकत्वेनोपचाराच्चित्तविशेषोऽपि रोधः । न यद्वि-ग्या चित्तवृत्तिरिति  
पृषोदरादित्वाद् ‘अवहित्या’ । अव्यावहित्यायां प्रस्तुतक्रियातोऽन्यकथनावलोकनकथा-  
मङ्गकृतसमर्थैर्यादिकं क्रियान्तरमिति ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अथ जाड्यम्—

[सूत्र २१३]—जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञानं मोनानिमेषणः ।

आभिमुख्यमौत्सुक्यं बहुलाता है । स्मरणं इष्टया [अभिप्रेत है । ‘स्मरणाघात’ मे ]  
‘घाट्य’ शब्दसे सुन्दर वस्तुके देखनेकी इच्छा, प्रेम और सोभादि विभावों [कारणों] का प्रहण  
होता है । त्वराका अभिप्राय मन, वाली तथा शरीर और दृष्टिकी जपलता है । आदि शब्दसे  
रामकी भूल जाने, लम्बी दयास छोड़ने, असम्बद्ध बात करने, स्वेद, और हृदयकी जलन आदि  
अनुभावोंका प्रहण होता है ।

(३०) अथ घाट्यहत्या [का संलक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१२]—एष्टता आदिते उत्पन्न विचारको छिपानेका यत्न ‘अवहित्या’ बहुलाता  
है । इससे [आचार-विकृतिकी छिपानेके लिए] दूसरी क्रिया की जाती है । [४२] १४४ ।

एष्टता अर्थात् प्रगल्भता आदि शब्दसे भय, सज्जा, गौरव, कुटिलमिप्राय आदि कारणों  
[विभावों] का प्रहण होता है । [घाट्यके] सबसे अनुस्यूत होनेके कारण सबसे पहले एष्टता  
का प्रहण किया है । सभय आदि व्यक्ति भी यदि प्रगल्भ न हो तो आचारकी छिपानेसे  
समर्थ नहीं हो सकता है । विक्रिया अर्थात् भौहोका टेंडा होना या मुखका लाल आदि हो  
जाना आदि, उसका रोध अर्थात् छिपाना । [बाह्य विकारकी] छिपानेका कारण होनेसे उस  
अभिप्रायकी चित्तवृत्ति-विशेषको भी ‘रोध’ कह सकते हैं । बाहर प्रकाशित न होने वाली चित्त-  
वृत्ति ‘न यद्विग्या’ होनेसे ‘अवहित्या’ कहलाती है [यह अवहित्या पदका निबंधन है]  
‘पृषोदरादिगण’ पठित नियमसे इसकी सिद्धि होती है । इससे अर्थात् अवहित्यामे प्रस्तुत  
क्रियासे भिन्न बचन, अवसोचन, बात समाप्त कर देना, बनाबटी स्थिरता दिखलाना आदि  
दूसरी क्रियाएँ की जाती हैं ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अथ जाड्य [का संलक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१३]—इष्ट आदिते [अर्थात् इष्टप्राप्तिकी प्रसन्नतामे] कामकी भूल जाना ‘जाड्य’  
बहुलाता है । मोन और टकटकी लगाकर देखनेके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है] ।

(२७) अथ तर्कः—

[सूत्र २०६]—एकसम्भावनं तर्को वादादेरङ्गनर्तकः ।

‘वादो’ विप्रतिपत्तिस्तस्मात् । आदिग्रहणान् सन्देहवाधकत्रलोद्भूतपक्षान्ति-  
राभावज्ञानविशेष-प्रतीत्यभिलाषादेर्विभावाद् ययोकस्य पक्षस्य सम्भावनं भवितव्यमने-  
नेति प्रत्ययः स तर्कः । अङ्गस्य भ्रू-शिरोऽङ्गान्यादेर्नर्तक इति ॥

(२८) अथ गर्वः—

[सूत्र २१०]—आत्मन्याधिषयधीर्गर्वो विद्यादेरन्यरीढया ॥

॥ [४१] १४३ ॥

‘आधिषयधीः’ परजुगुप्साक्रान्त ग्वस्मिन् बहुमानः । आदिशब्दाज्जाति-कुल-  
लाभ-वृद्धि-बाल्लभ्य-यौवनैश्वर्यादेर्विभावस्य ग्रहः । ‘रीढा’ अवज्ञा । तथा । उपलक्षणं  
पारुष्य-असूया-आधर्षण-अनुत्तरदान - अङ्गावलोकन- उपहसन - अलङ्कारव्यत्यासादि-  
भिरचानुभावेरभिनेतव्य इति ॥ [४१] १४३ ॥

(२९) अथौत्सुक्यम्—

[सूत्र २११]—इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं स्मरणाद्यात् त्वरादिभिः ।

गद्गदवचन आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है ॥ [४०] १४२ ॥

(२७) अथ तर्क [अभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—वाद आदिके द्वारा एक पक्षकी सम्भावना ‘तर्क’ कहलाता है । उससे  
अगोका नधाना [रूप अनुभाव उत्पन्न होता है] ।

वाद अर्थात् मतभेद [विप्रतिपत्ति] । उससे [तर्क होता है] । आदि शब्दसे सन्दिहके  
निवारक [प्रबल प्रमाण] के बलसे उत्पन्न दूसरे पक्षके अभावका ज्ञान और विशेष प्रतीतिकी  
इच्छा आदि विभावसे जो किसी एक पक्षकी सम्भावना, अर्थात् यह बात ऐसी होनी चाहिए  
इस प्रकारकी प्रतीति, वही ‘तर्क’ कहलाता है । अथ अर्थात् भौह, सिर या अंगुलि आदिका  
नधाने वाला होता है ।

(२८) अथ गर्व [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१०]—विद्या आदिके कारण अधोकी अवज्ञा करके अपनेको बड़ा समझना  
‘गर्व’ कहलाता है । [४१] १४३ ।

‘आधिषयधी’ अर्थात् [अन्यके प्रति] घृणाके सहित अपने आपको बड़ा समझना ।  
[विद्यादेः संप्रयुक्त] आदिशब्दसे जाति, कुल, लाभ, वृद्धि, [किसीकी] बलभता यौवन,  
ऐश्वर्य आदि विभावके ग्रहण होता है । ‘रीढा’ अर्थात् अवज्ञा । उससे उपलक्षण द्वारा  
पारुष्य, असूया, रोष जमाने [धर्षण] उत्तर न देने, [प्रपत्ते] अगोका देखने, [दूसरेका]  
उपहास करने और अलङ्कारोका भिन्न स्थानोपर प्रयोग करने आदि अनुभावके द्वारा उसका  
अभिनय किया जाता है ॥ [४१] १४३ ॥

(२९) औत्सुक्य [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २११]—[इष्टके] स्मरण आदिके कारण इष्टके प्रति शीघ्रता आदिसे अभिमुख  
प्रवृत्त होना ‘औत्सुक्य’ कहलाता है ।

अथ विवोधः—

[सूत्र २१५]—निद्राच्छेदो विवोधश्च शब्दादेरङ्गभङ्गवान् ।

आदिशब्दात् स्पर्श स्वप्नान्त-आहारपरिणामादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणान् जृम्भा-अन्तिविमर्दन शयनमोक्षण भुजाक्षेप अंगुलित्रोटनादिरनुभावो द्रष्टव्यः । पर्यन्ते चकारः सर्वव्यभिचारिसमुच्चयार्थः इति ।

अथैषां रसादीनां मध्ये केषांचित् परस्परं कार्यकारणतामाह—

[सूत्र २१६]—केषाञ्चित् तु रसादीनामन्योन्यं हेतुकार्यता ॥

[४४] १४६ ॥

आदिशब्दाद् व्यभिचारिणाम् । यथा वीरादद्भुत । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयं फलं साक्षादनुसन्धत्ते । तथा द्रौपदीम्वयम्वरादी वीराच्छृङ्गारोऽपि । रौद्राश्च वध-यन्धादिफलानन्तरं करुण भयानकौ । तथा सर्वरसेभ्योऽनन्तरं सर्वे सजातीयया रसा भवन्ति । यथा शृङ्गारिणं दृष्ट्वा शृङ्गार, हसन्तं दृष्ट्वा हास्य । इत्येवं सर्वरसेषु हेतु फलमायो वाच्यः । सर्वरमानां चाभासा अनौचित्यप्रवृत्तत्वात् हास्यरसस्य कार-

(३३) अथ विवोध [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१५]—शब्द आदिके कारण होने वाला निद्राभङ्ग 'विवोध' बटलाता है और उसमें अगडाई आदि [अनुभाव] होते हैं ।

आदि शब्दसे झूने, स्वप्नकी समाप्ति, भोजनका परिवाक हो चुकने आदि [विभावो] कारणोंका ग्रहण होता है । [अगभगवान् पदके] उपलक्षण रूप होनेसे जृम्भाई, अन्तिं मलर्वा किर सो जाने, छाट परसे उठ बैठने, हाथ फेलाने, अंगुलियां चटकाने आदि अनुभावोंको समझना चाहिए । [विवोधके वर्णनके साथ व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त होता है । इसलिए 'विवोधश्च' इस पदमें आया हुआ] अतमें प्रवृत्त चकार व्यभिचारिस्वदे समुच्चयकेलिए है । [अर्थात् यहाँ तक सारे व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त हो गया इस बातका सूचक है] ।

अथ इन रसादिमेंसे किहोंके परस्पर एक दूसरेके प्रति कार्य-कारणभावका कथन करते हैं—

[सूत्र २१६]—रसादिकोंमेंसे किहोंका परस्पर एक-दूसरेके प्रति कार्य-कारणभाव होता है ॥ [४४] १४६ ॥

आदि शब्दसे व्यभिचारियोंका ग्रहण होता है । [रसोंके परस्पर कार्य-कारणभावका उदाहरण देते हैं] जैसे वीररससे दद्भुत रस [उत्पन्न होता है] । महापुरुषोंका उत्साह [जो वीररसका स्वाभिभाव होता है] साक्षात् रूपसे जगत्के विस्मय रूप फलको [अर्थात् दद्भुत रसके स्वाभिभावको] उत्पन्न करता है । वीर द्रौपदी स्वयम्वरादिमें [अनुनंके पराक्रमको देखकर द्रौपदीके मनमें] वीररससे शृङ्गाररसकी भी उत्पत्ति होती है । वीर रौद्ररससे उसके वध या मर्त्य रूप फलोंको देखकर करुण तथा भयानक रसोंकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार सब रसोंसे उनके बाद होनेवाले सजातीय रस उत्पन्न होते हैं । जैसे शृङ्गारप्रवृत्तको देखकर [इसरेमें] शृङ्गार, हँसते हुएकी देखकर [दूसरेमें] हास्य [उत्पन्न होता है] । इन प्रकार सारे रसोंमें कार्य-कारणभाव समझना चाहिए । [अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेवाले रस, रसाभास

‘इष्ट’ प्रियं, तस्य दर्शन-श्रवणे अपीष्टे । आदिशब्दादिनिष्ठदर्शन-श्रवण-व्या-  
ध्यादेर्विभावस्य ग्रहः । कार्याज्ञानं नेत्राभ्यां पश्यतोऽपि श्रोत्राभ्यां शृण्वतोऽपि चेदानीं  
किं कृत्यमित्यनिश्चयः । नेदं वैकल्य-अचैतन्यस्वभावामित्यपस्मार-मोहाभ्यां भिन्नम् ।  
‘मौनं’ तूष्णीम्भावः । ‘अनिमेषणं’ अनिमेषनिरीक्षणम् । बहुवचनात् परवशत्वादिभि-  
रनुभावैरभिनेतव्यमिति ।

(३२) अथालस्यम्—

[सूत्र २१४]—कर्मानुत्साह आलस्यं श्रमाद्याज्जृम्भितादिभिः

॥ [४३] १४५ ॥

आदिशब्दान् सौहित्य-स्वभाव-व्याधि-गर्भादिभिर्विभावैः स्त्री-नीचानामनुग्रह-  
रूपमालस्यं भवति । श्रमस्य व्यभिचारित्वेऽपि अन्यव्यभिचारिणं प्रति विभावत्वे न  
दोषः । व्यभिचारिता तु परस्परं व्यभिचारिणां स्थायित्वप्रमज्जाद् दुष्टैव । एवं व्यभि-  
चारिणाम् अनुभावत्वमपि भवत्येव । जृम्भितं, आदिशब्दाद् आसितेनाहारवर्जित-  
पुरुषार्थान्तरस्माद्विभ्रानुभावैस्तदभिनेतव्यम् । अलसोऽपि व्यवश्यामाहारं करोत्ये-  
वेति ॥ [४३] १४५ ॥

इष्ट अर्थात् प्रिय, उसका दर्शन और श्रवण भी इष्ट [पक्षे अभिप्रेत] है । आवि-  
शब्दसे अनिष्टके दर्शन, श्रवण, व्याधि प्रादि कारणों [विभावों] का भी ग्रहण होता है । कार्य  
का ज्ञान न होना अर्थात् आँखोंसे देखते हुए और कानोंसे सुनते रहनेपर भी, अब क्या करना  
चाहिए इसका निश्चय न कर सकना । यह [जाद्व] न विकलता रूप है और न अर्चतम्य रूप  
इसलिए [वैकल्य रूप] अपस्मार तथा [अर्चतम्य रूप] मोह दोनोंसे भिन्न है । मौन अर्थात्  
शुप रहना । अनिमेषण अर्थात् टकटकी लगाकर देखना । बहुवचनसे परवशता प्रादि अनु-  
भावोंके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।

(३२) अथ आलस्य [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१४]—अथ प्रादिके कारण कार्यमे उत्साहका न होना ‘आलस्य’ कहलाता है ।  
जम्भाई प्रादिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [४३] १४५ ।

[जृम्भितादिभिः मे प्रयुक्त] प्रादि शब्दसे पेट भरा होना, [आलस्यका] स्वभाव, रोग,  
या गर्भ प्रादि कारणोंसे स्त्री और नीचोंकी उद्यमहीनता आलस्य कहलाता है । श्रमके  
व्यभिचारिभाव होनेपर भी दूसरे व्यभिचारिभावके प्रति विभाव [कारण] होनेमें कोई दोष  
नहीं है । व्यभिचारिभावोंकी परस्पर व्यभिचारिता [उनमेंसे एकके] स्थायिभाव वन  
जानेके कारण दूषित हो है । [अर्थात् व्यभिचारिभाव तो किसी स्थायिभावका ही होता है ।  
यदि एक व्यभिचारिभावको दूसरेका व्यभिचारिभाव माना जाय तो पहला व्यभिचारि, व्यभि-  
चारिभाव नहीं अपितु स्थायिभाव हो जायगा । इसलिए किसी व्यभिचारिभावको दूसरे  
व्यभिचारिका व्यभिचारिभाव नहीं माना जा सकता है । हाँ उनको विभाव और अनुभाव  
माना जा सकता है] इसी प्रकार व्यभिचारिभाव अनुभाव भी हो सकते हैं । जृम्भित  
शब्दसे और प्रादि शब्दसे बैठे-बंठे खानेके प्रतिरिक्त कोई काम न करने प्रादि अनुभावोंके  
द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । आलसी भी भोजन तो अवश्य ही करता है [इसलिए  
खानेको छोड़कर अन्य कोई काम न करना आलस्य कहलाता है ॥ [४३] १४५ ॥

अथ ते प्रत्येकशो लक्ष्यन्त । तत्र (१) वेपथु —

[सूत्र २१८]—भयादेर्वेपथुर्गात्रस्पन्दो वागादिविक्रियः ।

आदिशब्दाद् रोग-हर्ष शीत-रोप-प्रियम्पर्शादेर्निभावस्य ग्रह । स्पन्द किञ्चि-  
चलनम् । वागादेरादिशब्दाद् गति-चेष्टादेर्विक्रिया यस्मान् । इत्यनुभाववचनम् ॥

(२) अथ स्तम्भ —

[सूत्र २१९]—यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भो ह्यपदिः, हा । विपादवान् ॥

॥ [४६] १४८ ॥

अङ्गानां हस्त-पादादीनामन्तपरिस्पन्देऽप्यक्रिया चलनाभाव स्तम्भ । आदि-  
शब्दाद् विस्मय भय-मद-रोगादेर्विभाज्य ग्रह इति ॥ [४६] १४८ ॥

(३) अथ रोमाञ्च —

[सूत्र २२०]—रोमाञ्चः प्रियदृष्ट्यादेः रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।

आदिशब्दाद् व्याधि-शीत क्रोध स्पर्शादेर्निभावस्य ग्रह । यदुपचनावह्नमदुर-  
प्रसुप्तनेत्रविकास इन्तर्गोणावाटनादिभिरभिनेतव्य ॥

रसिके स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोक्तिं शीघ्र अनुभावोक्तं भी यथायोग्य सहस्रो अनुभाव  
हो सकते हैं ॥ [४५] १४७ ॥

(१) अथ जन अनुभावोक्तिं प्रत्येकका अलग अलग सक्षण करते हैं । उनमें सबसे पहले  
वेपथु [का सक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१८]—भय आदि के कारण शरीरका किञ्चित् विक्षिप्त हो जाना 'वेपथु'  
कहलाता है और उसमें बाणी आदिमें विकार आ जाता है ।

आदि शब्दसे रोग हर्ष शीत क्रोध, प्रिय स्पर्श आदि विभावोंका ग्रहण होता है ।  
स्पन्द अर्थात् सनिकता हिल जाना । 'वागादे' इसमें आदि शब्दसे गति शीघ्र चेष्टा आदिमें जिससे  
विकार आ जाता है । यह [वेपथु] अनुभावका वचन दिया है ।

(२) स्तम्भ [का सक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१९]—यत्ने आदि के कारण यत्न करनेपर भी अङ्गोंकी विपादा न होना  
'स्तम्भ' कहलाता है । और उनमें 'हाय' आदि शब्दोंमें विपाद प्रकट होता है । [४६] १४८ ॥

अङ्गोंका अर्थात् हाथ-पैर आदि का भीतर गति होनेपर भी बाहर उनका न चल सजना  
स्तम्भ कहलाता है । आदि शब्दसे विस्मय भय मद और रोगादि [अप्य आदि] विभावों  
का ग्रहण होता है ॥ [४६] १४८ ॥

(३) अथ रोमाञ्च [का सक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२०]—प्रिय के देखने आदिमें उत्पन्न होनेवाला रोमहर्ष 'रोमाञ्च' कहलाता  
है । अङ्गोंका सङ्माननेके द्वारा उत्पन्न अभिनय दिया जाता है ।

आदि शब्दसे व्याधि शीत क्रोध स्पन्द आदि विभावोंका ग्रहण होता है । बह्वचनने  
अङ्गोंका कूट जाने, घोलों मिल जाने और व तबोलावे करने आदि अनुभावोंके द्वारा उत्पन्न  
अभिनय करना चाहिए ।

णम् । रावणस्य हाविषयप्रवृत्तत्वात् शृङ्गाराभासः सतां हास्यमुपजनयति । हास्याभासादपि हास्यो भवति यथा—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एषः

मम्मन्यते यदि किमद्वा वदाम नाम ?

यन् त्वत्र हासमुग्रत्वममुष्य तेन,

पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

व्यभिचारिणामपि उत्पाशोत्पादकभावो यथा व्याधेर्निर्वेदः, चिन्ताविबोधाभ्यां स्मृतिः, श्रमादालस्यमित्यादि । व्यभिचार्याभासादप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् हास्यो भवतीति ॥ [४४] १४६ ॥

अथ रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणामनुभावानां च कार्यभूताननुभावान् प्रतिपादयति—

[सूत्र २१७]—वैषथ्यः-स्तम्भ-रोमाञ्चः स्वरभेदोऽश्रु-सूच्यंनम् ।

स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्या अनुभावा रसादिजाः ॥ [४५] १४७ ॥

आश्रयशब्दात् प्रसाद-उच्छ्वासानि श्याम क्रन्दन परिदेयित - उल्लुक्कसन - भूमि विलेपन विवर्तन-उद्धर्तन नयननिस्तोदन-भ्रुकुटि कटाक्ष - सिर्यगधोमुपनिरीक्षण - प्रसासन हसन-दान-चातुकार-आस्यरागादय । कचिन म्थायिनो व्यभिचारिणश्च [यथायोगं रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणानुभावानां च सहस्रसंग्रया अनुभावा इति ॥ [४५] १४७ ॥

कहलाते हैं] अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेके कारण सारे रसोंके रसाभास हास्यरसके कारण होते हैं । जैसे रावणका [सीताके अननुरक्त होनेके कारण] अविविधसे प्रवृत्त शृङ्गाराभास, सहृदयोंके भीतर हास्य उत्पन्न करता है । [अन्य रसाभासोंसे ही नहीं अपितु] हास्याभाससे भी हास्य-रस उत्पन्न होता है । जैसे—

[रावणके] लोकोत्तर चरित्रोंको यदि यह लोक उचित नहीं समझता है तो हम क्या कह सकते हैं । किन्तु [अनुचित कर्म करने भी वेशभोंकी तरह] जो वह प्रदुहात करता हुआ हँसता है उसको देखकर ऐसा कोम है जो कोल पकड़कर नहीं हँसता है । [हँसते-हँसते किस की कोलोंने बर्ब नहीं होने लगता है] ।

व्यभिचारिभावोंसे भी परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभाव होता है । जैसे व्याधिते निर्वेद उत्पन्न होता है । चिन्ता तथा विबोधसे स्मृति, और श्रमसे आलस्य उत्पन्न होता है । अनौचित्य से प्रवृत्त होनेवाले व्यभिचारिभावोंसे भी हास्यरसकी उत्पत्ति होती है ॥ [४५] १४६ ॥

प्रत्येक रसोंके, स्थायिभावों और व्यभिचारिभावोंके [तीनोंके] कार्यभूत अनुभावोंका प्रतिपादन करते हैं—

[सूत्र २१७]—कम्प स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, आस्र, ध्रुवार्ध, स्वेद, विवर्णता इत्यादि रसादिसे उत्पन्न होनेवाले अनुभाव होते हैं । [४५] १४७ ।

आद्य शब्दसे प्रसन्नता, उच्छ्वास, निश्वास, रोमाञ्चिल्लाना, [उल्लुक्कसन] बाल मोचना, भूमि लीवना, सोटना घोटना, नाखून चवाना, भ्रुकुटि कटाक्ष, इधर-उधर या नीचे देखना, प्रसास करना, हँसना, दान, चापसूती और मुखका साल पड़ जाना आदि [अनुभाव भी गृहीत होते हैं] । वही स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव भी [अनुभाव हो सकते हैं] ।

(७) अथ स्वेद —

[सूत्र २२४]—स्वेदो रोमजलस्रावः श्रमादेर्व्यजनग्रहेः ।

आदिशब्दाद् भय हर्ष-लज्जा-रोग ताप-मृदु-दु स घर्म व्याधामादेर्विभावस्य ग्रह । बहुवचनाद् वाताभिलाप-स्वेदापनयनादिभिरप्यभिनेतव्य इति ।

(८) अथ वैवर्ण्यम्—

[सूत्र २२५]—छायाविकारो वैवर्ण्यं क्षेपादेर्दिङ्निरोक्षणैः ॥

॥ [४६] १५२॥

छाया शोभा तस्या विकारो विरूपत्वम् । क्षेपस्तिरस्कार । आदिशब्दान् मन्ताप भय क्रोध व्याधि शीत-श्रम-स्त्रीप्राशुकरादेर्विभावस्य ग्रह । बहुवचनाद् नर निस्तोदन त्रीडादिभिरप्यभिनेतव्यमिति ॥ [४६] १५१॥

अथ रसभानान्तरोद्दिष्ट्याभिनयस्यावसर । स च वाचिक आङ्गिक सात्त्विक आहार्यभेदैश्चतुर्धा । तत्र प्रथम वाचिकं लक्षयति—

[सूत्र २२६]—वाचिकोऽभिनयो वाचा यथाभावमनुक्रिया ।

यागनुकार्यो प्रयोजन हेतुरस्येति 'प्रयोजनम्' [हिम० ६४११७] इति 'इकण'

(७) अथ स्वेद [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२४]—श्रम आदिके कारण उत्पन्न होनेवाला रोमजलका स्राव 'स्वेद' कहलाता

है । घोर पक्षा हायभे सेने आदिके द्वारा उत्पन्न अभिनय किया जाता है ।

प्रादि शब्दसे भय हर्ष, लज्जा रोग, स ताप, ग्रह, दुःख, व्याधाम प्रादि कारणों [विभावों] का ग्रहण होता है । बहुवचनसे हवाकी इच्छा, पसीना पोंछना प्रादि अनुभावोंके द्वारा भी उसका अभिनय किया जाता है ।

(८) अथ विवर्णता [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२५]—प्रथमान आदिके कारण उत्पन्न होनेवाला मुखकी काग्तिका विकार 'वैवर्ण्य' कहलाता है । इधर उधर देखने आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

॥ [४६] १५१ ॥

छाया अर्थात् [मुखकी] शोभा । उसका विकार अर्थात् विषाद जाना । क्षेप अर्थात् तिरस्कार । प्रादि शब्दसे सन्ताप, भय, क्रोध, रोग, शीत, यथावत् घोर घृण प्रादि विभावों का ग्रहण होता है । बहुवचनसे नामुल चक्राने घोर लज्जा आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है यह सूचित किया है ॥ [४६] १५१ ॥

अथ रस घोर भावोंके धन-तर कहे हुए अभिनय [के निरूपण] का अवसर आता है । वह [अभिनय] वाचिक आङ्गिक सात्त्विक घोर आहार्य [अर्थात् वेप भूषादि रूप] चार प्रकारका होता है । उनमेंसे सबसे पहले वाचिक [अभिनय] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २२६]—[वक्ताके] भावके अनुसार [उसकी] वाणीका अनुकरण वाचिक [अभिनय] कहलाता है ।

अनुकरण की जाने वाली वाणी [का अनुकरण] जिसका 'प्रयोजन' हेतु है । वह हेम 'अनुकूल' हेतु आचरणके 'प्रयोजनम्' इस सूत्रसे 'इकण' प्रत्यय होकर 'वाचिक' पद बनता

(४) अथ स्वरभेदः—

[सूत्र २२१]—स्वरभेदः स्वरान्यत्वं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥

॥ [४७] १४६ ॥

अन्यत्वमुपचयापचयाभ्यां भेदः । आदिशब्दाद् भय जरा-हर्ष-क्रोध-राग रौदयादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणाद् घ्रीडा-निर्वेदादयोऽप्यनुभावा द्रष्टव्या इति ।

॥ [४७] १४६ ॥

(५) अथाश्रु—

[सूत्र २२२]—अश्रु नेत्राश्रु शोकाद्यंनसास्पन्दाक्षिरूक्षणः ।

आद्यशब्दादनिमेषप्रेक्षण - आनन्द-अमर्ष-धूम अश्रुन-जृम्भण-भय-पीडा हास्या-देर्विभावस्य ग्रहः । नासायाः स्पन्दः श्लेष्मस्रवणम् । बहुवचनान्निष्ठीयन गद्गदस्वरा-देरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(६) अथ मूर्च्छनम्—

[सूत्र २२३]—मूर्च्छनं घात-कोपाद्यैः खग्लानिर्भूमिपातकृत् ॥

॥ [४८] १५० ॥

आद्यशब्दाद् मदादेर्विभावस्य ग्रहः । खग्लानिर्निद्रियश्लामभिभवः । उपलक्षणात् स्वेद-रसादादयोऽप्यनुभावा इति ॥ [४८] १५० ॥

(४) अथ स्वरभेद [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२१]—अथ आदिके कारण होनेवाली शब्दकी भिन्नता 'स्वरभेद' कहलाता है । और वह हर्ष तथा हास्यकी उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ [४७] १४६ ॥

[स्वरकी] अग्र्यता अर्थात् उसके तीव्र या मन्द हो जानेसे होनेवाला भेद । घ्राति शब्दसे भय, बुढापा, हर्ष, क्रोध, राग और रुसता आदि विभावोंका ग्रहण होता है । उपलक्षण रूप होनेसे घ्रीडा तथा निर्वेद आदि अनुभाव भी समझ लेने चाहिए ॥ [४७] १४६ ॥

(५) अथ अश्रु [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२२]—शोक आदिके कारण उत्पन्न होनेवाले नयनजलका नाम 'अश्रु' है । नयने कड़कने और आँसुके पोंछनेकेद्वारा [उसका अभिनय करना चाहिए] ।

आद्य शब्दसे टकटकी लगाकर देखना, आनन्द, क्रोध, धुआँ, अश्रुजन, जम्भाई, भय, पीडा, हास्य आदि विभावोंका ग्रहण होता है । नासिका स्पन्दन अर्थात् उससे श्लेष्माका प्रवाहित होना । बहुवचनसे सूँघने और गद्गद स्वर आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(६) अथ मूर्च्छा [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२३]—प्रहार या कोप आदिके कारण उत्पन्न इन्द्रियोको असमर्थता 'मूर्च्छा' कहलाती है । और वह [मुदित व्यक्तिको] भूमिपर गिरा देने वाली होती है ॥ [४८] १५० ॥

आद्य शब्दसे मद आदि कारणोंका भी ग्रहण होता है । खलानि अर्थात् इन्द्रियोंका असमर्थ हो जाना । उपलक्षण होनेके कारण स्वेद और श्वास आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [४८] १५० ॥



देश-कालभेदेनातथाभूतेष्वप्यभिनेयचतुष्टयान्छादनान् तथाभूतगिब नटेषु रामा-  
दीनध्यवस्यति । अत एव तामु तामु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति ।

अपरे तेषु तु नामसवेत-सगीतकाभिनेयेषु रामाद्यध्यवसायहेतुषु उपदेशपरमेत  
दिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते ।

अथवा इह तावत् इत्यमाकृति, इत्थं गति, इत्थं जल्पित, इत्थं क्रोधादिललित  
इत्येवमशेषमपि रामादिललित ऋषीणा कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चित कवयो नाटके  
निबध्नुन्ति । तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासान्दस्य साक्षाद् दर्शनमेव ।

अपि च कदाचिन्मासदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृश । तत्र मुनि  
ज्ञानदर्शितं अर्थ दर्शनादप्यधिकतरमवगतं यस्तुत पञ्चानुश्रवणो दुर्विदग्धबुद्धिभि कथ  
ङ्कारमपान्रियत वरायो नट ? प्रेक्षकाणां तु सत्यसति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय  
एव । अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामान्सुख-दुःखेषु तन्मयीभवैयु ।  
उन्मिषन्ति च भ्रान्तरपि शृङ्गारादयः । कामिनी-वैरि-चौरादीनधिस्यन्मभिपश्यत पुस  
कथमपरथा रमप्ररोहोद्दिष्टस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावा प्रादुर्भवैयुरिति ।

मनोहर सगीतको सुमने आदिके कारण विवश होकर, स्वरूप देश और कालका भेद होनेसे  
उस प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] न होनेपर भी [वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहारा  
रूप] द्वारा प्रकारके अभिनयोंके द्वारा [नटके] स्वरूपका आचरण कर लिए जानेसे उस  
प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] बने हुए नटोंमें रामका निश्चय कर लेते हैं । इसीलिए उस  
प्रकारकी मुल बुझमयी राम आदिकी अवस्थाओं में तमय सा हो जाता है ।

दूसरे लोग [यह कहते हैं कि नटमें] राम आदिका निश्चय कराने वाले नामके सकेत  
सगीत और अभिनय आदि हेतुओंके उपस्थित होनेपर यह [अभिनय आदि सब सामग्री  
मनोरञ्जनके साथ साथ कथ्यके] उपदेश देनेके लिए है ऐसा मानकर हेय तथा उपादेयके  
परिग्रहण भयया प्रहण्ये हो तत्पर हो जाते हैं ।

अथवा [तीसरा मत यह है कि राम आदि] अनुकाय पुद्गलोंकी इस प्रकारकी आकृति  
इस प्रकारकी गति इस प्रकार की बात भीत और इस प्रकारका क्रोधादिकी वास्तवता थी । इस  
प्रकार रामादिके सम्पूर्ण चरित्रको श्रुतियोंके त्रिकालदर्शी ज्ञानके द्वारा निश्चय करके ही  
कथिण नाटकमें उसकी रचना करते हैं । और उसके विषयमें मुनिजनोंके विश्वासके कारण  
नटका [राम रूपमें वक्षन] साक्षात् [रामका ही] वक्षन है ।

और दूसरी बात यह भी है कि इन चर्म-वक्षुप्रोप्ति देखने वाले लोग भ्रात हो सकते  
हैं किन्तु ज्ञान वक्षुप्रोप्ति देखने वाले [मुनिमण भ्रात] नहीं [हो सकते हैं] । इसलिए मुनियों  
[के सहस्र कथियों] के ज्ञान द्वारा प्रदर्शित [अथ] वास्तविक देखे हुए अथवा भी अधिक अच्छी  
तरहसे अथवा अर्थको वास्तविक रूपमें अनुकरण करने वाले विचारे नटको अल्पबुद्धि [यह  
अनुकरण नहीं है इस प्रकार] निराकरण कते कर सकते हैं ? प्रक्षकों ने [अनुकायको] देखा  
हो या न देखा हो किन्तु उनकी [रामादिका अभिनय करते समय] नटोंमें राम आदि [के  
तादात्म्य] का निश्चय होता ही है । अथवा यह बनावटी [राम] है इस प्रकारका ज्ञान होने  
पर रामादिके मुख-दुःखोंमें तमयतकको प्राप्त नहीं कर सकते हैं । [इस प्रकार नटमें रामादि  
बुद्धिको चाहे भ्रम ही क्यों न माना जाय किन्तु उससे सामाजिकमें शृङ्गारादिकी प्रतीति

वाचिक । सामाजिकानामभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेति अभि-  
नयः । याचा संस्कृत प्राकृतादीनां सार्थिकानामनर्थिकानां वा । यथाभावं क्रोध अहङ्कार  
जुगुप्सा उत्साह विस्मय हास-रति-भय-शोक - सुख दुःख-मोह-लोभ माया असूया शङ्का  
ऽऽदीनां, वेपथु स्तम्भ रोमाञ्च मूर्च्छा वैवर्ण्य-प्रसादादीनां वा भावानामनतिक्रमेण ।  
तथा च कथं 'सन्निध' 'सावेग' इत्यादीन्यनुकार्यभावप्रकाशकानि क्रियाविशेषणान्यु-  
पनिवधन्ति । तेनैकेनोक्तमपरस्य यथाभावं अनुवदतोऽनुवाद एव न वाचिकोऽभिनय  
इति । अनुक्रिया च यागादीनां तदभ्यवसायवशान् न पुनर्वस्तुतः । रामादेरनुकार्यस्य  
नटो प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टवान् । अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानुक्तुमशक्नुते । प्रेक्षकोऽपि  
चादृष्टानुकार्यो नानुक्तुं न शक्नुते । तदयं नटो रामादेशचरित कविनिन्दम-  
धीत्य अत्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानो अनुकरोमि इत्यध्यवस्यति ।  
परमार्थस्तु लोकव्ययहारमेवायमनुवर्तते । प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रविते रोदिति, न  
तु हसति । विपण्योऽपि च हसिते हसति, न तु रोदितोऽपि ।

प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणादतिदृष्टसंगीतकाहितवैयर्थ्याच्च स्वरूप-

है । [ आगे अभिनय शब्दका निर्वचन करते हैं ] । अभिमुख्यसे अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप  
से [ अभिनेतव्य ] अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकों के पास पहुँचाया जाता है वह [ अभिनीयते  
इति निर्वचनके अनुसार ] अभिनय कहलाता है । वचनोका अर्थात् संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा  
मध्य वचनोंका अथवा सार्थक या अनर्थक वचनोंका । [ यत्नाके ] मनके अनुसार 'यथाभाव'  
अर्थात् क्रोध अहङ्कार, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय, हास्य, रति, भय, शोक, सुख-दुःख, मोह-लोभ  
माया, असूया, शंका आदि [ भावो ] का, तथा कम्प, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, वैवर्ण्य तथा  
प्रसन्नता आदि रूप भावोंका प्रतिक्रमण किए बिना [ अभिनय करना 'यथाभावमनुक्रिया'  
कहलाती है ] । इसीलिए कश्चिण 'सावेग' सन्निध' इत्यादि अनुकार्य भावके प्रकाशक पदोंका  
प्रयोग करते हैं । इसीलिए एकके द्वारा कहे गएका, दूसरेके द्वारा यथोचित भावका अनुकरण  
किए बिना जो [ अनुवाद करना ] बयन करना है यह केवल 'अनुवाद' कहलाता है उसको  
वाचिक अभिनय नहीं कहा जाता है । क्योंकि वाचिक अभिनयमें यथाभावमनुक्रिया भावोंका  
अनुकरण आवश्यक है । और याणी आदिका अनुकरण [ यह रामका बयन है ] इस प्रकारके  
निश्चयके कारण होता है वास्तविक रूपमें नहीं । क्योंकि नटने अथवा प्रेक्षकोंमें किसीने भी  
अनुकार्य रामादिको स्वयं नहीं देखा है । अनुकरण करने वाला [ नट ] अनुकार्य [ रामादि ] को  
देते बिना उसका अनुकरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है । और प्रेक्षक भी अनुकार्यको  
देते बिना अनुकरण करने वालेको अनुकर्ता नहीं मान सकता है । इसीलिए यह नट बह्विध  
द्वारा नियुक्त राम आदिके चरित्रको पढ़कर अत्यन्त अभ्यासके द्वारा स्वयं देता जैसा मान  
कर 'मैं [ इस समय ] उसका अनुकरण कर रहा हूँ' ऐसा निश्चय करता है [ इसी समय  
मायके कारण उसके ध्यापारको अनुकरण कहा जाता है ] वास्तवमें तो वह [ रामके ध्यापार  
का नहीं अपितु ] मोह-व्यवहारका ही अनुकरण करता है । क्योंकि स्वयं प्रसन्न होनेपर भी  
रामके रोनेपर रोता है हँसता नहीं है । और स्वयं दुःख होनेपर भी [ राम आदि ] हँसने  
पर हँसता है, रोता नहीं है । इत्यादि

और प्रेक्षक भी [ नटके नियममें ] राम आदि शब्द-संकेतको मचमने तथा धारण

नृपदे कान्ताभयानकादय पटप्रिशन ।

नेत्रतारकयो भ्रमण वलनादयो बहव क्रियाभेदा समसान्यादयो दर्शन प्रकाराश्च ।

अन्तिपुटयोरन्मेष निमेषादयो बहव ।

ध्रुवोरुत्तेष पतनादय सप्त । नासिकाया नता-मन्दादय षट् । गण्डयो क्षाम

वनका उत्तेष नाट्यसास्त्रम इत प्रकार किया गया है—

मुखजेऽभिनये विप्रा नानाभावरसाश्रये ।

शिरस प्रथम कर्म गदतो मे निबोधत ॥ ८ ॥ १७ ॥

आकम्पित कम्पित च ध्रुत विधुतमेव च ।

परवाहितमाधूत अवधूतं सयाचितम् ॥ १८ ॥

निहंचित परावृत्तमुत्क्षिप्त चाप्यधोगतम् ।

ललित चेति विज्ञेय त्रयोदशविधं शिर ॥ १९ ॥

हृदिके कास्ता, भयानका आदि दत्तीस प्रकार होते हैं ।

भरतमुनिने दृष्टिबे इन छत्तीस प्रकारके नाम निम्न प्रकार गिनाए हैं—

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।

रौद्रा धीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टय ॥ ४१ ॥

लिंग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा वीर्या भयान्विता ।

जुगुप्सिता चिस्मिता च स्थायिभावेपु दृष्टय ॥ ४२ ॥

शून्या च मलिना चैव श्राता लज्जान्विता तथा ।

धु चिता चाभितप्ता च जिह्वा सललिता तथा ॥ ४३ ॥

यितर्कितार्थमुकुला विश्राता विलुप्ता तथा ॥ ४४ ॥

आक्षेकरा विकोशा च त्रस्ता च मदिरा तथा ।

षट्त्रिंशद् दृष्टयो होतास्तासु नात्र प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

नेत्र घोर तारकोंके भ्रमण, चलन आदि बहुतसे क्रियाभेद होते हैं ।

सम घोर वक्र [साधी] आदि दशनके प्रकार हैं ।

इस सम आदि दशन प्रकारोंका वणन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

अथात्रैव प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।

समं साध्यनुवृत्ते च ह्यल्लोकिन्त विलोकिने ।

प्रलोकिन्तोल्लोकिन्ते चाप्यवल्लोकिन्तमेव च ॥ १०६ ॥ ८ ॥

[प्रति] नेत्रपुटोंके उन्मेष निमेष आदि बहुतसे भेद होते हैं ।

भरतमुनिने इन नेत्रपुटोंके अभिनय भेदाका निरूपण निम्न प्रकार किया है—

तारागतोऽस्यानुगत पुटकर्म निमोघत ।

उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसून शुब्धित समं ।

विवर्तितं सस्फुरित पिहितं सविताडितम् ॥

भीहोंको उठाना गिराना आदि सात [अभिनय प्रकार होते हैं] । नासिकाके नता घरा आदि छ । ठोड़ीके फुटन लण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं] । गालोंके

अथाङ्गिकः—

[सूत्र २२७]—कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गैश्च साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥

॥[५०]१५२॥

कर्मणोऽनुकार्यचेष्टाया अङ्गैः शिरो-हस्त-वक्षः-कटी-पार्श्व-पादादिभिः, उपाङ्गैश्च नेत्र-भ्रू-पद्म-अवर-कपोल-चिबुकादिभिः । साक्षाद् भावनं परोक्षस्यापि सामाजिकेभ्यः साक्षादिव करणमाङ्गिकः । अङ्गानि प्रयोजनं हेतवो यस्येत्याङ्गिकः । 'यथा-भाव' इति, अत्रापि स्मर्यते । तेन रामादेरनुकार्यस्य ये क्रोध-उत्साह-आवेग-वैमनस्य-हर्ष-वैचर्य-आस्यराग-भ्रुकुट्यादयरचेष्टाविमिमा भावाः, तैरेनस्यूतस्य कर्मणः साक्षादिव भावनं न तु केवलस्येति ।

तत्रोत्तमाङ्गस्याकम्पित-कम्पितादयस्त्रयोदश ।

होती ही है । क्योंकि] भाँतिसे भी भृङ्गारादिकी उत्पत्ति हो सकती है । अग्यया स्वप्नमें कामिनी, वंशी चोर आदिको देखने वालोंके भीतर रसके चरम सीमापर पहुँच जानेपर [रसोंके अनुकूल] स्तम्भादि अनुभाव कैसे होते हैं ?

अथ आंगिक [अभिनयका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र २२७]—अंगों और उपाङ्गोंके द्वारा कार्योंका साक्षात्कार कराना आंगिक [अभिनय कहलाता] है । [५०] १५२ ।

कार्योंका अर्थात् अनुकार्य [रामादि] की चेष्टाका । अंगोंके द्वारा अर्थात् तिर हाथ छाती कमर पार्श्व और पैर आदि रूप [मुख्य अंगों] के द्वारा । और उपांगों अर्थात् नेत्र भौंह, पलक, अवर, कपोल, ठोड़ी आदि [शील] उपांगोंके द्वारा । साक्षात् भावन अर्थात् परोक्ष अर्थको भी सामाजिकोंके लिए साक्षात्-सा प्रभा देना । आंगिक [अभिनय कार्य] है । अङ्ग जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह आङ्गिक है [यह आङ्गिक कर्मका नियर्चन हुआ] । इस कारिकाके पूर्वाङ्गमें पठित 'यथाभावानुविद्या'मेले 'यथाभाव' यह भाग यहाँ [आङ्गिकके लक्षणमें] भी संगत होता है । इसलिए रामादि अनुकार्यके जो क्रोध, उत्साह, आवेग, वैमनस्य, हर्ष, वैचर्य, मुलराग और भ्रुकुटि आदिसे युक्त चेष्टाविमिश्रित भाव हैं उनसे तन्मूर्तित कार्योंका सा साक्षात्करण [होना आवश्यक है], केवल [आवतुकरण रहित कर्म] का नहीं ।

इस प्रकार आङ्गिक अभिनयका लक्षण करनेके बाद अथ ग्रंथकार भरत मुनिने नाट्य शास्त्रके आधारपर आङ्गिक अभिनयोंका संक्षिप्त विवेचन करते हैं ।

भरतमुनिके नाट्यशास्त्रके आठवें अध्यायमें इन आङ्गिक अभिनयोंका विशेष वर्णन किया गया है उसीका सङ्केत करते हुए ग्रंथकार आगे प्रतिपादन करते हैं ।

अप्यकारने यहाँ अङ्गों और उपाङ्गोंके द्वारा किए जाने वाले अभिनयको आङ्गिक अभिनय कहा है । भरतमुनिने इन अङ्गों तथा उपाङ्गोंका विभाजन निम्न प्रकार किया ?—

“तत्र शिरो हृन्मोरः पार्श्वकटीपादतः पटङ्गानि ।

नेत्र-भ्रू-नामाधर - कपोल - चिबुकान्युपाङ्गानि ॥ ८-१५ ॥

उनमेंसे गिरके कम्पित धावम्पित आदि तेरह प्रकार [के अभिनय होते] हैं ।

इन स-अङ्गोंमेंसे गिरके तेरह प्रकारके अभिनयोंका संकेत यहाँ अन्त्यकारने दिया है ।

तलपुष्प पुटवर्तितादीनि करणान्यष्टोत्तरं शतमिन्वादि. मर्जोऽपि चेष्टाविषयो  
अङ्गोपाङ्गप्रभवत्वाद्-आङ्गिकं प्यामिनम् ।

गतयोऽप्येवम् । तत्रोत्तम-मध्यम-नीचानां क्रमेण धीरा मध्यमा द्रुता च  
सामान्येन गतिः । विशेषान्नु वृद्ध-व्याधित-क्षयित-श्रान्त-तप-क्लात-सुमित-सावहित्य-  
शोक-शृङ्गारान्वित-स्वच्छन्दादीनां मन्थरा । हर्ष-आवेग-कुतूहल-भय-आप्मुक्त्यादि-  
मतां त्वरिता । प्र-दन्त-कामुक-वैरि-चोर-सौद्रमत्त्वादिशाङ्गतादीनां निःशब्दपदसञ्चारा  
उन्मार्गा दिगवल्लोस्रनवती च । शीत-वर्षादितयो रुम्पमाना मर्मपाटिताङ्गा । घर्मार्तस्य  
स्वेदापनयना द्यावावल्लोस्रनवती । प्रह्लागत-शूलयोरङ्गास्पर्श-श्वामयती स्थिरा च ।  
यातिनां नेत्रचापन्य-पुरतो युगमात्रनिरीक्षणवती । उन्मत्त-मत्तगोधिर्यधूर्तिवनेत्रा स्मरिता

समोत्साग्निमनन्ती मनन्ती चेति षोडश ।

एता भौम्यः स्मृतान्धार्य शृणुताःशिशरी पुन ॥ १० ॥

इन मोनह श्रीमी चारियोके नाम गितानेके बाद भगवतुनिन मोनह प्रकारकी भाषा-  
गिरी चारियोक नाम दिए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

अतिक्रांता ह्यपक्राता पार्श्वक्रांता तथैव च ।

उर्ध्वजानुश्च मूर्ध्नी च तथा नृपुण्पादिका ॥ ११ ॥

ढोलापादा तथाक्षिना आरिद्वेदशृत्तर्मजिने ।

त्रिशुद्धक्रांता ह्यलाना च भुजंगग्रामिना तथा ॥ १२ ॥

मृगप्लुता च शरहा च भ्रमरी चेति षोडश ।

आकाशिक्य स्मृता द्योता लज्जणं च निरोधत ॥ १३ ॥

फुल्लादयः पट् । अधरस्य विवर्तन-कम्पादयः पट् । चिबुकस्य कुट्टन-खण्डनादयो बहवः । ग्रीवायाः समा नतादयो नव । हस्तयोः पतारु-त्रिपताकादयश्चतुःपट्टि ।

वक्षस आमुग्न-निर्भुग्नादयः पञ्च । पार्श्वयोर्नत-समुन्नतादयः पञ्च । उदरस्य क्षाम खल्ल-पूर्णलक्षणाश्चयः । कट्याश्लिङ्गानियुत्तादयः पञ्च । ऊर्ध्वः कम्पन-वलनादयः पञ्च । जङ्घयोरावर्तित-नतादयः पञ्च । पादयोर्दृघटित-समादयः पट् । तथैकपादप्रचार-रूपाः समपादा-स्थितावर्तिकादयो भीम्यः षोडश । अतिक्रांत-अपक्रांतादयः षोडश आकाशिक्यञ्च 'चार्यः' । स्थिरहस्त-पर्यस्तकादयो अङ्गद्वारा द्वात्रिंशत् ।

पिचक जाना, या फूल जाना आदि छः, अधरके फडकना, कांपना आदि छ, ठोड़ोंके कुट्ट, खण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं] । गर्दनके समा, नता आदि नौ, हाथोंके पताका, त्रिपताकादि १४ प्रकार होते हैं ।

छातीके आभुग्न, निर्भुग्म आदि पांच, पादयोर्नत, समुन्नत आदि पांच, उदरके दुर्बल, खाली और भरा आदि तीन, बमरके छिन्न अभिवृत्त आदि पांच, जाँघों के कम्पन, लपेटना आदि पांच, जघाघ्रोंके आवर्तित नत आदि पांच [अभिनय प्रकार होते हैं] । पैरोंके उवघटित, सम आदि छ [अभिनय प्रकार होते हैं] । और एक पैरसे चलने रूप समपाद, स्थित, आवर्तित आदि सोलह प्रकारकी भूमिपर की जाने वाली 'चारी' तथा अतिक्रांत अपक्रांत आदि सोलह प्रकारकी आकाशोप 'चारी' एवं स्थिर हस्त पर्यस्तक आदि बत्तीस प्रकारके अङ्गद्वार [ये सब आङ्गिक अभिनयके अन्तर्गत आते हैं] ।

इसमें ग्रन्थकारने जिन 'चारी', 'अङ्गद्वार' आदि आङ्गिक अभिनय भेदोंका उल्लेख किया है उनका वर्णन नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमें विस्तारपूर्वक दिया गया है । उसमें 'चारी'का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

एक पादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता ।

द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्ववेत् ॥ १०-३ ॥

अर्थात् एक पैरकेद्वारा चलनेका नाम 'चारी' और दोनों पैरोंसे परिक्रमण करनेको 'करण' कहते हैं । नाटकमें 'चारी'के महत्त्वका प्रदर्शन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।

चारीभि शस्त्रमोक्षञ्च चार्यो युद्धे च कीर्तिता ॥ ५ ॥

यदेतत् प्रस्तुत नाट्यं तच्छारीप्वेव संस्थितम् ।

न हि चार्या विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्तते ॥ ६ ॥

नाट्यमें चारीके महत्त्वका प्रतिपादन करनेके बाद भरतमुनिने आय सोलह प्रकारकी भीमी और सोलह प्रकारकी आकाशिकी चारियोंके नाम गिनाकर उनके लक्षण विस्तारपूर्वक दिखलाए हैं । इन सबको देखना चाहें तो नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमें देखना चाहिए । यहाँ ग्रन्थकारने उनके नामोंका संकेतमात्र किया है । वे नाम निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

ममपादा स्थितावर्ता शस्त्राख्या तथैव च ।

अध्यर्धिका चापगतिर्विच्यवा च तथा परा ॥ ८ ॥

एडकाकीडिता बद्धा उरुद्वृत्ता तथाकिता ।

उत्पन्दिताय जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता ॥ ९ ॥

अवहित मन सत्त्व, तत् प्रयोजन हेतुरस्येति सात्त्विक । मनोऽनवधाने हि न शक्यन्त एव स्वरभेदादयो नटेन दर्शयितुम् । आदिशब्दाद् वेपथु स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्धन-स्वेद चैवर्त्य-अश्रु-निश्वासोच्छ्वास-सन्ताप-शैत्य-जृ भा कार्श्य - मेदुरत्व उल्लुक सन अवहित्य-सावधानता-त्ताला फेनमोक्ष-गात्रमसन हिकादेर्ग्रह । नायमभिनयो वाचिक, शब्दानुकारात् । नाप्याङ्गिक अङ्गोपाङ्गसाध्य-स्पष्टचेष्टाया अभावादिति । स्वरभेदाद्यनुभावप्रदर्शन रसोत्तम-मध्यम-अधमप्रकृत्याद्यौचित्यानुसारतो द्रष्टव्य-मिति ॥

अथाहार्य —

[सूत्र २२६]—वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥

[५१] १५३ ॥

वर्णं श्वेतादि । आदिशब्दाद् रस-गन्ध-आकरूप-आयुध-याहन-अङ्गाधिक्य-वेश-नदी-नगर-वन-पक्षि-द्विपद-चतुष्पद-अपद-प्रासाद-पर्वतादेर्ग्रह । बाह्य शरीरव्यति रिक्त भस्म धातु-जतु राग-हरिताल मपी-मृत्तिका यत्र येणु दलादिकं निमित्तमस्येति । वाचिकादयस्तु शरीरनिमित्ता इति भेद । अथ च देश-काल कुल प्रकृति दशा-स्त्रीत्व

एकाग्रमनका नाम सत्त्व है । वह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह सात्त्विक [अभिनय] होता है । मनकी स्थिरता न होनेपर नट स्वरभेदादिका प्रदर्शन नहीं कर सकता है [इसलिए स्वरभेदादि अनुभावोका प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है] । आदि शब्दसे कम्पन, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, स्वेद, विषर्णता, प्रासू निश्वास, उच्छ्वास, स ताप, शय्य जम्भाई, कृशता, स्थूलता, उल्लुकसन, आकारगोपन [अवहित्य] सावधानता, लार गिराना या फेन गिराना, शरीरका निमित्त कर देना और हिवकी आदिका ग्रहण होता है । इन सबका यह अभिनय शब्दानुकरण रूप न होनेसे वाचिक नहीं कहा जा सकता है और अगोप्यता उपयोगोंसे साध्य स्पष्ट चेष्टारूप न होनेसे आंगिक भी नहीं कहा जा सकता है । [इसलिए यह तीसरे प्रकारका सात्त्विक अभिनय कहलाता है] । स्वरभेद आदि अनुभावोंका प्रदर्शन रस तथा उत्तम मध्यम अधम आदि प्रकृतियोंके औचित्यके अनुसार किया जाना चाहिए ।

अथ [वेप भूपादिते साध्य बोधे प्रकारके] आहार्य [अभिनयका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२६]—बाह्य वस्तुप्रोक्ते द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदिका अनुकरण आहार्य [अभिनय कहलाता] है । [५१] १५३ ।

वर्ण अर्थात् श्वेतादि । आदि शब्दसे रस, गन्ध, वेप [आकरूप] दास्य, याहन, आगोत्री पक्षिगता देश, नदी नगर, वनपक्षी, द्विपद चतुष्पद, पर्वरहित [सर्प आदि] प्रासाद और पर्वत आदिका ग्रहण होता है । बाह्य अर्थात् शरीरसे भिन्न भस्म धातु लाल आदिका राग, हरिताल, रसाही, मिटटी, यस्त्र, बाँपुरी और पत्रादि जिसका निमित्त अर्थात् प्रयोजक है [वह सब आहार्य अभिनय कहलाता है] । और वाचिक आदि [पहले कहे हुए तीनों प्रकारके अभिनय] तो शरीर निमित्तक होते हैं यह [उन तीनोंके इन आहार्य अभिनय का] भेद है । देश, काल, प्रकृति, दशा, स्त्रीत्व पु स्त्र्य, पण्डित्य आदिक औचित्यके अनुसार इस [आहार्य अभिनय]की करना चाहिए ।

च । विद्रूपकस्य असम्बद्धेक्षणवती । जले पादविकर्षवती, प्रतरणे जठर-शयकाया-  
वाहुभ्यां जलविपाटनवती च । जलद्वियमाणस्य विसंस्थुलाङ्ग-केश-धसनवती । अन्ध-  
अन्धकारगतयोः आकृष्यमाणमन्दपदा पुरःप्रसारितविलोहहस्ता च । आरोहणे  
उर्ध्वावलोकनपरा, विपरीता त्वधरोहणे । आकाशे समाभ्यां पादाभ्यां, वाहनैः, पक्षा-  
भ्यां वा । आकाशान्यतो विसंस्थुलाङ्गकेश-अशुका । इत्याद्यनेको गतिप्रकार इति ।

तथा रूपस्य शिरसि हस्तौ कृत्वा किञ्चिदास्यचालनानिमिषप्रेक्षणाभ्याम्,  
शब्दस्य शिरसा पार्श्वनतन, स्पर्शस्य नेत्राकुञ्चनेन, रस-गन्धयोश्चैकोच्छ्वासेनाभि-  
नयः । सर्वोऽपि चाभिनय इष्टो, मध्योऽनिष्टश्चेति त्रिप्रकारः । तत्रेष्टः सौमुख्य-पुलक-  
गात्र-नेत्रविकासादिना क्रियते । मध्यो माध्यस्थ्येन । अनिष्टः शिरःपरावर्तन-नेत्र-  
नासाविकोणनादिति । चतुर्विधश्चात्र गुप्तरागः, प्रसन्नः, स्वाभाविको, रक्तः, श्यामरचेति  
रसौचित्यानतिक्रमेण भवति । यदपि सर्वशरीरसाध्यं भूपातादिकं तदप्याङ्गिक एव ।  
अङ्गोपाङ्गरूपत्वान्छरीरस्येति ॥ [५०] १५२ ॥ -

अथ सात्त्विकः—

[सूत्र २२८]—सात्त्विकः स्वरभेदादेरनुभावस्य दर्शनम् ।

होती है । विद्रूपककी गति असम्बद्ध बातोंको देखते हुए होती है । पानीमें, पैंतोंकी घसीछते हुए,  
तैरते समय पेट, हाथ, शरीर तथा बाहुओंमें जलको चीरते हुए, और जलमें बहते हुएकी प्रस्त-  
ब्धस्त हाथ-पैर, केश तथा वस्त्रोंमें युक्त गति होती है । अन्धों और अन्धकारमें चलने वालों  
की धीरे-धीरे पैंतोंको खचेड़ते हुए और आगेकी ओर कंते हुए हाथको हिलाते हुए [गति  
होती है] । ऊपर चढ़ते समय ऊपरकी ओर देखते हुए और उतरते समय उसके विपरीत  
[अर्थात् नीचेकी ओर देखते हुए गति होती है] । आकाशमें दोनों पैर एकसे किए अथवा  
बाहुनोंके द्वारा अथवा पंखोंके द्वारा [गति होती है] । आकाशको छोड़कर अन्यत्र प्रस्त-ब्धस्त  
केश वस्त्रादिके युक्त अनेक प्रकारका गमनविधि कहा गया है ।

और रूप [के दर्शन] का [अभिनय] सिरके ऊपर हाथ रखकर तनिक सिर हिलाते  
हुए टकटकी लगाकर देखते हुए नेत्रोंमें, शब्द [के ध्वन्य] का [अभिनय] एक ओरको  
सिर झुकाकर सुननेसे, विशेष प्रकारके स्पर्शका [अभिनय] घ्राँले छन्द कर लेनेसे, और रस  
तथा गन्धका एक सम्बन्ध साँस लेनेके द्वारा होता है । सभी अभिनय दृष्ट, मध्यम तथा अनिष्ट  
तीन प्रकारका होता है । उनमेंसे दृष्ट अभिनय मनकी प्रसन्नता, शरीरके रोमांच तथा नेत्रोंके  
विकास आदिके द्वारा [प्रदर्शित] किया जाता है । मध्य अभिनय मध्यस्थताके द्वारा और  
अनिष्ट अभिनय [का प्रदर्शन] मुँह फेर लेने और नेत्र एवं नाक के सिकोड़नेके द्वारा किया  
जाता है । इस अभिनयमें प्रसन्न, स्वाभाविक रक्त, लाल तथा काला चार प्रकारका गुप्तराग  
होता है । जो रसके औचित्यके अनुसार होता है । और पृथिवीपर गिर पड़ना आदि जो सारे  
शरीरसे साध्य व्यापार है वह भी शरीरके ही अङ्गोपाङ्ग रूप होनेसे प्रागिक अभिनयके अन्तर्गत  
ही होता है ॥ [५०] १५२ ॥

अथ सात्त्विक [अर्थात् यानसिक अभिनयका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र २२८]—स्वरभेदादि अनुभावोंका प्रदर्शन सात्त्विक [अभिनय] कहलाता है ।



अथ चतुर्थो विवेकः

पुंस्त्व-पण्डत्वाद्यौचित्यानुसारतो विधेय इति ।

यस्तु पञ्चमश्चित्राभिनय प्रोक्तः सोऽप्यङ्गोपाङ्गकर्मविशेषरूपत्वादांगिक  
ग्वान्तर्भवति ।

अभिनयद्वय-त्रय-चतुष्टयसन्निपातरूपः सामान्याभिनयः पुनर्वाचिकादिलक्षणे-  
नैव चरितार्थ इति ॥ [५१] १५३ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ

वृत्ति-रस भाव-अभिनयविचारस्तृतीयो विवेकः ॥ ३ ॥

और जो पाँचवें प्रकारका चित्राभिनय [नाट्यशास्त्रमे] कहा गया है वह भी संगी  
तया उपागोंके विशेष कर्म-रूप होनेसे आंगिक अभिनयके भीतर ही आ जाता है ।

दो, तीन या चार अभिनयोंका सन्निपात रूप जो सामान्याभिनय [नाट्यशास्त्रमे]  
कहा गया है वह भी वाचिक आदिके लक्षणोंके अन्तर्गत ही हो जाता है ॥ [५१] १५३ ॥

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पणकी विवृतिमे

वृत्ति-रस-भाव-अभिनय-विचार नामक

तृतीय विवेक समाप्त हुआ ॥३॥

## अथ चतुर्थो विवेकः

अतः परं सर्वरूपकोपयोगि किञ्चिदुच्यते—

[सूत्र २३०]—देव-भूप-सभा-भर्तृ मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।

नित्या रूपमुखे नान्दी पदैः पङ्क्तिरथाष्टभिः ॥

[१] १५४ ॥

‘मुख्य’ ग्रहणं सरस्वती-कविप्रभृतीनामुपलक्षणार्थम् । ‘मङ्गलाभिधा’ सङ्कृत-  
गुणोत्कीर्तनं, आशीर्वचनं वा । ‘नित्या’ एवंविधरूपैश्च । अपरेषां तु पाठ्यानामुत्थापना-  
दीनां पूर्वैरङ्गाङ्गानां प्रयोगवशादन्यथात्वमपि भवति । अवश्यम्भावाद्वा नित्यत्वम् ।  
शेषाणां हि रङ्गाङ्गानां नावश्यम्भावः । अहरहः प्रयोज्यत्वाद्वा नित्यत्वम् । वाचद्वि रूप  
कस्याभिनयस्तावदेषा नान्दी प्रयोक्तव्यैव । ‘रूपकस्य’ नाटकादेः, ‘मुखे’ प्रारम्भे,  
नान्दी । प्रयोगस्थानकथनमेतत् । नान्दीत्वं च मङ्गलाभिधाया प्रयुह्यपसारणेन समृद्धि-  
जनकत्वात् । ‘पदानि’ वाक्याङ्गानि । केचित्तु पूर्णवाक्यापेक्षयावान्तरवाक्यानि ‘पदानि’  
इत्याहुः । तथा च भरतमुनिर्नान्दीं पठति—

अथ नाट्यदर्पणदोषिकां चतुर्थो विवेक

अथ सप्त प्रकारके रूपकोर्मे उपयोगी कुछ बातें कहते हैं—

[सूत्र २३०]—देवताओंकी, राजाकी, सभाकी तथा स्वामी आदिकी मंगल-कामना  
रूप, छ पवोते युक्त अथवा आठ पवोते युक्त ‘नान्दी’ प्रत्येक रूपके प्रारम्भमे नित्य ही  
करनी चाहिए । [१] १५४ ।

‘मुख्य’ पदका ग्रहण सरस्वती और कवि आदिका उपलक्षण है । ‘मङ्गलाभिधा’ अर्थात्  
विद्यमान सद्गुणोंका कथन करना, अथवा आशीर्वचन । ‘नित्या’ अर्थात् (१) सदा इसी  
प्रकारकी [मङ्गलाभिधा रूप] होती है । पूर्वैरङ्गके, पदों जाने वाले ‘उत्थापना’ आदि अग्य  
भंगोंमें तो प्रयोगके भेदसे परिवर्तन भी हो जाता है । [किन्तु नान्दीका सभी रूपकोर्मे एक ही  
स्वरूप रहता है । यह ‘नित्या’ पदका अभिप्राय है] । (२) अथवा [सब रूपकोर्मे नान्दीका]  
अवश्यम्भाव होनेसे नित्यत्व कहा है । रंगके अग्य भंगोंका होना आवश्यक नहीं है । अथवा  
(३) प्रतिदिन प्रयोग किए जानेके कारण नान्दीका नित्यत्व कहा है । जब तक रूपकोका  
अभिनय रहेगा तब तक इस नान्दीका प्रयोग किया जाना चाहिए । [यह ‘नित्या’ पदका  
अभिप्राय है] । ‘रूपक’ अर्थात् नाटकादिके ‘मुख’ अर्थात् प्रारम्भमे नान्दी होती है । यह प्रयोगके  
स्थानका कथन किया गया है । किन्तुकि विनाश द्वारा समृद्धिजनक होनेके कारण मंगल-कामना  
मङ्गलाचरणकी ‘नान्दी’ कहा गया है । ‘पद’ अर्थात् वाक्यके अवयव । कुछ लोग पूर्ण वाक्यकी  
दृष्टिसे अवान्तर लण्ड-वाक्योंको ‘पद’ कहते हैं । जैसाकि [अवान्तर लण्ड वाक्योंको पद मानकर]  
भरतमुनिने [नाट्यशास्त्र अ० ५, ११०-११३ में] इस प्रकार नान्दीका पाठ दिलाया है ।

कृत्यारम्भस्येति लक्षितम् । अत एव कवयो रूपरम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रत्नसूत्रणकर्तृकृता दृष्टव्या । नां दी-पाठकारश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिषादिवका इति ॥ १५४ ॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—

[सूत्र २३१]—प्रवेश-निष्क्रमण-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।

चित्रार्थं रूपकं गेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥

[२] १५५ ॥

'रूपकं कविध्रुवा' इति सम्बन्धः । प्रविशतः पात्रस्य रम-भाव प्रकृति अवस्था-दिकं प्रवेशशब्देनोच्यते । तदनुसारेण श्लेष-समासोक्त्याद्यलंकृतं यद् रूपकं गीयते सा, 'प्रवेशः' प्रयोजनमस्या इति 'ईकणि' प्रावेशिकी ।

(१) यथा अनर्घरापये—

(क)—"दिएयरकिरणुककरो पियायरो को वि जीवलोयस्म ।

कमलमउलंकवाली-कय-भहुअर-कड्डणवियड्डो ॥

[अर्थात् नाट्ये सम्पादनके वाद सूत्रधार प्रविष्ट होता है] इस प्रकार लिखते हैं । [भास आदि के नाटकमें] जहाँ कवि द्वारा की गई नाट्ये उपलब्ध नहीं होती है वहाँ भी रंगकी व्यवस्था करने वाले सूत्रधारकी ओरसे की गई नाट्ये समझ लेनी चाहिए । नाट्ये-पाठ करने वाले सूत्रधार, स्थापक तथा पारिषादिक ये तीन होते हैं ॥ [१] १५४ ॥

अथ 'ध्रुवा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८१]—[पात्रोंके] प्रवेश, निष्क्रमण, [रसान्तरके] आलोक, [प्रस्तुत रसके] उद्गमोत्कर्षण और [मनोके किसी छिद्र अर्थात्] त्रुटि [को छिपानेके लिए इन सब] के साथ सम्बन्ध जो पर [रूपक] गाय जाते हैं वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं और वह [पूर्वोक्त प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँचके साथ सम्बन्ध होनेसे] 'कविध्रुवा' पाँच प्रकारकी होती है । [२] १५५ ।

[कारणसे] 'रूपकं कविध्रुवा' इस प्रकारका अन्वय करना चाहिए । [रूपकं अर्थात् गेय पदोंकी ध्रुवा कहते हैं यह अभिप्राय है] । उसका प्रयोजन पात्रोंका प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँच प्रकारका होता है इसलिए ध्रुवा भी पाँच प्रकारकी बनी गई है । उनमेंसे पहले पात्रोंके प्रवेशसे सम्बन्ध प्रावेशिकी ध्रुवा दिखलते हैं] आगे प्रविष्ट होने वाले पात्रके रस, भाव, प्रकृति, अवस्था आदिको यहाँ 'प्रवेश' शब्दसे कहा गया है । उसके अनुसार श्लेष समासोक्त आदिके द्वारा जिस [रूपक अर्थात्] गेय पदका गान किया जाता है वह प्रवेश जिसका प्रयोजन है इस अर्थमें [आचार्य हेमचन्द्रद्वारा व्याकरणके अनुसार] 'ईकण् प्रत्यय करने पर' प्रावेशिकी [पद सिद्ध होता है] ।

(१) प्रावेशिकी ध्रुवा—

[प्रावेशिकी ध्रुवाका उदाहरण] जैसे अनर्घरापयमे—

(क) सूर्यदेवका शिरण समुदाय जो बभल-कनिकाधोंकी ओरसे धीरे-धीरे आह्वय करनेसे विरग्य है, समस्त जीवसोचकेलिए कुछ अपुण्य आनन्ददायक है ।

“नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।  
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गो ब्राह्मणाय च ॥  
ब्रह्मोत्तरं तथैवाम्नु हृता ब्रह्मद्विपस्तथा ।  
प्रशाम्त्विमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥  
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रद्धम्याशा समृध्यतु ।  
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितम् ॥  
काव्यकर्तुर्यशश्चापि धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।  
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥”.

ना० अ० ४, ११०-११३ ॥

अत्र द्वादशाव्यन्तराशीर्वाक्यानि । पङ्क्तिभिरिति त्र्यम्ब, अष्टभिरिति चतुरस्रं रङ्गमपेक्ष्य मध्यमनान्धा निर्देशः । त्र्यम्बरङ्गे चोत्तमा द्वादशभिः, अधमा त्रिभिः पदैर्नान्दी । चतुरम्बरङ्गे पुनरुत्तमा षोडशभिः, अधमा चतुर्भिरिति । नान्दी च पूर्वैरङ्गाङ्गानां द्वादश मङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका । तेन ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ इत्यम्य । सकल-पूर्वरङ्गानि तु केषाञ्चित्लोकप्रसिद्धत्वात्, केषाञ्चिन्निष्फलत्वात्, केषाञ्चिद्वनवश्यम्भा विरवान्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी त्वयश्यम्भायित्वात्, मंगलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभ

समस्त देवताओंको और द्विजातियोंको हमारा नमस्कार है । सोम रूप राजा [अथवा प्रकाशमान खड्गमा] की विजय हो तथा गोओं एवं ब्राह्मणोंका कल्याण हो ।

इसी प्रकार ब्राह्मणोंकी वृद्धि यह ब्रह्मविद्याकी वृद्धि हो । तथा ब्रह्मदेवियोंका विनाश हो । और महाराज सागरों सहित इस पृथिवीका शासन करें ।

राष्ट्रकी समृद्धि हो और रंगशालाओंकी आत्मा पूर्ण हो । नाट्यकी व्यवस्था कराने वाले [राजा आदि] को महान् धर्मकी प्राप्ति हो और [उनके द्वारा] बंदोंका पाठ होता रहे ।

तथा काव्यकी रचना करने वाले [कवियों] को यशकी प्राप्ति हो, उनके धर्मकी सब वृद्धि होती रहे । तथा इस यज्ञके द्वारा सर्व देवगण प्रसन्न होते रहे ।

इसमें प्राचीर्वाचनमक बारह अव्यन्तर वाच्य हैं । [कारिकायें] ‘पङ्क्ति’ इस पदसे त्रिभुजात्मक रङ्गकी लक्ष्यमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है और ‘अष्टभिः’ पदसे चतुरस्र मण्डपकी ध्यानमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है । त्रिभुजात्मक मण्डपमें उत्तम नान्दी बारह पदोंकी [मध्यम ६ पदोंकी] और अधम [नान्दी] तीन पदोंकी होती है । और चतुरस्र मण्डपमें उत्तम [नान्दी] सोलह पदोंकी [मध्यम आठ पदोंकी] तथा अधम [नान्दी] चार पदोंकी होती है । नान्दी, पूर्वरङ्गके अंगोंमें बारहवां अंग है और यहाँ वह पूर्वरङ्गके सारे अंगोंकी उपलक्षण रूप है । इसलिये ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ [यह जो नाटकोंमें लिखा जाता है] इसकी भी उपलक्षिका है । [पूर्वरङ्गके अंगोंमेंसे] कुछ लोक-प्रसिद्ध होनेसे, कुछ निष्फल होनेसे और किन्हींके आवश्यक न होनेसे होनेसे पूर्वरङ्गके समस्त अंगोंका लक्षण हमने यहाँ नहीं किया है । नान्दीका होना तो आवश्यक है इसलिये, और प्रत्येक शुभ कार्यके आरम्भमें मंगलाचरण करना ही चाहिए इसलिये नान्दीका लक्षण किया है । इसीलिये [अर्थात् प्रत्येक शुभकार्यके आरम्भमें मंगलाचरणके आवश्यक होनेके कारण जो लोग नाट्यी को नाटकका अंग नहीं मानते हैं वे] कवियण [भी] नाटकके आरम्भमें ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’

कृत्यारम्भस्येति लक्ष्मिना । अत एव षड्वयो रूपकारम्भे 'नान्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रग्रन्थकृता द्रष्टव्या । नांटी-पाठकारश्च सूत्रधार स्थापक पारिपाश्विका इति ॥ १५४ ॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—

[सूत्र २३१]—प्रवेश-निष्क्रमण-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।

चित्रार्थं रूपकं गेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥

[२] १५५ ॥

'रूपकं कविध्रुवा' इति सम्बन्धः । प्रवेशान् पात्रस्य रस-भाव प्रकृति अवस्था-दिकं प्रवेशशब्देनोच्यते । तदनुसारेण श्लेष-समासोक्त्यादर्शकृतं यद् रूपकं गीयते सा, 'प्रवेश' प्रयोजनसम्या इति 'ईकण्' प्रावेशिकी ।

(१) यथा अनघराधवे—

(क)—'दिलयरकिरगुक्करो पियायरो कां वि जीवलौयस्त ।

कमलमउलंकयाली-कय-भहुअर-कइहणवियइडो ॥

[अर्थात् नाट्य सम्पादनके बाद सूत्रधार प्रविष्ट होता है] इस प्रकार लिखते हैं । [भास आदि के नाटकमें] जहाँ कवि द्वारा की गई नाट्यो उपलब्ध नहीं होती है वहाँ भी रगकी व्यवस्था करने वाले सूत्रधारकी ओरसे की गई नाट्यो समझ लेनी चाहिए । नाट्यो-पाठ करने वाले सूत्रधार, स्थापक तथा पारिपाश्विक ये तीन होते हैं ॥ [१] १५४ ॥

अथ 'ध्रुवा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८१]—[पात्रोंके] प्रवेश, निष्क्रमण, [रसान्तरके] आशेष, [प्रस्तुत रसके] उद्गमोत्पत्ति और [नटोंके किसी छिद्र अर्थात्] त्रुटि [को छिपानेके लिए इन सब] के साथ सम्बद्ध जो पद [रूपक] गाए जाते हैं वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं और वह [पूर्वोक्त] प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँचके साथ सम्बद्ध होनेसे] 'कविध्रुवा' पाँच प्रकारकी होती है । [२] १५५ ।

[कारिकामें] 'रूपक कविध्रुवा' इस प्रकारका ग्रन्थ करना चाहिए । [रूपक अर्थात् गेय पदोंकी ध्रुवा कहते हैं यह अभिप्राय है] । उसका प्रयोजन पात्रोंका प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँच प्रकारका होता है इसलिये ध्रुवा भी पाँच प्रकारकी कही गई है । उनमेंसे पहले पात्रोंके प्रवेशसे सम्बद्ध प्रावेशिकी ध्रुवा दिसलतते हैं] आगे प्रविष्ट होने वाले पात्रके रस, भाव, प्रकृति, अवस्था आदिको यहाँ 'प्रवेश' शब्दसे कहा गया है । उसके अनुसार श्लेष समासोक्ति आदिके द्वारा जिस [रूपक अर्थात्] गेय पदका गान किया जाता है वह प्रवेश जिसका प्रयोजन है इस अर्थमें [आचार्य हेमचन्द्रकृत व्याकरणके अनुसार] 'ईकण्' प्रत्यय करने पर प्रावेशिकी [पद सिद्ध होता है] ।

(१) प्रावेशिकी ध्रुवा—

[प्रवेशिकी ध्रुवाका उदाहरण] जैसे अनघराधवे—

(क) सूर्यदेवका फिरण सधुदाय जो कपल-कलिकाप्रोकी गोदमे भोरोंका धाकधल करनेमे विदाय है, समस्त जीवलोकेलिए कुछ प्रपुय आनन्ददायक है ।

[दिनकरकिरणोत्कर- प्रियाकर- कोऽपि जीवलोत्सव ।

कमलमुकुलांकपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्ध- ॥ इति संस्कृतम् ॥”

इयं स्वाश्रमरक्षणार्थं रामाकर्षणायामच्छतो विश्वामित्रस्य आदित्योदय-  
वर्णनव्याजेन प्रवेशसूचिका ।

(ख) यथा वा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमेऽङ्के—

“मसौ सियकरवित्थरपणास्त्रियासैसवेरितिमिरोहो ।

नियविह्वरेण चन्दो गयणं गहं लंघितं विसह ॥

[ एष सितकरवित्तरपणाशिताशेषवैरितिमिरीध ।

निजविभयवरेण चन्द्रो गगनं गहं लंघयितुं विशति ॥ इति संस्कृतम् ॥”

इयं स्वापायशक्तिं कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेश-  
प्रतिपादिकेति ।

(२) अङ्कान्ते अङ्कमध्ये वा सनिमित्त रङ्गात् पात्रस्य बहिर्नि सरणं निष्क्रम ।

तत्प्रयोजना । अनुशक्तिकादेराकृतिगणत्वाद् ‘इकणि’ उभयपदद्वयौ  
नैष्कामिकी ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमाङ्कान्ते—

“बहुविह्व-कञ्जविसेसं अङ्गुलं निह्ववेइ मयणादो ।

निष्क्रमसह सुद्वचिचत्त रत्ताहुतं मणो रिउणो ॥

[बहुविघकार्यविशेषमतिगूढं निह्वते मदनात् ।

निष्कलति सुद्वचिचत्तो रत्ताक्षिमना रिपो ॥

इति संस्कृतम् ॥”

यह सूर्योदय-वर्णनके बहाने से अपने आश्रमकी रक्षाके लिए रामचन्द्रको सिखा जानेके  
उद्देश्यसे प्रानेवाले विश्वामित्रके प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशकी ध्रुवा] है ।

(ख) अथवा जंसे देवी चन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कमें—

अपनी श्रुभ किरणोंके विस्तारद्वारा शत्रु रूप समस्त अन्धकार-समुदायको नाश कर  
देने वाला चन्द्रमा अपने प्रचुर [ज्योत्स्ना रूप] बँभवते [प्रतिष्ठ] पक्षोंका उत्सर्जन करनेके  
लिए आकाशमें प्रविष्ट हो रहा है ।

यह चन्द्रोदयके वर्णनके बहानेसे अपने विनाशकी शक्ति करनेवाले बनावटी रूपसे  
उत्पन्न होने हुए कुमार चन्द्रगुप्त के प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशकी ध्रुवा] है ।

(२) नैष्कामिकी ध्रुवा—

(२) अङ्कके अन्तमें अथवा अङ्कके बीचमें कारणवश पात्रका रणसे बाहर जाना  
निष्क्रमण कहलाता है । यह जिसका प्रयोजन हो, वह [नैष्कामिकी ध्रुवा] होती है । यह  
नैष्कामिकी पद] अनुशक्तिकादिश्रुतको आकृतिगण आनकर [हेमचन्द्र व्याकरणके अनुसार]  
ईकण प्रत्यय करनेपर तथा उभयपद-वृद्धि करके ‘नैष्कामिकी’ [पद सिद्ध होता है] ।

जंसे देवीचन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कके अन्तमें—

नाना प्रकारके आश्रम गुप्त विशेष कार्योंको कामके आयेगसे द्विपाना चाहता है और  
शत्रुके रक्षणके लिए उत्सुक आश्रमचिन्तना [कुमार चन्द्रगुप्त रङ्गभूमिसे] बाहर जाता है ।

इयमुन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुल-  
गमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति ।

(३) प्रस्तुतरसोल्लंघनेन रसान्तरोद्भावनमाक्षेपः । तत्प्रयोजना आक्षेपिकी ।  
ययोदात्तरापवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारोल्लंघनेन—

“अरे रे तापस ! स्थिरीभव, क्वेदानीं गम्यते ?

स्वसुर्मम परामधप्रमथ एकदत्तव्यय ।

रसरप्रभृतिवान्धवोद्वलनवातसन्धुक्षितः ।

मवेह विदलीभवत्तनुसमुच्छलच्छोणित-

च्छटाच्छुरितयक्ष्म प्रशममेतु कोपानलः ॥”

इत्यादि नेपथ्यवाक्याकार्णनेन वीररसाक्षेपः ।

(४) प्रस्तुतस्य रसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं ‘प्रसादः’ । प्रविष्टपात्रस्य  
अन्तर्गतचित्तप्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा ‘प्रसादः’ । प्रसादप्रयोजना ‘प्रासादिकी’ ।  
इयं च प्रावेशिकी आक्षेपिक्यनन्तरमवश्यं प्रयोष्येति वृद्धसम्प्रदायः ।

(५) ‘अन्तरं’ छिद्रं, तत्र भवा ‘आन्तरी’ । अनुकर्तुर्यदा अनारंभित एव धन-  
विधातादिना विघातः, उद्धतप्रयोगाश्रयाद्वा मूर्खान्भ्रमाग्निस्म्भावना, वस्त्राभरणदेव्या

यह मदन-विकारको छिपानेकेलिए जगमग और कुछ शत्रुसे भयभीत अश्वगुप्तके राम-  
मथनमें जानेकेलिए [रङ्गमञ्चसे] निष्क्रमणकी सूचिका है ।

(३) आक्षेपिकी ध्रुवा—

प्रस्तुत रसको हटाकर अन्य रसका उत्पन्न करना ‘आक्षेप’ कहलाता है । यह जिसका  
प्रयोजन है वह ‘आक्षेपिकी’ हुई । जैसे ‘उदात्तराघव’में—रामचन्द्रके प्रस्तुत शृङ्गाररसको  
हटाकर [निम्न इलोक द्वारा वीररसका आक्षेप कराया गया है]—

अरे वृष्ट तापस ! ठहर जा, खड़ा रह, अब जाता कहाँ है ?

मेरी बहिन [शूर्पणखा] के अपमानसे उत्पन्न, एक [असह्य अपूर्व] बलेशकी देनेवाला  
अर-द्रूपण आदि बन्धुओंके विनाश रूप वायुसे प्रज्वलित किया हुआ क्रोधानल धान बुरा  
किए जाते हुए तेरे शरीरसे निकलनेवाले रक्तप्रवाहसे जिसका बल स्थित व्याप्त हो रहा है इस  
प्रकारका घनकर हो शांत होगा ।

इत्यादि नेपथ्यगत [ राखणके ] वाक्यकी मुननेसे वीररसका आक्षेप होता है ।

(४) प्रासादिकी ध्रुवा—

विभावोंके जमीलन द्वारा प्रस्तुत रसका निर्मलीकरण ‘प्रसाद’ कहलाता है । अथवा  
प्रविष्ट हुए पात्रको चित्तवृत्तिको सामाजिकके सामने प्रकाशित करना ‘प्रसाद’ माना जाता है ।  
‘प्रसाद’ जिसका प्रयोजन है वह ‘प्रासादिकी’ [ध्रुवा] हुई । ‘प्रावेशिकी’ ‘वीर’ ‘आक्षेपिकी’ ध्रुवाओंके  
बाद इस [प्रासादिकी ध्रुवा] का प्रयोग अवश्य करना चाहिए यह वृद्धजनोंकी परम्परा है ।

(५) आन्तरी ध्रुवा—

अन्तर अर्थात् त्रुटि [छिद्र] । उस [छिद्र या त्रुटि] के होनेपर प्रयुक्तकी जाने वाली  
[ध्रुवा] ‘आन्तरी’ [ध्रुवा कहलाती] है । [इसका अभिप्राय यह है कि] अब अनुकरण करने  
वाले [नट] को (१) जिसकी डाका भी नहीं हो सकती थी इस प्रकारके आत्मिक घन-



प्रच्युतिः, तदा तत्संवरणावकाशदित्तया इयं गीयते । अस्यां च प्राप्तं भावि वा रस-  
स्वरूपमनुवर्त्यम् । छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनत्वाच्चास्या न सार्थकपदन्यसनमुपयोगीति  
शुष्काक्षराण्येवास्यां निबध्यन्ते ।

‘संगतं’ प्रवेशाद्यनुरूपार्थम् । ‘चित्रो’ नानाप्रकारः, सरःकाननादि-र्दिवस-रात्रि-  
सन्ध्यादिः, उत्तम-मध्यमाधमप्रकृतिः गज-धाजि-सिंहादिर्भावो रत्यादिकश्चार्थो यत्र ।  
अर्थश्च तथा निबन्धनीयो यथा ‘उपश्रुति-शकुनन्यायेन’ प्रत्ययेन प्रस्तुतोपयोगी भवति ।  
‘रूपकं’ नियतमात्राक्षरं छन्दः । ‘गेयं’ स्वरतालैर्गानार्हम् । पञ्चधा प्रवेशादिभिः

विनोद आदिके कारण आघात लगता है तब, अथवा (२) किसी उद्धत प्रयोगके कारण  
मूर्च्छा या चक्कर आने लगनेकी सम्भावना होनेपर, अथवा (३) वस्त्र, आभरण आदिके  
गिर जानेपर उस [त्रुटि, अन्तर या छिद्र] के छिपानेकेलिए अबसर प्रदान करनेकी दृष्टिसे  
इस [आन्तरी ध्रुवा] का गान किया जाता है । [जिससे प्रेक्षकोंका ध्यान उस गानकी ओर  
जला जाता है और नटको उस त्रुटिको पूरा करने और संभल जानेका अबसर मिल जाता  
है] । इसमें पूर्ववर्ती अथवा आगे आनेवाले रसके स्वरूपका अनुपमन आवश्यक होता है ।  
केवल छिद्रोंका आच्छादन करना ही इसका प्रयोजन होता है इसलिये इसमें सार्थक पदके  
पाठ आदि ही उपयोगी नहीं है [और सार्थक गेय पद इस समय अकस्मात् घनाए  
भी नहीं जा सकते हैं] इसलिए केवल [सार्थक या निरर्थक जैसे भी बन जायें] शुष्क  
अक्षरमात्रका इसमें जोड़-तोड़ किया जाता है । [उन्हींके गानसे सामाजिकोंका धित बँटाकर  
नटकी अपनी त्रुटिको छिपाने तथा संभलनेका अबसर मिल जाता है] ।

[प्रवेश, निष्क्रम, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर इन पाँचोंके साथ] ‘संगत’ अर्थात् प्रवेश  
आदि [पाँचों] के अनु रूप [ जो गेय पद वह ‘ध्रुवा’ कहलाता है ] । चित्र अर्थात् नाना  
प्रकारका [अर्थात्] तालाव, वन आदि अथवा दिन, रात व संध्यादि अथवा उत्तम, मध्यम व  
अधम प्रकृति अथवा हाथी, घोड़ा, सिंह आदि पदार्थ और रस्यादि रूप अर्थ जिस [गेय पद]  
में हों [वह ‘चित्रार्थ’ गेय पद ‘ध्रुवा’ कहलाता है] । इस अर्थकी रचना इस ढंगसे करनी  
चाहिए कि जिससे वह ‘उपश्रुति-शकुन-न्याय’ से अपने [अवस्थात्मक] ज्ञानमात्रसे प्रकृतमें  
उपयोगी हो सके ।

इसमें ‘उपश्रुति-शकुन-न्याय’ शब्दका प्रयोग किया गया है । इसका अभिप्राय यह है  
कि परम्परागत सत्कारोंके अनुसार यात्रापर जाते समय यदि नीलकण्ठ आदि किसी विशेष  
पक्षीका दर्शन या उसकी ध्वनिका श्रवण अथवा जससे भरे घट आदिका दर्शन हो जाय तो  
वह कार्यसिद्धिके लिए शुभ शकुन माना जाता है । यद्यपि जलमरे घटको ले जानेवालेका,  
अथवा पक्षीके शब्द करनेका प्रयोजन यात्रा करनेवालेकेलिए शकुन करना नहीं होता है ।  
उसका प्रयोजन कुछ और ही होता है । किन्तु इन पदार्थोंके दर्शन अथवा शब्दके श्रवणमात्र  
से भग्न होता है । इसी प्रकार इन ध्रुवाओंके पदोंका अर्थ चाहे कछ भी हो किन्तु उनके  
श्रवणमात्र अथवा ज्ञानमात्रसे उनका प्रकृतमें उपयोग हो सके । यह ‘उपश्रुति-शकुन-न्याय’  
का अभिप्राय है ।

नियत मात्रा और नियत अक्षरों वाला छन्द यहाँ ‘रूपक’ [पक्षे अभिप्रेत] है । स्वर  
और तालसे गाने योग्य ‘गेय’ कहलाता है । [ध्रुवा] पाँच प्रकारकी अर्थात् प्रवेश [प्रवेश

पञ्चप्रकाराः। उपयोगग्राह्यत्वापेक्षं चैतत् । अपरे च ध्रुवाप्रकाराः सन्ति, अल्पोपयोगित्वान्न तु न लक्षिताः । 'कविध्रुवा' इति कमे प्रबन्धकर्तुरियं पञ्चविधा ध्रुवा । अनेन रङ्गमध्यवर्तिनीनां ध्रुवाणां रङ्गविषयान्तरं नाट्याचार्यकल्पितानां गानध्रुवाणां च व्युत्पत्तिरिति ॥ [२] १५५ ॥

अथ नाट्यपात्राणां प्रकृतिभेदानाह—

[सूत्र २३२]—उत्तमा मध्यमा नीचा प्रकृतिर्नृस्त्रियोस्त्रिधा ।

एकैकापि त्रिधा स्व-स्वगुणानां तारतम्यतः ॥

॥ [३] १५६ ॥

'उत्' इत्यव्यय उत्कृष्टेऽर्थे । तत् प्रकृष्टार्थे 'तमपि' उत्तमा । प्रकर्षेण क्रियन्ते बाह्यारचैष्टा अस्या इति । प्रकृतिर्जन्ममहभुवं शुभाशुभं शीलम् । 'त्रिधेति' तिस्रोऽपि प्रकृतयः स्वस्थाने उत्तमा मध्यमा नीचारचैति । 'गुणाः' प्रत्येकं प्रकृतिषु वक्ष्यमाणाः । प्रकृष्टमयं किञ्चिदाधिक्यं बहुत्वभाविनोऽन्तरं तमप्यप्रत्यययोरनुवृत्तिस्तत्तमौ इति । तयोर्भावं 'तारतम्यम्' । सामान्य-किञ्चिदाधिक्य-सातिशयाधिस्यलक्षणान्स्थानत्रययो गित्यमिति ॥ [३] १५६ ॥

निष्कर्म, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर] आदिसे पाँच प्रकारकी होती है । [इन पाँच प्रकारोंके] उपयोगके बाहुल्यकी दृष्टिसे यह [पाँच भेदोंका] कहा गया है । [बंसे तो इन पाँचके अतिरिक्त] और भी ध्रुवाके प्रकार हैं किन्तु उनका उपयोग बहुत कम होनेसे उनके लक्षण नहीं किए हैं । [कारिकामें इन पाँचोंको 'कविध्रुवा' कहा है इसका अभिप्राय यह है कि कविध्रुवाओंके अतिरिक्त अन्य ध्रुवाएँ भी होती हैं । इसलिये ] 'कविध्रुवा' इस पदके द्वारा कवि अर्थात् प्रपञ्चर्तोंकी [अर्थात् वयकर्तोंके] द्वारा प्रयुक्त] ये पाँच प्रकारकी 'ध्रुवा' होती हैं । इससे पूर्व रङ्गके मध्यमे होनेवाली और पूर्ववर्गविषये बाद नाट्याचार्य द्वारा कल्पित गानकी ध्रुवाओंका निराकरण किया गया है । [अर्थात् ये पाँच प्रकार केवल 'कविध्रुवा' के होते हैं । अन्य ध्रुवाओंसे इन भेदोंका कोई सम्बन्ध नहीं है] ॥ [२] १५५ ॥

प्रथम नाट्यके पात्रोंकी प्रकृतिभेदोंको बतलाते हैं—

[सूत्र २३२]—[नाट्यके] स्त्री और पुरुष [पात्रों] की उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकारकी प्रकृति होती है । और अपने अपने गुणोंके तारतम्यसे उनमेंसे प्रत्येक [प्रकृति] के फिर तीन तीन भेद हो सकते हैं । [३] १५६ ।

[उत्तम पदका निश्चय करते हैं । इस उत्तम पदमें] 'उत्' यह अव्यय उत्कृष्ट अर्थमें है । उससे प्रकृष्ट अर्थमें तमप्य प्रत्यय होकर 'उत्तमा' [पद बनता है । इसका अभिप्राय यह है कि] जिसकी बाह्य चेष्टाएँ उत्तम रूपसे की जाती हैं [यह उत्तम प्रकृति कहलाती है] जन्मसे प्राप्त होनेवाले भले धरे स्वभावकी प्रकृति कहते हैं । [एकैकापि त्रिधा] इस स्थलपर दुबारा प्रयुक्त हुए] त्रिधा] इससे [यह सूचित किया जाता है कि] पहली बार जो उत्तम मध्यम व अधम तीन प्रकारकी प्रकृति बही गई थी वे] तीनों प्रकारकी प्रकृतियाँ अपने स्थानमें भी उत्तम, मध्यम तथा नीच [भेदसे] तीन प्रकारकी हो सकती हैं । [स्व स्वगुणानां तारतम्यतः] के बड़े हुए] 'गुण' प्रत्येक [उत्तम, मध्यम व अधम आदि] प्रकृतिमेंसे आगे बड़े माने जाते हैं ।

अथोत्तमप्रकृतेः पुंसो गुणानाह—

[सूत्र २३३]—शरण्यो वक्षिणस्त्यागी लोक-शास्त्रविचक्षणः ।

गाम्भीर्य-धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवानुत्तमः पुमान् ॥

॥ [४] १५७ ॥

शरणमापद्गतत्राणम् । तत्र साधुः । 'दक्षिणोऽनुकूल' । 'लोक'-शब्देनात्र लोकव्यवहार उच्यते । तत्र 'विचक्षणः' । एवमादयोऽन्येऽप्युत्तमपुरुषगुणा द्रष्टव्या इति ॥ [४] १५७ ॥

अथ मध्यमप्रकृति—

[सूत्र २३४]—मध्यो मध्यगुणः ।

'मध्या' नाप्युत्कृष्टा नाप्यपकृष्टा 'गुणा' लोकव्यवहार-चातुर्य-कला-विचक्षण-त्यादयो धर्मा अस्येति ।

अथ नीचप्रकृतिः—

[सूत्र २३५]—नीचः पापीयान् पिशुनोऽलसः ।

कृतघ्नः कलहो बलीबः स्त्रीलीलो वृक्षवान् जडः ॥

[५] १५८ ॥

[आगे 'तारतम्य' शब्दका अर्थ करते हैं] 'प्रकृष्ट' [पद] ॥ कुछ आधिक्य और बहुत अर्थमें होनेवाले 'तार-तम्य' दोनो प्रययोंके अनुकरण रूपमें 'तार-तम्य' [प्रयोग] हैं । उन [तार-तम्य] का भाव 'तारतम्य' हुआ । [उत्तका अर्थ यह है कि] सामान्य, उससे कुछ अधिक और उससे भी विशेष अधिक रूप तीन अवस्थाओंसे युक्त [भाव 'तारतम्य' कहलाता है] ॥ [३] १५६ ॥

अब आगे उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषके गुणोंको कहते हैं—

[सूत्र २३३]—शरण्यगतेके रक्षणमें साधु, अनुकूल, त्यागी, लोकव्यवहार तथा शास्त्रों में निपुण, गम्भीरता, धीरता, पराक्रम और न्याय-विचारसे युक्त पुरुष 'उत्तम' पुरुष कहलाता है । [४] १५७ ।

शरण अर्थात् विपत्तिमें पड़े हुएकी रक्षा करना । उसमें साधु [अर्थात् 'शरण्य' कहलाता है] । 'वक्षिण' अर्थात् [समके] अनुकूल । 'लोक' शब्दसे यहाँ लोकव्यवहारका कथन किया गया है । उसमें निपुण । इसी प्रकारके अन्य भी गुण उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषोंमें होते हैं ॥ [४] १५७ ॥

अब आगे मध्यम प्रकृति [के पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३४]—मध्यम गुणोंवाला [पुरुष] मध्यम प्रकृति कहलाता है ।

'मध्यम' अर्थात् न तो अधिक उत्कृष्ट और न ही अधिक निकृष्ट 'गुण' अर्थात् लोक-व्यवहारकी निपुणता, कला, विद्वत्ता आदि धर्म जिसके हों [वह मध्यम प्रकृतिका पुरुष कहलाता है] ।

अब आगे नीच प्रकृति [पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३५]—नीच प्रकृतिवाला पुरुष अत्यन्त पाप करने वाला, चुल्लू-और, घाससो, कृतघ्न, भगवान्, पराक्रम-विहीन, स्त्री-निरत और वृक्ष मोसनेवाला होता है ॥ [५] १५८ ॥

‘पिशुनः’ कर्णेजपः । ‘कलीयो’ ह्रीनसत्त्व इति ॥ [५] १५८ ॥

अथोत्तमां स्त्रियमाह—

[सूत्र २३६]—लज्जावती मृदुर्धारा गम्भीरा स्मितहासिनी ।

विनीता कुलजा दक्षा वत्सला योपिदुत्तमा ॥

॥ [६] १५९ ॥

वत्सला स्नेहलेति ॥ [६] १५९ ॥

अथ मध्यमा-नीचे—

[सूत्र २३७]—नरवन्मध्यमा-नीचे—

मध्यम-नीचपुरुषवन्मध्यमा-नीचे स्त्रियौ योद्धव्ये । एषा नृ-स्त्रियोस्त्रिया प्रकृति-  
रनुरूपा विरूपा रूपानुरूपिणी चेति पुनस्त्रिप्रकारा । तत्रानुरूपा पुंसः पौंस, स्त्रियाम्नु-  
ग्रैणी वयोऽवस्थाऽनुरूपो भावः । विरूपा तु वालोचितभावस्य स्थविरेण, स्थविरोचि-  
तस्य तु बालेन दर्शनम् । रूपानुरूपिणी पुरुषोऽपि स्त्रीरूपेण भूत्वा, स्त्रिया पुरुषया च  
स्त्री-पुं-सभावदर्शनमिति ॥

‘पिशुनः’ अर्थात् चुगलखोर । ‘कलीयः’ अर्थात् जालि रहित ॥ [५] १५८ ॥

अथ प्रागे उत्तम स्त्री [के गुणों] को कहते हैं—

[सूत्र २३६]—लज्जावती, मृदु, धीर, गम्भीर, मन्द मुस्कानेवाली, मध्म, उच्च-  
कुलोत्पन्न, चतुर धीर सहनशील स्त्री उत्तम स्त्री कहलाती है ॥ [६] १५९ ॥

‘वत्सला’ अर्थात् स्नेह करने वाली ॥ [६] १५९ ॥

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम व अधम तीनो प्रकारकी प्रकृतियाँ पुरुषा तथा  
वीनो प्रकृतिकी स्त्रियोंके गुण बड़े गए हैं ।

अब प्रागे मध्यमा तथा नीचा [स्त्रियोंके सत्तण कहते हैं]—

[सूत्र २३७]—[मध्यम तथा नीच] पुरुषके समान मध्यमा तथा नीच स्त्रियाँ [होनी हैं] ।

मध्यम तथा नीच पुरुषोंके समान [प्रकृतिवालो] मध्यमा तथा नीचा स्त्रियोंको  
समझना चाहिए । पुरुष तथा स्त्रियोंकी यह [उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप] तीन प्रकारकी  
प्रकृति (१) अनुकूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुरूपिणी भेदसे फिर तीन-तीन प्रकारकी  
होती है । उनमेंसे पुरुषका पुरुषके अनुकूप धीर स्त्रीका स्त्रीके अनुकूप धातु धीर वसा धादि  
के अनुकूल भाव ‘अनुकूपा’ [प्रकृति] कहलाता है । धीर बालोचित भावका वृद्धकेद्वारा अधवा  
वृद्धोचित भावका बालके द्वारा प्रदर्शन ‘विरूपा’ प्रकृति [कहलाता] है । जहाँ पुरुष भी स्त्री  
जनकर अधवा स्त्री भी पुरुष जनकर [कमल] स्त्रीभाव तथा पुरुषभावको प्रदर्शन करते हैं  
यह ‘रूपानुरूपिणी’ प्रकृति कहलाती है ।

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतिके पुरुष तथा स्त्रियोंके लक्षण  
दिलसाकर प्रागे मध्यम तथा अधम प्रकृतिके पार्श्वों भी नाट्यमे नायक बनाया जा सकता  
है इस बातकी निश्चिती है । प्रथम विवेकमे केवल उत्तम प्रकृति बाने नायकोंके बनाए जानेका  
विधान किया था । उससे अपवाद रूपमे यहाँ मध्यम तथा नीच प्रकृतिके नायकोंके बनानेका  
भी विधान किया जा रहा है ।

अथ प्रवन्देषु नीचप्रकृतिकमपि नायकमाह—

[सूत्र २३८]—नीचोऽपीशः कथावशात् ।

कथा वृत्तं, तस्या वशः सामर्थ्यं ह्मनीयत्वादि तस्माद् भाण-प्रहसनयोः, कन्या-  
श्चिद् वीथ्यां च नीचोऽपि नायकः । प्रथमविवेके मध्यमोत्तमयोर्नायकत्वमुक्तं तद-  
पवादोऽयमिति ।

अथ सर्वरूपकेषु मुख्यनायकं लक्षयति—

[सूत्र २३९]—प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः ॥ [७] १६० ॥

व्यसनं स्वव्याघासक्तिः, विपद्वा ॥ [७] १६० ॥

अथास्य गुणानुद्दिशति—

[सूत्र २४०]—तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता ।

श्रौढार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥

॥ [८] १६१ ॥

‘अष्टौ’ इत्युक्तपरिगणनम् । न तु संख्यानियमोऽन्येषामपि सम्भवान् । सत्त्वं  
विपुलाशयत्वम् ॥ [८] १६१ ॥

अथैषां प्रत्येकशो लक्षणम्—

अथ आगे प्रवन्धकाध्योर्में नीच प्रकृतिवाले नायकों [के हो सकने] का भी प्रतिपादन  
करते हैं—

[सूत्र २३८]—कथाके अनुसार कहीं नीच भी नायक हो सकता है ।

कथा अर्थात् आख्यान-वस्तु । उसके वशसे अर्थात् सामर्थ्यसे अर्थात् ह्मनीयत्व आदि  
की दृष्टिसे । इसलिए ‘भाण’ और ‘प्रहसन’में तथा किसी ‘वीथी’में नीच भी नायक हो सकता  
है । प्रथम विवेकमें [केवल] मध्यम तथा उत्तमके नायकत्वका कथन किया था यह उसका  
अपवाद है ।

अब आगे समस्त रूपकोके मुख्य नायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २३९]—[रूपके] प्रधान फलकी प्राप्त करनेवाला [विषयासक्ति अथवा प्राण-  
हानि रूप विपत्ति] व्यसनसे रहित मुख्य नायक होता है ॥ [७] १६० ॥

व्यसनका अर्थ स्त्री आदिके प्रति आसक्ति अथवा [प्राणहानि आदि रूप] विपत्ति  
है ॥ [७] १६० ॥

[सूत्र २४०]—अब इस [मुख्य नायक] के गुणों की गिनाते हैं—

मुख्य नायकमें उनके सत्त्वसे उत्पन्न १. तेज, २ विलास, ३. माधुर्य, ४ शोभा,  
५. स्थिरता, ६. गम्भीरता, ७. उदारता, ८. ललित्य ये आठ गुण रहते हैं ॥ [८] १६१ ॥

‘अष्टौ’ इस पदसे [कारिकामें] कहे गए [आठ गुणों] की गणना बिजलाई है । यह  
संख्याका नियम नहीं है [अर्थात् आठ ही गुण मुख्य नायकमें होते हैं यह इस ‘अष्टौ’ पदका  
अभिप्राय नहीं है । क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य गुण भी नायकमें हो सकते हैं । [‘सत्त्व-  
सम्भवात्’ पदमें] ‘सत्त्व’ शब्दसे विपुलाशयत्वका ग्रहण होता है ॥ [८] १६१ ॥

(१) अब आगे इन [आठ गुणों] मेंसे प्रत्येकके अलग-अलग लक्षण कहते हैं—

[सूत्र २४१]—क्षेपादेरसहिष्णुत्वं तेजः प्राणान्ययेऽपि च ।

क्षेपस्तिरस्कार । आदिशब्दाद् दैन्यान्नादिमह । 'प्राणान्ययेऽपि च' इति प्राणान्ययमप्युपगम्येत्यर्थः । तेनामहिष्णुत्वमवमा । न तु देशमालावध्यागपेक्षया नीत्या महत्पूर्वकं निर्यातनमिति ।

(२) अथ विलास—

[सूत्र २४२]—विलासो वृशवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं घचः ।

[६] १६२ ॥

'वृषो' महोक्ष । धीरत्वमुदात्तत्वमिति ॥ [६] १६० ॥

(३) अथ माधुर्यम्—

[सूत्र २४३]—माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या क्षोभहेतो महस्यपि ।

प्रस्तुताद् रूपाद् रूपान्तरं 'विकृतिः' । 'स्तुत्या' रोमाञ्च-परिकरबन्ध-जमश्रु-केशसमारचन-शम्भावलोरुनादिकान् । 'क्षोभ' मत्त्रचलनमिति ।

(४) अथ शोभा—

[सूत्र २४४]—शोभा चिह्नं घृणा-स्पर्द्धा-दाक्ष्य-शौर्योद्यमोन्नये ॥

[१०] १६३ ॥

[सूत्र २४१]—प्राणनाशके सकटको स्वीकार करके भी अपमान आदिको सहन न करना 'तेज' कहलाता है ।

'क्षेप' अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे दैर्घ्य और अवज्ञा आदिका ग्रहण होता है । 'प्राणान्ययेऽपि च' इसका अपने प्राणोके विनाशको भी स्वीकार करके यह अभिप्राय है । इसलिये 'असहिष्णुत्व' का अर्थ सहन न करना क्षमा न करना है । देश, काल, अवस्था आदि की अपेक्षासे उस समय सहन करके बादमें उसका बदला लेना [निर्यातन, असहिष्णुत्व शब्द का अर्थ] नहीं है ।

(२) अथ विलास [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४२]—यूपके समान गति, धीर दृष्टि और मुस्कराते हुए बात करना यह 'विलास' गुणका लक्षण है । [६] १६२ ।

यूप अर्थात् साड । धीरत्वका अर्थ उदात्तत्व है ॥ [६] १६२ ॥

(३) अथ अथ माधुर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४३]—क्षोभ आनेका महान् कारण उपस्थित होनेपर भी हलकी सी विकृति माधुर्य [गुण कहलाती] है ।

प्रस्तुत वर्तमान रूपसे भिन्न रूपकी प्राप्ति 'विकृति' कहलाती है । हलके-से [स्तुत्या अर्थात्] रोमाञ्च, कमर कसना, मुँहोंपर ताव देना और अम्त्रकी ओर देखना आदिके [हलकी-सी विकृतिका प्रकाशना माधुर्य गुण कहलाता है] । 'क्षोभ' अर्थात् सत्त्वमे विचलित हो जाना ।

(४) अथ 'शोभा' [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४४]—घृणा, स्पर्द्धा, दाक्षता, शौर्य तथा उद्यमक विद्यमान होनेके अनुमान करनेका चिह्न शोभा [गुण] कहलाता है ॥ [१०] १६३ ॥

‘चिह्न’ घृणादेः सत्तानिश्चयहेतुः शरीरविकारः । ‘घृणा’ नीचार्थजुगुप्सुतमः । ‘स्पृष्टा’ अधिकेन सह साम्याधिक्यामिलापः । ‘उद्यम’ उत्साहः । एषामुन्नयः सत्तानिश्चय इति ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अथ स्थैर्यम्—

[सूत्र २४५]—विघ्नोऽप्यचलनं स्थैर्यं प्रारब्धादशुभादपि ।

‘विघ्नः’ प्रत्यूहः । ‘अचलनं’ दार्यम् । अशुभमिह परलोकानुचितमिति ॥

(६) अथ गाम्भीर्यम्—

[सूत्र २४६]—गाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः कोप-हर्षादिगोपिनी ॥

[११] १६४ ॥

‘सहजा’ मुरतराग-रूपविकारादिरहिता । ‘मूर्तिः’ देहस्वभावः । ‘आदि’ शब्दाद् भय-शोकादिग्रहः । ‘गोपनी’ प्रच्छादिकेति ॥ [११] १६४ ॥

(७) अथौदार्यम्—

[सूत्र २४७]—औदार्यं शत्रु-मित्राणां प्राणितेनाप्युपग्रहः ।

बहुवचनान्मध्यस्थानां ग्रहः । ‘प्राणित’-शब्देन स्वजीवितव्यस्य दानमुच्यते ।

‘अपि’-शब्देन दान-प्रियभाषणादिग्रहः । ‘उपग्रह’ उपकार इति ।

‘चिह्न’ अर्थात् घृणा, आविकी विद्यमानताका निश्चयायक हेतुभूत शारीरिक विकारः । नीच अर्थकी निन्दा ‘घृणा’ है । अधिक गुण वालेकी बराबरी करना या उससे अधिक बनने की इच्छा ‘स्पृष्टा’ [कहलाती] है । ‘उद्यम’ का अर्थ उत्साह है । इनका ‘उन्नयन’ अर्थात् सत्ता का निश्चय [जिस चिह्नके द्वारा होता है उसको ‘शोभा’ गुण कहते हैं] ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अब आगे स्थैर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४५]—विघ्नोके उपस्थित होने पर भी और अशुभ प्रारब्धसे भी [अपने निश्चयकी न छोड़ना स्थैर्य कहलाता है] ।

विघ्न’ अर्थात् प्रत्यूह याथा । ‘अचलन’ अर्थात् हड़ रहना । ‘अशुभ’ का अर्थ यहाँ परलोकके अयोग्य [कर्म आदि] है ।

(६) अब आगे गाम्भीर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४६]—कोप और हर्ष आदिकी प्रकट ॥ होने देनेवाली स्वाभाविक देह-स्थिति का नाम गाम्भीर्य है ॥ [११] १६४ ॥

सहजा अर्थात् [जोधादिके आनेपर भी] गुणकी लालिषा और हृष्टिके विकार आदि से रहित । ‘मूर्ति’ अर्थात् देहका स्वभाव । ‘आदि’ शब्दसे [कोप और हर्षके साथ] भय-शोकादिका भी ग्रहण होता है । ‘गोपनी’ अर्थात् आच्छादन करने वाली [प्रकट न होने देने वाली] ॥ [११] १६४ ॥

(७) अब आगे औदार्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४७]—अपने प्राण देकर भी शत्रु या मित्रका उपकार करना ‘औदार्य’ [लाता है] ।

बहुवचनसे [शत्रु और मित्रोके साथ] मध्यस्थोका भी ग्रहण होता है । ‘प्राणित’

(८) अथ ललितम्—

[सूत्र २४८]—शृङ्गारिचेष्टा ललितं निर्विकाराः स्वभावजाः ॥

[१२] १६५ ॥

‘शृङ्गारिण्य’ शृङ्गारजनिता । चेष्टा ‘तिर्यग्गन्तोलोकमन्त्रोन्तिभाषण-शरीर-मंस्कारादिका । ‘निर्विकारा’ गह्वरहिता । ‘स्वभावजा’ अनुद्विपर्वका इति ॥ [१२] १६५ ॥

अथ मुख्यनेतारमुक्त्वा गौणमाह—

[सूत्र २४९]—प्रमुख्यो नायकः किञ्चिद्बूनवृत्तोऽग्रचनानायकात् ।

‘अमुख्यस्य’ प्रधानरत्नापेक्षयाऽवान्तरफलभाजनत्वात् । ‘नायकत्वं’ बहुसर-वृत्तन्यापकत्वात् मुख्यनेतृमहायभूतत्वाच्च । ‘किञ्चिद्बून’ म्वल्पन्यूनं वृत्तं शौर्य-स्याग-बुद्ध-पादिकं यस्य । अथ च पताकाप्रकरीरूपो नायको द्रष्टव्य इति ॥

अथ प्रतिनायकमाह—

[सूत्र २५०]—लोभो धोरोद्धतः पापो, व्यसनी प्रतिनायकः ॥

[१३] १६६ ॥

मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायक ‘प्रतिनायक’ । यथा राम-युधिष्ठिरयो-  
नायक-दुर्योधनौ इति ॥ [१३] १६६ ॥

शब्दसे अपने जीवनको दे डालनेका अभिप्राय है । ‘अपि’ शब्दसे वान धीर प्रियभाषण आदि का ग्रहण होता है । उपग्रह’ अर्थात् उपकार ।

(८) अथ ललित [गुणका लक्षण आगे करते हैं]—

[सूत्र २४८]—[निन्दित] विकारोसे रहित स्वाभाविक शृङ्गार चेष्टा ललित कहलाती हैं । [१२] १६५ ।

‘शृङ्गारिणी’ अर्थात् शृङ्गारमे उत्पन्न होने वाली । चेष्टा’ अर्थात् तिरछी नजरसे देखना बक्रोक्षितपोसे भाषण, तथा शरीरको सजाना आदि । ‘निर्विकार’ अर्थात् अनु-द्वरतासे रहित । ‘स्वभावजा’ अर्थात् बिना सोच कर की हुई ॥ [१२] १६५ ॥

मुख्य नायकका वर्णन करनेके बाद अब आगे गौण नायकको कहते हैं—

[सूत्र २४९]—मुख्य नायककी अपेक्षा कुछ कम वृत्त [कम कथाभाग] वाला प्रमुख नायक कहलाता है ।

प्रधान फलकी अपेक्षा अवान्तर प्रमुख फलका वात्र होनेसे इसको ‘प्रमुख्य’ कहा गया है । और बहुत बड़ कथाभागमे व्यापक होने तथा नायकके सहायक रूपमे होनेसे उसका ‘नायकत्व’ होता है । जिसका वृत्त अर्थात् शौर्य स्याग और बुद्धि आदिका [मुख्य नायककी अपेक्षा] ‘किञ्चिद्बूनम्’ अर्थात् कम है । और यह [प्रमुख्य नायक] कारिका २६ तथा ३२ म प्रथम विवेकमे कहे हुए पताका’ तथा प्रकरी’ नायक समझने चाहिए ।

अब आगे प्रतिनायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २५०]—प्रतिनायक लोभी, धोरोद्धत, पापी और व्यसनी होता है । [१३] १६६ ।

मुख्य नायकका विरोधी नायक ‘प्रतिनायक’ कहलाता है । जैसे राम और युधिष्ठिरके विरोधी रावण और दुर्योधन आदि ॥ [१३] १६६ ॥



अथ विदूषकादीनां प्रकृति केषाञ्चित्स्वरूपं चाह—

[सूत्र २५१]—नीचा विदूषक-क्लीब-शकार-विट-किङ्कराः ।

हास्यापाद्यो नृपे श्यालः शकारस्त्वेकविद् विटः ॥

[१४] १६७ ॥

‘क्लीबो’ नपुंसक । अप्पां नीचत्वं नैसर्गिकम् । स्वामिचित्तानुरोधादीपाधिकं तु मध्यमत्वमपि । तत्राग्रे विदूषको हास्यनिमित्तं भवति । हास्यं चास्य अंग-नेपथ्य-वचो-विकारान् त्रेधा । तत्रांगहास्यं रसति-रस-दन्तुर-विकृताननस्वादिना । नेपथ्यहास्य-मत्यायतान्तरत्बोल्लोकोक्ति-विलोकोक्ति-नामनादिना । वचोहास्यमसम्बन्धानर्थकारलील-भाषणादिना भवति । ‘नृपे’ नृपस्य सम्बन्धी ‘श्याल’ पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चायं हीनजाति । ‘हास्याय’ इति अत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिर्नपश्याल शकार, किन्तिर्हि विकृतहास्यहेतु परिचारक एव । एकं राजोपयोगि किञ्चिद् गीतादिषु मध्ये वेत्ति इति एकविद्, विटो ज्ञेय इति ॥ [१४] १६७ ॥

अथ धीरोद्धतादीनां नेहृणां प्रत्येकं विभिन्नान् विदूषकानाह—

[सूत्र २५२]—स्निग्धा धीरोद्धतादीनां ययौचित्यं वियोगिनाम् ।

लिंगो द्विजो राजजीवो शिष्यश्चैते विदूषकाः ॥

[१५] १६८ ॥

अथ प्रागे विदूषक आदिकी प्रकृति धीर उनमेसे किहूँके लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १६६]—विदूषक नपुंसक शकार विट और भृत्य आदि नीच [पात्र होते हैं] उनमेंसे पहला [अर्थात् विदूषक] हास्यके [उत्पन्न करने] केलिए होता है । राजाका [नीच जातीय] साला ‘शकार’ कहलाता है । [राजाके उपयोगी नृप्य गीतादि] किसी एक बातको जानने वाला ‘विट’ कहलाता है । [१४] १६७ ।

‘क्लीब’ अर्थात् नपुंसक । इनका नीचत्व स्वाभाविक होता है । किन्तु स्वामीके वित्तके बहुतार औपाधिक रूपसे मध्यमत्व भी हो सकता है । उनमेंसे पहला अर्थात् विदूषक [सबके लिए] हास्यजनक होता है । इसका हास्य (१) अंग, (२) वेष भूषा तथा (३) वचनोक्ते [उत्पन्न] तीन प्रकारका होता है । जैसे गंगापन, लगडापन, बाहर निकलते हुए या ऊपर बैठे हुए बातों और विकृत मुख आदिके अङ्ग-हास्य होता है । अत्यन्त लम्बे-बौड़े अस्त्रोक्ते ऊपर ताकने, धंहर उधर देखने और गमन आदिके द्वारा नेपथ्यहास्य होता है । और अस्तबद्ध अन्वर्थक तथा अलीप्त भाषण आदिके द्वारा वचनमूलक हास्य उत्पन्न होता है । ‘नृपे’ अर्थात् राजाका सम्बन्धी । ‘श्याल’ अर्थात् पत्नीका भाई । नीच [पात्रोमे परिगणित] होनेके कारण ही वह नीच जातिका होता है । ‘हास्याय’ इस पदका यहां [श्यालके साथ] भी सवध होनेसे राजाके राजपुत्र आदि [उत्तमजातीय] सारे साले ‘शकार’ नहीं होते हैं अपितु विकृति हास्यके कारणभूत [नीचजातीय] परिचारक [रूपसाला] ही [‘शकार’ कहलाता है] । विटके लक्षणमे आए हुए ‘एकविद्’ पदका अर्थ करते हैं गीतादिमेंसे राजाके उपयोगी किसी एक को जानता है इसलिए ‘एकविद्’ विट कहलाता है ॥ [१४] १६७ ॥

अथ प्रागे धीरोद्धत आदि नायकोमेसे प्रत्येकके अलग अलग विदूषकों [के लक्षणोंको

‘निग्याः’ मुद्रः । ‘आदि’ शब्दाद् धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता गृह्यन्ते । एषां ‘वियोगिनां’ विप्रलम्भशृङ्गारवतां औचित्यानतिश्रमेण निग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विप्रहेण, विप्रहं सन्धिना च विशेषेण दृष्यन्ति विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति ‘विदूषकाः’ । उचितश्च लिगी देवतानां, ब्राह्मणस्य शिष्यः, राज्ञां तु शिष्यवर्जास्त्रयः । एवं वशिगादेरपीति ॥ [१४] १६८ ॥

अथैषामेव धीरोद्धतादीनां महायानाह—

[सूत्र २५३]—युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवादयः ।

सहाया एतदायत्तकर्मैव ललितः पुनः ॥ [१६] १६९ ॥

‘आदि’ शब्दाद् आटविक-सामन्तादयन्तापमादयश्च गृह्यन्ते । एते च केचिदर्थ-कामयोः महायाः । केचिद् धर्मसहायाः । तथा सहायायत्तसिद्धिरैव धीरललितः । सहायव्यापारश्च नायकव्यापार एव, एतावद् दृष्टवान्नायकस्य । धीरोद्धतादयस्तु स्व-अन्य-उभयसिद्धयः इति ॥ [१६] १६९ ॥

करते ह]—

[सूत्र २५२]—धीरोद्धत आदि नायकोंके [निग्याः अर्थात्] मित्र और वियोगियोंके औचित्यके अनुसार लिगी [अर्थात् ब्रह्मचारी या सत्पासी आदि] ब्राह्मण राजकीय तथा शिष्य आदि विदूषक होते हैं । [१५] १६८ ।

‘निग्या’ अर्थात् मित्र । [धीरोद्धत पदके साथ जुड़े हुए] ‘आदि’ शब्दसे धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रशान्त नायकोंका भी ग्रहण होता है । इनके ‘वियोगी’ अर्थात् विप्रलम्भ-शृङ्गारयुक्त होनेपर यथासंभव लिगी आदि [विदूषक] औचित्यके अनुसार होते हैं । [प्रागे विदूषक शब्दका निर्वचन दिसलाने हैं] सन्धिकी विप्रहेरपादनके द्वारा तथा विप्रहको सन्धि-जनन द्वारा विशेष रूपसे दूषित अर्थात् विनष्ट करते हैं और विप्रलम्भको मनोरंजन प्रदान करनेके द्वारा विनष्ट करते हैं इसलिये ‘विदूषक’ कहलाते हैं । देवताओंके लिए [लिगी अर्थात्] ब्रह्मचारी [या सत्पासी], ब्राह्मणके लिए शिष्य, और राजाके लिए शिष्यको छोड़कर शेष तीनों विदूषक उचित हैं । इसी प्रकार वशिष् आदि भी [औचित्यानुसार विदूषक समझ लेने चाहिए] ॥ [१६] १६८ ॥

अब प्रागे किन्हीं धीरोद्धत आदि [नायकों] के सहायकोंका वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५३]—युवराज, सेनापति, पुरोहित और सचिव आदि [इन धीरोद्धत आदि नायकोंके] सहायक होते हैं । और धीरललित [नायक] तो इन [सहायकों] के आयत्त-सिद्धि वाला ही होता है । [अर्थात् स्वयं कार्य नहीं करता है ; सहायकोंके द्वारा ही धीरललित नायकके सारे कार्योंका सम्पादन होता है] । [१७] १६९ ।

‘आदि’ शब्दसे धनाध्यक्ष [आटविक] तथा सामन्त और तापस आदिका ग्रहण होता है । इसमेमे कुछ अर्थ तथा काम [को सिद्धि] में सहायक होते हैं । कुछ धर्म [को सिद्धि] में सहायक होते हैं और धीरललित [नायक] सहाययत्तसिद्धि ही होता है । सहायकोंका व्यापार नायकका ही व्यापार माना जाता है । क्योंकि [धीरललित] नायक इसी [सहाययत्तसिद्धि] के रूपमें होता है । [सहाययत्तसिद्धि धीरललित नायकको छोड़कर] धीरोद्धत आदि [शेष तीन प्रकारके नायक] तो (१) स्वायत्तसिद्धि, (२) अन्त्यायत्तसिद्धि और (३) उभयायत्तसिद्धि

अथ शुद्धान्तोचितं परिवारमाह—

[सू० २५४]—शुद्धान्ते कारुको द्वाःस्थः कंचुकी शुभकर्मणि ।  
वर्षवरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेपणे स्त्रियाः ॥  
कार्यास्थाने प्रतीहारी, रक्षा-स्वस्त्योर्महत्तरा ।  
पूर्वस्थितविधौ वृद्धा, चित्रादौ शिल्पकारिका ॥

[१७] १७० ॥ [१८] १७१ ॥

शुद्धान्तमन्त्रपुरं, तन्मिन्नाचारवान् आर्यो ह्येनसत्त्वः पुमान् 'कारुकः' । स द्वार-  
पालो दक्षो नपुंसकः । 'कंचुकी' अदृष्यजातिः स्त्रीम्वभावः । तुच्छसत्त्वो विनीतश्च  
'वर्षवरः' । अतिनिःसत्त्वोऽकर्मकरश्च निर्मुण्डः । स च म्नीणां दास्यादीनां प्रेपण-  
कारकः । 'रक्षा' भूत्यादिकर्म । 'स्वस्ति'र्मङ्गलवाचनम् । 'चित्र' पत्र-वल्लयादि ।  
'आदि'शब्दाद् गन्ध-पुष्प-शिल्प-शय्या आसन-च्छत्र-भरणन संवाहन-आक्रीड ष्यस-  
नाविग्रह इति ॥ [१७-१८] १७०-१७१ ॥

अथ नायिकां लक्षयति—

[सू० २५५]—नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी ।  
अन्तिमा ललितोदात्ता पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥

[१६] १७२ ॥

[तीन प्रकारके] होते हैं ॥ [१७] १६६ ॥

अथ आगे अन्तपुरके उपयोगी परिचारक-वर्ग का वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५४]—अन्तःपुरमे (१) कारुक, द्वारपाल, कंचुकी शुभकामने, (२) रक्षामे  
वर्षवर, (३) स्त्रियोके प्रेपण आदिमे निर्मुण्ड, [ये कार्यकर्ता होते हैं पुरुष] । [१७] १७० ।  
कार्यकी सूचना देनेमें प्रतीहारी, भभूत आदि देने और स्वस्तिवाचनमे मेहतरानी,  
पूर्व-परम्परा बिम्बिके पालनमें वृद्धा और विद्यादि रचनामे शिल्पकारिका [ये स्त्रियां कार्यकर्त्री  
होती हैं] ॥ [१६] १७१ ॥

शुद्धान्तका अर्थ अन्तःपुर है । उसमें सदाचारी, श्रेष्ठ और पौरुषहीन पुरुष 'कारुक'  
[विशेष कार्यकर्ता] होना चाहिए । द्वारपाल अथवा नपुंसक होना चाहिए । उत्तम जाति  
का और स्त्रीस्वभाव वाला [पुरुष] कंचुकी होना चाहिए । न्यून पौरुष वाला और विनीत  
[पुरुष] वर्षवर [अन्तःपुर-रक्षक] होना चाहिए । अत्यन्त पौरुषहीन और धर्ममण्ड निर्मुण्ड  
[होता है] । यह वासी आदि स्त्रियोके इधर-उधर भ्रमनेवाला होता है । [कारिकाके रक्षा-  
स्वस्त्योर्महत्तरा भाग मे प्रयुक्त] 'रक्षा' पद भभूत आदि देनेके अर्थमे प्रयुक्त है । स्वस्ति अर्थात्  
मंगल वाचन । चित्र अर्थात् पत्रवल्ली आदि [की रचना] । आदि शब्दसे गन्ध पुष्प, शिल्प-  
शय्या आसन छत्र, भरणन संवाहन, खिलौना और पते आदिका ग्रहण होता है ॥ [१७०-१७१] ॥

अब आगे नायिकाके लक्षणको कहते हैं—

[सूत्र २५५] कुलजा दिव्या क्षत्रिया और वेश्या [चार प्रकारकी] नायिका होती है ।  
उनमेसे अन्तिम [अर्थात् वेश्या नायिका] ललितोदात्त [ही] होती है । और पहली [अर्थात्

'कुलजा' त्रिप्र-यणिगादि कुलसम्भूता । 'अन्तमा' इति पत्यकामिनी ललितो-  
दाता रूपकेषु वर्णनीया कामार्थप्रधानतरान् । 'पूर्वा' कुलजा पुनरुदात्ता, नय-विनय-  
गुणमीन्यादिवस्तुत्वान् । 'परे' द्वाभ्यामन्ये । त्रिधा धैर्य-लालित्य-उदात्तत्वेन त्रिप्रकारे ।  
निष्कौत्समजानित्वाभ्यां, कामार्थनिष्ठत्वान्च । शान्तत्वप्रकारान् भोगभूमिजत्वेन  
दिश्याना दिव्यास्तादाचर्येणोपात्तत्वाच्च क्षत्रियाणां नैव गृह्यते इति ॥ [१६] १७० ॥

अथामा विशेषमाह—

[सूत्र २५६]—रागिण्येवाग्रहसने नृपे दिव्ये च न प्रभौ ।

गणिका यवापि दिव्या तु भवेदेवा महीभुजः ॥

[२०] १७३ ॥

प्रहसनरजिते रूपके गणिका नायिका रागिण्येव विधेया । यथा मृच्छकटि-  
कायां चारुदत्तस्य वसन्तसेना । प्रहसने तु हार्म्यनिमित्तं अशक्यतापि । नृप-दिव्यनाय-  
कयोश्च गणिका न नायिका नियन्धनीया । तथा गणिका यदि दिव्या भवति, तदा राज्ञः  
'यवापि' इति, प्रस्तानुरोधान्नायिकात्वेन भवति । यथोर्वशी पुरुरयस । 'नृपे दिव्ये च  
न प्रभौ' इत्यभ्यापवादोऽयमिति ॥ [२०] १७३ ॥

कुलजा नायिका उदात्त होती है । दोष दोनों दिव्या और क्षत्रिया [धीरा, सलिता और उदात्ता]  
तीन प्रकारकी होती हैं । [१६] १७२ ।

कुलजा अर्थात् ब्राह्मण या क्षत्रिय यादिके कुलसे उत्पन्न हुई । [क्षत्रिया नायिका  
प्रसन्न गिनाई है इसलिये कुलजाकी श्याह्यामे क्षत्रियाका ग्रहण न करके ब्राह्मण या वैश्य  
कुलोत्पन्नाका ही वर्णन किया है] । अन्तिमा अर्थात् [पत्यकामिनी] वैश्या नायिका एवकोमें  
ललितोदात्ता ही वर्णन करनी चाहिए । पूर्वा अर्थात् पहिली कुलजा नायिका भीति विनय  
और गुणों [माता पिता आदि] से भयसे युक्त होनेके कारण उदात्ता ही [वर्णनीय होती  
है] 'परे' अर्थात् [वैश्या तथा कृमजा] इन दोनोंसे भिन्न [दिव्या तथा क्षत्रिया रूप] दोष दोनों  
[प्रकारकी नायिकाएँ] धीरा, सलिता तथा उदात्ता रूप होनेसे तीन प्रकारकी होती है । दिव्य  
तथा उत्तम जातिवाली होनेसे और काम तथा अर्थनिष्ठ होनेसे [दिव्य तथा क्षत्रिया  
नायिकाएँ धीरा, सलिता तथा उदात्ता] तीन प्रकारकी होती हैं । दिव्य नायिकाओंके भोग-  
भूमिमें उत्पन्न होनेके कारण और क्षत्रिया नायिकाओंके दिव्योंके साहचर्यसे प्राप्त होनेके कारण  
धीरशान्त बाला सीधे प्रकारका नहीं लिया जाता है । [अर्थात् धीर प्रशान्त नायिके समान  
धीरशान्त नायिका वर्णनीय नहीं होती है] ॥ [१६] १७२ ॥

[सूत्र २५६] अब इन [नायिकाओं] के विशेष भेदको कहते हैं—

प्रहसनसे भिन्न रूपकोमे गणिका नायिका अनुरागिणी ही निबद्ध करनी चाहिए ।  
[प्रहसनमे अनुराग रहित गणिका नायिका भी हो सकती है] । राजा और दिव्य नायिकोंके  
साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए । कहीं-कहीं यह गणिका नायिका यदि  
दिव्य हो तो उसका राजाके साथ सम्बन्ध वर्णन हो सकता है । [२०] १७३ ।

प्रहसनसे भिन्न रूपकोमे गणिका नायिका अनुरागिणी ही लिखनी चाहिए । जैसे  
मृच्छकटिकमें चारुदत्तकी वसन्तसेना [अनुरागिणी नायिका है] । प्रहसनसे तो हार्य [जनन]

अथासां त्रैविध्यमाह—

[सूत्र २५७]—मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्फुरिमाः पुनः ।

इमाः कुलजादय इति ।

अथ मुग्धा—

[सूत्र २५८]—मुग्धा वामा रते स्वल्पमाना रोहद्वयः-स्मरा ॥

[२१] १७४ ॥

रतं सुरतं, तत्र विपरीता अनभिज्ञत्वान् । अत एवैपदीर्घ्या-कोपा । रोहत प्रवर्ध-  
मानं वयो यौवनं स्मरश्च यस्या इति ॥ [२१] १७४ ॥

अथ मध्या—

[सूत्र २५९]—मध्या मध्यवयः-काम-माना मूर्धान्तमोहना ।

मध्या अनभिस्तदप्रौढवयः-काम-माना यस्याः । मूर्धान्तं अचैतन्यपर्यवसायि  
मोहनं सुरतं किंचिदभिज्ञत्वाद्दस्याः । एषा च धीरा अधीरा धीराधीरा चेति त्रिधा ।  
तत्र धीरा कृतागतिं प्रिये सोत्प्राप्तवक्रोक्तिपरा । अधीरा साश्रुपरुपभापिणी । धीराधीरा  
साश्रुत्प्राप्तं परुपवक्रोक्तिवादिनीति ।

के कारण अनुरागहीन [गणिका नायिका] भी हो सकती है । राजा और दिव्य नायकों  
के साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए । किन्तु वह गणिका यदि दिव्य  
हो तो 'ववायि' इस कथन से कथावस्तुके अनुरोधसे कभी राजाकी नायिका भी हो सकती है ।  
जैसे उर्दशी पुरुरवाकी [नायिका है] । 'तृपे दिव्ये च न श्रमो' राजा और दिव्य नायकके साथ  
गणिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए' इस [पूर्वोक्त नियम] का यह अपवाद है जिससे दिव्य  
गणिकाको राजाकी नायिका रूपमें वर्णन करनेकी अनुमति दी गई है ॥ [२०] १७३ ॥

अब इन [नायिकाओं] के तीन भेद बतलाते हैं—

[सूत्र २५७]—[कुलजा दिव्या क्षत्रिया और गर्भिका] ये [चारो नायिकाएँ] फिर मुग्धा  
मध्या और प्रगल्भा [भेदसे] तीन प्रकारकी होती है ।

ये अर्थात् कुलजा धावि [चारो नायिकाएँ इनमेसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद होते हैं ।  
कुल मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं] ।

अब मुग्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५८]—'यौवन और कामके उठावपर स्थित' स्वल्प मान वाली तथा सुरत-  
व्यापारमे प्रतिकूल नायिका 'मुग्धा' नायिका कहलाती है [२१] १७४ ।

अब आगे मध्या [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५९]—मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मान वाली तथा सुरतकालमे  
[प्रानग्दातिरेकसे] मूर्ध्ना पर्यन्त पहुँच जानेवाली मध्या नायिका होती है ।

मध्यम अर्थात् अग्रौढ, जिसकी आयु, काम तथा मान [अग्रौढ] होते हैं [वह मध्या  
नायिका कहलाती है] मूर्धान्त अर्थात् अर्चतन्य पर्यन्त जिसका 'मोहन' अर्थात् सुरत-व्यापार  
होता है । क्योंकि वह [सुरतानन्दसे] कुछ परिचित हो चुकी है । और वह धीरा, अधीरा तथा  
धीराधीरा भेदसे तीन प्रकारकी होती है । उनमेसे प्रियके [अ-मस्त्री-सामान्यरूप] अपराध-युक्त

अथ प्रगल्भा—

[सूत्र २६०]—प्रगल्भेद्वयो-मन्यु-कामा स्पर्शोऽप्यचेतना ॥

[२२] १७५ ॥

इद्धा दीप्ता वयो-मन्यु-कामा यस्याः । प्रियेण स्पृष्टापि प्रकृष्टकामत्वादेया चैतन्यं सुचरि । अप्यापि मध्यायनं त्रिप्रसारा । तत्र धीरा कृतागतिं प्रिये सावाहृत्यादरा कृतादामान्या च रते । अधीरा मन्त्रज्जन-नाडनपरा । धीराधीरा सोत्थामयकोन्ति-परेति ॥ [२२] १७५ ॥

अथ प्रकारान्तरेण नायिकानां प्रसिद्धान् भेदानाह—

[सूत्र २६१]—कार्यतः प्रोपिते पत्यावभूषा प्रोपितप्रिया ।

कार्यं धनार्जन-राजप्रयोजनादि, तस्माद् देशान्तरं गते प्रिये, अभूषा केश-मम्मार्जनादिभूषारहितेति ।

अथ विप्रलब्धा—

[सूत्र २६२]—विप्रलब्धा ससंकेते प्रेय्य दूतोभनागते ॥ [२३] १७६ ॥

होनेपर व्यंग्यपूर्णं ताने देने वाली होती है । अधीरा रोते हुए कठोर वचन कहने वाली होती है । धीर धीराधीरा रोते हुए व्यंग्य धीर कठोर ताने सुनाती है ।

अथ आगे प्रगल्भा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६०]—पूर्णा रूपते दीप्त आयु काम तथा मान वाली धीर [प्रियेके] स्पर्श-मात्रे [मानव्यातिरेके से] मूर्छित हो जाने वाली [नायिका] प्रगल्भा नायिका कहलाती है । [२२] १७५ ।

इह अर्थात् दीप्त आयु, मान तथा काम जिसके हैं वह [इद्वयो मन्यु-काम हुई] । अत्यन्त उग्र काम-वासनासे युक्त होनेके कारण यह [प्रगल्भा नायिका] प्रियतमके स्पर्शमात्रसे भी होश-हवास भूल जाती है । वह भी मध्याह्नी तरह [धीरा-अधीरा धीर धीराधीरा भेदसे] तीन प्रकारकी होती है । उनमेंसे धीरा प्रियके अपराधी होनेपर अपने आकारको छिपाते हुए [प्रियके प्रति] आदर प्रदर्शित करती है, किन्तु मुरत-व्यापारमें उदासीन हो जाती है । अधीरा [प्रियको] डाँट-फटकार करती धीर बार तक लगाती है । धीराधीरा व्यंग्यपूर्ण ताने सुनाती है [२२] ॥ १७५ ॥

अथ आगे नायिकाओंके अन्य प्रकारसे प्रतिष्ठ भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २६१]—कार्यवशा प्रियके बाहर चले जानेपर शरीरणी सजावट ॥ करनेवाली प्रोपितपतिना नायिका कहलाती है ।

कार्यं अर्थात् धनोपार्जन अथवा राजाका प्रयोजन आदि, उससे कारण प्रियके देशांतर को चले जानेपर भूषारहित अर्थात् केशप्रसाधन आदि रूप भूषासे रहित [नायिका 'प्रोपितपतिना' कहलाती है] ।

अथ आगे विप्रलब्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६२]—[नायिकाके साथ मिलनेका] संकेत करके धीर दूतोंको भेज कर भी [प्रियके] न जानेपर [नायिका] 'विप्रलब्धा-नायिका' कहलाती है ॥ [२३] १७६ ॥

पत्यावांति सर्वेषु स्त्रीभेदेषु स्मरणीयम् । तेन कार्यतः कृतसंकेतं दूती वा प्रेष्यानागते पत्यौ 'विप्रलब्धा' इति सम्बन्धः ॥ [२३] १७६ ॥

अथ खण्डिता—

[सूत्र २६३]—खण्डिता खण्डयत्पन्यासवत्या वासकमीप्सिता ।

अपरस्त्र्यभिष्वङ्गादुचितं वासकर्म कुर्वाणे प्रिये असूयावती खण्डिता । विप्रलब्धायां नान्यस्यासक्तिरित्यस्या भेदः इति ।

अथ कलहान्तरिता—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरितातिभाक् ॥

[२४] १७७ ॥

ईर्ष्याकलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्त्वविधमनागच्छति प्रिये पीडापत्नी कलहान्तरितेति । अत्रेर्ष्यायां कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगाभिलाषः । पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासंगिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ॥ [२४] १७७ ॥

अथ विरहोत्कण्डिता—

[सूत्र २६५]—विलम्बयत्यदोषेऽपि विरहोत्कण्डितोत्सुका ।

'पत्यौ' यह पद सब स्त्रियों [भार्यात् सब नायिकाओं] का साथ समझ लेना चाहिए । इसलिये कार्यवश मिलनेका संकेत करके और दूतोंकी भेज करके भी कार्यवश पतिके न आ सकनेपर विप्रलब्धा नायिका होती है यह सम्बन्ध है ॥ [२३] १७६ ॥

प्रथम भागे खण्डिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६३]—खण्डिता नायिका [पतिकी] अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण ईर्ष्यायुक्त होकर [अन्य स्त्रीके पास जाते समय उसके] वस्त्रों को खण्डित कर देती है ।

अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण सुन्दर वस्त्र आदिकी धारण करते समय पतिके प्रति प्रसूयावती नायिका 'खण्डिता' कहलाती है । विप्रलब्धा नायिका ने [उसके पतिसे दूतों] स्त्रीके प्रति आसक्ति नहीं होती है यह [खण्डिता तथा विप्रलब्धा का] भेद है ।

प्रथम भागे कलहान्तरिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्याकलहके कारण पतिके बाहर चले जानेपर दुःखी होने वाली 'कलहान्तरिता' नायिका कहलाती है । [२४] १७७ ॥

ईर्ष्याकलहके कारण उक्त [स्त्री] के पाससे प्रियके निकल जाने और समीपसे न आने पर पीडा अनुभव करने वाली नायिका कलहान्तरिता होता है । इससे ईर्ष्या के कारण प्राप्त मे मिलने की इच्छा नहीं होती है । पहिली [खण्डिता] नायिका तो कलह न होने के कारण समागम के लिए इच्छुष है, किन्तु अन्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले त्रिज के विषय में केवल ईर्ष्या वाली है यह भेद है । [२४] १७७ ॥

अथ भागे विरहोत्कण्डिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६५]—सपना कोई अपराध न होनेपर भी [अन्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण पाग आनेसे] विलम्ब करनेपर उत्सुका [नायिका] विरहोत्कण्डिता कहलाती है ।

अन्यनारीन्यासंगादिना प्रस्तुतस्त्रीकृतापराधाभावेऽपि तत्रागन्तुकामेऽपि विलम्बं  
वृथाणै पर्या नायकोत्सुका सती विरहोत्कण्ठता । अत्र प्रियगमनमचिरादवश्य-  
म्भावि, परस्परं कलहश्च नास्तीति सर्वाभ्यां भिन्नेयमिति ।

अथ वासकसज्जा—

[सूत्र २६६]—हृष्टा वासकसज्जात्मान्यलंकृतिपरंप्रियति ॥

[२५] १७८ ॥

प्रियेण सह राश्यादियसर्न वामकः । तत्रोचिते उगमपरा । 'एष्यति' वियक्षित-  
कालागमनयति प्रिये स्वमण्डनयती नायिका वासकसज्जा । पुरांसु स्यांसु विप्रलम्भ-  
शृङ्गारो ऽत्र तु मम्भोगशृङ्गार इति भेदः ॥ [२५] १७८ ॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—

[सूत्र २६७]—सुभगम्मानिनी वदयासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।

सुभगमात्मानं मन्यते या नायिका सा वश्ये आसन्ने च पर्या एतद्वीयरूप-  
यौयनाद्याक्षिप्तहृदयत्वान् स्वाधीनभर्तृका । आसन्नवर्तिप्रियसमत्वेन पूर्वास्या भिन्नेय-  
मिति ॥

प्रस्तुत स्त्रीका अपराध न होनेपर जो उस [अपनी] स्त्रीके प्रति आनेकी इच्छा  
रखते हुए भी दूसरी स्त्रीके पास होने आदिके कारण पतिके विलम्ब करनेपर नायकने  
मिलनेके लिए जरतुक नायिका 'विरहोत्कण्ठिता नायिका' कहलाती है । उसने प्रियका आगमन  
शीघ्र हो अवश्य होने वाला और परस्पर कलह नहीं है इसलिए यह पूर्वकी सब नायिकाओं  
से भिन्न है ।

अथ आने वासकसज्जा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६६]—पतिके आनेकी आशा होनेपर प्रसन्न होकर अपनेकी सजानेमे लगी  
हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है । [२५] १७८ ।

रात्रि आदिकी प्रियके साथ रहना 'वासक' है । उसके योग्य व्यापारमे लगी हुई [वासक-  
सज्जा कहलाती है] । 'एष्यति' अर्थात् प्रियके विवक्षित कालपर आगमन करनेकी आशा  
होनेपर अपनेकी सजानेमे लगी हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है । पहले कही हुई  
[प्रोषितपतिका] से लेकर 'विरहोत्कण्ठिता' तक बीच] सब नायिकाओंमे विप्रलम्भ शृङ्गार है ।  
इस [छठी वासकसज्जा] मे सम्भोग शृङ्गार है यह इसका अर्थ सब नायिकाओंमे भेद है ॥  
[२५] १७८ ॥

अथ आने स्वाधीनभर्तृका [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६७]—[पतिके] अपने वशमे और सदा समीपवर्ती होनेपर अपनेकी सुन्दर  
समझने वाली नायिका 'स्वाधीनभर्तृका' कहलाती है ।

जो नायिका अपनेकी सुन्दर समझती है वह पतिके अपने वशमे और समीपवर्ती  
होनेपर उसके रूप यौवन आदिके हृदयके वशीभूत हो जानेसे स्वाधीनभर्तृका कहलाती है ।  
प्रियके समीप उपस्थित होनेके कारण यह पिछली [अर्थात् वासकसज्जा नायिका] मे  
भिन्न है ।



अथाभिसारिका—

[सूत्र २६८]—सरन्ती सारयन्ती वा रिरंसुरभिसारिका ॥

[२६] १७६॥

सरन्ती स्वयं तस्य पार्श्वे, सारयन्ती वा तं प्रियमात्मसमीपे । रिरंसुः सुरतार्थिनी नायिका अभिसारिका । अत्र नायिकाया प्रियसन्निधौ गमनमिति भेदः इति ॥ [२६] १७६ ॥

अथ स्त्रीणां यौवनस्थान् धर्मानाह—

[सूत्र २६९]—भावाद्या यौवने स्त्रीणामलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।

दश स्वाभाविकाश्चन्ते क्यारूपास्त्रयोदश ॥ [२७] १८० ॥

सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।

नावश्यम्भाविनोऽर्थपा, विंशतिः स्त्रीषु मुख्यतः ॥ [२८] १८१ ॥

१८१ ॥

यौवने उत्तमप्रकृतीनां च, वनितानां च भाव-हावादयोऽलंकाराः कटक-कैयूरा-दिवद् वपुर्विभूपाहेतवः प्रादुर्भवन्ति । वात्येऽपि किञ्चिदुन्मीलन्ति । पार्श्वे तु प्राचुर्येण नश्यन्ति । एते च यौवने स्त्रीणां प्राधान्यतोऽलंकाराः । पुंसां तूत्साहादयो मुख्यतो

अथ आगे 'अभिसारिका' [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६८]—रमण करनेकी इच्छासे स्वयं [प्रियके पास] जाने वाली अथवा प्रिय को अपने पास बुलाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है । [२६] १७६ ।

'सरन्ती' अर्थात् स्वयं उसके पास जाती हुई अथवा 'सारयन्ती' अर्थात् उस प्रियको अपने पास बुलाने वाली । रिरंसु अर्थात् सुरताभिलाषिणी नायिका अभिसारिका कहलाती है । इसमें नायिका स्वयं प्रियके पास जाती है [और स्वाधीनभर्तृकामे प्रिय नायिका के पास उपस्थित रहता है] यह [स्वाधीनभर्तृकासे इसका] भेद है ॥ [२६] १७६ ॥

अथ आगे स्त्रियोंके [अर्थात् नायिकाओंके] यौवनमें होने वाले धर्मोंको कहते हैं—

[सूत्र २६९]—यौवनकालमें स्त्रियोंके भाव आदि तीन भागिक और दस स्वाभाविक अलंकार होते हैं । ये तेरहों [अलङ्कार इत्य रूप न होकर] त्रिधा-रूप होते हैं । [२७] १८० ।

[प्रियका] सम्भोग होनेपर बिना प्रयत्नके उत्पन्न होने वाले सात स्वाभाविक गुण होने हैं जो अवश्यम्भायो नहीं होते हैं । ये बीस [१३+७=२०] गुण मुख्य रूपसे स्त्रियोंमें रहते हैं । [२८] १८१ ।

यौवनमें उत्तम प्रकृति वाले [पुरुषों] और स्त्रियोंमें भाव-हाव आदि अलङ्कार बटन-केपूर आदि सप्तान शरीरकी शोभाके जनक उत्पन्न हो जाते हैं । वात्पादरूपमें भी बुद्ध-बुद्ध उचित होते हैं, और वृद्धावस्थामें अधिकांश प्रायः नष्ट हो जाते हैं । यौवामें ये स्त्रियोंके मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं । पुरुषोंमें तो उत्साहादि मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं । इसीलिए उदतादि नायकोंके साथ पौरुष विटोषण कहा गया है । पुरुषोंमें भावादि

उलंकाराः । तेन नायकभेदेष्टृद्वतादिषु धीरत्वं विशेषणमुक्तम् । भावादयस्तु पुनरप्याणां उत्साहाद्याच्छादिता एव भवन्तीति ते गौणाः । भावादीनां च विंशतिसंख्यात्वमत्रोद्दिष्टभेदापेक्षया, अपरथा यौवने वनितालंकाराणामनन्तसंख्यात्वमेव । तत्र प्रथमे त्रयोऽङ्गाद्, यौवनोद्बोधशालिनः प्रियदृष्टि-वस्त्र-माल्यादिबाह्यनिमित्तरहिताद् गात्रमात्राञ्जयन्ते । तेभ्यः परे दश स्वस्माद् रतिलक्षणाद् भावात् प्रियोपभोगानुपभोगयोर्जायन्ते । एते च दश एक-द्वि-त्रयादिविकल्पेन भावान्नावश्यम्भाविनः । अथागजात्वाभावि-काश्च त्रियारूपा स्त्रीचेष्टात्मकाः । मिलिताश्च त्रयोदशसंख्या । ततः परे सप्त यत्न-अन्तःपरिस्पन्दं विना देहधर्मरूपाः पुन्योपभोगे सति भवन्ति । पूर्वे तु चेष्टात्मकाः । इच्छातो यत्नस्ततो देहचेष्टेति यत्नजा इति ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

(१) अथ भावादीनां प्रत्येकशो लक्षणमाह—

[सूत्र २७०]—भावो वागादिवेशिष्टं चिह्नं रत्युत्तमत्वयोः ।

वाचां, आदिशब्दान् कर-पादादीनां वैशिष्ट्यं हृद्यो विकारः अंतर्गत-रतिभावस्य पामरनायिकावैलक्षण्येन उत्तमप्रकृतित्वस्य च निश्चयहेतुर्भावः । भवति हि तथाभूतं वागादिवैशिष्ट्यमुपलभ्य उद्बुद्धोऽयमन्तः कामप्रदीपोग्या इति, उत्तमप्रकृतिश्च नायिके-यमिति सहस्रस्य निश्चय इति ॥

[अलङ्कार] उत्साहादि [पुरुषोचित अलङ्कारो] से आच्छादित ही होते हैं इसलिए [पुरुषोचित] उनको गौण कहा गया है । भाव भाविकी की संख्या यहाँ गिनाए गए [बीस] भावोंकी दृष्टिसे ही है । जैसे तो यौवनमे स्त्रियोंके अलङ्कारोंकी संख्या अनन्त होती है । उन [बीस अलङ्कारों] मेंसे [आच-हाथ और हेला ये] पहले तीन यौवनोदयसे युक्त शरीरमे प्रियके देखने अपवा वस्त्र-माल्य आदिके बिना बाह्य साधनोंके बिना केवल शरीरमात्रसे उत्पन्न होते हैं [इसीलिए इनको अंगज कहा गया है] । और उनमे अगले दस स्वयं अपने रतिरूप भावसे प्रियका उपभोग होने या न होनेपर उत्पन्न होते हैं । ये दस [अलङ्कार] कहीं एक, कहीं दो, या कहीं तीन आदि रूपसे भी उत्पन्न हो सकते हैं । इसलिए ये अवश्यम्भावी नहीं होते हैं । और अंगज तथा स्वाभाविक सभी अलङ्कार क्रियावृत्त अर्थात् स्त्रियोंके चेष्टात्मक होते हैं । [अंगज तथा स्वाभाविक दोनों प्रकारके अलङ्कारोंको] मिलाकर तेरह संख्या होती है । उनके बाद सात [अलङ्कार] पुरुषका उपभोग हो जानेके बाद [स्त्रियोंके भीतर] यत्न अर्थात् भीतरी व्यापारके बिना ही देह धर्मके रूपमे प्रकट होते हैं । पहले [तिरह] तो चेष्टात्मक होते हैं । [पर ये सात चेष्टात्मक नहीं अपितु देह धर्मरूप होते हैं यह इनका भेद है] । इच्छासे यत्न होता है । यत्नसे देह-चेष्टा होती है । इसलिए [देह-चेष्टात्मक पहले तेरह अलङ्कार] यत्न [और अन्तिम सात अलङ्कार अपत्य] होते हैं ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

अथ आगे भाव आदिके अलग-अलग संख्या करते हैं—

रति और उत्तमत्वकी सूचक वाली आदिको विशेषताको 'भाव' कहते हैं ।

[सूत्र २७०]—वाग्योका और आदि शब्दसे हाथ-पंर आदिका वैशिष्ट्य अर्थात् मनोहर विकार, भीतर रहने वाले रति-भावका और पामर नायिकासे भिन्न उत्तम प्रकृतित्वके निरूपक चिह्न, 'भाव' कहलाता है । उस प्रकारके वाली आदिके वैशिष्ट्यको देखकर इनके भीतर काम-प्रदीप प्रज्वलित हो गया है इस प्रकारका और यह नायिका उत्तम

(२) अथ हावः —

[सूत्र २७१]—नेत्रादिविकृतं हावः सशृङ्गारमसन्ततम् ॥

[२६] १८२ ॥

नेत्रयोः, आदिशब्दाद् भ्रू-चिबुक-ग्रीवादेश्च सातिशयो विकारः शृङ्गारोचित उद्भिद्योद्भिद्य विश्रान्तिमत्त्वेनासन्ततो हाव इति ॥ [२६] १८२ ॥

(३) अथ हेला—

[सूत्र २७२]—तदेव सन्ततं हेला, तारुण्योद्बोधशालिनी ।

तदेव सातिशयं नेत्रादिविकृतं सन्ततं प्रसरणशीलं सशृङ्गारं समुचितविभाव-विशेषोपमहविरहादनियतविषयं प्रयुद्धरतिभावसमन्वितं हेला । अस्यां च तारुण्यस्य प्रकर्षगमनम् । एतं च त्रयोऽङ्गजाः परस्परसमुत्थिता अपि भवन्ति । तथा हि कुमारी-शरीरे प्रौढतमकुमारगत-हाव-भाव-हेलादर्शन-श्रवणाभ्यां भावादयोऽनुकूपा विरूपाश्च भवन्ति । किन्तुत्तरानपेक्ष्य एव भावः । हावस्तु भावापेक्षः । हावापेक्षिणी च हेला । पूर्वपूर्वोत्कर्षरूपत्वादनयोरिति ।

प्रकृतिको है इस प्रकारका निश्चय सहृदयोंको हो जाता है [इसीलिए भावको रति तथा उत्तमत्वका चिह्न कहा गया है] ।

अथ प्रागे 'हाव' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७१]—शृङ्गारयुक्त किन्तु निरन्तर न रहनेवाला नेत्रादिका विकार 'हाव' कहलाता है । [२६] १८२ ।

दोनों नेत्रोंका, और आदि शब्दसे भौंह, ठोड़ी, गर्दन आदिका शृंगारके अनु रूप विशेष प्रकारका [विकार] उठ-उठकर विधांत हो जानेके कारण निरन्तर न विद्यमान रहने वाला विकार 'हाव' कहलाता है ॥ [२६] १८२ ॥

अथ प्रागे 'हेला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७२]—यौवनोत्कर्षपर उदित और निरन्तर रहनेवाला वही नेत्रादिका विशेष प्रकारका विकार 'हेला' कहलाता है ।

शृंगारके अनुरूप और निरन्तर विद्यमान रहनेवाला नेत्र आदिका, वही विशेष प्रकार का विकार किसी विशेष कारण [विभाव] के सम्बन्धके बिना, अनिश्चित-विषय [अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेषसे सम्बन्ध न होनेवाला] प्रबुद्ध सामान्य रतिभावसे समन्वित [वही नेत्रादि का विशेष प्रकारका विकार] 'हेला' कहलाता है । इस [हेला] में यौवनोदय प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है । [भाव, हाव और हेला] ये तीनों आगिक विकार एक-दूसरेसे भी उदित होते हैं । जैसे कि कुमारीके शरीरमें प्रौढतम कुमारके भाव हाव हेलाको देखने या सुननेसे [उत्त कुमारके प्रति रुचि या धरुचि होनेके कारण] अनुत्पन्न या विरूप भावादि उत्पन्न होते हैं । [ये परस्पर सम्योग्य भावादि होते हैं] किन्तु इनमेंसे भाव उत्तरवर्ती [हावादि] को प्रपेक्षा नहीं रखता और हाव [प्रपेक्षा पूर्ववर्ती] भावकी प्रपेक्षा करता है [भावके बिना हाव उत्पन्न नहीं हो सकता है । और हावके बाद उत्पन्न होनेवाली] हेला हावकी प्रपेक्षा करती है [हाव के बिना उत्पन्न नहीं होती है] इन [हाव तथा हेला] दोनोंके पूर्व-पूर्वके उत्कर्ष रूप होनेसे ।

अथ स्वभावजेषु प्रथमं विभ्रममाह—

[सूत्र २७३]—रागादिना विपर्यासः क्रियाणामथ विभ्रमः ॥

॥ [३०] १८३ ॥

अथेति आगिकानन्तर्यार्थः । रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानः । आदिशब्दान्मद-  
हर्षादिग्रहः । मदो मद्यकृतश्चित्तोल्लासः । हर्षः सौभाग्यगर्वः । अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा-  
वचनं, हृतेनादातव्ये पादेनादानं, कटीयोभ्यस्य कण्ठे निवेशनं, इत्यादिकञ्चेष्टाविपर्यासो  
विभ्रमः । विशिष्टविभावलाभे रतिप्रकर्षाद् देहविकाराः स्वाभाविकाः । अगजान्तु  
विशिष्टविभावमन्तरेणेति विशेषः ॥ [३०] १८३ ॥

अथ विलासः—

[सूत्र २७४]—विलासः प्रियदृष्ट्यादौ चास्तुत्वं गात्रकर्मणोः ।

आदिशब्दान् सम्भाषणादिग्रहः । चास्तुत्वं तात्कालिकं सान्निध्यविशेषः ।  
कर्मभ्यानासन-नासन-निरीक्षणविशेषेति ।

अथ विच्छिन्ति—

अर्थात् अपने पूर्ववर्ती भावके उत्कर्ष-रूप होनेसे हाव, भावकी अपेक्षा करता है और अपने  
पूर्ववर्ती हावके उत्कर्ष-रूप होनेसे हेला हावकी अपेक्षा करती है ।

[इस प्रकार तीन प्रकारके आगिक धर्मोंको कह चुकनेके बाद] अब आगे स्वाभाविक  
[दस धर्मों] मेंसे पहले 'विभ्रम' को कहते हैं—

[सूत्र २७३]—रागादिके कारण किया उसट-पुलट हो जाना 'विभ्रम' कहलाता  
है ॥ [३०] १८३ ॥

'अथ' इस शब्दका अर्थ आगिक [धर्मोंके वर्णन] के बाद यह है । राग अर्थात् प्रियतम  
के प्रति ही अत्यन्त आदर । आदि शब्दसे मद, हर्ष आदिका ग्रहण होता है । मद अर्थात्  
मद्यपानके कारण उत्पन्न चित्तकी प्रसन्नता । हर्ष अर्थात् अपने सौभाग्यका गर्व । कुछ और  
कहनेके स्थान पर कुछ और कह जाना, हाथसे पकड़ने योग्यको परसे पकड़ना, कमरमें  
पहनने योग्यको गलेमें डाल लेना [यह सब 'क्रियाणां विपर्यय' 'विभ्रम' कहलाता है ।  
किञ्चिद् कारण [विभाव] के प्राप्त होनेपर इतके प्रकर्षसे देखने विकार होना स्वाभाविक  
है [ इसलिये इनको स्वाभाविक धर्म कह्य गया है ] और आगिक विकार तो विशेष कारणके  
बिना [शरीरमात्रसे उत्पन्न] होते हैं यह [इन दोनों प्रकारके धर्मोंका भेद है] ॥ [३०] १८३ ॥

अब आगे 'विलास' [का सहाय करते हैं]—

[सूत्र २७४]—प्रियके दर्शन आदिसे शरीर और कर्मोंमें विशेष सुकुमारता 'विलास'  
कहलाता है ।

आदि शब्दसे सम्भाषण आदिका ग्रहण होता है । आस्त्य अर्थात् उस समय उत्पन्न  
होनेवाला विशेष प्रकारका सौन्दर्य । कर्म अर्थात् खड़ा होना, बैठना, चलना और दगना आदि  
वेष्टाण ।

अब आगे 'विच्छिन्ति' [का सहाय करते हैं]—

[सूत्र २७५]—वेपाल्पतैव विच्छित्तिः परां शोभां वितन्वती ॥

॥ [३१] १८४ ॥

रत्नपाप्याकल्परचना प्रकृतिसौभाग्यादिगुणयुक्त्वात् परा शोभा स्त्रिया वितन्वती विच्छित्तिरिति ॥ [३१] १८४ ॥

अथ लीला—

[सूत्र २७६]—लीला दयितवागादेः स्वे न्यासो बहुमानतः ।

आदिशब्दाद् वेप-न्यापारादिग्रहः । प्रियतमप्रीत्यतिशयेन दयितवागादेः सभृङ्गारं स्वस्मिन् न्यास मम्यक् करणं लीलेति ।

अथ विव्योक—

[सूत्र २७७]—विव्वोकोऽनादरो मान-दर्पादिष्टेऽपि वस्तुनि ॥

॥ [३२] १८५ ॥

मानश्चित्तममुन्नति । दर्पं सौभाग्यगर्व । इष्टं वस्त्रमाल्यालंकारादीति ।

॥ [३२] १८५ ॥

अथ विहृतम्—

[सूत्र २७८]—विहृतं जल्पकालेऽपि मौनं ह्री-व्याज-मौग्ध्यतः ।

जल्पकालो भाषणस्योचित समय । मौनमभाषणम् । व्याज छद्म । उपलक्षण-

[सूत्र २७५]—अत्यधिक सौन्दर्यको प्रदर्शित करनेवाला स्वल्प वेप पारण ही विच्छित्ति कहलाती है । [३१] १८४ ।

स्त्रियोंके भीतर उनके प्रकृत सौभाग्यादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सीधे की प्रकाशित करनेवाला घोडासा भी वेप-विन्यास 'विच्छित्ति' कहलाती है ॥ [३१] १८४ ॥

अथ आगे 'लीला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७६]—प्रियके वचन आदिकी अत्यन्त आदरपूर्वक अपने भीतर रजना लीला कहलाती है ।

आदि शब्दसे वेप और न्यापार आदिका घट्टा होता है । प्रियतमके प्रति अत्यधिक प्रेम होनेके कारण प्रियतमकी वाणी आदिकी शृंगाराभिध्वत्किपूर्वक अपनेमे लगाना अर्थात् यथार्थ मनाना 'लीला' कहलाती है ।

अथ आगे 'विव्वोक' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७७]—मान अथवा गर्वके कारण इष्ट वस्तुके प्रति भी घनावर शिवलाना 'विव्वोक' कहलाता है । [३२] १८५ ।

मान अर्थात् विलंबा चढ़ा होना । हर्ष अर्थात् सौभाग्यका गर्व । इष्ट अर्थात् वाय माना, असकार आदि ॥ [३२] १८५ ॥

अथ आगे 'विहृत' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७८]—सज्जा अथवा हिंसा करने अथवा मुग्धताके कारण होमने के उचित समयपर भी होमना 'विहृत' कहलाता है ।

त्वावनायत्तत्त्व-वाल्यादयोऽपि गृह्यन्ते । आत्मनो ह्यथादिप्रकाशननिमित्तं समयेऽप्य-  
भाषणं विवृतमित्यर्थः ।

अथ ललितम्—

[सूत्र २७६]—ललितं गात्रसंचारः सुकुमारो निरयंकः ॥[३३]१८६॥

गात्रस्य नेत्रदस्तादे, संचारो व्यापार । सुकुमारोऽतिमनोहरो, द्रष्टव्यं विना  
दृष्टिहेतो, ग्राह्यमृते दृस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम् । सप्रयोजनस्तु व्यापारो  
विलास, इत्यनयोर्भेद इति ॥ [३३] १८६ ॥

अथ कुट्टमितम्—

[सूत्र २८०]—कचौष्ठादिग्रहे कोपो मृषा कुट्टमितं भुवि ।

आविशब्दात् स्तन-करादिग्रह । प्रियतमेन कचादिषु गृह्यमाणाया अन्त-  
प्रमोदेऽपि व्यलीककोपकरणं कुट्टमितमिति ।

अथ मोट्टायितम्—

[सूत्र २८१]—मोट्टायितं प्रियेक्षादौ रागतो गात्रमोट्टनम् ॥[३४]१८७॥

प्रियस्य दर्शन-अवधानुकरणेषु तद्भावभावनतात्मकरागवशाद्वर्गमर्दनपर्यन्तं  
योपितश्चेष्टितमिति ॥ [३४] १८७ ॥

जल्पकास अर्थात् भाषणके उचित समय । मीन अर्थात् घुब रहना । व्याज अर्थात्  
ग्रहणा । इसके उपलक्षण रूप होनेसे परवशता और आस्य आदिका ग्रहण होता है । अपनो  
सञ्जा आदिके प्रकाशनके लिए बोलनेके अवसरपर भी न बोलना 'विवृत' कहलाता है यह  
अभिप्राय है ।

आगे 'ललित'का [लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७६]—अयं ही मञ्जाकतके साथ अर्णोका चलाना 'ललित' कहलाता है ।

गात्र अथवा नेत्र और हाथ आदिका, संचार अर्थात् संचालन-व्यापार । सुकुमार  
अर्थात् अश्वन्त मनोहर । [जैसे] द्रष्टव्य विषयके न होनेपर भी दृष्टि बीजना, पकड़ने योग्य  
किसी वस्तुके न होनेपर भी हाथ आदिका चलाना । इस प्रकारका निष्प्रयोजन व्यापार  
'ललित' कहलाता है । और सप्रयोजन व्यापार 'विलास' कहलाता है । यह इन दोनोंका भेद  
है ॥ [३३] १८६ ॥

अब आगे 'कुट्टमित' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८०]—[प्रियतम द्वारा] केज, ओष्ठ आदि पकड़े जानेपर [हृदयके भीतर तो  
प्रसन्नताके होनेपर भी [बाहर] मिथ्या क्रोध विह्वलाना 'कुट्टमित' कहलाता है ।

आदि शब्दसे स्तन, कर आदिका ग्रहण होता है । प्रियतमके द्वारा केश आदिके  
पकड़े जानेपर भी भीतर प्रसन्नता होनेपर भी झूठमूठ नाराज होता 'कुट्टमित' कहलाता है ।

अब आगे मोट्टायित [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८१]—प्रियतमके दर्शन आदिके होनेपर अर्णोका मरोड़ना 'मोट्टायित' कह  
॥ [३४] १८७ ॥

प्रियतमके दर्शन, धवल, अनुकरणआदिके होनेपर तन्मयता रूप रागके कारण  
[विशिष्ट] अर्णोके मर्दन पर्यन्त स्त्रीका व्यापार 'मोट्टायित' कहलाता है ॥ [३४] १८७ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

[सूत्र २८२]—मुहुः स्मिताऽश्रुकम्पादेः संकरः किलकिञ्चितम् ।

आदिशब्दाद् भय-हसित-श्रम-रोप-गर्व-दुःखाभिलाषादिग्रह । गर्वाद् वारं वारं स्मितादीनां सकीर्णतया योषिता यत्करणं तन् किलकिञ्चितम् । एते दश स्वाभाविका भुक्त्यामभुक्ताया च योषिति रतिभावोद्बोधाद् भवन्तीति ।

यथायत्नजेषु सप्तसु शोभा प्रथमं लक्ष्यते—

[सूत्र २८३]—औज्ज्वल्यं यौवनादीनामथ शोभोपभोगतः । [३५] १८८ ।

यौवनस्य, आदिशब्दाद् रूप-लावण्यादीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा । अथेति स्वाभाविकानन्तर्यार्थं इति ॥ [३५] १८८ ॥

अथ कान्ति-दीप्ती—

[सूत्र २८४]—सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

शोभैव रागावतारघना कान्तिः । कान्तिरेव चातिविस्तीर्णा दीप्तिः । यौवनादीनां मौज्ज्वल्यस्य मन्द-मध्य-तीव्रावस्था क्रमेण शोभा-कान्ति-दीप्ति इत्यर्थः इति ।

प्रथमं प्रागे 'किलकिञ्चितं' [का लक्षणं करते हैं]—

[सूत्र २८२]—बार-बार हँसने, रोने और कम्पन आदिका सम्मिश्रण 'किलकिञ्चितं' कहलाता है ।

प्रादि शब्दसे भय, हास्य, श्रम, रोप, गर्व, दुःख और अभिलाष आदिका ग्रहण होता है । गर्वके कारण स्त्रियोंके द्वारा हँसने, रोने आदिका जो बार-बार सकीर्ण रूपसे किया जाना है वह 'किलकिञ्चितं' कहलाता है [यह अभिप्राय है] । भुक्ता तथा अभुक्ता दोनों प्रकार की स्त्रियोंमें रतिभावका उदय होनेपर ये दश स्वाभाविक धर्म उदय होते हैं ।

अथ प्रागे बिना यत्नके उत्पन्न होने वाले सात धर्मोंमेंसे पहले 'शोभा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २८३]—उपभोगके बाद यौवन आदिकी उज्ज्वलता 'शोभा' कहलाती है । [३५] १८८ ।

अनु०—यौवनका और आदि शब्दसे रूप लावण्यादिकी पुरुषके द्वारा भोगे जाने पर जो उज्ज्वलता अर्थात् सौन्दर्यतिशय उसकी 'शोभा' कहते हैं [यह अभिप्राय है] । [अथ शोभोपभोगतः, मे प्रयुक्त] 'अथ' शब्द स्वाभाविक आनन्दतय धर्मका बोधक है । [अर्थात् पहले निरूपण किए दस स्वाभाविक धर्मोंके बाद शोभाका लक्षण किया जा रहा है] ॥ [३५] १८८ ॥

अथ प्रागे 'कान्ति' और 'दीप्ति' [दोनोंका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८४]—पूर्ण विस्तारकी प्राप्ति हो जानेपर वह शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है । और 'कान्ति' का भी विशेष विस्तार 'दीप्ति' कहलाता है ।

अर्थात् अनुरागातिशयके कारण धनकाही प्राप्ति शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है और धन्यत विस्तारकी प्राप्ति हो जाने वाली 'कान्ति' ही 'दीप्ति' कहलाती है । अर्थात् यौवना आदिकी उज्ज्वलताकी मन्द, मध्य और तीव्र अवस्थाएँ ही क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती हैं यह अभिप्राय है ॥

अथ माधुर्योदायं—

[सूत्र २८५]—सौम्यं तापेऽपि माधुर्यम्, औदायंमुचिताच्युतिः ॥

[३६] १८६ ॥

शोक-क्रोध-भय-श्रम-ईर्ष्यादिज मन्तापस्तापः । अपि शब्दाद् घ्रीटा-रत्या-दिजे अम्बास्थये ऽपीति । तापे ऽपि सन्धुचित्तस्य विनयादिवस्य अच्युतिरपरित्यजनं औदायम् । माधुर्यं आकाराविकृति इत्यनयोर्विशेष इति ॥ [३६] १८६ ॥

अथ धैर्य-प्रागल्भ्ये—

[सूत्र २८६]—चेतोऽविकत्थनं धैर्यं प्रागल्भ्यं कौशलं रते ।

अविकत्थनं आत्मश्लाघा-चापलाभ्यां रहितं चेतो धैर्यमिति । कौशलं वैशारथ्यं, रते मुरतक्रियायां यत् तन् प्रागल्भ्यम् । एते यत्नमन्तरेण पुरुषोपभोगनिष्पन्ना स्त्रीणां सप्त गुणा इति ।

अथ एवंविधालङ्कारवतीनां स्त्रीणां नायकेषु विनियोगमाह—

[सूत्र २८७]—यथौचित्यं च नेतृणां नायिकाः, कुलजादयः ॥ [३७] १८०

औचित्यं प्रकृति अवस्था आचार-देशकालाद्यविरोधः । तदनतिरमेण धीरोद्ध-तादीनां नायकानां कुलजादयो नायिका नाटकेषु निबन्धनीया इति ॥ [३७] १८० ॥

अथ प्रागे 'माधुर्यं' और 'औदायं' [दोनों] लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८५]—तापके होनेपर भी सौम्यता माधुर्य कहलाता है । और उचित मार्गसे पतित न होना 'औदायं' कहलाता है । [३६] १८६ ।

शोक, क्रोध, भय, श्रमर्ष और ईर्ष्यादिके उत्पन्न होने वाला सन्ताप यही 'ताप' [माना गया] है । 'धैर्य' शब्दसे सज्जा और रत्यादिके उत्पन्न अस्वस्थताका भी ग्रहण होता है । इस तापके होनेपर भी [सौम्यताका बना रहना 'माधुर्य' कहलाता है] । और तापके होनेपर भी विनय आदि रूप उचित बातोंका परिस्पाय न करना 'औदायं' कहलाता है । आकारसे विकार का उत्पन्न न होना माधुर्य है [ और मनमें विकारका उत्पन्न न होना औदायं है ] यह इन दोनोंका भेद है ॥ [३६] १८६ ॥

अथ प्रागे 'धैर्यं' तथा 'प्रागल्भ्यं' [दोनों] लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८६]—[आत्मश्लाघा और अपमानसे रहित चित्तावस्थाका नाम 'धैर्य' है और मुरत-व्यापारमें निपुणताकी प्राप्ति 'प्रागल्भ्यं' कहली जाती है ।

अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघा और अपमानसे रहित चित्तावस्थाका नाम 'धैर्य' है । और 'रते' अर्थात् मुरत-व्यापारमें जो कौशल अर्थात् निपुणता यह 'प्रागल्भ्यं' कहलाता है । ये सात गुण पुरुषोपभोगके द्वारा स्त्रियोंके बिना यत्नके स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

अथ इस प्रकारके [१० + ७ = १७] प्रसङ्गोंसे युक्त नायिकाओंका नायकोंसे साथ सम्बन्ध दिलाते हैं—

[सूत्र २८७]—औचित्यके अनुसार कुलजा आदि नायिकाएँ नायकोंसे साथ विनि-युक्त करनी चाहिए । [३७] १८० ।

औचित्य अर्थात् प्रकृति, अवस्था, आचार, देश, काल, आदिके साथ व्यवरोध । उस



अथासा नायिकानां सहायिन्य उच्यन्ते—

[सूत्र २८८]—सहायिन्यस्तु धात्रेयी-लिंगिनी-प्रातिवेशिकाः ।

शिल्पिनी चेष्टिका-सख्यो गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिराः ॥

[३८] १६१ ॥

धात्रेयी स्तन्यदायिनी । लिंगिनी परिव्राजिकादिलिङ्गवती । प्रातिवेशिका निरुद्धा वसथा । शिल्पिनी चित्रादिशिल्पकारिका । चेष्टिका दासी । सखी समानगुणा मैत्र्यमुपगता । एषमादिका प्रियघटने सहायिन्यः । एतारच 'गुप्ता' रहस्यधारणसमर्था । इच्छा देश-काल-समयादिविद् । मृदु-यो अन्नहृता । स्थिराश्चापलवर्जिता । एवमन्येऽपि गुणा वृष्ट्या इति ॥ [३८] १६१ ॥

अथ सामान्येन भाषाविधानमुच्यते—

[सूत्र २८९]—देवानीचमृणा पाठः संस्कृतेनाथ जातुचित् ।

महिषी-मन्त्रिजाया-पण्यस्त्रीणामव्यार्जालिनीनाम् ॥

[३९] १६२ ॥

[श्रीचित्र] का उत्सङ्गन किए बिना धीरोद्धत आदि नायकोके साथ कुलजा आदि नायिकाओं का नाटकादिमें वर्णन करना चाहिए ॥ [३७] १६० ॥

अथ इन नायिकाओंकी सहायिकाओंको कहते हैं—

[सूत्र २८८]—घाय, परिव्राजिका, पक्षोत्तिनी, दासी और सखी जो [गुप्ता अर्थात्] रहस्यको धारण करनेमें समर्थ, चतुर, अहंकाररहित और चपलतारहित हो इनकी सहायिकाएँ होती हैं । [३८] १६१ ।

धात्रेयी अर्थात् दूध पिलाने वाली घाय । लिंगिनी अर्थात् परिव्राजिका आदिके चिह्नों को धारण करने वाली । प्रातिवेशिका अर्थात् समीप रहने वाली पक्षोत्तिनी । शिल्पिनी अर्थात् चित्रादि शिल्पको रचना करने वाली । चेष्टी अर्थात् दासी । सखी अर्थात् समान गुण वाली और मित्रताको प्राप्त स्त्री । इस प्रकार की स्त्रियाँ प्रियके साथ मिलन करनेमें सहायिका होती हैं । ये सब गुप्ता अर्थात् रहस्यको छिपा सकनेमें समर्थ, दक्षा अर्थात् देश, काल, आचार आदिको समझने वाली, मृदु अर्थात् अहंकाररहित और स्थिरा अर्थात् चपलतारहित होने चाहिए । इसी प्रकारके अन्य गुण भी [सहायिकाओंमें] समझने चाहिए ॥ [३८] १६१ ॥

अथ सामान्य रूपसे भाषाविधानको कहते हैं—

[सूत्र २८९]—देवताओं और नीचोंकी छोड़कर अर्थात् उत्तम तथा मध्यम पुरुषोंके पाठ संस्कृतमें [होना चाहिए] । और कभी-कभी पटरानी, अग्नि पत्नीवेदाग्रोषा तथा [लिंगिनी पदमें लिंगिनीश्च लिंगिनीश्च अर्थात् पुरुष तथा स्त्री रूप दोनों प्रकारके लिंगियोंमेंसे एक होय हो जानेसे] पुरुष तथा स्त्री रूप दोनों प्रकारके परिव्राजकों दम्भ-रहित [अर्थात् मुनि, बौद्ध, भिक्षु चोत्रिय आदि] द्वारा [भी संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए] । ३९ [१६२] ॥

देवशब्देन मुरा सूर्यश्चैकरोपाद् गृह्यन्ते । एषा च नीचवजितानामुत्तम-मध्यम नराणां च । स्त्रीणां प्राकृतस्यैव विधानात् पुष्पाणामेव संस्कृता भाषा । कदाचित् पुन कार्यवशत कृताभिषेकाया राज्या मन्त्रिजा-पत्यस्त्रियोलिंगिना च ण्करोपेण पु-स्त्रीरूपाणां परिव्राड्-मुनि-शाक्य-श्रोत्रियादीनां संस्कृत द्रष्टव्यम् । लिंगिनश्च दम्भं विना ये गृहीतव्रतास्तेषां संस्कृतम् । सामर्थ्यान्व व्याजलिंगिना प्राकृतमिति लभ्यते । स्वगोपनार्थमेतैर्भाषान्यथात्वस्य करणात् । तत्र महिष्या संधि-विग्रहचिंतादिना, मन्त्रि-जाया न्यायप्रवृत्त्यादिना वेश्याया वैदग्ध्यादिना, लिंगिना च सर्वविद्याकौशलख्या-पनादिना कार्येण संस्कृत, अन्यत्र तु प्राकृतमवगंतव्यम् । 'योषिताम्' इति महिष्यादीनां प्राकृतस्यैव प्राप्तौ 'देवानीचनृणां' इति च लिंगिना संस्कृतस्यैव प्रसङ्गे 'जातुचिन्' इत्यप्राप्त्यर्थं प्राप्तनिषेधार्थं चोपात्तम् । तेन लिंगिना बाहुल्येन प्राकृतं भवतीति ॥ [३६] १६० ॥

अथ प्राकृत पाठ्यमाह—

[सूत्र २६०]—वाल्-यण्ड-ग्रह्यस्त-मत्त-स्त्रीरूप-योषिताम् ।

प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यद्वयमोहितः ॥

[४०] १६३ ॥

देव' शब्दसे एक होयसे देव और देवी दोनोंका ग्रहण होता है । इनमे और नीचोंकी छोड़कर देव पुरुषोंकी भाषा संस्कृत होनी चाहिए । स्त्रियोंके लिए प्राकृतका ही विधान होने से [स्त्रियोंकी प्राकृत भाषाही होनी चाहिए] । कभी कभी कार्यवश पटरानी मन्त्रि परनी वेदया तथा लिंगियोंमे एक देव द्वारा स्त्री पुरुष रूप दोनों प्रकारके सग्यास्त्रियों मुनियों घोड तथा बाह्यण भोजिपादिकी संस्कृत भाषा समझनी चाहिए । लिंगसे त्रि-होने दम्भ रहित होकर घत लिया है उनको संस्कृतका प्रयोग कराना चाहिए । इस बचनकी सामर्थ्यसे बनावटी परिव्राजक आदिके द्वारा संस्कृतका प्रयोग करना चाहिए यह अर्थ निश्चयता है । योंकि ये अपनेको छिपानेके लिए भाषाकी बदल भी सेते हैं । उनमेसे संधि विग्रह आदिकी बिताये प्रवसरपर राजनीतिके [द्वारा संस्कृत भाषण करना चाहिए] न्याय विचार आदिसे समय [मन्त्रिजाया यथा] मन्त्रीकी परनीके द्वारा [संस्कृत भाषण कराना चाहिए] । वैदग्ध्यादि [प्रदर्शन] के लिए बंद्या द्वारा और सब विद्याधर्मोंमें प्रवीणतासे सिद्ध करनेके लिए परिव्राजिका आदिके द्वारा कार्याविशेषके कारण संस्कृतका प्रयोग करना चाहिए । और साधारण रूपसे धर्म जगह प्राकृतका ही प्रयोग समझना चाहिए । 'योषिताम्' इस पदसे महियों आदिमें प्राकृत [का प्रयोग] प्राप्त होनेसे और 'देवानीचनृणां' पदसे परिव्राजक आदिमे संस्कृत [के प्रयोगसे] वे ही प्राप्त होनेपर 'जातुचिन्' इस पदकी [प्राप्तकी] प्रकृतिसे लिए अर्थात् प्राप्तसे निषेध करनेके लिए ग्रहण किया गया है । इसलिए परिव्राजक आदिमे अधिकतर प्राकृतका प्रयोग होता है ॥ [३६] १६२ ॥

अथ आगे प्राकृत पाठ्यको कहते हैं—

[सूत्र २६०]—वाल्मीकि, नपु सग्रीं ग्रह्यस्त, मत्त स्त्रीप्रवृत्ति जाने और स्त्रियोंका प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए । और दारिद्र्य अथवा ऐश्वर्यादि मोहित उत्तम पुरुषके द्वारा भी [प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराना चाहिए] । [३६] १६३ ।

ग्रहैः शनैश्चरादिभिः, कदाग्रहैर्वा ग्रस्ता दूषिता ग्रहग्रस्ताः । स्त्रीरूपाः स्त्रीप्रकृतयः पुरुषाः । बालादीनामब्रह्म-नीचप्रकृतिरुक्त्व-सुच्छ्रस्वभावत्वादेः प्राकृतेन पाठः । तथोत्तमप्रकृतेरपि धीरोदात्तादे-र्दारिद्र्यैश्वर्याभ्यां उपलक्षणान् धनभ्रंशादिना च मूढमनसः प्राकृत पाठ इति ॥ [४०] १६३ ॥

अपरमपि वाक्प्रकारमाह—

[सूत्र २६१]—अत्यन्तनीच-भूतादौ पैशाची मागधी च वाक् ।

शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगीः ॥ [४१] १६४ ॥

अत्यन्तनीचः प्रकृष्टाद्यमप्रकृतिः । आदिशब्दात् पिशाचादिग्रहः । एषु पैशाची मागधी च सांकर्येण भाषा भवति । नीचमात्रप्रकृतः पुनः शौरसेनी । देशस्य बुरु-मगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्व-स्वदेशसम्बन्धिनी भाषा नियन्धनीयेति ॥ [४१] १६४ ।

प्रकारान्तरमप्याह—

[सूत्र २६२]—तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण संकथा ।

तिर्यग्व्यः पशवो पक्षिणश्च । जात्यन्तराणि वणिग्-विप्र-चाण्डालादीनि । एतानि

ग्रहो अर्थात् शनैश्चर आदिके अथवा कुरिसत आग्रहोति जो दूषित हैं वे ग्रहग्रस्त हुए [उनके द्वारा प्राकृत भाषाका प्रयोग कराना चाहिए] । स्त्रीरूप अर्थात् स्त्रियों-जैसे स्वभाव-वाले पुरुष [उनके द्वारा भी प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए] । बालकों आदिके मूर्ख, अज्ञानी, नीच प्रकृति वाले तथा क्षुद्र स्वभाववाले होने आदिके कारण प्राकृत भाषाका पाठ कराया जाता है । और [कभी] उत्तम प्रकृति वाले अर्थात् धीरोदात्त आदिके [स्वभाव वाले पुरुषके] भी वरिष्ठता अथवा ऐश्वर्यातिशयसे मोहित हो जानेपर और इनके उपलक्षण रूप होनेसे धननाश आदिके भी विमूढमनस्क हो जानेपर प्राकृत ही बोलवाना चाहिए ॥ [४०] १६३ ॥

अथ बोलनेके विषयमें अन्य प्रकारोंका भी वर्णन करते हैं—

[सूत्र २६१]—अत्यन्त नीच भूतादि [के भाषण] में 'पैशाची' तथा मागधी [मंकीली] भाषा प्रयुक्त होती है । नीच [वाक्प्रकार भाषण] में 'शौरसेनी' [प्राकृत भाषा] होती है । और किसी देश-विशेषका उल्लेख होनेपर अपने-अपने देशकी भाषाका ही प्रयोग करना चाहिए । [४१] १६४ ।

अत्यन्त नीच अर्थात् अत्यधिक अधम प्रकृति वाला । [भूतादि पदमें प्रयुक्त] आदि शब्दसे पिशाचादिका ग्रहण होता है । इसमें पैशाची और मागधी दोनों भाषाओंका संकीर्ण रूपसे प्रयोग होता है । और केवल सामान्य रूपसे नीच प्रकृति वाले वाक्प्रकार शौरसेनी भाषाका प्रयोग कराना चाहिए ॥ [४१] १६४ ॥

अथ प्रागे [भाषाके विषय] अन्य प्रकार भी बतलाते हैं—

[सूत्र २६२]—पशु-पक्षी आदि और विभिन्न जातियोंमें औचित्यके अनुसार [भाषा का व्यवसायन करके] बातचीत होनी चाहिए ।

तिर्यक् अर्थात् पशु और पक्षी । अन्य जातियों अर्थात् बलिक्, विप्र, चाण्डाल आदि । ये सब एक-ही स्थानपर भी हो सकते हैं । 'आदि' शब्दमें प्रायमें रहनेवाले नगर निवासी

चैकस्मिन्नपि देशे भवन्ति । आदिशब्दाद् ग्राम्य-नागरक-आरण्यक-विट्-देवकुलिकादि-  
ग्रह- । एवंविधपात्राणामानुरूप्येण यस्य तिर्यंगादेर्यौ भणितिरिति । प्रसिद्धा सा सा  
तस्य सम्यग् वर्णनीया । येन स एवायं तिर्यंगादिरिति ताद्रूप्यावगमो भवति । इयं च  
देशगीष्च प्रायो अपभ्रंशे निपततीति ॥

अथ भाषादेरन्यथात्वमपि भवतीत्याह—

[सूत्र २६३]—भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः कार्यतः क्वापि लघनम् ॥

[४२] १६५ ॥

भाषाया संस्कृत-प्राकृतादेर्यौच । प्रकृतेरुत्तम-मध्यमाधमरूपायाः । वृत्तस्य  
आधारस्य, इतिवृत्तस्य वा । आदिशब्दाद् धीरोद्धनवादिधर्माणां नेपथ्यादेर्यौ केनचित्  
प्रयोजनेन लघनमिति क्रमो विधेयः । एतच्च यथायथं क्वचित् किञ्चित् प्रदर्शितमेव ।  
मयं वाभ्यूहमिति ॥ [४२] १६५ ॥

अथ रूपकेषु यो येन नाम्ना व्यवहर्तव्यस्तस्य तदाह—

[सूत्र २६४]—आर्येति शब्दघटे पत्नी लिंगिनी आह्वयिनी द्विजैः ।

अम्बापि जननी-वृद्धे पूज्या तु भवतीत्यपि ॥

[४३] १६६ ॥

घोर वनेमे रहने वाले तथा विट्, देवकुलिका आदिवा ग्रहण होता है । इस प्रकारके पार्श्वकी  
भाषा आनुवृत्त्ये अनुसार अर्थात् जिस तिर्यंगादिवा जो भाषा लोकमें प्रसिद्ध है उसको उसके  
नाम भली प्रकारसे प्रयोग करना चाहिए जिसमें यह वही तिर्यंगादि है यह बात ठीक तरह  
से प्रतीत हो सके । यह [ तिर्यंगादिवा भाषा] घोर देश भाषा दोनों प्रायः अपभ्रंशमे  
प्राप्ती हैं ।

अथ प्रागे भाषा आदिमें परिवर्तन भी हो सकती है यह बात निश्चिताते हैं—

[सूत्र २६३]—भाषा, प्रकृति, वृत्त अर्थात् आधार या कथावस्तु आदिवा कार्यवश बहो  
उत्पादन भी किया जा सकता है । [४२] १६५ ॥

भाषा अर्थात् सरलत घोर प्राकृत आदि वालीका । प्रकृति अर्थात् उत्तम, मध्यम,  
अधम रूप प्रकृतिका । वृत्त अर्थात् आधाररूपका अथवा कथावस्तुका । आदि शब्दने धीरोदात्त-  
त्वादि धर्मोंका अथवा नेप-भूवादिका किसी विधेय प्रयोजनसे लङ्घन किया जा सकता है इस  
प्रकारका [क्रम अर्थात्] धक्का करना चाहिए । इस बातका बहो बहो कुछ वर्णन किया जा  
चुका है । अथवा स्वयं समझ लेना चाहिए ॥ [४२] १६५ ॥

अथ रूपकेमें जिसको जिस नामसे पुकारा जाना चाहिए उसके उस नाम आदिवा  
वर्तमाने हैं—

[सूत्र २६४]—आह्वयिनी द्वारा पत्नी, परिवर्तिनी घोर आह्वयिनी 'आर्या' इस नामसे  
बहो जानी है । माता घोर वृद्धा स्त्री [आर्या] शब्दसे तो बहो ही जानी है किन्तु उसके  
परिवर्तिन [अम्बा] भी बहो जानी है । वृद्धा स्त्री [म्री आर्या] तो बहो ही जानी है उसके  
परिवर्तिन [भवती] इस शब्दसे भी बहो जानी है । [४३] १६६ ॥

भ्रात्राग्रजोऽधमैर्मन्त्री नटी-सूत्रभृतौ मिथः ।

पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां य पत्नी पत्न्या जरन् पतिः

॥ [४४] १६७ ॥

‘आर्यशब्द’ इत्यन्तो अविवाचितलिंग-संख्या-कारकः शक्तिस्वरूपमात्रेण ग्रहणार्थमुपात्तः । तेन नानालिंग-संख्या-कारकेषु प्रयुज्यते । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । पत्नी सधर्मचारिणी । अम्बापीति न केवल ‘आर्या’ शब्देन किंतु ‘अम्बा’ शब्देनापि जननी-पृष्ठे उच्येते । पूज्या मान्या । सा चात्रेपद् वृद्धा सती, ‘भवति’ इति शब्देन ‘आर्या’ शब्देन च वाच्या ।

भ्रात्रा अनुजेन अग्रजो ज्येष्ठो भ्राता, अधमैर्हिनैः मन्त्रो राक्षः सचिवो नटी-सूत्रधारौ मिथः परस्परं नट्या सूत्रधारः सूत्रधारेण च नटी, पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां कर्तृभ्यां पत्नी, पत्न्या च कर्त्र्या वृद्धः पतिः ‘आर्य’ इति शब्दते इति सर्वधः । ‘आर्येति शब्दते पत्नी’ इत्यनेनैव सिद्धेऽपि ‘पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी’ इति यौवनेऽपि ‘आर्या’ इति वा निर्वधनार्थम् ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

[ छोटे भाईके द्वारा ] बड़े भाईको [ आर्य शब्दसे भी कहा जाता है और उसके प्रतिरिक्त ] भ्राता [ भी कहा जाता है ] नीच पात्रोंके द्वारा भन्त्रीको [ भी आर्य ] और नटी तथा सूत्रधार परस्पर एक-दूसरेको [ आर्य तथा आर्या ] और पुरोहित तथा सार्थवाहके साथ [ यौवनस्थामें ] पत्नी [ आर्या ] तथा पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [ आर्य शब्द कहा जाता है ] । [४४] १६७ ।

[ आर्येति इस कारिकाभागमें ] इति शब्द जिसके अन्तमें दिया गया है इस प्रकारका आर्य शब्द लिंग, सख्या, कारक आदिसे रहित शक्तिके स्वरूपमात्रसे ग्रहण किया गया है । इसलिये विभिन्न लिंग, सख्या तथा कारकोमें उसका प्रयोग माना जाता है । इसी प्रकार अन्य शब्दोंके विषयमें भी समझना चाहिए । [ अर्थात् अम्बा, भवती आदि शब्द भी नियत सख्या, नियत कारक आदिके प्राहक न होकर सामान्य रूपसे ही पढ़े गए हैं ] । पत्नीका अर्थ सधर्मचारिणी है । ‘अम्बापि’ इसमें जननी तथा वृद्धाके न केवल ‘आर्या’ शब्दसे ही नहीं अपितु ‘अम्बा’ शब्दसे भी कही जाती है । पूज्या अर्थात् मान्य । वह कुछ थोड़े वृद्धा होनेपर ‘भवती’ इस शब्दके द्वारा तथा ‘आर्या’ शब्दके द्वारा सम्बोधित की जाती है ।

भाई अर्थात् छोटे भाई द्वारा बड़े भाईको [ आर्य शब्दसे ], तथा नीच पात्रोंके द्वारा भन्त्री अर्थात् राजाके सचिवको [ आर्य कहा जाता है ] तथा नटी और सूत्रधार एक-दूसरेको परस्पर अर्थात् नटीकेद्वारा सूत्रधारको [ आर्य ] तथा सूत्रधारकेद्वारा नटीको [ आर्या सम्बोधन किया जाता है ] । पुरोहित तथा सार्थवाह रूप प्रयोगकर्ताओंके द्वारा पत्नी [ आर्या ] कही जाती है । और पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [ आर्य रूप पदसे सम्बोधित किया जाता है । ‘आर्येति शब्दते पत्नी’ इति १६६वें कारिकाके प्रारम्भिक भाग ] से ही [ पत्नीके लिए आर्या शब्दके प्रयोगके ] सिद्ध होनेपर भी ‘पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी’ इसमें [ जो पत्नीको आर्या पदसे सम्बोधित किए जानेकी बात दुबारा कही गई है ] वह [ पुरोहित तथा सार्थवाहकेद्वारा ] यौवनावस्थामें भी पत्नीको ‘आर्या’ कहकर ही सम्बोधित करना चाहिए इस बातको सूचित करनेकेलिए कही गई है ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६५]—महाराजो नृपः सर्वस्त्वार्यपुत्रेति योवने ।

पुंसा भद्रेति भोक्तव्या प्रियेति दयितायवा ।

॥ [४५] १६८ ॥

पिता-पुत्राभिधायोर्गमुं स्या देव्यपि राजभिः ।

विदूषकेण भवती राज्ञी-चेत्यो नृपस्त्रियः ॥

॥ [४६] १६९ ॥

भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदः ।

वेश्या ऽञ्जुकेति वृद्धा तु साऽस्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥

॥ [४७] २०० ॥

‘पत्न्या’ इति ‘जरन्’ इति चानुवर्तते । पत्न्या जरन्नृपो ‘महाराज’ इति । सर्व-  
म्मु नृपोऽन्यस्य पतिर्योगेने वर्तमान ‘आर्यपुत्र’ इति पत्न्या कीर्यते । आर्यपुत्र इति’  
हि ग्वशुरेण व्यपदेशो यौवनस्य शृङ्गारोचितत्वव्यापनार्थः । यौवनादन्यत्र तु ‘आय

[इसी विषयमे प्रागे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६५]—[पत्नीके द्वारा वृद्ध] राजाको महाराज [कहकर सम्बोधन करना चाहिए] तब राजा और अन्य [सामान्य रूपसे राजा तथा] पति को पत्नी के द्वारा यौवन कालमें धार्यपुत्र [नामसे सम्बोधित किया जाता है] । भोक्तव्या स्त्रीको पुत्रव [प्रथम परिचयके साथ ] भद्रा [ कहकर ], और दयिता अर्थात् आर्यकी या प्रिय, [कहकर सम्बोधन करें] । [४५] १६८।

अथवा [ दयिता अर्थात् अपनी पत्नीको उसके ] पिता या पुत्रोंके नामकी जोड़कर [रामचन्द्रकी माता अथवा सोमप्रभाकी पुत्री इस रूपसे सम्बोधन किया जाता है] । राजाओं के द्वारा मुख्य अर्थात् पट्टरानीकी [प्रियार्थे अतिरिक्त] देवी भी [कहा जाता है] । विदूषकके द्वारा रानी और चेट्टी [बोनीको भवती परसे सम्बोधित किया जाना चाहिए] । [४६] १६९।

सारी रानियोंकी परिजनोंके द्वारा भट्टिनी, स्वामिनी, देवी इस प्रकार सम्बोधन किया जाना चाहिए [इसमें ‘नृपस्त्रिय’ पर १६९वें श्लोकके अन्तमें आया है उसका अन्वय इस २००वें श्लोकमें होता है] । [यौवनवती] वेश्याकी [उसके सेवकवर्ग] ‘अञ्जुना’ [कहकर सम्बोधन करते हैं] और उसी [वेश्या] के वृद्ध होनेपर ‘अस्ता’ परसे उसको सम्बोधित किया जाता है । और बराबर बाली स्त्रियाँ एव-दूतरेकी ‘हस्ता’ कहकर सम्बोधन करते हैं । [४७] २०० ।

‘पत्न्या’ और ‘जरन्’ ये दोनों पर [१६७ सम्भावनाकी कारिकासे] चतुर्वृत्ति द्वारा आते हैं । इसलिये पत्नीके द्वारा वृद्ध राजाको महाराज [कहकर सम्बोधित किया जाता है] । यह अभिप्राय है । सामान्य रूपसे सारे राजाओंकी [महाराजके अनिरिक्त] धार्यपुत्र [भी कहा जाता है] यौवनावस्थामें वर्तमान पतिकी [पत्नी] धार्यपुत्र कहने जाती है । ‘धार्यपुत्र’ यह नाम श्वशुरके सम्बन्धमें बना है । [और यौवनकालमें इस शब्दका प्रयोग] यौवनसे शृङ्गारो-

इत्येवं कीर्त्यते । भोक्तव्या भोक्तुमभिलाषिता प्रथमपरिचये पुरुषेण स्त्री 'भद्रा' इति, दयिता भार्या पुनर्यौवने 'प्रिया' इति कीर्त्यते । अथवा दयिता पिता-पुत्रयोर्यदभिधानं तद्योगैस्तेन युज्यमानैः शब्दैः 'माठरपुत्रि' 'सोमशर्मजननि' इत्येवमादिभिः पुरुषेणाभाष्या । मुख्या कृताभिषेका दयिता पुनर्देवीति, अपिशब्दात् प्रियेति च राजभिर्बहुवचनादन्यैश्च पुम्भिः । तथा विदूषकेण राज्ञी राजपत्नी चेटी च 'भवति' इति वाच्या । तथा सर्वा अपि नृपस्त्रियो राजपत्न्यः परिजनेन भट्टिनी स्वामिनी देवी इति शब्दैः शब्द्यन्ते । वेश्या पश्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाया नामान्तरविधानात् । परिजनेन 'अञ्जुका' इति । सा इति वेश्या । वृद्धा पुन 'अत्ता' इति । तुल्या समानकुल-शीलवयोऽवस्थादिका यमिता च समानया स्त्रिया 'हला' इति वाच्या इति ॥ [४५-४७] १६८-२००॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६६]—हंजे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये भगवदिति देवता ।

तपःस्था चारुच्यं-देवपि-बहुविद्याः सयोपितः ॥

[४८] २०१ ॥

चित होनेकी सूचना देनेवाला है । यौवनकालको छोड़ अन्य समयमें केवल 'प्राय' पदसे [पत्नी पतिवो सम्बोधित करती है] । भोक्तव्य अर्थात् जिसके साथ पुरुष भोग करना चाहता है उस स्त्रीको प्रथम परिचयके समय पुरुष 'भद्र' कहकर सम्बोधित करता है । और दयिता अर्थात् अपनी भार्याको यौवनकालमें 'प्रिया' पदसे सम्बोधित करता है । अथवा दयिता अर्थात् पत्नीको [उसका पति प्रियाके अतिरिक्त उसके] पिता और पुत्रके जो नाम हो उनके साथ जोड़कर माठरकी पुत्री, सोमशर्मकी माता आदि इस प्रकारके शब्दोंसे सम्बोधित करता है । मुख्या अर्थात् अभिषिक्ता पत्नीको राजा लोग देवी भी कहते हैं । अपि शब्दसे प्रिया भी राजाओंके द्वारा कहा जाता है । बहुवचनसे अन्य पुरुषोंके द्वारा भी [कृताभिषेका रानीको देवी कहा जाता है] । तथा विदूषकके द्वारा राजपत्नी अर्थात् रानी और चेटी दोनोंको 'भवती' पदसे सम्बोधित किया जाता है । और राजाओंकी सभी पत्नियों अर्थात् रानियोंको परिजनवर्ग भट्टिनी, स्वामिनी तथा देवी शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं । वेश्या पदसे यौवनावस्थावाली बाजार स्त्रीका ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि वृद्धा वेश्याओंके लिए [अत्ता इस] दूसरे नाम का विधान किया गया है । [उस यौवनवती वेश्याको] परिजनवर्ग 'अञ्जुका' इस नामसे कहते हैं । 'सा' अर्थात् वही वेश्या वृद्धा हो तो 'अत्ता' पदसे कही जाती है । मुख्या अर्थात् समान कुल, शील, आयु और दशा आदि वाली बराबरवाली स्त्रीको बराबरवाली दूसरी स्त्री 'हला' कहकर सम्बोधित करता है ॥ [४५-४७] १६८-२०० ॥

[इसी विषयमें आगे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६६]—उत्तम प्रकृतिते रहित [अत एव अप्रेष्या अर्थात् दूतों आदिसे रूपसे प्रिये पास न भेजने योग्य] और प्रेष्या दोनोंकी 'हंजे' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । [तत्पत्नी आदि] देवता और तत्पत्नियो स्त्रीको 'भगवतो' शब्दसे कहा जाता है । पुत्र और बहुभुत पुरुषों और उनकी पत्नियों दोनोंको भी भगवत् शब्दसे सम्बोधित करना चाहिए । [४८] २०१ ।

मान्यो नामान्तरं राजा लिङिनाय विदूषकः ।

वयस्यो ऽप्यधमैर्भट्टी लोकदेवेति भूपतिः ॥

[ ४६ ] २०२ ॥

उत्तमप्रकृतिरहिता युवति अप्रेषणीया मती अनुत्तमा, सा, प्रेष्या च 'द्वजे' शब्देन कीर्त्यते । देवता सरस्वत्यादिका । तप म्था व्रताविशेषवती । एते च स्वतन्त्रे, न तु कंचनापि पतिमाधिते । अन्याः पूज्यतमाः । बहुविद्या बहुश्रुताः । एते अन्यादयः सयोपितो भार्याप्येतदीया भगवन्पुण्ड्रदेनोच्यते इत्यर्थः । तथा मान्यः प्रमिदनामपरिहारेण नामान्तरं, प्रशमासूचिभिः अमात्य ! भ्रेष्टिन् ! वत्सराज ! मोमवंशमौक्तिकमण्ये ! इत्यादिभिराभाषणीयः । प्रायिकं चैतन् । तेन चाटुकारादी-उदयने महं शामति यो विषदामयकाशः । इति म्वानाम्नाप्याभाष्यः ।

मान्यादन्यस्तु मध्यमः म्वनामभिर्वाच्यः । नीचस्य सम्भाषणान्तु वक्ष्याम इति । लिङिना च 'राजन्' शब्देन शङ्क्यते भूपति इत्युत्तरेण संबन्धः । उपलक्षणान् 'कीर्य्य' इत्याद्यपत्यप्रत्ययान्तैरपि । विदूषके पुनर्भूपतिः 'वयस्य' शब्देन अपि शब्दान् 'राजन्' शब्देन च । अधमैश्च नीचप्रकृतिभिर्भूपतिः भट्टिन्-शब्देन लोकैश्च उत्तम-मध्यम-अधमप्रकृतिभिर्जनैः भूपतिर्देव शब्देन शङ्क्यते इति ॥ [ ४८-४६ ] २०१-२०२ ॥

माग्य पुरुषोंको [ उनके असतो नामोंको छोड़कर ] अग्य नामोंसे सम्बोधन करना चाहिए । राजाको परिवाजक आदि 'राजन्' पदसे और विदूषक 'वयस्य' पदसे, अधम पुरुष 'भट्टी' पदसे तथा साधारण लोगोंके द्वारा 'देव' पदसे सम्बोधित किया जाता है । [ ४६ ] २०२ ।

उत्तम प्रकृतिसे रहित युवती जो [ दूती आदिसे रूपसे ] भेजने योग्य नहीं है उसको तथा भेजने योग्य स्त्री [ प्रेष्या ] दोनोंको हमें पदसे सम्बोधित किया जाता है । देवता अर्थात् सरस्वती आदि । और तपस्या अर्थात् रिगी विशेष पतके अनुष्ठानमें लगी हुई । ये दोनों स्वतन्त्र हो किसी कतिसे आश्रित न हो तब [ भगवन् पदसे बोले जाते हैं ] । अर्वाचीय अर्थात् अगस्त्य पूज्य, और बहुविद्या अर्थात् बहुभूत पूज्य ये अर्वाच्य आदि 'गयोपित' अर्थात् अर्वाचीय पतिपौत्र रहित, अर्थात् उनकी पत्नी भी 'भगवन्' शब्दसे संबद्ध होती है । यह धर्मप्राप्त है । और माग्य जनोंके प्रतिष्ठ नाम छोड़कर प्रशमासूचक रूपसे नामोंसे सम्बोधित किया जाता है । जैसे अमात्य, भ्रेष्टिन्, वत्सराज, अष्टवदशके मोक्षितकमलि । इत्यादि [ उप-नामों ] के द्वारा सम्बोधित किया जाना चाहिए । यह वयस्य प्रायिक है [ अर्थात् प्रायः अपि-तर इस प्रकारके नामोंसे सम्बोधित करना चाहिए ] इसलिये चाटुकारिता आदि [ सुतापर आदि ] के समान मत्सराज उदयनके राज्यमें विपत्तियोंका अवसर नहीं था सचता है । इत्यादि में अपने प्रतिष्ठ नाम द्वारा भी सम्बोधन किया जा सकता है ।

माग्यको छोड़कर अग्य अर्थात् अगस्त्य लोगोंको उनके प्रतिष्ठ नामोंके द्वारा ही सम्बो-धित करना चाहिए । मोक्षके लिये सम्बोधित पदोंको धारण करेंगे । परिवाजक आदि निग-धातियोंके द्वारा राजाको राजन् पदसे सम्बोधित किया जाता है यह अपने आपसे स्पष्ट साहचर्य है । [ राजा पदसे ] उदयनस्य रूप होनेसे कीर्य्य आदि अग्यवाचक प्रायस्य दिनके अगम्य हो इस प्रकारके रूपोंके द्वारा भी [ राजाको सम्बोधित किया जा सकता है ] । विदू-



किञ्च—

[सूत्र २६७]—मित्राख्याभिर्विदू राज्ञा कुमारो भर्तृदारकः ।

मुनि-शाक्यौ भदन्तेति स्वप्रसिद्ध्याऽपरो व्रती ॥

[५०] ३०३ ॥

सूत्री भावोऽनुगेनासौ तेन मार्यः समः सखा ।

शिष्यात्मजानुजाः पुत्र-वत्सौ तातो जरन्मपि ॥

[५१] २०४ ॥

सौम्यो भद्रमुखश्चेति नीचो हण्डे तु पामरैः ।

येन कर्मादिना यस्तु ख्यातः स तदुपाधिकः ॥

[५२] २०५ ॥

वयस्य-सखीत्यादयो मित्राख्या । ताभिर्विदूषको राज्ञा सम्बोध्य । सूत्रवान्च 'विदू' इत्येकदेशनिर्देशो न विरोधी । कुमारो युवराज कौमारो वयसि वर्तमानोऽन्यो वा एष भर्तृदारक इति, भर्तृदारको वा 'कुमार' इत्यभिधातव्य । एवं कुमार्यपि पक्षोके द्वारा राजाको 'वयस्य' कहकर और अपि शब्दसे 'राजन्' इस पदसे भी सम्बोधित किया जा सकता है । अथर्थात् नीच प्रकृति बालोके द्वारा राजाको 'भट्टी' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतिके सामान्य लोगोंके द्वारा राजाको 'बैय' कहकर सम्बोधित किया जाता है ॥ [४८-४९] २०१ २०२ ॥

और भी [इसी विषयमें आगे कहते हैं]—

[सूत्र २६७]—राजा विदूषकको मित्र-वाचक पदसे सम्बोधित करता है । स्वामीके पुत्रको कुमार पदसे कहा जाता है । जैन तथा बौद्ध-भिक्षु 'भदन्त' पदसे सम्बोधित होते हैं । अन्य व्रती [सपत्नी] लोग अपने अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधित होते हैं । [५०] २०३ ।

सूत्रधारको उत्तका अनुचर 'भाव' शब्दमें पुकारता है । और वह अर्थात् सूत्रधार उता [अनुचर]को 'मार्य' कहकर सम्बोधित करता है । बराबर बालेको 'सखा' कहकर और शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको क्रमशः पुत्र, वत्स तथा तात कहकर सम्बोधित किया जाता है । तात शब्दसे बृद्ध जनको भी सम्बोधित किया जाता है । [५१] २०४ ।

नीच पुरुषको [मध्यम तथा उत्तम पुरुषोंके द्वारा] सौम्य भद्रमुख कहकर और नीचों के द्वारा [नीचको ही] हंडे कहकर सम्बोधित किया जाता है । और जिम वार्यके द्वारा जिसको प्रसिद्धि है उस वार्यको करने वाला उस उस पदसे सम्बोधित किया जाना चाहिए । [५२] २०५ ।

वयस्य, सखा इत्यादि मित्र-वाचक पद हैं । उनके द्वारा राजा विदूषकको सम्बोधित करता है । [इन कारिकाओंके] ग्रन्थ होनेसे इसमें [विदूषक इस पुरे पदसे स्वानपर] 'विदू' इस [प्राये] पदके प्रयोगमें कोई विरोध नहीं आता है । कुमार अर्थात् कौमारावस्थामें वर्तमान युवराज । अथवा स्वामीके धर्म पुत्र को 'भर्तृदारक' कहा जाता है । अथवा स्वामी

द्रष्टव्या । सुनिर्निर्ग्रन्थक, शास्त्र्यः मौगतः, एतौ भदन्तेति । अपरः पाशुपतादिमती  
रसमयप्रसिद्धनामभिर्वाच्यः । यथा पाशुपतस्य भाष्ये 'भामर्बज्ञ' इत्यादि सम्भाषणम् ।

तथा सूत्री सूत्रवासे अनुगुणं अनुचरेण कर्त्ता 'भाव'-शब्देन सम्भाष्यः । असौ  
इत्यनुगः सूत्रधारात् किञ्चिन्न्यूनगुणः । तेन सूत्रधारेण 'भार्प' इत्यभिधातव्यः । तथा  
समो वयो ऽवस्था-गुणादिना तुल्यः, समेनैव 'समा' इति वाच्यः । मित्राभिधायिना  
शब्देन सम्भाष्य इत्यर्थः । अनेन च विधानेन समस्य प्रसिद्धम्वनान्ता सम्भाषणं न  
निषिध्यते । असम्भवायोगयोर्व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वस्यापि नामविधानस्य । तेन  
आर्यादिनामविधानेऽपि नान्यशब्देन कीर्तननिषेधः ।

'शिष्यात्मजानुजा' इति शिष्यो दीक्षितोऽप्यापि वा । आत्मजः पुत्रः । अनुजो  
लघीयान भ्राता । एते गुरु-जनन-ज्येष्ठभ्रातृभिः यथार्थं च पुत्रशब्देन पत्न्यशब्देन च  
सम्भाष्याः । तातशब्देन पुनर्जनन्, अपि-शब्दात् शिष्यात्मजानुजारच कीर्तनीयाः ।

तथा नीचप्रकृतिर्मध्यमोत्तमाभ्यां 'सौम्य' इति 'भद्रमुर' इति च शब्दाने ।  
पामरैर्नीचैः पुनर्नीच एव 'हृष्टे'-शब्देन, उपलब्धत्वाद् 'अरे', 'हृष्टो' इत्यादिना च

के पुत्र 'भर्तृ'धारक' को 'कुमार' कहा जाता है । इसी प्रकार कुमारीके लिए भी [भर्तृ'धारिका  
पदवा प्रयोग] समझना चाहिए । मुनि अर्थात् दिगम्बर, जैन और शाक्य अर्थात् बौद्ध-भिक्षु ।  
इन दोनोंको 'भदन्त' इस पदसे सम्बोधित किया जाता है । पाशुपतादि अन्य सम्प्रदायोंके साधु  
अपने-अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधित होते हैं । जैसे पाशुपत साधुके लिए भा-शब्द  
को पहले लगाकर 'भा-मर्बज्ञ' आदि सम्बोधन किया जाता है ।

और दूसरी अर्थात् तत्प्रधारको अनुग अर्थात् उससे किञ्चित् ग्यून गुण वाले  
अनुचरके द्वारा 'भाव' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । और 'असौ' अर्थात् अनुचरको जोकि  
सूत्रधारसे किञ्चित् ग्यूनगुण वाला होता है सूत्रधार द्वारा 'भार्प' शब्दसे सम्बोधित किया  
जाता है । और बराबर वाले अर्थात् साधु, श्रद्धा और गुणारविमें अथवा समान व्यक्ति को  
बराबर वाला व्यक्ति 'समा' कहकर अर्थात् मित्र-भाषक पदोंसे सम्बोधित करता है । इस  
विधानके द्वारा बराबर वालेको उससे प्रसिद्ध नामसे सम्बोधित करनेका निषेध नहीं किया  
जा रहा है । इन सारे सम्बोधन-प्रकारोंके विधानका प्रयोजन असावध [अर्थात् सावधानायोग]  
और अयोग-व्यवच्छेद करना ही है, इसलिये 'भार्प' आदि नामोंके विधानसे भी अन्य शब्दोंके  
द्वारा सम्बोधित करनेका निषेध नहीं है ।

'शिष्यात्मजानुजा' इसमें शिष्य अर्थात् जिसकी दीक्षा दी हो अथवा पढ़ाया हो ।  
आत्मज अर्थात् पुत्र । और अनुज अर्थात् छोटा भाई । इनको [जन्म] गुरु, पिता और बड़े  
भाईके द्वारा 'पुत्र' शब्दसे और 'असौ' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । 'तात' शब्दसे  
[शिष्य, पुत्र और छोटे भाईको तो सम्बोधित किया हो जाता है किन्तु इनके प्रतिस्तरित] बृद्ध  
जन्योंको भी सम्बोधित किया जाता है । 'अरे' शब्दसे शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको भी 'तात'  
शब्दसे सम्बोधित किया जाता है ।

और बीच इहति आनेको उत्तम तथा मध्यम लोग 'सौम्य', और भद्रमुर  
कहकर पुकारते हैं । पावरी अर्थात् मोर्बोह द्वारा बीच पुरवको ही 'हृष्टे' शब्दसे और इनके  
उत्तमश्रेणमें रूप होतेके 'अरे', 'हृष्टो' आदि शब्दोंसे भी पुकारते हैं । 'देन' अर्थात् जिस वयं

वाच्य । येनेति कर्म वाणिज्य-कृषि पशुपाल्य-गीत-नृत्य-वाद्यवादन-चित्र-राजसेवा-  
शस्त्र-श्रमादिव्यापारः । आदिशब्दात् जाति कुलादिग्रहः । येन केनचित् कर्मादिना य-  
कञ्चित् प्रसिद्धः स तेन कर्मादिनोपाधिना शब्दप्रवृत्तिनिमित्तेन संकीर्तनीय । यथा  
गाधिरुः ताम्बूलिक, कृषीवल, पशुपालो, गोपालो, गांधर्वचित्रकर, सेवक, वैद्य,  
क्षत्रियो, ब्राह्मण इत्यादि । तथा स्वयं वा यत् कल्प्यते तदपि कर्माद्यनुरूप्येणैवेति ॥  
[५०५२] २०२-२०५ ॥

अथ कल्पनीयानाम्नां कल्पनाप्रकारमाह—

[सूत्र २६८]—शूरे विक्रमसंसूचि कल्प्यं नामाथ वाणिजे ।

दत्तान्तं प्रायशो विप्रे गोत्रकर्मानुरूप्यतः ॥

[५३] २०६ ॥

नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनान्तं पणयोषिति ।

पुष्पादिवाचकं चेट्यां चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥

[५४] २०७ ॥

शूरे सत्त्वप्रधाने पुरुषे विग्रमस्य शौर्यस्य संसूचकं नाम कल्पनीयम् । यथा

अर्थात् वाणिज्य, कृषि, पशु पालन, गीत, नृत्य वाद्य-वादन, चित्ररचना, राजसेवा, शस्त्र और  
श्रमादि व्यापारसे [जो प्रसिद्ध हो उसको उस उपाधिके द्वारा सम्बोधित किया जाता है]  
आदि शब्दसे जाति, कुल आदिका ग्रहण होता है । जिस किसी कर्म आदिसे जो कोई  
प्रसिद्ध हो उसको उस कर्म सूचक उपाधि आदिके द्वारा अर्थात् उस उपाधिको नाम शब्दका  
प्रवृत्ति-निमित्त मानकर सम्बोधित करना चाहिए । जैसे [इतर, कुल आदिका व्यापार करने  
वालेको] गाधिरु, [पान बेचने वालेको] ताम्बूलिक, [सेतो करनेवालेको] किसान, [नृत्य पालने  
वालेको] श्रुपाल [गायिका पालन करने वालेको] गोपाल [संगीतसे जीविकीपार्जन करने वाले  
को] गाधर्व, [चित्ररचनाका कार्य करने वालेको], चित्रकर [नौकरीवेत्ताको] सेवक, वैद्य,  
क्षत्रिय, ब्राह्मण इत्यादि [ये सब कर्म-निमित्तक सम्बोधन-पद कहलाते हैं] । और जिन नामोंकी  
स्वयं कल्पना की जाए वे भी कर्म आदिके अनुरूप ही होने चाहिए ॥ [५०-५२]  
२०३-२०५ ॥

जब आगे कल्पित किए जाने वाले नामोंकी कल्पना करनेके प्रकारको कहते हैं—

[सूत्र २६८]—शूर-वीरके लिए पराक्रम सूचक नामकी कल्पना करनी चाहिए ।

वर्णिका नाम ऐसा रखना चाहिए जिसके अन्तमें दत्त आता हो और ब्राह्मणका नाम गोत्र  
एवं कर्मके अनुरूप रखना चाहिए । [५३] २०६ ॥

राजाकी रानीका शुभ-सूचक नाम कल्पित करना चाहिए । देश्याशोके नाम ऐसे  
रखने चाहिए जिनके अन्तमें 'दत्ता' या 'सेना' पद आते हों । चेटोके नाम फल आदिसे ऊपर  
रखने चाहिए । और चेटका नाम किसी मंगल-वस्तुका सूचक कल्पित करना चाहिए ।  
[५४] २०७ ॥

शूर अर्थात् पराक्रम-प्रधान पुरुषकेलिए विग्रम अर्थात् पराक्रमके समूचक नामकी  
कल्पना करनी चाहिए । जैसे भोमपराक्रम अरिमर्दन आदि । क्षत्रियोके लिए प्राय अर्थात्

भीमपराक्रमोऽरिमर्दन इत्यादि । घाणिजे, पुनः प्रायशो बाहुल्येन दत्तशब्दान्तं नाम विधेयम् । यथा समुद्रदत्तः सागरदत्त इत्यादि । प्रायोवचनाद् धनपतिरित्यादि । विप्रे तु गोत्र-कर्मणोरानुरूप्येण नाम कल्पनीयम् । यथा शांडिल्यो गार्ग्यायण इत्यादि । आधर्बणिकः सामको अग्निहोत्रिय इत्यादि । प्रायोवचनादग्निशर्मा सोमशर्मा इत्यपि ।

तथा नृपस्त्रियां शुभं शुभसंसूचकं नाम कर्तव्यं । यथा मुलक्षणा विजयवती इत्यादि । पण्योपिति वेश्यायां पुनर्दत्ताशब्दान्तं सेनाशब्दान्तं च नाम करणीयम् । यथा देवदत्ता, वसन्तसेना । प्रायोग्रहणाद् विदग्धमित्रा वसन्तग्रीरित्यादि । तथा चेट्यां प्रेप्यायां योपिति मालिनी मल्लिका इत्यादीनि पुष्पवाचकानि, आदिशब्दान् चूलतिका प्रियंगुमंजरी इत्यादीनि च नामानि कल्पनीयानि । चेटे प्रेपणीयपुरुषे पुनः मंगलं मंगलकारणं यन्तु कीर्त्यते शक्यते येन नाम्ना तन् मिथार्थकृत्यादि सिद्धिं नेयम् । एवमन्यदप्यत्र उत्तम-मध्यम-अधमपात्राणां प्रयोजनानुसारतो नाम रूपकेषु कीर्तनीयमिति ॥ २०६-२०७ ॥

तदेवं नाटकादीनि धीर्ध्यतानि द्वादश रूपाणि सप्रपञ्चं लक्षितानि ॥

अन्यान्यपि रूपकाणि दृश्यन्ते । यदाहुः—

अधिकतर 'वत्स' शब्द जिसके अंतर्गत हो इस प्रकारके नामकी कल्पना करनी चाहिए । जैसे समुद्रवत्स, सागरवत्स इत्यादि । प्रायः शब्दका ग्रहण होनेसे [वत्सगत नामोंको छोड़कर अन्य प्रकारके नामभी बनियोगे रखे जा सकते हैं] जैसे धनपति इत्यादि । बाहुल्यके नाम, गोत्र और कर्मके धनुरूप कल्पित करने चाहिए । जैसे शाण्डिल्य, गार्ग्यायण [ये दोनों नाम गोत्र-परक हैं] और आधर्बणिक, सामक, अग्निहोत्रिय इत्यादि [ये तीनों नाम कर्मके आधारपर बनाए गए हैं] ।

राजाकी स्त्रीके लिए शुभ अर्थात् मंगलका सूचक नाम कल्पित करना चाहिए । जैसे मुलक्षणा या विजयवती इत्यादि । पण्योपिति अर्थात् वेश्याके लिए वत्स शब्द या सेना शब्द जिसके अंतर्गत इस प्रकारके नामकी कल्पना करनी चाहिए । जैसे देवदत्ता, वसन्तसेना इत्यादि । प्रायः शब्दके ग्रहणमें [वत्सगत तथा सेनागत नामोंको छोड़कर] विदग्धमित्रा वसन्तग्री इत्यादि [नाम भी वेश्याओंके रखे जा सकते हैं] । चेटो अर्थात् जिसकी [प्रियके पास दूती आदिसे रूपमें संवेष्टा देकर] भेजा जा सके इस प्रकारकी [विश्वस्तसेविद्या] स्त्रीके लिए मालिनी, मल्लिका इत्यादि पुष्पवाचक, और आदि शब्दसे चूलतिका, प्रियंगुमंजरी इत्यादि नामोंकी भी कल्पना की जा सकती है । और चेटे अर्थात् भेजे जा सकने योग्य पुरुषके लिए मंगल अर्थात् मंगलजनक वस्तुका जिस शब्दसे कथन कृत हो इस प्रकारका नाम कल्पित करना चाहिए । जैसे सिद्धार्थक आदि नाम बनाने चाहिए । इसी प्रकार यहाँ रूपकोंमें प्रयोजनके अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रोंके नाम रखने चाहिए । [२१-२४] २०६-२०७ ॥

इस प्रकार नाटकसे लेकर बीबी-पर्यन्त बारह प्रकारके रूपकोंका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ तक कर दिया गया है ।

[इन बारह प्रकारके रूपकोंके प्रतिरिक्त] अन्य रूपक भी पाए जाते हैं । जैसा कि पागे कहते हैं—

[सूत्र २६६-१]—विष्कम्भक-प्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति ।

अप्राकृत-संस्कृतया स सट्टको नाटिका ॥५५॥

[२]—श्रीरिच दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलांगना पत्युः ।

वर्ययति शौर्य-धैर्यप्रभृति गुणानग्रतः सख्याः ॥

पत्या च विप्रलब्धा मातव्ये तं क्रमादुपालभते ।

‘श्रीगदित’मिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥

॥५६॥

[१] सट्टक—

विष्कम्भक तथा प्रवेशकरे रहित, प्राकृत-रहित केवल एक भाषामें [अर्थात् सट्टक भाषा वासा प्राकृतसे रहित और प्राकृत वासा मसूक्तसे रहित] आया गया, नाटिकामें सट्टक रूपक ‘सट्टक’ नामसे कहा जाता है ॥ १ ॥

साहित्य-दर्पणकारने सट्टकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

सट्टकं प्राकृतारोपपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।

न च विष्कम्भोऽप्यत्र प्रचुरश्चादमुतो रसः ॥ २७६ ॥

अंका जयनिकाग्याः स्युः स्यादन्यत्राटिकासमम् ।

यथा कपूर्वमंजरी ।

साहित्यदर्पणकारने अनुसार सट्टकमें सारा पाठ्य भाग केवल प्राकृत भाषामें लिखा जाता है, किन्तु नाट्यदर्पणकारके अनुसार सट्टक या प्राकृत किसी भी एक भाषामें लिखा जा सकता है । जो मट्टक प्राकृत भाषामें लिखा जाए वह मसूक्त भाषामें रहित हो और जो सट्टकमें लिखा जाए वह प्राकृत भाषामें रहित हो । यह नाट्यदर्पणकारने अप्राकृत-संस्कृतया एकभाषया भवति’ का अभिप्राय प्रतीत होता है ।

[२] श्रीगदित—

इसमें भी जहाँ वनवप्रभु अर्थात् बिष्णुकी पत्नी लक्ष्मीके समान कोई कुलांगना अपने पतिके शौर्य, धैर्य आदि गुणोंवा सखीके सामने बखान करती है ।

और पनिके द्वारा ठगी जानेपर किसी गीतमें उसको उपात्मक देती है उसको बिद्वानोंने ‘श्रीगदित’ कहा है । और वह [पदार्थोंका अभिनय न होकर केवल] पदाभिनयानक होता है ॥ ५६ ॥

साहित्यदर्पणकारने ‘श्रीगदित’ का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्रत्याप्तवृत्तमेकाकं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

प्रसिद्धनायिकं गर्म-विमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २६३ ॥

भारतीवृत्तिवहुलं श्रीविशब्देन संकुलम् ।

मत्तं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपलक्ष्यम् ॥ २६४ ॥

श्रीरासीना श्रीगदिते गायन् किञ्चिन् पठेदपि ।

एकाको भारतीप्राय इति केचिन् प्रचक्षते ॥ २६५ ॥

[३]—चौर्यरत्नप्रतिभेदं धूनोरनुरागवर्णनं चापि ।  
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल वृत्तिका रहसि ॥  
मन्त्रयति च तद्विषयं न्यगजातित्वेन याचते च वसु ।  
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति 'दुर्मलिता' नाम सा भवति ॥१७॥

[४]—प्रथमानुराग-मान-प्रवास-शृङ्गारसश्रयं यत् स्यात् ।  
प्रावृद्ध-वसन्तवर्णनपरमन्यद् वापि सौत्कण्ठम् ॥  
अन्ते वीररसाद्यनिबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।  
प्रस्थानमिति युज्यते प्रवासमुपलक्षयत् सुधियः ॥१८॥  
नृत्यच्छिन्नानि गण्डान्यपमारा ॥ ५८ ॥ २१॥

[३] दुर्मलिता—

जिसमें कोई वृत्ती एकान्तमें ग्राम्य [ग्रामीर] कथाओं द्वारा युष्क और युष्कतिपोंके प्रेमका वर्णन और उनके चौर्यरत्नका प्रकाशन करती है : उसको विषयमें सत्ताह करती है नीच जातिकी होनेसे धन मांगती है । धनके मिल जानेपर भी और अधिक धन चाहती है उसको 'दुर्मलित' नामक रूपक कहा जाता है ॥ १७ ॥

साहित्यदपणकारने 'दुर्मलिता' के स्थानपर दुर्मलिनका आदि नामका प्रयोग किया गया है और उनका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

दुर्मल्ली चतुर्का स्यात् कैशिकी भारतीयुता ।  
अगर्भा नागर-नरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥  
त्रिनालि प्रथमोऽङ्गोऽस्या विदम्भीडामयो भवेत् ।  
पंचनालिद्वितीयोऽङ्गो विदुषकरिलासरान् ॥ ३०४ ॥  
षण्णालिकम्बुतीयस्तु पीठमर्कटिलामवान् ।  
चतुर्थो दशनालि स्यादेव प्रीडितनागर ॥ ३०५ ॥

[४] प्रस्थान—

प्रथम अनुराग मान, प्रवास, शृङ्गाररससे युक्त वर्णन और वस तबे वर्णन, अथवा और भी उल्लेख्य प्रदर्शक सामग्रीसे परिपूर्ण, अन्तमें वीररत्न द्वारा निबद्ध किया गया और चार अपसार [अर्थात् नृत्य द्वारा छिन्न होनेवाले खण्डों] के विरचित [अपवर्णनभेदको] विद्वान् लोग प्रवासके सूचक 'प्रस्थान' इस नाम से कहते हैं ॥ ५८ ॥

नृत्यके द्वारा छिन्न होनेवाले [रूपके] खण्डोंको अपसार कहते हैं ।

'प्रस्थापक' का लक्षण साहित्यदपणकारने निम्न प्रकार किया है—

प्रस्थाने नायको दामो ह्यन स्यादुपनायक ।  
दामी च नायिका वृत्ति कैशिकी भारतीयुता ॥ २८० ॥  
सुरापानममायोगादुद्विष्टार्थम्य मंहति ।  
अंकी द्वौ लयतालादिर्विलामो बहुलमथा ॥ २८१ ॥

[ ५ ]—गोष्ठे यत्र विहरतश्चेष्टितमिह फेडभद्विषः किञ्चित् ।

रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥ ५६ ॥

[ ६ ]—यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत् प्राहुः ।

तत्रैको नेता स्याद् गोपस्त्रीणामिव मुरारिः ॥ ६० ॥

[ ७ ]—यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।

तन्मर्तकं शम्भा लास्यच्छलितद्विपद्यादि ॥ ६१ ॥

किन्नरविषयं लास्यं नृत्तं शम्भा । शृङ्गाररसप्रधानं लास्यम् । शृङ्गार-वीर-रौद्रादिप्रधानं छलितम् । द्विपद्यादयः छन्दोभेदाः ॥

[ ८ ]—रथ्या-समाज-चत्वर-मुरालयादौ प्रवर्त्यन्ते बहुभिः ।

पात्रविशेषैर्यत् तत् प्रेक्षणकं कामदहनादि ॥ ६२ ॥

[ ५ ] गोष्ठी—

जिसमें गोष्ठमें विहार करनेवाले कृष्णके रिष्टासुरब्रह्म आदि जैसे किसी व्यापारका प्रदर्शन किया जाय उसको 'गोष्ठी' कहते हैं ॥ ५६ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'गोष्ठी' का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।

नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥

हीना गर्भ-विमर्शाभ्यां पंच-पङ्क् योपिदन्विता ।

काम-शृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

[ ६ ] हल्लीसक—

स्त्रियोंका जो मण्डलाकार बनाकर नाचना है उसको 'हल्लीसक' कहते हैं । गोपियोंके बीच कृष्णके समान उसमें एक नायक होता है ॥ ६० ॥

साहित्यदर्पणकारने हल्लीसकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

हल्लीसक एक एवाङ्क सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।

वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला ॥

मुख्यान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

[ ७ ] शम्भा—

सभामें नर्तकी ललित लयके साथ जिसके पदार्थोंका अभिनय करती है उस नृत्यको शम्भा, लास्य, छलित, द्विपदी आदि नामोंसे कहते हैं ॥ ६१ ॥

किन्नरोंके नाचको 'शम्भा' कहते हैं । शृङ्गाररस प्रधान नृत्त 'लास्य' कहलाता है । शृङ्गार, वीर और रौद्रादि प्रधान नृत्तको 'छलित' कहते हैं । 'द्विपदी' आदि [उन नृत्तोंमें गाए जानेवाले] छन्दोंके भेद होते हैं ।

[ ८ ] प्रेक्षणक—

गलीमें, समानमें, चौराहेपर अथवा मत्तशाला आदिमें बहुतसे विशेष प्रकारके पात्रों के द्वारा जिसका प्रदर्शन किया जाय उस [नृत्यविशेष] को 'प्रेक्षणक' कहते हैं । जैसे वाम-दहन आदि [प्रेक्षणकके उदाहरण] ॥ ६२ ॥

- [६]—षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिका, ।  
 पिण्डीवन्धादिविन्यासः रासकं तदुदाहृतम् ॥  
 पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।  
 भेदनाद् भेद्यको जातो, लताजालापनोदतः ॥६३॥
- [१०]—कामिनोभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत् तु नृत्यते ।  
 रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥६४॥

साहित्यदर्पणकारने 'प्रेक्षणम्' के स्थानपर 'प्रेक्ष्यम्' नामका प्रयोग किया है और उसका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

गर्भविमर्शरहितं प्रेक्ष्यं हीननायकम् ।  
 असूत्रधारमेकाकमविष्कम्भ - प्रवेशकम् ॥ २८६ ॥  
 नियुद्धसम्प्रेत्युत सर्ववृत्तिममाश्रितम् ।  
 नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररेचना ॥ २८७ ॥

[६] रासक—

जिसमें सोलह, बारह वा आठ स्त्रियाँ [नायिकाएँ] पिण्डीवन्ध आदिकी रचना द्वारा नाचती हैं उसको 'रासक' कहा जाता है ।

[नाचने वालियोंके] एक साथ इकट्ठे हो जानेको पिण्डी कहते हैं । एक-दूसरेके गुंघ-  
 कर [नाचन] श्रुतता कहलाती है । [पूर्व गुम्फित] लताजालको तोड़कर अलग हो जानेको  
 भेद्यक कहते हैं ॥ ६३ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'रासक'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

रासकं पंचपात्रं स्यान् मुख्य-निर्वहणान्वितम् ।  
 भाषा-विभाषाभूषिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥  
 असूत्रधारमेकाकं सग्रीध्वंगं कलान्वितम् ।  
 श्लिष्टनान्दीयुतं व्याप्तनायिकं मूर्धननायकम् ॥ २८९ ॥  
 उदात्तभाषाविन्यासमश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।  
 इह प्रतिमुखमन्धिमपि कैचिन् प्रचक्षते ॥ २९० ॥

[१०] नाट्य-रासक—

वसन्त आदि[उष्मावक] ऋतुओंके स्थानपर स्त्रियोंके द्वारा रागादिके आवेगमें की राजाओं  
 के चरित्रका मृग्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको 'नाट्य-रासक' कहा जाता है ॥ ६४ ॥

साहित्यदर्पणकारने नाट्यरासकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

नाट्यरासकमेकाकं यदुत्थालयम्विति ॥ २९७ ॥  
 उदात्तनायकं तद्वर्त्योदमर्दीपनायकम् ।  
 द्वायोद्धत्यत्र मष्टद्वागे नारी वामरुमग्निजा ॥ २९८ ॥  
 मुग्धनिर्वहणे मग्धी भाम्यांगानि दशाऽपि च ।  
 कैचिन् प्रतिमुखं सन्धिमिह मेन्दन्ति केचन ॥ २९९ ॥



[११]—आक्षिप्तिकाय वर्णो मात्राध्रुवकोऽप्यभग्नतालश्च ।

पद्धतिका छन्दनिका यत्र स्युस्तदिह काव्यमिति ॥६५॥

[१२]—हरि-हर-भानु-भवानो-स्कन्द-प्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः ।

उद्धत-करणप्रायः स्त्रीवर्जो वर्णनायुक्तः ॥

यदि चैव शुद्धवाचा शुद्धः संकीर्णमा च संकीर्णः ।

सर्वाभिर्भाषाभिचित्रैश्च विचेष्टितैश्चित्रः ॥

अपमुद्धतोऽय ललितो भाणो ललितोद्धतश्च सम्भवति ।

अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयसत्त्वाच्च ॥६३॥

[१३]—यद् दुष्करमभिनेयं चित्रं चात्युद्धृतं च सम्भवति ।

तद् भाणके ऽभिनेयं युतमनुतालं वितालंश्च ॥

प्रायो हरिचरितयुतः स्त्रीकृतगायादिवर्णमाश्रयश्च ।

सुकुमारतः प्रयोगाद् भाणो ऽपि हि भाणिका भवति ॥६३॥

इत्यादीनि ॥ ६३ ॥

[११] काव्य—

जिसमें आक्षिप्तिका, वर्ण, मात्रा, ध्रुव और न दूटनेवाला ताल, पद्धतिका और छन्दनिका जिसमें हो उसको 'काव्य' कहते हैं ॥ ६५ ॥

[१२] भाण—

विष्णु, महादेव, सूर्य, पार्वती, स्कन्द और प्रमथाधिपको स्तुतिमें निबद्ध किया गया, उद्धत करणोंसे युक्त, स्त्री पात्रोंसे रहित, यदि शुद्ध संस्कृत वाचों द्वारा वर्णनायुक्त हो तो शुद्ध और यदि [संस्कृत तथा प्राकृतके] संकर [द्वारा किए गए वर्णन] से युक्त हो तो संकीर्ण [भाण कहलानेवाला] सब प्रकारकी भाषाओं और नाना प्रकारके व्यापारोंसे विचित्र यह भाण उद्धत [जसमें वर्णित] विषयोंके उद्धत ललित तथा उभयतमक होनेसे उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत [भेदसे तीन प्रकारका हो सकता है ।] और उस भाणमें अभिनेय वस्तु अनुताल तथा वितालोंसे युक्त होता है ॥ ६३ ॥

[१३] भाणिका—

अधिकतर विष्णुके चरितसे युक्त स्त्रियों द्वारा गाया [छन्द], वर्ण और मात्राओंकी रचना जिसमें की जाय इस प्रकारका भाण भी सुकुमारताके प्रयोग के [दिखलानेके कारण] भाणिका कहलाता है ॥ ६३ ॥

साहित्यदर्पणकारने भाण तथा भाणिकाके लक्षण निम्न प्रकार किए हैं—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुख-निर्वहणान्विता ।

कैशिकी-भारतीवृत्तिपुनैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥

उदात्तनायिका मन्दपुरुषात्राङ्गसाम्रम् ।

उपन्यासोऽय विन्यासो विबोधः साध्यसं तथा ॥ ३०९ ॥

प्लानि च स्वल्पमात्रजनानिमित्तत्वाद्, वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृत्तावेव कीर्तिता-  
नीति ।

शब्द प्रमाण साहित्य छन्दोलक्ष्मविवायिनाम् ।

श्रीहेमचन्द्रपाद्याना प्रमादाय नमो नम ॥ १ ॥

परोपनीतशब्दार्था, म्यनाम्ना कृतरीत्य ।

नियद्धारोऽधुना तन, को नौ क्लेशमवेप्यति ॥ २ ॥

न सूत्र वृत्त्योराधिक्य न हीनत्वं न कुण्ठता ।

यावदर्थो गिर सन्ति स्वय मन्तो विवेचताम् ॥ ३ ॥

शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-वृत्तभ्रम ।

रागिणिलासरित्रमार्गो नौ प्रवाह इव जाल ज ॥ ४ ॥

रूपस्वरूप विज्ञानुं यदीच्छन् यथाम्यितम् ।

सन्तस्तदानीं गृहीत निर्मल नाट्यदर्पणम् ॥ ५ ॥

समर्पण निवृत्तिरथ संहार इति सप्तम ।

उपन्यास प्रसंगेन भवेत् कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥

निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृत ।

भ्रान्तिनाशो विद्योऽव म्यान्मिथ्याख्यानं तु माधुर्यम् ॥ ३११ ॥

मोपालम्भध्वज कोपपीडयेह ममर्पणम् ।

निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥

संहार इति च आहुर्यन् कार्यस्य समापनम् ॥

इनके स्वल्प मात्रामें ही मनोरञ्जक होने तथा भरतमुनि [वृद्ध] के द्वारा न कहे जानेव  
कारण [इनको हमने मूल प्रथमें न बिल्लाकर यहाँ] वृत्तिभागमें ही बिल्लाया है ।

व्याकरण न्याय, साहित्य तथा छन्दशास्त्रके सक्षर प्रयोगी रचना करनेवाले श्री  
गुरुय आचार्य हेमचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिए हम उनको नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

आजरास [कि प्रथकार प्राय] दूसरेवि शब्दों और अर्थोंको लेकर अपने नाममें [प्रथ  
रचना बिल्लाकर] कीर्तिका उपाज्जन करते हैं [इसी वशामे इस प्रथ को रचनामे उठाए हुए]  
हमारे श्लेषको कीर्त समझता है ॥ २ ॥

[हमारे इस प्रथमें] न सूत्रका आधिक्य है और न वृत्तिभागवत् । न किसी भागमें  
कभी है और न [कुण्ठता अर्थात्] अस्पष्टता है । विद्वान् लोग स्वय ही देख लें कि इसमें जितना  
प्रथ करना है उसने ही शब्दोंका प्रयोग किया गया है । [प्रनावयमक बुद्धि भी नहीं सिला  
गया है और न अपेक्षित बातको छोड़ा ही गया है] ॥ ३ ॥

व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्रमें अमकी प्रशङ्गित करनेवाला हम  
बोनोंकी बालीका प्रवाह गंगाकी धाराके समान तीन धाराओं वाला है ॥ ४ ॥

हे सज्जन पुरवों यदि आप स्वर्णकोष वास्तविक स्वर्णकोष देखना चाहते हो तो इस  
निर्मल नाट्यदर्पणकी पहल कीजिए । [इस निर्मल नाट्यदर्पणमें ही स्वर्णकोष स्वर्णकोष  
रूपमें ही लगेगा ।]

इति श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणाविवृत्तौ  
सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णयो नाम चतुर्थो विवेक

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिमित्त नाट्यदर्पणकी विवृत्तिमे

सब रूपकोके समान विषयोका प्रतिपादन करनेवाला

चतुर्थ विवेक समाप्त हुआ ॥

उत्तरप्रदेशस्थ 'पोलीभौत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिना

श्री शिवलाल-बखशी-महोदयानां-तनुजनुया

बृन्दावनस्थ मृदकुलविश्वविद्यालयवाणिज्यविद्येन, सन-त्याचार्यपदमधितिष्ठता,

एम० ए० इत्युपपदधारिणा 'विद्यामार्तण्डेन' धोमवाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना

विरचिता 'नाट्यदर्पणदीपिका' हिन्दीभाषया समाप्ता ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

• समाप्त •

# परिशिष्ट [१]

रामचन्द्र गुणचन्द्रसूत्रित

नाट्यदर्पणम्

(मूलम्)

\*\*\*

१

अथ नाटकनिर्णय प्रथमो विवेक

चतुर्गणकना मित्य, जनी वाचमुपात्महे ।  
रूपैर्द्वादशभिर्विश्व यया न्याय्ये वृत्त पथि ॥ १ ॥  
अग्निनेयस्य काव्यस्य, भूरिभेदभूत कियत् ।  
किमसौऽपि प्रसिद्धस्य दृष्ट लक्ष्य प्रचक्षते ॥ २ ॥  
नाटक प्रकरणं च, नाटिका प्रकरण्यथ ।  
व्यायोग समवकार भाण प्रहसन द्विम ॥ ३ ॥  
घट्ट ईहामुगो वीथी चत्वार सबहुतया ।  
त्रिवृत्तय परे खण्टो कौशिकी परिवर्जनात् ॥ ४ ॥  
रुपाताघराजचरित, धम कामार्पितफलम् ।  
साङ्गोपाय-दशा सधि, दिव्याङ्ग तत्र नाटकम् ॥ ५ ॥  
उद्धतोदात्त-ललित शा-ता धीर विशेषणा ।  
चण्डी स्वभावाश्चत्वार नेतृणा मध्यमोत्तमा ॥ ६ ॥  
देवा धीरोद्धता धीरोदात्ता सै-येन मन्त्रिण ।  
धीरगाता वणिग विप्रा, राजानस्तु चतुर्विधा ॥ ७ ॥  
धीरोद्धतश्चत्वारचण्ड दर्पो दम्भी विकल्पन ।  
धीरोदात्तोऽतिमग्भीर याधी सत्वी क्षमी स्थिर ॥ ८ ॥  
गृह्णारी धीरललित, कलासक्त सुतो मृदु ।  
धीरदातोऽजहङ्कार कृपासुविनयी नयी ॥ ९ ॥  
मुख्यमिष्टफल वृत्तम् धृङ्ग प्राप्तज्ञिक वचिह ।  
सूच्य प्रयोग्यममूलम्, उपेक्ष्य तत्त्वतुविषम् ॥ १० ॥

नीरसानुचित सूक्ष्म, प्रयोज्य तद्विपर्यय ।  
 ऊर्ध्वं तदविनाश्रुतम्, उपेक्ष्य तु क्षुण्णितम् ॥ ११ ॥  
 प्रयासः शाप्यमन्येषा, स्वगत स्वहृदि स्थितम् ।  
 परावृत्त्य रहस्यास्याज्यस्मै तदपवारितम् ॥ १२ ॥  
 त्रिपतावान्तरोज्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।  
 भाषानोक्तिः स्वयम्प्रश्न प्रत्युत्तरमपात्रकम् ॥ १३ ॥  
 स्वल्पपद्य सधुगद्य, द्रिष्टावान्तरवस्तुकम् ।  
 सिन्धु-सूय-दु-कालादि-वर्णनाधिकपद्यजितम् ॥ १४ ॥  
 एकाङ्गिरसमन्याङ्गम्, अद्भुतान्त रसोमिभिः ।  
 धनद्वितमसङ्कार-वधा-ऽङ्गैरगतद् रसम् ॥ १५ ॥  
 उत्तरत्वाद् वक्ष्यमासत्वाद्, भूय-वार्याद् यदुच्यते ।  
 तत् वर्णं व्याख्येद् येन, न याति पुनरुक्तताम् ॥ १६ ॥  
 गोपुच्छ-केश-वल्पानि, नाट्यवस्तूनि कल्पयेत् ।  
 उदात्ता रज्जुका भाषा, स्थापनीयाः पुरः पुर ॥ १७ ॥  
 अयुक्तं च विरुद्धं च, नायकस्य रसस्य वा ।  
 वृत्तं यत् तत् परित्याज्य, प्रवर्त्यमथवाज्यया ॥ १८ ॥  
 अवस्थाया समाप्तिर्वा, छेदो वा कार्ययोगतः ।  
 अद्भुतं सविन्दुहंक्ष्यार्थं, चतुर्थीमी गृह्णतं ॥ १९ ॥  
 आक्षय्यवाविरोध्यर्थः, स्वल्पपात्रं सनिर्गम ।  
 पञ्चसङ्ख्योऽपकर्षेण, दशसङ्ख्यं प्रकर्षतः ॥ २० ॥  
 अभिधात प्रधानस्म, नेतुर्ग्रन्थो न कुत्रचित् ।  
 बन्ध पलायन सन्धि, योग्यो वा फललिप्सया ॥ २१ ॥  
 दूराभ्ययानं पुरोधः, राज्य देशादि विप्लव ।  
 रत मृत्युः समीकादि, वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ॥ २२ ॥  
 अद्भुतहंस्य वृत्तस्य, त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।  
 सङ्क्षिप्य सस्कृतेनोक्ति, अद्भुतमी मध्यमैर्जनैः ॥ २३ ॥  
 शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र, सङ्कीर्णो नीच मध्यमैः ।  
 अद्भुतसन्धायकः शक्य सन्धानातीतकालवान् ॥ २४ ॥  
 एव प्रवेशको नीचैः, परार्थे प्राकृतादिना ।  
 एतौ प्रभूतकार्यत्वात्, नाटकादिबहुष्ये ॥ २५ ॥  
 अद्भुतस्यमन्तपात्रेण, छिन्नाद्भुतसुखयोजनम् ।  
 वस्तुनः सूचनं पूजा, पात्रैर्नैष्यसस्थितं ॥ २६ ॥

सोऽङ्गावतारो यत्-पार्थः, अङ्गान्तरमसूचनम् ।  
 भाषो सूच्ये बहावग्ये, कमादत्ते तरे समे ॥ २७ ॥  
 बीजं पताका प्रकरी, बिन्दुः कार्यं यथाशुचि ।  
 फलस्य हेतवः पञ्च, चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥  
 स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तः, हेतुबीजं प्ररोहणात् ।  
 भाविमर्थो पताका चेतु, चेतनः स परार्थवत् ॥ २९ ॥  
 विवित्तार्थपरप्राप्तिः, वृत्ते मन्त्रोपकारिणी ।  
 पताकास्थानकं सत् तु, चतुर्धा मण्डनं भवति ॥ ३० ॥  
 सहस्रेष्टार्थलाभश्च, स्तिष्टसातिशया च वायु ।  
 द्वयार्था अप्रकटे स्तिष्ट-स्पष्टप्रत्यभिधायि ॥ ३१ ॥  
 प्रकरी चेतु भवति भाषो, चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।  
 हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूना बिन्दुराफलात् ॥ ३२ ॥  
 साध्ये बीजसहकारी, कार्यं कार्यस्तु मुख्यता ।  
 पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनाऽऽदिभिः ॥ ३३ ॥  
 भारम्भ-यत्न-प्रापयासा-नियताप्ति-फलानामाः ।  
 नेतुवृत्ते प्रधाने स्युः, पञ्चावस्था ध्रुवं कृमात् ॥ ३४ ॥  
 फलायीत्युभयमारम्भः, प्रयत्नो व्यापृती स्वरा ।  
 फलसम्भावना किञ्चित्, प्रापयासा हेतुमात्रतः ॥ ३५ ॥  
 नियताप्तिरुपायानां, साधल्यात् कार्यनिर्णयः ।  
 साक्षादिष्टार्थसम्पत्तिः, नायवस्य कलानमः ॥ ३६ ॥  
 मुखं प्रतिमुखं गर्भमर्श-निर्वहणान्यथी ।  
 सङ्घयो मुख्यवृत्तांशाः, पञ्चावस्थाऽनुगाः क्रमात् ॥ ३७ ॥  
 मुखं प्रधानवृत्ताशः, बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।  
 प्रतिमुखं कियत्सङ्घ-बीजोद्घाट-समन्वितः ॥ ३८ ॥  
 बीजस्योन्मुख्यवान् गर्भः, लाभालाभ-गवेषणैः ।  
 लङ्घनसाध्य-विघ्नात्मा, विमर्शो व्यवसनादिभिः ॥ ३९ ॥  
 सबीजविकृतावस्थाः, नाना-भावा मुक्तादयः ।  
 फलसंयोगिनो भस्मिन्, असौ निर्वहणो ध्रुवम् ॥ ४० ॥  
 उपक्षेपः परिकरः, परिन्यासः समाहितः ।  
 उद्भेदः करणं चैतान्यत्रैवाय विमोक्षणम् ॥ ४१ ॥  
 भेदनं प्रापणं मुक्तिः, विधानं परिभाषना ।  
 सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

बीजस्योप्तिरुपक्षेपः स्वल्पव्यासः परिक्रिया ।  
 विनिश्चयः परिग्यासः, पुनर्ग्यासः समाहितः ॥ ४३ ॥  
 स्वल्पप्ररोह उद्भेदः, करणं प्रस्तुतक्रिया ।  
 विलोभनं स्तुतेर्गाध्यं, भेदनं पात्रनिर्गमः ॥ ४४ ॥  
 प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः, युक्तिः कृत्यविचारणा ।  
 विषानं सुख-दुःखाप्तिः, विस्मयः परिभावना ॥ ४५ ॥  
 विलासो घूननं रोषः, सान्त्वनं यणसंहतिः ।  
 नमं नमद्युतिस्तापः, स्युरेतानि यथावचि ॥ ४६ ॥  
 पुष्पं प्रगमनं वष्पम्, उपन्यासोपसर्पणम् ।  
 पञ्चावश्यमप्यङ्गानि, प्रतिमुखे त्रयोदश ॥ ४७ ॥  
 विलासो नृ-स्त्रियोरीहा, घूननं साम्यनादरः ।  
 रोषोऽतिः सान्त्वनं साम, पात्रौघो वणसंहतिः ॥ ४८ ॥  
 क्रीडायां हसनं नमं दोषावृत्ती तु तद्युतिः ।  
 अपायदर्शनम् तापः, पुष्पं यावयं विशेषवत् ॥ ४९ ॥  
 प्रगमः प्रतिबोक्-श्रेणिः, वष्पं प्रत्यक्षकर्कशम् ।  
 उपपत्तिरुपन्यासः, नष्टेऽहोऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥  
 सङ्ग्रहो रूपमनुमा, प्रार्थनोदाहतिः क्रमः ।  
 उद्भेगो विद्रवश्चैतद्, गुणतः कार्यमष्टकम् ॥ ५१ ॥  
 भ्राक्षेपोऽधिबल भागोऽस्त्याहरण-तोटकः ।  
 पंचैतानि प्रधानानि, गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥ ५२ ॥  
 सङ्ग्रहः साम-दानादिः, रूपं नानार्थसंशयः ।  
 अनुमा निश्चयो लिङ्गात्, प्रार्थना भावयाचनम् ॥ ५३ ॥  
 उदाहतिः समुत्कर्षः, क्रमो भावस्य निर्णयः ।  
 उद्भेगो भीर्द्रवः साङ्ख्योऽक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥  
 अधिबलं बलाधिक्यं, भागस्तत्त्वार्थसंजनम् ।  
 भ्रसत्याहरणं छय, तोटकं गमितं वचः ॥ ५५ ॥  
 द्रवः प्रसङ्गः सम्फेटोऽपवादावज्ञानं व्युत्तिः ।  
 ह्येदो विरोधः संरम्भः भवेद्युगुणतो नव ॥ ५६ ॥  
 शक्ति-प्ररोचनाऽऽदान-व्यवसायास्तु मुख्यतः ।  
 त्रयोदशाङ्गान्यामर्शे, द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥ ५७ ॥  
 प्रसङ्गो महता कीर्तिः, सम्फेटः क्रोधजं वचः ।  
 भ्रपवादः परोषादः, छादनं मनुष्यार्जनम् ॥ ५८ ॥

तिरस्कारो ह्युक्तिं खेदः, धमः, काय-मनो भवः ।  
 विरोधः प्रस्तुतज्यानि, सरम्यः शक्तिकीर्तनम् ॥ ५१ ॥  
 क्रुद्धप्रसादन शक्ति भाविसिद्धि प्ररोचना ।  
 फनसामीप्यमादान, व्यवसायोऽप्यंहेतुयुक् ॥ ६० ॥  
 सन्धिनिरोधो ग्रथन निर्णय परिभाषणम् ।  
 सपास्ति कृतिरानन्द, समथ परिगृह्यतम् ॥ ६१ ॥  
 भाषण काव्यसंहार-पूर्वभाव प्रशस्तया ।  
 चतुर्दशाङ्गो निर्वाह, सन्धिर्वीज फलागम ॥ ६२ ॥  
 निरोधः कार्यभोमासा, ग्रथन कार्यदर्शनम् ।  
 निर्णयोऽनुभवव्याप्तिः, परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥  
 सेवोपास्ति कृति क्षेमम् आनन्दो वाञ्छिततागम ।  
 समथो दु सन्धिर्वीजोऽनुत्ताप्ति परिगृह्यतम् ॥ ६४ ॥  
 भाषणं साम दानोक्तिः, प्राग्भाव हृत्यदर्शनम् ।  
 घरेण्ठा काव्यसंहार प्रशस्ति शुभशक्त्या ॥ ६५ ॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिते नाट्यदर्पणसूत्रे नाटकनिर्णयो नाम  
 प्रथमो विवेकः ॥ १ ॥

. २ .

अथः प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेक

प्रकरणं वशिष्ठं विप्र सचिव-स्वाम्यसवरत्नम् ।  
 मन्दगोत्राङ्गन दिव्यानाथित मध्यवेष्टितम् ॥ १ ॥  
 दास योऽपि विटैर्भुक्त, क्लेशादप्य तन्न सप्तया ।  
 कल्पेन फल वस्तूनाम्, एक द्वि त्रि विधानतः ॥ २ ॥  
 कुलस्त्री गृहवासीयां पण्यस्त्री तु विषयये ।  
 विटे पत्यो द्वय तस्माद् एकविंशतिधाऽप्यदः ॥ ३ ॥  
 भयावस्थ पुरा क्लृप्त यद्वाऽनार्यमसद्गुणम् ।  
 शेष नाट्यवत् सर्वं, कैशिकीपूर्णतां विना ॥ ४ ॥  
 चतुरङ्गा बहुस्त्रीया, नृपेया स्त्री भद्रोपना ।  
 कल्पार्था कैशिकी मुख्या, पूर्वैरुपद्वयोत्थिता ॥ ५ ॥  
 शक्याति श्यातित कन्या-देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।  
 भग्न मुख्याकृतो योगः, पर्यन्ते नेतुरयया ॥ ६ ॥



प्रेमाद्रौ वर्ततेऽयस्या, नेता मुख्यामिशङ्कितः ।  
 देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा घर्मा द्वयो पुनः ॥ ७ ॥  
 क्रोध प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छसादि शूरिश ।  
 एव प्रकरणी कि तु, नेता प्रकरणोदित ॥ ८ ॥  
 एकाहचरितैकाङ्को, यममिशंविजितः ।  
 अस्थोनिमित्तसङ्ग्रामो, नियुद्ध-स्पर्धनोद्धत ॥ ९ ॥  
 स्वल्पयोविजयनः स्वात-वस्तुर्दीप्तारसाद्यय ।  
 अदिव्यभूपतिस्वामी, व्यायोगो नायिका विना ॥ १० ॥  
 विज्ञेय समवकार, स्थातापौ निविमर्शकः ।  
 उदात्तदेव-दैत्येशो, धीम्यङ्गी वीर रौद्रवान् ॥ ११ ॥  
 अत्र द्वादश नेतार, फल तेषां पुण्यं पुण्यम् ।  
 भङ्गास्त्रयस्त्रिभुङ्गारा, त्रिनपटास्त्रिविद्रवा ॥ १२ ॥  
 पद्मगुणैकमुहूर्तां स्युः, निष्ठितार्था स्वकार्यतः ।  
 महावाक्ये च सम्बद्धा, क्रमाद् द्वयैकैकसङ्घय ॥ १३ ॥  
 शृङ्गारस्त्रिविधो धर्म-कामार्थफलहेतुकः ।  
 वञ्च्य वञ्च्यक दैवेभ्यः, सम्मवी कपटस्त्रिधा ॥ १४ ॥  
 जीवाजीवोभयोस्त्य स्याद्, विद्रवस्त्रिरमोषु तु ।  
 प्रत्येकमङ्कुर्वेकैक, पद्य च सङ्घराऽऽदिकम् ॥ १५ ॥  
 भाणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुखनिर्वाहवान् ।  
 एकाङ्को दशलास्याङ्ग, प्रायो लोकाभुरञ्जक ॥ १६ ॥  
 एको विटो वा धूर्तोवा, वेद्याऽऽदे स्वस्य वा स्थितिम् ।  
 व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र, वृत्तिभुङ्क्षा च भारती ॥ १७ ॥  
 वैमुक्ष्यकार्यं धीम्यङ्गि, त्यातकीर्त्तीन दम्भवत् ।  
 हास्याङ्गि भाण सञ्चङ्क वृत्ति प्रवृत्तन द्विधा ॥ १८ ॥  
 निम्न-पाखण्डि विप्रादे, अस्तीनाऽऽभ्य-वर्जितम् ।  
 परिहासवच-प्राय, शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥ १९ ॥  
 सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाऽऽचार परिच्छदम् ।  
 बहूना व-धकी चेत वेद्याऽऽदीना विचेष्टितम् ॥ २० ॥  
 अशान्त हास्य शृङ्गार विमर्शं स्वातवस्तुकः ।  
 रौद्रशुभ्यश्चतुरङ्ग, सेन्द्रजाल रणो डिम ॥ २१ ॥  
 अत्रोल्कापात निर्घाता, चन्द्र सूर्योपरक्तयः ।  
 सुरामुर पिशाचाद्या, प्रायः षोडश नायका ॥ २२ ॥

उत्सृष्टिकाङ्क्षः पुंस्वामी, स्थातयुद्धोत्पत्तवान् ।  
 माणोक्तसन्धि वृत्त्यङ्क, वायुद्व कर्णलङ्घिक ॥ २१ ॥  
 निर्वेदवाचो भूम्नाऽत्र, योपिता परिदेवितम् ।  
 नरा निवृत्तसङ्ग्रामा, चेष्टाश्चित्रा विसृष्टुलाः ॥ २४ ॥  
 ईहामृगः सवीर्यङ्गः, दिव्येष्टो हृत्तमानवः ।  
 एकाङ्क्षचतुरङ्गो वा स्थातास्थतेतिवृत्तवान् ॥ २५ ॥  
 दिव्यस्त्रीहेतुसङ्ग्रामः, निर्विश्वासः सविह्वरः ।  
 स्त्र्यपहार-भेद दण्डः, प्रायो द्वादशनायकः ॥ २६ ॥  
 व्याजेनात्र रणामावः, वधासन्ने क्षरीरिणि ।  
 स्थायोमोक्षा रसा सन्धि वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ २७ ॥  
 सर्वस्वामिरसा वीथी, त्वेकाङ्का द्वयैकपात्रिका ।  
 मुञ्चनिर्वाहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ २८ ॥  
 व्याहारोऽधिबल गण्डः, प्रपञ्चस्त्रिगत छत्रम् ।  
 भयप्रलापो वाक्केली, नालिका मुदव मतम् ॥ २९ ॥  
 उद्घात्यकावलगिते, प्रयावस्पन्दित स्मृतम् ।  
 भारतीवसिक्तानि, वीर्यङ्गानि त्रयोदश ॥ ३० ॥  
 भयार्थं माविहृष्टिर्वा, व्याहारो हास्यलेशगीः ।  
 मिथो जल्पे स्वपक्षस्थ, स्थापनाऽधिबल बलात् ॥ ३१ ॥  
 गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं, प्रस्तुतानुगत वचः ।  
 प्रपञ्च सस्तव ह्यास्य, मिथो मिथैकलामकृत ॥ ३२ ॥  
 त्रिगत शब्दसाम्येन, मित्रस्वार्थस्य योजनम् ।  
 वधोऽन्यार्थं छल हास्य-वञ्चना-रोपकारणम् ॥ ३३ ॥  
 भयप्रलासतत्वेन, हित यन्नावगम्यते ।  
 प्रयत्नोत्तर तु वाक्केली, हास्या वाक् प्रतिवागपि ॥ ३४ ॥  
 हास्याय वञ्चना वाली, व्यत्ययो गुण दीपयोः ।  
 मुदव परस्पर स्याद्, उद्घात्य गूढ भाषणम् ॥ ३५ ॥  
 तन्त्रावलगित सिद्धिः, कार्यस्यान्यमित्येष या ।  
 स्वैच्छोक्तस्यान्यथाऽऽख्यान, यदवस्पन्दित तु सत् ॥ ३६ ॥  
 स्त्री स्वा वंशेपिकी हित्वा, सन्धि-वृत्त्यादिका स्थितिम् ।  
 सामान्या नाटकस्यान्या, विज्ञेया रूपान्तरे ॥ ३७ ॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिते नाट्यदर्पणे प्रवरणाद्येकादशरूपनिर्णयो नाम  
 द्वितीयो विवेकः समाप्तः ॥ २ ॥

## अथः वृत्ति-रस-भावभिनय-विचारः तृतीयो विवेकः

भारती सात्वती कैशिवयारभटी च वृत्तयः ।  
रस-भावाभिनयगाः, चतस्रो नाट्य-पातरः ॥ १ ॥  
सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।  
प्रायः संस्कृतनिःशेष-रसादृषा वाचि भारती ॥ २ ॥  
विदूषक-नटी-मार्पेः, प्रस्तुताद्येपि भाषणम् ।  
सूत्रधारस्य बळोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ॥ ३ ॥  
वाक्यार्थ-समयाह्वानैः, भावोक्तैः पात्रसङ्क्रमः ।  
पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या, सम्बोध्युक्तं प्ररोचना ॥ ४ ॥  
सात्वती सख-वागङ्गाभिनेयं कर्म मानसम् ।  
साजंवाधर्पे-मुद्घर्ष-रोद्र-वीर-शमाद्भुतम् ॥ ५ ॥  
कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-धर्मभिदात्मिका ।  
भारभट्टमनुग-द्वन्द्व-छन्द-दीप्तरसान्विता ॥ ६ ॥  
स्यायो भावः श्रितोत्कर्षः, विभाव-व्यभिचारिभिः ।  
स्पष्टानुभावनिश्चयः, सुख-दुःखात्मको रसः ॥ ७ ॥  
कार्यहेतुः सहचारी, स्याद्यादेः कार्यवर्मेनि ।  
अनुभावो विभावश्च, व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥ ८ ॥  
शृङ्गार-हास्य-कण्ठाः, रोद्र-वीर-भयानकाः ।  
वीरभत्साङ्गु-व-शान्ताश्च, रसाः सद्भिनेयं स्मृताः ॥ ९ ॥  
सम्भोग-विप्रलम्भात्मा, शृङ्गारः प्रथमो बहु ।  
मान-प्रवास-शपेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥ १० ॥  
स्त्री-पुंस-काव्य-गीतर्तु-माल्य-वेपथुकेलियः ।  
अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाशु-मन्युभिः ॥ ११ ॥  
विकृताचार-जल्पान्नाकल्पत्य-विस्मापनोद्भवः ।  
हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दायु-जठर-ग्रहैः ॥ १२ ॥  
मृत्यु-बन्ध-घनघ्नं श-शाप-व्यसन-सम्भव ।  
कण्ठोऽभिनयस्तस्य, वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ॥ १४ ॥  
प्रहारासत्य-भास्यर्थ-द्रोह-घर्षापीतिवः ।  
रोद्रः स चाभिनेतव्यः, घात-दन्तोष्ठ-पीडनैः ॥ १५ ॥

पराक्रम-यत्न-न्याय-यत्नस्तत्त्वविनिश्चयैः ।

धीरोऽभिनयनं तस्य, धैर्यं-रोमाञ्च-दानवः ॥ १६ ॥

पताका-कीर्ति-रोद्राजि-शून्य-तस्करदोषजः ।

भयानकोऽभिनेतव्यः, स्तम्भ-रोमाञ्च-नम्पनैः ॥ १७ ॥

लुपुप्तनीयरूपादि-परस्पाद्या-समुद्भवः ।

वीभत्सोऽभिनयश्चास्थ, निष्ठेवोद्देग-निन्दनैः ॥ १८ ॥

दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्च-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।

प्रद्वुतः सोऽभिनेतव्यः, क्लाघा-रोमाञ्च-हृषंतः ॥ १९ ॥

संसारमय-वैराग्य-सत्त्व-दास्यविमर्शनैः ।

शान्तोऽभिनयनं तस्य, क्षमा-ध्यानीपकारतः ॥ २० ॥

अर्थ-शब्द-वपुः काव्यं, रसैः प्रार्णविसर्पति ।

प्रज्ञया तेन सोहार्दं, रसेषु कविमानिनाम् ॥ २१ ॥

न तस्याऽयं-शब्दोत्प्रेक्षा, क्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।

विषाककम्रमप्याम्रम्, उद्वेजयति नीरसम् ॥ २२ ॥

एकत्र स्वैरिणोस्तुल्य-सङ्काशोयति विरद्धता ।

दोषोऽनीचिरयमङ्गीयचम्, यपोपोऽप्युक्तिरङ्गिमित् ॥ २३ ॥

रतिर्हसिश्च शोकाश्च, क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

लुपुप्ता-विस्मय-क्षमाः, रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥ २४ ॥

निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्कोऽमूषा-मद-श्रमाः ।

क्षिप्ता चापलमावेण, मतिर्ध्यामिः स्मृतिर्धृतिः ॥ २५ ॥

क्षमयो मरणां मोहः, निद्रा-मुप्लीयच-हृष्टयः ।

विषादोन्माद-दंश्यानि, व्रीडा प्राप्ते वितर्कणम् ॥ २६ ॥

गर्वोऽस्तुवशावहिंसयानि, जाड्यासस्य-विदोषणम् ।

प्रदस्त्रिदद् यथायोगं, रसानां व्यभिचारिणः ॥ २७ ॥

निर्वेदस्त्वक्षी-क्षेत्रीः, वैरस्यं श्वाश-तापकृत् ।

ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अज्ञातिः काश्यं-कम्प-भाक् ॥ २८ ॥

वैकल्यं ग्रहदोषेभ्योऽरस्मारो निन्दयेष्टितः ।

शङ्का स्वभर-दौरात्याद्, दौलन ध्यामताऽऽदियुक् ॥ २९ ॥

द्वेषादेः सद्गुणाद्यान्ति, अमूषा दोषदर्शनी ।

उपेक्षायां मु-मदो मत्तात्, निद्राहास्याथुङ्क्त् वमान् ॥ ३० ॥

शयो रतादिभिः साद, स्वेद-श्वामादि कारणम् ।

प्रायश्चित्ता प्रियाकाप्तेः, धून्यता-दवाप्त-वास्ययुक् ॥ ३१ ॥

वापलं साहसं राग-द्वैपादेः स्वरिताऽऽदिमत् ।  
 धावेगः सम्भ्रमोऽजवकर्पाद्, विकर्ताङ्ग-मनो-गिराम् ॥ ३२ ॥  
 प्रतिमानं मतिः घास्त्र-तर्काद् भ्रान्तिच्छिदादिकृत् ।  
 दोषेभ्योऽङ्ग-मनः-वशेशः, ध्याधिः स्तनित-कम्पवान् ॥ ३३ ॥  
 दृष्टामासः स्मृतिस्तुल्य-दृष्टधादेर्भू प्रतिप्रिया ।  
 धृतिर्जानेष्टलाभादेः, सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत् ॥ ३४ ॥  
 क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः ।  
 व्याध्यादेर्भूत्युसक्तुल्यः मरुणं विकृतेन्द्रियम् ॥ ३५ ॥  
 भ्रमैतन्यं ग्रहारादेः मोहोऽत्राधूर्तनादयः ।  
 इन्द्रियाण्यपृतिनिद्रा, सेदादेर्भूषकम्पिनी ॥ ३६ ॥  
 सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र, स्वप्नायित-समोहने ।  
 दुष्टेऽपराधान्निधूष्यम्, ओषधं बन्ध-वधादिभिः ॥ ३७ ॥  
 हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेः, भग्न स्वेदाद्यु-गदगदाः ।  
 विषादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेनिःश्वास-चिन्तनैः ॥ ३८ ॥  
 मनोविप्लुतिरुन्मादः, ग्रह-दोषैरयुक्तकृत् ।  
 आपदः स्वान्तनीचरकं, दैन्यं काष्ण्यावगुण्ठनैः ॥ ३९ ॥  
 श्रीहासुताप-गुवादेः, अघाष्ट्यं गात्रयोपकम् ।  
 धोराच्चकितता त्रासः, कायसङ्कोच-कम्पितैः ॥ ४० ॥  
 एकसम्भावनं तर्कः, वादादेरङ्गनर्तकः ।  
 धारमन्याधिवयधीर्गर्वः, विद्याऽदेरन्यरीढया ॥ ४१ ॥  
 दृष्टानिमुख्यमोत्सुनयं, स्मरणाद्यात् त्वराऽऽदिभिः ।  
 द्वाष्ट्यं धादेविक्रियारोषोऽवहित्याऽत्र क्रियान्तरम् ॥ ४२ ॥  
 जाह्नयमिष्टादितः कार्याज्ञानं मीनानिमेषणैः ।  
 कर्मोनुत्साह भालस्ये, धमाद्याजुम्भितादिभिः ॥ ४३ ॥  
 निद्राच्छेदो विबोधश्च, शब्दादेरङ्गमङ्गवान् ।  
 केषांचित् तु रसादीनाम्, ग्रन्थोन्यं हेतु-कार्यता ॥ ४४ ॥  
 वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्चाः, स्वरभेदोऽथ मूर्छनम् ।  
 स्वेदो वैषण्यमित्याद्याः, अनुभावारसादिजाः ॥ ४५ ॥  
 भवादेर्वेपथुर्गात्र-स्पन्दो वागादिविक्रियः ।  
 यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भः हृषदिर्हा ! विषादवान् ॥ ४६ ॥  
 रोमाञ्चः प्रियदृष्टधादेः, रोमहर्षोऽङ्गभार्जनैः ।  
 स्वरभेदः स्वरान्यातवं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥ ४७ ॥

अथ नैत्राम्बु शोकाद्यैः, नासास्पन्दासिद्धयर्थैः ।  
 सूक्ष्मं धातुकोपाद्यैः, सग्लानिभूमिपातवृत्त ॥ ४८ ॥  
 स्वेदो रोमजलस्रावः, श्रमादेर्व्यञ्जनग्रहैः ।  
 क्षामादिकारो वैवर्ण्यं, क्षपादेर्दिग्निरोक्षणैः ॥ ४९ ॥  
 वाचिकोऽग्निनयो वाचा, यथाभावमनुक्रिया ।  
 यमंणोऽङ्गं स्वाङ्गं दच, साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥ ५० ॥  
 सार्विकः स्वरभेदादेः, अनुभावस्य दर्शनम् ।  
 वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यः, बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥ ५१ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविनिर्मिते नाट्यदर्पणसूत्रे वृत्ति-रस-भावमिनय-  
 विचारस्तुतीयो विवेकः ॥ ३ ॥

: ४ :

अथ सर्वरूपक-साधारण-लक्षणनिर्णयः चतुर्थोविवेकः

देव-भूप-समा-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलामिषा ।  
 नित्या रूपमुखे नान्दी, पदैः पद्भिरयाष्टभि ॥ १ ॥  
 प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।  
 विचार्य रूपकं गेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥ २ ॥  
 उत्तमा मध्यमा नीचा, प्रकृतिर्नू-स्त्रियोस्त्रिया ।  
 एकैकापि त्रिधा स्व-स्व-गुणानां तारतम्यतः ॥ ३ ॥  
 तदर्थो दक्षिणस्त्यागी, लोकशास्त्रविचक्षणः ।  
 गाम्भीर्य-धैर्य-शौण्डेय-न्यायवान् उत्तमः पुमान् ॥ ४ ॥  
 मध्यो मध्यमुखो नीचः, पापीयात् विद्वानोऽप्यथ ।  
 कृतघ्नः कलही नलोचः, स्त्रीलोको ह्यसवान् खडः ॥ ५ ॥  
 लज्जावती भृदुर्धारा, गम्भीरा स्मितहासिनो ।  
 विनीता मूलजा दक्षा, वत्सला योपिदुत्तमा ॥ ६ ॥  
 नरवन्मध्यमा नीचे, नीचोऽपीशः कथावधात् ।  
 प्रधानफलसम्पन्नोऽप्यसनी मुख्यनायकः ॥ ७ ॥  
 तेजो विलासो माधुर्यं, शोभा स्पर्शं गभीरता ।  
 मोदीयं तलित धाष्टी, गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥ ८ ॥

क्षेपादेरसहिष्णुत्वं, तेषः प्राणालयेऽपि च ।  
 विलासो वृषवद् यानं, धीरा दृक् सस्मितं वचः ॥ ६ ॥  
 माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या, क्षोभहेतो महत्यपि ।  
 शोभा चिह्नं पूणा-स्पर्धा-दाक्ष्य-शोषोद्यमोद्यये ॥ १० ॥  
 विघ्नेऽप्यचलनं स्वयं प्रारब्धादनुभादपि ।  
 गाम्भीर्यं सहजा भूतिः, कोप-हर्षादि-गोपनी ॥ ११ ॥  
 प्रौढार्यं शत्रु-मित्राणां, प्राणितेनाप्युपग्रहः ।  
 शृङ्गारिचेष्टा सलितं, निर्विकाराः स्वभाषजाः ॥ १२ ॥  
 प्रमुह्यो नायकः किञ्चिद्नवृत्तोऽप्रपनायकात् ।  
 लोमी धीरोद्धतः पापी, ज्यसनी प्रतिनायकः ॥ १३ ॥  
 नीचा विदूषक-बलीब-शकार-विट-किङ्कराः ।  
 हास्यायाद्यो नृपे श्यालः, द्यकारस्त्वेकविट् विटः ॥ १४ ॥  
 स्निग्धा धीरोद्धतादीनां, ययौचित्यं विद्योगिनाम् ।  
 लिङ्गी द्विजो राजजोवी, शिष्याश्चैते विदूषकाः ॥ १५ ॥  
 युवराज-चमूनाप-पुरोधः-सचिवादयः ।  
 सहाया एतदायत्त-कर्मव सलितः पुनः ॥ १६ ॥  
 घुडागते कारुको द्वाःस्थः, कञ्चुकी शुभ्रकर्मणि ।  
 वर्षधरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेपली स्त्रियाः ॥ १७ ॥  
 कार्याख्याने प्रतीहारी, रक्षा स्वत्योर्महतरा ।  
 पूर्वास्तिपतिविधौ घुडा, चित्रादी शिल्पकारिका ॥ १८ ॥  
 नायिका कुलजा दिव्या, सत्रिया पण्यकामिनी ।  
 भन्तिमा सलितोदात्ता, पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥ १९ ॥  
 रागिण्येवाग्रहसने, नृपे दिव्ये च न प्रभो ।  
 गणिका क्वापि दिव्या तु, भवेदेषा महीभुजः ॥ २० ॥  
 मुग्धा मध्या प्रगल्भेति, त्रिविधाः स्मुरिमाः पुनः ।  
 मुग्धा वामा रते स्वल्प-माना रोहद्-वयः-स्मरा ॥ २१ ॥  
 मध्या मध्य-वयः-काम-माना मूञ्छान्तं-मोहना ।  
 प्रगल्भेद्-वयो-मन्यु-कामा स्पर्धेऽप्यचेतना ॥ २२ ॥  
 कार्यतः प्रोपिते पत्यावभूया प्रोपितप्रिया ।  
 विप्रलब्धा ससङ्कोते, प्रेप्य द्वितीमनामते ॥ २३ ॥  
 खण्डिता खण्डयत्यन्यासवत्या वासकमोप्यिता ।  
 ईर्ष्या-कलह-निष्क्रान्ते, कलहान्तरिताऽऽतिभाक् ॥ २४ ॥

विलम्बयत्यदोपेऽपि, विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।  
 हृष्टा वासकसञ्ज्ञाऽऽम यत्कृतिपरैरप्यति ॥ २५ ॥  
 मुग्धगम्मानिनी वदयासन्ने स्वाधीनमर्तुका ।  
 सरन्ती सारयन्ती वा रिरसुरभिसारिका ॥ २ ॥  
 भावाद्या योवने स्त्रीणाम्, घलद्गुह्यरास्त्रयोऽङ्गजाः ।  
 दश स्वाभाविकाश्चैते त्रियारूपास्तयोदश ॥ २७ ॥  
 सति भोगे गुणा सप्तायत्नजाश्च स्वभावजा ।  
 नावश्यम्भाविनोऽप्येता, विनाति स्त्रीषु मुख्यतः ॥ २८ ॥  
 भावो बागादिर्विशिष्टः, चिह्नं रसुत्तमत्वयो ।  
 नेत्रादिबिहृत हावः समृद्धारमसन्ततम् ॥ २९ ॥  
 सदैव सन्तत हेला, तादृष्योद्बोधशालिनी ।  
 रागादिना विपर्यासः क्रियाणामथ विभ्रमः ॥ ३० ॥  
 विलास प्रियदृष्टयादी, वास्त्वनात्र कर्मणो ।  
 वेपारूपतैव विच्छिन्ति, परा क्षोभा विवन्वती ॥ ३१ ॥  
 लीला दधित्वागादे, स्वे न्यासो बहुषानव ।  
 विम्बोकोऽनादरो भान दर्पादिदृष्टेऽपि वस्तुनि ॥ ३२ ॥  
 बिहृत जल्पकालेऽपि, मीन ह्रीं ध्याज-मीम्वत ।  
 क्षलित गात्रसञ्चार, सुकुमारो निरर्थकः ॥ ३३ ॥  
 कचोष्ठादिप्रहे कोपः मृषा कुटुहुमित मुदि ।  
 मोट्टायित प्रियेक्षादौ, रागतो गात्रमोटनम् ॥ ३४ ॥  
 ग्लुह्म स्मिताश्रु-कम्पादे सङ्कुर किलि (ल) किञ्चितम् ।  
 म्रौञ्जदय योवनादीनाम् अथ क्षोभोपभोगतः ॥ ३५ ॥  
 सा कान्ति पूरुषसम्भोगा, दीप्ति का तैस्तु विस्तरः ।  
 सौम्य तापेऽपि माधुर्यम्, म्रौदार्यमुचिताम्बुति ॥ ३६ ॥  
 चेतोऽविकल्पन धैर्यं प्रागल्भ्य कौशल रते ।  
 ययोधित्य च नेतृणां, नायिका कुसजादयः ॥ ३७ ॥  
 सहायि-यस्तु यात्रेयी लिङ्गिनी प्रातिवेशिका ।  
 शिल्पिनी चेटिका सख्य, गुप्ता दक्षा मृदु स्थिरा ॥ ३८ ॥  
 देवानीचनूणां पाठ, सस्मृतेनाथ जातुचितः ।  
 महिषी भन्निजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥ ३९ ॥  
 बाल पण्ड ग्रहग्रस्त मत्त स्त्रीरूप-योपिताम् ।  
 प्राकृतेनोत्तमस्यापि, दारिद्र्यं स्वयंमोहितः ॥ ४० ॥



मत्पन्तनीचभूताशौ, पैसाची मागधी च वाक् ।  
 शौरसेनी तु नीचस्थ, देशोद्देशो स्वदेशगीः ॥ ४१ ॥  
 तिर्यग्-जात्यन्तरादीनाम्, भानुरूपेण सङ्ख्या ।  
 भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः, कार्यतः यवापि सङ्ख्यन्म् ॥ ४२ ॥  
 धार्येति सम्यक्ते पत्नी, लिङ्गिनी ग्राह्याणी द्विजः(जैः) ।  
 भ्रम्याऽपि जननी-वृद्धे, पूज्या तु भवतीत्यपि ॥ ४३ ॥  
 भ्रात्राऽग्रजोऽधर्ममन्त्री, मटी-सूत्रभ्रता मिथः ।  
 पुरोधः-सार्धंवाहाम्यां, पत्नी पत्न्या जरन् पतिः ॥ ४४ ॥  
 महाराजो नृपः सर्वस्त्वार्यपुत्रेति गौवने ।  
 पुंसां भद्रेति भोक्तव्या, प्रियेति दयिताऽपवा ॥ ४५ ॥  
 पिता पुत्राभिधायोगैर्मुंस्या देव्यपि राजभिः ।  
 विद्रूपकेण भवती, राक्षीचेष्ट्यौ नृपस्त्रियः ॥ ४६ ॥  
 भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदैः ।  
 देश्याऽञ्जुकेति वृद्धा तु, साऽस्ता तुल्या स्थिया हला ॥ ४७ ॥  
 हरुजे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये, भगवदिति देवता ।  
 तपःस्था चार्च्य-देवपि-बहुविद्याः सयोपितः ॥ ४८ ॥  
 मान्यो मामान्तरै राजा, लिङ्गिनाऽथ विद्रूपकैः ।  
 वयस्योऽप्यधर्ममंढ्री, लोकदेवेति भूपतिः ॥ ४९ ॥  
 मित्राख्याभिर्विद्रु राज्ञा, कुमारोभर्तुदारकः ।  
 मुनि-शाक्यौ भदन्तेति, स्वप्रसिद्धाऽपरो असी ॥ ५० ॥  
 सूत्री भाषोऽनुगेनासी, तेन मार्गः समः सखा ।  
 शिष्यात्मजानुजाः, पुत्र-वत्सो तातो जरन्नपि ॥ ५१ ॥  
 सीम्यो मद्रमुखश्चेति, नीचो हण्डे तु पामरैः ।  
 येन कर्मद्विना, यस्तु, स्वतः स तदुपपत्तिः ॥ ५२ ॥  
 हूरे विक्रमसंसृष्टि, कल्प्यं नामाथ बाणिजे ।  
 दत्तातं प्रायशो विप्रे, गोत्र-कर्मनिरूप्यतः ॥ ५३ ॥  
 नृपस्त्रियां क्षुमं दत्ता-सेनाञ्जं पण्योयिति ।  
 पुष्पादिवाचकं चेटयां, चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥ ५४ ॥

इति श्री रामचन्द्रगुणचन्द्रनिमित्ते नाट्यदर्पणसूत्रे सर्वरूपकसाधारणसप्तक्षान्तियुक्तं नाम  
 चतुर्थो विवेकः समाप्तः ॥५॥

## परिशिष्टम् [२]

नाट्यदर्पणविवरणनिर्दिष्ट-ग्रन्थक्रमसूची ।

[ वर्णक्रमेण ]

ग्रन्थक्रम

|                 |                                                                |          |
|-----------------|----------------------------------------------------------------|----------|
| मभिनवगुप्तः     | (नाट्यशास्त्रस्य मभिनवभारतीवृत्तिकार )                         | २३       |
| इन्दुराजभट्ट    | (लीरस्वामिगुरु )                                               | २८४      |
| कोहल            | (सट्टकादिसदमप्रणेतार)                                          | १४, २४१  |
| लीरस्वामी       | (भट्टेश्वरराजशिष्योऽभिनवरायणनाटककार )                          | २८४      |
| भरतमुनि         | (नाट्यशास्त्र निर्माता)                                        | २७, २१२  |
| मधुसूतचूडा भट्ट | (कौशलिकानाटिकाकार )                                            | ३०       |
| मधुसूति         | (नालतीमाधवकर्ता)                                               | २१२      |
| भासः            | (स्वप्नवासवदत्तकर्ता)                                          | १४८      |
| भीमट            | (मनोरमा-वत्सराजकर्ता)                                          | २४६      |
| मीमंसे          | (वसुनाग जनक )                                                  | १६७      |
| भोजल            | (राधाविप्रलम्भरचयिता)                                          | १६७      |
| मम्मटः          | (काव्यप्रकाशकारः)                                              | ३३२      |
| धुनि (भरतमुनि)  | (नाट्यशास्त्रकर्ता)                                            | २७, २१२  |
| वसुनागः         | (मीमंसेवसूनु , प्रतिमाऽनिरुद्धप्रणेतार)                        | १६७      |
| विद्यालदेव      | (देवीचन्द्रगुप्तरचयिता)                                        | २०७      |
| वीरनाग          | (कुन्दमालाकर्ता)                                               | ८१       |
| शङ्कर           | (समाख्य चित्रोत्पलावतम्बितवप्रकरणकार )                         | २४१ १५२, |
| मुक्तिवासकुमारि | (मनोज्ञसेना हरिनिन्दप्रकरणकार )                                | १६४      |
| शुद्धक          | (मुच्यकटिचरनार )                                               | ८१       |
| हेमचन्द्र       | (शब्द प्रमाण-साहित्य-शोधोत्तमविद्याता, नाट्यदर्पणवृद्ध-मुद्र ) | ४०६      |

## परिशिष्टम् [३]

नाट्यदर्पणविवरणनिर्दिष्ट-नाट्यादिग्रन्थनाम-सूची ।

[ वरुणश्रेण ]

### नाट्यादिग्रन्थनाम

|      |                                                                                                   |                         |
|------|---------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------|
| (१)  | अनङ्गवती नाटिका                                                                                   | २८०                     |
| (२)  | अनङ्गसेना-हरिनन्दिप्रकरणम् (शुक्तिवासकुमाररचितम्)                                                 | १६५                     |
| (३)  | अनघ्येराषवम् (मुरारिरचितं नाटकम्)                                                                 | ३६५                     |
| (४)  | अभिज्ञानदासकुतलम् (महाकविकालिदासकृतं नाटकम्)                                                      | १२४, २८२                |
| (५)  | अभिनवराषवम् (मट्टेश्वराजशिष्यसौरस्वामिरचितं नाटकम्)                                               | २८४                     |
| (६)  | अर्जुनचरितम् (आनन्दवर्धनरचितं महाकाव्यम्)                                                         | ३२०                     |
| (७)  | आचाराङ्गम् (महर्षि-गणधरप्रणितं सूत्रम्)                                                           | १०                      |
| (८)  | इन्दुलेखानाटिका                                                                                   | १६४                     |
| (९)  | इन्दुलेखावीथी                                                                                     | २५७                     |
| (१०) | उत्तरचरितम् उत्तररामचरितम् (भवभूतिरचितं नाटकम्)                                                   | १७३, २४९, २६२           |
| (११) | उदयनचरितम्                                                                                        | २८६                     |
| (१२) | उदात्तराषवम् (माधुराजविरचितं नाटकम्)                                                              | ११६                     |
| (१३) | कादम्बरी (बाणभट्टप्रणीता कथा)                                                                     | ३०८                     |
| (१४) | कुन्दमाला (धीरनागनिबद्धा) नाटकम्                                                                  | ८१                      |
| (१५) | कुमारसम्भवम् (महाकविकालिदासकृतं महाकाव्यम्)                                                       | ३२५, ३२८                |
| (१६) | कुरपाराषणम् (नाटकम्) १४२, १४३, १४७, १५०, १५४, १६७, १६८, १६९, १७३, १७४, १८३, १९५, २४७, २६७         |                         |
| (१७) | कौमुदी-मिश्राणन्दं प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)                                                          | १२५                     |
| (१८) | कौशिकिकानाटिका (मट्टश्रीभवभूतचूडविरचिता)                                                          | ३०                      |
| (१९) | विश्रोतरलावलम्बितकं प्रकरणम् (अमात्यशङ्खु-कविरचितम्)                                              | १५२                     |
| (२०) | छलितरामम् (नाटकम्)                                                                                | १६६, १७६, २६८, २६९, २८२ |
| (२१) | जामदग्न्यजयः (व्यायोगः)                                                                           | २२०                     |
| (२२) | तरङ्गदत्तम् (प्रकरणम्)                                                                            | २०६, २१२                |
| (२३) | तापसवत्सराजम् [नरेन्द्रवर्धनसुतानङ्गहर्षापरनामश्रीपात्रराजरचितं नाटकम्] ४२, ६७, ७६, १०४, १८२, १८३ |                         |
| (२४) | दरिद्रचारदत्तं रूपकम् (भास्वरचितम्)                                                               | ९३                      |
| (२५) | दृष्टिवादः (महर्षि-गणधर-प्रणितः सिद्धान्तः)                                                       | १०                      |
| (२६) | देवीचन्द्रगुप्तम् (विद्याधेदेवकृतं) नाटकम्                                                        | १२८, १४६, १५१, २०७, २४५ |

|      |                                                         |                                                                                                                                       |
|------|---------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| (२७) | द्रोपदीस्वयंवरम्                                        | ३४७                                                                                                                                   |
| (२८) | नलविलास नाटकम् (स्वोपज्ञम्)                             | ४२, ७२, ८५, ८७, ८८, १२५, २३४, १४१, १८२, २४६, २६४, २६५, २८५                                                                            |
| (२९) | नागानन्दम् (श्रीहर्षनिमित्त नाटकम्)                     | १२२ १७७, २८०, २८८                                                                                                                     |
| (३०) | निर्भयभीमव्यायोगः (स्वोपज्ञ)                            | १२१                                                                                                                                   |
| (३१) | पयोधिमथनम्                                              | २२४                                                                                                                                   |
| (३२) | पाण्डवानन्दम्                                           | २६७                                                                                                                                   |
| (३३) | पार्श्वविजयम् (त्रिलोचनकृत नाटकम्)                      | २२७, १३६, १३७, १४४                                                                                                                    |
| (३४) | पुष्पद्रूपितक प्रकरणम्                                  | १६४, १७७, १८१                                                                                                                         |
| (३५) | प्रतिमाङ्गिरुद्धम् (भीमदेवसूनुवसुनाभकृत नाटकम्)         | १९७                                                                                                                                   |
| (३६) | प्रयोगाङ्गुदयम्                                         | २५३                                                                                                                                   |
| (३७) | वाल्मीकावञ्चितकम् (नाटकम्)                              | २५०, २६३                                                                                                                              |
| (३८) | वृहत्कथा (शुण्डधरचिता)                                  | २११, २२१                                                                                                                              |
| (३९) | भारतम् (व्यासप्रवित वाच्यम्)                            |                                                                                                                                       |
| (४०) | मनोरमा वत्सराजम् (मीमटविरचित नाटकम्)                    | २५६                                                                                                                                   |
| (४१) | महिला-मकरन्द प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)                      | ३१९                                                                                                                                   |
| (४२) | मायापुष्पकम् (नाटकम्)                                   | ६९, ८२                                                                                                                                |
| (४३) | मालतीमाधवम् (भवभूतिनिमित्त प्रकरणम्)                    | १५६, २८८                                                                                                                              |
| (४४) | मालति (वि) काङ्क्षिनिमित्तम् [कविकानिदासनिमित्त नाटकम्] | १२०                                                                                                                                   |
| (४५) | मुद्राराक्षसम् (विद्यालदेवनिमित्त नाटकम्)               | ६७, ७५, १५८, १८४, १६२                                                                                                                 |
| (४६) | मुच्छकटिका प्रकरणम् (दूतकविरचितम्)                      | १९०                                                                                                                                   |
| (४७) | मादवाभ्युदय नाटकम् (स्वोपज्ञम्)                         | ६५, ११४, १४९, १६३, १८१, १९२, १९४, १६६                                                                                                 |
| (४८) | रघुविलास नाटकम् (स्वोपज्ञम्)                            | १००, १४२, १४४, १४६, १५०, १५९, १६०, १६५, १६८, १८३, १८८, २४७, २६०, २८४                                                                  |
| (४९) | रत्नमाला [श्रीहर्षचिता नाटिका]                          | ५६, ६०, ६३, ८७, ६५, १०८, १२१, १३१, १३५, १३६, १४५, १४८, १५१, १५२, १५३, १५६, १५७, १६५, १७०, १७२, १७८, १७९, १८४, १८६, १६१, २४४, २४२, २६२ |
| (५०) | राजवाभ्युदय नाटकम् (स्वोपज्ञम्)                         | ७८, ८३, ६०, ६२, १०६, ११३, १८२                                                                                                         |
| (५१) | राधाविप्रलम्भ रासनाङ्क रूपकम् (भेम्जसविरचितम्)          | १९७                                                                                                                                   |
| (५२) | रामाभ्युदयम् [पद्योवर्धनविरचित नाटकम्]                  | ७३ १००, १३०, १६०, १६६, १७६, १८८, २५८                                                                                                  |
| (५३) | रोहिणी मृगाङ्क प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)                    | ११०, १२३                                                                                                                              |
| (५४) | धनमाला नाटिका (स्वोपज्ञा)                               | ३१६                                                                                                                                   |
| (५५) | विक्रमोर्वशी नाटकम् [कविकानिदासकृतम्]                   | १६७, २५७                                                                                                                              |
| (५६) | विधिविलसितम् (नाटकम्)                                   | १०१                                                                                                                                   |
| (५७) | विलसाद्युष्यनम् (नाटकम्)                                | १३८                                                                                                                                   |

|                          |     |                                |
|--------------------------|-----|--------------------------------|
| उन्मत्तप्रेमसंरम्भाद्    | ११० | रोहिणी-मृगाङ्के प्र० १         |
| एकस्मिन् शयने            | ३०७ | प्रमदशतके २३                   |
| एकं श्रीणि नवाष्ट        | २६० | [दशरूपकावलोके प्र० ३ उद्धृतम्] |
| एतत् ते हृदयं स्पृशामि   | १३६ | विलसद्गुणोदये                  |
| एतेनापि सुरा जिघाः       | २८६ | कृत्यारावणे                    |
| एतो लो प्रतिहस्येते      | १८१ | पुष्पदूषितके                   |
| एषा बध्नन् रतराज         | १३७ | पार्थविजये                     |
| एतो सियकरविस्पर- (प्रा०) | ३६६ | देवीचन्द्रगुप्ते               |
| कंसांनभिसिद्धमदमर्दन     | १६४ | यादवाम्बुदये प्र० ७            |
| कण्ठे किन्नरकण्ठि        | १४६ | देवीचन्द्रगुप्ते प्र० ४        |
| कथमपि न निषिद्धो         | १४२ | वेणीसंहारे                     |
| कपोले पत्राली            | ३१८ | [प्रमदशतके ८१]                 |
| कर्णो-शुःशासनवधात्       | १६३ | वेणीसंहारे                     |
| कर्ता द्यूतच्छनामां      | ८६  | "                              |
| कलत्रमपि रक्षितुं        | ७८  | राघवाम्बुदये प्र० ५            |
| कल्याणं भूभुवः स्वः      | १६६ | यादवाम्बुदये                   |
| कविः काव्ये रामः         | २८५ | नलविलासे                       |
| कस्तव न होइ रोसो (प्रा०) | २५८ | [अभिनवभा० १८, ११ उ]            |
| का भूषा बलिनां           | २६७ | [ध्वन्यालोके उ० १ उद्धृतम्]    |
|                          |     | पाण्डवानन्दे                   |
| कामं प्रिया न सुलभा      | १२४ | अभिज्ञानशकुन्तले               |
| कामिनीभिर्भुवो मत्तुः    | ४०७ |                                |
| काव्यकतुर्थपदवापि        | ३६४ | [नाट्यशास्त्रे प्र० ५]         |
| किमपि किमपि मन्दं        | ३०७ | उत्तररामचरिते                  |
| किं नु कलहंसनादो         | २५७ | हृन्दुलेखायाम्                 |
| किं नो व्याप्तदिशां      | १४० | वेणीसंहारे                     |
| किं पक्षस्य रुचं         | १५६ | रत्नावल्याम्                   |
| किं लोभेन विलङ्घितः      | ११६ | उदात्तराघवे                    |
| कुतबक ! कुचाघात-         | ३२१ | [काव्यमीमांसायां पृ० ७३ उ०]    |
| कुसुमसुकुमारमूर्ति-      | १२१ | रत्नावल्याम्                   |
| कृष्टां केशेषु कृष्णां   | १५७ | वेणीसंहारे प्र० ५              |
| कृष्टां येन क्षिरोरुहेषु | ८८  | " प्र० ३                       |
| कृष्टां येनासि रागां     | १८५ | "                              |
| कैकेयी क्व पतिव्रता      | ६६  | मायापुष्पके                    |
| कोऽपि सिंहासनस्याधः      | २६८ | छलितरामे                       |
| कोऽयं द्वारि, हरिः       | २६१ | [शृंगारप्रकाशे १२ उ]           |

|                          |     |                                              |
|--------------------------|-----|----------------------------------------------|
| कीर्ताम्बी भम हस्त एव    | २१६ | मनोरमावत्सराजे                               |
| यवाकार्यं शशत्वदमरा      | ३२३ | [विक्रमोर्ध्वयाम्]                           |
| क्षिप्तो हस्तावलम्ब      | ३२२ | [भ्रमरघातके २]                               |
| सुद्राग्नेरमुतोऽपि       | ७९  | तापसवत्सराजे भ० २                            |
| खण्डय ग्यायतेजोभिः       | १६५ | रघुविलासे भ० ७                               |
| गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य    | १४७ | कृत्यारावणे                                  |
| गुप्तः साक्षाद् महानल्प  | २६५ | वेणीसहारे                                    |
| गेयपद स्थितपाठ्यम्       | २२६ | [भि०सा०नाट्यशास्त्रे भ० १८, १८३;<br>१६, ११६] |
| गोष्ठे यत् तु विहरतः     | ४०६ | [ह०का० धल० ८ उ]                              |
| अञ्जदभुजभ्रमित—          | ११० | वेणीसहारे                                    |
| कूर्णिताद्येयकीरव्यः     | १७१ | „ भ० ५                                       |
| चौर्यरतप्रतिभेद          | ४०५ |                                              |
| जो अन्नो पमूओ (प्रा०)    | २५० | दालिकावच्छिन्नके                             |
| तपनीमोज्ज्वलकरक          | २६३ | „                                            |
| तल्लावण्यमनन्यवृत्ति     | ३१६ | राघवाम्बुदये                                 |
| तवास्मि नीतिरागेण        | २८२ | अभिज्ञानशाकुन्तले                            |
| तवैव अधिराम्युभि         | १३० | रामाम्बुदये भ० २                             |
| तस्मिन् कौरव पार्थिवीः   | १६६ | वेणीसहारे भ० ६                               |
| ताण नमो निगुण (प्रा०)    | २६६ | सुधाकलशे                                     |
| तिक्ताहुद्विजते मृदो     | १५८ | सुद्राराक्षसे                                |
| सीण भीष्ममहोदधौ          | १०२ | वेणीसहारे भ० ६                               |
| त्यजत मानमल              | ३२४ | [रघुवणे ६, ४७]                               |
| त्यजन् हेम्नो लभ         | १२६ | सत्यहरिचन्द्र                                |
| त्यजामि देवी             | २५५ | देवीचन्द्रगुप्ते भ० २                        |
| प्रातो धोयधुवा           | १९४ | यादवाम्बुदये                                 |
| त्वद्वु लक्ष्यापनेतु सा  | १२८ | देवीचन्द्रगुप्ते                             |
| त्वद्यान य               | १९० | मृच्छकट्याम्                                 |
| त्वय्युपारोपितप्रेम्णा   | २५६ | देवीचन्द्रगुप्ते भ० २                        |
| एव जीवित त्वमसि मे       | २६२ | उत्तर [राम] चरिते                            |
| दत्वा शोथेन              | १५५ | वेणीसहारे                                    |
| दन्तसप्तानि करजैश्च      | ३२१ | [ध्वन्यालोके उ० ३ उद्धृतम्]                  |
| दाराणा मतिना च           | १३० | रामाम्बुदये भ० २                             |
| दिणयरकिरणुक्तेरो (प्रा०) | ३६१ | अनर्घ्यराघवे                                 |
| दिष्ट्या भो ।            | १८७ | मृच्छकट्याम्                                 |
| दुर्गं भूमिरमात्य        | ८१  | सायापुष्पके                                  |

|                           |          |                                   |
|---------------------------|----------|-----------------------------------|
| दुल्लहजणगुराओ (प्रा०)     | १३५      | रत्नावल्याम्                      |
| दत्तो लेखस्तथा स्वप्न     | १६८      | [नाट्यशास्त्रे अ० १९, १०३]        |
| दूरादुत्सुकभागते          | ३२८      | [अमरशतके ४६]                      |
| दृष्टि प्रेमभरालसा        | १२१      | तापसवत्सराजे                      |
| दृष्टि कथ जरठ—            | ३१६      | वनमालायाम्                        |
| देवीवियोगदुःखाता—         | २५६      | देवीचन्द्रगुप्ते अ० २             |
| द्रक्ष्यन्ति न चिरात्     | १७२      | वेणीसहारे                         |
| द्वीपादन्यस्मादपि         | ६४, १०८  | रत्नावल्याम्                      |
| धिग मा भ्रूणविघातिन       | २५१      | सत्यहरिश्चन्द्रे                  |
| धूमव्रात वितानी—          | १८८      | रामाम्बुदये                       |
| नदीना मेघविद्यमे          | २६१      | [भामिनवभा० अ० १८ उ]               |
| न नाम स्यु स्वर्ण—        | १३६      | सत्यहरिश्चन्द्रे                  |
| न प्रेम निहित चित्ते      | १८२      | नलविलासे                          |
| नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो     | ३६४      | [नाट्यशास्त्रे अ० ५, १०५]         |
| नाकीर्णा दशकन्धरी         | १००      | रघुविलासे अ० ६                    |
| नागाना रक्षिता भाति       | १७७      | नागानन्दे                         |
| निरीतय प्रजा सन्तु        | १६६      | कृत्यारावणे                       |
| निर्वाणधैरदहना            | २८१      | [वेणीसहारे अ० १]                  |
| निहत्य दशकन्धर            | ६०       | राधवाम्बुदये अ० ६                 |
| नून तेनाथ वीरेण           | १७२, १७८ | वेणीसहारे                         |
| पञ्चाना मयसेऽस्माक        | १६३      | "                                 |
| परया च विप्रलम्भा         | ४०४      |                                   |
| पत्यु शिरश्चन्द्रकलामनेन  | २८७      | [कुमारसम्भवे ७ १६]                |
| परार्थानुष्ठाने जडयति     | १५८      | मुद्राराक्षसे                     |
| परिग्रहोरुप्राहोषाद्      | २६८      | कृत्यारावणे                       |
| परिपदियमृषीणामेव          | १३२      | वीरचरिते अ० ३                     |
| परिहरति रति मति छुनीते    | ३२६      | [काव्यप्रकाशे ७, ३२६ उ०]          |
| पादाक्रान्तानि पुष्पाणि   | १४६      | स्वप्नवासवदत्ते                   |
| पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी | ४०७      |                                   |
| पुण्यप्रागल्भ्यलम्भाय     | २८७      | सत्यहरिश्चन्द्रे                  |
| पूयता सलिलेन              | १७५      | वेणीसहारे                         |
| प्रणयविषादां दृष्टि       | १४८      | रत्नावल्याम्                      |
| प्रत्यप्रयौवनविभूषण       | २५५      | देवीचन्द्रगुप्ते अ० २             |
| प्रत्याख्यानरूप कृत       | १००      | रामाम्बुदये अ० ५                  |
| प्रथमानुराग—              | ४०५      |                                   |
| प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्त    | ४९       | [वीटलीयेऽयंशास्त्रे अधि० ७, अ० ३] |

|                          |     |                            |
|--------------------------|-----|----------------------------|
| प्रवृद्ध यद् वर          | १०६ | वेणीसंहारे                 |
| प्राणान् यद्विह्वल्यह    | १८३ | रघुविलासे                  |
| प्राप्तावेकरथास्त्रो     | १५३ | वेणीसंहारे अ० ५            |
| प्रायोहृरिचरितयुतः       | ४०८ |                            |
| प्रेमावनद्धहृदयः         | १४७ | रघुविलासे                  |
| बहुनाञ्ज किमुक्तेन ?     | ७३  | रामाम्बुदये अ० २           |
| बहुविह्वलज्वलेस (प्रा०)  | ३६६ | देवीचन्द्रगुप्ते अ० ५      |
| कीमत्ता विपद्या          | ३२७ |                            |
| ब्रह्मोत्तर तथैवास्तु    | ३६४ | [नाट्यशास्त्रे अ० ५, १०६]  |
| भर्ता तवाहमिति           | १७७ | पुष्पद्विपतिके             |
| भूमौ क्षिप्त्वा क्षरीर   | ९२  | वेणीसंहारे अ० ६            |
| भूय परिभवक्षान्ति        | ११३ | "                          |
| मध्नामि कोरवदात          | ११८ | "                          |
| मह्येऽम्भोधि बभूव        | १८८ | रघुविलासे                  |
| मन प्रवृत्त्यैव क्षल     | १५१ | रत्नावल्याम्               |
| मन्त्रयति च तद्विषय      | ४०५ |                            |
| मन्दोऽप्यमन्दता याति     | २४३ | मालविकाग्निमित्रे          |
| मा गास्तिष्ठ पुनर्वज     | १६७ | कृत्यारावणे                |
| मार्गा कण्टकिनः          | १६८ | "                          |
| मित्र दधानमात्रतोऽपि     | ८३  | राघवाम्बुदये               |
| यच्च पदार्थाभिनय         | ४०६ |                            |
| यत् सत्यव्रतमङ्गभीरुमनसा | १११ | वेणीसंहारे                 |
| यथातथा घृतप्राण          | १८२ | तापसवत्सराजे               |
| यथाऽय मम सम्पूर्णः       | १६५ | कृत्यारावणे                |
| यदि चेप शुद्धवाचा        | ४०८ |                            |
| यद् दुष्करमभिनेय         | ४०८ |                            |
| यद् भग्न विपिन           | १५० | रघुविलासे                  |
| यद् विस्मयस्तिमित        | १२० | मालतीमाधवे                 |
| यन्मण्डलेन नृत्त         | ४०६ | [अभिनवभा० उ प. ४, पृ० १८१] |
| यस्तातेन निगृह्य बालक इव | २८६ | कृत्यारावणे                |
| यते द्वारवती सदा         | ३०७ | [धर्मोक्तिजीविते २, ५६ उ०] |
| यायावरेण किमनेन          | १४६ | रघुविलासे                  |
| युप्त्यैव क्षत्रबन्धो    | २५६ | रामाम्बुदये अ० २           |
| युद्धधाढभय               | १४२ | रघुविलासे                  |
| येनावृत्त्य मुक्षानि     | १७० | छलितरामे                   |
| रसोवीरा हृदोर-           | १६० | रामाम्बुदये अ० ४           |



|                          |         |                                   |
|--------------------------|---------|-----------------------------------|
| रडा चडा दिविलदा (प्रा०)  | २५३     | [कपूर्मञ्जयार्थम्]                |
| रथाइ सचरन्त (प्रा०)      | ३०८     | सुधाकलशे                          |
| रथ्या-समाज-चत्वर-        | ४०६     |                                   |
| रम्या चारतिकारिणी        | १५१     | देवीचन्द्रगुप्ते प्र० ६           |
| रागस्यास्तरदमित्यर्थम्   | ३२४     | नागानन्दे                         |
| राज्ञो मानघनस्य          | ६८      | वेणीसहारे                         |
| रामेण प्रलयेनेव          | १७३     | कृत्यारावणे प्र० ७                |
| राष्ट्र प्रवर्धता चैव    | ३६४     | [नाट्यशास्त्रे प्र० ५, १०७]       |
| रिष्टस्तावदुदय-          | २५०     | बालिकावञ्चितके                    |
| लङ्के इवरे त्रिदशदर्पहरे | १५६     | रघुविलासे प्र० ४                  |
| लङ्घी गिहीण भूता (प्रा०) | २६५     | सुधाकलशे                          |
| लोकप्रपञ्चयोद्वुत्त-     | १३१     | रत्नाम्बुदये प्र० २               |
| लोकोत्तराणि चरितानि      | ३४८     | [शामनगुप्तस्य प्र० भा० ६, ४५]     |
| वक्त्र धीतरुचिर्वचांसि   | १२५     | कौमुदीमित्राणन्दे प्र० ३          |
| वक्त्राणि हे । हसत       | १६१     | रघुविलासे प्र० ४                  |
| वक्त्रे-दु स्मितमातनोद-  | २६४     | नलविलासे                          |
| वाक्प्रपञ्चैकसारेण       | २६८     | कृत्यारावणे                       |
| वाताऽपि नैव यदिहास्ति    | १०१     | विधिविलसिते प्र० ५                |
| विक्रमेण मया लोका        | १४२     | कृत्यारावणे प्र० २                |
| विना वाहन-पीताभ्या       | १६३     | मुद्राराक्षसे                     |
| विन्यस्याभिनवोदये        | ४२      | नलविलासे                          |
| विरोधो विधान्त-          | १७३     | उत्तर [राम] चरिते                 |
| विष्कम्भक-प्रवेशक        | ४०४     | [हि० काव्या० उ० प्र० ८]           |
| बुद्धोक्तस्य नृपस्य      | १६३     | यादवाभ्युदये प्र० ७               |
| वेदेही हृतवास्तवेप       | ६२, १८२ | रायवाभ्युदये                      |
| शशिन इव कला              | १६६     | कृत्यारावणे प्र० ७                |
| शीताशुमुल्लसुत्पले       | १५६     | रत्नावल्याम्                      |
| शूरास्तु वीर-रोद्रेषु    | २२८     | [हेमकाव्या विवेके प्र० ८, ३२६ उ०] |
| शोक स्त्रीवनयनसलिलै      | १७१     | वेणीसहारे                         |
| श्रीरिव दानवशत्रो        | ४०४     |                                   |
| श्रीरेया पाणिरम्यस्या-   | १३२     | रत्नावल्याम्                      |
| श्लाघ्या धीधिपणस्य       | १८४     | तापसवत्सराजे                      |
| षोडश द्वादशाष्टौ वा      | ४०७     |                                   |
| सकलरिपुजयाशा             | १७१     | वेणीसहारे प्र० ५                  |
| स कीचकनिपूदनो            | १६२     | „ प्र० ६                          |
| सत्यता मधुरगिरौ          | २६६     | „                                 |

|                         |        |                            |
|-------------------------|--------|----------------------------|
| महवैकान्तवृत्तीनां      | ६४,२८१ | सप्तहरिवन्दे               |
| मन्तः सञ्चरितोदय        | २६६    | [दशम्यवाच० पृ० ३ त०]       |
| मन्थिमन्थ्यङ्गघटनं      | १२७    | [ध्वन्यालोके पृ० ३,१२]     |
| ममृषिते घनुष्वेवो       | ३२१    | घञुनचरिते                  |
| सर्वक्षितिभूतां नाथ !   | २५७    | विक्रमोर्वस्याम्           |
| मर्वया कथय ब्रह्मन् !   | १६६    | वेणीमहारे पृ० ६            |
| मर्वदामोऽतविजयो         | २६०    | मनोरमावत्तराजे             |
| सर्वेषामपि सन्ति        | २६५    | नमविभासे                   |
| सव्याजैः क्षपयैः        | १७३    | रत्नावल्याम्               |
| साम भेदस्तथा दण्डो      | १६८    | [नाट्यशास्त्रे पृ० १९,१०१] |
| सा स्वर्गलोकमलना-       | १२३    | रोहिणी-मृगाद्वे पृ० ५      |
| माहस्य कथं भयं शैव      | १६८    | [नाट्यशास्त्रे पृ० १६,१०२] |
| सीतां काननतो जहार       | २८४    | रघुविभासे                  |
| सीताया बदन्             | १७६    | रायशाम्भुदये पृ० ७         |
| स्निग्धं वीक्षितमग्नयो- | १२५    | धमिनातगकुन्तले             |
| स्वप्नोऽयं नहि विघ्नमः  | १८९    | पुष्पद्रुपितके पृ० ५       |
| स्वर्गस्त्री यदि सन्    | १२२    | नागानन्दे                  |
| स्वमुर्मम परामव-        | ३६७    | उदात्तराधवे                |
| हृतः पुत्रो हतो भ्राता  | १६४    | पुष्पद्रुपितके पृ० ५       |
| हरि-हर-मानु-मयानी-      | ४०८    |                            |
| हस्तादृष्टविमोच-        | २६४    |                            |
| हृं यत्नः सन्निवो       | १६८    | वेणीमहारे २                |
| ह्रिय मर्वस्यामो        | १५२    | रघुविभासे पृ०              |
|                         |        | रत्नावल्याम्               |